जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १८

[श्री व. स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के प्रथमाचार्य
श्री आत्मारामजी महाराज की जन्मशताब्दी के अवसर पर विशेष उपहार]

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ अर्थसौजन्य
श्रीमान् सेठ अनराजी सा, चोरडिया

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५०९
वि. सं. २०४०
ई. सन् १९८३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
ब्यावर—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Com iled by Fifth Ganadhara Sudharma Swami

FIFTH ANGA

VYAKHYĀ PRAJNAPTI

[Bhagawati Sutra II Part, Shatak 6-10]

[Original Text, Variant Readings, Hindi Version, Notes etc.]

Inspiring-Soul
Up-pravartaka Shasansevi Rev. Late Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Shri Amar Muni
Sri Chand Surana 'Saras'

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 18

[An auspicious at the Holy occasion of Birth-Centuary of
Rev. Acharya Sri Atmaramji Maharaj, the first Acharya of V. S. Jain Shramana Sangh]

☐ **Board of Editors**

Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharilla

☐ **Managing Editor**

Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Financial Assistance**

Shri Seth Anarajji Chauradiya

☐ **Date of Publication**

Vir nirvana Samvat 2509
Vikram Samvat 2040, Sept. 1983

☐ **Publihers**

Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305901

☐ **Printer**

Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price**

समर्पण

जिन पूर्वज महापुरुषों के असीम
उपकार के लोकोत्तर ऋण से समग्र स्थानक-
वासी जैन समाज सदैव ऋणी रहेगा,
जिनकी उग्र तपश्चर्या और ज्ञान-
गरिमा से जन-जन भलीभाँति परिचित है,
जिनशासन की महिमा-वृद्धि के लिए
जिन्होंने अनेकानेक उपसर्ग सहन किए,
जिनकी प्रशस्य शिष्य-परम्परा आज भी
शासन की शोभा को वृद्धिगत कर रही है,
उन इतिहास-पुरुष परममहनीय महर्षि,
आचार्यवर्य

श्री जीवराजजी महाराज

की पावन स्मृति में
सादर सविनय सभक्ति समर्पित।

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

श्रमण भगवान् महावीर के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित यह व्याख्याप्रज्ञप्ति आगम द्वादशांगी में पंचम स्थान पर है। यह आगम न केवल अन्य सभी अंगों की अपेक्षा विशालकाय है, अपितु विविध-विषयक भी है। इसका प्रकाशन अनेक खण्डों में ही हो सकता है। उनमें से प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम पांच शतकों का समावेश हुआ है, पूर्व में ग्रन्थाङ्क १४ के रूप में प्रकाशित किया जा चुका है। तत्पश्चात् राजप्रश्नीय (ग्रन्थांक १५), प्रज्ञापनासूत्र प्र. खण्ड (ग्रन्थांक १६) और प्रश्नव्याकरणसूत्र (ग्रन्थांक १७) प्रकाशित किए जा चुके हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्रस्तुत द्वितीय खण्ड १८ वें ग्रन्थांक के रूप में आगमप्रेमी, श्रुतसमाराधक पाठकों के कर-कमलों में पहुंच रहा है, यह निवेदन करते हमें परम हर्ष और सन्तोष का अनुभव हो रहा है।

प्रथम खण्ड की भांति द्वितीय खण्ड का सम्पादन एवं अनुवाद भण्डारी मुनि श्री पदमचन्दजी महाराज के सुशिष्य पण्डितप्रवर श्री अमरमुनिजी म. तथा श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने किया है। संशोधन-कार्य विद्वद्वर्य विश्रुत श्रुतधर श्रमणसंघ के युवाचार्य पू. श्री मधुकर मुनिजी म. एवं पं. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया है।

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में छठे से दसवें शतक तक का समावेश हुआ है। आगे का सम्पादन-अनुवाद-कार्य चालू है और आशा है यथासम्भव शीघ्र हम अगले खण्ड पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे।

प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय खण्ड का मुद्रण चालू है और उत्तराध्ययनसूत्र शीघ्र प्रेस में दिया जाने वाला है। अन्य आगमों पर भी कार्य हो रहा है।

प्रस्तुत प्रकाशन-कार्य में जिन-जिन महानुभावों का बौद्धिक एवं आर्थिक सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है, उन सभी के प्रति हम अतीव आभारी हैं। युवाचार्यश्रीजी तो इस प्रकाशन के प्राणस्वरूप ही हैं। पू. श्री अमर मुनिजी म. के प्रति, समस्त अर्थसहायकों के प्रति और विशेषतः सेठ श्री अनराजजी सा. चोरड़िया के प्रति, जिनके विशेष आर्थिक सहयोग से प्रस्तुत आगम मुद्रित हो रहा है, अतीव आभारी है। श्रीमान् चोरड़ियाजी सा. का परिचय पृथक् रूप में दिया जा रहा है।

श्रुतज्ञान के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से ग्रन्थों का मूल्य बहुत कम रक्खा जा रहा है और अग्रिम ग्राहकों को १०००) रु. तथा संस्थाओं को केवल ७००) रु. में सम्पूर्ण बत्तीसी दी जा रही है। वास्तव में नाम मात्र का यह मूल्य है—लागत से भी बहुत कम। फिर भी अग्रिम ग्राहकों की संख्या सन्तोषजनक नहीं है। यह स्थिति आगम-ज्ञान के प्रति समाज के अनुराग एवं लगन की कमी की द्योतक है। हम समस्त अर्थसहयोगी तथा अग्रिम ग्राहक महानुभावों से साग्रह निवेदन करना चाहेंगे कि वे प्रत्येक कम से कम पांच अग्रिम ग्राहक बना कर ज्ञान-प्रचार के इस पवित्र अनुष्ठान में सहभागी बन कर हमारा उत्साह बढ़ाएँ और पुण्य के भागी बनें।

रतनचन्द मोदी	**जतनराज मेहता**	**चाँदमल विनायकिया**
कार्यवाहक अध्यक्ष	प्रधानमन्त्री	मन्त्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

सम्पादन-सहयोगी-सत्कार

भगवतीसूत्र जैसा विशाल आगम सम्पादन-प्रकाशन की दृष्टि से काफी श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य कार्य है। इसमें सभी का सहयोग अपेक्षित तथा अभिनन्दनीय है। सम्पादक मुनिश्री के साथ कार्यरत विद्वानों की पारिश्रमिक आदि की व्यवस्था में निम्नलिखित महानुभावों का उदार अर्थ-सहयोग प्राप्त हुआ, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद—

श्री रामेश्वरदासजी जैन (मुवाना वाले) के सुपुत्र
श्री ओमप्रकाशजी जैन
श्री पवनकुमारजी जैन
श्री रमेशचन्द्रजी जैन
मे. कुमार इण्टर प्राइजेज
A-७२, ग्रुप इण्डस्ट्रियल एरिया
वजीरपुर, दिल्ली—५२

प्रस्तुत आगम के विशिष्ट अर्थसहयोगी

श्री सेठ अनराजजी चोरड़िया

[संक्षिप्त जीवन-रेखा]

आगमप्रकाशन के इस परम पावन प्रयास में नोखा (चांदावतों) के वृहत् चोरड़िया-परिवार के विशिष्ट योगदान के विषय में पूर्व में भी लिखा जा चुका है। वास्तव में यह योगदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसकी जितनी प्रशस्ति की जाए, थोड़ी ही है। श्री व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, जो अंगभूत आगमों में परिगणित है, श्री अनराजजी सा. चोरड़िया के विशेष अर्थ-साहाय्य से प्रकाशित हो रहा है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, श्री चोरड़िया जी का जन्म वि. सं. १९८१ में नोखा में हुआ। आप श्रीमान् जोरावरमलजी सा. के सुपुत्र हैं। आपके जन्म से आपकी माता श्रीमती फूलकुंवर बाई ने धन्यता का अनुभव किया। श्रीमान् हरकचन्दजी, दुलीचन्दजी और हुक्मीचन्दजी आपके भ्राता हैं। आप जैसे आर्थिक समृद्धि से सम्पन्न हैं, उसी प्रकार पारिवारिक समृद्धि के भी धनी हैं। आपके प्रथम सुपुत्र श्री पृथ्वीराज के राजेन्द्रकुमार और दिनेशकुमार नामक दो पुत्र हैं और द्वितीय पुत्र श्री सुमेरचन्दजी के भी सुरेन्द्रकुमार तथा नरेन्द्रकुमार नाम के दो पुत्र हैं। आपकी दो सुपुत्रियां हैं—श्रीमती गुलाबकुंवर बाई एवं श्रीमती प्रेमलता बाई। दोनों विवाहित हैं। इस प्रकार सेठ अनराजजी सा. पारिवारिक दृष्टि से सम्पन्न और सुखी सद्गृहस्थ हैं।

चोरड़ियाजी ने १५ वर्ष की लघुवय में ही व्यावसायिक क्षेत्र में प्रवेश किया और अपनी प्रतिभा तथा अध्यवसाय से उसमें प्रशंसनीय सफलता अर्जित की। आज आप मद्रास में जे. अनराज चोरड़िया फाइनेंसियर के नाम से विख्यात पेढ़ी के अधिपति हैं।

आर्थिक समृद्धि की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में भी आपकी गहरी अभिरुचि है। यही कारण है कि अनेक शैक्षणिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं के साथ आप जुड़े हुए हैं और उनके सुचारु संचालन में अपना योग दे रहे हैं। निम्नलिखित संस्थाओं के साथ आपका सम्बन्ध है—

जैनभवन, मद्रास	भूतपूर्व मंत्री
एस. एस. जैन एजुकेशनल सोसाइटी, मद्रास,	सदस्य कार्यकारिणी
स्वामीजी श्री हजारीमलजी म. जैन ट्रस्ट, नोखा	ट्रस्टी
भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ	संरक्षक
श्री राजस्थानी श्वे. स्था. जैन सेवासंघ	संरक्षक
श्री श्वे. स्था. जैन महिला विद्यासंघ	भू. पू. अध्यक्ष, मन्त्री एवं कोषाध्यक्ष
श्री आनन्द फाउंडेशन	सदस्य

हार्दिक कामना है कि श्री चोरड़ियाजी चिरजीवी हों और समाज, साहित्य एवं धर्म के अभ्युदय में अपना योग प्रदान करते रहें।

मन्त्री

श्री आगम-प्रकाशन समिति, ब्यावर

आदि-वचन

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित, उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी; वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन-पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचन-रूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत हैं।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवाँ अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद-मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध

किया गया। जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिवद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के वाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोप, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्वलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर वाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थवोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताव्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल वाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थवोध में वहुत वड़ा विघ्न वन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताव्दी के प्रथम चरण में जव आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकायें आदि प्रकाश में आईं और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भाववोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति वढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति वढ़ी है। जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताव्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों एवं पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी वोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही वत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर अद्‌भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन वहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेप उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासु जन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बन कर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यममार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का ऐसा एक संस्करण होना चाहिए जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रख कर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में स्व. गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्रमुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, तथा श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के इस अल्पकाल में ही सत्तरह आगम-ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

विषय-सूची

छठा शतक ३—१०५

प्राथमिक ३

छठे शतकगत उद्देशकों का संक्षिप्त परिचय

छठे शतक की संग्रहणी गाथा ५

प्रथम उद्देशक—वेदना (सूत्र २-१४) ५—१२

महावेदना एवं महानिर्जरा युक्त जीवों का निर्णय विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा ५, महावेदना और महानिर्जरा की व्याख्या ८, क्या नारक महावेदना और महानिर्जरा वाले नहीं होते ? ८, दुर्विशोध्य कर्म के चार विशेषणों की व्याख्या ९, चौवीस दण्डकों में करण की अपेक्षा साता-असाता-वेदना की प्ररूपणा ९, चार करणों का स्वरूप ११, जीवों में वेदना और निर्जरा से संवन्धित चतुर्भंगी का निरूपण ११, प्रथम उद्देशक की संग्रहणी गाथा १२।

द्वितीय उद्देशक—आहार (सूत्र १) १३-१४

जीवों के आहार के सम्वन्ध में अतिदेशपूर्वक निरूपण १३, प्रज्ञापना में वर्णित आहार संवन्धी वर्णन की संक्षिप्त झांकी १३।

तृतीय उद्देशक—महाश्रव (सूत्र १-२९) १५-३६

तृतीय उद्देशक की संग्रहणी गाथायें १५, प्रथम द्वार—महाकर्मा और अल्पकर्मा जीव के पुद्गल-वंध-भेदादि का दृष्टान्तद्वयपूर्वक निरूपण १५, महाकर्मादि की व्याख्या १७, द्वितीय द्वार—वस्त्र में पुद्गलोपचयवत् समस्त जीवों के कर्मपुद्गलोपचय प्रयोग से या स्वभाव से ? एक प्रश्नोत्तर १८, तृतीय द्वार—वस्त्र के पुद्गलोपचयवत् जीवों के कर्मोपचय की सादि-सान्तता आदि का विचार १९, जीवों का कर्मोपचय सादि-सान्त, अनादि-सान्त एवं अनादि-अनन्त क्यों और कैसे ? २०, तृतीय द्वार—वस्त्र एवं जीवों की सादि-सान्तता आदि चतुर्भंगी प्ररूपणा २१, नरकादिगति की सादि-सान्तता २२, सिद्ध जीवों की सादि-अनन्तता २२, भवसिद्धिक जीवों की अनादि-सान्तता २२, चतुर्थ द्वार—अष्ट कर्मों की वन्धस्थिति आदि का निरूपण २२, वंधस्थिति २३, कर्म की स्थिति: दो प्रकार की २४, आयुष्यकर्म के निषेककाल और अवाधाकाल में विशेषता २४, वेदनीयकर्म की स्थिति २४, पांचवें से उन्नीसवें तक पन्द्रह द्वारों में उक्त विभिन्न विशिष्ट जीवों की अपेक्षा से कर्मवन्ध-अवन्ध का निरूपण २४, अष्टविधकर्मवन्धक-विषयक प्रश्न क्रमशः पन्द्रह द्वारों में

३१, पन्द्रह द्वारों में प्रतिपादित जीवों के कर्मबन्ध-अबन्ध विषयक समाधान का स्पष्टीकरण ३२, पन्द्रह द्वारों में उक्त जीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ३५, वेदकों के अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण ३६, संयतद्वार से चरमद्वार तक का अल्पबहुत्व ३६।

चतुर्थ उद्देशक—सप्रदेश (सूत्र १—२५) ३७-५२

कालादेश से चौवीस दण्डक के एक-अनेक जीवों की सप्रदेशता-अप्रदेशता का निरूपण ३७, आहारक आदि से विशेषित जीवों में सप्रदेश-अप्रदेश-वक्तव्यता ३८, सप्रदेश आदि चौदह द्वार ४२, कालादेश की अपेक्षा जीवों के भंग ४२, समस्त जीवों में प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यान के होने, जानने, करने तथा आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में प्ररूपणा ५०, प्रत्याख्यान-ज्ञान-सूत्र का आशय ५२, प्रत्याख्यान-करणसूत्र का आशय ५२, प्रत्याख्यानादि निर्वर्तित आयुष्यबंध का आशय ५२, प्रत्याख्यानादि से सम्बन्धित संग्रहणी गाथा ५२।

पंचम उद्देशक—तमस्काय (सूत्र १—४३) ५३—६७

तमस्काय के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से प्रश्नोत्तर ५३, तमस्काय की संक्षिप्त रूपरेखा ५७, कठिन शब्दों की व्याख्या ५८, विविध पहलुओं से कृष्णराजियों के प्रश्नोत्तर ५८, तमस्काय और कृष्णराजि के प्रश्नोत्तरों में कहाँ सादृश्य, कहाँ अन्तर? ६२, कृष्णराजियों के आठ नामों की व्याख्या ६३, लोकान्तिक देवों से सम्बन्धित विमान, देव-स्वामी, परिवार, संस्थान, स्थिति, दूरी आदि का विचार ६३, विमानों का अवस्थान ६६, लोकान्तिक देवों का स्वरूप ६६, लोकान्तिक विमानों का संक्षिप्त निरूपण ६७।

छठा उद्देशक—भव्य (सूत्र १—८) ६८—७२

चौवीस दण्डकों के आवास, विमान आदि की संख्या का निरूपण ६८, चौवीस दण्डकों के समुद्घात-समवहत जीव की आहारादि प्ररूपणा ६९, कठिन शब्दों के अर्थ ७२।

सप्तम उद्देशक—शालि (सूत्र १—९) ७३—८१

कोठे आदि में रखे हुए शालि आदि विविध धान्यों की योनिस्थिति-प्ररूपणा ७३, कठिन शब्दों के अर्थ ७४, मुहूर्त से लेकर शीर्षप्रहेलिका-पर्यन्त गणितयोग्य काल-परिमाण ७४, गणनीय काल ७५, पल्योपम, सागरोपम आदि औपमिक काल का स्वरूप और परिमाण ७६, पल्योपम का स्वरूप और प्रकार (उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम, क्षेत्रपल्योपम) ७८, सागरोपम के प्रकार (उद्धारसागरोपम, अद्धासागरोपम, क्षेत्रसागरोपम) ७९, सुषमसुषमाकालीन भारतवर्ष के भाव-आविर्भाव का निरूपण ८०।

अष्टम उद्देशक—पृथ्वी (सूत्र १—३६) ८२—९१

रत्नप्रभादि पृथ्वियों तथा सर्व देवलोकों में गृह-ग्राम-मेघादि के अस्तित्व और कर्तृत्व की प्ररूपणा ८२, वायुकाय, अग्निकाय आदि का अस्तित्व कहाँ है, कहाँ नहीं? ८६, महामेघ-संस्वेदन-वर्षणादि कहाँ कौन करते हैं? ८६, जीवों के आयुष्यबन्ध के प्रकार एवं जाति-नाम-निधत्तादि बारह दण्डकों की चौवीस दण्डकीय जीवों में प्ररूपणा ८६, षड्विध आयुष्यबन्ध की व्याख्या ८८, आयुष्य जात्यादि नामकर्म से विशेषित क्यों? ८८, आयुष्य और बन्ध दोनों में अभेद ८९, नामकर्म से

विशेषित १२ दण्डकों की व्याख्या ८६, लवणादि असंख्यात द्वीप-समुद्रों का स्वरूप और प्रमाण ८६, लवणसमुद्र का स्वरूप ६०, अढाई द्वीप और दो समुद्रों से वाहर के समुद्र ६०, द्वीप-समुद्रों के शुभ नामों का निर्देश ६१, ये द्वीप-समुद्र उद्धार, परिमाण और उत्पाद वाले ६१ ।

नवम उद्देशक—कर्म (सूत्र १—१३) ६२—६८

ज्ञानावरणीयवन्ध के साथ अन्य कर्मवन्ध-प्ररूपणा ६२, वाह्य पुद्गलों के ग्रहणपूर्वक महर्द्धिकादि देव की एक वर्णादि के पुद्गलों को अन्य वर्णादि में विकुर्वण एवं परिणमन-सामर्थ्य ६२, विभिन्न वर्णादि के २५ आलापक सूत्र ६५, पांच वर्णों के १० द्विकसंयोगी आलापक सूत्र ६५, दो गंध का एक आलापक ६५, पांच रस के दस आलापक सूत्र ६५, आठ स्पर्श के चार आलापक सूत्र ६५, अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्या युक्त देवों द्वारा अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्या वाले देवादि को जानने-देखने की प्ररूपणा ६५, तीन पदों के वारह विकल्प ६७ ।

दशम उद्देशक—अन्यतीर्थी (सूत्र १-१५) ६६-१०५

अन्यतीर्थिक-मतनिराकरणपूर्वक सम्पूर्ण लोक में सर्व जीवों के सुख-दुःख को अणुमात्र भी दिखाने की असमर्थता की प्ररूपणा ६६, दृष्टान्त द्वारा स्वमत-स्थापना १००, जीव का निश्चित स्वरूप और उसके सम्वन्ध में अनेकान्तशैली में प्रश्नोत्तर १००, दो वार जीव शव्दप्रयोग का तात्पर्य १०२, जीव कदाचित् जीता है, कदाचित् नहीं जीता, इसका तात्पर्य १०२, एकान्त दुःखवेदन रूप अन्यतीर्थिक मत निराकरणपूर्वक अनेकान्तशैली से सुख-दुःखादि वेदन-प्ररूपणा १०२, समाधान का स्पष्टीकरण १०३, चौवीस दण्डकों में आत्म-शरीरक्षेत्रावगाढ़ पुद्गलाहार प्ररूपणा १०४, केवली भगवान् का आत्मा द्वारा ज्ञान-दर्शन सामर्थ्य १०४, दसवें उद्देशक की संग्रहणी गाथा १०५ ।

सप्तम शतक १०६-२०४

प्राथमिक १०६

सप्तम शतकगत दस उद्देशकों का संक्षिप्त परिचय

सप्तम शतक की संग्रहणी गाथा १०८

प्रथमउद्देशक—आहार (सूत्र २-२०) १०८-१२३

जीवों के अनाहार और सर्वाल्पाहार के काल की प्ररूपणा १०८, परभवगमनकाल में आहारक-अनाहारक रहस्य १०६, सर्वाल्पाहारता : दो समय में १०६. लोक के संस्थान का निरूपण ११०, लोक का संस्थान ११०, श्रमणोपाश्रय में वैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक को लगने वाली क्रिया १११, साम्परायिक क्रिया लगने का कारण १११, श्रमणोपासक के व्रत-प्रत्याख्यान में अतिचार लगने की शंका का समाधान १११, अहिंसाव्रत में अतिचार नहीं लगता ११२, श्रमण या माहन को आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को लाभ ११२, चयति क्रिया के विशेष अर्थ ११३, दानविशेष से वोधि और सिद्धि की प्राप्ति ११४, निःसंगतादि कारणों से कर्मरहित (मुक्त) जीव की (ऊर्ध्व) गति-प्ररूपणा ११४, अकर्म जीव की गति के छह कारण ११६, दुःखी को दुःख की स्पृष्टता आदि सिद्धान्तों की प्ररूपणा ११७, दुःखी और अदुःखी की मीमांसा ११७, उपयोगरहित गमनादि

प्रवृत्ति करने वाले अनगार को साम्परायिकी क्रिया लगने का सयुक्तिक निरूपण ११८, 'वोच्छिन्ना' शब्द का तात्पर्य ११९, 'अहासुत्तं' और 'उस्सुत्तं' का तात्पर्यार्थ ११९, अंगारादि दोष से युक्त और मुक्त तथा क्षेत्रातिक्रान्तादि दोषयुक्त एवं शस्त्रातीतादियुक्त पान-भोजन का अर्थ ११९, अंगारादि दोषों का स्वरूप १२२, क्षेत्रातिक्रान्त का भावार्थ १२३, कुक्कुटी-अण्ड प्रमाण का तात्पर्य १२३, शस्त्रातीतादि की शब्दशः व्याख्या १२३, नवकोटि-विशुद्ध का अर्थ १२३, उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोष १२३।

द्वितीय उद्देशक—विरति (सूत्र १-३८) १२४-१३६

सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप १२४, सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान का रहस्य १२५, प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण १२६, प्रत्याख्यान की परिभाषाएँ १२७, दशविध सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान का स्वरूप १२७, अपश्चिम मारणान्तिक संल्लेखना जोषणा-आराधनता की व्याख्या १२९, जीव और चौवीस दण्डकों में मूलगुण-उत्तरगुण प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी की वक्तव्यता १२९, मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी जीव, पंचेन्द्रियतिर्यंचों और मनुष्यों में अल्पवहुत्व १३०, सर्वतः और देशतः मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी तथा अप्रत्याख्यानी का जीवों तथा चौवीस दण्डकों में अस्तित्व और अल्पबहुत्व १३१, जीवों तथा चौवीस दण्डकों में संयत आदि तथा प्रत्याख्यानी आदि के अस्तित्व एवं अल्पवहुत्व की प्ररूपणा १३३, जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का अनेकान्तशैली से निरूपण १३५।

तृतीय उद्देशक—स्थावर (सूत्र १-२४) १३७-१४६

वनस्पतिकायिक जीवों के सर्वाल्पाहार काल एवं सर्व महाकाल की वक्तव्यता १३७, प्रावृट् और वर्षा ऋतु में वनस्पतिकायिक सर्वमहाहारी क्यों? १३८, ग्रीष्मऋतु में सर्वाल्पाहारी होते हुए भी वनस्पतियाँ पत्रित-पुष्पित क्यों? १३८, वनस्पतिकायिक मूल जीवादि से स्पृष्ट मूलादि के आहार के संवन्ध में सयुक्तिक समाधान १३८, वृक्षादि रूप वनस्पति के दस प्रकार १३९, मूलादि जीवों से व्याप्त मूलादि द्वारा आहारग्रहण १३९, आलू, मूला आदि वनस्पतियों में अनन्त जीवत्व और विभिन्न जीवत्व की प्ररूपणा १३९, 'अनन्त जीवा विविहसत्ता' की व्याख्या १३९, चौवीस दण्डकों में लेश्या की अपेक्षा अल्पकर्मत्व और महाकर्मत्व की प्ररूपणा १४०, सापेक्ष कथन का आशय १४१, ज्योतिष्क दण्डक में निषेध का कारण १४१, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में वेदना और निर्जरा के तथा इन दोनों के समय के पृथक्त्व का निरूपण १४१, वेदना और निर्जरा की व्याख्या के अनुसार दोनों के पृथक्त्व की सिद्धि १४५, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का निरूपण १४६, अव्युच्छित्तिनयार्थता व्युच्छित्तिनयार्थता का अर्थ १४६।

चतुर्थ उद्देशक—जीव (सूत्र १-२) १४७-१४८

षड्विध संसारसमापन्नक जीवों के सम्वन्ध में वक्तव्यता १४७, षड्विध संसारसमापन्नक जीवों के सम्वन्धों में जीवाभिगमसूत्रोक्त तथ्य १४८।

पंचम उद्देशक—पक्षी (सूत्र १-२) १४९-१५०

खेचर-पंचेन्द्रिय जीवों के योनिसंग्रह आदि तथ्यों का अतिदेशपूर्वक निरूपण १४९, खेचर-पंचेन्द्रिय जीवों के योनिसंग्रह के प्रकार १५०, जीवाभिगमोक्त तथ्य १५०।

छठा उद्देशक—आयु (सूत्र १-३७) १५१-१६३

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के आयुष्यवन्ध और आयुष्यवेदन के सम्बन्ध में प्ररूपणा १५१, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के महावेदना-अल्पवेदना के सम्बन्ध में प्ररूपणा १५२, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्यवन्ध की प्ररूपणा १५४, आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्य १५४, समस्त जीवों के कर्कश-अकर्कश वेदनीयकर्मवन्ध का हेतुपूर्वक निरूपण १५४, कर्कश-वेदनीय और अकर्कशवेदनीय कर्मवन्ध कैसे और कव ? १५६, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के साता-असातावेदनीय कर्मवन्ध और उनके कारण १५६, दुःषम-दुःषमकाल में भारतवर्ष, भारतभूमि एवं भारत के मनुष्यों के आचार (आकार) और भाव का स्वरूप-निरूपण १५७, छठे आरे के मनुष्यों के आहार तथा मनुष्य-पशु-पक्षियों के आचारादि के अनुसार मरणोपरान्त उत्पत्ति का वर्णन १६१।

सप्तम उद्देशक—अनगार (सूत्र १-२८) १६४-१७३

संवृत एवं उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले अनगार को लगने वाली क्रिया की प्ररूपणा १६४, विविध पहलुओं से काम-भोग एवं कामी-भोगी के स्वरूप और उनके अल्पवहुत्व की प्ररूपणा १६५, क्षीणभोगी छद्मस्थ अधोऽवधिक परमावधिक एवं केवली मनुष्यों में भोगित्व-प्ररूपणा १६६, भोग भोगने में असमर्थ होने से ही भोगत्यागी नहीं १७०, असंज्ञी और समर्थ (संज्ञी) जीवों द्वारा अकाम-निकरण और प्रकामनिकरण वेदन का सयुक्तिक निरूपण १७१, असंज्ञी और संज्ञी द्वारा अकाम-प्रकाम निकरण वेदन क्यों और कैसे ? १७३।

अष्टम उद्देशक—छद्मस्थ (सूत्र १-६) १७४-१७८

संयमादि से छद्मस्थ के सिद्ध-वुद्ध-मुक्त होने का निषेध १७४, हाथी और कुंथुए के समान जीवत्व की प्ररूपणा १७४, राजप्रश्नीयसूत्र में समान जीवत्व की सदृष्टान्त प्ररूपणा १७५, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों द्वारा कृत पापकर्म दुःखरूप और उसकी निर्जरा सुखरूप १७५, संज्ञाओं के दस प्रकार—चौवीस दण्डकों में १७५, संज्ञा की परिभाषाएँ १७६, संज्ञाओं की व्याख्या १७६, नैरयिकों को सतत अनुभव होने वाली दस वेदनाएँ १७६, हाथी और कुंथुए को समान अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगने की प्ररूपणा १७७, आधाकर्मसेवी साधु को कर्मवन्धादि निरूपणा १७७।

नवम उद्देशक—असंवृत (सूत्र १-२४) १७६-१६४

असंवृत अनगार द्वारा इहगत वाह्यपुद्गलग्रहणपूर्वक विकुर्वण-सामर्थ्य-निरूपण १७६ 'इहगए' 'तत्थगए' एवं 'अन्नत्थगए' का तात्पर्य १८०, महाशिलाकण्टकसंग्राम में जय-पराजय का निर्णय १८०, महाशिलाकण्टकसंग्राम के लिये कूणिक राजा की तैयारी और अठारह गणराजाओं पर विजय का वर्णन १८१ महाशिलाकण्टकसंग्राम उपस्थित होने का कारण १८३, महाशिलाकण्टकसंग्राम में कूणिक की जीत कैसे हुई ? १८३, महाशिलाकण्टकसंग्राम के स्वरूप, उसमें मानवविनाश और उनकी मरणोत्तर गति का निरूपण १८४, रथमूसलसंग्राम में जय-पराजय का, उसके स्वरूप का तथा उसमें मृत मनुष्यों की संख्या, गति आदि का निरूपण १८५, ऐसे युद्धों में सहायता क्यों? १८७, 'संग्राम में मृत मनुष्य देवलोक में जाता है', इस मान्यता का खण्डनपूर्वक स्वसिद्धान्त-मंडन १८७, वरुण की देवलोक में और उसके मित्र की मनुष्यलोक में उत्पत्ति और अंत में दोनों की महाविदेह में सिद्धि का निरूपण १६३।

दशम उद्देशक—अन्ययूथिक (सूत्र १-२२) १९५-२०४

अन्यतीर्थिक कालोदायी की पंचास्तिकाय-चर्चा और सम्बुद्ध होकर प्रव्रज्या स्वीकार १९५, कालोदायी के जीवन-परिवर्तन का घटनाचक्र १९६, जीवों के पापकर्म और कल्याणकर्म क्रमशः पाप-कल्याण-फल-विपाक संयुक्त होने का सदृष्टान्त निरूपण १९९, अग्निकाय को जलाने और बुझाने वालों में से महाकर्म आदि और अल्पकर्मादि से संयुक्त कौन और क्यों? २०१, अग्नि जलाने वाला महाकर्म आदि से युक्त क्यों? २०३, प्रकाश और ताप देने वाले अचित्त प्रकाशमान पुद्गलों की प्ररूपणा २०३, सचित्तवत् अचित्त तेजस्काय के पुद्गल २०४, कालोदायी द्वारा तपश्चरण, संल्लेखना और समाधिपूर्वक निर्वाणप्राप्ति २०४।

अष्टम शतक २०५–४२२

प्राथमिक २०५

अष्टम शतकगत दस उद्देशकों का संक्षिप्त परिचय

अष्टम शतक की संग्रहणी गाथा २०७

प्रथम उद्देशक—पुद्गल (सूत्र २-९१) २०७-२४४

पुद्गलपरिणामों के तीन प्रकारों का निरूपण २०७, परिणामों की दृष्टि से तीनों पुद्गलों का स्वरूप २०७, मिश्रपरिणत पुद्गलों के दो रूप २०८, नौ दण्डकों द्वारा प्रयोग-परिणत पुद्गलों का निरूपण २०८, विवक्षाविशेष से नौ दण्डक (विभाग) २२३, द्वीन्द्रियादि जीवों की अनेकविधता २२३, पंचेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद २२३, कठिन शब्दों के विशेष अर्थ २२३, मिश्र-परिणत-पुद्गलों का नौ दण्डकों द्वारा निरूपण २२४, विस्रसा-परिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेद का निर्देश २२४, मन-वचन-काया की अपेक्षा विभिन्न प्रकार से प्रयोग-मिश्र–विस्रसा से एक द्रव्य के परिणमन की प्ररूपणा २२५, प्रयोग की परिभाषा २३५, योगों के भेद–प्रभेद और उनका स्वरूप २३५, प्रयोग-परिणतः तीनों योगों द्वारा २३६, आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ का स्वरूप २३६, आरम्भ सत्यमनः-प्रयोग आदि का अर्थ २३६, दो द्रव्य सम्बन्धी प्रयोग–मिश्र–विस्रसा परिणत पदों के मनोयोग आदि के संयोग से निष्पन्न भंग २३७, प्रयोगादि तीन पदों के छह भंग २३९, विशिष्ट-मनःप्रयोग-परिणत के पांच सौ चार भंग २३९, पूर्वोक्त विशेषणयुक्त वचनप्रयोगपरिणत के भी ५०४ भंग, २३९, औदारिक आदि कायप्रयोगपरिणत के १९६ भंग २३९, दो द्रव्यों के त्रियोगसम्बन्धी मिश्र-परिणत भंग २४०, विस्रसापरिणत द्रव्यों के भंग २४०, तीन द्रव्यों के मन–वचन–काया की अपेक्षा प्रयोग–मिश्र–विस्रसा परिणत पदों के भंग २४०, तीन पदों के त्रिद्रव्यसम्बन्धी भंग २४१, सत्यमनः-प्रयोगपरिणत आदि के भंग २४१, मिश्र और विस्रसापरिणत के भंग २४१, चार आदि द्रव्यों के मन-वचन-काया की अपेक्षा प्रयोगादिपरिणत पदों के संयोग से निष्पन्न भंग २४१, चार द्रव्यों सम्बन्धी प्रयोग-परिणत आदि तीन पदों के भंग २४३, पंच द्रव्य संबन्धी और पांच से आगे के भंग २४३, परिणामों की दृष्टि से पुद्गलों का अल्पबहुत्व २४३, सबसे कम और सबसे अधिक पुद्गल २४४।

द्वितीय उद्देशक—आशीविष (सूत्र १-१६२) २४५-२६४

आशीविष: दो मुख्य प्रकार और उनके अधिकारी तथा विष-सामर्थ्य २४५, आशीविष और उसके प्रकारों का स्वरूप २४६, जाति-आशीविषयुक्त प्राणियों का विषसामर्थ्य २५०, छद्मस्थ द्वारा सर्वभावेन ज्ञान के अविषय और केवली द्वारा सर्वभावेन ज्ञान के विषयभूत दस स्थान २५०, छद्मस्थ का प्रसंगवश विशेष अर्थ २५०, ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप तथा भेद-प्रभेद का निरूपण २५१, पांच ज्ञानों का स्वरूप २५३, आभिनिबोधिकज्ञान के चार प्रकारों का स्वरूप २५३, अर्थावग्रह-व्यंजनावग्रह का स्वरूप २५४, अवग्रह आदि की स्थिति और एकार्थक नाम २५४, श्रुतादि ज्ञानों के भेद २५४, मति-अज्ञान आदि का स्वरूप और भेद २५४, ग्रामसंस्थित आदि का स्वरूप २५४, औधिक चौवीस दण्डकवर्ती तथा सिद्ध जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २५४, नैरयिकों में तीन ज्ञान नियमत:, तीन अज्ञान भजनात: २५७, तीन विकलेन्द्रिय जीवों में दो ज्ञान २५७, गति आदि आठ द्वारों की अपेक्षा ज्ञानी-अज्ञानी-प्ररूपणा २५७, गति आदि द्वारों के माध्यम से जीवों में ज्ञान-अज्ञान की प्ररूपणा २६४, नौवें लब्धिद्वार की अपेक्षा से ज्ञानी-अज्ञानी की प्ररूपणा २६६, लब्धि की परिभाषा २७५, लब्धि के मुख्य भेद २७५, ज्ञानलब्धि के भेद २७५, दर्शनलब्धि के तीन भेद : उनका स्वरूप २७५, चारित्रलब्धि: स्वरूप और प्रकार २७५, चारित्राचारित्रलब्धि का अर्थ २७६, दानादि लब्धियाँ: एक एक प्रकार की २७६, ज्ञानलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा २७६, अज्ञानलब्धि-युक्त जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा २७७, दर्शनलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७७, चारित्रलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७७, चारित्राचारित्रलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७७, दानादि चार लब्धियों वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७८, वीर्य-लब्धि वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७८, इन्द्रियलब्धि वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा २७८, दसवें उपयोगद्वार से लेकर पन्द्रहवें आहारकद्वार तक के जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा २७६, उपयोगद्वार २८३, योगद्वार २८३, लेश्याद्वार २८३, कषायद्वार २८४, वेदद्वार २८४, आहारकद्वार २८४, सोलहवें विषयद्वार के माध्यम से द्रव्यादि की अपेक्षा ज्ञान और अज्ञान का निरूपण २८४, ज्ञानों का विषय २८६, तीन अज्ञानों का विषय २८८, ज्ञानी और अज्ञानी के स्थिति-काल, अन्तर और अल्पबहुत्व का निरूपण २८८, ज्ञानी का ज्ञानी के रूप में अवस्थितिकाल २८६, त्रिविध अज्ञानियों का तद्रूप अज्ञानी के रूप में अवस्थितिकाल २६०, पांच ज्ञानों और तीन अज्ञानों का परस्पर अंतरकाल २६०, पांच ज्ञानी और तीन अज्ञानी जीवों का अल्पबहुत्व २६०, ज्ञानी और अज्ञानी जीवों का परस्पर सम्मिलित अल्पबहुत्व २६१, वीसवें पर्यायद्वार के माध्यम से ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों की प्ररूपणा २६१, ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों का अल्पबहुत्व २६१, पर्याय : स्वरूप, प्रकार एवं परस्पर अल्पबहुत्व २६३, पर्यायों के अल्पबहुत्व की समीक्षा २६३ ।

तृतीय उद्देशक—वृक्ष (सूत्र १-८) २६५-२६६

संख्यातजीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक वृक्षों का निरूपण २६५, संख्यात-जीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक का विश्लेषण २६६, छिन्न कछुए आदि के टुकड़ों के वीच का जीवप्रदेश स्पृष्ट और शस्त्रादि के प्रभाव से रहित २६७, रत्नप्रभादि पृथ्वियों के चरमत्व-अचरमत्व का निरूपण २६८, चरम-अचरम-परिभाषा २६६, चरमादि छह प्रश्नोत्तरों का आशय २६६ ।

चतुर्थ उद्देशक—क्रिया (सूत्र १-२) ३००-३०१

क्रियाएँ और उनसे सम्बन्धित भेद-प्रभेदों आदि का निर्देश ३००, क्रिया की परिभाषा ३००, कायिकी आदि क्रियाओं का स्वरूप और प्रकार ३०० ।

पंचम उद्देशक—आजीव (सूत्र १-१५) ३०२-३११

सामायिकादि साधना में उपविष्ट श्रावक का सामान या स्त्री आदि परकीय हो जाने पर भी उसके द्वारा स्वममत्ववश अन्वेषण ३०२, सामायिकादि साधना में परकीय पदार्थ स्वकीय क्यों ? ३०४, श्रावक के प्राणातिपात आदि पापों के प्रतिक्रमण-संवर-प्रत्याख्यान-सम्बन्धी विस्तृत भंगों की प्ररूपणा ३०४, श्रावक को प्रतिक्रमण, संवर और प्रत्याख्यान करने के लिये प्रत्येक के ४९ भंग ३०८, आजीविकोपासकों के सिद्धान्त, नाम, आचार-विचार और श्रमणोपासकों की उनसे विशेषता ३०९, आजीविकोपासकों का आचार-विचार ३१०, श्रमणोपासकों की विशेषता ३१०, कर्मादान और उसके प्रकारों की व्याख्या ३१०, देवलोकों के चार प्रकार ३११ ।

छठा उद्देशक—प्रासुक (सूत्र १-२९) ३१२-३२६

तथारूप श्रमण, माहन या असंयत आदि को प्रासुक-अप्रासुक, एषणीय-अनेषणीय आहार देने का श्रमणोपासक को फल ३१२, 'तथारूप' का आशय ३१३, मोक्षार्थ दान ही यहाँ विचारणीय ३१३, 'प्रासुक-अप्रासुक', 'एषणीय-अनेषणीय' की व्याख्या ३१३, 'बहुत निर्जरा, अल्पतर पाप' का आशय ३१३, गृहस्थ द्वारा स्वयं या स्थविर के निमित्त कहकर दिये गए पिण्ड, पात्र आदि की उपभोग-मर्यादा-प्ररूपणा ३१४, परिष्ठापनविधि ३१५, स्थण्डिल-प्रतिलेखन-विवेक ३१५, विशिष्ट शब्दों की व्याख्या ३१६, अकृत्यसेवी, किन्तु आराधनातत्पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी की आराधकता की विभिन्न पहलुओं से सयुक्तिक प्ररूपणा ३१६, दृष्टान्तों द्वारा आराधकता की पुष्टि ३२०, आराधक-विराधक की व्याख्या ३२१, जलते हुए दीपक और घर में जलने वाली वस्तु का निरूपण ३२१, अगार का विशेषार्थ ३२१, एक जीव या बहुत जीवों की परकीय (एक या बहुत-से शरीरों की अपेक्षा होने वाली) क्रियाओं का निरूपण ३२२, अन्य जीव के औदारिकादि शरीर की अपेक्षा होने वाली क्रिया का आशय ३२५, किस शरीर की अपेक्षा कितने आलापक ? ३२६ ।

सप्तम उद्देशक—'अदत्त' (सूत्र १-२५) ३२७-३३४

अन्यतीर्थिकों के साथ अदत्तादान को लेकर स्थविरों के वाद-विवाद का वर्णन ३२७, अन्य-तीर्थिकों की भ्रान्ति ३३०, स्थविरों पर अन्यतीर्थिकों द्वारा पुनः आक्षेप और स्थविरों द्वारा प्रतिवाद ३३१, अन्यतीर्थिकों की भ्रान्ति ३३३, गतिप्रवाद और उसके पांच भेदों का निरूपण ३३३, गति-प्रपात के पाँच भेदों का स्वरूप ३३४ ।

अष्टम उद्देशक—'प्रत्यनीक' (सूत्र १—४७) ३३५—३५८

गुरु-गति-समूह-अनुकम्पा-श्रुत-भाव-प्रत्यनीक-भेद-प्ररूपणा ३३५, प्रत्यनीक ३३६, गुरु-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३६, गति-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३६, समूह-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३६, अनुकम्प्य-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३७, श्रुत-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३७, भाव-प्रत्यनीक का स्वरूप ३३७,

निर्ग्रन्थ के लिए आचरणीय पंचविध व्यवहार, उनकी मर्यादा और व्यवहारानुसार प्रवृत्ति का फल ३३७, व्यवहार का विशेषार्थ ३३८, आगम आदि पंचविध व्यवहार का स्वरूप ३३८, पूर्व-पूर्व व्यवहार के अभाव में उत्तरोत्तर व्यवहार आचरणीय ३३९, अन्त में फलश्रुति के साथ स्पष्ट निर्देश ३३९, विविध पहलुओं से ऐर्यापथिक और साम्परायिक कर्मबन्ध से सम्बन्धित प्ररूपणा ३३९, बन्ध : स्वरूप एवं विवक्षित दो प्रकार ३४४, ऐर्यापथिक कर्मबन्ध : स्वामी, कर्ता, बन्धकाल, बन्धविकल्प तथा बन्धांश ३४५, त्रैकालिक ऐर्यापथिक कर्मबन्ध-विचार ३४५, ऐर्यापथिक कर्मबन्ध-विकल्प चतुष्टय ३४६, ऐर्यापथिक कर्म बन्धांश सम्बन्धी चार विकल्प ३४८, साम्परायिक कर्मबन्ध : स्वामी, कर्ता, बन्धकाल, बन्धविकल्प तथा बन्धांश ३४७, साम्परायिक कर्मबन्ध-सम्बन्धी त्रैकालिक विचार ३४७, साम्परायिक कर्मबन्धक के विषय में सादि-सान्त आदि ४ विकल्प ३४८, बावीस परीषहों का अष्टविध कर्मों में समवतार तथा सप्तविधबन्धकादि के परीषहों की प्ररूपणा ३४८, परीषह : स्वरूप और प्रकार ३५२, सप्तविध आदि बन्धक के साथ परीषहों का साहचर्य ३५२, उदय, अस्त और मध्याह्न के समय में सूर्यो की दूरी और निकटता के प्रतिभास आदि की प्ररूपणा ३५३, सूर्य के दूर और निकट दिखाई देने के कारण का स्पष्टीकरण ३५६, सूर्य की गति : अतीत, अनागत या वर्तमान क्षेत्र में ? ३५७, सूर्य किस क्षेत्र को प्रकाशित, उद्योतित और तप्त करता है ? ३५७, सूर्य की ऊपर-नीचे और तिरछे प्रकाशित आदि करने की सीमा ३५७, मानुषोत्तरपर्वत के अंदर-बाहर के ज्योतिष्क देवों और इन्द्रों का उपपात-विरहकाल ३५७।

नवम उद्देशक—बन्ध (सूत्र १—१२९) ३५९—४०१

वन्ध के दो प्रकार : प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध ३५९, विस्रसाबन्ध के भेद-प्रभेद और स्वरूप ३५९, त्रिविध-अनादि विस्रसाबन्ध का स्वरूप ३६१, त्रिविध-सादि विस्रसाबन्ध का स्वरूप ३६१, अमोघ शब्द का अर्थ ३६२, बन्धन-प्रत्ययिक बन्ध का नियम ३६२, प्रयोगबन्ध : प्रकार, भेद-प्रभेद तथा उनका स्वरूप ३६२, प्रयोगबन्ध : स्वरूप और जीवों की दृष्टि से प्रकार ३६६, शरीरप्रयोगबन्ध के प्रकार एवं औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से निरूपण ३६७, औदारिक-शरीर-प्रयोगबन्ध के आठ कारण ३७४, औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध के दो रूप: सर्वबन्ध, देश-बन्ध ३७४, उत्कृष्ट देशबन्ध ३७४, क्षुल्लक भवग्रहण का आशय ३७५, औदारिकशरीर के सर्वबन्ध और देशबन्ध का अन्तर-काल ३७५, औदारिकशरीर के देशबन्ध का अन्तर ३७५, प्रकारान्तर से औदारिकशरीरबन्ध का अन्तर ३७५, पुद्गलपरावर्तन आदि की व्याख्या ३७६, औदारिकशरीर के बन्धकों का अल्पबहुत्व ३७६, वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध के भेद-प्रभेद एवं विभिन्न पहलुओं से तत्सम्बन्धित विचारणा ३७६, वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध के नौ कारण ३८४, वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के रहने की कालसीमा ३८४, वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर ३८४, वैक्रियशरीर के देश-सर्वबन्धकों का अल्पबहुत्व ३८५, आहारकशरीरप्रयोगबन्ध का विभिन्न पहलुओं से निरूपण ३८५, आहारक शरीर-प्रयोगबन्ध के अधिकारी ३८७, आहारकशरीरप्रयोगबन्ध की कालावधि ३८७, आहारशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर ३८७, आहारकशरीरप्रयोगबन्ध के देश-सर्वबन्धकों का अल्पबहुत्व ३८७, तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से निरूपण ३८८, तैजसशरीरप्रयोगबन्ध का स्वरूप ३८९, कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध का भेद-प्रभेदों की अपेक्षा विभिन्न दृष्टियों से निरूपण ३८९, कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध : स्वरूप, भेद-प्रभेदादि एवं कारण ३९५, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के

कारण ३९५, ज्ञानावरणीयादि अष्ट-कर्मणशरीर-प्रयोगबन्ध देशबन्ध होता है, सर्वबन्ध नहीं ३९५, आयुकर्म के देशबन्धक ३९५, कठिन शब्दों की व्याख्या ३९५, पांच शरीरों के एक दूसरे के साथ बन्धक-अबन्धक की चर्चा-विचारणा ३९६, पांच शरीरों में परस्पर बन्धक-अबन्धक ४००, तैजसकार्मण-शरीर का देशबन्धक औदारिकशरीर का बन्धक और अबन्धक कैसे ? ४००, औदारिक आदि पांच शरीरों के देश-सर्वबन्धकों एवम् अबन्धकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ४००, अल्पबहुत्व का कारण ४०१ ।

दशम उद्देशक—आराधना (सूत्र १-६१) ४०२- ४२२

श्रुत और शील की आराधना-विराधना की दृष्टि से भगवान् द्वारा अन्यतीर्थिकमत-निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्तनिरूपण ४०२, अन्यतीर्थिकों का श्रुत-शीलसम्बन्धी मत मिथ्या क्यों ? ४०३, श्रुत-शील की चतुर्भंगी का आशय ४०४, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना, इनका परस्पर सम्बन्ध एवं इनकी उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्याराधना का फल ४०५, आराधना : परिभाषा, प्रकार और स्वरूप ४०८, आराधना के पूर्वोक्त प्रकारों का परस्पर सम्बन्ध ४०८, रत्नत्रय की त्रिविध आराधनाओं का उत्कृष्ट फल ४०९, पुद्गल-परिणाम के भेद-प्रभेदों का निरूपण ४०९, पुद्गलपरिणाम की व्याख्या ४१०, पुद्गलास्तिकाय के एक देश से लेकर अनन्त प्रदेश तक अष्टविकल्पात्मक प्रश्नोत्तर ४१०, किसमें कितने भंग ? ४११, लोकाकाश के और प्रत्येक जीव के प्रदेश ४१२, लोकाकाशप्रदेश और जीवप्रदेश की तुल्यता ४१२, आठ कर्मप्रकृतियाँ, उनके अविभाग-परिच्छेद और आवेष्टित-परिवेष्टित समस्त संसारी जीव ४१२, अविभाग-परिच्छेद की व्याख्या ४१४, आवेष्टित-परिवेष्टित के विषय में विकल्प ४१५, आठ कर्मों के परस्पर सहभाव की वक्तव्यता ४१५, 'नियमा' और 'भजना' का अर्थ ४१६, किसमें किन-किन कर्मों की नियमा और भजना ४१६, ज्ञानावरणीय से ७ भंग ४१६, दर्शनावरणीय से ६ भंग ४१९, वेदनीय से ५ भंग ४२०, मोहनीय से ४ भंग ४२०, आयुष्यकर्म से ३ भंग ४२०, नामकर्म से दो भंग ४२०, गोत्रकर्म से एक भंग ४२०, संसारी और सिद्धजीव के पुद्गली और पुद्गल होने का विचार ४२०, पुद्गली एवं पुद्गल की व्याख्या ४२२ ।

नवम शतक ४२३-५७५

प्राथमिक ४२३

नवम शतकगत चौतीस उद्देशकों का संक्षिप्त परिचय

नौवें शतक की संग्रहणी गाथा ४२५

प्रथम उद्देशक—जम्बूद्वीप (सूत्र २-३) ४२५-४२६

मिथिला में भगवान् का पदार्पण : अतिदेशपूर्वक जम्बूद्वीप निरूपण ४२५ सपुव्वावरेणं व्याख्या ४२६, चौदह लाख छप्पन हजार नदियाँ ४२६, जम्बूद्वीप का आकार ४२६ ।

द्वितीय उद्देशक—ज्योतिष (सूत्र १-५) ४२७-४२९

जम्बूद्वीप आदि द्वीप-समुद्रों में चन्द्र आदि की संख्या ४२७, जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश ४२८, नव य सया पण्णासा० इत्यादि पंक्ति का आशय ४२९, सभी द्वीप-समुद्रों में चन्द्र आदि ज्योतिष्कों का अतिदेश ४२९ ।

तृतीय से तीसवाँ उद्देशक—अन्तर्द्वीप (सूत्र १-३) ४३०-४३२

उपोद्घात ४३०, एकोरुक आदि अट्ठाईस अन्तर्द्वीपक मनुष्य ४३०, अन्तर्द्वीप और वहाँ के निवासी मनुष्य ४३१, जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश ४३१, अन्तर्द्वीपक मनुष्यों का आहार-विहार आदि ४३१, वे अन्तर्द्वीप कहाँ ? ४३२, छप्पन अन्तर्द्वीप ४३२ ।

इकतीसवाँ उद्देशक—अश्रुत्वाकेवली (सूत्र १-४४) ४३३-४५७

उपोद्घात ४३३, केवली यावत् केवली-पाक्षिक उपासिका से धर्मश्रवणलाभालाभ ४३३, केवली इत्यादि शब्दों का भावार्थ ४३४, असोच्चा धम्मं लभेज्जा सवणयाए तथा नाणावरणिज्जाणं ....खओवसमे का अर्थ ४३४, केवली आदि से शुद्धबोधि का लाभालाभ ४३४, केवली आदि से शुद्ध अनगारिता का ग्रहण-अग्रहण ४३५, केवली आदि से ब्रह्मचर्य-वास का धारण-अधारण ४३६, केवली आदि से शुद्ध संयम का ग्रहण-अग्रहण ४३७, केवली आदि से शुद्ध संवर का आचरण-अनाचरण ४३८, केवली आदि से आभिनिबोधिक आदि ज्ञान-उपार्जन-अनुपार्जन ४३८, केवली आदि से ग्यारह बोलों की प्राप्ति और अप्राप्ति ४४०, केवली आदि से बिना सुने केवलज्ञानप्राप्ति वाले को विभंग-ज्ञान एवं क्रमशः अवधिज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया ४४२, 'तस्स छट्ठं-छट्ठेणं': आशय ४४३, समुत्पन्न विभंगज्ञान की शक्ति ४४३, विभंगज्ञान अवधिज्ञान में परिणत होने की प्रक्रिया ४४३, पूर्वोक्त अवधिज्ञानी में लेश्या, ज्ञान आदि का निरूपण ४४४, साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग का अर्थ ४४७, वज्रऋषभनाराच-संहनन ही क्यों ? ४४७, सवेदी आदि का तात्पर्य ४४७, प्रशस्त अध्यवसाय-स्थान ही क्यों ? ४४७, उक्त अवधिज्ञानी को केवलज्ञान-प्राप्ति का क्रम ४४७, चारित्रात्मा अवधिज्ञानी के प्रशस्त अध्यवसायों का प्रभाव ४४८, मोहनीयकर्म का नाश, शेष घाति कर्मनाश का कारण ४४८, केवलज्ञान के विशेषणों का भावार्थ ४४८, असोच्चा केवली द्वारा उपदेश-प्रव्रज्या-सिद्धि आदि के सम्बन्ध में ४४९, असोच्चा केवली का आचार-विचार, उपलब्धि एवं स्थान ४५०, सोच्चा से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर ४५१, 'असोच्चा' का अतिदेश ४५१, केवली आदि से सुन कर अवधिज्ञान की उपलब्धि ४५२, केवली आदि से सुन कर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को अवधिज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया ४५२, तथारूप अवधिज्ञानी में लेश्या, योग, देह आदि ४५२, सोच्चा केवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या, सिद्धि आदि के सम्बन्ध में ४५४, सोच्चा अवधिज्ञानी के लेश्या आदि का निरूपण ४५६, असोच्चा से सोच्चा अवधिज्ञानी की कई बातों में अन्तर ४५६ ।

बत्तीसवाँ उद्देशक—गांगेय (सूत्र १-५९) ४५८-५०७

उपोद्घात ४५८, चौवीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर-उपपात-उद्वर्तन-प्ररूपणा ४५८, उपपात-उद्वर्तन : परिभाषा ४६०, सान्तर और निरन्तर ४६०, एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु ४६०, प्रवेशनक : चार प्रकार ४६०, नैरयिक-प्रवेशनक निरूपण ४६१, नैरयिक-प्रवेशनक सात ही क्यों ? ४६१, एक नैरयिक के प्रवेशनक-भंग ४६१, एक नैरयिक के असंयोगी सात प्रवेशनक-भंग ४६१, दो नैरयिकों के प्रवेशनक-भंग ४६१, तीन नैरयिकों के प्रवेशनक-भंग ४६३, चार नैरयिकों के प्रवेशनक-भंग ४६६, चार नैरयिकों के त्रिकसंयोगी भंग ४७१, पंच नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४७१, पंच नैरयिकों के द्विकसंयोगी भंग ४७४, पांच नैरयिकों के त्रिकसंयोगी भंग ४७४, पांच नैरयिक के चतुः-संयोगी भंग ४७५, पंच नैरयिकों के पंचसंयोगी भंग ४७६, पांच नैरयिकों के समस्त भंग ४७७, छह

नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४७७, एक संयोगी ७ भंग ४७९, द्विकसंयोगी १०५ भंग ४७९, त्रिकसंयोगी ३५० भंग ४७९, चतु:संयोगी ३५० भंग ४७९, पंचसंयोगी १०५ भंग ४७९, षट्संयोगी ७ भंग ४८०, सात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८०, सात नैरयिकों के असंयोगी ७ भंग ४८१, द्विकसंयोगी १२६ भंग ४८१, त्रिकसंयोगी ५२५ भंग ४८१, चतु:संयोगी ७०० भंग ४८१, पंचसंयोगी ३१५ भंग ४८१, षट्संयोगी ४२ भंग ४८१, सप्तसंयोगी एक भंग ४८१, आठ नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८१, असंयोगी भंग ४८२, द्विकसंयोगी १४७ भंग ४८२, त्रिकसंयोगी ७३५ भंग ४८२, चतु:संयोगी १२२५ भंग ४८२, पंचसंयोगी ७३५ भंग ४८३, षट्संयोगी १४७ भंग ४८३, सप्तसंयोगी ७ भंग ४८३, नौ नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८३, नौ नैरयिकों के असंयोगी भंग ४८३, द्विकसंयोगी १६८ भंग ४८३, त्रिकसंयोगी ९८० भंग ४८४, चतुष्कसंयोगी १९६० भंग ४८४, पंचसंयोगी १४७० भंग ४८४, षट्संयोगी ३९२ भंग ४८४, सप्तसंयोगी २८ भंग ४८४, दस नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८४, दस नैरयिकों के असंयोगी भंग ४८५, द्विकसंयोगी १८९ भंग ४८५, त्रिकसंयोगी १२६० भंग ४८५, चतुष्कसंयोगी २९४० भंग ४८५, पंचसंयोगी २६४६ भंग ४८५, षट्संयोगी ८८२ भंग ४८५, सप्तसंयोगी ८४ भंग ४८५, संख्यात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८६, संख्यात का स्वरूप ४८८, असंयोगी ७ भंग ४८८, द्विकसंयोगी २३१, भंग ४८८, त्रिकसंयोगी ७३५ भंग ४८८, चतु: संयोगी १०८५ भंग ४८९, पंचसंयोगी ८६१ भंग ४८९, षट्संयोगी ३५७ भंग ४८९, सप्तसंयोगी ६१ भंग ४८९, असंख्यात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग ४८९, उत्कृष्ट नैरयिक-प्रवेशनक प्ररूपणा ४९०, रत्नप्रभादि नैरयिक प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व ४९२, तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक : प्रकार और भंग ४९३, उत्कृष्ट तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक प्ररूपणा ४९४, एकेन्द्रियादि तिर्यञ्चप्रवेशनकों का अल्प-बहुत्व ४९५, मनुष्य-प्रवेशनक : प्रकार और भंग ४९५, उत्कृष्ट रूप से मनुष्य-प्रवेशनक-प्ररूपणा ४९७, मनुष्य-प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व ४९७, देव-प्रवेशनक : प्रकार और भंग ४९८, उत्कृष्ट रूप से देव-प्रवेशनक-प्ररूपणा ४९९, भवनवासी आदि देवों के प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व ४९९, नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व ५००, चौवीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर उपपाद-उद्वर्तनप्ररूपणा ५००, प्रकारान्तर से चौवीस दण्डकों में उत्पाद-उद्वर्तना-प्ररूपणा ५०१, सत् ही उत्पन्न होने आदि का रहस्य ५०३, सत् में ही उत्पन्न होने आदि का रहस्य ५०३, गांगेय सम्मत-सिद्धान्त के द्वारा स्वकथन की पुष्टि ५०३, केवलज्ञानी आत्मप्रत्यक्ष से सब जानते हैं ५०३, केवल-ज्ञानी द्वारा समस्त स्व-प्रत्यक्ष ५०४, नैरयिक आदि की स्वयं उत्पत्ति : रहस्य और कारण ५०४-५०५, भगवान् के सर्वज्ञत्व पर श्रद्धा और पंचमहाव्रत धर्म-स्वीकार ५०७।

तेतीसवाँ उद्देशक—कुण्डग्राम (सूत्र १-११२) ५०८-५६८

ऋषभदत्त और देवानन्दा : संक्षिप्त परिचय ५०८, ऋषभदत्त ब्राह्मणधर्मानुयायी था या श्रमणधर्मानुयायी ? ५०९, भगवान् की सेवा में वन्दना-पर्युपासनादि के लिए जाने का निश्चय ५०९, ब्राह्मणदम्पती की दर्शनवन्दनार्थ जाने की तैयारी ५१०, पांच अभिगम क्या और क्यों ? ५१३, देवानन्दा की मातृवत्सलता और गौतम का समाधान ५१३, ऋषभदत्त द्वारा प्रव्रज्याग्रहण एवं निर्वाण-प्राप्ति ५१५, देवानन्दा द्वारा साध्वी-दीक्षा और मुक्ति-प्राप्ति ५१६, **(जमालि-चरित)** जमालि और उसका भोग-वैभवमय जीवन ५१८, भगवान् का पदार्पण सुनकर दर्शन-वन्दनादि के लिये गमन ५१९, जमालि द्वारा प्रवचन-श्रवण और श्रद्धा तथा प्रव्रज्या की अभिव्यक्ति ५२२, माता-पिता से दीक्षा की

अनुज्ञा का अनुरोध ५२३, प्रव्रज्या का संकल्प सुनते ही माता शोकमग्न ५२५, माता-पिता के साथ विरक्त जमालि का संलाप ५२६, जमालि को प्रव्रज्याग्रहण की अनुमति दी ५३६, जमालि के प्रव्रज्या-ग्रहण का विस्तृत वर्णन ५३७-५५३, भगवान् की विना आज्ञा के जमालि का पृथक् विहार ५५४, जमालि अनगार का श्रावस्ती में और भगवान् का चंपा में विहरण ५५५, जमालि अनगार के शरीर में रोगातंक की उत्पत्ति ५५६, रुग्ण जमालि को शय्यासंस्तारक के निमित्त से सिद्धान्त-विरुद्ध-स्फुरणा और प्ररूपणा ५५७, कुछ श्रमणों द्वारा जमालि के सिद्धान्त का स्वीकार, कुछ के द्वारा अस्वीकार ५५८, जमालि द्वारा सर्वज्ञता का मिथ्या दावा ५५९, गौतम के दो प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ जमालि का भगवान् द्वारा सैद्धान्तिक समाधान ५६०, मिथ्यात्वग्रस्त जमालि की विराधकता का फल ५६२, किल्विषिक देवों में उत्पत्ति का भगवत्समाधान ५६३, किल्विषिक देवों के भेद, स्थान एवं उत्पत्ति-कारण ५६४, किल्विषिक देवों में जमालि की उत्पत्ति का कारण ५६६, स्वादजयी अनगार किल्विषिक देव क्यों ? ५६७, जमालि का भविष्य ५६७ ।

चौतीसवाँ उद्देशक—पुरुष (सूत्र १-२५) ५६९-५७५

पुरुष और नोपुरुष का घातक, उपोद्घात, पुरुष के द्वारा अश्वादिघात सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ५६९, प्राणिघात के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त ५७१, घातक व्यक्ति को वैरस्पर्श की प्ररूपणा ५७१, एकेन्द्रिय जीवों की परस्पर श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी प्ररूपणा ५७२, पृथ्वीकायिकादि द्वारा पृथ्वी-कायिकादि को श्वासोच्छ्वास करते समय क्रिया-प्ररूपणा ५७३, वायुकाय को वृक्षमूलादि कंपाने-गिराने संबंधी क्रिया ५७५ ।

दशम शतक ५७६-६२६

प्राथमिक ५७६

दशम शतकगत चौतीस उद्देशकों के विषयों का संक्षिप्त परिचय

दशम शतक के चौतीस उद्देशकों की संग्रहगाथा ५७८

प्रथम उद्देशक—दिशाओं का स्वरूप (सूत्र २-१९) ५७९-५८५

दिशाओं का स्वरूप ५७९, दिशाएँ : जीव-अजीव रूप क्यों ? ५७९, दिशाओं के दस भेद ५८०, दिशाओं के ये दस नामान्तर क्यों ? ५८१, दश दिशाओं की जीव-अजीव सम्बन्धी वक्तव्यता ५८१, दिशा-विदिशाओं का आकार एवं व्यापकत्व ५८२, आग्नेयी विदिशा का स्वरूप ५८३, जीवदेश सम्बन्धी भंगजाल ५८३, शेष दिशा-विदिशाओं की जीव-अजीव प्ररूपणा ५८४, शरीर के भेद-प्रभेद तथा सम्बन्धित निरूपण ५८४ ।

द्वितीय उद्देशक—संवृत अनगार (सूत्र १-९) ५८६-५९३

वीचिपथ और अवीचिपथ स्थित संवृत अनगार को लगने वाली क्रिया ५८६, ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया के अधिकारी ५८७, वीयीपंथे : चार रूप : चार अर्थ ५८७, अवीयी-पंथे : चार रूप : चार अर्थ ५८७, योनियों के भेद-प्रभेद, प्रकार एवं स्वरूप ५८७, योनि का

निर्वचनार्थ ५८८, योनि के सामान्यतया तीन प्रकार ५८८, प्रकारान्तर से योनि के तीन भेद ५८९, अन्य प्रकार से योनि के तीन भेद ५८९, उत्कृष्टता-निकृष्टता की दृष्टि से योनि के तीन प्रकार ५८९, चौरासी लाख जीवयोनियाँ ५८९, विविध वेदना : प्रकार एवं स्वरूप ५८९, प्रकारान्तर से त्रिविध वेदना ५९०, वेदना के पुनः तीन भेद हैं ५९०, वेदना के दो भेद ५९०, वेदना के दो भेद : प्रकारान्तर से ५९०, मासिक भिक्षुप्रतिमा की वास्तविक आराधना ५९१, भिक्षुप्रतिमा : स्वरूप और प्रकार ५९१, अकृत्यसेवी भिक्षु : कब अनाराधक कब आराधक ? ५९२, आराधक-विराधक भिक्षु की छह कोटियां ५९३ ।

तृतीय उद्देशक—आत्मऋद्धि (सूत्र १-१९) ५९४-६०१

देवों की देवावासों की उल्लंघनशक्ति : अपनी और दूसरी ५९४, देवों का मध्य में से होकर गमनसामर्थ्य ५९५, विमोहित करने का तात्पर्य ५९७, देव-देवियों का एक दूसरे के मध्य में से होकर गमनसामर्थ्य ५९७, दौड़ते हुए अश्व के 'खु-खु' शब्द का कारण ५९९, प्रज्ञापनीभाषा : मृषा नहीं ५९९, बारह प्रकार की भाषाओं का लक्षण ६०० ।

चतुर्थ उद्देशक—श्यामहस्ती (सूत्र १-१४) ६०२-६०९

श्यामहस्ती अनगार : परिचय एवं प्रश्न का उत्थान ६०२, चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देव : अस्तित्व, कारण एवं सदैव स्थायित्व ६०३, त्रायस्त्रिंश देवों का लक्षण ६०५, बलीन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता का प्रतिपादन ६०६, धरणेन्द्र से महाघोषेन्द्र-पर्यन्त के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता का निरूपण ६०७, शक्रेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के त्रायस्त्रिंशक : कौन और कैसे ? ६०७, त्रायस्त्रिंशक देव : किन देवनिकायों में ? ६०९ ।

पंचम उद्देशक—अग्रमहिषी वर्णन (सूत्र १-३५) ६१०-६२३

उपोद्घात : स्थविरों द्वारा पृच्छा ६१०, अपनी सुधर्मा सभा में चमरेन्द्र की मैथुननिमित्तक भोग की असमर्थता ६११, चमरेन्द्र के सोमादि लोकपालों का देवी-परिवार ६१२, बलीन्द्र एवं उसके लोकपालों का देवी-परिवार ६१४, धरणेन्द्र और उसके लोकपालों का देवी-परिवार ६१५, भूतानन्दादि भवनवासी इन्द्रों तथा उनके लोकपालों का देवी-परिवार ६१६, व्यन्तरजातीय देवेन्द्रों के देवी-परिवार आदि का निरूपण ६१७, व्यंतरजातीय देवों के ८ प्रकार ६१९, इन आठों के प्रत्येक समूह के दो-दो इन्द्रों के नाम ६२०, चन्द्र-सूर्य-ग्रहों के देवी-परिवार आदि का निरूपण ६२०, शक्रेन्द्र और उसके लोकपालों का देवी-परिवार ६२१, ईशानेन्द्र तथा उसके लोकपालों का देवी-परिवार ६२२ ।

छठा उद्देशक—सभा (सूत्र १-२) ६२४-६२५

सूर्याभ के अतिदेशपूर्वक शक्रेन्द्र तथा उसकी सुधर्मा सभा आदि का वर्णन ६२४ ।

सात-चौतीस उद्देशक—उत्तरवर्ती अन्तर्द्वीप (सूत्र १) ६२६

उत्तरदिशावर्ती अट्ठाईस अन्तर्द्वीप (जीवाभिगमसूत्र के अनुसार) ६२६ ।

।। समाप्तिसूचक ।।

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पंचमं अंगं

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

द्वितीय खण्ड

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचितं पञ्चमम् अङ्गम्

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्

[भगवती]

छट्ठं सयं : छठा शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र के इस शतक में वेदना, आहार, महाश्रव, सप्रदेश, तमस्काय, भव्य, शाली, पृथ्वी, कर्म एवं अन्ययूथिकवक्तव्यता आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

* इस छठे शतक में भी पूर्ववत् दस उद्देशक हैं।

* प्रथम उद्देशक में महावेदना और महानिर्जरा में प्रशस्तनिर्जरा वाले जीव को विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है, तत्पश्चात् चतुर्विधकरण की अपेक्षा जीवों के साता-असाता वेदन की प्ररूपणा की गई है और अन्त में, जीवों में वेदना और निर्जरा से सम्बन्धित चतुर्भंगी की प्ररूपणा की गई है।

* द्वितीय उद्देशक में जीवों के आहार के सम्बन्ध में प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक वर्णन किया गया है।

* तृतीय उद्देशक में महाकर्म आदि से युक्त जीव के साथ पुद्गलों के बन्ध, चय, उपचय और अशुभ रूप में परिणमन का तथा अल्पकर्म आदि से युक्त जीव के साथ पुद्गलों के भेद-छेद, विध्वंस आदि का तथा शुभरूप में परिणमन का दृष्टान्तद्वयपूर्वक निरूपण है, द्वितीय द्वार में वस्त्र में पुद्गलोपचयवत् प्रयोग से समस्त जीवों के कर्म-पुद्गलोपचय का, तृतीयद्वार में जीवों के कर्मोपचय की सादिसान्तता का, जीवों की सादिसान्तता आदि चतुर्भंगी का, चतुर्थद्वार में अष्टकर्मों की बन्धस्थिति आदि का, पंचम द्वार से उन्नीसवें द्वार तक स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि विभिन्न विशिष्ट कर्मबन्धक जीवों की अपेक्षा से अष्टकर्म प्रकृतियों के बन्ध-अबन्ध का विचार किया गया है। और अन्त में, पूर्वोक्त १५ द्वारों में उक्त जीवों के अल्पबहुत्व का निरूपण है।

* चतुर्थ उद्देशक में कालादेश की अपेक्षा सामान्य चौवीस दण्डकवर्ती जीव, आहारक, भव्य, संज्ञी, लेश्यावान्, दृष्टि, संयत, सकषाय, सयोगी, उपयोगी, सवेदक, सशरीरी, पर्याप्तक आदि विशिष्ट जीवों में १४ द्वारों के माध्यम से सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व का निरूपण किया गया है। अन्त में, समस्त जीवों के प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी या प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी होने, जानने, करने और आयुष्य बांधने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं।

* पंचम उद्देशक में विभिन्न पहलुओं से तमस्काय और कृष्णराजियों के सम्बन्ध में सांगोपांग वर्णन है, अन्त में लोकान्तिक देवों से सम्बन्धित विमान, देवपरिवार, विमानसंस्थान आदि का वर्णन है।

❋ **छठे उद्देशक** में चौबीस दण्डकों के आवास, विमान आदि की संख्या का, तथा मारणान्तिक समुद्घातसमवहत जीव के आहारादि से सम्बन्धित निरूपण किया गया है।

❋ **सातवें उद्देशक** में कोठे आदि में रखे हुए शालि आदि विविधधान्यों की योनि स्थिति की तथा मुहूर्त्त से लेकर शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त गणितयोग्य कालपरिमाण की और पल्योपम-सागरोपमादि औपमिककाल की प्ररूपणा की गई है। अन्त में सुषमसुषमाकालीन भारत के जीव-अजीवों के भावादि का वर्णन किया गया है।

❋ **आठवें उद्देशक** में रत्नप्रभादि पृथ्वियों तथा सर्वदेवलोकों में गृह-ग्राम-मेघादि के अस्तित्व-कर्तृत्व-की, जीवों के आयुष्यबन्ध एवं जातिनामनिधत्तादि वारह दण्डकों की, लवणादि असंख्य द्वीप-समुद्रों के स्वरूप एवं प्रमाण की तथा द्वीप-समुद्रों के शुभ नामों की प्ररूपणा की गई है।

❋ **नौवें उद्देशक** में ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के साथ अन्यकर्मों के बन्ध का, वाह्यपुद्गल-ग्रहण-पूर्वक महर्द्धिकादि देव के द्वारा एकवर्णादि के पुद्गलों के अन्यवर्णादि में विकुर्वण-परिणमन-सम्बन्धी सामर्थ्य का, तथा अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यायुक्त देवों द्वारा अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यावाले देवादि को जानने-देखने के सामर्थ्य का निरूपण किया गया है।

❋ **दशवें उद्देशक** में अन्यतीर्थिक मत-निराकरणपूर्वक सम्पूर्ण लोकवर्ती सर्वजीवों के सुख-दुःख को अणुमात्र भी दिखाने की असमर्थता की स्वमतप्ररूपणा, जीव के स्वरूपनिर्णय से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरी, एकान्त दुःखवेदनरूप अन्यतीर्थिकमतनिराकरणपूर्वक अनेकान्तशैली से सुखदुःखादि-वेदनप्ररूपणा तथा जीवों द्वारा आत्मशरीरक्षेत्रावगाढ-पुद्गलाहार की प्ररूपणा की गई है। अन्त में, केवली के आत्मा द्वारा ही ज्ञान-दर्शन-सामर्थ्य की प्ररूपणा की गई है।[1]

□□

---

१. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, 'अनुक्रमणिका' पृ-५ से ७ तक
(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठटिप्पणयुक्त) भा. १ 'विसयाणुक्कमो' पृ. ४० से ४४ तक

छट्ठं सयं : छठा शतक

छठे शतक की संग्रहणीगाथा—

१. वेयण १ आहार २ महस्सवे य ३ सपदेस ४ तमुयए ५ भविए ६ ।
सालो ७ पुढवी ८ कम्मऽन्नउत्थि ९-१० दस छट्ठगम्मि सते ।। १ ।।

[१. गाथा का अर्थ—] १. वेदना, २. आहार, ३. महाश्रव, ४. सप्रदेश, ५. तमस्काय, ६. भव्य ७. शाली, ८. पृथ्वी, ९. कर्म और १०. अन्ययूथिक-वक्तव्यता; इस प्रकार छठे शतक में ये दस उद्देशक हैं।

पढमो उद्देसओ : 'वेयण'

प्रथम उद्देशक : वेदना

महावेदना एवं महानिर्जरायुक्त जीवों का निर्णय विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा—

२. से नूणं भंते ! जे महावेदणे से महानिज्जरे ? जे महानिज्जरे से महावेदणे ? महावेदणस्स य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए ?

हंता, गोयमा ! जे महावेदणे एवं चेव ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या यह निश्चित है कि जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है और जो महानिर्जरावाला है, वह महावेदना वाला है ? तथा क्या महावेदना वाला और अल्पवेदना वाला, इन दोनों में वही जीव श्रेयान् (श्रेष्ठ) है, जो प्रशस्तनिर्जरा वाला है ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! जो महावेदना वाला है,....इत्यादि जैसा ऊपर कहा है, इसी प्रकार समझना चाहिए।

३. [१] छट्ठी-सत्तमासु णं भंते ! पुढवीसु नेरइया महावेदणा ?

हंता, महावेदणा ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! क्या छठी और सातवीं (नरक-) पृथ्वी के नैरयिक महावेदना वाले हैं ?

[३-१ उ.] हाँ गौतम ! वे महावेदना वाले हैं।

[२] ते णं भंते ! समणेहिंतो निग्गंथेहिंतो महानिज्जरतरा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! तो क्या वे (छठी-सातवीं नरकभूमि के नैरयिक) श्रमण-निर्ग्रन्थों की अपेक्षा भी महानिर्जरा वाले हैं ?

[३-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—छठी-सातवीं नरक के नैरयिक, श्रमण-निर्ग्रन्थों की अपेक्षा महानिर्जरा वाले नहीं हैं।)

४. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जे महावेदणे जाव पसत्थनिज्जराए (सू. २) ?

गोयमा ! से जहानामए दुवे वत्थे सिया, एगे वत्थे कद्दमरागरत्ते, एगे वत्थे खंजणरागरत्ते। एतेसि णं गोयमा ! दोण्हं वत्थाणं कतरे वत्थे दुधोयतराए चेव, दुवामतराए चेव, दुपरिकम्मतराए चेव ? कयरे वा वत्थे सुधोयतराए चेव, सुवामतराए चेव, सुपरिकम्मतराए चेव, जे वा से वत्थे कद्दमरागरत्ते ? जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते ?

भगवं ! तत्थ णं जे से वत्थे कद्दमरागरत्ते से णं वत्थे दुधोयतराए चेव दुवामतराए चेव दुप्परिकम्मतराए चेव।

एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकताइं चिक्कणीकताइं सिलिट्ठीकताइं खिलीभूताइं भवंति; संपगाढं पि य णं ते वेदणं वेदेमाणा नो महानिज्जरा, णो महापज्जवसाणा भवंति। से जहा वा केइ पुरिसे अहिगरणीं आउडेमाणे महता महता सद्देणं महता महता घोसेणं महता महता परंपराघातेणं नो संचाएति तीसे अहिगरणीए अहाबायरे वि पोग्गले परिसाडित्तए। एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं जाव नो महापज्जवसाणा भवंति। भगवं ! तत्थ जे से वत्थे खंजणरागरत्ते से णं वत्थे सुधोयतराए चेव सुवामतराए चेव सुपरिकम्मतराए चेव।

एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं सिढिलीकताइं निट्ठिताइं कडाइं विप्परिणामिताइं खिप्पामेव विद्धत्थाइं भवंति जावतियं तावतियं पि णं ते वेदणं वेदेमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा भवंति। से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जति ?

हंता, मसमसाविज्जति।

एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहाबादराइं कम्माइं जाव महापज्जवसाणा भवंति। से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदगबिंदू जाव हंता, विद्धंसमागच्छति। एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं जाव महापज्जवसाणा भवंति। से तेणट्ठेणं जे महावेदणे से महानिज्जरे जाव निजराए।[1]

[४ प्र.] भगवन् ! तब यह कैसे कहा जाता है, कि जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है, यावत् प्रशस्त निर्जरा वाला है ?

---

१. यहां 'जाव' शब्द से 'जे महानिज्जरे से महावेदणे, महावेदणस्स य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्जराए' यह पाठ समझना चाहिए।

[४ उ.] गौतम ! (मान लो,) जैसे दो वस्त्र हैं। उनमें से एक कर्दम (कीचड़) के रंग से रंगा हुआ है और दूसरा वस्त्र खंजन (गाड़ी के पहिये के कीट) के रंग से रंगा हुआ है। गौतम ! इन दोनों वस्त्रों में से कौन-सा वस्त्र दुर्धौततर (मुश्किल से धुल सकने योग्य), दुर्वाम्यतर (बड़ी कठिनाई से काले धब्बे उतारे जा सकें, ऐसा) और दुष्परिकर्मतर (जिस पर मुश्किल से चमक लाई जा सके तथा चित्रादि बनाये जा सकें, ऐसा) है और कौन-सा वस्त्र सुधौततर (जो सरलता से धोया जा सके), सुवाम्यतर (आसानी से जिसके दाग़ उतारे जा सकें), तथा सुपरिकर्मतर (जिस पर चमक लाना और चित्रादि बनाना सुगम) है; कर्दमराग-रक्त या खंजनरागरक्त ? (गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—) भगवन् ! उन दोनों वस्त्रों में से जो कर्दम-रंग से रंगा हुआ है, वही (वस्त्र) दुर्धौततर, दुर्वाम्यतर एवं दुष्परिकर्मतर है।

(भगवान् ने इस पर फरमाया—) 'हे गौतम ! इसी तरह नैरयिकों के पाप-कर्म गाढीकृत (गाढ बंधे हुए), चिक्कणीकृत (चिकने किये हुए), श्लिष्ट (निधत्त) किये हुए एवं खिलीभूत (निकाचित किये हुए) हैं, इसलिए वे सम्प्रगाढ वेदना को वेदते हुए भी महानिर्जरा वाले नहीं हैं तथा महापर्यवसान वाले भी नहीं हैं।

अथवा जैसे कोई व्यक्ति जोरदार आवाज के साथ महाघोष करता हुआ लगातार जोर-जोर से चोट मार कर एरण को (हथौड़े से) कूटता-पीटता हुआ भी उस एरण (अधिकरणी) के स्थूल पुद्गलों को परिशटित (विनष्ट) करने में समर्थ नहीं हो सकता; इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिकों के पापकर्म गाढ़ किये हुए हैं;""यावत् इसलिए वे महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाले नहीं हैं।

(गौतमस्वामी ने पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर पूर्ण किया—) 'भगवन् ! उन दोनों वस्त्रों में से जो खंजन के रंग से रंगा हुआ है, वह वस्त्र सुधौततर, सुवाम्यतर और सुपरिकर्मतर है।' (इस पर भगवान् ने कहा—) हे गौतम ! इसी प्रकार श्रमण-निर्ग्रन्थों के यथाबादर (स्थूलतर स्कन्धरूप) कर्म, शिथिलीकृत (मन्द विपाक वाले), निष्ठितकृत (सत्तारहित किये हुए) विपरिणामित (विपरिणाम वाले) होते हैं। (इसलिए वे) शीघ्र ही विध्वस्त हो जाते हैं। जितनी कुछ (जैसी-कैसी) भी वेदना को वेदते हुए श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले होते हैं।'

(भगवान् ने पूछा—) हे गौतम ! जैसे कोई पुरुष सूखे घास के पूले (तृणहस्तक) को धधकती हुई अग्नि में डाल दे तो क्या वह सूखे घास का पूला धधकती आग में डालते ही शीघ्र जल उठता है ?

(गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—) हाँ भगवन् ! वह शीघ्र ही जल उठता है। (भगवान् ने कहा—) हे गौतम ! इसी तरह श्रमण-निर्ग्रन्थों के यथाबादर कर्म शीघ्र ही विध्वस्त हो जाते हैं, यावत् वे श्रमणनिर्ग्रन्थ महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाले होते हैं।

(अथवा) जैसे कोई पुरुष, अत्यन्त तपे हुए लोहे के तवे (या कड़ाह) पर पानी की बूंद डाले तो वह यावत् शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है, इसी प्रकार, हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थों के यथाबादर कर्म भी शीघ्र ही विध्वस्त हो जाते हैं और वे यावत् महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाले होते हैं।

इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि जो महावेदना वाला होता है, वह महानिर्जरा वाला होता है, यावत् वही श्रेष्ठ है जो प्रशस्तनिर्जरा वाला है।

विवेचन—महावेदना एवं महानिर्जरा वाले जीवों के विषय में विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा निर्णय—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. २ से ४ तक) में महावेदनायुक्त एवं महानिर्जरायुक्त कौन-से जीव हैं, और वे क्यों है ? इस विषय में विविध साधक-बाधक दृष्टान्तों द्वारा निर्णय दिया गया है।

महावेदना और महानिर्जरा की व्याख्या—उपसर्ग आदि के कारण उत्पन्न हुई विशेष पीड़ा महावेदना और कर्मों का विशेष रूप से क्षय होना महानिर्जरा है। महानिर्जरा और महापर्यवसान का भी महावेदना और महानिर्जरा की तरह कार्यकारण भाव है। जो महानिर्जरा वाला नहीं होता, वह महापर्यवसान (कर्मों का विशेष रूप से सभी ओर से अन्त करने वाला) नहीं होता।

क्या नारक महावेदना और महानिर्जरा वाले नहीं होते ?—मूल पाठ में इस प्रश्न को उठा कर समाधान मांगा है कि नैरयिक महावेदना वाले होते हुए महानिर्जरा वाले होते हैं या श्रमण निर्ग्रन्थ ? भगवान् ने कीचड़ से रंगे और खंजन से रंगे, वस्त्रद्वय के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि जो महावेदना वाले होते हैं, वे सभी महानिर्जरा वाले नहीं होते। जैसे नारक महावेदना वाले होते हैं, उन्हें अपने पूर्व कृत गाढ़बन्धनबद्ध निधत्त-निकाचित कर्मों के फलस्वरूप महावेदना होती है, परन्तु वे उसे समभाव से न सहकर रो रो कर, विलाप करते हुए सहते हैं, जिससे वह महावेदना महानिर्जरा रूप नहीं होती, बल्कि अल्पतर, अप्रशस्त, अकामनिर्जरा होकर रह जाती है। इसके विपरीत भ. महावीर जैसे श्रमणनिर्ग्रन्थ बड़े-बड़े उपसर्गों व परीषहों के समय समभाव से सहन करने के कारण महानिर्जरा और वह भी प्रशस्त निर्जरा कर लेते हैं। इस कारण वेदना महती हो या अल्प, उसे समभाव से सहने वाला ही भगवान् महावीर की तरह प्रशस्त महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाला हो जाता है। श्रमण-निर्ग्रन्थों के कर्म शिथिलबन्धन वाले होते हैं, जिन्हें वे शीघ्र ही स्थितिघात और रसघात आदि के द्वारा विपरिणाम वाले कर देते हैं। अत एव वे शीघ्र विध्वस्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में दो दृष्टान्त दिये गए हैं—सूखे घास का पूला अग्नि में डालते ही तथा तपे हुए तवे पर पानी की बूंद डालते ही वे दोनों विनष्ट हो जाते हैं; वैसे हो श्रमणों के कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

निष्कर्ष—यहाँ उल्लिखित कथन—'**जो महावेदना वाला होता है, वह महानिर्जरा वाला होता है**' किसी विशिष्ट जीव की अपेक्षा से समझना चाहिए, नैरयिक आदि क्लिष्ट कर्म वाले जीवों की अपेक्षा से नहीं। तथा जो महानिर्जरा वाला होता है, वह महावेदनावाला होता है, यह कथन भी प्रायिक समझना चाहिए क्योंकि सयोगीकेवली-नामक तेरहवें गुणस्थान में महानिर्जरा होती है, परन्तु महावेदना नहीं भी होती, उसकी वहाँ भजना है।

निष्कर्ष यह है कि जिनके कर्म सुधौतवस्त्रवत् सुविशोध्य होते हैं, वे महानुभाव कैसी भी वेदना को भोगते हुए महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले होते हैं।

दुर्विशोध्य कर्म के चार विशेषणों की व्याख्या—गाढीकयाइं=जो कर्म डोरी से मजबूत बांधी हुई सूइयों के ढेर के समान आत्मप्रदेशों के साथ गाढ बंधे हुए हैं, वे गाढीकृत हैं। **चिक्कणीकयाइं**=मिट्टी के चिकने बर्तन के समान सूक्ष्म-कर्मस्कन्धों के रस के साथ परस्पर गाढ बन्ध वाले, दुर्भेद्य कर्मों को चिकने किये हुए कर्म कहते हैं। **सिलिट्ठीकयाइं**=रस्सी से दृढ़तापूवक बांध कर आग में तपाई हुई सुइयों का ढेर जैसे परस्पर चिपक जाता है, वे सुइयाँ एकमेक हो जाती हैं, उसी तरह

जो कर्म परस्पर एकमेक—श्लिष्ट हो (चिपक) गए हैं, ऐसे निधत्त कर्म। खिलीभूयाइं=खिलीभूत कर्म, वे निकाचित कर्म होते हैं, जो बिना भोगे, किसी भी अन्य उपाय से क्षीण नहीं होते।[1]

चौवीस दण्डकों में करण की अपेक्षा साता-असाता-वेदन की प्ररूपणा—

५. कतिविहे णं भंते ! करणे पण्णत्ते ?

गोतमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे।

[५ प्र.] भगवन् ! करण कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[५ उ.] गौतम ! करण चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—मन-करण, वचन-करण, काय-करण और कर्म-करण।

६. णेरइयाणं भंते ! कतिविहे करणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे। एवं पंचेंदियाणं सव्वेसिं चउव्विहे करणे पण्णत्ते। एगिंदियाणं दुविहे-कायकरणे य कम्मकरणे य। विगलेंदियाणं वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे।

[६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों के कितने प्रकार के करण कहे गए हैं ?

[६ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के चार प्रकार के करण कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—मन-करण, वचन-करण, काय-करण और कर्म-करण। इसी प्रकार समस्त पंचेन्द्रिय जीवों के ये चार प्रकार के करण कहे गए हैं। एकेन्द्रिय जीवों के दो प्रकार के करण होते हैं—कायकरण और कर्म-करण। विकलेन्द्रिय जीवों के तीन प्रकार के करण होते हैं, यथा—वचन-करण, काय-करण और कर्मकरण।

७. [१] नेरइया णं भंते ! किं करणतो वेदणं वेदेंति ? अकरणतो वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ? नेरइया णं करणओ वेदणं वेदेंति, नो अकरणओ वेदणं वेदेंति।

[७-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव करण से असातावेदना वेदते हैं अथवा अकरण से असातावेदना वेदते हैं ?

[७-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव करण से असातावेदना वेदते हैं, अकरण से असातावेदना नहीं वेदते।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! नेरइयाणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे। इच्चेएणं चउव्विहेणं असुभेणं करणेणं नेरइया करणतो असायं वेदणं वेदेंति, नो अकरणतो, से तेणट्ठेणं०।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २५१ (ख) भगवती, हिन्दी विवेचन भा. २ पृ. ९३६ से ९३८ तक

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के चार प्रकार के करण कहे गए हैं, जैसे कि मन-करण, वचन-करण, काय-करण और कर्म-करण। उनके ये चारों ही प्रकार के करण अशुभ होने से वे (नैरयिक जीव) करण द्वारा असातावेदना वेदते हैं, अकरण द्वारा नहीं। इस कारण से ऐसा कहा गया है कि नैरयिक जीव करण से असातावेदना वेदते हैं, अकरण से नहीं।

८. [१] असुरकुमारा णं किं करणतो, अकरणतो ?

गोयमा ! करणतो, नो अकरणतो।

[८-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देव क्या करण से सातावेदना वेदते हैं, अथवा अकरण से ?

[८-१ उ.] गौतम ! असुरकुमार करण से सातावेदना वेदते हैं, अकरण से नहीं।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे। इच्चेएणं सुभेणं करणेणं असुरकुमारा णं करणतो सायं वेदणं वेदेंति, नो अकरणतो।

[८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[८-२ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के चार प्रकार के करण कहे गए हैं। यथा—मनकरण, वचन-करण, काय-करण और कर्म-करण। असुरकुमारों के ये चारों करण शुभ होने से वे (असुरकुमार) करण से सातावेदना वेदते हैं, किन्तु अकरण से नहीं।

९. एवं जाव थणियकुमारा।

[९] इसी तरह (नागकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए।

१०. पुढविकाइयाणं एस चेव पुच्छा। नवरं इच्चेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढविकाइया करणतो वेमायाए वेदणं वेदेंति, नो अकरणतो।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव करण द्वारा वेदना वेदते हैं, या अकरण द्वारा ?

[१० उ.[गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव करण द्वारा वेदना वेदते हैं, किन्तु अकरण द्वारा नहीं। विशेष यह है कि इनके ये करण शुभाशुभ होने से ये करण द्वारा विमात्रा से (विविध प्रकार से) वेदना वेदते हैं; किन्तु अकरण द्वारा नहीं। अर्थात्—पृथ्वीकायिक जीव शुभकरण होने से सातावेदना वेदते हैं और कदाचित् अशुभ करण होने से असाता वेदना वेदते हैं।

११. ओरालियसरीरा सव्वे सुभासुभेणं वेमायाए।

[११] औदारिक शरीर वाले सभी जीव अर्थात्-पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय और मनुष्य, शुभाशुभ करण द्वारा विमात्रा से वेदना (कदाचित् सातावेदना और कदाचित् असातावेदना) वेदते हैं।

१२. देवा सुभेणं सातं ।

[१२] देव (चारों प्रकार के देव) शुभ करण द्वारा सातावेदना वेदते हैं ।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में करण की अपेक्षा साता-असातावेदन की प्ररूपणा—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. ५ से १२ तक) में करण के चार प्रकार बता कर समस्त संसारी जीवों में इन्हीं शुभाशुभ करणों के द्वारा साता-असातावेदना के वेदन की प्ररूपणा की गई है ।

चार करणों का स्वरूप—वेदना का मुख्य कारण करण है, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ । मनसम्बन्धी, वचन-सम्बन्धी, काय-सम्बन्धी और कर्म विषयक ये चार करण होते हैं । कर्म के बन्धन, संक्रमण आदि में निमित्तभूत जीव के वीर्य को कर्मकरण कहते हैं ।[1]

जीवों में वेदना और निर्जरा से सम्बन्धित चतुर्भंगी का निरूपण—

१३. [१] जीवा णं भंते ! किं महावेदणा महानिज्जरा ? महावेदणा अप्पनिज्जरा ? अप्पवेदणा महानिज्जरा ? अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

गोयमा ! अत्थेगइया जीवा महावेदणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा महावेयणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेदणा महानिज्जरा, अत्थेगइया जीवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! जीव, (क्या) महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं, महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं, अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं, अथवा अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ?

[१३-१ उ.] गौतम ! कितने ही जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं, कितने ही जीव महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं, कई जीव अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं तथा कई जीव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे । छट्ठ-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा । सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे । अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[१३-२ उ.] गौतम ! प्रतिमा-प्रतिपन्न (प्रतिमा अंगीकार किया हुआ) अनगार महावेदना और महानिर्जरा वाला होता है । छठी-सातवीं नरक-पृथ्वियों के नैरयिक जीव महावेदना वाले, किन्तु अल्पनिर्जरा वाले होते हैं । शैलेशी अवस्था को प्राप्त अनगार अल्पवेदना और महानिर्जरा

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २५२

वाले होते हैं। और अनुत्तरौपपातिक देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—जीवों में वेदना और निर्जरा से सम्बन्धित चतुर्भंगी का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में जीवों में वेदना और निर्जरा की चतुर्भंगी की सहेतुक प्ररूपणा की गई है।

चतुर्भंगी—(१) महावेदना और महानिर्जरा वाले, (२) महावेदना-अल्पनिर्जरा वाले, (३) अल्पवेदना-महानिर्जरा वाले और (४) अल्पवेदना-अल्पनिर्जरा वाले जीव।[1]

प्रथम उद्देशक की संग्रहणी गाथा—

१४. महावेदणे य वत्थे कद्दम-खंजणमए य अधिकरणी।
तणहत्थेऽयकवल्ले करण महावेदणा जीवा ॥१॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छट्ठसयस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

[१४—गाथा का अर्थ—] महावेदना, कर्दम और खंजन के रंग से रंगे हुए वस्त्र, अधिकरणी (एरण), घास का पूला (तृणहस्तक), लोहे का तवा या कड़ाह, करण और महावेदना वाले जीव; इतने विषयों का निरूपण इस प्रथम उद्देशक में किया गया है।

हे भगवन् यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; इस प्रकार कह कर यावत् श्रीगौतमस्वामी विचरण करने लगे।

॥ छठा शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा-१, पृ. २३३

बीओ उद्देसओ : 'आहार'

द्वितीय उद्देशक : 'आहार'

जीवों के आहार के सम्बन्ध में अतिदेशपूर्वक निरूपण—

१. रायगिहं नगरं जाव एवं वदासी—आहारुद्देसो जो पण्णवणाए सो सव्वो निरवसेसो नेयव्वो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।

॥ छट्ठे सए : बीओ उद्देसो समत्तो ॥

[१] राजगृह नगर में····यावत् भगवान् महावीर ने इस प्रकार फरमाया—यहाँ प्रज्ञापना सूत्र (के २८ वें आहारपद) में जो (प्रथम) आहार—उद्देशक कहा है. वह सम्पूर्ण (निरवशेष) जान लेना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; (यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।)

विवेचन—जीवों के आहार के सम्बन्ध में अतिदेशपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत उद्देशक के इसी सूत्र के द्वारा प्रज्ञापनासूत्रवर्णित आहारपद के प्रथम उद्देशक का अतिदेश करके जीवों के आहार-सम्बन्धी वर्णन करने का निरूपण किया है।

प्रज्ञापना में वर्णित आहारसम्बन्धी वर्णन की संक्षिप्त झांकी—प्रज्ञापनासूत्र के २८ वें आहार पद के प्रथम उद्देशक में क्रमश: उक्त ११ अधिकारों में वर्णित विषय ये हैं—

१. पृथ्वीकाय आदि जीव जो आहार करते हैं, वह सचित्त है, अचित्त है या मिश्र है ?
२. नैरयिक आदि जीव आहारार्थी हैं या नहीं ? इस पर विचार।
३. किन जीवों को कितने-कितने काल से, कितनी-कितनी बार आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?
४. कौन-से जीव किस प्रकार के पुद्गलों का आहार करते हैं ?
५. आहार करने वाला अपने समग्र शरीर द्वारा आहार करता है, या अन्य प्रकार से ? इत्यादि प्रश्न।
६. आहार के लिये लिये हुए पुद्गलों के कितने भाग का आहार किया जाता है ? इत्यादि चर्चा।
७. मुँह में खाने के लिए रखे हुए सभी पुद्गल खाये जाते हैं या कितने ही गिर जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण।

८. खायी हुई वस्तुएँ किस-किस रूप में परिणत होती हैं ? इसकी चर्चा ।

९. एकेन्द्रियादि जीवों के शरीरों को खाने वाले जीवों से सम्बन्धित वर्णन ।

१०. रोमाहार से सम्बन्धित विवेचन ।

११. मन द्वारा तृप्त हो जाने वाले मनोभक्षी देवों से सम्बन्धित तथ्यों का निरूपण ।[१]

प्रज्ञापना सूत्र के २८ वें पद के प्रथम उद्देशक में इन ग्यारह अधिकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, विस्तार भय से यहाँ सिर्फ सूचना मात्र दी है, जिज्ञासु उक्त स्थल देखें ।

॥ छठा शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

□□

---

१. (क) प्रज्ञापना सूत्र के २८ वें आहारपद के प्रथम उद्देशक में वर्णित ११ अधिकारों की संग्रहणी गाथाएँ—

सच्चित्ताऽऽहारट्ठी केवति-किं वाऽवि सव्वतो चेव ।
कतिभागं-सव्वे खलु-परिणामे चेव बोद्धव्वे ॥१॥
एगिंदियसरीरादी-लोमाहारो तहेव मणभक्खी ।
एतेसिं तु पदाणं विभावणा होति कातव्वा ॥२॥

(ख) भगवती सूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ. २६० से २६८ तक ।

(ग) विशेष जिज्ञासुओं को इस विषय का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के २८ वें पद के प्रथम उद्देशक में देखना चाहिए ।—सं.

तइओ उद्देसओ : 'महासव'

तृतीय उद्देशक : 'महाश्रव'

तृतीय उद्देशक की संग्रहणी गाथाएँ—

१. बहुकम्म १ वत्थपोग्गल पयोगसा वीससा य २ सादीए ३ ।
कम्मट्ठिति-त्थि ४-५ संजय ६ सम्मद्दिट्ठी ७ य सण्णी ८ य ॥१॥
भविए ९ दंसण १० पज्जत्त ११ भासय १२ परित्त १३ नाण १४ जोगे १५ य ।
उवओगा-ऽऽहारग १६-१७ सुहुम १८ चरिम १९ बंधे य, अप्पबहुं २० ॥२॥

[१] १. बहुकर्म, २. वस्त्र में प्रयोग से और स्वाभाविक रूप से (विश्रसा) पुद्गल, ३. सादि (आदि सहित), ४. कर्मस्थिति, ५. स्त्री, ६. संयत, ७. सम्यग्दृष्टि, ८. संज्ञी, ९. भव्य, १०. दर्शन, ११. पर्याप्त, १२. भाषक, १३. परित्त, १४. ज्ञान, १५. योग, १६. उपयोग, १७. आहारक, १८. सूक्ष्म, १९. चरम-बन्ध और २०. अल्पबहुत्व, (इन बीस विषयों का वर्णन इस उद्देशक में किया गया है ।

प्रथमद्वार—महाकर्मा और अल्पकर्मा जीव के पुद्गल-बन्ध-भेदादि का दृष्टान्तद्वयपूर्वक निरूपण—

२. [१] से नूणं भंते ! महाकम्मस्स महाकिरियस्स महासवस्स महावेदणस्स सव्वतो पोग्गला बज्झंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति, सव्वओ पोग्गला उवचिज्जंति, सया समितं च णं पोग्गला बज्झंति, सया समितं पोग्गला चिज्जंति, सया समितं पोग्गला उवचिज्जंति, सया समितं च णं तस्स आया दुरूवत्ताए दुवण्णत्ताए दुगंधत्ताए दुरसत्ताए दुफासत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए असुभत्ताए अमणुण्णत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए, अहत्ताए, नो उड्ढत्ताए, दुक्खत्ताए, नो सुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?

हंता, गोयमा ! महाकम्मस्स तं चेव ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या निश्चय ही महाकर्म वाले, महाक्रिया वाले, महाश्रव वाले और महावेदना वाले जीव के सर्वत: (सब दिशाओं से, अथवा सभी ओर से और सभी प्रकार से) पुद्गलों का बन्ध होता है ? सर्वत: (सब ओर से) पुद्गलों का चय होता है ? सर्वत: पुद्गलों का उपचय होता है ? सदा सतत पुद्गलों का बन्ध होता है ? सदा सतत पुद्गलों का चय होता है ? सदा सतत पुद्गलों का उपचय होता है ? क्या सदा निरन्तर उसका आत्मा (सशरीर जीव) दुरूपता में, दुर्वर्णता में, दुर्गन्धता में, दु:रसता में, दु:स्पर्शता में, अनिष्टता (इच्छा से विपरीतरूप) में, अकान्तता (असुन्दरता), अप्रियता, अशुभता (अमंगलता) अमनोज्ञता और अमनोगमता (मन से भी अस्मरणीय

रूप) में, अनिच्छनीयता (अनीप्सित रूप) में, अनभिध्यितता (प्राप्त करने हेतु अलोभता) में, अधमता में, अनूर्ध्वता में, दुःख रूप में,—असुखरूप में बार-बार परिणत होता है ?

[२-१ उ.] हाँ, गौतम ! महाकर्म वाले जीव के····यावत् ऊपर कहे अनुसार ही···यावत् परिणत होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स अहतस्स वा धोतस्स वा तंतुग्गतस्स वा आणुपुव्वीए परिभुज्जमाणस्स सव्वओ पोग्गला बज्झंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं०।

[२-२ प्र.] (भगवन् !) किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई अहत (जो पहना गया—परिभुक्त न हो), धौत (पहनने के बाद धोया हुआ), तन्तुगत (हाथ करघे से ताजा बुन कर उतरा हुआ) वस्त्र हो, वह वस्त्र जब क्रमशः उपयोग में लिया जाता है, तो उसके पुद्गल सब ओर से बंधते (संलग्न होते) हैं, सब ओर से चय होते हैं, यावत् कालान्तर में वह वस्त्र मसोते जैसा अत्यन्त मैला और दुर्गन्धित रूप में परिणत हो जाता है; इसी प्रकार महाकर्म वाला जीव उपर्युक्त रूप से यावत् असुखरूप में बार-बार परिणत होता है।

३. [१] से नूणं भंते ! अप्पकम्मस्स अप्पकिरियस्स अप्पासवस्स अप्पवेदणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति, सव्वओ पोग्गला छिज्जंति, सव्वओ पोग्गला विद्धंसंति, सव्वओ पोग्गला परिविद्धंसंति, सया समितं पोग्गला भिज्जंति छिज्जंति विद्धंसंति परिविद्धंसंति, सया समितं च णं तस्स आया सुरूवत्ताए पसत्थं नेयव्वं जाव[1] सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?

हंता, गोयमा ! जाव परिणमंति।

[३-१ प्र.] भगवन् ! क्या निश्चय ही अल्पकर्म वाले, अल्पक्रिया वाले, अल्प आश्रव वाले और अल्पवेदना वाले जीव के सर्वतः (सब ओर से) पुद्गल भिन्न (पूर्व सम्बन्धविशेष को छोड़ कर अलग) हो जाते हैं ? सर्वतः पुद्गल छिन्न होते (टूटते) जाते हैं ? सर्वतः पुद्गल विध्वस्त होते जाते हैं ? सर्वतः पुद्गल समग्ररूप से ध्वस्त हो जाते हैं ?, क्या सदा सतत पुद्गल भिन्न, छिन्न, विध्वस्त और परिविध्वस्त होते हैं ? क्या उसका आत्मा (बाह्य आत्मा=शरीर) सदा सतत सुरूपता में यावत् सुखरूप में और अदुःखरूप में बार-बार परिणत होता है ? (पूर्वसूत्र में अप्रशस्त पदों का कथन किया है, किन्तु यहाँ सब प्रशस्त-पदों का कथन करना चाहिए।)

[३-१ उ.] हाँ, गौतम ! अल्पकर्म वाले जीव का····यावत् ऊपर कहे अनुसार ही····यावत् परिणत होता है।

---

१. 'जाव' पद यहाँ निम्नलिखित पदों का सूचक है—'सुवण्णत्ताए सुगंधत्ताए सुरसत्ताए सुफासत्ताए इट्ठत्ताए कंतत्ताए पियत्ताए सुभत्ताए मणुण्णत्ताए मणामत्ताए इच्छियत्ताए अणभिज्झियत्ताए उड्ढत्ताए, नो अहत्ताए, सुहत्ताए'।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स जल्लियस्स वा पंकितस्स वा मइल्लियस्स वा रइल्लियस्स वा आणुपुव्वीए परिकम्मिज्जमाणस्स सुद्धेणं वारिणा धोव्वमाणस्स सव्वतो पोग्गला भिज्जंति जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं० ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[३-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई मैला (जल्लित), पंकित (कीचड़ से सना), मैलसहित अथवा धूल (रज) से भरा वस्त्र हो और उसे शुद्ध (साफ) करने का क्रमशः उपक्रम किया जाए, उसे पानी से धोया जाए तो उस पर लगे हुए मैले—अशुभ पुद्गल सब ओर से भिन्न (अलग) होने लगते हैं, यावत् उसके पुद्गल शुभरूप में परिणत हो जाते हैं, (इसी तरह अल्पकर्म वाले जीव के विषय में भी पूर्वोक्त रूप से सब कथन करना चाहिए।)

इसी कारण से, (हे गौतम ! अल्पकर्म वाले जीव के लिए कहा गया है कि वह····यावत् बारबार परिणत होता है।)

विवेचन—महाकर्मी और अल्पकर्मी जीव के पुद्गल-बंध-भेदादि का दृष्टान्तद्वयपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों में क्रमशः महाकर्म आदि से युक्त जीव के सर्वतः सर्वदा-सतत पुद्गलों के बन्ध, चय, उपचय एवं अशुभरूप में परिणमन का तथा अल्प कर्म आदि से युक्त जीव के पुद्गलों का भेद, छेद, विध्वंस आदि का तथा शुभरूप में परिणमन का दो वस्त्रों के दृष्टान्तपूर्वक निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष एवं आशय—जो जीव महाकर्म, महाक्रिया, महाश्रव और महावेदना से युक्त होता है, उस जीव के सभी ओर से सभी दिशाओं अथवा प्रदेशों से कर्मपुद्गल संकलनरूप से बंधते हैं, बन्धनरूप से चय को प्राप्त होते हैं, कर्मपुद्गलों की रचना (निषेक) रूप से उपचय को प्राप्त होते हैं। अथवा कर्मपुद्गल बन्धनरूप में बंधते हैं, निधत्तरूप से उनका चय होता है, और निकाचितरूप से उनका उपचय होता है।

जैसे नया और नहीं पहना हुआ स्वच्छ वस्त्र भी बार-बार इस्तेमाल करने तथा विभिन्न अशुभ पुद्गलों के संयोग से मसोते जैसा मलिन और दुर्गन्धित हो जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त प्रकार के दुष्कर्मपुद्गलों के संयोग से आत्मा भी दुरूप के रूप में परिणत हो जाती है। दूसरी ओर—जो जीव अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पाश्रव और अल्पवेदना से युक्त होता है, उस जीव के कर्मपुद्गल सब ओर से भिन्न, छिन्न, विध्वस्त और परिविध्वस्त होते जाते हैं। और जैसे मलिन, पंकयुक्त, गंदा और धूल से भरा वस्त्र क्रमशः साफ करते जाने से, पानी से धोये जाने से उस पर संलग्न मलिन पुद्गल छूट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, और अन्त में वस्त्र साफ, स्वच्छ, चमकीला हो जाता है, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से मलिन आत्मा भी तपश्चरणादि द्वारा कर्मपुद्गलों के झड़ जाने, विध्वस्त हो जाने से सुखादिरूप में प्रशस्त बन जाती है।

महाकर्मादि की व्याख्या—जिसके कर्मों की स्थिति आदि लम्बी हो, उसे **महाकर्म वाला**, जिसकी कायिकी आदि क्रियाएँ महान् हों, उसे **महाक्रिया वाला**, कर्मबन्ध के हेतुभूत मिथ्यात्वादि

जिसके महान् (गाढ़ एवं प्रचुर) हों उसे, महाश्रववाला, तथा महापीड़ा वाले को महावेदना वाला कहा गया है।[1]

द्वितीय द्वार—वस्त्र में पुद्गलोपचयवत् समस्त जीवों के कर्मपुद्गलोपचय प्रयोग से या स्वभाव से ? एक प्रश्नोत्तर—

४. वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचए किं पयोगसा, वीससा ?

गोयमा ! पयोगसा वि, वीससा वि ।

[४ प्र.] भगवन् ! वस्त्र में जो पुद्गलों का उपचय होता है, वह क्या प्रयोग (पुरुष-प्रयत्न) से होता है, अथवा स्वाभाविक रूप से (विश्रसा) ?

[४ उ.] गौतम ! वह प्रयोग से भी होता है, स्वाभाविक रूप से भी होता है।

५. [१] जहा णं भंते ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए पयोगसा वि, वीससा वि तहा णं जीवाणं कम्मोवचए किं पयोगसा, वीससा ?

गोयमा ! पयोगसा, नो वीससा ।

[५-१ प्र०] भगवन् ! जिस प्रकार वस्त्र में पुद्गलों का उपचय प्रयोग से और स्वाभाविक रूप से होता है, तो क्या उसी प्रकार जीवों के कर्मपुद्गलों का उपचय भी प्रयोग से और स्वभाव से होता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! जीवों के कर्मपुद्गलों का उपचय प्रयोग से होता है, किन्तु स्वाभाविक रूप से नहीं होता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! जीवाणं तिविहे पयोगे पण्णत्ते, तं जहा—मणप्पयोगे वइप्पयोगे कायप्पयोगे य। इच्चेतेणं तिविहेणं पयोगेणं जीवाणं कम्मोवचए पयोगसा, नो वीससा। एवं सव्वेसिं पंचेंदियाणं तिविहे पयोगे भाणियव्वे। पुढविक्काइयाणं एगविहेणं पयोगेणं, एवं जाव वणस्सतिकाइयाणं। विगलिंदियाणं दुविहे पयोगे पण्णत्ते, तं जहा—वइप्पयोगे य, कायप्पयोगे य। इच्चेतेणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवचए पयोगसा, नो वीससा। से एएणट्ठेणं जाव नो वीससा। एवं जस्स जो पयोगो जाव वेमाणियाणं।

[५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[५-२ उ.] गौतम ! जीवों के तीन प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं—मनःप्रयोग, वचनप्रयोग और कायप्रयोग। इन तीन प्रकार के प्रयोगों से जीवों के कर्मों का उपचय कहा गया है। इस प्रकार समस्त पंचेन्द्रिय जीवों के तीन प्रकार का प्रयोग कहना चाहिए। पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पति-

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २५३
(ख) भगवती. (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. २७० से २७२ तक

कायिक (एकेन्द्रिय पंचस्थावर) जीवों तक के एक प्रकार के (काय) प्रयोग से (कर्मपुद्गलोपचय होता है।) विकलेन्द्रिय जीवों के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं, यथा—वचन-प्रयोग और काय-प्रयोग। इस प्रकार उनके इन दो प्रयोगों से कर्म (पुद्गलों) का उपचय होता है। अतः समस्त जीवों के कर्मोपचय प्रयोग से होता है, स्वाभाविक-रूप से नहीं। इसी कारण से कहा गया है कि "यावत् स्वाभाविक रूप से नहीं होता। इस प्रकार जिस जीव का जो प्रयोग हो, वह कहना चाहिए। यावत् वैमानिक तक (यथायोग्य) प्रयोगों से कर्मोपचय का कथन करना चाहिए।

विवेचन—वस्त्र में पुद्गलोपचय की तरह, समस्त जीवों के कर्मपुद्गलोपचय प्रयोग से या स्वभाव से ? प्रस्तुत सूत्रद्वय में वस्त्र में पुद्गलोपचय की तरह जीवों के कार्मोपचय उभयविध न होकर प्रयोग से ही होता है, इसकी सकारण प्ररूपणा की गई है।

'पयोगसा'—प्रयोग से—जीव के प्रयत्न से और वीससा—विश्रसा का अर्थ है—विना ही प्रयत्न के-स्वाभाविक रूप से।

निष्कर्ष—संसार के समस्त जीवों के कर्मपुद्गलों का उपचय प्रयोग—स्वप्रयत्न से होता है, स्वाभाविकरूप (काल, स्वभाव, नियति आदि) से नहीं! अगर ऐसा नहीं माना जाएगा तो सिद्ध जीव योगरहित हैं, उनके भी कर्मपुद्गलों का उपचय होने लगेगा, परन्तु यह सम्भव नहीं। अतः कर्मपुद्गलोपचय मन, वचन और काया इन तीनों प्रयोगों में से किसी एक, दो या तीनों से होता है, यही युक्तियुक्त सिद्धान्त है।[1]

तृतीय द्वार-वस्त्र के पुद्गलोपचयवत् जीवों के कर्मोपचय की सादि-सान्तता आदि का विचार—

६. वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिते ? सादीए अपज्जवसिते ? अणादीए सपज्जवसिते ? अणादीए अपज्जवसिते ?

गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिते, नो सादीए अपज्जवसिते, नो अणादीए सपज्जवसिते, नो अणादीए अपज्जवसिते।

[६ प्र.] भगवन् ! वस्त्र में पुद्गलों का जो उपचय होता है, वह सादि सान्त है, सादि अनन्त है, अनादि सान्त है, अथवा अनादि अनन्त है ?

[६ उ.] गौतम ! वस्त्र में पुद्गलों का जो उपचय होता है, वह सादि सान्त होता है, किन्तु न तो वह सादि अनन्त होता है, न अनादि सान्त होता है और न अनादि अनन्त होता है।

७. [१] जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिते, नो सादीए अपज्जवसिते, नो अणादीए सपज्जवसिते, नो अणादीए अपज्जवसिते तहा णं जीवाणं कम्मोवचए पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए साईए सपज्जवसिते, अत्थे० अणाईए सपज्जवसिए, अत्थे० अणाईए अपज्जवसिए, नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिते।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २५४

(ख) भगवती. (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. २७४

[७-१ प्र.] हे भगवन् ! जिस प्रकारव स्त्र में पुद्गलोपचय सादि-सान्त है, किन्तु सादि-अनन्त, अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त नहीं है, क्या उसी प्रकार जीवों का कर्मोपचय भी सादि-सान्त है, सादि-अनन्त है, अनादि-सान्त है, अथवा अनादि-अनन्त है ?

[७-१ उ.] गौतम ! कितने ही जीवों का कर्मोपचय सादि-सान्त है, कितने ही जीवों का कर्मोपचय अनादि-सान्त है, और कितने ही जीवों का कर्मोपचय अनादि-अनन्त है, किन्तु जीवों का कर्मोपचय सादि-अनन्त नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! इरियावहियाबंधयस्स कम्मोवचए साईए सप० । भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिते । अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणाईए अपज्जवसिते । से तेणट्ठेणं० ।[1]

[७-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! ईर्यापथिक-बन्धक का कर्मोपचय सादि-सान्त है, भवसिद्धिक जीवों का कर्मोपचय अनादि-सान्त है, अभवसिद्धिक जीवों का कर्मोपचय अनादि-अनन्त है । इसी कारण से, हे गौतम ! उपर्युक्त रूप से कहा गया है ।

विवेचन—जीवों के कर्मोपचय की सादि-सान्तता का विचार—प्रस्तुत सूत्रद्वय में द्वितीय द्वार के माध्यम से वस्त्र के पुद्गलोपचय की सादि-सान्तता आदि के विचारपूर्वक जीवों के कर्मोपचय की सादि-सान्तता आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है ।

जीवों का कर्मोपचय सादि-सान्त, अनादि-सान्त, एवं अनादि-अनन्त क्यों और कैसे ?—मूलपाठ में ईर्यापथिकबन्धकर्ता जीव की अपेक्षा से उक्त जीव का कर्मोपचय सादि-सान्त बताया गया है । ज्ञातव्य है कि ईर्यापथिक बन्ध क्या है ? और उसका बन्धकर्ता जीव कौन है ? कर्मबन्ध के मुख्य दो कारण हैं—एक तो क्रोधादि कषाय और दूसरा-मन-वचन-काया की प्रवृत्ति । जिन जीवों का कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है, उनको जो कर्मबन्ध होता है, वह सब साम्परायिक (काषायिक) कहलाता है, और जिन जीवों का कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो चुका है, उनकी हलन-चलन आदि सारी प्रवृत्तियाँ यौगिक (मन वचन काया योग से जनित) होती हैं । योगजन्य कर्म को ही ऐर्यापथिक कर्म कहते हैं अर्थात् ईर्यापथ (गमनादि क्रिया) से बन्धनेवाला कर्म ऐर्यापथिक कर्म है । दूसरे शब्दों में जो कर्म केवल हलन-चलन आदि शरीरादियोगजन्य प्रवृत्ति से बन्धता है, जिसके बन्ध में कषाय कारण नहीं होता वह ऐर्यापथिक कर्म है । ऐर्यापथिक कर्म का बन्धकर्ता ऐर्यापथिकबन्धक कहलाता है । सैद्धान्तिक दृष्टि से उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली को ऐर्यापथिक कर्म-बन्ध होता है । यह कर्म इस अवस्था से पहले नहीं बन्धता, इस अवस्था की अपेक्षा से इस कर्म की आदि है, अतएव इसका सादित्व है, किन्तु अयोगी (आत्मा की अक्रिय) अवस्था में अथवा उपशमश्रेणी से गिरने पर इस कर्म का बन्ध नहीं होता, इस कर्म का अन्त हो जाता है, इस दृष्टि से इसका सान्तत्व है । भवसिद्धिक जीवों की अपेक्षा से कर्मोपचय अनादिसान्त है । भवसिद्धिक कहते हैं—सिद्ध (मुक्त) होने

---

१. यहाँ का पूरक पाठ इस प्रकार है—'**तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थे० जीवाणं कम्मोवचए सादीए जाव] नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए ।**'

योग्य भव्यजीव को। भव्यजीवों के सामूहिक दृष्टि से कर्मबन्ध की कोई आदि नहीं है—प्रवाहरूप से उनके कर्मोपचय अनादि हैं, किन्तु एक न एक दिन वे कर्मों का सर्वथा अन्त करके सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करेंगे, इस अपेक्षा से उनका कर्मोपचय सान्त है।

अभवसिद्धिक जीवों की अपेक्षा से कर्मोपचय अनादि-अनन्त है। अभवसिद्धिक कहते हैं—अभव्य जीवों को; जिनके कर्मों का कभी अन्त नहीं होगा, ऐसे अभव्य-जीवों के कर्मोपचय की प्रवाहरूप से न तो आदि है, और न अन्त है।[1]

तृतीयद्वार-वस्त्र एवं जीवों की सादि-सान्तता आदि चतुर्भंगीप्ररूपणा—

८. वत्थे णं भंते ! किं सादीए सपज्जवसिते ? चतुभंगो।

गोयमा ! वत्थे सादीए सपज्जवसिते, अवसेसा तिण्णि वि पडिसेहेयव्वा।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या वस्त्र सादि सान्त है ? इत्यादि पूर्वोक्त रूप से चार भंग करके प्रश्न करना चाहिए।

[८ उ.] गौतम ! वस्त्र सादि-सान्त है; शेष तीन भंगों का वस्त्र में निषेध करना चाहिए।

९. [१] जहा णं भंते ! वत्थे सादीए सपज्जवसिए० तहा णं जीवा किं सादीया सपज्जवसिया ? चतुभंगो, पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिया सादीया सप०, चत्तारि वि भाणियव्वा।

[९ १ प्र.] भगवन् ! जैसे वस्त्र सादि-सान्त है, किन्तु सादि-अनन्त नहीं है, अनादि-सान्त नहीं है और न अनादि-अनन्त है, वैसे जीवों के लिए भी चारों भंगों को ले कर प्रश्न करना चाहिए—अर्थात् (भगवन् ! क्या जीव सादि-सान्त हैं, सादि-अनन्त हैं, अनादि सान्त हैं अथवा अनादि-अनन्त हैं ?)

[९-१ उ.] गौतम ! कितने ही जीव सादिसान्त हैं, कितने ही जीव सादि-अनन्त हैं, कई जीव अनादि-सान्त हैं और कितनेक अनादि-अनन्त हैं। (इस प्रकार जीव में चारों ही भंग कहने चाहिए)

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! नेरतिया तिरिक्खजोणिया मणुस्सा देवा गतिरागतिं पडुच्च सादीया सपज्जवसिया। सिद्धा गतिं पडुच्च सादीया अपज्जवसिया। भवसिद्धिया लद्धिं पडुच्च अणादीया सपज्जवसिया। अभवसिद्धिया संसारं पडुच्च अणादीया अपज्जवसिया भवंति। से तेणट्ठेणं०।

[९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[९-२ उ.] गौतम ! नैरयिक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य और देव, गति और आगति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं; सिद्धगति की अपेक्षा से सिद्धजीव सादि-अनन्त हैं; लब्धि की अपेक्षा भवसिद्धिक जीव अनादि सान्त हैं और संसार की अपेक्षा अभवसिद्धिक जीव अनादि-अनन्त हैं।

---

३. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २५५

(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त), खण्ड २, पृ. २७४

विवेचन—वस्त्र एवं जीवों की सादि-सान्तता आदि की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्रद्वय में वस्त्र की सादि-सान्तता बता कर जीवों की सादि-सान्तता आदि चतुर्भंगी का प्ररूपण किया गया है।

नरकादि गति की सादिसान्तता—नरकादिगति में गमन की अपेक्षा उसकी सादिता है और वहाँ से निकलने रूप आगमन की अपेक्षा उसकी सान्तता है।

सिद्धजीवों की सादि-अनन्तता—यों तो सिद्धों का सद्भाव सदा से है। कोई भी काल या समय ऐसा नहीं था और न है, तथा न रहेगा कि जिस समय एक भी सिद्ध न हो, सिद्ध-स्थान सिद्धों से सर्वथा शून्य रहा हो। अतएव सामूहिक रूप से तो सिद्ध अनादि हैं, रोह अनगार के प्रश्न के उत्तर में यही बात बताई गई है। किन्तु एक सिद्ध जीव की अपेक्षा से सिद्धगति में प्रथम प्रवेश के कारण सभी सिद्ध सादि हैं। प्रत्येक सिद्ध ने किसी नियत समय में भवभ्रमण का अन्त करके सिद्धत्व प्राप्त किया है। इस दृष्टि से सिद्धों का सादिपन सिद्ध होता है। इसी तरह प्रत्येक जीव पहले संसारी था, भव का अन्त करने के पश्चात् वह सिद्ध हुआ है, किन्तु सिद्धपर्याय का कभी अन्त न होने के कारण सिद्धों को अनन्त भी कहा जा सकता है। यों सिद्धों की अनन्तता सिद्ध होती है।

भवसिद्धिक जीवों की अनादिसान्तता—भवसिद्धिक जीवों के भव्यत्वलब्धि होती है, जो सिद्धत्व प्राप्ति तक रहती है। इसके बाद हट जाती है। इस दृष्टि से भवसिद्धिकों को अनादि-सान्त कहा है।[1]

चतुर्थद्वार-अष्ट कर्मों की बन्धस्थिति आदि का निरूपण—

१०. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं जाव[2] अंतराइयं।

[१० प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१० उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई हैं, वे इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय यावत् अन्तराय।

११. [१] नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं बंधठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मनिसेओ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म की बन्धस्थिति कितने काल की कही गई है ?

[११-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म की बन्धस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस क्रोड़ाक्रोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। अबाधाकाल जितनी स्थिति को कम करने से शेष कर्मस्थिति—कर्मनिषेधकाल जानना चाहिए।

---

१. (क) भगवती, अ. वृत्ति (ख) भगवती. (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ-२७५

(ग) देखो, भगवती, टीकानुवाद प्रथमखण्ड, शतक १ उ. ६ में रोह अनगार के प्रश्न।

२. 'जाव' शब्द वेदनीय से अन्तराय तक के कर्मो का सूचक है।

[२] एवं दरिसणावरणिज्जं पि।

[११-२] इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी जानना चाहिए।

[३] वेदणिज्जं जह० दो समया, उक्को० जहा नाणावरणिज्जं।

[११-३] वेदनीय कर्म की जघन्य (बन्ध-) स्थिति दो समय की है, उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणीय कर्म के समान तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की जाननी चाहिए।

[४] मोहणिज्जं जह० अंतोमुहुत्तं, उक्को० सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ, सत्त य वाससहस्साणि अबाधा, अबाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो।

[११-४] मोहनीय कर्म की बन्धस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की है। सात हजार वर्ष का अबाधाकाल है। अबाधाकाल की स्थिति को कम करने से शेष कर्म-स्थिति—कर्मनिषेककाल जानना चाहिए।

[५] आउगं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभागमब्भहियाणि, कम्मट्ठिती कम्मनिसेओ।

[११-५] आयुष्यकर्म की बन्धस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक तेतीस सागरोपम की है। इसका कर्मनिषेक काल (तेतीस सागरोपम का तथा शेष) अबाधाकाल जानना चाहिए।

[६] नाम-गोयाणं जह० अट्ठ मुहुत्ता, उक्को० वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, दोण्णि य वाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्मट्ठिती कम्मनिसेओ।

[११-६] नामकर्म और गोत्र कर्म की बन्धस्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त की, और उत्कृष्ट २० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की है। इसका दो हजार वर्ष का अबाधाकाल है। उस अबाधाकाल की स्थिति को कम करने से शेष कर्मस्थिति-कर्मनिषेककाल होता है।

[७] अंतरायं जहा नाणावरणिज्जं।

[११-७] अन्तराय-कर्म के विषय में ज्ञानावरणीय कर्म की तरह (बन्धस्थिति आदि) समझ लेना चाहिए।

विवेचन—आठ कर्मों की बन्धस्थिति आदि का निरूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय में आठ कर्मों की जघन्य-उत्कृष्ट बन्धस्थिति, अबाधाकाल एवं कर्मनिषेककाल का निरूपण किया गया है।

बन्धस्थिति—कर्मबन्ध होने के बाद वह जितने काल तक रहता है, उसे बन्धस्थिति कहते हैं। **अबाधाकाल**—बाधा का अर्थ है—कर्म का उदय। कर्म का उदय न होना, 'अबाधा' कहलाता है। कर्मबन्ध से लेकर जबतक उस कर्म का उदय नहीं होता, तब तक के काल को अबाधाकाल कहते हैं। अर्थात्-कर्म का बन्ध और कर्म का उदय इन दोनों के बीच के काल को अबाधाकाल कहते हैं। **कर्मस्थिति-कर्मनिषेक-काल**—प्रत्येक कर्म बन्धने के पश्चात् उस कर्म के उदय में आने पर अर्थात् उस कर्म का अबाधाकाल पूरा होने पर कर्म को वेदन (अनुभव) करने के प्रथम समय से लेकर बन्धे हुए कर्म-

दलिकों में से वेदनयोग्य—भोगनेयोग्य कर्मदलिकों की एक प्रकार की रचना होती है उसे कर्म-निषेक कहते हैं। प्रथम समय में बहुत अधिक कर्मनिषेक होता है, द्वितीय—तृतीय समय में उत्तरोत्तर विशेष हीन होता जाता है। निषेक तब तक होता रहता है, जब तक वह बन्धा हुआ कर्म आत्मा के साथ (कर्मबन्धस्थिति तक) टिकता है।[1]

कर्म की स्थिति : दो प्रकार की—एक तो, कर्म के रूप में रहना, और दूसरे, अनुभव, (वेदन) योग्य कर्म रूप में रहना। कर्म जब से अनुभव (वेदन) में आता है, उस समय की स्थिति को अनुभव योग्य कर्मस्थिति जानना। अर्थात्—कर्म की कुल स्थिति में से अनुदय का काल (अबाधाकाल) बाद करने पर जो स्थिति शेष रहती है, उसे अनुभव योग्य कर्मस्थिति समझना। कर्म की स्थिति जितने क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की होती है, उतने सौ वर्ष तक वह कर्म, अनुभव (वेदन) में आए बिना आत्मा के साथ अकिंचित्कर रहता है। जैसे—मोहनीय कर्म की ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति हैं, उसमें से ७० सौ (७०००) वर्ष तक तो वह कर्म यों ही अकिंचित्कर पड़ा रहता है। वही कर्म का अबाधाकाल है। उसके पश्चात् वह मोहनीय कर्म उदय में आता है, तो ७ हजार वर्ष कम ७० क्रोड़ीक्रोड़ी सागरोपम तक अपना फल भुगताता रहता है, उस काल को कर्म निषेककाल कहते हैं। निष्कर्ष यह है—कर्म की सम्पूर्ण स्थिति में से अबाधाकाल को निकाल देने पर बाकी जितना काल बचता है, वह उसका निषेक (बाधा-) काल है।

आयुष्यकर्म के निषेककाल और अबाधाकाल में विशेषता—सिर्फ आयुष्यकर्म का निषेक काल ३३ सागरोपम का और अबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभागकाल है।

वेदनीय कर्म की स्थिति—जिस वेदनीय कर्म के बन्ध में कषाय कारण नहीं होता, केवल योग निमित्त होते हैं, वह वेदनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा दो समय की स्थिति वाला है। वह प्रथम समय में बन्धता है, दूसरे समय में वेदा जाता है; किन्तु सकषाय बन्ध की स्थिति की अपेक्षा वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त्त की होती है।[2]

पांचवें से उन्नीसवें तक पन्द्रह द्वारों में उक्त विभिन्न विशिष्ट जीवों की अपेक्षा से कर्म-बन्ध-अबन्ध का निरूपण—

१२. [१] नाणावरणिज्जं णं भंते! कम्मं किं इत्थी बंधति, पुरिसो बंधति, नपुंसओ बंधति, णोइत्थी-नोपुरिसो-नोनपुंसओ बंधइ?

गोयमा! इत्थी वि बंधइ, पुरिसो वि बंधइ, नपुंसओ वि बंधइ, नोइत्थी-नोपुरिसो-नोनपुंसओ सिय बंधइ, सिय नो बंधइ।

[१२-१प्र.] 'भगवन्! ज्ञानावरणीय कर्म क्या स्त्री बांधती है? पुरुष बांधता है, अथवा नपुंसक बांधता है? अथवा नो-स्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक (जो स्त्री, पुरुष या नपुंसक न हो, वह) बांधता है?

---

१. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २ पृ-२७६-२७७
(ख) शिवशर्म आचार्य कृत कर्मप्रकृति (उपा. यशोविजयकृत टीका) निषेकप्ररूपणा पृ-८०

२. (क) पंचसंग्रह गा-३१-३२, भा. आ. पृ १७६.
(ख) भगवतीसूत्र (टीकाऽनुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड २ पृ-२७७-२७८

[१२-१ उ. गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म को स्त्री भी बांधती है, पुरुष भी बांधता है और नपुंसक भी बांधता है, परन्तु जो नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक होता है, वह कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता ।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ ।

[१२-२] इस प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सातों कर्मप्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए ।

१३. आउगं णं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, नपुंसओ बंधइ ?० पुच्छा ।

गोयमा ! इत्थी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, एवं तिण्णि वि भाणियव्वा । नोइत्थी-नोपुरिसो-नोनपुंसओ न बंधइ ।

[१३ प्र.] भगवन् ! आयुष्यकर्म को क्या स्त्री बांधती हैं, पुरुष बांधता है, नपुंसक बांधता है अथवा नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक बाँधता है ?

[१३ उ.] 'गौतम ! आयुष्यकर्म स्त्री कदाचित् बांधती है और कदाचित् नहीं बांधती । इसी प्रकार पुरुष और नपुंसक के विषय में भी कहना चाहिए । नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक आयुष्यकर्म को नहीं बाँधता ।'

१४. [१] णाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं संजते बंधइ, असंजते०, संजयासंजए बंधइ, नोसंजए-नोअसंजए-नोसंजयासंजए बंधति ?

गोयमा ! संजए सिय बंधति सिय नो बंधति, असंजए बंधइ, संजयासंजए वि बंधइ, नोसंजए-नोअसंजए नोसंजयासंजए न बंधति ।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म क्या संयत बांधता है, असंयत बांधता है, संयता-संयत बांधता है अथवा नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत बांधता है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) संयत कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता, किन्तु असंयत बांधता है, संयतासंयत भी बांधता है, परन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयता-संयत नहीं बांधता ।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त वि ।

[१४-२] इस प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सातों कर्मप्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए ।

[३] आउगे हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए, उवरिल्ले ण बंधइ ।

[१४-३] आयुष्यकर्म के सम्बन्ध में नीचे के तीन—संयत, असंयत और संयतासंयत के लिए भजना समझनी चाहिए । (अर्थात्—कदाचित् बांधते हैं और कदाचित् नहीं बांधते) नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत आयुष्यकर्म को नहीं बांधते ।

१४. [१] णाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सम्मद्दिट्ठी बंधइ, मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, सम्मामिच्छद्दिट्ठी बंधइ ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी सिय बंधइ सिय नो बंधइ, मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, सम्मामिच्छद्दिट्ठी बंधइ ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म क्या सम्यग्दृष्टि बांधता है, मिथ्यादृष्टि बांधता है अथवा सम्यग्-मिथ्यादृष्टि-बांधता है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) सम्यग्दृष्टि कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता, मिथ्यादृष्टि बांधता है और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी बांधता है ।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त वि ।

[१५-२] इसी प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सातों कर्मप्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए ।

[३] आउगे हेट्ठिल्ला दो भयणाए, सम्मामिच्छद्दिट्ठी न बंधइ ।

[१५-३] आयुष्यकर्म को नीचे के दो—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि—भजना से बांधते हैं (अर्थात्—कदाचिद् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते ।) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (सम्यग्-मिथ्यादृष्टि अवस्था में) नहीं बांधते ।

१६. [१] णाणावरणिज्जं किं सण्णी बंधइ, असण्णी बंधइं, नोसण्णीनोअसण्णी बंधइ ?

गोयमा ! सण्णी सिय बंधइ सिय नो बंधइ, असण्णी बंधइ, नोसण्णीनोअसण्णी न बंधइ ।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को क्या संज्ञी बांधता है, असंज्ञी बांधता है अथवा नोसंज्ञी-नो असंज्ञी बांधता है ?

[१६-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) संज्ञी कदाचित् बांधता है, और कदाचित् नहीं बांधता । असंज्ञी बांधता है, और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं बांधता ।

[२] एवं वेदणिज्जाऽऽउगवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ ।

[१६-२] इस प्रकार वेदनीय और आयुष्य को छोड़ कर शेष छह कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए ।

[३] वेदणिज्जं हेट्ठिल्ला दो बंधंति, उवरिल्ले भयणाए । आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए, उवरिल्ले न बंधइ ।

[१६-३] वेदनीय कर्म को संज्ञी भी बांधता है और असंज्ञी भी बांधता है, किन्तु नोसंज्ञी नो असंज्ञी कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता । आयुष्यकर्म को नीचे के दो-संज्ञी और असंज्ञी जीव भजना से (कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं । नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव आयुष्य कर्म को नहीं बांधते ।

१७. [१] णाणावरणिज्जं कम्मं किं भवसिद्धीए बंधइ, अभवसिद्धीए बंधइ, नोभवसिद्धीए-नोअभवसिद्धीए बंधति ?

गोयमा ! भवसिद्धीए भयणाए, अभवसिद्धीए बंधति, नोभवसिद्धीएनोअभवसिद्धीए ण बंधइ।

[१७-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को क्या भवसिद्धिक बांधता है, अभवसिद्धिक बांधता है अथवा नोभवसिद्धिक-नो अभवसिद्धिक बांधता है ?

[१७-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) भवसिद्धिक जीव भजना से (कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं) बांधता है। अभवसिद्धिक जीव बांधता है और नोभवसिद्धिक-नो अभवसिद्धिक जीव नहीं बांधता।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त वि।

[१७-२] इस प्रकार आयुष्य कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए।

[३] आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए, उवरिल्लो न बंधइ।

[१७-३] आयुष्यकर्म को नीचे के दो (भवसिद्धिक-भव्य और अभवसिद्धिक-अभव्य) भजना से (कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं। ऊपर का (नोभवसिद्धिक-नो अभवसिद्धिक) नहीं बांधता।

१८. [१] णाणावरणिज्जं किं चक्खुदंसणी बंधति, अचक्खुदंस०, ओहिदंस०, केवलदं० ?

गोयमा ! हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए, उवरिल्ले ण बंधइ।

[१८-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को क्या चक्षुदर्शनी बांधता है, अचक्षुदर्शनी बांधता है, अवधिदर्शनी बांधता है अथवा केवलदर्शनी बांधता है ?

[१८-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) नीचे के तीन (चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी) भजना से (कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं किन्तु—केवलदर्शनी नहीं बांधता।

[२] एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि।

[१८-२] इसी प्रकार वेदनीय को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों के विषय में समझ लेना चाहिए।

[३] वेदणिज्जं हेट्ठिल्ला तिण्णि बंधंति, केवलदंसणी भयणाए।

[१८-३] वेदनीयकर्म को निचले तीन (चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी) बांधते हैं, किन्तु केवलदर्शनी भजना से (कदाचित् बांधते हैं और कदाचित् नहीं) बांधते हैं।

१९. [१] णाणावरणिज्जं कम्मं किं पज्जत्तओ बंधइ, अपज्जत्तओ बंधइ, नोपज्जत्तए-नोअपज्जत्तए बंधइ ?

गोयमा ! पज्जत्तएं भयणाएं; अपज्जत्तए बंधइ, नोपज्जत्तएनोअपज्जत्तए न बंधइ ।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! क्या ज्ञानावरणीय कर्म को पर्याप्तक जीव बांधता है, अपर्याप्त जीव बांधता है, अथवा नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक जीव बांधता है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) पर्याप्तक जीव भजना से बांधता है; (कदाचित् बांधता हैं, कदाचित् नहीं) अपर्याप्तक जीव बांधता है और नो-पर्याप्तक-नो-अपर्याप्तक जीव नहीं बांधता ।

[२] एवं आउगवज्जाओ ।

[१९-२] इस प्रकार आयुष्यकर्म के सिवाय शेष सात कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए ।

[३] आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए, उवरिल्ले ण बंधइ ।

[१९-३] आयुष्यकर्म को निचले दो (पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीव) भजना से (कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं । नोपर्याप्त-अपर्याप्त नहीं बांधता ।

२०. [१] नाणावरणिज्जं किं भासए बंधइ, अभासए० ?

गोयमा ! दो वि भयणाए ।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! क्या ज्ञानावरणीय कर्म को भाषक जीव बांधता है, या अभाषक जीव बांधता है ?

[२०-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म को दोनों—भाषक और अभाषक भजना से (कदचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं ।

[२] एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त ।

[२०-२] इसी प्रकार वेदनीय को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिये ।

[३] वेदणिज्जं भासए बंधइ, अभासए भयणाए ।

[२०-३] वेदनीय कर्म को भाषक जीव बांधता है, अभाषक जीव कदाचित् बांधता है, कदाचिद् नहीं बांधता ।

२१. [१] णाणावरणिज्जं किं परित्ते बंधइ, अपरित्ते बंधइ, नोपरित्तेनोअपरित्ते बंधइ ?

गोयमा ! परित्ते भयणाए, अपरित्ते बंधइ, नोपरित्तेनोअपरित्ते न बंधइ ।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! क्या परित्त जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है, अपरित्त जीव बांधता है, अथवा नोपरित्त-नोअपरित्त जीव बांधता है ?

[२१-१ उ.] गौतम ! परित्त जीव ज्ञानावरणीय कर्म को कदाचित् वांधता है, कदाचित् नहीं वांधता, अपरित्त जीव वांधता है और नोपरित्त-नोअपरित्त जीव नहीं वांधता ।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ ।

[२१-२] इस प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेप सात कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए ।

[३] आउए परित्तो वि, अपरित्तो वि भयणाए । नोपरित्तोनोअपरित्तो न बंधइ ।

[२१-३] आयुष्यकर्म को परित्तजीव भी और अपरित्तजीव भी भजना से (कदाचित् वांधते हैं, कदाचित् नहीं) वांधते हैं; नोपरित्त-नोअपरित्तजीव नहीं वाँधते ।

२२. [१] णाणावरणिज्जं कम्मं किं आभिणिवोहियनाणी वंधइ, सुयनाणी०, ओहिनाणी०, मणपज्जवनाणी०, केवलनाणी वं० ?

गोयमा ! हेट्ठिल्ला चत्तारि भयणाए, केवलनाणी न बंधइ ।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म क्या आभिनिवोधिक (मति) ज्ञानी वांधता है, श्रुतज्ञानी वांधता है, अवधिज्ञानी वांधता है, मन:पर्यवज्ञानी वांधता है अथवा केवलज्ञानी वांधता है ?

[२२-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म को निचले चार (आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी) भजना से (कदाचित् वांधते हैं, कदाचित् नहीं) वांधते हैं; केवलज्ञानी नहीं वांधता ।

[२] एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि ।

[२२-२] इसी प्रकार वेदनीय को छोड़कर शेष सातों कर्म-प्रकृतियों के विषय में समझ लेना चाहिए ।

[३] वेदणिज्जं हेट्ठिल्ला चत्तारि वंधंति, केवलनाणी भयणाए ।

[२२-३] वेदनीय कर्म को निचले चारों (आभिनिवोधिकज्ञानी से लेकर मन:पर्यवज्ञानी तक) वांधते हैं; केवलज्ञानी भजना से (कदाचित् वांधता है, कदाचित् नहीं) वांधता है ।

२३. णाणावरणिज्जं किं मतिअण्णाणी वंधइ, सुय०, विभंग० ?

गोयमा ! आउगवज्जाओ सत्त वि वंधति । आउगं भयणाए ।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या ज्ञानावरणीय कर्म को मति-अज्ञानी वांधता है, श्रुत-अज्ञानी वांधता है या विभंगज्ञानी वांधता है ?

[२३ उ.] गौतम ! आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सातों कर्म-प्रकृतियों को ये (तीनों प्रकार के अज्ञानी) वांधते हैं । आयुष्यकर्म को ये तीनों कदाचित् वांधते हैं, कदाचित् नहीं वांधते ।

२४. [१] णाणावरणिज्जं किं मणजोगी वंधइ, वय०, काय०, अजोगी वंधइ ?

गोयमा ! हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए, अजोगी न बंधइ ।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को क्या मनोयोगी, बांधता है, वचनयोगी बांधता है, काययोगी बांधता है, या अयोगी बांधता है ?

[२४-१ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय कर्म को) निचले तीन—(मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी) भजना से (कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं) बांधते हैं; अयोगी नहीं बांधता ।

[२] एवं वेदणिज्जवज्जाओ ।

[२४-२] इसी प्रकार वेदनीय को छोड़कर शेष सातों कर्मप्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए ।

[३] वेदणिज्जं हेट्ठिल्ला बंधंति, अजोगी न बंधइ ।

[२४-३] वेदनीय कर्म को मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी बांधते हैं; अयोगी नहीं बांधता ।

२५. णाणावरणिज्जं किं सागारोवउत्ते बंधइ, अणागारोवउत्ते बंधइ ?

गोयमा ! अट्ठसु वि भयणाए ।

[२५ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय (आदि अष्टविध) कर्म को क्या साकारोपयोग वाला बांधता है या अनाकारोपयोग वाला बांधता है ?

[२५ उ.] गौतम ! (साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त दोनों प्रकार के जीव) आठों कर्म-प्रकृतियों को कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते ।

२६. [१] णाणावरणिज्जं किं आहारए बंधइ, अणाहारए बंधइ ?

गोयमा ! दो वि भयणाए ।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! क्या ज्ञानावरणीय कर्म आहारक जीव बांधता है या अनाहारक जीव बांधता है ?

[२६-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म को आहारक और अनाहारक, दोनों प्रकार के जीव, कदाचित् बांधते हैं और कदाचित् नहीं बांधते ।

[२] एवं वेदणिज्ज-आउगवज्जाणं छण्हं ।

[२६-२] इसी प्रकार वेदनीय और आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष छहों कर्मप्रकृतियों के विषय में समझ लेना चाहिए ।

[३] वेदणिज्जं आहारए बंधति, अणाहारए भयणाए । आउगं आहारए भयणाए, अणाहारए न बंधति ।

[२६-३] आहारक जीव वेदनीय कर्म को बाँधता है, अनाहारक कदाचित् बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता। (इसी प्रकार) आयुष्यकर्म को आहारक कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता; अनाहारक नहीं बांधता।

२७. [१] णाणावरणिज्जं किं सुहुमे बंधइ, बादरे बंधइ, नोसुहुमेनोबादरे बंधइ ?

गोयमा ! सुहुमे बंधइ, बादरे भयणाए. नोसुहुमेनोबादरे न बंधइ।

[२७-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को क्या सूक्ष्म जीव बांधता है, बादर जीव बांधता है, अथवा नो-सूक्ष्म-नो बादर जीव बांधता है ?

[२७-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म को सूक्ष्म जीव बांधता है, बादर जीव भजना से (कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं) बांधता है, किन्तु नोसूक्ष्म-नोबादर जीव नहीं बांधता।

[२] एवं आउगवज्जाओ सत्त वि।

[२७-२] इसी प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सातों कर्म-प्रकृतियों के विषय में कहना चाहिए।

[३] आउए सुहुमे बादरे भयणाए, नोसुहुमेनोबादरे ण बंधइ।

[२७-३] आयुष्यकर्म को सूक्ष्म और बादरजीव कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते, नोसूक्ष्म-नोबादर जीव नहीं बांधता।

२८. णाणावरणिज्जं किं चरिमे बंधति, अचरिमे बं० ?

गोयमा ! अट्ठ वि भयणाए।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या ज्ञानावरणीय (आदि अष्टविध) कर्म को चरमजीव बांधता है, अथवा अचरमजीव बांधता है ?

[२८ उ] गौतम ! चरम और अचरम; दोनों प्रकार के जीव, आठों कर्मप्रकृतियों को कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते।

विवेचन—विभिन्न विशिष्ट जीवों की अपेक्षा से अष्टकर्मप्रकृतियों के बन्ध-अबन्ध की प्ररूपणा—प्रस्तुत १७ सूत्रों (सू. १२ से २८ तक) में पाँचवें द्वार से उन्नीसवें द्वार तक के माध्यम से स्त्री, पुरुष, नपुंसक, नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक आदि विविध विशिष्ट जीवों की अपेक्षा से अष्ट कर्मों के बन्ध-अबन्ध के विषय में सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है।

अष्टविधकर्मबन्धक-विषयक प्रश्न क्रमशः पन्द्रह द्वारों में—प्रस्तुत पन्द्रह द्वारों में जिन जीवों के विषय में जिस-जिस द्वार में कर्मबन्धविषयक प्रश्न पूछा गया है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) **पंचम द्वार में**—स्त्री, पुरुष, नंपुसक और नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक जीव, (२) **छठे द्वार में**—संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयात-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जीव; (३) **सप्तम द्वार में**—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव, (४) **अष्टम द्वार में**—संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव, (५) **नवम द्वार में**—भवसिद्धिक अभवसिद्धिक और नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव,

(६) **दशमद्वार में**—चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी और केवलदर्शनी जीव; (७) **ग्यारहवें द्वार में**—पर्याप्तक, अपर्याप्तक और नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक जीव; (८) **बारहवें द्वार में**—भाषक और अभाषक जीव, (९) **तेरहवें द्वार में**—परित्त, अपरित्त और नोपरित्त-नोअपरित्त जीव, (१०) **चौदहवें द्वार में**—आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानी जीव तथा मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी विभंगज्ञानी जीव; (११) **पन्द्रहवें द्वार में**—मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी और अयोगी जीव; (१२) **सोलहवें द्वार में**—साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी जीव; (१३) **सत्रहवें द्वार में**—आहारक और अनाहारक जीव; (१४) **अठारहवें द्वार में**—सूक्ष्म, बादर और नोसूक्ष्म-नोबादर जीव; और (१५) **उन्नीसवें द्वार में**—चरम और अचरम जीव।[1]

पन्द्रह द्वारों में प्रतिपादित जीवों के कर्म-बन्ध-अबन्धविषयक समाधान का स्पष्टीकरण—(१) **स्त्रीद्वार**—स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीनों ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं। जिस जीव के स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व से सम्बन्धित वेद (कामविकार) का उदय नहीं होता, किन्तु केवल स्त्री, पुरुष या नपुंसक का शरीर है, उसे अपगतवेद या नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक जीव कहते हैं। वह अनिवृत्ति बादर सम्परायादि गुणस्थानवर्ती होता है। इनमें से अनिवृत्तिबादर सम्पराय और सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धक होता है, क्योंकि वह सात या छह कर्मों का बन्धक होता है। उपशान्तमोहादि गुणस्थानवर्ती (नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक) जीव ज्ञानावरणीय कर्म के अबन्धक होते हैं, क्योंकि ये चारों (उपशान्तमोह से अयोगीकेवली) गुणस्थान वाले जीव केवल एकविध वेदनीय कर्म के बंधक होते हैं। इसीलिए कहा गया है—नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक ज्ञानावरणीय कर्म को भजना (विकल्प) से बांधता है। और यह (वेदरहित) जीव आयुष्यकर्म को तो बांधता ही नहीं है, क्योंकि निवृत्ति-बादरसम्पराय से लेकर अयोगी केवलीगुणस्थान तक में आयुष्यबन्ध का व्यवच्छेद हो जाता है। स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी जीव आयुष्यकर्म को एक भव में एक ही बार बांधता है, वह भी आयुष्य का बन्धकाल होता है, तभी आयुष्यकर्म बांधता है। जब आयुष्य-बन्ध काल नहीं होता, तब आयुष्य नहीं बांधता। इसलिए कहा गया है—ये तीनों प्रकार के जीव आयुष्यकर्म को कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते।

(२) **संयतद्वार**—सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसम्पराय, इन चार संयमों में रहने वाला संयत जीव ज्ञानावरणीय को बांधता है, किन्तु यथाख्यात संयमवर्ती संयत जीव उपशान्तमोहादि वाला होने से ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बांधता; इसीलिए कहा गया है—संयत भजना से ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है, किन्तु असंयत (मिथ्यादृष्टि आदि जीव) और संयतासंयत (पंचम गुणस्थानवर्ती देशविरत) जीव, ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं। जबकि नोसंयत-नो-असंयत-नोसंयतासंयत (अर्थात्-सिद्ध) जीव न तो ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं और न ही आयुष्यादि अन्य कर्म। क्योंकि उनके कर्मबंध का कोई कारण नहीं रहता। संयत, असंयत और संयतासंयत, ये तीनों पूर्ववत् आयुष्यबन्धकाल में आयुष्य बांधते हैं, अन्यथा नहीं बांधते।

(३) **सम्यग्दृष्टिद्वार**—सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सराग-सम्यग्दृष्टि और वीतराग-सम्यग्दृष्टि। जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बांधते, क्योंकि वे तो केवल एकविध वेदनीय कर्म के बन्धक हैं, जबकि सरागसम्यग्दृष्टि ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं। इसीलिए कहा

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २३७ से २४२ तक

है—सम्यग्दृष्टि ज्ञानावरणीय कर्म कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि तो ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते ही हैं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव आयुष्यकर्म को कदाचित् बांधते हैं, कदाचित् नहीं बांधते; इस कथन का आशय यह है कि अपूर्वकरणादि सम्यग्दृष्टि जीव आयुष्य को नहीं बांधते, जबकि इनसे भिन्न चतुर्थ आदि गुणस्थानों वाले सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि जीव पूर्ववत् आयुष्यबन्धकाल में आयुष्य को बांधते हैं, दूसरे समय में नहीं बांधते। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में (मिश्रदृष्टि अवस्था में) आयुष्य बांधने के अध्यवसाय-स्थानों का अभाव होने से ये आयुष्य बांधते ही नहीं हैं।

(४) संज्ञीद्वार—मन-पर्याप्ति वाले जीवों को संज्ञी कहते हैं। वीतरागसंज्ञी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बांधते, जबकि सरागसंज्ञी जीव इसे बांधते हैं, इसीलिए कहा गया है—संज्ञी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता, किन्तु मन:पर्याप्ति से रहित असंज्ञी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते ही हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीवों के तीन भेद होते हैं—सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध भगवान्, इनके ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के कारण न होने से ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते। अयोगीकेवली और सिद्ध भगवान् के सिवाय शेष सभी संज्ञी जीव एवं असंज्ञी जीव वेदनीय कर्म को बांधते हैं। इसलिए यह कहना युक्तिसंगत है कि नोसंज्ञी-नो असंज्ञी जीव वेदनीय कर्म भजना से बांधते हैं। तथा पूर्वोक्त आशयानुसार संज्ञी और असंज्ञो, ये दोनों आयुष्यकर्म को भजना से बांधते हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव आयुष्यकर्म को बांधते ही नहीं हैं।

(५) भवसिद्धिकद्वार—जो भवसिद्धिक वीतराग होते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते, किन्तु जो भवसिद्धिक सराग होते हैं, वे इस कर्म को बांधते हैं, इसीलिए कहा गया है—भवसिद्धिक जीव ज्ञानावरणीय कर्म को भजना से बाँधते हैं। अभवसिद्धिक तो ज्ञानावरणीय कर्म बाँधते ही हैं, जबकि नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक (सिद्ध) जीव ज्ञानावरणीय कर्म एवं आयुष्यकर्मादि को नहीं बाँधते। भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक ये दोनों आयुष्यकर्म को पूर्वोक्त आशयानुसार कदाचित् बाँधते हैं, कदाचित् नहीं बाँधते।

(६) दर्शनद्वार—चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी, यदि छद्मस्थवीतरागी हों तो ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बांधते, क्योंकि वे केवल वेदनीयकर्म के बन्धक होते हैं। ये यदि सरागी-छद्मस्थ हों तो इसे बांधते हैं। इसीलिए कहा गया है कि ये तीनों ज्ञानावरणीय कर्म को भजना से बाँधते हैं। भवस्थकेवलीदर्शनी और सिद्धकेवलीदर्शनी, इन दोनों के ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का हेतु न होने से, ये दोनों इसे नहीं बाँधते। चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनो छद्मस्थ वीतरागी और सरागी वेदनीय कर्म को बाँधते ही हैं। केवलदर्शनियों में जो सयोगी केवली हैं, वे वेदनीयकर्म बाँधते हैं, किन्तु अयोगी केवली नहीं बाँधते। इसलिए कहा गया है कि केवलदर्शनी वेदनीयकर्म को भजना से बाँधते हैं।

(७) पर्याप्तकद्वार—जिस जीव ने उत्पन्न होने के बाद अपने योग्य आहार-शरीरादि पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हों, वह पर्याप्तक और जिसने पूर्ण न की हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक जीव ज्ञानावरणीयादि सात कर्म बाँधते हैं। पर्याप्तक जीवों के दो भेद—वीतराग और सराग। इनमें से वीतरागपर्याप्तक ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बाँधते, सरागपर्याप्तक बाँधते हैं, इसीलिए कहा गया है कि पर्याप्तक भजना से ज्ञानावरणोय कर्म बाँधते हैं। नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक

यानी सिद्ध जीव ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों को नहीं बाँधते। पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों आयुष्यबन्ध के काल में आयुष्य बांधते हैं, दूसरे समय में नहीं, इसीलिए कहा गया है कि ये दोनों आयुष्य बन्ध भजना से करते हैं।

(८) **भाषकद्वार**—भाषालब्धि वाले को भाषक और भाषालब्धि से विहीन को 'अभाषक' कहते हैं। भाषक के दो भेद—वीतरागभाषक और सरागभाषक। वीतरागभाषक ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बाँधते, सरागभाषक बाँधते हैं। इसीलिए कहा गया कि भाषक जीव भजना से ज्ञानावरणीय कर्म बाँधते हैं। अभाषक के चार भेद—अयोगी केवली, सिद्ध भगवान्, विग्रहगतिसमापन्न और एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिकादि के जीव। इनमें से आदि के दो तो ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बाँधते, किन्तु पिछले दो बाँधते हैं। आदि के दोनों अभाषक वेदनीय कर्म को नहीं बाँधते, जबकि पिछले दोनों वेदनीय कर्म बाँधते हैं। इसीलिए कहा गया है कि अभाषक जीव ज्ञानावरणीय और वेदनीयकर्म भजना से बाँधते हैं। भाषकजीव (सयोगी केवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक के भाषक भी) वेदनीय कर्म बाँधते हैं।

(९) **परित्तद्वार**—एक शरीर में एक जीव हो उसे परित्त कहते हैं, अथवा अल्प-सीमित संसार वाले को भी परित्त जीव कहते हैं। परित्त के दो प्रकार—वीतरागपरित्त और सरागपरित्त। वीतरागपरित्त ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बाँधता, सरागपरित्त बाँधता है। इसीलिए कहा गया है कि परित्तजीव भजना से ज्ञानावरणीय कर्म को बाँधता है। जो जीव अनन्त जीवों के साथ एक शरीर में रहता है, ऐसे साधारण कायवाले जीव को 'अपरित्त' कहते हैं, अथवा अनन्त संसारी को अपरित्त कहते हैं। दोनों प्रकार के अपरित्त जीव ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। नोपरित्त-नोअपरित्त अर्थात् सिद्ध जीव, ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्म नहीं बांधते। परित्त और अपरित्त जीव आयुष्यबन्ध-काल में आयुष्य बांधते हैं, किन्तु दूसरे समय में नहीं, इसीलिए कहा गया है—परित्त और अपरित्त भजना से आयुष्य बांधते हैं।

(१०) **ज्ञानद्वार**—प्रथम के चारों ज्ञान वाले वीतराग-अवस्था में ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते, सराग अवस्था में बांधते हैं। इसीलिए इन चारों के ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के विषय में भजना कही गई है। आभिनिबोधिक आदि चार ज्ञानों वाले वेदनीय कर्म को बांधते हैं, क्योंकि छद्मस्थ वीतराग भी वेदनीय कर्म के बन्धक होते हैं। केवलज्ञानी वेदनीयकर्म को भजना से बांधते हैं, क्योंकि सयोगी केवली वेदनीय के बन्धक तथा अयोगी केवली और सिद्ध वेदनीय के अबन्धक होते हैं।

(११) **योगद्वार**—मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी, ये तीनों सयोगी जब ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थानवर्ती होते हैं, तब ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बाँधते, इनके अतिरिक्त अन्य सभी सयोगी जीव ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। इसीलिए कहा गया कि सयोगी जीव भजना से ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। अयोगी के दो भेद—अयोगी केवली और सिद्ध। ये दोनों ज्ञानावरणीय, वेदनीयादि कर्म नहीं बांधते, किन्तु सभी सयोगी जीव वेदनीयकर्म के बन्धक होते हैं, क्योंकि सयोगी केवली गुणस्थान तक सातावेदनीय का बन्ध होता है।

(१२) **उपयोगद्वार**—सयोगी जीव और अयोगी जीव, इन दोनों के साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन) ये दोनों उपयोग होते हैं। इन दोनों उपयोगों में वर्तमान सयोगी जीव, ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मप्रकृतियों को यथायोग्य बांधता है और अयोगी जीव नहीं बांधता, क्योंकि अयोगी

जीव आठों कर्मप्रकृतियों- का अवन्धक होता है। इसीलिए साकारोपयोगी और निराकारोपयोगी दोनों में अष्टकर्मवन्ध की भजना कही है।

(१३) आहारकद्वार—आहारक के दो प्रकार—वीतरागी और सरागी। वीतरागी आहारक ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते, जबकि सरागी आहारक इसे बांधते हैं। इसी प्रकार अनाहारक के चार भेद होते हैं—विग्रहगति-समापन्न, समुद्घातप्राप्त केवली, अयोगीकेवली और सिद्ध। इनमें से प्रथम बांधते हैं, शेष तीनों ज्ञानावरणीय कर्म को नहीं बांधते। इसीलिए कहा गया है—आहारक की तरह अनाहारक भी ज्ञानावरणीय कर्म को भजना से बांधते हैं। आहारक जीव (सयोगी केवली तक) वेदनीय कर्म को बांधते हैं, जबकि अनाहारकों में से विग्रहगतिसमापन्न और समुद्घातप्राप्त केवली ये दोनों अनाहारक वेदनीय कर्म को बांधते हैं, अयोगी केवली और सिद्ध अनाहारक इसे नहीं बांधते। इसीलिए कहा गया है कि अनाहारकजीव वेदनीयकर्म को भजना से बांधते हैं। सभी प्रकार के अनाहारक जीव आयुष्यकर्म के अबंधक हैं, जबकि आहारक जीव आयुष्यबन्धकाल में आयुष्य बांधते हैं, दूसरे समय में नहीं बांधते।

(१४) सूक्ष्मद्वार—सूक्ष्मजीव ज्ञानावरणीय कर्म का बंधक है। बादर जीवों के दो भेद—वीतराग और सराग। वीतराग बादरजीव ज्ञानावरणीयकर्म के अबन्धक हैं, जबकि सराग बादर जीव इसके बन्धक हैं। नोसूक्ष्म-नोबादर अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणीयादि सभी कर्मों के अबन्धक हैं। सूक्ष्म और बादर दोनों आयुष्यबन्धकाल में आयुष्यकर्म बांधते हैं, दूसरे समय में नहीं। इसीलिए इनका आयुष्य कर्मबन्ध भजना से कहा गया है।

(१५) चरमद्वार—चरम का अर्थ है—जिसका अन्तिम भव है या होने वाला है। यहाँ 'भव्य' को 'चरम' कहा गया है। अचरम का अर्थ है—जिसका अन्तिम भव नहीं होने वाला है अथवा जिसने भवों का अन्त कर दिया है। इस दृष्टि से अभव्य और सिद्ध को यहाँ 'अचरम' कहा गया है। चरम जीव यथायोग्य आठ कर्मप्रकृतियों को बांधता है और जब चरमजीव अयोगी-अवस्था में हो, तब नहीं भी बांधता। इसीलिए कहा गया है कि चरमजीव आठों कर्मप्रकृतियों को भजना से बांधता है। जिसका कभी चरमभव नहीं होगा—ऐसा अभव्य-अचरम तो आठों प्रकृतियों को बांधता है, और सिद्ध अचरम (भवों का अन्तकर्ता) तो किसी भी कर्मप्रकृति को नहीं बांधता। इसीलिए कहा गया कि अचरम जीव आठों कर्म प्रकृतियों को भजना से बांधता है।[1]

पन्द्रह द्वारों में उक्त जीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—

२९. [१] एएसि णं भंते! जीवाणं इत्थिवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाण य कयरे २ अप्पा वा ४?

गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थिवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा।

[२९-१ प्र.] हे भगवन्! स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक, नपुंसकवेदक और अवेदक; इन जीवों में से कौन किससे अल्प हैं, बहुत हैं, तुल्य हैं अथवा विशेषाधिक हैं?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २५६ से २५९ तक

[२९-१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े जीव पुरुषवेदक हैं, उनसे संख्येयगुणा स्त्रीवेदक जीव हैं, उनसे अनन्तगुणा अवेदक हैं और उनसे भी अनन्तगुणा नपुंसकवेदक हैं।

[२] एतेसिं सव्वेसिं पदाणं अप्पबहुगाइं उच्चारेयव्वाइं जाव[1] सव्वत्थोवा जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। छट्ठसए : तइओ उद्देसो समत्तो ।।

[२९-२] इन (पूर्वोक्त) सर्व पदों (संयतादि से लेकर चरम तक चतुर्दश द्वारों में उक्त पदों) का अल्पबहुत्व कहना चाहिए। (संयत पद से लेकर) यावत् सबसे थोडे अचरम जीव हैं, और उनसे अनन्तगुणा चरम जीव हैं।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरने लगे।

विवेचन—पन्द्रह द्वारों में उक्त जीवों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र में सर्वप्रथम स्त्रीवेदकादि (पंचमद्वार) जीवों के अल्पबहुत्व का निरूपण करके इसी प्रकार से अन्य १४ द्वारों में उक्त चरमादिपर्यन्त जीवों के अल्पबहुत्व का अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

वेदकों के अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण—यहाँ पुरुषवेदक जीवों की अपेक्षा स्त्रीवेदक जीवों को संख्यातगुणा अधिक बताने का कारण यह है कि देवों की अपेक्षा देवियाँ बत्तीस गुणी और बत्तीस अधिक हैं, नर मनुष्य की अपेक्षा नारी सत्ताईस गुणी और सत्ताईस अधिक हैं और तिर्यञ्च नर की अपेक्षा तिर्यञ्चनी तीन गुणी और तीन अधिक हैं। स्त्रीवेदकों की अपेक्षा अवेदकों को अनन्त गुणा बताने का कारण यह है कि अनिवृत्तिबादरसम्परायादि वाले जीव और सिद्ध जीव अनन्त हैं, इसलिए वे स्त्रीवेदकों की अपेक्षा अनन्तगुणा हैं। अवेदकों से नपुंसकवेदी अनन्त इसलिए हैं कि सिद्धों की अपेक्षा अनन्तकायिक जीव अनन्तगुणा हैं, जो सब नपुंसक हैं।

संयतद्वार से चमरद्वार तक का अल्पबहुत्व—उपर्युक्त अल्पबहुत्व की तरह ही संयतद्वार से चरमद्वार तक १४ ही द्वारों का अल्पबहुत्व प्रज्ञापनासूत्र के तृतीय पद में उक्त वर्णन की तरह कहना चाहिए।[2]

यहाँ अचरम का अर्थ सिद्ध-अभव्यजीव लिया गया है और चरम का अर्थ भव्य। अतएव अचरम जीवों की अपेक्षा चरम जीव अनन्तगुणित कहे गए हैं।

।। छठा शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१. 'जाव' पद यहाँ २९-१ सू. के प्रश्न की तरह 'संजय' से लेकर **चरिम-अचरिम** तक प्रश्न और उत्तर का संयोजन कर लेने का सूचक है।

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २६० (ख) प्रज्ञापना. तृतीयपद, ८१ से १११ पृ. तक

चउत्थो उद्देसओ : 'सपएस'

चतुर्थ उद्देशक : सप्रदेश

कालादेश से चौवीस दण्डक के एक-अनेक जीवों को सप्रदेशता-अप्रदेशता की प्ररूपणा—

१. जीवे णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसे, अपदेसे ?

गोयमा ! नियमा सपदेसे ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव कालादेश (काल की अपेक्षा) से सप्रदेश है या अप्रदेश है ?

[१ उ.] गौतम ! कालादेश से जीव नियमत: (निश्चित रूप से) सप्रदेश है ।

२. [१] नेरतिए णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसे, अपदेसे ?

गोयमा ! सिय सपदेसे, सिय अपदेसे ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव कालादेश से सप्रदेश है या अप्रदेश है ?

[२-१ उ.] गौतम ! एक नैरयिक जीव कालादेश से कदाचित् सप्रदेश है और कदाचित् अप्रदेश है ।

[२] एवं जाव[1] सिद्धे ।

[२-२ प्र.] इस प्रकार यावत् एक सिद्ध-जीव-पर्यन्त कहना चाहिए ।

३. जीवा णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसा, अपदेसा ?

गोयमा ! नियमा सपदेसा ।

[३ प्र.] भगवन् ! कालादेश की अपेक्षा बहुत जीव (अनेक जीव) सप्रदेश हैं या अप्रदेश हैं ?

[३ उ.] गौतम ! अनेक जीव कालादेश की अपेक्षा नियमत: सप्रदेश हैं ।

४. [१] नेरइया णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसा, अपदेसा ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सपदेसा, अहवा सपदेसा य अपदेसे य, अहवा सपदेसा य अपदेसा य ।

[४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव (बहुत-से नैरयिक) कालादेश की अपेक्षा क्या सप्रदेश हैं या अप्रदेश हैं ?

---

१. 'जाव' पद यहाँ भवनपति से लेकर वैमानिकदेवपर्यन्त दण्डकों का सूचक है ।

[४-१ उ.] गौतम ! (नैरयिकों के तीन विभाग हैं—) १. सभी (नैरयिक) सप्रदेश हैं, २. बहुत-से सप्रदेश और एक अप्रदेश हैं, और ३. बहुत-से सप्रदेश और बहुत-से अप्रदेश हैं ।

[२] एवं जाव[1] थणियकुमारा ।

[४-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए ।

५. [१] पुढविकाइया णं भंते ! किं सपदेसा, अपदेसा ?
गोयमा ! सपदेसा वि, अपदेसा वि ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव सप्रदेश हैं या अप्रदेश हैं ?
[५-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव सप्रदेश भी हैं, अप्रदेश भी हैं ।

[२] एवं जाव[2] वणप्फतिकाइया ।

[५-२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक कहना चाहिए ।

६. सेसा जहा नेरइया तहा जाव[3] सिद्धा ।

[६] जिस प्रकार नैरयिक जीवों का कथन किया गया है, उसी प्रकार सिद्धपर्यन्त शेष सभी जीवों के लिए कहना चाहिए ।

आहारक आदि से विशेषित जीवों में सप्रदेश-अप्रदेश-वक्तव्यता—

७. [१] आहारगाणं जीवेगेंदियवज्जो तियभंगो ।

[७-१] जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी आहारक जीवों के लिए तीन भंग कहने चाहिए—यथा (१) सभी सप्रदेश, (२) बहुत सप्रदेश और एक अप्रदेश, और (३) बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश ।

[२] अणाहारगाणं जीवेगिंदियवज्जा छब्भंगा एवं भाणियव्वा-सपदेसा वा, अपएसा वा, अहवा सपदेसे य अपदेसे य, अहवा सपदेसे य अपदेसा य, अहवा सपदेसा य अपदेसे य, अहवा सपदेसा य अपदेसा य । सिद्धेहिं तियभंगो ।

[७-२] अनाहारक जीवों के लिए एकेन्द्रिय को छोड़कर छह भंग इस प्रकार कहने चाहिए—यथा—(१) सभी सप्रदेश, (२) सभी अप्रदेश, (३) एक सप्रदेश और एक अप्रदेश, (४) एक सप्रदेश और बहुत अप्रदेश, (५) बहुत सप्रदेश और एक अप्रदेश, और (६) बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश ।

सिद्धों के लिए तीन भंग कहने चाहिए ।

---

१. 'जाव' पद यहाँ 'असुरकुमार' से लेकर 'स्तनितकुमार' तक का सूचक है ।
२. 'जाव' पद से यहाँ 'अप्कायिक' से लेकर 'वनस्पतिकायिक' तक समझना ।
३. 'जाव' पद से वैमानिक पर्यन्त के दण्डकों का ग्रहण समझ लेना चाहिए ।

८. [१] भवसिद्धीया अभवसिद्धीया जहा ओहिया।

[८-१] भवसिद्धिक (भव्य) और अभवसिद्धिक (अभव्य) जीवों के लिए औघिक (सामान्य) जीवों की तरह कहना चाहिए।

[२] नोभवसिद्धियनोअभवसिद्धिया जीव-सिद्धेहिं तियभंगो।

[८-२] नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव और सिद्धों में (पूर्ववत्) तीन भंग कहने चाहिए।

९. [१] सण्णीहिं जीवादिओ तियभंगो।

[९-१] संज्ञी जीवों में जीव आदि तीन भंग कहने चाहिए।

[२] असण्णीहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो। नेरइय-देव-मणुएहिं छब्भंगा।

[९-२] असंज्ञी जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहने चाहिए। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छह भंग कहने चाहिए।

[३] नोसण्णि-नोअसण्णिणो जीव-मणुय-सिद्धेहिं तियभंगो।

[९-३] नोसंज्ञी-नो असंज्ञी, जीव, मनुष्य और सिद्धों में तीन भंग कहने चाहिए।

१०. [१] सलेसा जहा ओहिया। कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा जहा आहारओ, नवरं जस्स अत्थि एयाओ। तेउलेस्साए जीवादिओ तियभंगो, नवरं पुढविकाइएसु आउ-वणप्फतीसु छब्भंगा। पम्हलेस-सुक्कलेस्साए जीवाइओ तियभंगो।

[१०-१] सलेश्य (लेश्या वाले) जीवों का कथन, औघिक जीवों की तरह करना चाहिए। कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या वाले जीवों का कथन आहारक जीव की तरह करना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि जिसके जो लेश्या हो, उसके वह लेश्या कहनी चाहिए। तेजोलेश्या में जीव आदि तीन भंग कहने चाहिए; किन्तु इतनी विशेषता है कि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में छह भंग कहने चाहिए। पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या में जीवादिक तीन भंग कहने चाहिए।

[२] अलेसेहिं जीव-सिद्धेहिं तियभंगो, मणुएसु छब्भंगा।

[१०-२] अलेश्य (लेश्यारहित) जीव और सिद्धों में तीन भंग कहने चाहिए, तथा अलेश्य मनुष्यों में (पूर्ववत्) छह भंग कहने चाहिए।

११. [१] सम्मद्दिट्ठीहिं जीवाइओ तियभंगो। विगलिंदिएसु छब्भंगा।

[११-१] सम्यग्दृष्टि जीवों में जीवादिक तीन भंग कहने चाहिए। विकलेन्द्रियों में छह भंग कहने चाहिए।

[२] मिच्छद्दिट्ठीहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो।

[११-२] मिथ्यादृष्टि जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए।

[३] सम्मामिच्छद्दिट्ठीहिं छब्भंगा।

[११-२] सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में छह भंग कहनें चाहिए।

१२. [१] संजतेहिं जीवाइओ तियभंगो।

[१२-१] संयतों में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए।

[२] असंजतेहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१२-२] असंयतों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए।

[३] संजतासंजतेहिं तियभंगो जीवादिओ।

[१२-३] संयतासंयत जीवों में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए।

[४] नोसंजयनोअसंजयनोसंजतासंजत जीव-सिद्धेहिं तियभंगो।

[१२-४] नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जीव और सिद्धों में तीन भंग कहने चाहिए।

१३. [१] सकसाईहिं जीवादिओ तियभंगो। एगिंदिएसु अभंगकं। कोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। देवेहिं छब्भंगा। माणकसाई मायाकसाई जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। नेरतियदेवेहिं छब्भंगा। लोभकसायीहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। नेरतिएसु छब्भंगा।

[१३-१] सकषायी (कषाययुक्त) जीवों में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए। एकेन्द्रिय (सकषायी) में अभंगक (तीन भंग नहीं, किन्तु एक भंग) कहना चाहिए। क्रोधकषायी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए। मानकषायी और मायाकषायी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए। नैरयिकों और देवों में छह भंग कहने चाहिए। लोभकषायी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहने चाहिए। नैरयिक जीवों में छह भंग कहने चाहिए।

[२] अकसाई जीव-मणुएहिं सिद्धेहिं तियभंगो।

[१३-२] अकषायी जीवों, जीव, मनुष्य और सिद्धों में तीन भंग कहने चाहिए।

१४. [१] ओहियनाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे जीवादिओ तियभंगो। विगलिदिएहिं छब्भंगा। ओहिनाणे मणपज्जवणाणे केवलनाणे जीवादिओ तियभंगो।

[१४-१] औघिक (समुच्चय) ज्ञान, आभिनिवोधिक ज्ञान, और श्रुतज्ञान में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए। विकलेन्द्रियों में छह भंग कहने चाहिए। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए।

[२] ओहिए अण्णाणे मतिअण्णाणे सुयअण्णाणे एगिंदियवज्जो तियभंगो। विभंगणाणे जीवादिओ तियभंगो।

[१४-२] औधिक (समुच्चय) अज्ञान, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान में एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहने चाहिए। विभंगज्ञान में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए।

१५. [१] सजोगी जहा ओहिओ। मणजोगी वयजोगी कायजोगी जीवादिओ तियभंगो, नवरं कायजोगी एगिंदिया तेसु अभंगकं।

[१५-१] जिस प्रकार औधिक जीवों का कथन किया, उसी प्रकार सयोगी जीवों का कथन करना चाहिए। मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए। विशेषता यह है कि जो काययोगी एकेन्द्रिय होते हैं, उनमें अभंगक (अधिक भंग नहीं, केवल एक भंग) होता है।

[२] अजोगी जहा अलेसा।

[१५-२] अयोगी जीवों का कथन अलेश्यजीवों के समान कहना चाहिए।

१६. सागारोवउत्त-अणागारोवउत्तेहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१६] साकार उपयोग वाले और अनाकार उपयोग वाले जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहने चाहिए।

१७. [१] सवेयगा य जहा सकसाई। इत्थिवेयग-पुरिसवेदग-नपुंसगवेदगेसु जीवादिओ तियभंगो, नवरं नपुंसगवेदे एगिंदिएसु अभंगयं।

[१७-१] सवेदक जीवों का कथन सकषायी जीवों के समान करना चाहिए। स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी जीवों में जीवादि तीन भंग कहने चाहिए। विशेष यह है कि नपुंसकवेद में जो एकेन्द्रिय होते हैं, उनमें अभंगक (अधिक भंग नहीं, किन्तु एक भंग) है।

[२] अवेयगा जहा अकसाई।

[१७-२] जैसे अकषायी जीवों के विषय में कथन किया, वैसे ही अवेदक (वेदरहित) जीवों के विषय में कहना चाहिए।

१८. [१] ससरीरी जहा ओहिओ। ओरालिय-वेउव्वियसरीरीणं जीवएगिंदियवज्जो तियभंगो। आहारगसरीरे जीव-मणुएसु छब्भंगा। तेयग-कम्मगाणं जहा ओहिया।

[१८-१] जैसे औधिक जीवों का कथन किया, वैसे ही सशरीरी जीवों के विषय में कहना चाहिए। औदारिक और वैक्रियशरीर वाले जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए। आहारक शरीरवाले जीवों में जीव और मनुष्य में छह भंग कहने चाहिए। तैजस और कार्मण शरीर वाले जीवों का कथन औधिक जीवों के समान कहना चाहिए।

[२] असरीरेहिं जीव-सिद्धेहिं तियभंगो।

[१८-२] अशरीरी, जीव और सिद्धों के लिए तीन भंग कहने चाहिए।

१९. [१] आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणापाणपज्जत्तीए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । भासामणपज्जत्तीए जहा सण्णी ।

[१९-१] आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति वाले जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग कहने चाहिए । भाषापर्याप्ति और मन:पर्याप्ति वाले जीवों का कथन संज्ञीजीवों के समान कहना चाहिए ।

[२] आहारअपज्जत्तीए जहा अणाहारगा । सरीरअपज्जत्तीए इंदियअपज्जत्तीए आणापाण-अपज्जत्तीए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, नेरइय-देव-मणुएहिं छब्भंगा । भासामणअपज्जत्तीए जीवादिओ तियभंगो, णेरइय-देव-मणुएहिं छब्भंगा ।

[१९-२] आहारअपर्याप्ति वाले जीवों का कथन अनाहारक जीवों के समान कहना चाहिए। शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-अपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-अपर्याप्ति वाले जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ तीन भंग कहने चाहिए । (अपर्याप्तक) नैरयिक, देव और मनुष्यों में छह भंग कहने चाहिए । भाषाअपर्याप्ति और मन:-अपर्याप्ति वाले जीवों में जीव आदि तीन भंग कहने चाहिए। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छह भंग जानने चाहिए ।

२०. गाहा—सपदेसाऽऽहारग भविय सण्णि लेस्सा दिट्ठी संजय कसाए ।
णाणे जोगुवओगे वेदे य सरीर पज्जत्ती ॥१॥

[२०. संग्रहणी गाथा का अर्थ—] सप्रदेश, आहारक, भव्य, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि, संयत, कषाय, ज्ञान, योग, उपयोग, वेद, शरीर और पर्याप्ति, इन चौदह द्वारों का कथन ऊपर किया गया है ।

विवेचन—आहारक आदि जीवों में सप्रदेश-अप्रदेश-वक्तव्यता—प्रस्तुत बीस सूत्रों में (सू. १ से २० तक) आहारक आदि १४ द्वारों में सप्रदेश-अप्रदेश की दृष्टि से विविध भंगों की प्ररूपणा की गई है ।

सप्रदेश आदि चौदह द्वार—(१) सप्रदेशद्वार—कालादेश का अर्थ है—काल की अपेक्षा से । विभागरहित को **अप्रदेश** और विभागसहित को **सप्रदेश** कहते हैं । समुच्चय में जीव अनादि है, इसलिए उसकी स्थिति अनन्त समय की है; इसलिए वह सप्रदेश है । जो जिस भाव (पर्याय) में प्रथम-समयवर्ती होता है, वह काल की अपेक्षा अप्रदेश और एक समय से अधिक दो-तीन-चार आदि समयों में वर्तने वाला काल की अपेक्षा सप्रदेश होता है ।[1]

कालादेश की अपेक्षा जीवों के भंग—जिस नैरयिक जीव को उत्पन्न हुए एक समय हुआ है, वह कालादेश से अप्रदेश है, और प्रथम समय के पश्चात् द्वितीय-तृतीयादिसमयवर्ती नैरयिक सप्रदेश है । इस प्रकार औधिक जीव, नैरयिक आदि २४ और सिद्ध के मिलाकर २६ दण्डकों में एकवचन को

---

१. जो जस्स पढमसमए वट्टइ. भावस्स सो उ अपएसो ।
अण्णम्मि वट्टमाणो कालाएसेण सपएसो ॥ १ ॥
—भगवती० अ० वृत्ति, पत्रांक २६१ में उद्धृत

लेकर कदाचित् अप्रदेश, कदाचित् सप्रदेश, ये दो-दो भंग होते हैं। इन्हीं २६ दण्डकों में बहुवचन को लेकर विचार करने पर तीन भंग होते हैं—

(१) उपपातविरहकाल में पूर्वोत्पन्न जीवों की संख्या असंख्यात होने से सभी सप्रदेश होते हैं, अतः वे सब सप्रदेश हैं।

(२) पूर्वोत्पन्न नैरयिकों में जब एक नया नैरयिक उत्पन्न होता है, तब उसकी प्रथम समय की उत्पत्ति की अपेक्षा से वह 'अप्रदेश' कहलाता है। इसके सिवाय बाकी नैरयिक जिनकी उत्पत्ति को दो-तीन-चार आदि समय हो गए हैं, वे 'सप्रदेश' कहलाते हैं। तथा

(३) एक-दो-तीन आदि नैरयिकजीव एक समय में उत्पन्न भी होते हैं, उसी प्रमाण में मरते भी हैं,[1] इसलिए वे सब 'अप्रदेश' कहलाते हैं, तथा पूर्वोत्पन्न और उत्पद्यमान जीव बहुत होने से वे सब सप्रदेश भी कहलाते हैं। इसीलिए मूलपाठ में नैरयिकों के क्रमशः तीन भंगों का संकेत है। पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियजीवों में दो भंग होते हैं—वे कदाचित् सप्रदेश भी होते हैं, और कदाचित् अप्रदेश भी। द्वीन्द्रियों से लेकर सिद्धपर्यन्त पूर्ववत् (नैरयिकों की तरह) तीन-तीन भंग होते हैं।

२. आहारकद्वार—आहारक और अनाहारक शब्दों से विशेषित दोनों प्रकार के जीवों के प्रत्येक के एकवचन और बहुवचन को लेकर क्रमशः एक-एक दण्डक यानी दो-दो दण्डक कहने चाहिए। जो जीव विग्रहगति में या केवली समुद्घात में अनाहारक होकर फिर आहारकत्व को प्राप्त करता है, वह आहारककाल के प्रथम समय वाला जीव 'अप्रदेश' और प्रथम समय के अतिरिक्त द्वितीय-तृतीयादि समयवर्ती जीव सप्रदेश कहलाता है। इसीलिए मूलपाठ में कहा गया है—कदाचित् कोई सप्रदेश और कदाचित् कोई अप्रदेश होता है। इसी प्रकार सभी आदिवाले (शुरु होने वाले) भावों में एकवचन में जान लेना चाहिए। अनादि वाले भावों में तो सभी नियमतः सप्रदेश होते हैं। बहुवचन वाले दण्डक में भी इसी प्रकार—कदाचित् सप्रदेश भी और कदाचित् अप्रदेश भी होते हैं। जैसे—आहारकपने में रहे हुए बहुत जीव होने से उनका सप्रदेशत्व है, तथा बहुत-से जीव विग्रहगति के पश्चात् प्रथम समय में तुरन्त ही अनाहारक होने से उनका अप्रदेशत्व भी है। इस प्रकार आहारक जीवों में सप्रदेशत्व और अप्रदेशत्व ये दोनों पाये जाते हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय (पृथ्वीकायिक आदि) जीवों के लिए भी कहना चाहिए। सिद्ध अनाहारक होने से उनमें आहारकत्व नहीं होता है। अतः सिद्ध पद और एकेन्द्रिय को छोड़कर नैरयिकादि जीवों में मूलपाठोक्त तीन भंग (१. सभी सप्रदेश, अथवा २. बहुत सप्रदेश और एक अप्रदेश, अथवा ३. बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश) कहने चाहिए। अनाहारक के भी इसी प्रकार एकवचन-बहुवचन को लेकर दो दण्डक कहने चाहिए। विग्रहगतिसमापन्न जीव, समुद्घातगत केवली, अयोगी केवली और सिद्ध, ये सब अनाहारक होते हैं। ये जब अनाहारकत्व के प्रथम समय में होते हैं तो 'अप्रदेश' और द्वितीय-तृतीय आदि समय में होते हैं तो 'सप्रदेश' कहलाते हैं। बहुवचन के दण्डक में जीव और एकेन्द्रिय को नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इन दोनों पदों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह एक ही भंग पाया जाता है; क्योंकि इन दोनों पदों में विग्रहगति-समापन्न अनेक जीव सप्रदेश और अनेक जीव अप्रदेश मिलते हैं। नैरयिकादि तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों में थोड़े जीवों की उत्पत्ति होती है। अतएव

---

१. एगो व दो व तिण्णि व संखमसंखा व एगसमएणं।
उववज्जंते वइया, उव्वट्टंता वि एमेव ॥ २ ॥ —भगवती० अ० वृत्ति, पत्रांक २६१ में उद्धृत

उनमें एक-दो आदि अनाहारक होने से छह भंग संभवित होते हैं; जिनका मूलपाठ में उल्लेख है। यहाँ एकवचन की अपेक्षा दो भंग नहीं होते, क्योंकि यहाँ बहुवचन का अधिकार चलता है। सिद्धों में तीन भंग होते हैं, उनमें सप्रदेशपद बहुवचनान्त ही सम्भवित है।

३. **भव्यद्वार**—भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक, इन दोनों के प्रत्येक के दो-दो दण्डक हैं, जो औधिक (सामान्य) जीव-दण्डक की तरह हैं। इनमें भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक जीव, नियमत: सप्रदेश होता है। क्योंकि भव्यत्व और अभव्यत्व का प्रथम समय कभी नहीं होता। ये दोनों भाव अनादिपारिणामिक हैं। नैरयिक आदि जीव, सप्रदेश भी होता है, अप्रदेश भी। बहुत जीव तो सप्रदेश ही होते हैं। नैरयिक आदि जीवों में तीन भंग होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह एक ही भंग होता है। क्योंकि ये बहुत संख्या में ही प्रति समय उत्पन्न होते रहते हैं। यहाँ भव्य और अभव्य के प्रकरण में सिद्धपद नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध जीव न तो भव्य कहलाते हैं, न अभव्य। वे नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक होते हैं। अत: नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीवों में एकवचक और बहुवचन को लेकर दो दण्डक कहने चाहिए। इसमें जीवपद और सिद्धपद, ये दो पद ही कहने चाहिए; क्योंकि नैरयिक आदि जीवों के साथ नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक' विशेषण लग नहीं सकता। इस दण्डक के बहुवचन की अपेक्षा तीन भंग मूलपाठ में बताए हैं।

४. **संज्ञीद्वार**—संज्ञी जीवों के एकवचन और बहुवचन को लेकर दो दण्डक होते हैं। बहुवचन के दण्डक में जीवादि पदों में तीन भंग होते हैं, यथा—(१) जिन संज्ञी जीवों को बहुत-सा समय उत्पन्न हुए हो गया है, वे कालादेश से सप्रदेश हैं (२) उत्पादविरह के बाद जब एक जीव की उत्पत्ति होती है, तब उसको प्रथम समय की अपेक्षा 'बहुत जीव सप्रदेश और एक जीव अप्रदेश' कहा जाता है, और (३) जब बहुत जीवों की उत्पत्ति एक ही समय में होती है, तब 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश' यों कहा जाता है। इस प्रकार ये तीन भंग सभी पदों में जान लेने चाहिए। किन्तु इन दो दण्डकों में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सिद्धपद नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इनमें 'संज्ञी' विशेषण सम्भव ही नहीं है। असंज्ञी-जीवों में एकेन्द्रियपदों को छोड़कर दूसरे दण्डक में ये ही तीन भंग कहने चाहिए। पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों में सदा बहुत जीवों की उत्पत्ति होती है, इसलिए उन पदों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह एक ही भंग सम्भव है। नैरयिकों से ले कर व्यन्तर देवों तक असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं, वे जब तक संज्ञी न हों, तब तक उनका असंज्ञीपन जानना चाहिए। नैरयिक आदि में असंज्ञीपन कादाचित्क होने से एकत्व एवं बहुत्व की सम्भावना होने के कारण मूलपाठ में ६ भंग बताए गए हैं। असंज्ञी प्रकरण में ज्योतिष्क, वैमानिक और सिद्ध का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें असंज्ञीपन सम्भव नहीं है। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी विशेषण वाले जीवों के दो दण्डक कहने चाहिए। उसमें बहुवचन को लेकर द्वितीय दण्डक में जीव, मनुष्य और सिद्ध में उपर्युक्त तीन भंग कहने चाहिए, क्योंकि उनमें बहुत-से अवस्थित मिलते हैं। उनमें उत्पद्यमान एकादि सम्भव हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के इन दो दण्डकों में जीव, मनुष्य और सिद्ध, ये तीन पद ही कहने चाहिए; क्योंकि नैरयिकादि जीवों के साथ 'नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी' विशेषण घटित नहीं हो सकता।

५. **लेश्याद्वार**—सलेश्य जीवों के दो दण्डकों में जीव और नैरयिकों का कथन औधिक दण्डक के समान करना चाहिए, क्योंकि जीवत्व की तरह सलेश्यत्व भी अनादि है, इसलिए इन दोनों में

किसी प्रकार की विशेषता नहीं है, किन्तु इतना विशेष है कि सलेश्य प्रकरण में सिद्ध पद नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध अलेश्य होते हैं। कृष्ण-नील-कापोतलेश्यावान् जीव और नैरयिकों के प्रत्येक के दो-दो दण्डक आहारक जीव की तरह कहने चाहिए। जिन जीव एवं नैरयिकादि में जो लेश्या हो, वही कहनी चाहिए। जैसे कि कृष्णादि तीन लेश्याएँ, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों में नहीं होतीं। सिद्धों में तो कोई भी लेश्या नहीं होती। तेजोलेश्या के एकवचन और वहुवचन को लेकर दो दण्डक कहने चाहिए। वहुवचन की अपेक्षा द्वितीय दण्डक में जीवादिपदों के तीन भंग होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में ६ भंग होते हैं, क्योंकि पृथ्वीकायादि जीवों में तेजोलेश्यावाले एकादिदेव—(पूर्वोत्पन्न और उत्पद्यमान दोनों प्रकार के) पाए जाते हैं। इसलिए सप्रदेशत्व और अप्रदेशत्व के एकत्व और वहुत्व का सम्भव है। तेजोलेश्याप्रकरण में नैरयिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, विकलेन्द्रिय और सिद्ध, ये पद नहीं कहने चाहिए, क्योंकि इनमें तेजोलेश्या नहीं होती। पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के दो-दो दण्डक कहने चाहिए। दूसरे दण्डक में जीवादि पदों में तीन भंग कहने चाहिए। पद्म-शुक्ललेश्याप्रकरण में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य और वैमानिक देव ही कहने चाहिए; क्योंकि इनके सिवाय दूसरे जीवों में ये लेश्याएँ नहीं होतीं। अलेश्य जीव के एकवचन और वहुवचन को लेकर दो दण्डकों में जीव, मनुष्य और सिद्ध पद का ही कथन करना चाहिए; क्योंकि दूसरे जीवों में अलेश्यत्व संभव नहीं है। इनमें जीव और सिद्ध में तीन भंग और मनुष्य में छह भंग कहने चाहिए; क्योंकि अलेश्यत्व प्रतिपन्न (प्राप्त किये हुए) और प्रतिपद्यमान (प्राप्त करते हुए) एकादि मनुष्यों का सम्भव होने से सप्रदेशत्व में और अप्रदेशत्व में एकवचन और वहुवचन सम्भव है।

६. दृष्टिद्वार—सम्यग्दृष्टि के दो दण्डकों में सम्यग्दर्शनप्राप्ति के प्रथम समय में अप्रदेशत्व है, और वाद के द्वितीय-तृतीयादि समयों में सप्रदेशत्व है। इनमें दूसरे दण्डक में जीवादिपदों में पूर्वोक्त तीन भंग कहने चाहिए। विकलेन्द्रियों में पूर्वोत्पन्न और उत्पद्यमान एकादि सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव पाए जाते हैं, इस कारण इनमें ६ भंग जानने चाहिए। अतः सप्रदेशत्व और अप्रदेशत्व में एकत्व और वहुत्व संभव है। एकेन्द्रिय सर्वथा मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनमें सम्यग्दर्शन न होने से सम्यग्दृष्टिद्वार में एकेन्द्रियपद का कथन नहीं करना चाहिए। मिथ्यादृष्टि के एकवचन और वहुवचन से दो दण्डक कहने चाहिए। उनमें से दूसरे दण्डक में जीवादि पदों के तीन भंग होते हैं; क्योंकि मिथ्यात्व-प्रतिपन्न (प्राप्त) जीव वहुत हैं और सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के वाद मिथ्यात्व को प्रतिपद्यमान एक जीव भी संभव है। इस कारण तीन भंग होते हैं। मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में एकेन्द्रिय जीवों में 'वहुत सप्रदेश और वहुत अप्रदेश', यह एक ही भंग पाया जाता है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों में अवस्थित और उत्पद्यमान वहुत होते हैं। इस (मिथ्यादृष्टि—) प्रकरण में सिद्धों का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें मिथ्यात्व नहीं होता। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के एकवचन और वहुवचन, ये दो दण्डक कहने चाहिए। उनमें से वहुवचन के दण्डक में ६ भंग होते हैं; क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व को प्राप्त और प्रतिपद्यमान एकादि जीव भी पाए जाते हैं। इस सम्यग्मिथ्यादृष्टिद्वार में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सिद्ध जीवों का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व असम्भव है।

७. संयतद्वार—'संयत' शब्द से विशेषित जीवों में तीन भंग कहने चाहिए; क्योंकि संयम को प्राप्त वहुत जीव होते हैं, संयम को प्रतिपद्यमान एकादि जीव होते हैं, इसलिए तीन भंग घटित होते हैं। संयतद्वार में केवल दो ही पद कहने चाहिए—जीवपद और मनुष्यपद, क्योंकि दूसरे जीवों में

संयतत्व का अभाव है। **असंयत** जीवों के एकवचन और बहुवचन को लेकर दो दण्डक कहने चाहिए। उनमें से बहुवचन सम्बन्धी द्वितीय दण्डक में तीन भंग होते हैं, क्योंकि असंयतत्व को प्राप्त बहुत जीव होते हैं, तथा संयतत्व से भ्रष्ट होकर असंयतत्व को प्राप्त करते हुए एकादि जीव होते हैं, इसलिए उनमें तीन भंग घटित हो सकते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में पूर्वोक्तयुक्ति के अनुसार 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश'—यह एक ही भंग पाया जाता है। इस असंयतप्रकरण में 'सिद्धपद' नहीं कहना चाहिए; क्योंकि सिद्धों में असंयतत्व नहीं होता। **'संयतासंयत' पद** में भी एकवचन-बहुवचन को लेकर दो दण्डक कहने चाहिए। उनमें से दूसरे दण्डक में बहुवचन की अपेक्षा पूर्वोक्त तीन भंग कहने चाहिए; क्योंकि संयतासंयतत्व—देशविरतिपन को प्राप्त बहुत जीव होते हैं; और उससे भ्रष्ट होकर या असंयम का त्याग कर संयतासंयतत्व को प्राप्त होते हुए एकादि जीव होते हैं। अतः तीन भंग घटित होते हैं। इस संयतासंयतद्वार में भी जीव, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य, ये तीन पद ही कहने चाहिए; क्योंकि इन तीन पदों के अतिरिक्त अन्य जीवों में संयतासंयतत्व नहीं पाया जाता। नोसंयत—नोअसंयत—नोसंयतासंयत द्वार में जीव और सिद्ध, ये दो पद ही कहने चाहिए, भंग भी पूर्वोक्त तीन होते हैं।

८. कषायद्वार—सकषायी जीवों में तीन भंग पाए जाते हैं, यथा—(१) सकषायी जीव, सदा अवस्थित होने से सप्रदेश होते हैं—यह प्रथम भंग; (२) उपशमश्रेणी से गिर कर सकषायावस्था को प्राप्त होते हुए एकादि जीव पाए जाते हैं इसलिए 'बहुत सप्रदेश और एक अप्रदेश' यह दूसरा भंग तथा 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश' यह तीसरा भंग। नैरयिकादि में तीन भंग पाए जाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में अभंग है—अर्थात् उनमें अनेक भंग नहीं, किन्तु 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश' यह एक ही भंग पाया जाता है; क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों में बहुत जीव 'अवस्थित' और बहुत जीव 'उत्पद्यमान' पाए जाते हैं। सकषायी द्वारा में 'सिद्ध पद' नहीं कहना चाहिए; क्योंकि सिद्ध कषाय-रहित होते हैं। इसी तरह क्रोधादि कषायों में कहना चाहिए। क्रोधकषाय के एकवचन-बहुवचन दण्डक-द्वय में से दूसरे दण्डक में बहुवचन से जीवपद में और पृथ्वीकायादि पदों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह एक भंग ही कहना चाहिए; क्योंकि मान, माया और लोभ से निवृत्त हो कर क्रोधकषाय को प्राप्त होते हुए जीव अनन्त होने से यहाँ एकादि का सम्भव नहीं है, इसलिए सकषायी जीवों की तरह तीन भंग नहीं हो सकते। शेष (एकवचन) में तीन भंग कहने चाहिए।

देवपद में देवों सम्बन्धी तेरह ही दण्डकों में छह भंग कहने चाहिए; क्योंकि उनमें क्रोधकषाय के उदय वाले जीव अल्प होने से एकत्व और बहुत्व, दोनों संभव हैं; अतः सप्रदेशत्व-अप्रदेशत्व दोनों संभव हैं। मानकषाय और मायाकषाय वाले जीवों के भी एकवचन-बहुवचन को लेकर दण्डकद्वय क्रोधकषाय की तरह कहने चाहिए। उनमें से दूसरे दण्डक में नैरयिकों और देवों में ६ भंग होते हैं, क्योंकि मान और माया के उदय वाले जीव थोड़े ही पाए जाते हैं। लोभकषाय का कथन, क्रोधकषाय की तरह करना चाहिए। लोभकषाय के उदय वाले नैरयिक अल्प होने से उनमें ६ भंग पाए जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि देवों में लोभ बहुत होता है, और नैरयिकों में क्रोध अधिक। इसलिए क्रोध, मान और माया में देवों के ६ भंग और मान, माया और लोभ में नैरयिकों के ६ भंग कहने चाहिए। **अकषायी द्वार** के भी एकवचन और बहुवचन ये दण्डकद्वय होते हैं। उनमें से दूसरे दण्डक में जीव, मनुष्य और सिद्धपद में तीन भंग कहने चाहिए। इन तीन पदों के सिवाय अन्य दण्डकों का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूसरे जीव अकषायी नहीं हो सकते।

९. ज्ञानद्वार—मत्यादि भेद से अविशेषित औधिक (सामान्य) ज्ञान में तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकवचन और बहुवचन को लेकर दो दण्डक होते हैं। दूसरे दण्डक में जीवादि पदों के तीन भंग कहने चाहिए। यथा—औधिकज्ञानी, मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी सदा अवस्थित होने से वे सप्रदेश हैं, यह एक भंग, मिथ्याज्ञान से निवृत्त होकर मात्र मत्यादिज्ञान को प्राप्त होने वाले एवं श्रुत-अज्ञान से निवृत्त होकर श्रुतज्ञान को प्राप्त होने वाले एकादि जीव पाए जाते हैं, इसलिए, तथा मति-अज्ञाव से निवृत्त होकर मतिज्ञान को प्राप्त होने वाले बहुत सप्रदेश और एकादि अप्रदेश', यह दूसरा भंग तथा 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह तीसरा भंग होता है। विकलेन्द्रियों में सास्वादन सम्यक्त्व होने से मत्यादिज्ञान वाले एकादि जीव पाए जाते हैं, इसलिए उनमें ६ भंग घटित हो जाते हैं। यहाँ पृथ्वीकायादि जीव तथा सिद्धपद का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें मत्यादिज्ञान नहीं होते। इसी प्रकार अवधिज्ञान आदि में भी तीन भंग सम्भव हैं। विशेषता यह है कि अवधिज्ञान के एकवचन-बहुवचन-दण्डकद्वय में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सिद्धों का कथन नहीं करना चाहिए। मन:पर्यवज्ञान के उक्त दण्डकद्वय में जीव और मनुष्य का ही कथन करना चाहिए, क्योंकि इनके सिवाय अन्यों को मन:पर्यवज्ञान नहीं होता। केवलज्ञान के उक्त दोनों दण्डकों में भी मनुष्य और सिद्ध का ही कथन करना चाहिए, क्योंकि दूसरे जीवों को केवलज्ञान नहीं होता।

मति आदि अज्ञान से अविशेषित सामान्य (औधिक) अज्ञान, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान, इनमें जीवादि पदों में तीन भंग घटित हो जाते हैं, यथा- (१) ये सदा अवस्थित होते हैं, इसलिए 'सभी सप्रदेश' यह प्रथम भंग हुआ, (२-३) अवस्थित के सिवाय जब दूसरे जीव, ज्ञान को छोड़ कर मति-अज्ञानादि को प्राप्त होते हैं, तब उनके एकादि का सम्भव होने से दूसरा और तीसरा भंग भी घटित हो जाता है। एकेन्द्रिय जीवों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश' यह एक ही भंग पाया जाता है। सिद्धों में तीनों अज्ञान असम्भव होने से उनमें अज्ञानों का कथन नहीं करना चाहिए। विभंगज्ञान में जीवादि पदों में मति-अज्ञानादि की तरह तीन भंग कहने चाहिए। इसमें एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सिद्धों का कथन नहीं करना चाहिए।

१०. **योगद्वार**—सयोगी जीवों के एक-बहुवचन-दण्डकद्वय औधिक जीवादि की तरह कहने चाहिए। यथा—सयोगी जीव नियमत: सप्रदेशी होते हैं। नैरयिकादि सयोगी तो सप्रदेश और अप्रदेश दोनों होते हैं, किन्तु बहुत जीव सप्रदेश ही होते हैं। इस प्रकार नैरयिकादि सयोगी में तीन भंग होते हैं, एकेन्द्रियादि सयोगीजीवों में केवल तीसरा ही भंग पाया जाता है। यहाँ सिद्ध का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे अयोगी होते हैं। मनोयोगी, अर्थात् तीनों योगों वाले संज्ञी जीव, वचनयोगी अर्थात् एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष सभी जीव, और काययोगी, अर्थात् एकेन्द्रियादि सभी जीव। इनमें जीवादि पद में तीन भंग होते हैं। जब मनोयोगी आदि जीव अवस्थित होते हैं, तब उनमें 'सभी सप्रदेश', यह प्रथम भंग पाया जाता है। और जब अमनोयोगीपन छोड़कर मनोयोगीपन आदि में उत्पत्ति होती है, तब प्रथमसमयवर्ती अप्रदेशत्व की दृष्टि से दूसरे दो भंग पाए जाते हैं। विशेष यह है—काययोगी में एकेन्द्रियों में अभंगक है, अर्थात्—उनमें अनेक भंग न होकर सिर्फ एक ही भंग होता है—'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश'। तीनों योगों के दण्डकों में यथासम्भव जीवादिपद कहने चाहिए; किन्तु सिद्धपद का कथन नहीं करना चाहिए। **अयोगीद्वार** का कथन अलेश्यद्वार के समान कहना चाहिए। अत: इसके दूसरे दण्डक में अयोगी जीवों में, जीव और सिद्धपद में तीन भंग और अयोगी मनुष्य में छह भंग कहने चाहिए।

११. उपयोगद्वार—साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी नैरयिक आदि में तीन भंग तथा जीवपद और पृथ्वीकायादिपदों में एक ही भंग (बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश) कहना चाहिए। इन दोनों उपयोगों में से किसी एक में से दूसरे उपयोग में जाते हुए प्रथम समय में अप्रदेशत्व और इतर समयों में सप्रदेशत्व स्वयं घटित कर लेना चाहिए। सिद्धों में तो एकसमयोपयोगीपन होता है, तो भी साकार और अनाकार उपयोग की बारंबार प्राप्ति होने से सप्रदेशत्व और एक बार प्राप्ति होने से अप्रदेशत्व होता है। इस प्रकार साकार-उपयोग को बारंबार प्राप्त ऐसे बहुत सिद्धों की अपेक्षा एक भंग (सभी सप्रदेश), उन्हीं सिद्धों की अपेक्षा तथा एक बार साकारोपयोग को प्राप्त एक सिद्ध की अपेक्षा—'बहुत सप्रदेश और एक अप्रदेश', यह दूसरा भंग तथा बारंबार साकारोपयोग-प्राप्त बहुत सिद्धों की अपेक्षा एवं एक बार साकारोपयोगप्राप्त बहुत सिद्धों की अपेक्षा—'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश'—यह तृतीय भंग समझना चाहिए। अनाकार उपयोग में बारंबार अनाकारोपयोग को प्राप्त बहुत सिद्धों की अपेक्षा प्रथम भंग, उन्हीं सिद्धों की अपेक्षा तथा एक बार अनाकारोपयोग प्राप्त एक सिद्ध जीव की अपेक्षा द्वितीय भंग, और बारंबार अनाकारोपयोग प्राप्त बहुत सिद्धों की अपेक्षा तथा एक बार अनाकारोपयोग प्राप्त बहुत सिद्धों की अपेक्षा तृतीय भंग समझ लेना चाहिए।

१२. वेदद्वार—सवेदक जीवों का कथन सकषायी जीवों के समान करना चाहिए। सवेदक जीवों में भी जीवादि-पद में वेद को प्राप्त बहुत जीवों और उपशमश्रेणी से गिरने के बाद सवेद अवस्था को प्राप्त होने वाले एकादि जीवों की अपेक्षा तीन भंग घटित होते हैं। एकेन्द्रियों में एक ही भंग तथा स्त्रीवेदक आदि में तीन भंग पाए जाते हैं। जब एक वेद से दूसरे वेद में संक्रमण होता है, तब प्रथम समय में अप्रदेशत्व और द्वितीय आदि समयों में सप्रदेशत्व होता है, यों तीन भंग घटित होते हैं। **नपुंसकवेद** के एकवचन-बहुवचन रूप दण्डकद्वय में तथा एकेन्द्रियों में 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश,' यह एक भंग पाया जाता है। **स्त्रीवेद** और **पुरुषवेद** के दण्डकों में देव, पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं मनुष्य ही कहने चाहिए। सिद्धपद का कथन तीनों वेदों में नहीं करना चाहिए। **अवेदक** जीवों का कथन अकषायी की तरह करना चाहिए। इसमें जीव, मनुष्य और सिद्ध ये तीन पद ही कहने चाहिए। इनमें तीन भंग पाए जाते हैं।

१३. शरीरद्वार—सशरीरी के दण्डकद्वय में औघिकदण्डक के समान जीवपद में सप्रदेशत्व ही कहना चाहिए। क्योंकि सशरीरीपन अनादि है। नैरयिकादि में सशरीरत्व का बाहुल्य होने से तीन भंग और एकेन्द्रियों में केवल तृतीय भंग ही कहना चाहिए। औदारिक और वैक्रियशरीर वाले जीवों में जीवपद और एकेन्द्रिय पदों में बहुत्व के कारण केवल तीसरा भंग ही पाया जाता है; क्योंकि जीवपद और एकेन्द्रिय पदों में प्रतिक्षण प्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान जीव बहुत पाए जाते हैं। शेष जीवों में तीन भंग पाए जाते हैं, क्योंकि उनमें प्रतिपन्न बहुत पाए जाते हैं। एक औदारिक या एक वैक्रिय शरीर को छोड़ कर दूसरे औदारिक या दूसरे वैक्रिय शरीर को प्राप्त होने वाले एकादि जीव पाए जाते हैं। औदारिक शरीर के दण्डकद्वय में नैरयिकों और देवों का कथन तथा वैक्रिय-शरीर के दण्डकद्वय में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और विकलेन्द्रिय जीवों का कथन नहीं करना चाहिए; क्योंकि नारकों और देवों के औदारिक तथा (वायुकाय के सिवाय) पृथ्वी-कायादि में वैक्रियशरीर नहीं होता। वैक्रियदण्डक में एकेन्द्रिय पद में जो तृतीय भंग—(बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश) कहा गया है, वह असंख्यात वायुकायिक जीवों में प्रतिक्षण होने वाली वैक्रियक्रिया की अपेक्षा से कहा गया है। यद्यपि वैक्रियलब्धिवाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य अल्प

होते हैं, तथापि उनमें जो तीन भंग कहे गए हैं, वे वैक्रियावस्था वाले अधिक संख्या में हैं, इस अपेक्षा से सम्भवित हैं। इसके अतिरिक्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों में एकादि जीवों को वैक्रियशरीर की प्रतिपद्यमानता जाननी चाहिए। इसी कारण तीन भंग घटित होंगे। आहारकशरीर की अपेक्षा जीव और मनुष्यों में पूर्वोक्त छह भंग होते हैं, क्योंकि आहारक-शरीर जीव और मनुष्य पदों के सिवाय अन्य जीवों में न होने से आहारकशरीरी थोड़े होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर का कथन औधिक जीवों के समान करना चाहिए। औधिक जीव सप्रदेश होते हैं, क्योंकि तैजस-कार्मणशरीर-संयोग अनादि है। नैरयिकादि में तीन भंग और एकेन्द्रियों में केवल तृतीय भंग कहना चाहिए। इन सशरीरादि दण्डकों में सिद्धपद का कथन नहीं करना चाहिए। (सप्रदेशत्वादि से कहने योग्य) अशरीर जीवादि में जीवपद और सिद्धपद ही कहना चाहिए; क्योंकि इनके सिवाय दूसरे जीवों में अशरीरत्व नहीं पाया जाता। इस तरह अशरीरपद में तीन भंग कहने चाहिए।

१४. **पर्याप्तिद्वार**—जीवपद और एकेन्द्रियपदों में आहारपर्याप्ति आदि को प्राप्त तथा आहारादि की अपर्याप्ति से मुक्त होकर आहारादिपर्याप्ति द्वारा पर्याप्तभाव को प्राप्त होने वाले जीव बहुत हैं, इसलिए इनमें 'बहुत सप्रदेश और बहुत अप्रदेश', यह एक ही भंग होता है; शेष जीवों में तीन भंग पाए जाते हैं। यद्यपि भाषापर्याप्ति और मन:पर्याप्ति, ये दोनों पर्याप्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं, तथापि बहुश्रुत महापुरुषों द्वारा सम्मत होने से ये दोनों पर्याप्तियाँ एक-रूप मान ली गई हैं। अतएव भाषा-मन:पर्याप्ति द्वारा पर्याप्त जीवों का कथन संज्ञी जीवों की तरह करना चाहिए। इन सब पदों में तीन भंग कहने चाहिए। यहाँ केवल पंचेन्द्रिय पद ही लेना चाहिए। आहार-अपर्याप्ति दण्डक में जीवपद और पृथ्वीकायिक आदि पदों में 'बहुत सप्रदेश-बहुत अप्रदेश'—यह एक ही भंग कहना चाहिए। क्योंकि आहारपर्याप्ति से रहित विग्रहगतिसमापन्न बहुत जीव निरन्तर पाये जाते हैं। शेष जीवों में पूर्वोक्त ६ भंग होते हैं, क्योंकि शेष जीवों में आहारपर्याप्तिरहित जीव थोड़े पाए जाते हैं। शरीर-अपर्याप्ति-द्वार में जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग एवं शेष जीवों में तीन भंग कहने चाहिए, क्योंकि शरीरादि से अपर्याप्त जीव कालादेश की अपेक्षा सदा सप्रदेश ही पाये जाते हैं, अप्रदेश तो कदाचित् एकादि पाये जाते हैं। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छह भंग कहने चाहिए। भाषा और मन की पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव वे हैं, जिनको जन्म से भाषा और मन की योग्यता तो हो, किन्तु उसकी सिद्धि न हुई हो। ऐसे जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं। अत: इन जीवों में और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में भाषामन-अपर्याप्ति को प्राप्त बहुत जीव होते हैं, और इसकी अपर्याप्ति को प्राप्त होते हुए एकादि जीव ही पाए जाते हैं। इसलिए उनमें पूर्वोक्त तीन भंग घटित होते हैं। नैरयिकादि में भाषा-मन:-अपर्याप्तकों की अल्पतरता होने से उनमें एकादि सप्रदेश और अप्रदेश पाये जाने से पूर्वोक्त ६ भंग होते हैं। इन पर्याप्ति-अपर्याप्ति के दण्डकों में सिद्धपद नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्धों में पर्याप्ति और अपर्याप्ति नहीं होती।

इस प्रकार १४ द्वारों को लेकर प्रस्तुत सूत्रों पर वृत्तिकार ने सप्रदेश-अप्रदेश का विचार प्रस्तुत किया है।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २६१ से २६६ तक

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचनयुक्त) भा. २, पृष्ठ ९८४ से ९९५ तक।

समस्त जीवों में प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान के होने, जानने, करने तथा आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में प्ररूपणा—

२१. [१] जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी ?

गोयमा ! जीवा पच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि, पच्चक्खाणाऽपच्चक्खाणी वि।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव प्रत्याख्यानी हैं, अप्रत्याख्यानी हैं या प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानी हैं ?

[२१-१ उ.] गौतम ! जीव प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं और प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानी भी हैं।

[२] सव्वजीवाणं एवं पुच्छा।

गोयमा ! नेरइया अपच्चक्खाणी जाव चउरिंदिया, सेसा दो पडिसेहेयव्वा। पंचेंदियतिरिक्ख-जोणिया नो पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी वि, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी वि। मणुस्सा तिण्णि वि। सेसा जहा नेरतिया।

[२१-२ प्र.] इसी तरह सभी जीवों के सम्बन्ध में प्रश्न है (कि वे प्रत्याख्यानी हैं, अप्रत्या-ख्यानी हैं या प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी हैं ?)

[२१-२ उ.] गौतम ! नैरयिकजीव अप्रत्याख्यानी हैं, यावत् चतुरिन्द्रिय जीवों तक अप्रत्या-ख्यानी हैं, इन जीवों (नैरयिक से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक) में शेष दो भंगों (प्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी) का निषेध करना चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च प्रत्याख्यानी नहीं हैं, किन्तु अप्रत्याख्यानी हैं और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी भी हैं। मनुष्य तीनों भंग के स्वामी हैं। शेष जीवों का कथन नैरयिकों की तरह करना चाहिए।

२२. जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणं जाणंति, अपच्चक्खाणं जाणंति, पच्चक्खाणापच्चक्खाणं जाणंति ?

गोयमा ! जे पंचेंदिया ते तिण्णि वि जाणंति, अवसेसा पच्चक्खाणं न जाणंति।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या जीव प्रत्याख्यान को जानते हैं, अप्रत्याख्यान को जानते हैं और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान को जानते हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! जो पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, वे तीनों को जानते हैं। शेष जीव प्रत्याख्यान को नहीं जानते, (अप्रत्याख्यान को नहीं जानते और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान को भी नहीं जानते।)

२३. जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणं कुव्वंति अपच्चक्खाणं कुव्वंति, पच्चक्खाणापच्चक्खाणं कुव्वंति ?

जहा ओहिया तहा कुव्वणा।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या जीव प्रत्याख्यान करते हैं, अप्रत्याख्यान करते हैं, प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यान करते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार औघिकदण्डक कहा है, उसी प्रकार प्रत्याख्यान करने के विषय में कहना चाहिये।

२४. जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया, अपच्चक्खाणनि०, पच्चक्खाणा-पच्चक्खाणनि० ?

गोयमा ! जीवा य वेमाणिया य पच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया तिण्णि वि। अवसेसा अपच्च-क्खाणनिव्वत्तियाउया।

[२४ प्र.] भगवन् ! क्या जीव, प्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले हैं, अप्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले हैं अथवा प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले हैं ? (अर्थात्—क्या जीवों का आयुष्य प्रत्याख्यान से बंधता है, अप्रत्याख्यान से बंधता है या प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान से बंधता है ?)

[२४ उ.] गौतम ! जीव और वैमानिक देव प्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले हैं, अप्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले भी हैं, और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले भी हैं। शेष सभी जीव, अप्रत्याख्यान से निर्वर्तित आयुष्य वाले हैं।

विवेचन—समस्त जीवों के प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी एवं प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी होने, जानने और आयुष्य बांधने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत ४ सूत्रों में समस्त जीवों के प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान से सम्बन्धित पांच तथ्यों का निरूपण क्रमशः इस प्रकार किया गया है—

(१) जीव प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं, प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी भी हैं।

(२) नैरयिकों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तक तथा भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव अप्रत्याख्यानी हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी हैं, तथा मनुष्य प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी तीनों हैं।

(३) पंचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव प्रत्याख्यानादि को नहीं जानते हैं।

(४) समुच्चय जीव और मनुष्य प्रत्याख्यानादि तीनों ही करते हैं, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान करते हैं और शेष २२ दण्डक के जीव सिर्फ अप्रत्याख्यान करते हैं—(प्रत्याख्यान नहीं करते।)

(५) समुच्चय जीव और वैमानिक देवों में उत्पन्न होने वाले जीव प्रत्याख्यान आदि तीनों भंगों में आयुष्य बांधते हैं, शेष २३ दण्डक के जीव अप्रत्याख्यान में आयुष्य बांधते हैं।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. २४६

(ख) भगवतीसूत्र के थोकड़े, द्वितीय भाग, थो. नं. ५०, पृ. ७०-७१

विशेषार्थ—प्रत्याख्यानी=सर्वविरत, प्रत्याख्यानवाला। **अप्रत्याख्यानी**=अविरत, प्रत्याख्यान-रहित। **प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी**=देशविरत (किसी अंश में प्राणातिपातादि पाप से निवृत्त और किसी अंश में अनिवृत्त।)

प्रत्याख्यान-ज्ञानसूत्र का आशय—प्रत्याख्यानादि तीनों का सम्यग्ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस जीव में सम्यग्दर्शन हो। इसलिए नारक, चारों निकाय के देव, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य, इन १६ दण्डकों के समनस्क-संज्ञी एवं सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय जीव ही ज्ञपरिज्ञा से प्रत्याख्यानादि तीनों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं, शेष अमनस्क-असंज्ञी एवं मिथ्यादृष्टि (पंचेन्द्रिय मिथ्यात्वी, एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय) प्रत्याख्यानादि तीनों को नहीं जानते। यही इस सूत्र का आशय है।

प्रत्याख्यानकरणसूत्र का आशय—प्रत्याख्यान तभी होता है, जबकि वह किया—स्वीकार किया जाता है। सच्चे अर्थों में प्रत्याख्यान या प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान वही करता है, जो प्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान को जानता हो। शेष जीव तो अप्रत्याख्यान ही करते हैं। यह इस सूत्र का आशय है।

प्रत्याख्यानादि निर्वर्तित आयुष्यबन्ध का आशय—प्रत्याख्यान आदि से आयुष्य बांधे हुए को प्रत्याख्यानादि-निर्वर्तित आयुष्यबन्ध कहते हैं। प्रत्याख्यानादि तीनों आयुष्यबन्ध में कारण होते हैं। वैसे तो जीव और वैमानिक देवों में प्रत्याख्यानादि तीनों वाले जीवों की उत्पत्ति होती है। किन्तु प्रत्याख्यान वाले जीवों की उत्पत्ति प्रायः वैमानिकों में, एवं अप्रत्याख्यानी अविरत जीवों की उत्पत्ति प्रायः नैरयिक आदि में होती है।[1]

प्रत्याख्यानादि से सम्बन्धित संग्रहणी गाथा—

२५. गाथा—

पच्चक्खाणं १ जाणइ २ कुव्वति ३ तेणेव आउनिव्वत्ती ४।
सपदेसुद्देसम्मि य एमेए दंडगा चउरो ॥२॥

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ छट्ठे सए : चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[२५ गाथार्थ-] प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का जानना, करना, तीनों का (जानना, करना), तथा आयुष्य की निर्वृत्ति, इस प्रकार ये चार दण्डक सप्रदेश (नामक चतुर्थ) उद्देशक में कहे गए हैं।

॥ छठा शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति. पत्रांक २६६-२६७
(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन भा. २, पृ. ९९७-९९९

पंचमो उद्देसओ : 'तमुए'

पंचम उद्देशक : तमस्काय

तमस्काय के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से प्रश्नोत्तर—

१. [१] किमियं भंते ! तमुक्काए त्ति पवुच्चइ ? किं पुढवी तमुक्काए त्ति पवुच्चति, आऊ तमुक्काए त्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! नो पुढवी तमुक्काए त्ति पवुच्चति, आऊ तमुक्काए त्ति पवुच्चति ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! 'तमस्काय' किसे कहा जाता है ? क्या 'तमस्काय' पृथ्वी को कहते हैं या पानी को ?

[१-१ उ.] गौतम ! पृथ्वी तमस्काय नहीं कहलाती, किन्तु पानी 'तमस्काय' कहलाता है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! पुढविकाए णं अत्थेगइए सुभे देसं पकासेति, अत्थेगइए देसं नो पकासेइ, से तेणट्ठेणं० ।

[१-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से पृथ्वी तमस्काय नहीं कहलाती, किन्तु पानी तमस्काय कहलाता है ?

[१-२ उ.] गौतम ! कुछ पृथ्वीकाय ऐसा शुभ है, जो देश (अंश या भाग) को प्रकाशित करता है और कुछ पृथ्वीकाय ऐसा है, जो देश (भाग) को प्रकाशित नहीं करता । इस कारण से पृथ्वी तमस्काय नहीं कहलाती, पानी ही तमस्काय कहलाता है ।

२. तमुक्काए णं भंते ! कहिं समुट्ठिए ? कहिं सन्निट्ठिते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवस्स दीवस्स बहिया तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे वीतिवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेतियंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साणि ओगाहित्ता उवरिल्लाओ जलंताओ एकपदेसियाए सेढीए इत्थ णं तमुक्काए समुट्ठिए; सत्तरस एक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उप्पतित्ता तओ पच्छा तिरियं पवित्थरमाणे पवित्थरमाणे सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंदे चत्तारि वि कप्पे आवरित्ताणं उड्ढं पि य णं जाव बंभलोगे कप्पे रिट्ठविमाणपत्थडं संपत्ते, एत्थ णं तमुक्काए सन्निट्ठिते ।

[२ प्र.] भगवन् ! तमस्काय कहाँ से समुत्थित (उत्पन्न—प्रारम्भ) होता है और कहाँ जाकर सन्निष्ठित (स्थित या समाप्त) होता है ?

[२ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के बाहर तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रों को लांघने

के बाद अरुणवर द्वीप की बाहरी वेदिका के अन्त से अरुणोदय समुद्र में ४२,००० योजन अवगाहन करने (जाने) पर वहाँ के ऊपरी जलान्त से एक प्रदेश वाली श्रेणी आती है, यहीं से तमस्काय समुत्थित (उठा—प्रादुर्भूत हुआ) है। वहाँ से १७२१ योजन ऊँचा जाने के बाद तिरछा विस्तृत से विस्तृत होता हुआ, सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र, इन चार देवलोकों (कल्पों) को आवृत (आच्छादित) करके उनसे भी ऊपर पंचम ब्रह्मलोककल्प के रिष्टविमान नामक प्रस्तट (पाथड़े) तक पहुँचा है और यहीं तमस्काय सन्निष्ठित (समाप्त या संस्थित) हुआ है।

३. तमुक्काए णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अहे मल्लगमूलसंठिते, उप्पिं कुक्कुडगपंजरगसंठिए पण्णत्ते।

[३ प्र.] भगवन् ! तमस्काय का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! तमस्काय नीचे तो मल्लक (शराव या सिकोरे) के मूल के आकार का है और ऊपर कुक्कुटपंजरक अर्थात् मुर्गे के पिंजरे के आकार का कहा गया है।

४. तमुक्काए णं भंते केवतियं विक्खंभेणं ? केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडे य। तत्थ णं जे से संखेज्जवित्थडे से णं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं प०। तत्थ णं जे से असंखिज्जवित्थडे से असंक्खेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयण-सहस्साइं परिक्खेवेणं।

[४ प्र.] ! भगवन् ! तमस्काय का विष्कम्भ (विस्तार) और परिक्षेप (घेरा) कितना कहा गया है ?

[४ उ,] गौतम ! तमस्काय दो प्रकार का कहा गया है—एक तो संख्येयविस्तृत और दूसरा असंख्येयविस्तृत। इनमें से जो संख्येय विस्तृत है, उसका विष्कम्भ संख्येय हजार योजन है और परिक्षेप असंख्येय हजार योजन है। जो तमस्काय असंख्येय विस्तृत है, उसका विष्कम्भ असंख्येय हजार योजन है और परिक्षेप भी असंख्येय हजार योजन है।

५. तमुक्काए णं भंते ! केमहालए प० ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे २ जाव[1] परिक्खेवेणं पण्णत्ते। देवे णं महिड्ढीए जाव[2] 'इणामेव इणामेव' त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं[3] तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ताणं

---

१. जाव पद यहाँ इस पाठ का सूचक है—"अयं जंबुद्दीवे णामं दीवे दीव-समुद्दाणं अब्भितरिए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्ला-पूयसंठाणसंठिते, वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिते, वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते, वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिते एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलकं च किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं"। —जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३, जम्बूद्वीपप्रमाण कथन प. १७७५.

२. 'जाव' पद यहाँ—'महज्जुईए महाबले महाजसे महेसक्खे महाणुभागे' इन पदों का सूचक है।

३. अच्छरानिवाएहिं—चुटकी बजाने जितने समय में।

हव्वमागच्छिज्जा। से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए जाव देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे जाव एकाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीतीवएज्जा, अत्थेगइयं तमुक्कायं वीतीवएज्जा, अत्थेगइयं तमुक्कायं नो वीतीवएज्जा। एमहालए णं गोतमा! तमुक्काए पन्नत्ते।

[५ प्र.] भगवन्! तमस्काय कितना बड़ा कहा गया है?

[५ उ.] गौतम! समस्त द्वीप-समुद्रों के सर्वाभ्यन्तर अर्थात्—बीचोंबीच यह जम्बूद्वीप है। यावत् यह एक लाख योजन का लम्बा-चौड़ा है। इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाइस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। कोई महाऋद्धि यावत् महानुभाव वाला देव—'यह चला, यह चला'; यों करके तीन चुटकी बजाए, उतने समय में सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की इक्कीस वार परिक्रमा करके शीघ्र वापस आ जाए, इस प्रकार की उत्कृष्ट और त्वरायुक्त यावत् देव की गति से चलता हुआ देव यावत् एक दिन, दो दिन, तीन दिन चले, यावत् उत्कृष्ट छह महीने तक चले तब जाकर कुछ तमस्काय को उल्लंघन कर पाता है, और कुछ तमस्काय को उल्लंघन नहीं कर पाता। हे गौतम! तमस्काय इतना बड़ा (महालय) कहा गया है।

६. अत्थि णं भंते! तमुकाए गेहा ति वा, गेहावणा ति वा?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[६ प्र.] भगवन्! तमस्काय में गृह (घर) हैं, अथवा गृहापण (दूकानें) हैं?

[६ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

७. अत्थि णं भंते! तमुकाए गामा ति वा जाव सन्निवेसा ति वा?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[७ प्र.] भगवन्! तमस्काय में ग्राम हैं यावत् अथवा सन्निवेश हैं?

[७ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८. [१] अत्थि णं भंते! तमुक्काए ओराला बलाहया संसेयंति, सम्मुच्छंति, वासं वासंति?

हंता, अत्थि।

[८-१ प्र.] भगवन्! क्या तमस्काय में उदार (विशाल) मेघ संस्वेद को प्राप्त होते हैं, सम्मूर्च्छित होते हैं और वर्षा बरसाते हैं?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम! ऐसा है।

[२] तं भंते! किं देवो पकरेति, असुरो पकरेति? नागो पकरेति?

गोयमा! देवो वि पकरेति, असुरो वि पकरेति, णागो वि पकरेति।

[८-२ प्र.] भगवन्! क्या उसे (मेघ-संस्वेदन-सम्मूर्च्छन-वर्षण) देव करता है, असुर करता है या नाग करता है?

[७-२ उ] हाँ, गौतम! (ऐसा) देव भी करता है, असुर भी करता है और नाग भी करता है।

९. [१] अत्थि णं भंते ! तमुकाए वादरे थणियसद्दे, वायरे विज्जुए ?
हंता, अत्थि ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! तमस्काय में क्या वादर स्तनित शब्द (स्थूल मेघगर्जन) है, क्या वादर विद्युत् है ?

[९-१ उ.] हाँ, गौतम ! है ।

[२] तं भंते ! किं देवो पकरेति ३ ?
तिण्णि वि पकरेंति ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! क्या उसे देव करता है, असुर करता है या नाग करता है ?

[९-२ उ.] गौतम ! तीनों ही करते हैं । (अर्थात्—देव भी करता है, असुर भी करता है और नाग भी करता है ।)

१०. अत्थि णं भंते ! तमुकाए वादरे पुढविकाए, वादरे अगणिकाए ?
णो तिणट्ठे समट्ठे, णन्नत्थ विग्गहगतिसमावन्नएणं ।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या तमस्काय में वादर पृथ्वीकाय है और वादर अग्निकाय है ?

[१० उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । वह निषेध विग्रहगतिसमापन्न के सिवाय समझना । (अर्थात्—विग्रहगतिसमापन्न वादर पृथ्वी और वादर अग्नि हो सकती है ।)

११. अत्थि णं भंते ! तमुकाए चंदिम-सूरिय-गहगण-णक्खत्त-तारारूवा ?
णो तिणट्ठे समट्ठे, पलिपस्सतो पुण अत्थि ।

[११ प्र.] भगवन् ! क्या तमस्काय में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं ?

[११ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वे (चन्द्रादि) तमस्काय के परिपार्श्व में (आसपास) हैं भी ।

१२. अत्थि णं भंते ! तमुकाए चंदाभा ति वा, सूराभा ति वा ?
णो तिणट्ठे समट्ठे, कादूसणिया पुण सा ।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या तमस्काय में चन्द्रमा की आभा (प्रभा) या सूर्य की आभा है ?

[१२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है; किन्तु तमस्काय में (जो प्रभा है, वह) कादूषणिका (अपनी आत्मा को दूषित करने वाली) है ।

१३. तमुक्काए णं भंते ! केरिसए वण्णेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! काले कालोभासे गंभीरलोमहरिसजणणे भीमे उत्तासणए परमकिण्हे वण्णेणं पण्णत्ते । देवे वि णं अत्थेगतिए जे णं तप्पढमताए पासित्ता णं खुभाएज्जा, अहे णं अभिसमागच्छेज्जा, ततो पच्छा सीहं सीहं तुरियं तुरियं खिप्पामेव वीतीवएज्जा ।

[१३ प्र.] भगवन् ! तमस्काय वर्ण से कैसा है ?

[१३ उ.] गौतम ! तमस्काय वर्ण से काला, काली कान्ति वाला, गम्भीर (गहरा), रोमहर्षक (रोंगटे खड़े करने वाला), भीम (भयंकर), उत्त्रासजनक और परमकृष्ण कहा गया है ।

कोई देव भी उस तमस्काय को देखते ही सर्वप्रथम तो क्षुब्ध हो जाता है। कदाचित् कोई देव तमस्काय में अभिसमागम (प्रवेश) करे भी तो प्रवेश करने के पश्चात् वह शीघ्राति-शीघ्र त्वरित गति से झटपट उसे पार (उल्लंघन) कर जाता है।

१४. तमुकायस्स णं भंते ! कति नामधेज्जा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तेरस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तमे ति वा, तमुकाए ति वा, अंधकारे इ वा, महंधकारे इ वा, लोगंधकारे इ वा, लोगतमिस्से इ वा, देवंधकारे ति वा, देवंतमिस्से ति वा, देवारण्णे ति वा, देववूहे ति वा, देवफलिहे ति वा, देवपडिक्खोभे ति वा, अरुणोदए ति वा समुद्दे।

[१४ प्र.] भगवन् ! तमस्काय के कितने नाम (नामधेय) कहे गए हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! तमस्काय के तेरह नाम कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) तम, (२) तमस्काय, (३) अन्धकार, (४) महान्धकार, (५) लोकान्धकार, (६) लोकतमिस्र, (७) देवान्धकार, (८) देवतमिस्र, (९) देवारण्य, (१०) देवव्यूह, (११) देवपरिघ, (१२) देवप्रतिक्षोभ (१३) अरुणोदक समुद्र।

१५. तमुकाए णं भंते ! किं पुढविपरिणामे आउपरिणामे जीवपरिणामे पोग्गलपरिणामे ?

गोयमा ! नो पुढविपरिणामे, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पोग्गलपरिणामे वि।

[१५ प्र.] भगवन् ! क्या तमस्काय पृथ्वी का परिणाम है, जल का परिणाम है, जीव का परिणाम है अथवा पुद्गल का परिणाम है ?

[१५ उ.] गौतम ! तमस्काय पृथ्वी का परिणाम नहीं है, किन्तु जल का परिणाम है, जीव का परिणाम भी है और पुद्गल का परिणाम भी है।

१६. तमुकाए णं भंते ! सव्वे पाणा भूता जीवा सत्ता पुढविकाइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, णो चेव णं बादरपुढविकाइयत्ताए वा, बादरअगणिकाइयत्ताए वा।

[१६ प्र.] भगवन् ! क्या तमस्काय में सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व-पृथ्वीकायिक रूप में यावत् त्रसकायिक रूप में पहले उत्पन्न हो चुके हैं ?

[१६ उ] हाँ, गौतम ! (सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, तमस्काय में) अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुके हैं; किन्तु बादर पृथ्वीकायिक रूप में या बादर अग्निकायिक रूप में उत्पन्न नहीं हुए हैं।

विवेचन—तमस्काय के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत १६ सूत्रों (सू. १ से १६ तक) में विभिन्न पहलुओं से तमस्काय के सम्बन्ध में प्रश्न उठा कर उनका समाधान किया गया है।

तमस्काय की संक्षिप्त रूपरेखा—तमस्काय का अर्थ है—अन्धकारमय पुद्गलों का समूह। तमस्काय पृथ्वीरज:स्कन्धरूप नहीं, किन्तु उदकरज:स्कन्धरूप है। क्योंकि जल अप्रकाशक होता है, और तमस्काय भी अप्रकाशक है। दोनों (अप्काय और तमस्काय) का समान स्वभाव होने से तमस्काय का परिणामी कारण अप्काय ही हो सकता है, क्योंकि वह अप्काय का ही परिणाम है। तमस्काय एकप्रदेशश्रेणीरूप है, इसका अर्थ यही है कि वह समभित्ति वाली श्रेणीरूप है। एक

आकाश-प्रदेश की श्रेणीरूप नहीं। फिर तमस्काय का संस्थान मिट्टी के सकोरे के (मूल का) आकार-सा या ऊपर मुर्गे के पिंजरे-सा है। वह दो प्रकार का है—संख्येय विस्तृत और असंख्येय विस्तृत। पहला जलान्त से प्रारम्भ होकर संख्येय योजन तक फैला हुआ है, दूसरा असंख्येय योजन तक विस्तृत और असंख्येय द्वीपों को घेरे हुए है। तमस्काय इतना अत्यधिक विस्तृत है कि कोई देव ६ महीने तक अपनी उत्कृष्ट शीघ्र दिव्यगति से चले तो भी वह संख्येय योजन विस्तृत तमस्काय तक पहुँचता है, असंख्येय योजन विस्तृत तमस्काय तक पहुँचना बाकी रह जाता है।

तमस्काय में न तो घर है, और न गृहापण है और न ही ग्राम, नगर, सन्निवेशादि हैं, किन्तु वहाँ बड़े-बड़े मेघ उठते हैं, उमड़ते हैं, गर्जते हैं, बरसते हैं। बिजली भी चमकती है। देव, असुर या नागकुमार ये सब कार्य करते हैं। विग्रहगतिसमापन्न बादर पृथ्वी या अग्नि को छोड़ कर तमस्काय में न बादर पृथ्वीकाय है, न बादर अग्निकाय। तमस्काय में चन्द्र-सूर्यादि नहीं हैं, किन्तु उसके आस-पास में हैं, उनकी प्रभा तमस्काय में पड़ती भी है, किन्तु तमस्काय के परिणाम से परिणत हो जाने के कारण नहीं-जैसी है। तमस्काय काला, भयंकर काला और रोमहर्षक तथा त्रासजनक है। देवता भी उसे देखकर घबरा जाते हैं। यदि कोई देव साहस करके उसमें घुस भी जाए तो भी वह भय के मारे कायगति से अत्यन्त तेजी से और मनोगति से अतिशीघ्र बाहर निकल जाता है। तमस्काय के तम आदि तेरह सार्थक नाम हैं। तमस्काय पानी, जीव और पुद्गलों का परिणाम है, जलरूप होने के कारण वहाँ बादर वायु, वनस्पति और त्रसजीव उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य जीवों का स्वस्थान न होने के उन की उत्पत्ति तमस्काय में सम्भव नहीं है।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—बलाहया संसेयंति सम्मुच्छंति, वासं वासंति=महामेघ संस्वेद को प्राप्त होते हैं, अर्थात्—तज्जनित पुद्गलों के स्नेह से सम्मूर्च्छित होते (उठते-उमड़ते) हैं, क्योंकि मेघ के पुद्गलों के मिलने से ही उनकी तदाकाररूप से उत्पत्ति होती है, और फिर वर्षा होती है। **'बादर विद्युत्'** यहाँ तेजस्कायिक नहीं है, अपितु देव के प्रभाव से उत्पन्न भास्वर (दीप्तिमान्) पुद्गलों का समूह है। **पलिपस्सतो**=परिपार्श्व में—आसपास में। **उत्तासणए**=उग्र त्रास देने वाला। **खुभाएज्जा**=क्षुब्ध हो जाता है, घबरा जाता है। **अभिसमागच्छेज्जा**=प्रवेश करता है। **उववण्णपुव्वा**=पहले उत्पन्न हो चुके। **असइं अदुवा अणंतखुत्तो**=अनेक बार अथवा अनन्त बार। **देववूहे**=चक्रव्यूहवत् देवों के लिए भी दुर्भेद्य व्यूहसम। **देवपरिघ**=देवों के गमन में बाधक परिघ-परिखा की तरह।[2]

विविध पहलुओं से कृष्णराजियों से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१७. कति णं भंते! कण्हराईओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ।

[१७ प्र.] भगवन्! कृष्णराजियाँ कितनी कही गई हैं?

[१७ उ.] गौतम! कृष्णराजियाँ आठ हैं।

१८. कहि णं भंते! एयाओ अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २६८ से २७० तक

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि) भा. १, पृ. २४७ से २५० तक

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २६८ से २७० तक

गोयमा ! उप्पि सणंकुमार-माहिंदाणं कप्पाणं, हव्विं[1] बंभलोगे कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं अक्खाडग-समचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमेणं दो, पच्चत्थिमेणं दो, दाहिणेणं दो, उत्तरेणं दो। पुरत्थिमब्भंतरा कण्हराई दाहिणबाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, दाहिणब्भंतरा कण्हराई पच्चत्थिमबाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, पच्चत्थिमब्भंतरा कण्हराई उत्तरबाहिरं कण्हराइं पुट्ठा, उत्तरऽब्भंतरा कण्हराई पुरत्थिमबाहिरं कण्हराइं पुट्ठा। दो पुरत्थिमपच्चत्थिमाओ बाहिराओ कण्हराईओ छलंसाओ, दो उत्तरदाहिणबाहिराओ कण्हराईओ तंसाओ, दो पुरत्थिमपच्चत्थिमाओ अब्भितराओ कण्हराईओ चउरंसाओ, दो उत्तरदाहिणाओ अब्भितराओ कण्हराईओ चउरंसाओ।

पुव्वावरा छलंसा, तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा।
अब्भंतर चउरंसा सव्वा वि य कण्हराईओ ॥१॥
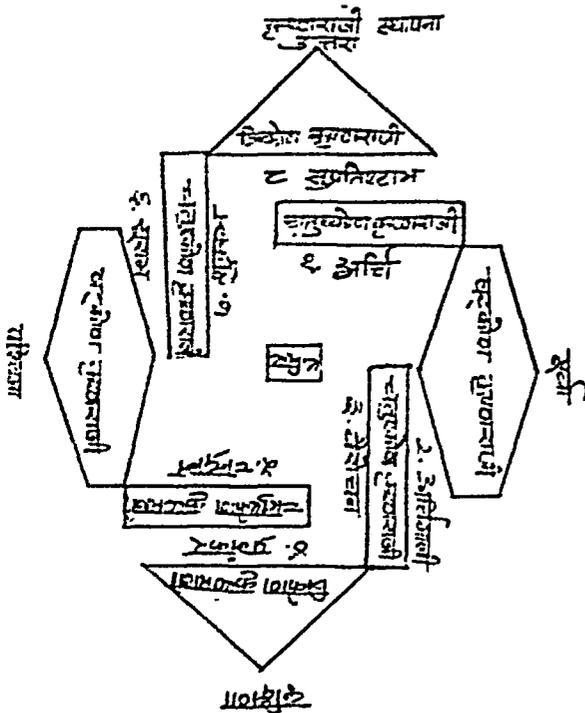
[१८ प्र.] भगवन् ! ये आठ कृष्णराजियाँ कहाँ हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! ऊपर सनत्कुमार (तृतीय) और माहेन्द्र (चतुर्थ) कल्पों (देवलोकों) पर और नीचे ब्रह्मलोक (पंचम) देवलोक के अरिष्ट नामक विमान के (तृतीय) प्रस्तट (पाथड़े) से नीचे, (अर्थात्) इस स्थान में, अखाड़ा (प्रेक्षास्थल) के आकार की समचतुरस्र (समचौरस) संस्थान-वाली आठ कृष्णराजियाँ हैं। यथा—पूर्व में दो, पश्चिम में दो, दक्षिण में दो और उत्तर में दो। पूर्वाभ्यन्तर अर्थात्—पूर्वदिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण दिशा की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श की (सटी) हुई है। दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि ने पश्चिम दिशा की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किया हुआ है। पश्चिम दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि ने उत्तर दिशा की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किया हुआ है, और उत्तर दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजि पूर्वदिशा की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श की हुई हैं। पूर्व और पश्चिम दिशा की दो बाह्य कृष्णराजियाँ षडंश (षट्कोण) हैं, उत्तर और दक्षिण की दो बाह्य कृष्णराजियाँ त्र्यस्र (त्रिकोण) हैं; पूर्व और पश्चिम की दो आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ चतुरस्र (चतुष्कोण-चौकोन) हैं, इसी प्रकार उत्तर और दक्षिण की दो आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ भी चतुष्कोण हैं।

[गाथार्थ—] "पूर्व और पश्चिम की कृष्णराजि षट्कोण हैं, तथा दक्षिण और उत्तर की बाह्य कृष्णराजि त्रिकोण हैं। शेष सभी आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ चतुष्कोण हैं।"

---

१. हव्विं का स्पष्ट अर्थ है—नीचे। कुछ प्रतियों में परिवर्तित पाठ 'हट्ठिं' 'हेट्ठिं' भी मिलता है।

१६. कण्हराईओ णं भंते ! केवतियं आयामेणं, केवतियं विक्खंभेणं, केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ।

[१९ प्र.] भगवन् ! कृष्णराजियों का आयाम (लम्बाई), विष्कम्भ (विस्तार-चौड़ाई) और परिक्षेप (घेरा=परिधि) कितना है ?

[१९ उ.] गौतम ! कृष्णराजियों का आयाम असंख्येय हजार योजन है, विष्कम्भ संख्येय हजार योजन है और परिक्षेप असंख्येय हजार योजन कहा गया है ।

२०. कण्हराईओ णं भंते ! केमहालियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे जाव अद्धमासं वीतीवएज्जा । अत्थेगतियं कण्हराइं वीतीवएज्जा, अत्थेगइयं कण्हराइं णो वीतीवएज्जा । एमहालियाओ णं गोयमा ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ ।

[२० प्र.] भगवन् ! कृष्णराजियाँ कितनी बड़ी कही गई हैं ?

[२० उ.] गौतम ! तीन चुटकी बजाए, उतने समय में इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की इक्कीस बार परिक्रमा करके आ जाए—इतनी शीघ्र दिव्यगति से कोई देव लगातार एक दिन, दो दिन, यावत् अर्द्धमास तक चले, तब कहीं वह देव किसी कृष्णराजि को पार कर पाता है, और किसी कृष्णराजि को पार नहीं कर पाता । हे गौतम ! कृष्णराजियाँ इतनी बड़ी हैं ।

२१. अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु गेहा ति वा, गेहावणा ति वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में गृह हैं अथवा गृहापण हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है ।

२२. अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु गामा ति वा० ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में ग्राम आदि हैं ?

[२२ उ.] (गौतम !) यह अर्थ समर्थ नहीं है । (अर्थात्—कृष्णराजियों में ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश नहीं हैं ।)

२३. [१] अत्थि णं भंते ! कण्ह० ओराला बलाहया सम्मुच्छंति ३ ?

हंता, अत्थि ।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में उदार (विशाल) महामेघ संस्वेद को प्राप्त होते हैं, सम्मूर्छित होते हैं और वर्षा बरसाते हैं ?

[२३-१ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णराजियों में ऐसा होता है ।

[२] तं भंते ! किं देवो पकरेति ३ ?

गोयमा ! देवो पकरेति, नो असुरो, नो नागो य।

[२३-२ प्र.] भगवन् ! क्या इन सबको देव करता है, असुर (कुमार) करता है अथवा नाग (कुमार) करता है ?

[२३-२ उ.] गौतम ! (वहाँ यह सब) देव ही करता है, किन्तु न असुर (कुमार) करता है और न नाग (कुमार) करता है।

२४. अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु बादरे थणियसद्दे ?

जहा ओराला (सु. २३) तहा।

[२४ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में बादर स्तनितशब्द है ?

[२४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार से उदार मेघों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार इनका भी कथन करना चाहिए। (अर्थात्—कृष्णराजियों में बादर स्तनितशब्द है और उसे देव करता है, किन्तु असुरकुमार या नागकुमार नहीं करता।)

२५. अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु बादरे आउकाए बादरे अगणिकाए बायरे वणप्फतिकाए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ विग्गहगतिसमावन्नएणं।

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में बादर अप्काय, बादर अग्निकाय और बादर वनस्पतिकाय हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। यह निषेध विग्रहगतिसमापन्न जीवों के सिवाय दूसरे जीवों के लिये है।

२६. अत्थि णं भंते ! ० चंदिमसूरिय० ४ प० ?

णो इण०।

[२६ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं ?

[२६ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—ये वहाँ नहीं हैं।)

२७. अत्थि णं कण्ह० चंदाभा ति वा २ ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[२७ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में चन्द्र की कान्ति या सूर्य की कान्ति (आभा) है ?

[२७ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

२८. कण्हराईओ णं भंते ! केरिसियाओ वण्णेणं पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! कालाओ जाव[1] खिप्पामेव वीतीवएज्जा।

[२८ प्र.] भगवन् ! कृष्णराजियों का वर्ण कैसा है ?

---

१. 'जाव' पद यहाँ सू. १३ के निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'कालावभासाओ गंभीरलोमहरिसजणणाओ भीमाओ उत्तासणाओ परमकिण्हाओ वण्णेणं पण्णत्ताओ, देवे वि अत्थेगतिए जे णं तप्पढमयाए पासित्ताणं खुभाएज्जा, अहे णं अभिसमागच्छेज्जा, तओ पच्छा सीहं सीहं तुरियं तुरियं तत्थ खिप्पामेव वीतीवएज्जा।'

[२८ उ.] गौतम ! कृष्णराजियों का वर्ण काला है, यह काली कान्ति वाली है, यावत् परमकृष्ण (एकदम काला) है। तमस्काय की तरह अतीव भयंकर होने से इसे देखते ही देव क्षुब्ध हो जाता है; यावत् अगर कोई देव (साहस करके इनमें प्रविष्ट हो जाए, तो भी वह) शीघ्रगति से झटपट इसे पार कर जाता है।

२९. कण्हराईणं भंते ! कति नामधेज्जा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठ नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—कण्हराई ति वा, मेहराई ति वा, मघा इ वा, माघवती ति वा, वातफलिहे ति वा, वातपलिक्खोभे इ वा, देवफलिहे इ वा, देवपलिक्खोभे ति वा।

[२९ प्र] भगवन् ! कृष्णराजियों के कितने नाम कहे गए हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! कृष्णराजियों के आठ नाम कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) कृष्णराजि, (२) मेघराजि, (३) मघा, (४) माघवती, (५) वातपरिघा, (६) वातपरिक्षोभा, (७) देवपरिघा और (८) देवपरिक्षोभा।

३०. कण्हराईओ णं भंते ! किं पुढविपरिणामाओ, आउपरिणामाओ, जीवपरिणामाओ, पुग्गलपरिणामाओ ?

गोयमा ! पुढविपरिणामाओ, नो आउपरिणामाओ, जीवपरिणामाओ वि, पुग्गल-परिणामाओ वि।

[३० प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियाँ पृथ्वी के परिणामरूप हैं, जल के परिणामरूप हैं, या जीव के परिणामरूप हैं, अथवा पुद्गलों के परिणामरूप हैं ?

[३० उ.] गौतम ! कृष्णराजियाँ पृथ्वी के परिणामरूप हैं, किन्तु जल के परिणामरूप नहीं हैं, वे जीव के परिणामरूप भी हैं और पुद्गलों के परिणामरूप भी हैं।

३१. कण्हराईसु णं भंते ! सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो, नो चेव णं बादरआउकाइयत्ताए, बादरअगणिकाइयत्ताए, बादरवणस्सतिकाइयत्ताए वा।

[३१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णराजियों में सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पहले उत्पन्न हो चुके हैं ?

[३१ उ.] हाँ, गौतम ! सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व कृष्णराजियों में अनेक वार अथवा अनन्त वार उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु बादर अप्कायरूप से, बादर अग्निकायरूप से और बादर वनस्पतिकायरूप से उत्पन्न नहीं हुए हैं।

विवेचन—विभिन्न पहलुओं से कृष्णराजियों से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत पन्द्रह सूत्रों (सू. १७ से ३१ तक) में तमस्काय की तरह कृष्णराजियों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्न उठाकर उनके समाधान प्रस्तुत कर दिये गए हैं।

तमस्काय और कृष्णराजि के प्रश्नोत्तरों में कहाँ सादृश्य, कहाँ अन्तर ?—तमस्काय और

कृष्णराजि के प्रश्नों में लगभग सादृश्य है, किन्तु उनके उत्तरों में तमस्कायसम्वन्धी उत्तरों से कहीं-कहीं अन्तर है। यथा—कृष्णराजियाँ ८ वताई गई हैं। इनके संस्थान में अन्तर है। इनका आयाम और परिक्षेप असंख्येय हजार योजन है, जवकि विष्कम्भ (चौड़ाई=विस्तार) संख्येय हजार योजन है। ये तमस्काय से विशालता में कम हैं, किन्तु इनकी भयंकरता तमस्काय जितनी ही है।

कृष्णराजियों में ग्रामादि या गृहादि नहीं हैं। वहाँ वड़े-वड़े मेघ हैं, जिन्हें देव वनाते हैं, गर्जाते व वरसाते हैं। वहाँ विग्रहगतिसमापन्न वादर अप्काय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय के सिवाय कोई वादर अप्काय, अग्निकाय या वनस्पतिकाय नहीं है। वहाँ न तो चन्द्रादि हैं, और न चन्द्र, सूर्य की प्रभा है। कृष्णराजियों का वर्ण तमस्काय के सदृश ही गाढ़ काला एवं अन्धकारपूर्ण है। कृष्णराजियों के ८ सार्थक नाम हैं। वास्तव में, ये कृष्णराजियाँ अप्काय के परिणामरूप नहीं हैं, किन्तु सचित्त और अचित्त पृथ्वी के परिणामरूप हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि ये जीव और पुद्गल, दोनों के विकाररूप हैं। वादर अप्काय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय को छोड़कर अन्य सव जीव एक वार ही नहीं, अनेक वार और अनन्त वार कृष्णराजियों में उत्पन्न हो चुके हैं।[1]

कृष्णराजियों के आठ नामों की व्याख्या—कृष्णराजि=काले वर्ण की पृथ्वी और पुद्गलों के परिणामरूप होने से काले पुद्गलों की राजि=रेखा। **मेघराजि**=काले मेघ की रेखा के सदृश। **मघा**=छठी नरक के समान अन्धकार वाली। **माघवती**=सातवीं नरक के समान गाढान्धकार वाली। **वातपरिघा**=आंधी के समान सघन अन्धकार वाली और दुर्लंघ्य। **वातपरिक्षोभा**=आंधी के समान अन्धकार वाली और क्षोभजनक। **देवपरिघा**=देवों के लिए दुर्लंघ्य। **देवपरिक्षोभा**=देवों के लिए क्षोभजनक।[2]

लोकान्तिक देवों से सम्वन्धित विमान, देव-स्वामी, परिवार, संस्थान, स्थिति, दूरी आदि का विचार—

३२. एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु ओवासंतरेसु अट्ठ लोगंतियविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—अच्ची अच्चिमाली वइरोयणे पभंकरे चंदाभे सूराभे सुक्काभे सुपतिट्ठाभे, मज्झे रिट्ठाभे।

[३२] इन (पूर्वोक्त) आठ कृष्णराजियों के आठ अवकाशान्तरों में आठ लोकान्तिक विमान हैं। यथा—(१) अर्चि, (२) अर्चिमाली, (३) वैरोचन, (४) प्रभंकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, और (८) सुप्रतिष्ठाभ। इन सवके मध्य में रिष्टाभ विमान है।

३३. कहि णं भंते ! अच्ची विमाणे प० ?

गोयमा ! उत्तरपुरत्थिमेणं।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भाग १, पृ. २५१ से २५३
(ख) भगवती अ. वृत्ति पत्रांक २७१

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७१

[३३ प्र.] भगवन् ! अर्चि विमान कहाँ है ?

[३३ उ.] गौतम ! अर्चि विमान उत्तर और पूर्व के बीच में है।

३४. कहि णं भंते ! अच्चिमाली विमाणे प० ?

गोयमा ! पुरत्थिमेणं।

[३४ प्र.] भगवन् ! अर्चिमाली विमान कहाँ है ?

[३४ उ.] गौतम ! अर्चिमाली विमान पूर्व में है।

३५. एवं परिवाडीए नेयव्वं जाव[1] कहि णं भंते ! रिट्ठे विमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! बहुमज्झदेसभागे।

[३५ प्र.] इसी क्रम (परिपाटी) से सभी विमानों के विषय में जानना चाहिए। यावत्—हे भगवन् ! रिष्ट विमान कहाँ बताया गया है ?

[३५ उ.] गौतम ! रिष्ट विमान बहुमध्यभाग (सबके मध्य) में बताया गया है।

३६. एतेसु णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा परिवसंति, तं जहा—

सारस्सयमातिच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥२॥

[३६] इन आठ लोकान्तिक विमानों में अष्टविध (आठ जाति के) लोकान्तिक देव निवास करते हैं। वे (आठ प्रकार के लोकान्तिक देव) इस प्रकार हैं—(१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वह्नि, (४) वरुण, (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) आग्नेय और (८) रिष्ट देव (बीच में)।

३७. कहि णं भंते ! सारस्सता देवा परिवसंति ?

गोयमा ! अच्चिम्मि विमाणे परिवसंति।

[३७ प्र.] भगवन् ! सारस्वत देव कहाँ रहते हैं ?

[३७ उ.] गौतम ! सारस्वत देव अर्चि विमान में रहते हैं।

३८. कहि णं भंते ! आदिच्चा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! अच्चिमालिम्मि विमाणे०।

[३८ प्र.] भगवन् ! आदित्य देव कहाँ रहते हैं ?

[३८ उ.] गौतम ! आदित्य देव अर्चिमाली विमान में रहते हैं।

३९. एवं नेयव्वं जहाणुपुव्वीए जाव कहि णं भंते ! रिट्ठा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! रिट्ठम्मि विमाणे।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ वैरोचन से लेकर सुप्रतिष्ठाभ विमान तक की वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए।

[३९ प्र.] इस प्रकार अनुक्रम से यावत् रिष्ट विमान तक जान लेना चाहिए कि भगवन् ! रिष्ट देव कहाँ रहते हैं ?

[३९ उ.] गौतम ! रिष्ट देव रिष्ट विमान में रहते हैं।

४०. [१] **सारस्सय-मादिच्चाणं भंते ! देवाणं कति देवा, कति देवसता पण्णत्ता ?**

गोयमा ! सत्त देवा, सत्त देवसया परिवारो पण्णत्तो।

[४०-१ प्र.] भगवन् ! सारस्वत और आदित्य, इन दो देवों के कितने देव हैं और कितने सौ देवों का परिवार कहा गया है ?

[४०-१ उ.] गौतम ! सारस्वत और आदित्य, इन दो देवों के सात देव (स्वामी=अधिपति) हैं और इनके ७०० देवों का परिवार है।

[२] **वण्ही-वरुणाणं देवाणं चउद्दस देवा, चउद्दस देवसहस्सा परिवारो पण्णत्तो।**

[४०-२] वह्नि और अरुण, इन दो देवों के १४ देव स्वामी और १४ हजार देवों का परिवार कहा गया है।

[३] **गद्दतोय-तुसियाणं देवाणं सत्त देवा, सत्त देवसहस्सा परिवारो पण्णत्तो।**

[४०-३] गर्दतोय और तुपित देवों के ७ देव स्वामी और ७ हजार देवों का परिवार कहा गया है।

[४] **अवसेसाणं नव देवा, नव देवसया परिवारो पण्णत्ता।**

पढमजुगलम्मि सत्त उ सयाणि बीयम्मि चोद्दस सहस्सा।
ततिए सत्त सहस्सा नव चेव सयाणि सेसेसु ॥३॥

[४०-४] शेप (अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट, इन) तीनों देवों के नौ देव स्वामी और ९०० देवों का परिवार कहा गया है।

(गाथार्थ—) प्रथम युगल में ७००, दूसरे युगल में १४,००० देवों का परिवार, तीसरे युगल में ७,००० देवों का परिवार और शेप तीन देवों के ९०० देवों का परिवार है।

४१. [१] **लोगंतिगविमाणा णं भंते ! किंपतिट्ठिता पण्णत्ता ?**

गोयमा ! वाउपतिट्ठिया पण्णत्ता।

[४१-१ प्र.] भगवन् ! लोकान्तिकविमान किसके आधार पर रहे हुए (प्रतिष्ठित) हैं ?

[४१-१ उ.] गौतम ! लोकान्तिकविमान, वायुप्रतिष्ठित (वायु के आधार पर रहे हुए) हैं।

[२] **एवं नेयव्वं—'विमाणाणं पतिट्ठाणं बाहल्लुच्चत्तमेव संठाणं'। बंभलोयवत्तव्वया नेयव्वा जाव हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो, नो चेव णं देवत्ताए।**

[४१-२] इस प्रकार—जिस तरह विमानों का प्रतिष्ठान, विमानों का बाहल्य, विमानों की ऊँचाई और विमानों के संस्थान आदि का वर्णन; जीवाभिगमसूत्र के देव-उद्देशक में ब्रह्मलोक की वक्तव्यता में कहा है, तदनुसार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत्—हाँ, गौतम ! सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व यहाँ अनेक बार और अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु लोकान्तिकविमानों में देवरूप में उत्पन्न नहीं हुए।

४२. लोगंतिगविमाणेसु लोगंतियदेवाणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठ सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

[४२ प्र.] भगवन् ! लोकान्तिकविमानों में कितने काल की स्थिति कही गई है ?

[४२ उ.] गौतम ! लोकान्तिकविमानों में आठ सागरोपम की स्थिति कही गई है।

२३. लोगंतिगविमाणेहिं णं भंते ! केवतियं अबाहाए लोगंते पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं अबाहाए लोगंते पण्णत्ते।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छट्ठ सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[४३ प्र.] भगवन् ! लोकान्तिकविमानों से लोकान्त कितना दूर है ?

[४३. उ.] गौतम ! लोकान्तिकविमानों से असंख्येय हजार योजन दूर लोकान्त कहा गया है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है;' इस प्रकार कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—लोकान्तिक देवों से सम्बन्धित विमान, देवस्वामी, परिवार, संस्थान, स्थिति, दूरी आदि का वर्णन—प्रस्तुत बारह सूत्रों (सू. ३२ से ४३ तक) में लोकान्तिक देवों से सम्बन्धित विमानादि का वर्णन किया गया है।

विमानों का अवस्थान—पूर्व विवेचन में लोकान्तिक देवों के विमानों के अवस्थान का रेखाचित्र दिया गया है।

लोकान्तिक देवों का स्वरूप—ये देव ब्रह्मलोक नामक पंचम देवलोक के पास रहते हैं, इसलिए इन्हें लोकान्तिक कहते हैं। अथवा ये उदयभावरूप लोक के अन्त (करने में) रहे हुए हैं, क्योंकि ये सब स्वामी देव एकभवावतारी (एक भव के पश्चात् मोक्षगामी) होते हैं, इसलिए भी इन्हें लोकान्तिक कहते हैं। लोकान्तिक विमानों से असंख्यात योजन दूरी पर लोक का अन्त है और सभी जीव लोकान्तिक विमानों में पृथ्वीकायादि रूप में अनेक बार, यहाँ तक कि अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु देवरूप से तो वहाँ एक बार ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि लोकान्तिक विमानों में देवरूप से उत्पन्न

होने वाले जीव नियमतः भव्य होते हैं और एक भवपश्चात् मोक्षगामी होते हैं। इसलिए देवरूप से यहाँ अनेक बार या अनन्त बार उत्पन्न नहीं हुए।[1]

लोकान्तिक विमानों का संक्षिप्त निरूपण—जीवाभिगमसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार इनके विमान वायुप्रतिष्ठित हैं। इनका वाहल्य (मोटाई) २५०० योजन व ऊँचाई ७०० योजन होती है। जो विमान आवलिकाप्रविष्ट होते हैं, वे वृत्त (गोल) त्र्यंस (त्रिकोण), या चतुरस्र (चतुष्कोण) होते हैं, किन्तु ये विमान आवलिकाप्रविष्ट नहीं होते, इसलिए इनका आकार नाना प्रकार का होता है। इन विमानों का वर्ण लाल, पीला और श्वेत होता है, ये प्रकाशयुक्त, दृष्ट वर्ण-गन्धयुक्त, एवं सर्वरत्नमय होते हैं। इन विमानों के निवासी देव समचतुरस्र-संस्थानवाले, पद्मलेश्यायुक्त एवं सम्यग्दृष्टि होते हैं।[2]

॥ छठा शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७२

२. (क) जीवाभिगमसूत्र द्वितीय वैमानिक उद्देशक, पृ. ३९४ से ४०६ तक (दे. ला.)

(ख) प्रज्ञापनासूत्र दूसरा स्थानपद, ब्रह्मलोकदेवस्थानाधिकार, पृ. १०३ (आ. स.)

(ग) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७२

छट्ठो उद्देसओ : 'भविए'

छठा उद्देशक : भव्य

चौबीस दण्डकों के आवास, विमान आदि की संख्या का निरूपण—

१. [१] कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा जाव[1] तमतमा ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! पृथ्वियाँ सात कही गई हैं। यथा—रत्नप्रभा यावत् [शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा] तमस्तमःप्रभा ।

[२] रयणप्पभादीणं आवासा भाणियव्वा जाव[2] अहेसत्तमाए । एवं जे जत्तिया आवासा ते भाणियव्वा ।

[१-२] रत्नप्रभा पृथ्वी से लेकर यावत् अधःसप्तमी (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी तक, जिस पृथ्वी के जितने आवास हों, उतने कहने चाहिए ।

२. जाव[3] कति णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—विजए जाव सव्वट्ठसिद्धे ।

[२ प्र.] भगवन् ! यावत् (भवनवासी से लेकर अनुत्तरविमान तक) अनुत्तर विमान कितने कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! पांच अनुत्तरविमान कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध विमान ।

विवेचन—चौवीस दण्डकों के आवास, विमान आदि की संख्या का निरूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय में से प्रथम सूत्र में नरकपृथ्वियों की संख्या तथा उस-उस पृथ्वी के आवासों की संख्या का अतिदेश-पूर्वक निरूपण किया गया है। द्वितीय सूत्र में अध्याहृतरूप में भवनवासी से लेकर नौ ग्रैवेयक तक के आवासों व विमानों की संख्या का तथा प्रकटरूप में अनुत्तरविमानों की संख्या का निरूपण किया गया है।[4]

---

१. यहां 'जाव' पद सक्करप्पभा इत्यादि शेष पृथ्वियों तक का सूचक है।

२. यहाँ भी 'जाव' पद रत्नप्रभा से लेकर सप्तम पृथ्वी (तमस्तमःप्रभा) तक का सूचक है।

३. यहाँ 'जाव' पद से 'भवनवासी' से अनुत्तरविमान से पूर्व तक का उल्लेख समझना चाहिए।

४. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २५६

चौवीस दण्डकों के समुद्घात-समवहत जीव की आहारादि प्ररूपणा—

३. [१] जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहते, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु अन्नतरंसि निरयावासंसि नेरइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! तत्थगते चेव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए तत्थगते चेव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्ज, अत्थेगइए ततो पडिनियत्तति, इहमागच्छति, आगच्छित्ता दोच्चं पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणति, समोहणित्ता इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि निरयावासंसि नेरइयत्ताए उववज्जित्ता ततो पच्छा आहारेज्ज वा परिणामेज्ज वा सरीरं वा बंधेज्जा ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! जो जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ है और समवहत हो कर इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से किसी एक नारकावास में नैरयिक रूप में उत्पन्न होने के योग्य है, भगवन् ! क्या वह वहाँ जा कर आहार करता है ? आहार को परिणमाता है ? और शरीर बांधता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! कोई जीव वहाँ जा कर ही आहार करता है, आहार को परिणमाता है या शरीर बांधता है; और कोई जीव वहाँ जा कर वापस लौटता है, वापस लौट कर यहाँ आता है। यहाँ आ कर वह फिर दूसरी बार मारणान्तिक समुद्घात द्वारा समवहत होता है। समवहत हो कर इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से किसी एक नारकावास में नैरयिकरूप से उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् आहार ग्रहण करता है, परिणमाता है और शरीर बांधता है।

[२] एवं जाव अहेसत्तमा पुढवी ।

[३-२] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमी (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी तक कहना चाहिए।

४. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए, २ जे भविए चउसट्ठीए असुरकुमारावाससयसहस्सेसु अन्नतरंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारत्ताए उववज्जित्तए० ।

जहा नेरइया तहा भाणियव्वा जाव[1] थणियकुमारा ।

[४ प्र.] भगवन् ! जो जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ है और समवहत हो कर असुरकुमारों के चौसठ लाख आवासों में से किसी एक आवास में उत्पन्न होने के योग्य है; क्या वह जीव वहाँ जा कर ही आहार करता है ? उस आहार को परिणमाता है और शरीर बाँधता है ?

[४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार नैरयिकों के विषय में कहा, उसी प्रकार असुरकुमारों के विषय में, यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

५. [१] जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए, २ जे भविए असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं केवतियं गच्छेज्जा, केवतियं पाउणेज्जा ?

---

१. यहाँ 'जाव' पद से असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार पर्यन्त सभी भवनवासियों के नाम कहने चाहिए।

गोयमा ! लोयंतं गच्छेज्जा, लोयंतं पाउणिज्जा।

[५-१ प्र.] भगवन् ! जो जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ है, और समवहत हो कर असंख्येय लाख पृथ्वीकायिक आवासों में से किसी एक पृथ्वीकायिक आवास में पृथ्वीकायिक रूप से उत्पन्न होने के योग्य है, भगवन् ! वह जीव मंदर (मेरु) पर्वत से पूर्व में कितनी दूर जाता है ? और कितनी दूरी को प्राप्त करता है ?

[५-१ उ.] हे गौतम ! वह लोकान्त तक जाता है और लोकान्त को प्राप्त करता है।

[२] से णं भंते ! तत्थगए चेव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए तत्थगते चेव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्ज, अत्थेगइए ततो पडिनियत्तति, २ त्ता इहमागच्छइ, २ त्ता दोच्चं पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणति, २ त्ता मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागमेत्तं वा संखेज्जतिभागमेत्तं वा, वालग्गं वा, वालग्गपुहुत्तं वा एवं लिक्खं जूयं जवं अंगुलं जाव[1] जोयणकोडिं वा, जोयणकोडाकोडिं वा, संखेज्जेसु वा असंखेज्जेसु वा जोयणसहस्सेसु, लोगंते वा एगपदेसियं सेढिं मोत्तूण असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु अन्नयरंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए उववज्जेत्ता तओ पच्छा आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा।

[५-२ प्र.] भगवन् ! क्या उपर्युक्त पृथ्वीकायिक जीव, वहाँ जा कर ही आहार करता है, आहार को परिणमाता है और शरीर बांधता है ?

[५-२ उ.] गौतम ! कोई जीव, वहाँ जा कर ही आहार करता है। उस आहार को परिणमाता है और शरीर बांधता है; और कोई जीव वहाँ जा कर वापस लौटता है, वापस लौट कर यहाँ आता है; यहाँ आकर फिर दूसरी बार मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर मेरुपर्वत के पूर्व में अंगुल के असंख्येयभाग मात्र, या संख्येयभागमात्र, या वालाग्र, अथवा बालाग्र-पृथक्त्व (दो से नौ तक बालाग्र), इसी तरह लिक्षा, यूका, यव, अंगुल यावत् करोड़ योजन, कोटा-कोटि योजन, संख्येय हजार योजन और असंख्येय हजार योजन में, अथवा एक प्रदेश श्रेणी को छोड़ कर लोकान्त में पृथ्वीकाय के असंख्य लाख आवासों में से किसी आवास में पृथ्वीकायिकरूप से उत्पन्न होता है और उसके पश्चात् आहार करता है, उस आहार को परिणमाता है और शरीर बांधता है।

[३] जहा पुरत्थिमेणं मंदरस्स पव्वयस्स आलावगो भणिओ एवं दाहिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं, उड्ढे, अहे।

[५-३] जिस प्रकार मेरुपर्वत की पूर्वदिशा के विषय में कथन किया (आलापक कहा) गया है, उसी प्रकार से दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

---

१. यहाँ 'जाव' पद 'विहत्थिं वा रयणिं वा कुच्छिं वा धणुं वा कोसं वा जोयणं वा जोयणसयं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसयसहस्सं वा' पाठ का सूचक है।

६. जहा पुढविकाइया तहा एगिंदियाणं सव्वेसिं एक्केक्कस्स छ आलावगा भाणियव्वा ।

[६] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार से सभी एकेन्द्रिय जीवों के विषय में कहना चाहिए । एक-एक के छह-छह आलापक कहने चाहिए ।

७. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घातेणं समोहते, २ त्ता जे भविए असंखेज्जेसु बेइंदियावास-सयसहस्सेसु अन्नतरंसि बेइंदियावासंसि बेइंदियत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते !

तत्थगते चेव० जहा नेरइया । एवं जाव अणुत्तरोववातिया ।

[७ प्र.] भगवन् ! जो जीव, मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ है और समवहत होकर द्वीन्द्रिय जीवों के असंख्येय लाख आवासों में से किसी एक आवास में द्वीन्द्रिय रूप में उत्पन्न होने वाला है; भगवन् ! क्या वह जीव वहाँ जा कर ही आहार करता है, उस आहार को परिणमाता है, और शरीर बांधता है ?

[७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार नैरयिकों के लिए कहा गया, उसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर अनुत्तरौपपातिक देवों तक सब जीवों के लिए कथन करना चाहिए ।

८. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घातेणं समोहते, २ जे भविए एवं पंचसु अणुत्तरेसु महति-महालएसु महाविमाणेसु अन्नयरंसि अनुत्तरविमाणंसि अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते !

तत्थगते चेव जाव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। छट्ठे सए छट्ठो उद्देसो समत्तो ।।

[८ प्र.] हे भगवन् ! जो जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ है और समवहत हो कर महान् से महान् महाविमानरूप पंच अनुत्तरविमानों में से किसी एक अनुत्तर विमान में अनुत्तरौपपातिक देवरूप में उत्पन्न होने वाला है, क्या वह जीव वहाँ जा कर ही आहार करता है, आहार को परिणमाता है और शरीर बांधता है ?

[८ उ.] गौतम ! पहले कहा गया है, उसी प्रकार कहना चाहिए,....यावत् आहार करता है, उसे परिणमाता है और शरीर बांधता है ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् यह इसी प्रकार है, ऐसा कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं ।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में मारणान्तिकसमुद्घातसमवहत जीव की आहारादि-प्ररूपणा— प्रस्तुत छह सूत्रों में यह शंका प्रस्तुत की गई है कि नारकदण्डक से लेकर अनुत्तरौपपातिक देवों तक मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत होकर जिस गति—योनि में जाना हो, तो वहाँ जाकर आहार करता है, परिणमाता है, शरीर बांधता है, या और तरह से ? इसका समाधान किया गया है ।

आशय—जो जीव मारणान्तिक समुद्घात करके नरकावासादि उत्पत्तिस्थान पर जाते हैं, उस दौरान उनमें से कोई एक जीव, जो समुद्घात-काल में ही मरणशरण हो जाता है, वह वहाँ जाकर वहाँ से अथवा समुद्घात से निवृत्त होकर वापस अपने शरीर में आता है और दूसरी वार मारणान्तिक समुद्घात करके पुनः उत्पत्तिस्थान पर आता है; फिर आहारयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तत्पश्चात् ग्रहण किये हुए उन पुद्गलों को पचा कर उनका खलरूप और रसरूप विभाग करता है। फिर उन पुद्गलों से शरीर की रचना करता है।

जीव लोकान्त में जाकर उत्पत्तिस्थान के अनुसार अंगुल के असंख्येयभागमात्र आदि क्षेत्र में समुद्घात द्वारा उत्पन्न होता है। यद्यपि जीव लोकाकाश के असंख्येयप्रदेशों में अवगाहन करने के स्वभाव वाला है, तथापि एकप्रदेशश्रेणी के असंख्येयप्रदेशों में उसका अवगाहन संभव नहीं है, क्योंकि जीव का ऐसा ही स्वभाव है। इसीलिए यहाँ मूलपाठ में कहा गया है—**'एगपदेसियं सेढिं मोत्तूण'** अर्थात्—एकप्रदेशवाली श्रेणी को छोड़ कर।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—पडिनियत्तति—वापस लौटता है। **लोयंतं**=लोक के अन्त में जाकर। **पाउणिज्जा**=प्राप्त करता है।[2]

॥ छठा शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. १०३०
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २७३-२७४

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७३

सत्तमो उद्देसओ : 'साली'

सप्तम उद्देशक : 'शाली'

कोठे आदि में रखे हुए शाली आदि विविध धान्यों की योनि-स्थिति-प्ररूपणा—

१. अह णं भंते ! सालीणं वीहीणं गोधूमाणं जवाणं जवजवाणं एतेसि णं धन्नाणं कोट्ठाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं पिहिताणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवतियं कालं जोणी संचिट्ठति ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि संवच्छराइं, तेण परं जोणी पमिलाति, तेण परं जोणी पविद्धंसति, तेण परं वीए अवीए भवति, तेण परं जोणिवोच्छेदे पन्नत्ते समणाउसो ! ।

[१ प्र.] भगवन् ! शाली (कमल आदि जातिसम्पन्न चावल), व्रीहि (सामान्य चावल), गोधूम (गेहूँ), यव (जौ) तथा यवयव (विशिष्ट प्रकार का जौ), इत्यादि धान्य कोठे में सुरक्षित रखे हों, वांस के पल्ले (छवड़े) में रखे हों, मंच (मचान) पर रखे हों, माल में डालकर रखे हों, (वर्तन में डाल कर) गोवर से उनके मुख उल्लिप्त (विशेष प्रकार से लीपे हुए) हों, लिप्त हों, ढँके हुए हों, (मिट्टी आदि से उन वर्तनों के मुख) मुद्रित (छंदित किये हुए) हों, (उनके मुंह वंद करके) लांछित (सील लगाकर चिह्नित) किये हुए हों; (इस प्रकार सुरक्षित किये हुए हों) तो उन (धान्यों) की योनि (अंकुरोत्पत्ति में हेतुभूत शक्ति) कितने काल तक रहती है ?

[१ उ.] हे गौतम ! उनकी योनि कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त तक और अधिक से अधिक तीन वर्ष तक कायम रहती है। उसके पश्चात् उन (धान्यों) की योनि म्लान हो जाती है, प्रविध्वंस को प्राप्त हो जाती है, फिर वह वीज, अवीज हो जाता है। इसके पश्चात् हे श्रमणायुष्मन् ! उस योनि का विच्छेद हुआ कहा जाता है।

२. अह भंते ! कलाय-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-निप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सईण-पलिमंथगमादीणं एतेसि णं धन्नाणं० ?

जहा सालीणं तहा एयाण वि, नवरं पंच संवच्छराइं। सेसं तं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! कलाय, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, वाल (वालोर), कुलथ, आलिसन्दक (एक प्रकार का चौला), तुअर (सतीण=अरहर), पलिमंथक (गोल चना या काला चना) इत्यादि (धान्य पूर्वोक्त रूप से कोठे आदि में रखे हुए हों तो इन) धान्यों की (योनि कितने काल तक कायम रहती है ?)

[२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार शाली धान्य के लिए कहा, उसी प्रकार इन धान्यों के लिए भी कहना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि यहाँ उत्कृष्ट पांच वर्ष कहना चाहिए। शेष सारा वर्णन उसी तरह समझना चाहिए।

३. अह भंते ! अयसि-कुसुंभग-कोद्दव-कंगु-वरग-रालग-कोदूसग-सण-सरिसव-मूलगबीयमादीणं एतेसि णं धन्नाणं० ?

एताणि वि तहेव, नवरं सत्त संवच्छराइं। सेसं तं चेव।

[३ प्र.] हे भगवन् ! अलसी, कुसुम्भ, कोद्रव (कोदों), कांगणी, वरट (वंटी), राल, सण, सरसों, मूलक बीज (एक जाति के शाक के वीज) आदि धान्यों की योनि कितने काल तक कायम रहती है ?

[३ उ.] (हे गौतम ! जिस प्रकार शाली धान्य के लिए कहा,) उसी प्रकार इन धान्यों के लिए भी कहना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि इनकी योनि उत्कृष्ट सात वर्ष तक कायम रहती है। शेष वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

विवेचन—कोठे आदि में रखे हुए शाली आदि विविध धान्यों की योनि-स्थिति-प्ररूपणा— प्रस्तुत तीन सूत्रों में शाली आदि, कलाय आदि, तथा अलसी आदि विविध धान्यों की योनि के कायम रहने के काल का निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—तीनों सूत्रों में उल्लिखित शालि आदि धान्यों की योनि की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है, और उत्कृष्ट स्थिति शालि आदि की तीन वर्ष है, कलाय आदि द्वितीयसूत्रोक्त धान्यों की पांच वर्ष है और अलसी आदि तृतीय सूत्रोक्त धान्यों की सात वर्ष है।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—**पल्लाउत्ताणं**=पल्य यानी बांस के छबड़े में रखे हुए, **मंचाउत्ताणं**=मंच पर रखे हुए, **माला-उत्ताणं**=माल-मंजिल पर रखे हुए, **मुद्दियाणं**=मुद्रित—छाप कर बंद किये हुए।[2]

मुहूर्त्त से लेकर शीर्ष-प्रहेलिका-पर्यन्त गणितयोग्य काल-परिमाण—

४. एगमेगस्स णं भंते ! मुहुत्तस्स केवतिया ऊसासद्धा वियाहिया ?

गोयमा ! असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा आवलिय त्ति पवुच्चइ, संखेज्जा आवलिया ऊसासो, संखेज्जा आवलिया निस्सासो।

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसासनीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चति ॥१॥
सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाइं से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिते ॥२॥
तिण्णि सहस्सा सत्त य सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥३॥

[४ प्र.] भगवन् ! एक-एक मुहूर्त्त के कितने उच्छ्‌वास कहे गये हैं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा-१, पृ. २५८-२५९

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७४

[४ उ.] गौतम ! असंख्येय समयों के समुदाय की समिति के समागम से अर्थात् असंख्यात समय मिलकर जितना काल होता है, उसे एक 'आवलिका' कहते हैं। संख्येय आवलिका का एक 'उच्छ्वास' होता है और संख्येय आवलिका का एक 'निःश्वास' होता है।

[गाथाओं का अर्थ—] हृष्टपुष्ट, वृद्धावस्था और व्याधि से रहित प्राणी का एक उच्छ्वास और एक निःश्वास—(ये दोनों मिल कर) एक 'प्राण' कहलाते हैं ।। १ ।। सात प्राणों का एक 'स्तोक' होता है। सात स्तोकों का एक 'लव' होता है। ७७ लवों का एक मुहूर्त्त कहा गया है ।।२।। अथवा ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त होता है, ऐसा समस्त अनन्तज्ञानियों ने देखा है ।।३।।

५. एतेणं मुहुत्तपमाणेणं तीसमुहुत्तो अहोरत्तो, पण्णरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो, दो मासा उऊ, तिण्णि उऊ अयणे, दो अयणा संवच्छरे, पंचसंवच्छरिए जुगे, वीसं जुगाइं वाससयं, दस वाससयाइं वाससहस्सं, सयं वाससहस्साइं वाससतसहस्सं, चउरासीतिं वाससतसहस्साणि से एगे पुव्वंगे, चउरासीतिं पुव्वंगसयसहस्साइं से एगे पुव्वे, एवं तुडिअंगे तुडिए, अडडंगे अडडे, अववंगे अववे, हूहूअंगे हूहूए, उप्पलंगे उप्पले, पउमंगे पउमे, नलिणंगे नलिणे, अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे, अउअंगे अउए, पउअंगे पउए य, नउअंगे नउए य, चूलिअंगे चूलिआ य, सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिया। एताव ताव गणिए। एताव ताव गणियस्स विसए। तेण परं ओवमिए।

[५] इस मुहूर्त्त के अनुसार तीस मुहूर्त्त का एक 'अहोरात्र' होता है। पन्द्रह 'अहोरात्र' का एक 'पक्ष' होता है। दो पक्षों का एक 'मास' होता है। दो 'मासों' की एक 'ऋतु' होती है। तीन ऋतुओं का एक 'अयन' होता है। दो अयन का एक 'संवत्सर' (वर्ष) होता है। पांच संवत्सर का एक 'युग' होता है। वीस युग का एक वर्षशत (सौ वर्ष) होता है। दस वर्षशत का एक 'वर्षसहस्र' (एक हजार वर्ष) होता है। सौ वर्ष सहस्रों का एक 'वर्षशतसहस्र' (एक लाख वर्ष) होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांग का एक 'पूर्व' होता है। ८४ लाख पूर्व का एक त्रुटितांग होता है और ८४ लाख त्रुटितांग का एक 'त्रुटित' होता है। इस प्रकार पहले की राशि को ८४ लाख से गुणा करने से उत्तरोत्तर राशियाँ वनती हैं। वे इस प्रकार हैं—अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। इस संख्या तक गणित है। यह गणित का विषय है। इसके वाद औपमिक काल है (उपमा का विषय है—उपमा द्वारा जाना जाता है, गणित (गणना) का नहीं)।

विवेचन—मुहूर्त्त से लेकर शीर्ष-प्रहेलिकापर्यन्त गणितयोग्य काल-परिमाण—प्रस्तुत सूत्रद्वय में ४६ भेद वाले गणनीय काल का परिमाण वतलाया गया है।

गणनीय काल—जिस काल की संख्या के रूप में गणना हो सके, उसे गणनीय या गणितयोग्य काल कहते हैं। काल का सूक्ष्मतम भाग समय होता है। असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। २५६ आवलिका का एक क्षुल्लकभवग्रहण होता है। १७ से कुछ अधिक क्षुल्लकभवग्रहण का एक उच्छ्वास-निःश्वासकाल होता है। इसके आगे की संख्या स्पष्ट है। सवसे अन्तिम गणनीय काल 'शीर्षप्रहेलिका' है, और जो १९४ अंकों की संख्या है। यथा—७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९

७३५६६९७५६६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६ इन ५४ अंकों पर १४० बिन्दियाँ लगाने से शीर्षप्रहेलिका संख्या का प्रमाण होता है। यहाँ तक का काल गणित का विषय है। इसके आगे का काल औपमिक है। अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त साधारण व्यक्ति उस को गिनती करके उपमा के बिना ग्रहण नहीं कर सकते, इसलिए उसे 'उपमेय' या 'औपमिक' काल कहा गया है।[1]

पल्योपम, सागरोपम आदि औपमिककाल का स्वरूप और परिमाण—

६. से किं तं ओवमिए ?

ओवमिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पलिओवमे य, सागरोवमे य।

[६ प्र.] भगवन् ! वह औपमिक (काल) क्या है ?

[६ उ.] गौतम ! औपमिक काल दो प्रकार कहा गया है। वह इस प्रकार है—पल्योपम और सागरोपम।

७. से किं तं पलिओवमे ? से किं तं सागरोवमे ?

सत्थेण सुतिक्खेण वि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वदंति आदिं पमाणाणं ॥४॥

अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिया ति वा, सण्हसण्हिया ति वा, उड्ढरेणू ति वा, तसरेणू ति वा, रहरेणू ति वा, वालग्गे ति वा, लिक्खा ति वा, जूया ति वा, जवमज्झे ति वा, अंगुले ति वा। अट्ठ उस्सण्हसण्हियाओ सा एगा सण्हसण्हिया, अट्ठ सण्हसण्हियाओ सा एगा उड्ढरेणू, अट्ठ उड्ढरेणूओ सा एगा तसरेणू, अट्ठ तसरेणूओ सा एगा रहरेणू अट्ठ रहरेणूओ से एगे देवकुरु-उत्तरकुरुगाणं मणूसाणं वालग्गे, एवं हरिवास-रम्मग-हेमवत-एरण्णवताणं पुव्वविदेहाणं मणूसाणं अट्ठ वालग्गा स एगा लिक्खा, अट्ठ लिक्खाओ सा एगा जूया, अट्ठ जूयाओ से एगे जवमज्झे, अट्ठ जवमज्झा से एगे अंगुले, एतेणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाणि पादो, बारस अंगुलाइं विहत्थी, चउव्वीसं अंगुलाणि रयणी, अडयालीसं अंगुलाइं कुच्छी, छण्णउतिं अंगुलाणि से एगे दंडे ति वा, धणू ति वा, जूए ति वा, नालिया ति वा, अक्खे ति वा, मुसले ति वा, एतेणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउयं, चत्तारि गाउयाइं जोयणं, एतेणं जोयणप्पमाणेणं जे पल्ले जोयणं आयामविक्खंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं तं तिउणं सविसेसं परिरएणं। से णं एगाहिय-बेयाहिय-तेयाहिय उक्कोसं सत्तरत्तप्परूढाणं संसट्ठे सन्निचिते भरिते वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गे नो अग्गी दहेज्जा, नो वातो हरेज्जा, नो कुत्थेज्जा नो परिविद्धंसेज्जा, नो पूतित्ताए हव्वमागच्छेज्जा। ततो णं वाससते वाससते गते एगमेगं वालग्गं अवहाय जावतिएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निम्मले निट्ठिते निल्लेवे अवहडे विसुद्धे भवति। से तं पलिओवमे। गाहा—

---

१. भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन युक्त) भा. २, पृ. १०३५-१०३६

एतेसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया ।
तं सागरोवमस्स तु एक्कस्स भवे परीमाणं ॥५॥

[७ प्र.] भगवन् ! 'पल्योपम' (काल) क्या है ? तथा 'सागरोपम' (काल) क्या है ?

[७ उ.] हे गौतम ! जो सुतीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा भी छेदा-भेदा न जा सके, ऐसे परम-अणु (परमाणु) को सिद्ध (ज्ञानसिद्ध केवली) भगवान् समस्त प्रमाणों का आदिभूत प्रमाण कहते हैं । ऐसे अनन्त परमाणुपुद्गलों के समुदाय की समितियों के समागम से एक उच्छ्लक्ष्ण श्लक्ष्णिका, श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, वालाग्र, लिक्षा, यूका, यवमध्य और अंगुल होता है । आठ उच्छ्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका के मिलने से एक श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका होती है । आठ श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका के मिलने से एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु मिलने से एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओं के मिलने से एक रथरेणु और आठ रथरेणुओं के मिलने से देवकुरु—उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों का एक वालाग्र होता है, तथा देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के आठ वालाग्रों से हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष के मनुष्यों का एक वालाग्र होता है । हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष के मनुष्यों के आठ वालाग्रों से हैमवत और ऐरावत के मनुष्यों का एक वालाग्र होता है । हैमवत और ऐरावत के मनुष्यों के आठ वालाग्रों से पूर्वविदेह के मनुष्यों का एक वालाग्र होता है । पूर्वविदेह के मनुष्यों के आठ वालाग्रों से एक लिक्षा (लीख), आठ लिक्षा से एक यूका (जूं), आठ यूका से एक यवमध्य और आठ यवमध्य से एक अंगुल होता है । इस प्रकार के छह अंगुल का एक पाद (पैर), वारह अंगुल की एक वितस्ति (वेंत), चौवीस अंगुल का एक हाथ, अड़तालीस अंगुल की एक कुक्षि, छियानवे अंगुल का दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मूसल होता है । दो हजार धनुष का एक गाऊ होता है और चार गाऊ का एक योजन होता है ।

इस योजन के परिमाण से एक योजन लम्वा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा (ऊपर में ऊँचा), तिगुणी से अधिक परिधि वाला एक पल्य हो, उस पल्य में एक दिन के उगे हुए, दो दिन के उगे हुए, तीन दिन के उगे हुए, और अधिक से अधिक सात रात्रि के उगे हुए करोड़ों वालाग्र, किनारे तक ऐसे ठूंस-ठूंस कर भरे हों, संनिचित (इकट्ठे) किये हों, अत्यन्त भरे हों, कि उन वालाग्रों को अग्नि न जला सके और हवा उन्हें उड़ा कर न ले जा सके; वे वालाग्र सड़ें नहीं, न ही परिध्वस्त (नष्ट) हों, और न ही वे शीघ्र दुर्गन्धित हों । इसके पश्चात् उस पल्य में से सौ-सौ वर्ष में एक-एक वालाग्र को निकाला जाए । इस क्रम से तव तक निकाला जाए, जव तक कि वह पल्य क्षीण हो, नीरज हो, निर्मल हो, निष्ठित (पूर्ण) हो जाए, निर्लेप हो, अपहृत हो और विशुद्ध (पूरी तरह खाली) हो जाए । उतने काल को एक 'पल्योपमकाल' कहते हैं । (सागरोपमकाल के परिमाण को वताने वाली गाथा का अर्थ इस प्रकार है—) इस पल्योपम काल का जो परिणाम ऊपर वतलाया गया है, वैसे दस कोटाकोटि (गुणे) पल्योपमों का एक सागरोपम-कालपरिमाण होता है ।

८. एएणं सागरोवमपमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा १, तिण्णि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमा २, दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमदूसमा ३, एगा सागरोवमकोडाकोडी वायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दूसमसुसमा ४, एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दूसमा ५, एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दूसमदूसमा ६ । पुणरवि उस्सप्पिणीए एक्कवीसं

वाससहस्साइं कालो दूसमदूसमा १। एक्कवीसं वाससहस्साइं जाव[1] चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा ६। दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणी। दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणी। वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणी य उस्सप्पिणी य।

(८) इस सागरोपम-परिमाण के अनुसार चार कोटाकोटि सागरोपम-काल का एक सुषम-सुषमा आरा होता है; तीन कोटाकोटि सागरोपम-काल का एक सुषमा आरा होता है; दो कोटाकोटि सागरोपम-काल का एक सुषमदुःषमा आरा होता है; बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम-काल का एक दुःषमसुषमा आरा होता है; इक्कीस हजार वर्ष का एक दुःषम आरा होता है और इक्कीस हजार वर्ष का एक दुःषमदुःषमा आरा होता है।

इसी प्रकार उत्सर्पिणीकाल में पुनः इक्कीस हजार वर्ष परिमित काल का प्रथम दुःषम-दुःषमा आरा होता है। इक्कीस हजार वर्ष का द्वितीय दुःषम आरा होता है, बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम काल का तीसरा दुःषम-सुषमा आरा होता है, दो कोटाकोटि सागरोपमकाल का चौथा सुषम-दुःषमा आरा होता है। तीन कोटाकोटि सागरोपमकाल का पांचवाँ सुषम आरा होता है और चार कोटाकोटि सागरोपमकाल का छठा सुषम-सुषमा आरा होता है।

इस प्रकार (कुल) दस कोटाकोटि सागरोपमकाल का एक अवसर्पिणीकाल होता है और दस कोटाकोटि सागरोपम काल का ही उत्सर्पिणीकाल होता है। यों बीस कोटाकोटि सागरोपमकाल का एक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-कालचक्र होता है।

विवेचन—औपमिककाल का परिमाण—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथमसूत्र में पल्योपम एवं सागरोपम काल का परिमाण तथा द्वितीय सूत्र में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी रूप द्वादश आरे सहित काल-चक्र का परिमाण बताया गया है।

पल्योपम का स्वरूप और प्रकार—यहाँ जो पल्योपम का स्वरूप बतलाया गया है, वह व्यवहार अद्धापल्योपम का स्वरूप बताया गया है। पल्योपम के मुख्य तीन भेद हैं—(१) उद्धार-पल्योपम, (२) अद्धापल्योपम और (३) क्षेत्रपल्योपम। उद्धारपल्योपम आदि के प्रत्येक के दो प्रकार हैं—व्यवहार उद्धारपल्योपम एवं सूक्ष्म उद्धारपल्योपम, व्यवहार अद्धापल्योपम एवं सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम, तथा व्यवहार क्षेत्रपल्योपम एवं सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम।

उद्धारपल्योपम—उत्सेधांगुल परिमाण से एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन ऊँचे—गहरे गोलाकार कुए में देवकुरु-उत्तरकुरु के यौगलिकों के मुण्डित मस्तक पर एक दिन के, दो दिन के यावत् ७ दिन के उगे हुए करोड़ों बालाग्रों से उस कूप को यों ठूंस ठूंस कर भरा जाए कि वे बालाग्र न तो आग से जल सकें और न ही हवा से उड़ सकें। फिर उनमें से प्रत्येक को एक-एक समय में निकालते हुए जितने समय में वह कुंआ सर्वथा खाली हो जाए, उस कालमान को **व्यावहारिक उद्धार पल्योपम** कहते हैं। यह पल्योपम संख्यात समयपरिमित होता है। इसी तरह उक्त बालाग्र के असंख्यात अदृश्य खण्ड किये जाएँ, जो कि विशुद्ध नेत्र वाले छद्मस्थ पुरुष के दृष्टि-गोचर होने वाले सूक्ष्म पुद्गलद्रव्य के असंख्यातवें भाग एवं सूक्ष्म पनक के शरीर से असंख्यातगुणा

---

१. 'जाव' पद यहाँ अवसर्पिणीकाल को गणना की तरह ही उत्सर्पिणीकाल-गणना का बोधक है।

हों। उन सूक्ष्म वालाग्रखण्डों से वह कूप ठूंस-ठूंस कर भरा जाए और उनमें से एक-एक वालाग्रखण्ड प्रतिसमय निकाला जाये। यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुंआ खाली हो जाए, उसे **सूक्ष्म उद्धारपल्योपम** कहते हैं। इसमें संख्यातवर्षकोटिपरिमित काल होता है।

अद्धापल्योपम—उपर्युक्त रीति से भरे हुए उपर्युक्त परिमाण वाले कूप में से एक-एक वालाग्र सौ-सौ वर्ष में निकाला जाए। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुंआ सर्वथा खाली हो जाए, उसे **व्यवहार 'अद्धापल्योपम'** कहते हैं। यह अनेक संख्यातवर्षकोटिप्रमाण होता है। यदि यही कुंआ उपर्युक्त सूक्ष्म वालाग्रखण्डों से भरा हो और उनमें से प्रत्येक वालाग्रखण्ड को सौ-सौ वर्ष में निकालते-निकालते जितने काल में वह कुंआ खाली हो जाए, उसे **सूक्ष्म अद्धापल्योपम** कहते हैं। इसमें असंख्यातवर्षकोटिप्रमाण काल होता है।

क्षेत्रपल्योपम—उपर्युक्त परिमाण का कूप उपर्युक्त रीति से वालाग्रों से भरा हो, उन वालाग्रों को जितने आकाशप्रदेश स्पर्श किये हुए हैं, उन स्पर्श किये हुए आकाशप्रदेशों में से प्रत्येक को (बौद्धिक कल्पना से) प्रति समय निकाला जाए। इस प्रकार उन छुए हुए आकाशप्रदेशों को निकालने में जितना समय लगे, वह **व्यवहार क्षेत्रपल्योपम** है। इसमें असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीपरिमाण काल होता है। यदि यही कुंआ वालाग्र के सूक्ष्मखण्डों से ठूंस-ठूंस कर भरा जाए, तथा उन वालाग्र-खण्डों से छुए हुए एवं नहीं छुए हुए सभी आकाप्रदेशों में से प्रत्येक आकाशप्रदेश को प्रतिसमय निकालते हुए सभी को निकालने में जितना काल लगे, वह **सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम** है। इसमें भी असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीपरिमाणकाल होता है, किन्तु इसका काल व्यवहार क्षेत्रपल्योपम से असंख्यात गुणा है।

सागरोपम के प्रकार—पल्योपम की तरह सागरोपम के तीन भेद हैं और प्रत्येक भेद के दो-दो प्रकार हैं।

उद्धारसागरोपम के दो भेद हैं—व्यवहार और सूक्ष्म। दस कोटाकोटि व्यवहार उद्धारपल्योपम का एक **व्यवहार उद्धारसागरोपम** होता है। दस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का एक **सूक्ष्म उद्धारसागरोपम** होता है। ढाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपम या २५ कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म उद्धारपल्योपम में जितने समय होते हैं, उतने ही लोक में द्वीप और समुद्र हैं।

अद्धासागरोपम के भी दो भेद हैं—व्यवहार और सूक्ष्म। दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार अद्धा-पल्योपम का एक **व्यवहार अद्धासागरोपम** होता है और दस कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक **सूक्ष्म अद्धासागरोपम** होता है। जीवों की कर्मस्थिति, कायस्थिति और भवस्थिति तथा आरों का परिमाण सूक्ष्म अद्धापल्योपम और सूक्ष्म अद्धासागरोपम से मापा जाता है।

क्षेत्रसागरोपम के भी दो भेद हैं—व्यवहार और सूक्ष्म। दस कोड़ा-कोड़ी व्यवहार क्षेत्र-पल्योपम का एक व्यवहार क्षेत्रसागरोपम होता है, और दस कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म सागरोपम होता है। सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम एवं सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम से दृष्टिवाद में उक्त द्रव्य मापे जाते हैं।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचनयुक्त) भाग-२, १०४०-१०४१

सुषमसुषमाकालीन भारतवर्ष के भाव-आविर्भाव का निरूपण—

९. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए उत्तमट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोयारे होत्था ?

गोतमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था, से जहानामए आलिंगपुक्खरे ति वा, एवं उत्तरकुरुवत्तव्वया[1] नेयव्वा जाव आसयंति सयंति। तीसे णं समाए भारहे वासे तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे उराला कुद्दाला जाव[2] कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला जाव छव्विहा मणूसा अणुसज्जित्था, तं०— पम्हगंधा १ मियगंधा २ अममा ३ तेयली ४ सहा ५ सणिचारी ६।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छट्ठे सए : सत्तमो सालिउद्देसो समत्तो ॥

[९ प्र.] भगवन् ! इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप में उत्तमार्थ-प्राप्त इस अवसर्पिणीकाल के सुषम-सुषमा नामक आरे में भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) के आकार (आचार-) भाव-प्रत्यवतार (आचारों और पदार्थों के भाव-पर्याय-अवस्था) किस प्रकार के थे ?

[९ उ.] गौतम ! (उस समय) भूमिभाग बहुत सम होने से अत्यन्त रमणीय था। जैसे-कोई मुरज (आलिंग-तबला) नामक वाद्य का चर्ममण्डित मुखपट हो, वैसा बहुत ही सम भरतक्षेत्र का भूभाग था। इस प्रकार उस समय के भरतक्षेत्र के लिए उत्तरकुरु की वक्तव्यता के समान, यावत् बैठते हैं, सोते हैं, यहाँ तक वक्तव्यता कहनी चाहिए। उस काल (अवसर्पिणी के प्रथम आरे) में भारतवर्ष में उन-उन देशों के उन-उन स्थलों में उदार (प्रधान) एवं कुद्दालक यावत् कुश और विकुश से विशुद्ध वृक्षमूल थे; यावत् छह प्रकार के मनुष्य थे। यथा—(१) पद्मगन्ध वाले, (२) मृग (कस्तूरी के समान) गन्ध वाले, (३) अमम (ममत्वरहित), (४) तेजतली (तेजस्वी एवं रूपवान्), (५) सहा (सहनशील) और शनैश्चर (उत्सुकतारहित होने से धीरे-धीरे गजगति से चलने वाले) थे।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरने लगे।

---

१. जीवाभिगम सूत्र में उक्त उत्तरकुरुवक्तव्यता इस प्रकार है—'मुइंगपुक्खरे इ वा, सरतले इ वा-सरस्तलं सर एव, करतले इ वा-करतलं कर एव, इत्यादीति। एवं भूमिसमताया भूमिभागगततृण-मणीनां वर्णपञ्चकस्य, सुरभिगन्धस्य, मृदुस्पर्शस्य, शुभशब्दस्य, वाप्यादीनां वाप्याद्यनुगतोत्पातपर्वतादीनामुत्पातपर्वताद्याश्रितानां हंसासनादीनां लतागृहादीनां शिलापट्टकादीनां च वर्णको वाच्यः। तदन्ते चैतद् दृश्यम्-तत्थ णं बहवे भारया मणुस्सा मणुस्सीओ य आसयंति सयंति चिट्ठंति निसीयंति तुयट्टंति। इत्यादि'—जीवाभिगम म. वृत्ति।

२. 'जाव' शब्द से कयमाला णट्टमाला इत्यादि तथा वृक्षों के नाम—"उद्दालाः कोद्दालाः मोद्दालाः कृतमालाः नृत्तमालाः वृत्तमालाः दन्तमालाः शृङ्गमालाः शङ्खमालाः श्वेतमालाः नाम द्रुमगणाः" समझ लें। (पत्र २६४-२)। जाव शब्द मूलमंतो कंदमंतो इत्यादि का सूचक है।

विवेचन—सुषमसुषमाकालीन भारतवर्ष के जीवों-अजीवों के भाव-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में सुषमसुषमा नामक अवसर्पिणीकालिक प्रथम आरे में मनुष्यों एवं पदार्थों की उत्कृष्टता का वर्णन किया गया है ।[1]

कठिन शब्द—उत्तमट्ठपत्ताए—आयुष्यादि उत्तम अवस्था को प्राप्त । तेयलि=तेजवाले और रूप वाले ।

।। छठा शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २७७-२७८

(ख) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति २ उत्तरकुरुवर्णन पृ. २६२ से २८४ तक

अट्ठमो उद्देसओ : 'पुढवी'

अष्टम उद्देशक : 'पृथ्वी'

रत्नप्रभादि पृथ्वियों तथा सर्वदेवलोकों में गृह-ग्राम-मेघादि के अस्तित्व और कर्तृत्व की प्ररूपणा—

१. कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा जाव ईसीपब्भारा ।

[१ प्र.] भगवन् ! कितनी पृथ्वियाँ कही गई हैं ?'

[१ उ.] गौतम ! आठ पृथ्वियाँ कही गई हैं । वे इस प्रकार—(१) रत्नप्रभा, (१) शर्करा-प्रभा (३) वालुकाप्रभा, (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा, (७) महातमःप्रभा और (८) ईषत्प्राग्भारा ।

२. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे गेहा ति वा गेहावणा ति वा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे गृह (घर) अथवा गृहापण (दूकानें) हैं ?

[२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । (अर्थात्—रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे गृह या गृहापण नहीं हैं ।)

३. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए अहे गामा ति वा जाव सन्निवेसा ति वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे ग्राम यावत् सन्निवेश हैं ?

[३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । (अर्थात्—रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे ग्राम यावत् सन्निवेश नहीं हैं ।)

४. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उराला बलाहया संसेयंति, सम्मुच्छंति, वासं वासंति ?

हंता, अत्थि ।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे महान् (उदार) मेघ संस्वेद को प्राप्त होते हैं, सम्मूर्च्छित होते हैं और वर्षा बरसाते हैं ?

[४ उ.] हाँ गौतम ! (वहाँ महामेघ संस्वेद को प्राप्त होते हैं, सम्मूर्च्छित होते हैं और वर्षा भी बरसाते) हैं ।

५. तिण्णि वि पकरिति—देवो वि पकरेति, असुरो वि प०, नागो वि प० ।

[५] ये सब कार्य (महामेघों को संस्वेदित एवं सम्मूर्च्छित करने तथा वर्षा वरसाने का कार्य) ये तीनों करते हैं—देव भी करते ते, असुर भी करते हैं और नाग भी करते हैं ।

६. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयण० वादरे थणियसद्दे ?

हंता, अत्थि ।

[६ प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी में वादर (स्थूल) स्तनितशब्द (मेघगर्जना की आवाज) है?

७. तिण्णि वि पकरेंति ।

[६-७ उ.] हां, गौतम ! वादर स्तनितशब्द है, जिसे (उपर्युक्त) तीनों ही करते हैं ।

८. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए अहे वादरे अगणिकाए ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, नऽन्नत्थ विग्गहगतिसमावन्नएणं ।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे वादर अग्निकाय है ?

[८ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । यह निषेध विग्रह-गतिसमापन्नक जीवों के सिवाय (दूसरे जीवों के लिए समझना चाहिए।)

९. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयण० अहे चंदिम जाव तारारूवा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ।

[९ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे क्या चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा-रूप हैं ?

[९ उ.] (गौतम !) यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

१०. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चंदाभा ति वा २ ।

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभापृथ्वी में चन्द्राभा (चन्द्रमा का प्रकाश), सूर्याभा (सूर्य का प्रकाश) आदि हैं ?

[१० उ.] (गौतम !) यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

११. एवं दोच्चाए वि पुढवीए भाणियव्वं ।

[११] इसी प्रकार (पूर्वोक्त सभी वातें) दूसरी पृथ्वी (शर्कराप्रभा) के लिए भी कहना चाहिए ।

१२. एवं तच्चाए वि भाणियव्वं, नवरं देवो वि पकरेति, असुरो वि पकरेति, णो णागो पकरेति ।

[१२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त सब बातें) तीसरी पृथ्वी (वालुकाप्रभा) के लिए भी कहना चाहिए। इतना विशेष है कि वहाँ देव भी (ये सब) करते हैं, असुर भी करते हैं, किन्तु नाग (कुमार) नहीं करते।

१३. चउत्थीए वि एवं, नवरं देवो एक्को पकरेति, नो असुरो०, नो नागो पकरेति।

[१३] चौथी पृथ्वी में भी इसी प्रकार सब बातें कहनी चाहिए। इतना विशेष है कि वहाँ देव ही अकेले (यह सब) करते हैं, किन्तु असुर और नाग नहीं करते हैं।

१४. एवं हेट्ठिल्लासु सव्वासु देवो एक्को पकरेति।

[१४] इसी प्रकार नीचे की (पांचवीं, छठी और सातवीं नरक) सब पृथ्वियों में केवल देव ही (यह सब कार्य) करते हैं, (असुरकुमार और नागकुमार नहीं करते।)

१५. अत्थि णं भंते ! सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं अहे गेहा इ वा २ ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[१५ प्र.] भगवन् ! क्या सौधर्म और ईशान कल्पों (देवलोकों) के नीचे गृह अथवा गृहापण हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१६. अत्थि णं भंते ! ० उराला बलाहया ?

हंता, अत्थि।

[१६ प्र.] भगवन् ! क्या सौधर्म और ईशान देवलोक के नीचे महामेघ (उदार बलाहक) हैं ?

[१६ उ.] हाँ, गौतम ! (वहाँ महामेघ) हैं।

१७. देवो पकरेति, असुरो वि पकरेइ, नो नाओ पकरेइ।

[१७] (सौधर्म और ईशान देवलोक के नीचे पूर्वोक्त सब कार्य (बादलों का छाना, मेघ उमड़ना, वर्षा बरसाना आदि) देव करते हैं, असुर भी करते हैं, किन्तु नागकुमार नहीं करते।

१८. एवं थणियसद्दे वि।

[१८] इसी प्रकार वहाँ स्तनितशब्द के लिए भी कहना चाहिए।

१९. अत्थि णं भंते !० बादरे पुढविकाए, बादरे अगणिकाए ?

नो इणट्ठे समट्ठे, नऽन्नत्थ विग्गहगतिसमावन्नएणं।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्या वहाँ (सौधर्म और ईशान देवलोक के नीचे) बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय है ?

[१९ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं। यह निषेध विग्रहगति-समापन्न जीवों के सिवाय दूसरे जीवों के लिए जानना चाहिए।

२०. अत्थि णं भंते ! चंदिम० ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२० प्र.] भगवन् ! क्या वहाँ चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप हैं ?

[२० उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

२१. अत्थि णं भंते ! गामाइ वा० ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या वहाँ ग्राम यावत् सन्निवेश हैं ?

[२१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

२२. अत्थि णं भंते ! चंदाभा ति वा २ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२२ प्र.] भगवन् ! क्या यहाँ चन्द्राभा, सूर्याभा आदि हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

२३. एवं सणंकुमार-माहिंदेसु, नवरं देवो एगो पकरेति ।

[२३] इसी प्रकार सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकों में भी कहना चाहिए । विशेष यह है कि वहाँ (यह सब) केवल देव ही करते हैं ।

२४. एवं बंभलोए वि ।

[२४] इसी प्रकार ब्रह्मलोक (पंचम देवलोक) में भी कहना चाहिए ।

२५. एवं बंभलोगस्स उवरिं सव्वहिं देवो पकरेति ।

[२५] इसी तरह ब्रह्मलोक से ऊपर (पंच अनुत्तरविमान देवलोक तक) सर्वस्थलों में पूर्वोक्त प्रकार से कहना चाहिए । इन सब स्थलों में केवल देव ही (पूर्वोक्त कार्य) करते हैं ।

२६. पुच्छियव्वे य बादरे आउकाए, बादरे तेउकाए, बायरे वणस्सतिकाए । अन्नं तं चेव । गाहा—

तमुकाए कप्पपणए अगणी पुढवी य, अगणि पुढवीसु ।
आऊ-तेउ-वणस्सति कप्पुवरिम-कण्हराईसु ॥१॥

[२६ प्र. उ] इन सब स्थलों में बादर अप्काय, बादर अग्निकाय, और बादर वनस्पतिकाय के विषय में प्रश्न (पृच्छा) करना चाहिए । उनका उत्तर भी पूर्ववत् कहना चाहिए ।) अन्य सब बातें पूर्ववत् कहनी चाहिए ।

[गाथा का अर्थ—] तमस्काय में और पांच देवलोकों तक में अग्निकाय और पृथ्वीकाय के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिए । रत्नप्रभा आदि नरकपृथ्वियों में अग्निकाय के सम्बन्ध में प्रश्न करना

चाहिए। इसी तरह पंचम कल्प—देवलोक से ऊपर सब स्थानों में तथा कृष्णराजियों में अप्काय, तेजस्काय और वनस्पतिकाय के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिए।

विवेचन—रत्नप्रभादि पृथ्वियों तथा सर्व देवलोकों में गृह-ग्राम-मेघादि के अस्तित्व आदि की प्ररूपणा—प्रस्तुत २६ सूत्रों में रत्नप्रभादि सातों पृथ्वियों तथा सौधर्मादि सर्व देवलोकों के नीचे तथा परिपार्श्व में गृह, गृहापण, महामेघ, वर्षा, मेघगर्जन, वादर अग्निकाय, चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्क, चन्द्रसूर्याभा, बादर अप्काय, वादर पृथ्वीकाय, बादर वनस्पतिकाय आदि के अस्तित्व एवं वर्षादि के कर्तृत्व से सम्बन्धित विचारणा की गई है।

वायुकाय, अग्निकाय आदि का अस्तित्व कहाँ है, कहाँ नहीं?—रत्नप्रभादि पृथ्वियों के नीचे बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय नहीं है, किन्तु वहाँ घनोदधि आदि होने से अप्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय है। सौधर्म, ईशान आदि देवलोकों में वादर पृथ्वीकाय नहीं है; क्योंकि वहाँ उसका स्वस्थान न होने से उत्पत्ति नहीं है। तथा सौधर्म, ईशान उदधिप्रतिष्ठित होने से वहाँ बादर अप्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का सद्भाव है। इसी तरह सनत्कुमार और माहेन्द्र में तमस्काय होने से वहाँ वादर अप्काय और वनस्पतिकाय का होना सुसंगत है। तमस्काय में और पांचवें देवलोक तक बादर अग्निकाय और बादर पृथ्वीकाय का अस्तित्व नहीं है। शेष तीन का सद्भाव है। वारहवें देवलोक तक इसी तरह जान लेना चाहिए। पांचवें देवलोक से ऊपर के स्थानों में तथा कृष्णराजियों में भी बादर अप्काय, तेजस्काय और वनस्पतिकाय का सद्भाव नहीं है, क्योंकि उनके नीचे वायुकाय का ही सद्भाव है।

महामेघ-संस्वेदन-वर्षणादि कहाँ, कौन करते हैं? दूसरी पृथ्वी की सीमा से आगे नागकुमार नहीं जाते, तथा तीसरी पृथ्वी की सीमा से आगे असुरकुमार नहीं जाते; इसलिए दूसरी नरकपृथ्वी तक महामेघ-संस्वेदन-वर्षण-गर्जन आदि सब कार्य देव और असुरकुमार करते हैं, तथा चौथी पृथ्वी के नीचे-नीचे सब कार्य केवल देव ही करते हैं। सौधर्म और ईशान देवलोक के नीचे तक तो चमरेन्द्र की तरह असुरकुमार जा सकते हैं, किन्तु नागकुमार नहीं जा सकते, इसलिए इन दो देवलोकों के नीचे देव और असुरकुमार ही करते हैं, इस से आगे सनत्कुमार से अच्युत देवलोक तक में केवल देव ही करते हैं। इससे आगे देव की जाने की शक्ति नहीं है और न ही वहाँ मेघ आदि का सद्भाव है।[1]

जीवों के आयुष्यबन्ध के प्रकार एवं जाति-नामनिधत्तादि बारह दण्डकों की चौबीस दण्डकीय जीवों में प्ररूपणा—

२७. कतिविहे णं भंते! आउयबंधे पण्णत्ते?

गोयमा! छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा—जातिनामनिहत्ताउए गतिनामनिहत्ताउए ठितिनामनिहत्ताउए ओगाहणानामनिहत्ताउए पदेसनामनिहत्ताउए अणुभागनामनिहत्ताउए।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७९

(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. ३२९

(ग) तत्त्वार्थसूत्र अ. ३ सू. १ से ६ तक भाष्यसहित, पृ. ६४ से ७४ तक

(घ) सूत्रकृतांग श्रु-१, अ-५, निरयविभक्ति

[२७ प्र.] भगवन् ! आयुष्यबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२७ उ.] गौतम ! आयुष्यबन्ध छह प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) जातिनामनिधत्तायु, (२) गतिनामनिधत्तायु, (३) स्थितिनामनिधत्तायु, (४) अवगाहनानामनिधत्तायु, (५) प्रदेशनामनिधत्तायु और (६) अनुभागनामनिधत्तायु।

२८. एवं दंडओ[1] जाव वेमाणियाणं।

[१७] यावत् वैमानिकों तक दण्डक कहना चाहिए।

२९. जीवा णं भंते ! किं जातिनामनिहत्ता गतिनामनिहत्ता जाव अणुभागनामनिहत्ता ?

गोतमा ! जातिनामनिहत्ता वि जाव[2] अणुभागनामनिहत्ता वि।

[२९ प्र.] भगवन् ! क्या जीव जातिनामनिधत्त हैं ? गतिनामनिधत्त हैं ? अथवा यावत् अनुभागनामनिधत्त हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! जीव जातिनामनिधत्त भी हैं, यावत् अनुभागनामनिधत्त भी हैं।

३०. दंडओ जाव वेमाणियाणं।

[३०] यह दण्डक यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

३१. जीवा णं भंते ! किं जातिनामनिहित्ताउया जाव अणुभागनामनिहित्ताउया ?

गोयमा ! जातिनामनिहत्ताउया वि जाव अणुभागनामनिहित्ताउया वि।

[३१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव जातिनामनिधत्तायुष्क हैं, यावत् अनुभागनामनिधत्तायुष्क हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! जीव, जातिनामनिधत्तायुष्क भी हैं, यावत् अनुभागनामनिधत्तायुष्क भी हैं।

३२. दंडओ जाव वेमाणियाणं।

[३२] यह दण्डक यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

३३. एवमेए दुवालस दंडगा भाणियव्वा—जीवा णं भंते ! किं जातिनामनिहत्ता १, जातिनामनिहत्ताउया० २, जीवा णं भंते ! किं जातिनामनिउत्ता ३, जातिनामनिउत्ताउया० ४, जातिगोयनिहत्ता ५, जातिगोयनिहत्ताउया ६, जातिगोत्तनिउत्ता ७, जातिगोत्तनिउत्ताउया ८, जातिणामगोत्तनिहत्ता ९, जातिणामगोयनिहत्ताउया १०, जातिणामगोयनिउत्ता ११, जीवा णं भंते ! किं जातिनामगोत्तनिउत्ताउया जाव अणुभागनामगोत्तनिउत्ताउया १२ ?

गोतमा ! जातिनामगोयनिउत्ताउया वि जाव अणुभागनामगोत्ततिउत्ताउया वि।

---

१. 'जाव' पद से नैरयिक से लेकर वैमानिकपर्यन्त दण्डक समझें।

२. 'जाव' पद से 'ठिति-ओगाहणा-पएस' आदि पद 'निहत्त' पदान्त समझ लेने चाहिए।

[३३ प्र.] इस प्रकार ये बारह दण्डक कहने चाहिए—

[प्र.] भगवन् क्या जीव, जातिनामनिधत्त है ?, जातनामनिधत्तायु है ?, क्या जीव, जातिनामनियुक्त हैं ?, जातिनामनियुक्तायु हैं ?, जातिगोत्रनिधत्त हैं ?, जातिगोत्रनिधत्तायु हैं ?, जातिगोत्रनियुक्त हैं ?, जातिगोत्रनियुक्तायु हैं ?, जातिनामगोत्र-निधत्त हैं ?, जातिनामगोत्रनिधत्तायु हैं ?, भगवन् ! क्या जीव जातिनामगोत्रनियुक्तायु हैं ? यावत् अनुभागनाम-गोत्रनियुक्तायु हैं ?

[३३ उ.] गौतम ! जीव, जातिनामनिधत्त भी हैं, यावत् अनुभागनामगोत्रनियुक्तायु भी हैं।

३४. दंडओ जाव वेमाणियाणं।

[३४] यह दण्डक यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन——जीवों के आयुष्यबन्ध के प्रकार एवं जातिनामनिधत्तादि बारह दण्डकों की चौबीस दण्डकीय जीवों में प्ररूपणा—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. २७ से ३४ तक) में जीवों के आयुष्यवन्ध के ६ प्रकार, तथा चौबीस ही दण्डक के जीवों में जातिनामनिधत्तादि वारह दण्डकों—आलापकों की प्ररूपणा की गई है।

षड्विध आयुष्यबन्ध की व्याख्या—(१) **जातिनामनिधत्तायु**—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पांच प्रकार की **जाति** है, तद्रूप जो नाम (अर्थात्-जातिनाम रूप नाम कर्म की एक उत्तर-प्रकृति अथवा जीव का एक प्रकार का परिणाम), वह **जातिनाम** है। उसके साथ निधत्त (निषिक्त या निषेक को—प्रतिसमय अनुभव में आने के लिए कर्मपुद्गलों की रचना को—प्राप्त) जो आयु, उसे जातिनामनिधत्तायु कहते हैं। (२) **गतिनामधित्तायु** एवं (३) **स्थितिनामनिधत्तायु**—नैरयिक आदि चार प्रकार की **'गति'** कहलाती है। अमुक भव में विवक्षित समय तक जीव का रहना **'स्थिति'** कहलाती है। इस रूप आयु को क्रमशः 'गतिनामनिधत्तायु' और 'स्थितिनामनिधत्तायु' कहते हैं। अथवा प्रस्तुत सूत्र में जातिनाम, गतिनाम और अवगाहनानाम का ग्रहण करने से केवल जाति, गति और अवगाहनारूप नामकर्मप्रकृति का कथन किया गया है। तथा स्थिति, प्रदेश और अनुभाग का ग्रहण होने से पूर्वोक्त प्रकृतियों की स्थिति आदि कही गई है। यह स्थिति जात्यादिनाम से सम्बन्धित होने से नामकर्म रूप ही कहलाती है। इसलिए यहाँ सर्वत्र 'नाम' का अर्थ 'नामकर्म' ही घटित होता है, अर्थात्—स्थितिरूप नाम-कर्म जो हो, वह **'स्थितिनाम'** उसके साथ जो निधत्तायु, उसे **'स्थितिनामनिधत्तायु'** कहते हैं। (४) **अवगाहनानामनिधत्तायु**—जीव जिसमें अवगाहित होता—रहता—है, उसे **'अवगाहना'** कहते हैं, वह है—औदारिक आदि शरीर। उसका नाम—**अवगाहनानाम,** अथवा अवगाहनारूप जो परिणाम। उसके साथ निधत्तायु **'अवगाहनानामनिधत्तायु'** कहलाती है। (५) **प्रदेशनामनिधत्तायु**—प्रदेशों का अथवा आयुष्यकर्म के द्रव्यों का उस प्रकार का नाम—परिणमन, वह **प्रदेशनाम;** अथवा प्रदेशरूप एक प्रकार का नामकर्म, वह है—प्रदेशनाम; उसके साथ निधत्तायु, **'प्रदेशनामनिधत्तायु'** कहलाती है। (६) **अनुभागनामनिधत्तायु**—अनुभाग अर्थात् आयुष्यकर्म के द्रव्यों का विपाक, तद्रूप जो नाम (परिणाम), वह है— **अनुभागनाम** अथवा अनुभागरूप जो नामकर्म वह है—**अनुभागनाम**। उसके साथ निधत्त जो आयु, वह **'अनुभागनामनिधत्तायु'** कहलाती है।

आयुष्य जात्यादिनामकर्म से विशेषित क्यों ?—यहाँ आयुष्यबन्ध को विशेष्य और जात्यादि नामकर्म को विशेषण रूप से व्यक्त किया गया है, उसका कारण यह है कि जब नारकादि आयुष्य

का उदय होता है, तभी जात्यादि नामकर्म का उदय होता है। अकेला आयुकर्म ही नैरयिक आदि का भवोपग्राहक है। इसीलिए यहाँ आयुष्य की प्रधानता बताई गई है।

आयुष्य और बन्ध दोनों में अभेद—यद्यपि प्रश्न यहाँ आयुष्यबन्ध के प्रकार के विषय में है, किन्तु उत्तर है—आयुष्य के प्रकार का; तथापि आयुष्य बन्ध इन दोनों में अव्यतिरेक—अभेदरूप है। जो बन्धा हुआ हो, वही आयुष्य, इस प्रकार के व्यवहार के कारण यहाँ आयुष्य के साथ बन्ध का भाव सम्मिलित है।

नामकर्म से विशेषित १२ दण्डकों की व्याख्या—(१) **जातिनाम-निधत्त आदि**—जिन जीवों ने जातिनाम निषिक्त किया है, अथवा विशिष्ट बन्धवाला किया है, वे जीव **'जातिनामनिधत्त'** कहलाते हैं। इसी प्रकार **गतिनामनिधत्त, स्थितिनामनिधत्त, अवगाहनानामनिधत्त, प्रदेशनामनिधत्त,** और **अनुभागनामनिधत्त,** इन सबकी व्याख्या जान लेनी चाहिए। (२) **जातिनामनिधत्तायु**—जिन जीवों ने जातिनाम के साथ आयुष्य को निधत्त किया है, उन्हें 'जातिनामनिधत्तायु' कहते हैं। इसी तरह दूसरे पदों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। (३) **जातिनामनियुक्त**—जिन जीवों ने जातिनाम को नियुक्त (सम्बद्ध—निकाचित) किया है, अथवा वेदन प्रारम्भ किया है, वे। इसी तरह दूसरे पदों का अर्थ जान लेना चाहिए। (४) **जातिनामनियुक्त-आयु**—जिन जीवों ने जातिनाम के साथ आयुष्य नियुक्त किया है, अथवा उसका वेदन प्रारम्भ किया है, वे। इसी प्रकार अन्य पदों का अर्थ भी जान लेना चाहिए। (५) **जातिगोत्रनिधत्त**—जिन जीवों ने एकेन्द्रियादिरूप जाति तथा गोत्र—एकेन्द्रियादि जाति के योग्य नीचगोत्रादि को निधत्त किया है, वे। इसी प्रकार अन्य पदों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। (६) **जातिगोत्रनिधत्तायु**—जिन जीवों ने जाति और गोत्र के साथ आयुष्य को निधत्त किया है, वे। इसी प्रकार अन्य पदों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। (७) **जातिगोत्रनियुक्त**—जिन जीवों ने जाति और गोत्र को नियुक्त किया है, वे। (८) **जातिगोत्रनियुक्तायु**—जिन जीवों ने जाति और गोत्र के साथ आयुष्य को नियुक्त कर लिया है, वे। इसी तरह अन्य पदों का अर्थ भी समझ लें। (९) **जातिनाम-गोत्र-निधत्त**—जिन जीवों ने जाति, नाम और गोत्र को निधत्त किया है, वे। इसी प्रकार दूसरे पदों का अर्थ भी जान लें। (१०) **जाति-नाम-गोत्रनिधत्तायु**—जिन जीवों ने जाति, नाम और गोत्र के साथ आयुष्य को निधत्त कर लिया है, वे। इसी प्रकार अन्य पदों का अर्थ भी जान लेना चाहिए (११) **जाति-नाम-गोत्र-नियुक्त**—जिन जीवों ने जाति, नाम और गोत्र को नियुक्त किया है, वे। इसी प्रकार दूसरे पदों का अर्थ भी समझ लें। (१२) **जाति-नाम-गोत्र-नियुक्तायु**—जिन जीवों ने जाति, नाम और गोत्र के साथ आयुष्य को नियुक्त किया है, वे। इसी तरह अन्य पदों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए।[1]

लवणादि असंख्यात-द्वीप-समुद्रों का स्वरूप और प्रमाण—

३५. लवणे णं भंते ! समुद्दे किं उस्सिओदए, पत्थडोदए, खुभियजले, अखुभियजले ?

गोयमा ! लवणे णं समुद्दे उस्सिओदए, नो पत्थडोदए; खुभियजले, नो अखुभियजले। एत्तो

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८०-२८१

(क) भगवती० (हिन्दीविवेचन) भा-२, पृ. १०५३ से १०५६ तक।

आढत्तं जहा जीवाभिगमे जाव[1] से तेण० गोयमा ! बाहिरया णं दीव-समुद्दापुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठंति, संठाणतो एगविहिविहाणा, वित्थरओ अणेगविहि-विहाणा, दुगुणा दुगुणप्पमाणतो जाव अस्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीव-समुद्दा सयंभूरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणाउसो ! ।

[३५ प्र.] भगवन् ! क्या लवणसमुद्र, उच्छ्रितोदक (उछलते हुए जल वाला) है, प्रस्तृतोदक (सम जलवाला) है, क्षुब्ध जल वाला है अथवा अक्षुब्ध जल वाला है ?

[३५ उ.] गौतम ! लवणसमुद्र उच्छ्रितोदक है, किन्तु प्रस्तृतोदक नहीं है; वह क्षुब्ध जल वाला है, किन्तु अक्षुब्ध जल वाला नहीं है । यहाँ से प्रारम्भ करके जिस प्रकार जीवाभिगम सूत्र में कहा है, इसी प्रकार से जान लेना चाहिए; यावत् इस कारण, हे गौतम ! बाहर के (द्वीप-) समुद्र पूर्ण, पूर्णप्रमाण वाले, छलाछल भरे हुए, छलकते हुए और समभर घट के रूप में, (अर्थात्—परिपूर्ण भरे हुए घड़े के समान), तथा संस्थान से एक ही तरह के स्वरूप वाले, किन्तु विस्तार की अपेक्षा अनेक प्रकार के स्वरूप वाले हैं; द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले हैं; (अर्थात्—अपने पूर्ववर्ती द्वीप से दुगुने प्रमाण वाले हैं) यावत् इस तिर्यक्लोक में असंख्येय द्वीप-समुद्र हैं । सबसे अन्त में 'स्वयम्भूरमण-समुद्र' है । हे श्रमणायुष्मन् ! इस प्रकार द्वीप और समुद्र कहे गए हैं ।

विवेचन—लवणादि असंख्यात द्वीप-समुद्रों का स्वरूप और प्रमाण—प्रस्तुत सूत्र में लवणसमुद्र से लेकर असंख्य द्वीपों एवं समुद्रों के स्वरूप एवं प्रमाण का निरूपण किया गया है ।

लवणसमुद्र का स्वरूप—लवणसमुद्र की जलवृद्धि ऊर्ध्वदिशा में १६००० योजन से कुछ अधिक होती है, इसलिए यह उछलते हुए जल वाला है; सम जल वाला (प्रस्तृतोदक) नहीं । तथा उसमें महा-पातालकलशों में रही हुई वायु के क्षोभ से वेला (ज्वार) आती है, इस कारण लवणसमुद्र का पानी क्षुब्ध होता है, अतएव वह अक्षुब्धजल वाला नहीं है ।[2]

अढाई द्वीप और दो समुद्रों से बाहर के समुद्र—बाहर के समुद्रों के वर्णन के लिए मूलपाठ में जीवाभिगम सूत्र का निर्देश किया है । संक्षेप में, वे समुद्र क्षुब्धजल वाले नहीं, अक्षुब्धजल वाले हैं, तथा वे उछलते हुए जल वाले नहीं, अपितु समजल वाले हैं, पूर्ण, पूर्णप्रमाण, यावत् पूर्ण भरे हुए घड़े के समान हैं । लवणसमुद्र में महामेघ संस्वेदित, सम्मूर्च्छित होते हैं, वर्षा बरसाते हैं, किन्तु बाहर के समुद्रों में ऐसा नहीं होता । बाहरी समुद्रों में बहुत-से उदकयोनि के जीव और पुद्गल उदकरूप में अपक्रमते हैं, व्युत्क्रमते हैं, च्यवते हैं और उत्पन्न होते हैं । इन सब समुद्रों का संस्थान समान है किन्तु विस्तार की अपेक्षा ये पूर्व-पूर्व द्वीप से दुगने-दुगने होते चले गए हैं ।[3]

---

१. 'जाव' पद से यह पाठ जानना चाहिए—"**पवित्थरमाणा २ बहुउप्पलपउमकुमुयनलिणसुभगसोगंधियपुंडरीय-महापुंडरीयसतपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवइया उब्भासमाणवीइया ।**"

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८२

३. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवादटिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. ३३४-३३५

(ख) जीवाभिगमसूत्र वृत्तिसहित प्रतिपत्ति ३, पत्रांक ३२०-३२१

(ग) तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य, अ. ३, सू. ८ से १३ तक

द्वीप-समुद्रों के शुभ नामों का निर्देश—

३६. दीव-समुद्दा णं भंते ! केवतिया नामधेज्जेहिं पण्णत्ता ?

गोयमा ! जावतिया लोए सुभा नामा, सुभा रूवा, सुभा गंधा, सुभा रसा, सुभा फासा एवतिया णं दीव-समुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता। एवं नेयव्वा सुभा नामा, उद्धारो परिणामो सव्वजीवाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छट्ठे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥

[३६ प्र.] भगवन् ! द्वीप-समुद्रों के कितने नाम कहे गए हैं ?

[३६ उ.] गौतम ! इस लोक में जितने भी शुभ नाम हैं, शुभ रूप, शुभ रस, शुभ गन्ध और शुभ स्पर्श हैं, उतने ही नाम द्वीप-समुद्रों के कहे गए हैं। इस प्रकार सब द्वीप-समुद्र शुभ नाम वाले जानने चाहिए। तथा उद्धार, परिणाम और सर्व जीवों का (द्वीपों एवं समुद्रों में) उत्पाद जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् श्री गौतमस्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—द्वीपों-समुद्रों के शुभनामों का निर्देश—प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। **द्वीप-समुद्रों के शुभ नाम**—ये समुद्र बहुत-से उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुन्दर एवं सुगन्धित पुण्डरीक-महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, केशर एवं विकसित पद्मों आदि से युक्त हैं। स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि सुशब्द, पीतादि सुन्दर रूपवाचक शब्द, कपूर आदि सुगन्धवाचक शब्द, मधुररसवाचक शब्द तथा नवनीत आदि मृदुस्पर्शवाचक शब्द जितने भी इस लोक में हैं, उतने ही शुभ नामों वाले द्वीप-समुद्र हैं।

ये द्वीप-समुद्र उद्धार, परिणाम और उत्पाद वाले—ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम, या २५ कोड़ा-कोड़ी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में जितने समय होते हैं, उतने लोक में द्वीप-समुद्र हैं, ये द्वीपसमुद्र पृथ्वी, जल, जीव और पुद्गलों के परिणाम वाले हैं, इनमें जीव पृथ्वीकायिक से यावत् त्रसकायिक रूप में अनेक या अनन्त वार पहले उत्पन्न हो चुके हैं।[3]

॥ छठा शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २८२

(ख) जीवाभिगम. सवृत्तिक पत्र-३७२-३७३

(ग) तत्त्वार्थ. अ. ३, सू. ७

नवमो उद्देसओ : 'कम्म'

नवम उद्देशक : कर्म

ज्ञानावरणीयबन्ध के साथ अन्य कर्मबन्ध-प्ररूपणा—

१. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मप्पगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, छव्विहबंधए वा । बंधुद्देसो पण्णवणाए नेयव्वो ।

[१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ जीव कितनी कर्म-प्रकृतियों को बाँधता है ?

[१ उ.] गौतम ! सात प्रकृतियों को बांधता है, आठ प्रकार को बांधता है अथवा छह प्रकृतियों को बांधता है । यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का बन्ध-उद्देशक कहना चाहिए ।

विवेचन—ज्ञानावरणीय बन्ध के साथ अन्यकर्मबन्धप्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध के साथ-साथ अन्य कर्म-प्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा की गई है ।

स्पष्टीकरण—जिस सयय जीव का आयुष्यबन्धकाल नहीं होता, उस समय वह ज्ञानावरणीय को बांधते समय आयुष्यकर्म को छोड़कर सात कर्मों को बांधता है, आयुष्य के बन्धकाल में आठ कर्म-प्रकृतियों को बांधता है, किन्तु सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान की अवस्था में मोहनीय कर्म और आयुकर्म को नहीं बांधता, इसलिए वहाँ ज्ञानावरणीय कर्म बांधता हुआ जीव छह कर्मप्रकृतियों को बांधता है ।[1]

बाह्यपुद्गलों के ग्रहणपूर्वक महर्द्धिकादि देव की एक वर्णादि के पुद्गलों को अन्य वर्णादि में विकुर्वण एवं परिणमन-सामर्थ्य —

२. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव[2] महाणुभागे बाहिरए पोग्गले अपरियादिइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८३

(ख) प्रज्ञापनासूत्र, पद २४, बन्धोद्देशक (मू॰ पा. टि.) विभाग १, प. ३८५ से ३८७ तक

(ग) प्रज्ञापनासूत्रीय बन्धोद्देशक का सारांश—

(प्र.) भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ नैरयिक ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधता है ?

(उ.) गौतम ! वह या तो आठ प्रकार के कर्म को बांधता है या सात प्रकार के कर्म बांधता है । इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक कहना । विशेष यह है कि जैसे समुच्चय जीव के लिए कहा, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए कहना; कि वह आठ, सात या छह प्रकृतियों को बांधता है ।

—प्रज्ञापना पद २४, बन्धोद्देशक

२. 'जाव' पद से सूचित पाठ—"महज्जुइए महाबले महाजसे महेसक्खे (महासोक्खे-महासक्खे) महाणुभागे" जीवाभिगमसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०९

गोयमा ! नो इणट्ठे०।

[२ प्र.] भगवन् ! महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव बाहर के पुद्‌गलों को ग्रहण किये बिना एक वर्ण वाले और एक रूप (एक आकार वाले) (स्वशरीरादि) की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

३. देवे णं भंते ! बाहिरए पोग्गले परियादिइत्ता पभू ?

हंता, पभू।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या वह देव बाहर के पुद्‌गलों को ग्रहण करके (उपर्युक्त रूप से) विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[३ उ.] हाँ गौतम ! (वह ऐसा करने में) समर्थ है।

४. से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वति, तत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वति, अन्नत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वति ?

गोयमा ! नो इहगते पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वति, तत्थगते पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वति, नो अन्नत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वति।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या वह देव इहगत (यहाँ रहे हुए) पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है अथवा तत्रगत (वहाँ—देवलोक में रहे हुए) पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है या अन्यत्रगत (किसी दूसरे स्थान में रहे हुए) पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है ?

[४ उ.] गौतम ! वह देव, यहाँ रहे हुए पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा नहीं करता, वह वहाँ (देवलोक में रहे हुए तथा जहाँ विकुर्वणा करता है, वहाँ) के पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है, किन्तु अन्यत्र रहे हुए पुद्‌गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा नहीं करता।

५. एवं एतेणं गमेणं जाव एगवण्णं एगरूवं, एगवण्णं अणेगरूवं, अणेगवण्णं एगरूवं, अणेगवण्णं अणेगरूवं, चउण्हं चउभंगो।

[५] इस प्रकार इस गम (आलापक) द्वारा विकुर्वणा के चार भंग कहने चाहिए (१) एक वर्ण वाला, एक आकार (रूप) वाला, (२) एक वर्ण वाला अनेक आकार वाला, (३) अनेक वर्ण वाला और एक आकार वाला, तथा (४) अनेक वर्ण वाला, और अनेक आकार वाला। (अर्थात्—वह इन चारों प्रकार के रूपों को विकुर्वित करने में समर्थ है।)

६. देवे णं भंते ! महिड्ढीए जाव महाणुभागे बाहिरए पोग्गले अपरियादिइत्ता पभू कालगं पोग्गलं नीलगपोग्गलत्ताए परिणामित्तए ? नीलगं पोग्गलं वा कालगपोग्गलत्ताए परिणामित्तए ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, परियादितित्ता पभू।

[६ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक यावत् महानुभाग वाला देव, बाहर के पुद्‌गलों को ग्रहण किये बिना काले पुद्‌गल को नीले पुद्‌गल के रूप में, और नीले पुद्‌गल को काले पुद्‌गल के रूप में परिणत करने में समर्थ है ?

[६ उ.] गौतम ! (बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये विना) यह अर्थ समर्थ नहीं है; किन्तु बाहरी पुद्गलों को ग्रहण करके देव वैसा करने में समर्थ है ।

७. से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले० तं चेव, नवरं परिणामेति त्ति भाणियव्वं ।

[७ प्र.] भगवन् ! वह देव इहगत, तत्रगत या अन्यत्रगत पुद्गलों (में से किन) को ग्रहण करके वैसा करने में समर्थ है ?

[७ उ.] गौतम ! वह इहगत और अन्यत्रगत पुद्गलों को ग्रहण करके वैसा नहीं कर सकता, किन्तु तत्र (देवलोक—) गत पुद्गलों को ग्रहण करके वैसा परिणत करने में समर्थ है । [विशेष यह है कि यहाँ **'विकुर्वित करने में'** के बदले **'परिणत करने में'** कहना चाहिए ।]

८. [१] एवं कालगपोग्गलं लोहियपोग्गलत्ताए ।

[२] एवं कालएण जाव[1] सुक्किलं ।

[८-१.] इसी प्रकार काले पुद्गल को लाल पुद्गल के रूप में (परिणत करने में समर्थ है ।)

[८-२.] इसी प्रकार काले पुद्गल के साथ यावत् शुक्ल पुद्गल तक समझना ।

९. एवं णीलएणं जाव सुक्किलं ।

[९] इसी प्रकार नीले पुद्गल के साथ यावत् शुक्ल पुद्गल तक जानना ।

१०. एवं लोहिएणं जाव सुक्किलं ।

[१०] इसी प्रकार लाल पुद्गल को यावत् शुक्ल तक (परिणत करने में समर्थ है ।)

११. एवं हालिद्दएणं जाव सुक्किलं ।

[११] इसी प्रकार पीले पुद्गल को यावत् शुक्ल तक (परिणत करने में समर्थ है; यों कहना चाहिए ।)

१२. एवं एताए परिवाडीए गंध-रस-फास० कक्खडफासपोग्गलं मउयफासपोग्गलत्ताए । एवं दो दो गरुय-लहुय २, सीय-उसिण २, णिद्ध-लुक्ख २, वण्णाइ सव्वत्थ परिणामेइ । आलावगा य दो दो-पोग्गले अपरियादिइत्ता, परियादिइत्ता ।

[१२] इसी प्रकार इस क्रम (परिपाटी) के अनुसार गन्ध, रस और स्पर्श के विषय में भी समझना चाहिए । यथा—(यावत्) कर्कश स्पर्शवाले पुद्गल को मृदु (कोमल) स्पर्शवाले (पुद्गल में परिणत करने में समर्थ है ।)

इसी प्रकार दो-दो विरुद्ध गुणों को अर्थात् गुरु और लघु, शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, वर्ण आदि को वह सर्वत्र परिणमाता है । 'परिणमाता है' इस क्रिया के साथ यहाँ इस प्रकार दो-दो आलापक कहने चाहिए; यथा—(१) पुद्गलों को ग्रहण करके परिणमाता है, (२) पुद्गलों को ग्रहण किये विना नहीं परिणमाता ।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ सर्वत्र आगे-आगे के सभी वर्ण जान लेने चाहिए ।

विवेचन—**बाह्य पुद्गलों के ग्रहणपूर्वक महर्द्धिकादि देव की एक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श के पुद्गलों को अन्य वर्णादि में विकुर्वण एवं परिणमन-सामर्थ्य**—प्रस्तुत ११ सूत्रों में महर्द्धिक देव के द्वारा बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके एक वर्णादि के पुद्गलों को एक या अनेक अन्य वर्णादि के रूप में विकुर्वित अथवा परिणमित करने के सामर्थ्य के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—महर्द्धिक यावत् महाप्रभावशाली देव देवलोक में रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके उत्तरवैक्रियरूप बना सकता (विकुर्वणा करता) है और फिर दूसरे स्थान में जाता है, किन्तु इहगत अर्थात्—प्रश्नकार के समीपस्थ क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलों को तथा अन्यत्रगत—प्रज्ञापक के क्षेत्र और देव के स्थान से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा नहीं कर सकता।[1]

विभिन्न वर्णादि के २५ आलापकसूत्र—मूलपाठ में उक्त अतिदेशानुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के आलापकसूत्र इस प्रकार बनते हैं—

(१) पांच वर्णों के १० द्विकसंयोगी आलापकसूत्र—(१) काले को नीलरूप में, (२) काले को लोहितरूप में, (३) काले को हारिद्ररूप में, (४) काले को शुक्लरूप में, (५) नीले को लोहित-रूप में, (६) नील को हारिद्ररूप में, (७) नीले को शुक्लरूप में, (८) लोहित को हारिद्ररूप में, (९) लोहित को शुक्लरूप में, तथा (११) हारिद्र को शुक्लरूप में परिणमा सकता है।

(२) दो गंध का एक आलापकसूत्र—(१) सुगन्ध को दुर्गन्धरूप में, अथवा दुर्गन्ध को सुगन्धरूप में।

(३) पांच रस के दस आलापकसूत्र—(१) तिक्त को कटुरूप में, (२) तिक्त को कषायरूप में, (३) तिक्त को अम्लरूप में, (५) तिक्त को मधुररूप में, (५) कटु को कषायरूप में, (६) कटु को अम्लरूप में, (७) कटु को मधुररूप में, (८) कषाय को अम्लरूप में, (९) कषाय को मधुररूप में, और (१०) अम्ल को मधुररूप में परिणमा सकता है।

(४) आठ स्पर्श के चार आलापकसूत्र—(१) गुरु को लघुरूप में अथवा लघु को गुरुरूप में, (२) शीत को उष्णरूप में या उष्ण को शीतरूप में, (३) स्निग्ध को रूक्षरूप में या रूक्ष को स्निग्धरूप में, और (४) कर्कश को कोमलरूप में या कोमल को कर्कशरूप में परिणमा सकता है।[2]

अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यायुक्त देवों द्वारा अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यावाले देवादि को जानने-देखने की प्ररूपणा—

१३. [१] अविसुद्धलेसे णं भंते ! देवे असमोहतेणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देविं अन्नयरं जाणति पासति ?

णो इणट्ठे समट्ठे १।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या अविशुद्ध लेश्यावाला देव असमवहत—(उपयोगरहित) आत्मा

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८३

२. भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. ३३९

से अविशुद्ध लेश्यावाले देव को या देवी को या अन्यतर को (—इन दोनों में से किसी एक को) जानता और देखता है ?

[१३-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है ।

[1][२] एवं अविसुद्धलेसे० असमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे २ ।
अविसुद्धलेसे० समोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे ३ ।
अविसुद्धलेसे देवे समोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे ४ ।
अविसुद्धलेसे० समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं० ? णो इणट्ठे समट्ठे ५ ।
अविसुद्धलेसे समोहयासमोहतेणं० विसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे ६ ।
विसुद्धलेसे० असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे ७ ।
विसुद्धलेसे० असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं० ? नो इणट्ठे समट्ठे ८ ।
विसुद्धलेसे णं भंते ! देवे समोहएणं० अविसुद्धलेसं देवं० जाणइ० ? हंता, जाणइ० ९ ।
एवं विसुद्धलेसे० समोहएणं० विसुद्धलेसं देवं० जाणइ० ? हंता, जाणइ० १० ।
विसुद्धलेसे० समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं जाणइ २ ? हंता, जाणइ० ११ ।
विसुद्धलेसे० समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं० ? हंता, जाणइ० १२ ।[2]
एवं हेट्ठिल्लएहिं अट्ठहिं न जाणइ न पासइ, उवरिल्लएहिं चउहिं जाणइ पासइ ।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ छट्ठ सए : नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[१३-२] २—इसी तरह अविशुद्ध लेश्यावाला देव अनुपयुक्त (असमवहत) आत्मा से, विशुद्ध लेश्यावाले देव को, देवी को या अन्यतर को जानता और देखता है ?

३. अविशुद्ध लेश्यावाला देव उपयुक्त आत्मा से अविशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

४. अविशुद्ध लेश्यावाला देव उपयुक्त आत्मा से विशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

५. अविशुद्ध लेश्यावाला देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से अविशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

६. अविशुद्ध लेश्यावाला देव, उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से विशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

७. विशुद्ध लेश्यावाला देव, अनुपयुक्त आत्मा द्वारा, अविशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

१-२. इन दो चिह्नों के अन्तर्गत पाठ इस वाचना की प्रति में नहीं है, वाचनान्तर की प्रति में है, ऐसा वृत्तिकार का मत है । —सं.

८. विशुद्ध लेश्यावाला देव, अनुपयुक्त आत्मा द्वारा, विशुद्ध लेश्यावाले, देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

[आठों प्रश्नों का उत्तर] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—नहीं जानता-देखता।)

[९ प्र.] भगवन् ! विशुद्ध लेश्यावाला देव क्या उपयुक्त आत्मा से अविशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी *या अन्यतर को जानता-देखता है ?*

[९ उ.] हाँ गौतम ! ऐसा देव जानता और देखता है।

[१० प्र.] इसी प्रकार क्या विशुद्ध लेश्यावाला देव, उपयुक्त आत्मा से विशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

[१० उ.] हाँ गौतम ! वह जानता-देखता है।

[११ प्र.] विशुद्ध लेश्यावाला देव, उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से, अविशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

[१२ प्र.] विशुद्ध लेश्यावाला देव, उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से, विशुद्ध लेश्यावाले देव, देवी या अन्यतर को जानता-देखता है ?

[११-१२ उ.] हाँ गौतम ! वह जानता और देखता है। यों पहले (निचले) जो आठ भंग कहे गए हैं, उन आठ भंगों वाले देव नहीं जानते-देखते। किन्तु पीछे (ऊपर के) जो चार भंग कहे गए हैं, उन चार भंगों वाले देव, जानते और देखते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर श्री गौतम स्वामी····यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यायुक्त देवों द्वारा अविशुद्ध-विशुद्ध लेश्यावाले देवादि को जानने-देखने सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया १२ विकल्पों द्वारा देवों द्वारा देव, देवी एवं अन्यतर को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा की गई है।

तीन पदों के बारह विकल्प—

(१) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव अनुपयुक्त आत्मा से अशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(२) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव अनुपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(३) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्त आत्मा से अविशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(४) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(५) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से अविशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(६) अविशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(७) विशुद्धलेश्यायुक्त देव अनुपयुक्त आत्मा से अविशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(८) विशुद्धलेश्यायुक्त देव अनुपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(९) विशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्त आत्मा से अविशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······
(१०) विशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को·······

(११) विशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से अविशुद्धलेश्यावाले देवादि को····

(१२) विशुद्धलेश्यायुक्त देव उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा से विशुद्धलेश्यावाले देवादि को········

अविशुद्धलेश्यावाले देव विभंगज्ञानी होते हैं, इसलिए पूर्वोक्त ६ विकल्पों में उक्त देव मिथ्यादृष्टि होने के कारण देव-देवी आदि को नहीं जान-देख सकते। तथा सातवें-आठवें विकल्प में उक्त देव अनुपयुक्तता के कारण जान-देख नहीं पाते। किन्तु अन्तिम चार विकल्पों में उक्त देव एक तो, सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे उनमें से ९वें, १०वें विकल्पों में उक्त देव उपयुक्त भी है, तथा ११वें, १२वें विकल्प में उक्त देव उपयुक्तानुपयुक्त में उपयुक्तपन सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञान का कारण है। इसलिए पिछले चारों विकल्प वाले देव, देवादि को जानते-देखते हैं।[1]

॥ छठा शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचनयुक्त) भा. २, पृ. १०६६

दसमो उद्देसओ : 'अन्नउत्थी'

दशम उद्देशक : अन्यतीर्थी

अन्यतीर्थिकमतनिराकरणपूर्वक सम्पूर्ण लोक में सर्वजीवों के सुखदुःख को अणुमात्र भी दिखाने की असमर्थता की प्ररूपणा—

१. [१] अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति-जावतिया रायगिहे नयरे जीवा एवतियाणं जीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा दुहं वा जाव कोलट्ठिगमातमवि निप्फावमातमवि कलममायमवि माससमायमवि मुग्गमातमवि जूयामायमवि लिक्खामायमवि अभिनिवट्टेत्ता उवदंसित्तए, से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोतमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि सव्वलोए वि य णं सव्वजीवाणं णो चक्किया केइ सुहं वा तं चेव जाव उवदंसित्तए।

[१-१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि राजगृह नगर में जितने जीव हैं, उन सबके दुःख या सुख को वेर की गुठली जितना भी, वाल (निष्पाव नामक धान्य) जितना भी, कलाय (गुवार के दाने या काली दाल अथवा मटर या चावल) जितना भी, उड़द के जितना भी, मूंग-प्रमाण, यूका (जूं) प्रमाण, लिक्षा (लीख) प्रमाण भी वाहर निकाल कर नहीं दिखा सकता। भगवन् ! यह वात यों कैसे हो सकती है ?

[१-१ उ.] गौतम ! जो अन्यतीर्थिक उपर्युक्त प्रकार से कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि (केवल राजगृह नगर में ही नहीं) सम्पूर्ण लोक में रहे हुए सर्व जीवों के सुख या दुःख को कोई भी पुरुष उपर्युक्तरूप से यावत् किसी भी प्रमाण में वाहर निकाल कर नहीं दिखा सकता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे २ जाव विसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते। देवे णं महिड्ढीए जाव महाणुभागे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गगं गहाय तं अवदालेति, तं अवदालित्ता जाव इणामेव कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं २ तिहिं अच्छरानिवातेहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छेज्जा, से नूणं गोतमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे २ तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?

हंता, फुडे। चक्किया णं गोतमा ! केइ तेसिं घाणपोग्गलाणं कोलट्ठियमायमवि जाव उवदंसित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे। से तेणट्ठेणं जाव उवदंसेत्तए।

[१-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[१-२ उ.] गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप एक लाख योजन का लम्बा-चौड़ा है । इसकी परिधि ३ लाख १६ हजार दो सौ २७ योजन, ३ कोश, १२८ धनुष और १३½ अंगुल से कुछ अधिक है। कोई महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव एक बड़े विलेपन वाले गन्धद्रव्य के डिब्बे को लेकर उघाड़े और उघाड़ कर तीन चुटकी बजाए, उतने समय में उपर्युक्त जम्बूद्वीप की ११ बार परिक्रमा करके वापस शीघ्र आए तो हे गौतम ! (मैं तुम से पूछता हूँ—) उस देव की इस प्रकार की शीघ्र गति से गन्ध पुद्गलों के स्पर्श से यह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप स्पृष्ट हुआ या नहीं ?

(गौतम—) हाँ भगवन् ! वह स्पृष्ट हो गया ।

[भगवान्—] हे गौतम ! कोई पुरुष उन गन्धपुद्गलों को बेर की गुठली जितना भी, यावत् लिक्षा जितना भी दिखलाने में समर्थ है ?

[गौतम—] भगवन् ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[भगवान्—] हे गौतम ! इसी प्रकार जीव के सुख-दुःख को भी बाहर निकाल कर बतलाने में, यावत् कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं है ।

विवेचन—अन्यतीर्थिकमत—निराकरणपूर्वक सम्पूर्ण लोक में सर्वजीवों के सुख-दुःख को अणुमात्र भी दिखाने की असमर्थता की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में राजगृहवासी जीवों के सुख-दुःख को लिक्षाप्रमाण भी दिखाने में असमर्थता की अन्यतीर्थिकप्ररूपणा का निराकरण करते हुए सम्पूर्ण लोक में सर्वजीवों के सुख दुःख को अणुमात्र भी दिखाने की असमर्थता की सयुक्तिक भगवद्-मत प्ररूपणा प्रस्तुत की गई है ।

दृष्टान्त द्वारा स्वमत-स्थापना—जैसे गन्ध के पुद्गल मूर्त्त होते हुए भी अतिसूक्ष्म होने के कारण अमूर्त्ततुल्य हैं, उन्हें दिखलाने में कोई समर्थ नहीं, वैसे ही समग्र लोक के सर्वजीवों के सुख-दुःख को भी बाहर निकाल कर दिखाने में कोई भी समर्थ नहीं है ।[1]

जीव का निश्चित स्वरूप और उसके सम्बन्ध में अनेकान्त शैली में प्रश्नोत्तर—

२. जीवे णं भंते ! जीवे ? जीवे जीवे ?

गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या जीव चैतन्य है या चैतन्य जीव है ?

[२ उ.] गौतम ! जीव तो नियमतः (निश्चितरूप से) जीव (चैतन्य स्वरूप है) और जीव (चैतन्य) भी निश्चितरूप से जीवरूप है ।

३. जीवे णं भंते ! नेरइए ? नेरइए जीवे ?

गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या जीव नैरयिक है या नैरयिक जीव है ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८५

[३ उ.] गौतम ! नैरयिक तो नियमतः जीव है, और जी
सकता है, कदाचित् नैरयिक से भिन्न भी हो सकता है।

४. जीवे णं भंते ! असुरकुमारे ? असुरकुमारे जीवे ?

गोतमा ! असुरकुमारे ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय असुरकुमारे, सिय णो असुरकुमारे।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या जीव, असुरकुमार है या असुरकुमार जीव है ?

[४ उ.] गौतम ! असुरकुमार तो नियमतः जीव है, किन्तु जीव तो कदाचित् असुरकुमार भी होता है, कदाचित् असुरकुमार नहीं भी होता।

५. एवं दंडओ णेयव्वो जाव वेमाणियाणं।

[५] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक सभी दण्डक (आलापक) कहने चाहिए।

६. जीवति भंते ! जीवे ? जीवे जीवति ?

गोयमा ! जीवति ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवति, सिय नो जीवति।

[६ प्र.] भगवन् ! जो जीता—प्राण धारण करता है, वह जीव कहलाता है, या जो जीव है, वह जीता—प्राण धारण करता है ?

[६ उ.] गौतम ! जो जीता—प्राण धारण करता है, वह तो नियमतः जीव कहलाता है, किन्तु जो जीव होता है, वह प्राण धारण करता (जीता) भी है और कदाचित् प्राण धारण नहीं भी करता।

७. जीवति भंते ! नेरतिए ? नेरतिए जीवति ?

गोयमा ! नेरतिए ताव नियमा जीवति, जीवति पुण सिय नेरतिए, सिय अनेरइए।

[७ प्र.] भगवन् ! जो जीता है, वह नैरयिक कहलाता है, या जो नैरयिक होता है, वह जीता—प्राण धारण करता है ?

[७ उ.] गौतम ! नैरयिक तो नियमतः जीता है, किन्तु जो जीता है, वह नैरयिक भी होता है, और अनैरयिक भी होता है।

८. एवं दंडओ नेयव्वो जाव वेमाणियाणं।

[८] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त सभी दण्डक (आलापक) कहने चाहिए।

९. भवसिद्धीए णं भंते ! नेरइए ? नेरइए भवसिद्धीए ?

गोयमा ! भवसिद्धीए सिय नेरइए, सिय अनेरइए। नेरतिए वि य सिय भवसिद्धीए, सिय अभवसिद्धीए।

[९ प्र.] भगवन् ! जो भवसिद्धिक होता है, वह नैरयिक होता है
वह भवसिद्धिक होता है ?

[९ उ.] गौतम ! जो भवसिद्धिक (भव्य) होता है, वह नैरयिक भी होता है, और अनैरयिक भी होता है। तथा जो नैरयिक होता है, वह भवसिद्धिक भी होता है और अभवसिद्धिक भी होता है।

१०. एवं दंडओ जाव वेमाणियाणं।

[१०] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त सभी दण्डक (आलापक) कहने चाहिए।

विवेचन—जीव का निश्चित स्वरूप और उसके सम्बन्ध में अनेकान्तशैली में प्रश्नोत्तर— प्रस्तुत नौ सूत्रों (सू. २ से १० तक) में जीव के सम्बन्ध में निम्नोक्त अंकित किये गए हैं—

१. जीव नियमतः चैतन्यरूप है और चैतन्य भी नियमतः जीव-स्वरूप है।

२. नैरयिक नियमतः जीव है, किन्तु जीव कदाचित् नैरयिक और कदाचित् अनैरयिक भी हो सकता है।

३. असुरकुमार से लेकर वैमानिक देव तक नियमतः जीव हैं, किन्तु जीव कदाचित् असुरकुमारादि होता है, कदाचित् नहीं भी होता।

४. जो जीता (प्राण धारण करता) है, वह निश्चय ही जीव है, किन्तु जो जीव होता है, वह (द्रव्य-) प्राण धारण करता है और नहीं भी करता।

५. नैरयिक नियमतः जीता है, किन्तु जो जीता है, वह नैरयिक भी हो सकता है, अनैरयिक भी। यावत् वैमानिक तक यही सिद्धान्त है।

६. जो भवसिद्धिक होता है, वह नैरयिक भी होता है, अनैरयिक भी। तथा जो नैरयिक होता है, वह भवसिद्धिक होता है, अभवसिद्धिक भी।[1]

दो बार जीव शब्दप्रयोग का तात्पर्य—दूसरे प्रश्न में जो दो बार जीवशब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें से एक जीव शब्द का अर्थ 'जीव' (चेतन-धर्मीद्रव्य) है, जबकि दूसरे जीवशब्द का अर्थ चैतन्य (धर्म) है। जीव और चैतन्य में अविनाभाव, सम्बन्ध बताने हेतु यह समाधान दिया गया है। अर्थात्—जो जीव है, वह चैतन्यरूप है और जो चैतन्यरूप है, वह जीव है।

'जीव, कदाचित् जीता है, कदाचित् नहीं जीता; इसका तात्पर्य—अजीव के तो आयुष्यकर्म न होने से वह प्राणों को धारण नहीं करता, किन्तु जीवों में भी जो संसारी जीव हैं, वे ही प्राणों को धारण करते हैं, किन्तु जो सिद्ध जीव हैं, वे जीव होते हुए भी द्रव्यप्राणों को धारण नहीं करते। इस अपेक्षा से कहा गया है—जो जीव होता है, वह जीता (प्राण धारण करता) भी है, नहीं भी जीता।[2]

एकान्तदुःखवेदनरूप अन्यतीर्थिकमतनिराकरणपूर्वक अनेकान्तशैली से सुखदुःखादिवेदन-प्ररूपणा—

११. [१] अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति—"एवं खलु सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एगंतदुक्खं वेदणं वेदेंति से कहमेतं भंते ! एवं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं [मूलपाठ टिप्पणयुक्त] भा. १, पृ. २७०-२७१

२. भगवती० अ. वृत्ति, पत्रांक २८९

गोतमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोतमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेदणं वेदेंति, आहच्च सातं। अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतसातं वेदणं वेदेंति, आहच्च असायं वेयणं वेदेंति। अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता वेमाताए वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं।

[११-१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एकान्तदु:खरूप वेदना को वेदते (भोगते—अनुभव करते) हैं, तो भगवन् ! ऐसा कैसे हो सकता है ?

[११-१ उ.] गौतम ! अन्यतीर्थिक जो यह कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ—कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एकान्तदु:खरूप वेदना वेदते हैं, और कदाचित् साता (सुख) रूप वेदना भी वेदते हैं; कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एकान्त साता (सुख) रूप वेदना वेदते हैं और कदाचित् असाता (दु:ख) रूप वेदना भी वेदते हैं; तथा कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व विमात्रा (विविध प्रकार) से वेदना वेदते हैं; (अर्थात्—) कदाचित् सातारूप और कदाचित् असातारूप (वेदना वेदते हैं।)

[२] **से केणट्ठेणं० ?**

गोयमा ! नेरइया एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, आहच्च सातं। भवणवति-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया एगंतसातं वेदणं वेदेंति, आहच्च असायं। पुढविक्काइया जाव मणुस्सा वेमाताए वेदणं वेदेंति, आहच्च सातमसातं। से तेणट्ठेणं०।

[११-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कथन किया जाता है ?

[११-२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव, एकान्तदु:खरूप वेदना वेदते हैं, और कदाचित् सातारूप वेदना भी वेदते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक एकान्तसाता (सुख) रूप वेदना वेदते हैं, किन्तु कदाचित् असातारूप वेदना भी वेदते हैं। तथा पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर मनुष्यों पर्यन्त विमात्रा से (विविध रूपों में) वेदना वेदते हैं। (अर्थात्) कदाचित् सुख और कदाचित् दु:ख वेदते हैं। इसी कारण से, हे गौतम ! उपर्युक्त रूप से कहा गया है।

विवेचन—एकान्तदु:खवेदनरूप अन्यतीर्थिकमत-निराकरणपूर्वक अनेकान्तशैली से सुख-दु:खादिवेदना-प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में अन्यतीर्थिकों की सब जीवों द्वारा एकान्तदु:खवेदन की मान्यता का खण्डन करते हुए अनेकान्तशैली से दु:खबहुल सुख, सुखबहुल दु:ख एवं सुख-दु:खमिश्र के वेदन का निरूपण किया गया है।

समाधान का स्पष्टीकरण—नैरयिक जीव एकान्त दु:ख वेदते हैं, किन्तु तीर्थंकर भगवान् के जन्मादि कल्याणकों के अवसर पर कदाचित् सुख भी वेदते हैं। देव एकान्तसुख वेदते हैं, किन्तु पारस्परिक आहनन (संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष आदि) में, तथा प्रिय वस्तु के वियोगादि में असाता वेदना भी वेदते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर मनुष्यों तक के जीव किसी समय सुख और किसी समय दु:ख, कभी सुख-दु:ख—मिश्रित वेदना वेदते हैं।[1]

---

१. भगवती० अ० वृत्ति, पत्रांक २८६

चौबीस दण्डकों में आत्म-शरीरक्षेत्रावगाढ़पुद्गलाहार प्ररूपणा—

१२. नेरतिया णं भंते ! जे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति ते किं आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति ? अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति ? परंपरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति ?

गोतमा ! आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति, नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति, नो परंपरखेत्तोगाढे ।

[१२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव, जिन पुद्गलों का आत्मा (अपने) द्वारा ग्रहणते—आहार करते हैं, क्या वे आत्म-शरीर क्षेत्रावगाढ़ (जिन आकाशप्रदेशों में शरीर है, उन्हीं प्रदेशों में स्थित) पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं ? या अनन्तरक्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं ? अथवा परम्परक्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा करते हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! वे आत्म-शरीर-क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं, किन्तु न तो अनन्तर क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं और न ही परम्पर-क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं ।

१३. जहा नेरइया तहा जाव वेमाणियाणं दंडओ ।

[१३] जिस प्रकार नैरयिकों के लिए कहा, उसी प्रकार यावत् वैमानिक-पर्यन्त दण्डक (आलापक) कहना चाहिए ।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में आत्मशरीरक्षेत्रावगाढ़पुद्गलाहार-प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने समस्त संसारी जीवों के द्वारा आहाररूप में ग्रहण योग्य पुद्गलों के सम्बन्ध में प्रश्न उठा कर स्वसिद्धान्तसम्मत निर्णय प्रस्तुत किया है ।

निष्कर्ष—जीव स्वशरीरक्षेत्र में रहे हुए पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण करते हैं, किन्तु स्वशरीर से अनन्तर और परम्पर क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलों का आत्मा द्वारा आहार नहीं करता ।[1]

केवली भगवान् का आत्मा द्वारा ज्ञान-दर्शनसामर्थ्य—

१४, [१] केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणति पासति ?

गोतमा ! नो इणट्ठे० ।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या केवली भगवान् इन्द्रियों द्वारा जानते-देखते हैं ?

[१४-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेणं मितं पि जाणति अमितं पि जाणति जाव निव्वुडे दंसणे केवलिस्स, से तेणट्ठेणं० ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८६

[१४-१ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[१४-२ उ.] गौतम ! केवली भगवान् पूर्व दिशा में मित (परिमित) को भी जानते हैं और अमित को भी जानते हैं; यावत् केवली का (ज्ञान और) दर्शन निर्वृत्त, (परिपूर्ण, कृत्स्न और निरावरण) होता है। हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है।

विवेचन—केवली भगवान् का आत्मा द्वारा ही ज्ञान-दर्शन-सामर्थ्य—इस सम्बन्ध में इसी शास्त्र के पंचम शतक, चतुर्थ उद्देशक में विशेष विवेचन दिया गया है।

दसवें उद्देशक की संग्रहणी गाथा—

१५. गाहा—

जीवाण सुहं दुक्खं जीवे जीवति तहेव भविया य।
एगंतदुक्खवेदण अत्तमायाय केवली ॥१॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छट्ठे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ छट्ठं सतं समत्तं ॥

[१५ गाथार्थ—] जीवों का सुख-दुःख, जीव, जीव का प्राणधारण, भव्य, एकान्त दुःख-वेदना, आत्मा द्वारा पुद्गलों का ग्रहण और केवली, इतने विषयों पर इस दसवें उद्देशक में विचार किया गया है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरने लगे।

॥ छठा शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

छठा शतक सम्पूर्ण

सत्तमं सयं : सप्तम शतक

प्राथमिक

※ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के सप्तम शतक में आहार, विरति, स्थावर, जीव आदि कुल दश उद्देशक हैं।

※ **प्रथम उद्देशक** में जीव के अनाहार और सर्वाल्पाहार के काल का, लोकसंस्थान का, श्रमणोपाश्रय में बैठे हुए सामायिकस्थ श्रमणोपासक को लगने वाली क्रिया का, श्रमणोपासक के व्रत में अतिचार लगने के शंकासमाधान का, श्रमण-माहन को प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को लाभ का, निःसंगतादि कारणों से कर्मरहित जीव की उर्ध्वगति का, दुःखी को दुःख की स्पृष्टता आदि सिद्धान्तों का, अनुपयुक्त अनगार को लगने वाली क्रिया का, अंगारादि आहार-दोषों के अर्थ का निरूपण किया गया है।

※ **द्वितीय उद्देशक** में सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी के स्वरूप का, प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का, जीव और चौबीस दण्डकों में मूल-उत्तरगुण प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी का, मूलगुण प्रत्याख्यानी आदि में अल्पबहुत्व का, सर्वतः और देशतः मूल-उत्तरगुण-प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी के चौबीस दण्डकों में अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व का, संयत आदि एवं प्रत्याख्यानी आदि के अस्तित्व तथा अल्पबहुत्व का एवं जीवों की शाश्वतता—अशाश्वतता का निरूपण किया गया है।

※ **तृतीय उद्देशक** में वनस्पतिकायिक जीवों के सर्वाल्पाहार एवं सर्वमहाहार के काल की, वानस्पतिकादिक मूल जीवादि से स्पष्ट मूलादि की, आलू आदि अनन्तकायत्व एवं पृथक्कायत्व की, जीवों में लेश्या की अपेक्षा अल्प-महाकर्मत्व की, जीवों में वेदना और निर्जरा के पृथक्त्व की, और अन्त में चौबीस दण्डकवर्ती जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता की प्ररूपणा की गई है।

※ **चतुर्थ उद्देशक** में संसारी जीवों के सम्बन्ध में जीवाभिगम के अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

※ **पंचम उद्देशक** में पक्षियों के विषय में योनिसंग्रह, लेश्य आदि ११ द्वारों के माध्यम से विचार किया गया है।

※ **छठे उद्देशक** में जीवों के आयुष्यबन्ध और आयुष्यवेदन के सम्बन्ध में, जीवों की महावेदना—अल्पवेदना के सम्बन्ध में, जीवों के अनाभोगनिर्वर्तित-आयुष्य तथा कर्कश-अकर्कश-वेदनीय, साता-असातावेदनीय के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया है, अन्त में, छठे आरे में भारत, भारतभूमि, भारतवासी मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के आचार-विचार एवं भाव-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

※ **सातवें उद्देशक** में उपयोगपूर्वक गमनादि करने वाले अनगार की क्रिया की, कामभोग एवं कामीभोगी के स्वरूप की, छद्मस्थ, अवधिज्ञानी एवं केवली आदि में भोगित्व की, असंज्ञी व समर्थ जीवों द्वारा अकाम एवं प्रकामनिकरण की प्ररूपणा की गई है।

❋ आठवें उद्देशक में केवल संयमादि से सिद्ध होने के निषेध की, हाथी और कुंथुए के समान जीवत्व की, नैरयिकों की १० वेदनाओं की, हाथी और कुंथुए में अप्रत्याख्यान-क्रिया की समानता की प्ररूपणा है।

❋ नौवें उद्देशक में असंवृत अनगार द्वारा विकुर्वणासामर्थ्य का, तथा महाशिलाकण्टक एवं रथ-मूसल संग्राम का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया गया है।

❋ दशवें उद्देशक में कालोदायी द्वारा पंचास्तिकायचर्चा और सम्बुद्ध होकर प्रव्रज्या स्वीकार से लेकर संल्लेखनापूर्वक समाधिमरण तक का वर्णन है।[1] □□

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं, विसमाणुक्कमो ४४ से ४८ तक

सत्तमं सयं : सप्तम शतक

सप्तम शतक की संग्रहणी गाथा—

१. आहार १ विरति २ थावर ३ जीवा ४ पक्खी ५ य आउ ६ अणगारे ७।
छउमत्थ ८ असंवुड ९ अन्नउत्थि १० दस सत्तमम्मि सते ॥ १ ॥

[१ गाथा का अर्थ—] १. आहार, २. विरति, ३. स्थावर, ४. जीव, ५. पक्षी, ६. आयुष्य, ७. अनगार, ८. छद्मस्थ, ९. असंवृत और १०. अन्यतीर्थिक; ये दश उद्देशक सातवें शतक में हैं।

पढमो उद्देसओ : 'आहार'

प्रथम उद्देशक : 'आहार'

जीवों के अनाहार और सर्वाल्पाहार के काल की प्ररूपणा—

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वदासी—

[२] उस काल और उस समय में, यावत् गौतमस्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार पूछा—

३. [१] जीवे णं भंते ! कं समयमणाहारए भवति ?

गोयमा ! पढमे समए सिय आहारए, सिय अणाहारए। बितिए समए सिय आहारए, सिय अणाहारए। ततिए समए सिय आहारए, सिय अणाहारए। चउत्थे समए नियमा आहारए।

[३-१ प्र.] भगवन् ! (परभव में जाता हुआ) जीव किस समय में अनाहारक होता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! (परभव में जाता हुआ) जीव, प्रथम समय में कदाचित् आहारक होता है और कदाचित् अनाहारक होता है; द्वितीय समय में भी कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, तृतीय समय में भी कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है; परन्तु चौथे समय में नियमतः (अवश्य) आहारक होता है।

[२] एवं दंडओ। जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समए। सेसा ततिए समए।

[३-२] इसी प्रकार नैरयिक आदि चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए। सामान्य जीव और एकेन्द्रिय ही चौथे समय में आहारक होते हैं। इनके सिवाय शेष जीव, तीसरे समय में आहारक होते हैं।

४. [१] जीवे णं भंते ! कं समयं सव्वप्पाहारए भवति ?

गोयमा ! पढमसमयोववन्नए वा, चरमसमयभवत्थे वा, एत्थ णं जीवे सव्वप्पाहारए भवति।

[४-१ प्र.] भगवन् ! जीव किस समय में सबसे अल्प आहारक होता है ?

[४-१ उ.] गौतम ! उत्पत्ति के प्रथम समय में अथवा भव (जीवन) के अन्तिम (चरम) समय में जीव सबसे अल्प आहार वाला होता है।

[२] दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं।

[४-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए।

विवेचन—जीवों के अनाहार और सर्वाल्पाहार के काल की प्ररूपणा—द्वितीय सूत्र से चतुर्थ सूत्र तक जीव के अनाहारकत्व और सर्वाल्पाहारकत्व की प्ररूपणा चौवीस ही दण्डकों की अपेक्षा से की गई है।

परभवगमनकाल में आहारक-अनाहारक रहस्य—सैद्धान्तिक दृष्टि से एक भव का आयुष्य पूर्ण करके जीव जब ऋजुगति से परभव में (उत्पत्तिस्थान में) जाता है, तब परभवसम्बन्धी आयुष्य के प्रथम समय में ही आहारक होता है, किन्तु जब (वक्र) विग्रहगति से जाता है, तब प्रथम समय में वक्र मार्ग में चलता हुआ वह अनाहारक होता है, क्योंकि उत्पत्तिस्थान पर न पहुँचने से उसके आहरणीय पुद्गलों का अभाव होता है। तथा जब एक वक्र (मोड़) से दो समय में उत्पन्न होता है, तब पहले समय में अनाहारक और द्वितीय समय में आहारक होता है, जब दो वक्रों (मोड़ों) से तीन समय में उत्पन्न होता है, तब प्रारम्भ के दो समयों तक अनाहारक रहता है, तीसरे में आहारक होता है, और जब तीन वक्रों से चार समय में उत्पन्न होता है, तब तीन समय तक अनाहारक और चौथे में नियमतः आहारक होता है। तीन मोड़ों का क्रम इस प्रकार होता है—त्रसनाड़ी से वाहर विदिशा में रहा हुआ कोई जीव, जब अधोलोक से ऊर्ध्वलोक में त्रसनाड़ी से बाहर की दिशा में उत्पन्न होता है, तब वह अवश्य ही प्रथम एक समय में विश्रेणी से समश्रेणी में आता है। दूसरे समय में त्रसनाड़ी में प्रविष्ट होता है, तृतीय समय में ऊर्ध्वलोक में जाता है और चौथे समय में लोकनाड़ी से बाहर निकलकर उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होता है। इनमें से पहले के तीन समयों में तीन वक्र समश्रेणी में जाने से हो जाते हैं। जब त्रसनाड़ी से निकल कर जीव बाहर विदिशा में ही उत्पन्न हो जाता है तो चार समय में चार वक्र भी हो जाते हैं, पांचवें समय में वह उत्पत्तिस्थान को प्राप्त करता है। ऐसा कई आचार्य कहते हैं।

जो नारकादि त्रस, त्रसजीवों में ही उत्पन्न होता है, उसका गमनागमन त्रसनाड़ी से बाहर नहीं होता, अतएव वह तीसरे समय में नियमतः आहारक हो जाता है। जैसे—कोई मत्स्यादि भरतक्षेत्र के पूर्वभाग में स्थित है, वह वहाँ से मरकर ऐरवतक्षेत्र के पश्चिम भाग में नीचे नरक में उत्पन्न होता है, तब एक ही समय में भरतक्षेत्र के पूर्व भाग से पश्चिम भाग में जाता है, दूसरे समय में ऐरवत क्षेत्र के पश्चिम भाग में जाता है और तीसरे समय में नरक में उत्पन्न होता है। इन तीन समयों में से प्रथम दो में वह अनाहारक और तीसरे समय में आहारक होता है।

सर्वाल्पाहारता : दो समयों में—उत्पत्ति के प्रथम समय में आहार ग्रहण करने का हेतुभूत शरीर अल्प होता है, इसलिए उस समय जीव सर्वाल्पाहारी होता है, तथा अन्तिम समय में प्रदेशों के

संकुचित हो जाने एवं जीव के शरीर के अल्प अवयवों में स्थित हो जाने के कारण जीव सर्वाल्पाहारी होता है।

अनाभोगनिर्वर्तित आहार की अपेक्षा से यह कथन किया गया है। क्योंकि अनाभोगनिर्वर्तित आहार विना इच्छा के अनुपयोगपूर्वक ग्रहण किया जाता है। वह उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक प्रतिसमय सतत होता है, किन्तु आभोगनिर्वर्तित आहार नियत समय पर और इच्छापूर्वक ग्रहण किया हुआ होता है।[1]

लोक के संस्थान का निरूपण—

५. किंसंठिते णं भंते ! लोए पण्णत्ते ?

गोयमा ! सुपतिट्ठिगसंठिते लोए पण्णत्ते, हेट्ठा वित्थिण्णे जाव उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिते। तंसि च णं सासयंसि लोगंसि हेट्ठा वित्थिण्णंसि जाव उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठितंसि उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जीवे वि जाणति पासति, अजीवे वि जाणति पासति। ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति।

[५ प्र.] भगवन् ! लोक का संस्थान (आकार) किस प्रकार का कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! लोक का संस्थान सुप्रतिष्ठिक (सकोरे) के आकार का कहा गया है। वह नीचे विस्तीर्ण (चौड़ा) है और यावत् ऊपर ऊर्ध्व मृदंग के आकार का है। ऐसे नीचे से विस्तृत यावत् ऊपर ऊर्ध्वमृदंगाकार इस शाश्वत लोक में उत्पन्न केवलज्ञान-दर्शन के धारक, अर्हन्त, जिन, केवली, जीवों को भी जानते और देखते हैं तथा अजीवों को भी जानते और देखते हैं। इसके पश्चात् वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते हैं, यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं।

विवेचन—लोक के संस्थान का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में लोक के आकार का उपमा द्वारा निरूपण किया गया है।

लोक का संस्थान—नीचे एक उलटा सकोरा (शराव) रखा जाए, फिर उस पर एक सीधा और उस पर एक उलटा सकोरा रखा जाए तो लोक का संस्थान बनता है। लोक का विस्तार नीचे सात रज्जूपरिमाण है। ऊपर क्रमशः घटते हुए सात रज्जू की ऊँचाई पर एक रज्जू विस्तृत है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ते हुए साढ़े दस रज्जू की ऊँचाई पर ५ रज्जू और शिरोभाग में १ रज्जू विस्तार है। मूल (नीचे) से लेकर ऊपर तक की कुल ऊँचाई १४ रज्जू है।

लोक की आकृति को यथार्थरूप से समझाने के लिए लोक के तीन विभाग किये गए हैं—अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोक का आकार उलटे सकोरे (शराव) जैसा है, तिर्यक्लोक का आकार झालर या पूर्ण चन्द्रमा जैसा है और ऊर्ध्वलोक का आकार ऊर्ध्व मृदंग जैसा है।[2]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८७-२८८
२. भगवती. (हिन्दीविवेचन युक्त) भाग-३, पृ. १०८२

श्रमणोपाश्रय में बैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक को लगने वाली क्रिया—

६. [१] समणोवासगस्स णं भंते ! समाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स तस्स णं भंते ! किं ईरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जति ?

गोतमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जति, संपराइया किरिया कज्जति।

[६-१ प्र.] भगवन् ! श्रमण के उपाश्रय में वैठे हुए सामायिक किये हुए श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ साधुओं के उपासक=श्रावक) को क्या ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है ?

[६-१ उ.] गौतम ! उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती।

[२] से केणट्ठेणं जाव संपराइया० ?

गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स आया अहिकरणी भवति। आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो ईरियावहिया किरिया कज्जति, संपराइया किरिया कज्जति। से तेणट्ठेणं जाव संपराइया०।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! श्रमणोपाश्रय में वैठे हुए सामायिक किये हुए श्रमणोपासक की आत्मा अधिकरणी (कपाय के साधन से युक्त) होती है। जिसकी आत्मा अधिकरण का निमित्त होती है, उसे ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती, किन्तु साम्परायिकी क्रिया लगती है। हे गौतम ! इसी कारण से (कहा गया है कि उसे) यावत् साम्परायिकी क्रिया लगती है।

विवेचन—श्रमणोपाश्रय में बैठे हुए सामायिक किये हुए श्रमणोपासक को लगने वाली क्रिया— प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपाश्रयासीन सामायिकधारी श्रमणोपासक को साम्परायिक क्रिया लगने की सयुक्तिक प्ररूपणा की गई है।

साम्परायिक क्रिया लगने का कारण—जो व्यक्ति सामायिक करके श्रमणोपाश्रय में नहीं वैठा हुआ है, उसे तो साम्परायिक क्रिया लग सकती है, किन्तु इसके विपरीत जो सामायिक करके श्रमणोपाश्रय में वैठा है, उसे ऐर्यापथिक क्रिया न लग कर साम्परायिक क्रिया लगने का कारण है, उक्त श्रावक में कषाय का सद्भाव। जब तक आत्मा में कपाय रहेगा, तब तक तन्निमित्तक साम्परायिक क्रिया लगेगी, क्योंकि साम्परायिक क्रिया कपाय के कारण लगती है।

आया अहिकरणी भवति—उसका आत्मा=जीव अधिकरण—हल, शकट आदि, कषाय के आश्रयभूत अधिकरण वाला है।[1]

श्रमणोपासक के व्रत-प्रत्याख्यान में अतिचार लगने की शंका का समाधान—

७. समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाते भवति, पुढविसमारंभे

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८९

अपच्चक्खाते भवति, से य पुढविं खणमाणे अन्नयरं तसं पाणं विहिंसेज्जा, से णं भंते ! तं वतं अतिचरति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवाताए आउट्टति ।

[७ प्र.] भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही त्रस-प्राणियों के समारम्भ (हनन) का प्रत्याख्यान कर लिया हो, किन्तु पृथ्वीकाय के समारम्भ (वध) का प्रत्याख्यान नहीं किया हो, उस श्रमणोपासक से पृथ्वी खोदते हुए किसी त्रसजीव की हिंसा हो जाए, तो भगवन् ! क्या उसके व्रत (त्रसजीववध-प्रत्याख्यान) का उल्लंघन होता है ?

[७ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं; क्योंकि वह (श्रमणोपासक) त्रस-जीव के अतिपात (वध) के लिए प्रवृत्त नहीं होता ।

८. समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणस्सतिसमारंभे पच्चक्खाते, से य पुढविं खणमाणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा, से णं भंते ! तं वतं अतिचरति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवाताए आउट्टति ।

[८ प्र.] भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही वनस्पति के समारम्भ का प्रत्याख्यान किया हो,) (किन्तु पृथ्वी के समारम्भ का प्रत्याख्यान न किया हो,) पृथ्वी को खोदते हुए (उसके हाथ से) किसी वृक्ष का मूल छिन्न हो (कट) जाए, तो भगवन् ! क्या उसका व्रत भंग होता है ?

[८ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह श्रमणोपासक उस (वनस्पति) के अतिपात (वध) के लिए प्रवृत्त नहीं होता ।

विवेचन—श्रमणोपासक के व्रतप्रत्याख्यान में दोष लगने की शंका का समाधान—प्रस्तुत सूत्र-द्वय में त्रसजीवों या वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा का त्याग किये हुए व्यक्तियों को पृथ्वी खोदते समय किसी त्रस जीव का या वनस्पतिकाय का हनन हो जाने से स्वीकृत व्रतप्रत्याख्यान में अतिचार लगने का निषेध प्रतिपादित किया गया है ।

अहिंसाव्रत में अतिचार नहीं लगता—त्रसजीववध का या वनस्पतिकायिक-जीववध का प्रत्याख्यान किये हुए श्रमणोपासक से यदि पृथ्वी खोदते समय किसी त्रसजीव की हिंसा हो जाए अथवा किसी वृक्ष की जड़ कट जाए तो उसके द्वारा गृहीत व्रत-प्रत्याख्यान में दोष नहीं लगता, क्योंकि सामान्यतः देशविरति श्रावक के संकल्पपूर्वक आरम्भी हिंसा का त्याग होता है, इसलिए जिन जीवों की हिंसा का उसने प्रत्याख्यान किया है, उन जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा करने में जब तक वह प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसका व्रतभंग नहीं होता ।[1]

श्रमण या माहन को आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को लाभ—

९. समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं लभति ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८९

गोयमा ! समणोवासए णं तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति, समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलभति ।

[९ प्र.] भगवन् ! तथारूप (उत्तम) श्रमण और माहन को प्रासुक (अचित्त), एषणीय (भिक्षा में लगने वाले दोषों से रहित) अशन, पान, खादिम और स्वादिम (चतुर्विध आहार) द्वारा प्रतिलाभित करते (वहराते—विधिपूर्वक देते) हुए श्रमणोपासक को क्या लाभ होता है ?

[९ उ.] गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन को यावत् प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक, तथारूप श्रमण या माहन को समाधि उत्पन्न करता है । उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला श्रमणोपासक उसी समाधि को स्वयं प्राप्त करता है ।

१०. समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति ?

गोयमा ! जीवियं चयति, दुच्चयं चयति, दुक्करं करेति, दुल्लभं लभति, बोहिं बुज्झति ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति ।

[१० प्र.] भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को यावत् प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक क्या त्याग (या संचय) करता (देता) है ?

[१० उ.] गौतम ! वह श्रमणोपासक जीवित (जीवननिर्वाह के कारणभूत जीवितवत् अन्नपानादि द्रव्य) का त्याग करता—(देता) है, दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कार्य करता है दुर्लभ वस्तु का लाभ लेता है, बोधि (सम्यग्दर्शन) का बोध प्राप्त (अनुभव) करता है, उसके पश्चात् वह सिद्ध (मुक्त) होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

विवेचन—श्रमण या माहन को आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को लाभ— प्रस्तुत सूत्रद्वय में श्रमण या माहन को आहार देने वाले श्रमणोपासक को प्राप्त होने वाले लाभ एवं विशिष्ट त्याग—संचयलाभ का निरूपण किया गया है ।

चयति क्रिया के विशेष अर्थ—मूलपाठ में आए हुए 'चयति' क्रिया पद के फलितार्थ के रूप में शास्त्रकार ने श्रमणोपासक को होने वाले ८ लाभों का निरूपण किया है—

१. अन्नपानी देना—जीवनदान देना है, अतः वह जीवन का दान (त्याग) करता है ।
२. जीवित की तरह दुस्त्याज्य अन्नादि द्रव्य का दुष्कर त्याग करता है ।
३. त्याग का अर्थ अपने से दूर करना—विरहित करना भी है । अतः जीवित की तरह जीवित को अर्थात् कर्मों की दीर्घ स्थिति को दूर करता—ह्रस्व करता है ।
४. दुष्ट कर्म-द्रव्यों का संचय=दुश्चय है, उसका त्याग करता है ।
५. फिर अपूर्वकरण के द्वारा ग्रन्थिभेदरूप दुष्कर कार्य को करता है ।
६. इसके फलस्वरूप दुर्लभ—अनिवृत्तिकरणरूप दुर्लभ वस्तु को उपलब्ध करता है अर्थात् चय=उपार्जन करता है ।
७. तत्पश्चात् बोधि का लाभ चय=उपार्जन=अनुभव करता है ।

८. तदनन्तर परम्परा से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, यावत् समस्त कर्मों—दुःखों का अन्त (त्याग) कर देता है।[1]

दान विशेष से बोधि और सिद्धि की प्राप्ति—अन्यत्र भी अनुकम्पा, अकामनिर्जरा, बालतप, दानविशेष एवं विनय से बोधिगुण प्राप्ति का, तथा कई जीव उसी भव में सर्वकर्मविमुक्त होकर मुक्त हो जाते हैं, और कई जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर तीसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं, यह उल्लेख मिलता है।[2]

निःसंगतादि कारणों से कर्मरहित (मुक्त) जीव की (ऊर्ध्व) गति-प्ररूपणा—

११. अत्थि णं भंते ! अकम्मस्स गती पण्णायति ?

हंता, अत्थि।

[११ प्र.] भगवन् ! क्या कर्मरहित जीव की गति होती (स्वीकृत की जाती) है ?

[११ उ.] हाँ गौतम ! अकर्म जीव की गति होती—स्वीकार की जाती—है।

१२. कहं णं भंते ! अकम्मस्स गती पण्णायति ?

गोयमा ! निस्संगताए १ निरंगणताए २ गतिपरिणामेणं ३ बंधणछेयणताए ४ निरिंधणताए ५ पुव्वपओगेणं ६ अकम्मस्स गती पण्णायति।

[१२ प्र.] भगवन् ! अकर्म जीव की गति कैसे होती है ?

[१२ उ.] गौतम ! निःसंगता से, नीरागता (निरंजनता) से, गतिपरिणाम से, बन्धन का छेद (विच्छेद) हो जाने से, निरिन्धनता—(कर्मरूपी इन्धन से मुक्ति) होने से, और पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की गति होती है।

१३. [१] कहं णं भंते ! निस्संगताए १ निरंगणताए २ गतिपरिणामेणं ३ बंधणछेयणताए ४ निरिंधणताए ५ पुव्वप्पओगेणं ६ अकम्मस्स गती पण्णायति ?

गो० ! से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहतं आणुपुव्वीए परिकम्मेमाणे परिकम्मेमाणे दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति, वेढित्ता अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं लिंपति, २ उण्हे दलयति, भूइं भूइं सुक्कं समाणं अत्थाहमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवाणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए सलिलतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति ?

हंता, भवति। अहे णं से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवाणं परिक्खएणं धरणितलमतिवतित्ता उप्पिं सलिलतलपतिट्ठाणे भवति ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २८९

२. 'अणुकंपऽकामणिज्जरबालतवे दाण विणए' इत्यादि तथा—
'केई तेणेव भवेण निव्वुया सव्वकम्मओ मुक्का।
केई तइयभवेणं सिज्झिस्संति जिणसगासे' ॥१॥ —भगवती. अ-वृत्ति प. २८९ में उद्धृत

हंता. भवति। एवं खलु गोयमा! निस्संगताए निरंगणताए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स गती पण्णायति।

[१३-१.] भगवन्! निःसंगता से, नीरागता से, गतिपरिणाम से, बन्धन का छेद होने से, निरिन्धनता से और पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की गति कैसे होती है?

[१३-१ उ.] गौतम! जैसे, कोई पुरुष एक छिद्ररहित और निरुपहत (बिना फटे-टूटे) सूखे तुम्बे पर क्रमशः परिकर्म (संस्कार) करता-करता उस पर डाभ (नारियल की जटा) और कुश लपेटे। उन्हें लपेट कर उस पर आठ बार मिट्टी के लेप लगा दे, फिर उसे (सूखने के लिए) धूप में रख दे। बार-बार (धूप में देने से) अत्यन्त सूखे हुए उस तुम्बे को अथाह, अतरणीय (जिस पर तैरा न जा सके), पुरुष-प्रमाण से भी अधिक जल में डाल दे, तो हे गौतम! वह तुम्बा मिट्टी के उन आठ लेपों से अधिक भारी हो जाने से क्या पानी के उपरितल (ऊपरी सतह) को छोड़ कर नीचे पृथ्वीतल पर (पैंदे में) जा बैठता है?

(गौतम स्वामी—) हाँ, भगवन्! वह तुम्बा नीचे पृथ्वीतल पर जा बैठता है। (भगवान् ने पुनः पूछा—) गौतम! (पानी में पड़ा रहने के कारण) आठों ही मिट्टी के लेपों के (गलकर) नष्ट हो (उतर) जाने से क्या वह तुम्बा पृथ्वीतल को छोड़ कर पानी के उपरितल पर आ जाता है?

(गौतम स्वामी—) हाँ, भगवन्! वह पानी के उपरितल पर आ जाता है। (भगवान्—) हे गौतम! इसी तरह निःसंगता (कर्ममल का लेप हट जाने) से, नीरागता से एवं गतिपरिणाम से कर्मरहित जीव की भी (ऊर्ध्व) गति होती (जानी या मानी) जाती है।

[२] कहं णं भंते! बंधणछेदणत्ताए अकम्मस्स गती पण्णत्ता?

गोयमा! से जहानामए कलसिंबलिया ति वा, मुग्गसिंबलिया ति वा, माससिंबलिया ति वा, सिंबलिसिंबलिया ति वा, एरंडमिंजिया ति वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी फुडित्ताणं एगंतमंतं गच्छइ एवं खलु गोयमा!०।

[१३-२ प्र.] भगवन्! बन्धन का छेद हो जाने से अकर्मजीव की गति कैसे होती है?

[१३-२ उ.] गौतम! जैसे कोई मटर की फली, मूंग की फली, उड़द की फली, शिम्बलि—सेम की फली, और एरण्ड के फल (बीज) को धूप में रख कर सुखाए तो सूख जाने पर वह फटता है और उसमें का बीज उछल कर दूर जा गिरता है, हे गौतम! इसी प्रकार कर्मरूप बन्धन का छेद हो जाने पर कर्मरहित जीव की गति होती है।

[३] कहं णं भंते! निरिंधणताए अकम्मस्स गती०?

गोयमा! से जहानामए धूमस्स इंधणविप्पमुक्कस्स उड्ढं वीससाए निव्वाघातेणं गती पवत्तति एवं खलु गोतमा!०।

[१३-३ प्र.] भगवन्! इन्धनरहित होने (निरिन्धनता) से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है?

[१३-३ उ.] गौतम ! जैसे इन्धन से छूटे (मुक्त) हुए धूंए की गति किसी प्रकार की रुकावट (व्याघात) न हो तो स्वाभाविक रूप से (विश्रसा) ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) होती है, इसी प्रकार हे गौतम ! कर्मरूप इन्धन से रहित होने से कर्मरहित जीव की गति (ऊपर की ओर) होती है।

[४] **कहं णं भंते ! पुव्वप्पयोगेणं अकम्मस्स गती पण्णत्ता ?**

गोतमा ! से जहानामए कंडस्स कोदंडविप्पमुक्कस्स लक्खाभिमुही निव्वाघातेणं गती पवत्तति एवं खलु गोयमा ! नीसंगयाए निरंगणयाए पुव्वप्पयोगेणं अकम्मस्स गती पण्णत्ता।

[१३-४ प्र.] भगवन् ! पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

[१३-४ उ.] गौतम ! जैसे—धनुष से छूटे हुए वाण की गति विना किसी रुकावट के लक्ष्याभिमुखी (निशान की ओर) होती है, इसी प्रकार, हे गौतम ! पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की गति होती है।

इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया कि निःसंगता से नीरागता से यावत् पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की (ऊर्ध्व) गति होती है।

विवेचन—निःसंगतादि कारणों से कर्मरहित (मुक्त) जीव की (ऊर्ध्व) गति-प्ररूपणा— प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ११ से १३ तक) में असंगता आदि हेतुओं से दृष्टान्तपूर्वक कर्मरहित मुक्त जीव की गति की प्ररूपणा की गई है।

अकर्मजीव की गति के छह कारण—(१) निःसंगता=निर्लेपता। जैसे तुम्वे पर डाभ और कुश को लपेट कर मिट्टी के आठ गाढ़े लेप लगाने के कारण जल पर तैरने के स्वभाव वाला तुम्वा भी भारी होने से पानी के तले वैठ जाता है किन्तु मिट्टी के लेप हट जाने पर वह तुम्वा पानी के ऊपरी तल पर आ जाता है, वैसे ही आत्मा कर्मों के लेप से भारी हो जाने से नरकादि अधोगमन करता रहता है, किन्तु कर्मलेप से रहित हो जाने पर स्वतः ही ऊर्ध्वगति करता है। (२) **नीरागता**—मोहरहितता। मोह के कारण कर्मयुक्त जीव भारी होने से ऊर्ध्वगति नहीं कर पाता, मोह सर्वथा दूर होते ही वह कर्मरहित होकर ऊर्ध्वगति करता है। (३) **गतिपरिणाम**—जिस प्रकार तिर्यग्वहन स्वभाव वाले वायु के सम्बन्ध से रहित दीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर गमन करती है, वैसे ही मुक्त (कर्मरहित) आत्मा भी नानागतिरूप विकार के कारणभूत कर्म का अभाव होने से ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से ऊपर की ओर ही गति करता है। (४) **बन्धछेद**—जिस प्रकार बीजकोष के वन्धन के टूटने से एरण्ड आदि के बीज की ऊर्ध्वगति देखी जाती है, वैसे ही मनुष्यादि भव में बांधे रखने वाले गति-जाति नाम आदि समस्त कर्मों के वन्ध का छेद होने से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति जानी जाती है। (५) **निरिन्धनता**—जैसे इन्धन से रहित होने से धुंआ स्वभावतः ऊपर की ओर गति करता है, वैसे ही कर्मरूप इन्धन से रहित होने से अकर्म जीव की स्वभावतः ऊर्ध्वगति होती है। (६) **पूर्वप्रयोग**—मूल में धनुष से छूटे हुए बाण की निरावाध लक्ष्याभिमुख गति का दृष्टान्त दिया गया है। दूसरा दृष्टान्त यह भी है—जैसे कुम्हार के प्रयोग से किया गया हाथ, दण्ड और चक्र के संयोगपूर्वक जो चाक घूमता है, वह चाक उस प्रयत्न (प्रयोग) के वन्द होने पर भी पूर्वप्रयोगवश संस्कारक्षय होने तक घूमता है, इसी प्रकार संसारस्थित आत्मा ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जो अनेक

वार प्रणिधान किया है, उसका अभाव होने पर भी उसके आवेशपूर्वक मुक्त (कर्मरहित) जीव का गमन निश्चित होता है।[1]

दुःखी को दुःख की स्पृष्टता आदि सिद्धान्तों की प्ररूपणा—

१४. दुक्खी भंते ! दुक्खेणं फुडे ? अदुक्खी दुक्खेणं फुडे ?

गोयमा ! दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे।

[१४ प्र.] भगवन् ! क्या दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट (बद्ध या व्याप्त) होता है अथवा अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है ?

[१४ उ.] गौतम ! दुःखी जीव ही दुःख से स्पृष्ट होता है, किन्तु अदुःखी (दुःखरहित) जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।

१५. [१] दुक्खी भंते ! नेरतिए दुक्खेणं फुडे ? अदुक्खी नेरतिए दुक्खेणं फुडे ?

गोयमा ! दुक्खी नेरतिए दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी नेरतिए दुक्खेणं फुडे।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या दुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट होता है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! दुःखी नैरयिक ही दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।

[२] एवं दंडओ जाव वेमाणियाणं।

[१५-२] इसी तरह वैमानिक पर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए।

[३] एवं पंच दंडगा नेयव्वा—दुक्खी दुक्खेणं फुडे १ दुक्खी दुक्खं परियादियति २ दुक्खी दुक्खं उदीरेति ३ दुक्खी दुक्खं वेदेति ४ दुक्खी दुक्खं निज्जरेति ५।

[१५-३] इसी प्रकार के पांच दण्डक (आलापक) कहने चाहिए यथा—(१) दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है, (२) दुःखी दुःख का परिग्रहण करता है, (३) दुःखी दुःख की उदीरणा करता है, (४) दुःखी दुःख का वेदन करता है और (५) दुःखी दुःख की निर्जरा करता है।

विवेचन—दुःखी को दुःख की स्पृष्टता आदि सिद्धान्तों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्रद्वय में दुःखी जीव ही दुःख का स्पर्श, ग्रहण, उदीरण, वेदन और निर्जरण करता है, अदुःखी नहीं, इस सिद्धान्त की मीमांसा की गई है।

दुःखी और अदुःखी की मीमांसा—यहाँ दुःख के कारणभूत कर्म को दुःख कहा गया है। इस दृष्टि से कर्मवान् जीव को दुःखी और अकर्मवान् (सिद्ध भगवान्) को अदुःखी कहा गया है। अतः जो दुःखी (कर्मयुक्त) है, वही दुःख (कर्म) से स्पृष्ट-बद्ध होता है, वही दुःख (कर्म) को ग्रहण (निधत्त)

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २९०, (ख) तत्त्वार्थभाष्य, अ. १०, सू. ६ पृ. २२८-२२९
(ग) 'पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः। तत्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि, अ. १०, सू ६.

करता है, दु:ख (कर्म) की उदीरणा करता है, वेदन भी करता है। और वह (कर्मवान्) स्वयं ही स्व-दु:ख (कर्म) की निर्जरा करता है। अत: अकर्मवान् (अदु:खी-सिद्ध) में ये ५ बातें नहीं होतीं।[1]

उपयोगरहित गमनादि प्रवृत्ति करने वाले अनगार को साम्परायिकी क्रिया लगने का सयुक्तिक निरूपण—

१६. [१] अणगारस्स णं भंते! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा, चिट्ठमाणस्स वा, निसीयमाणस्स वा, तुयट्टमाणस्स वा; अणाउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं गेण्हमाणस्स वा, निक्खिवमाणस्स वा, तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जति? संपराइया किरिया कज्जति?

गो०! नो ईरियावहिया किरिया कज्जति, संपराइया किरिया कज्जति।

[१६-१ प्र.] भगवन्! उपयोगरहित (अनायुक्त) गमन करते हुए, खड़े होते (ठहरते) हुए, बैठते हुए, या सोते (करवट बदलते) हुए, और इसी प्रकार विना उपयोग के वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंछन (प्रमार्जनिका या रजोहरण) ग्रहण करते (उठाते) हुए या रखते हुए अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है?

[१६-१ उ.] गौतम! ऐसे (पूर्वोक्त) अनगार को ऐर्यापथिक क्रिया नहीं लगती, साम्परायिक क्रिया लगती है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति, नो संपराइया किरिया कज्जति। जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा अवोच्छिन्ना भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जति, नो इरियावहिया। अहासुत्तं रियं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जति। उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जति, से णं उस्सुत्तमेव रियति। से तेणट्ठेणं०।

[१६-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा जाता है?

[१६-२ उ] गौतम! जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ व्युच्छिन्न (अनुदित उदयावस्थारहित) हो गए, उसी को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, उसे साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती। किन्तु जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ, (ये चारों) व्युच्छिन्न (अनुदित) नहीं हुए, उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती। सूत्र (आगम) के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है और उत्सूत्र प्रवृत्ति करने वाले अनगार को साम्परायिकी क्रिया लगती है। उपयोगरहित गमनादि प्रवृत्ति करने वाला अनगार, सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करता है। हे गौतम! इस कारण से कहा गया है कि उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है।

विवेचन—उपयोगरहित गमनादि-प्रवृत्ति करने वाले अनगार को साम्परायिकी क्रिया लगने का सयुक्तिक निरूपण—प्रस्तुत १६ वें सूत्र में उपयोगशून्य होकर गमानादि क्रिया करने वाले अनगार को ऐर्यापिथिकी नहीं, साम्परायिकी क्रिया लगती है, इसका युक्तिपूर्वक निरूपण किया गया है।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २९१

'वोच्छिन्ना' शब्द का तात्पर्य—मूलपाठ में जो 'वोच्छिन्ना' शब्द है, उसके 'अनुदित' और 'क्षीण' ये दोनों अर्थ युक्तिसंगत लगते हैं, क्योंकि ऐर्यापथिकी क्रिया ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थान में पाई जाती है, और १२वें, १३वें गुणस्थान में कषाय का सर्वथा क्षय हो जाता है। जबकि ११वें गुणस्थान में कषाय का क्षय नहीं होकर उसका उपशम होता है, अर्थात्—कषाय उदयावस्था में नहीं रहता। इस दृष्टि से 'वोच्छिन्न' शब्द के यहाँ 'क्षीण और अनुदित' दोनों अर्थ लेने चाहिए।[1]

'अहासुत्तं' और 'उस्सुत्तं' का तात्पर्यार्थ—'अहासुत्तं का सामान्य अर्थ है—'सूत्रानुसार', परन्तु यहाँ ऐर्यापथिक क्रिया की दृष्टि से विचार करते समय 'अहासुत्तं' का अर्थ होगा—यथाख्यात चारित्र-पालन की विधि के सूत्रों (नियमों) के अनुसार क्योंकि ११वें से १३वें गुणस्थानवर्ती यथाख्यातचारित्री को ही ऐर्यापथिक क्रिया लगती है। इसलिए यथाख्यातचारित्री अनगार ही 'अहासुत्तं' प्रवृत्ति करने वाले कहे जा सकते हैं। १०वें गुणस्थान तक के अनगार सूक्ष्मसम्परायी (सकषायी) होने के कारण अहासुत्तं (यथाख्यात-क्षायिक चारित्रानुसार) प्रवृत्ति नहीं करते, इसलिए उन्हें क्षयोपशम जन्य चरित्र के अनुसार कषायभावयुक्त प्रवृत्ति करने के कारण साम्परायिक क्रिया लगती है। अतः यहाँ[2] 'उत्सूत्र' का अर्थ श्रुतविरुद्ध प्रवृत्ति करना नहीं, अपितु, यथाख्यात चारित्र के विरुद्ध प्रवृत्ति करना होता है।

अंगारादि दोष से युक्त और मुक्त, तथा क्षेत्रातिकान्तादि दोषयुक्त एवं शस्त्रातीतादि-युक्त पान-भोजन का अर्थ—

१७. अह भंते ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिगाहित्ता मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने आहारं आहारेति एस णं गोयमा ! सइंगाले पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिगाहित्ता महयाअप्पत्तियं कोह-किलामं करेमाणे आहारमाहारेति एस णं गोयमा ! सधूमे पाणभोयणे। जे णं निग्गंथे वा २ जाव पडिग्गाहित्ता गुणुप्पायणहेतुं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेति एस णं गोयमा ! संजोयणा-दोसदुट्ठे पाण-भोयणे। एस णं गोतमा ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाण-भोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

[१७. प्र] भगवन् ! अंगारदोष, धूमदोष और संयोजनादोष से दूषित पान-भोजन (आहार-पानी) का क्या अर्थ कहा गया है ?

[१७ उ.] गौतम ! जो निर्ग्रन्थ (साधु) अथवा निर्ग्रन्थी (साध्वी) प्रासुक और एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप आहार ग्रहण करके उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित और आसक्त (अध्युपपन्न=मोह में एकाग्रचित्त) होकर आहार करते हैं, हे गौतम ! यह अंगार दोष से दूषित आहार-पानी कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी, प्रासुक और एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिम रूप आहार ग्रहण करके, उसके प्रति अत्यन्त अप्रीतिपूर्वक, क्रोध से खिन्नता करते हुए आहार

---

१. भगवतीसूत्र (हिन्दीविवेचन) भाग-३, पृ. १०९५

२. श्रीभगवती उपक्रम, पृष्ठ ५९

करते हैं, तो हे गौतम ! यह धूम-दोष से दूषित आहार-पानी कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी प्रासुक यावत् आहार ग्रहण करके गुण (स्वाद) उत्पन्न करने हेतु दूसरे पदार्थों के साथ संयोग करके आहार-पानी करते हैं, हे गौतम ! वह आहारपानी संयोजनादोष से दूषित कहलाता है। हे गौतम ! यह अंगारदोष, धूमदोष और संयोजनादोष से दूषित पानभोजन का अर्थ कहा गया है।

१८. अह भंते ! वीतिंगालस्स वीयधूमस्स संजोयणादोसविप्पमुक्कस्स पाण-भोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं णिग्गंथे वा २ जाव पडिगाहेत्ता अमुच्छिते जाव आहारेति एस णं गोयमा ! वीतिंगाले पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा २ जाव पडिगाहेत्ता णो महताअप्पत्तियं जाव आहारेति, एस णं गोयमा ! वीतधूमे पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा २ जाव पडिगाहेत्ता जहा लद्धं तहा आहारं आहारेति एस णं गोतमा ! संजोयणादोसविप्पमुक्के पाण-भोयणे। एस णं गोतमा ! वीतिंगालस्स वीतधूमस्स संजोयणादोसविप्पमुक्कस्स पाण-भोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

[१८ उ.] भगवन् ! अंगारदोष, धूमदोष और संयोजनादोष, इन तीन दोषों से मुक्त (रहित) पानभोजन का क्या अर्थ कहा गया है ?

[१८ उ.] गौतम ! जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी प्रासुक और एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार को ग्रहण करके मूर्च्छारहित यावत् आसक्तिरहित होकर आहार करते हैं, हे गौतम ! यह अंगारदोषरहित पान-भोजन कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी यावत् अशनादि को ग्रहण करके अत्यन्त अप्रीतिपूर्वक यावत् आहार नहीं करता है, हे गौतम ! यह धूम दोषरहित पानभोजन है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी यावत् अशनादि को ग्रहण करके, जैसा मिला है, वैसा ही आहार कर लेते हैं, (स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें दूसरे पदार्थों का संयोग नहीं करते,) तो हे गौतम ! यह संयोजनादोषरहित पान-भोजन कहलाता है। हे गौतम ! यह अंगारदोष-रहित, धूमदोषरहित एवं संयोजनादोषविमुक्त पान-भोजन का अर्थ कहा गया है।

१९. अह भंते ! खेत्तातिक्कंतस्स कालातिक्कंतस्स मग्गातिक्कंतस्स पमाणातिक्कंतस्स पाण-भोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं अणुग्गते सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गते सूरिए आहारं आहारेति एस णं गोतमा ! खेत्तातिक्कंते पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा २ जाव० साइमं पढमाए पोरिसीए पडिगाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावेत्ता आहारं आहारेति एस णं गोयमा ! कालातिक्कंते पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा २ जाव० सातिमं पडिगाहित्ता परं अद्धजोयणमेराए वीतिक्कमावेत्ता आहारमाहारेति एस णं गोयमा ! मग्गातिक्कंते पाण-भोयणे। जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं जाव सातिमं पडिगाहित्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेति एस णं गोतमा ! पमाणातिक्कंते पाण-भोयणे। अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया, सोलसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते,

चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते जाव आहारमाहारेमाणे ओमोदरिया, बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते, एत्तो एक्केण वि गासेणं ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोई इति वत्तव्वं सिया। एस णं गोयमा ! खेत्तातिक्कंतस्स कालातिक्कंतस्स मग्गातिक्कंतस्स पमाणातिक्कंतस्स पाण-भोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन का क्या अर्थ है ?

[१९ उ.] गौतम ! जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी, प्रासुक और एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार को सूर्योदय से पूर्व ग्रहण करके सूर्योदय के पश्चात् उस आहार को करते हैं, तो हे गौतम ! यह क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी यावत् चतुर्विध आहार को प्रथम प्रहर (पौरुषी) में ग्रहण करके अन्तिम प्रहर (पौरुषी) तक रख कर सेवन करते हैं, तो हे गौतम ! यह कालातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी यावत् चतुर्विध आहार को ग्रहण करके आधे योजन (दो कोस) की मर्यादा (सीमा) का उल्लंघन करके खाते हैं, तो हे गौतम ! यह मार्गातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी प्रासुक एवं एषणीय यावत् आहार को ग्रहण करके कुक्कुटीअण्डक (मुर्गी के अंडे के) प्रमाण बत्तीस कवल (कौर या ग्रास) की मात्रा से अधिक (उपरान्त) आहार करता है, तो हे गौतम ! यह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन कहलाता है।

कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण आठ कवल की मात्रा में आहार करने वाला साधु 'अल्पाहारी' कहलाता है। कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण बारह कवल की मात्रा में आहार करने वाला साधु अपार्द्ध अवमोदरिका (किंचित् न्यून अर्ध ऊनोदरी) वाला होता है। कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण सोलह कवल की मात्रा में आहार करने वाला साधु द्विभागप्राप्त आहार वाला (अर्धाहारी) कहलाता है। कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण चौवीस कवल की मात्रा में आहार करने वाला साधु ऊनोदरिका वाला होता है। कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण बत्तीस कवल की मात्रा में आहार करने वाला साधु प्रमाणप्राप्त (प्रमाणोपेत) आहारी कहलाता है। इस (बत्तीस कवल) से एक भी ग्रास कम आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ 'प्रकामरसभोजी' (अत्यधिक मधुरादिरसभोक्ता) नहीं है, यह कहा जा सकता है। हे गौतम ! यह क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन का अर्थ कहा गया है।

२०. अह भंते ! सत्थातीतस्स सत्थपरिणामितस्स एसियस्स वेसियस्स सामुदाणियस्स पाण-भोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा निक्खित्तसत्थमुसले ववगतमाला-वण्णगविलेवणे ववगतचुय-चइय-चत्तदेहं जीवविप्पजढं अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूतमकीतकडमणुद्दिट्ठं नवकोडी-परिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गम-उप्पायणेसणासुपरिसुद्धं वीतिंगालं वीतधूमं संजोयणादोस-विप्पमुक्कं असुरसुरं अचवचवं अदुतमविलंबितं अपरिसाडि अक्खोवं-जण-वणाणुलेवणभूतं संयमजाता-मायावत्तियं संजमभारवहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेति; एस णं गोतमा ! सत्थातीतस्स सत्थपरिणामितस्स जाव पाण-भोयणस्स अट्ठे पन्नत्ते।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। सत्तम सए : पढमो उद्देसो समत्तो ।।

[२० प्र.] भगवन् ! शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणामित, एषित, व्येषित, सामुदायिक भिक्षारूप पान-भोजन का क्या अर्थ कहा गया है ?

[२० उ.] गौतम ! जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी शस्त्र और मूसलादि का त्याग किये हुए हैं, पुष्प-माला और चन्दनादि (वर्णक) के विलेपन से रहित हैं, वे यदि उस आहार को करते हैं, जो (भोज्य वस्तु में पैदा होने वाले) कृमि आदि जन्तुओं से रहित, जीवच्युत और जीवविमुक्त (प्रासुक), है, जो साधु के लिए नहीं बनाया गया है, न बनवाया गया है, जो असंकल्पित (आधाकर्मादि दोष रहित) है, अनाहूत (आमंत्रणरहित) है, अक्रीतकृत (नहीं खरीदा हुआ) है, अनुद्दिष्ट (औद्देशिक दोष से रहित) है, नवकोटिविशुद्ध है, (शंकित आदि) दस दोषों से विमुक्त है, उद्गम (१६ उद्गम-दोष) और उत्पादना (१६ उत्पादन) सम्बन्धी एषणा दोषों से रहित सुपरिशुद्ध है, अंगारदोषरहित है, धूमदोषरहित है, संयोजनादोषरहित है। तथा जो सुरसुर और चपचप शब्द से रहित, बहुत शीघ्रता और अत्यन्त विलम्ब से रहित, आहार का लेशमात्र भी छोड़े बिना, नीचे न गिराते हुए, गाड़ी की धुरी के अंजन अथवा घाव पर लगाए जाने वाले लेप (मल्हम) की तरह केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए और संयम-भार को वहन करने के लिए, जिस प्रकार सर्प बिल में (सीधा) प्रवेश करता है, उसी प्रकार जो आहार करते हैं, तो हे गौतम ! वह शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणामित यावत् पान भोजन का अर्थ है।

'हे भगवन् ! यह इस प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; (यों कह कर यावत् गौतम-स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—अंगारादि दोष से युक्त और मुक्त, तथा क्षेत्रातिक्रान्तादि दोषयुक्त एवं शस्त्रातीतादियुक्त पान-भोजन का अर्थ—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १७ से २० तक) में अंगार, धूम और संयोजनादोष से युक्त तथा मुक्त पान-भोजन का क्षेत्र, काल, मार्ग, और प्रमाण को अतिक्रान्त पान-भोजन का एवं शस्त्रातीतादि पानभोजन का अर्थ प्ररूपित किया गया है।

अंगारादि दोषों का स्वरूप—साधु के द्वारा गवेषणैषणा और ग्रहणैषणा से लाए हुए निर्दोष आहार को साधुओं के मण्डल (मांडले) में बैठकर सेवन करते समय ये दोष लगते हैं, इसलिए इन्हें ग्रासैषणा (मांडला या मंडल) के पांच दोष कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) **अंगार**—सरस स्वादिष्ट आहार में आसक्त एवं मुग्ध होकर आहार की या दाता की प्रशंसा करते हुए खाना। इस प्रकार आहार पर मूर्च्छा रूप अग्नि से संयम रूप ईन्धन कोयले (अंगार) की तरह दूषित हो जाता है। (२) **धूम**—नीरस या अमनोज्ञ आहार करते हुए आहार या दाता की निन्दा करना। (३) **संयोजना**—स्वादिष्ट एवं रोचक बनाने के लिए रसलोलुपतावश एक द्रव्य के साथ दूसरे द्रव्यों को मिलाना। (४) **अप्रमाण**– शास्त्रोक्तप्रमाण से अधिक आहार करना और (५) **अकारण**—साधु के लिए ६ कारणों से आहार करने और ६ कारणों से छोड़ने का विधान है, किन्तु उक्त कारणों के बिना केवल बलवीर्यवृद्धि के लिए आहार करना। इन ५ दोषों में से १७-१८वें सूत्रों में अंगार, धूम और

संयोजना दोषों से युक्त और रहित की व्याख्या की गई है। शेष दो १९ और २०वें सूत्र में प्रमाणातिक्रान्त और संयमयात्रार्थ तथा संयमभारवहनार्थ के रूप में गतार्थ कर दिया है।[1]

क्षेत्रातिक्रान्त का भावार्थ—यहाँ क्षेत्र का अर्थ सूर्यसम्बन्धी तापक्षेत्र अर्थात्—दिन है, इसका अतिक्रमण करना क्षेत्रातिक्रान्त है।

कुक्कुटी-अण्डप्रमाण का तात्पर्य—आहार का प्रमाण बताने के लिए **'कुक्कुटी-अण्डकप्रमाण'** शब्द दिया दिया है। इसके दो अर्थ होते हैं—(१) कुक्कुटी के अंडे के जितने प्रमाण का एक कवल, तथा (२) जीवरूपी पक्षी के लिए आश्रयरूप होने से यह गंदी अशुचिप्राय काया 'कुकुटी' है, इस कुकुटी के उदरपूरक पर्याप्त आहार को कुकुटी-अण्डकप्रमाण कहते हैं।[2]

शस्त्रातीतादि की शब्दशः व्याख्या—**शस्त्रातीत**=अग्नि आदि शस्त्र से उत्तीर्ण, **सत्थपरिणामित**=शस्त्रों से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श अन्यरूप में परिणत किया हुआ, अर्थात्—अचित्त किया हुआ। **एसियस्स**=एषणीय—गवेषणा आदि से गवेषित। **वेसियस्स**=विशेष या विविध प्रकार से गवेषणा, ग्रहणैषणा एवं ग्रासैषणा से विशोधित अथवा वैषिक अर्थात् मुनिवेष-मात्र देखने से प्राप्त। **सामुदाणियस्स**=गृहसमुदायों से उत्पादनादोष से रहित भिक्षाजीविता।

नवकोटिविशुद्ध का अर्थ—(१) किसी जीव की हिंसा न करना, (२) न कराना, (३) न ही अनुमोदन करना, (४) स्वयं न पकाना, (५) दूसरों से न पकवाना, (६) पकानेवालों का अनुमोदन न करना, (७) स्वयं न खरीदना, (८) दूसरों से न खरीदवाना, और (९) खरीदनेवाले का अनुमोदन न करना। इन दोषों से रहित आहारादि नवकोटिविशुद्ध कहलाते हैं।[3]

उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोष—शास्त्र में आधाकर्म आदि १६ उद्गम के, धात्री, दूती आदि १६ उत्पादना के, एवं शंकित आदि १० एषणा के दोष बताए हैं। उनमें से प्रथम वर्ग के दोष दाता से, द्वितीय वर्ग के साधु से और तृतीय वर्ग के दोनों से लगते हैं।[4] □□

॥ सप्तक शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति पत्रांक २९२, (ख) भगवती (हिन्दीविवेचन) भा. ३, पृ. १०९८

२. भगवती, अ. वृत्ति, पत्रांक २९२

३. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २९३ (ख) भगवती. हिन्दी विवेचन पृ. ११०३

४. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २९४ (ख) पिण्डनिर्युक्ति, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थ।

बीओ उद्देसओ : 'विरति'

द्वितीय उद्देशक : विरति

सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप—

१. [१] से नूणं भंते ! सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति ? दुपच्चक्खायं भवति ?

गोतमा ! सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खातं भवति, सिय दुपच्चक्खातं भवति ।

[१-१ प्र.] हे भगवन् ! 'मैंने सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव, और सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है', इस प्रकार कहने वाले के सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

[१-१ उ.] गौतम ! 'मैंने सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' इस प्रकार कहने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'सव्वपाणेहिं जाव सिय दुपच्चक्खातं भवति ?'

गोतमा ! जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स णो एवं अभिसमन्नागतं भवति 'इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा' तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति, दुपच्चक्खायं भवति । एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणो नो सच्चं भासं भासति, मोसं भासं भासइ, एवं खलु से मुसावाती सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले यावि भवति । जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स एवं अभिसमन्नागतं भवति 'इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा' तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति, नो दुपच्चक्खायं भवति । एवं खलु से सुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वयमाणे सच्चं भासं भासति, नो मोसं भासं भासति, एवं खलु से सच्चवादी सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे [एगंतअदंडे] एगंतपंडिते यावि भवति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव सिय दुपच्चक्खायं भवति ।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान—उच्चारण करने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

[१-उ.] गौतम ! 'मैंने समस्त प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' इस प्रकार कहने वाले जिस पुरुष को इस प्रकार (यह) अभिसमन्वागत (ज्ञात=अवगत) नहीं होता कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं'; उस पुरुष का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं होता, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान होता है। साथ ही, 'मैंने सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' इस प्रकार कहने वाला वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष सत्यभाषा नहीं बोलता; किन्तु मृषाभाषा बोलता है। इस प्रकार वह मृषावादी सर्व प्राण यावत् समस्त सत्त्वों के प्रति तीन करण, तीन योग से असंयत (संयमरहित), अविरत (हिंसादि से अनिवृत्त या विरतिरहित), पापकर्म से अप्रतिहत (नहीं रुका हुआ) और पापकर्म का अप्रत्याख्यानी (जिसने पापकर्म का प्रत्याख्यान—त्याग नहीं किया है), (कायिकी आदि) क्रियाओं से युक्त (सक्रिय), असंवृत (संवररहित), एकान्तदण्ड (हिंसा) कारक एवं एकान्तबाल (अज्ञानी) है।

'मैंने सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' यों कहने वाले जिस पुरुष को यह ज्ञात होता है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, और ये स्थावर हैं,' उस (सर्व प्राण, यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का मैंने त्याग किया है, यों कहने वाले) पुरुष का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान नहीं है। 'मैंने सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' इस प्रकार कहता हुआ वह सुप्रत्याख्यानी सत्यभाषा बोलता है, मृषाभाषा नहीं बोलता। इस प्रकार वह सुप्रत्याख्यानी सत्यभाषी, सर्व प्राण यावत् सत्त्वों के प्रति तीन करण, तीन योग से संयत, विरत है। (अतीतकालीन) पापकर्मों को (पश्चात्ताप-आत्मनिन्दा से) उसने प्रतिहत (घात) कर (या रोक) दिया है, (अनागत पापों को) प्रत्याख्यान से त्याग दिया है, वह अक्रिय (कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं से रहित) है, संवृत (आस्रवद्वारों को रोकने वाला, संवरयुक्त) है, (एकान्त अदण्डरूप है) और एकान्त पण्डित है। इसीलिए, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि यावत् कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है।

विवेचन—सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का रहस्य बताया गया है। **सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान का रहस्य**—किसी व्यक्ति के केवल मुंह से ऐसा बोलने मात्र से ही प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं हो जाता कि 'मैंने समस्त प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) कर दिया है;' किन्तु इस प्रकार बोलने के साथ-साथ अगर वह भलीभांति जानता है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं' तो उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और वह सत्यभाषी, संयत, विरत आदि भी होता है, किन्तु अगर उसे जीवाजीवादि के विषय में समीचीन ज्ञान नहीं होता तो केवल प्रत्याख्यान के उच्चारण से वह न तो सुप्रत्याख्यानी होता है, न ही सत्यभाषी, संयत, विरत आदि। इसीलिए दशवैकालिक में कहा गया है—'**पढमं नाणं, तओ दया।**' ज्ञान के अभाव में कृत प्रत्याख्यान का यथावत् परिपालन न होने से वह दुष्प्रत्याख्यानी रहता है, सुप्रत्याख्यानी नहीं होता।[१]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २९५,

(ख) देखिये, इसके समर्थन में दशवैकालिक सू., अ. ४, गाथा—१० से १३ तक

प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण—

२. कतिविहे णं भंते ! पच्चक्खाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—मूलगुणपच्चक्खाणे य उत्तरगुणपच्चक्खाणे य।

[२ प्र.] भगवन् ! प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२ उ.] गौतम ! प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) मूलगुण-प्रत्याख्यान और (२) उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

३. मूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे य देसमूलगुणपच्चक्खाणे य।

[३ प्र] भगवन् ! मूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! (मूलगुणप्रत्याख्यान) दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान और (२) देशमूलगुणप्रत्याख्यान।

४. सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वातो पाणातिवातातो वेरमणं जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमणं।

[४ प्र.] भगवन् ! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४ उ.] गौतम ! (सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान) पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) सर्व-प्राणातिपात से विरमण, (२) सर्व-मृषावाद से विरमण, (६) सर्व-अदत्तादान से विरमण, (४) सर्व-मैथुन से विरमण और (५) सर्व-परिग्रह से विरमण।

५. देसमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—थूलातो पाणातिवातातो वेरमणं जाव थूलातो परिग्गहातो वेरमणं।

[५ प्र.] भगवन् ! देशमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! (देशमूलगुणप्रत्याख्यान) पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—स्थूल प्राणातिपात से विरमण यावत् स्थूल परिग्रह से विरमण।

६. उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं०—सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य, देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य।

[६ उ.] भगवन् ! उत्तरगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम ! (उत्तरगुणप्रत्याख्यान) दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) सर्व-उत्तरगुणप्रत्याख्यान और (२) देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

७. सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

अणागतं १ अतिक्कंतं २ कोडीसहितं ३ नियंटियं ४ चेव ।
सागारमणागारं ५-६ परिमाणकडं ७ निरवसेसं ८ ।।१।।
साकेयं ९ चेव अद्धाए १०, पच्चक्खाणं भवे दसहा ।

[७ प्र.] भगवन् ! सर्व-उत्तरगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[७ उ] गौतम ! सर्व-उत्तरगुणप्रत्याख्यान दस प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार—(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त, (३) कोटिसहित, (४) नियंत्रित, (५) साकार (सागार), (६) अनाकार (अनागार), (७) परिमाणकृत, (८) निरवशेष, (९) संकेत और (१०) अद्धाप्रत्याख्यान । इस प्रकार (सर्वोत्तरगुण-) प्रत्याख्यान दस प्रकार का होता है ।

८. देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—दिसिव्वयं १ उवभोग-परीभोगपरिमाणं २ अणत्थदंड-वेरमणं ३ सामाइयं ४ देसावगासियं ५ पोसहोववासो ६ अतिहिसंविभागो ७ अपच्छिममारणंतिय-संलेहणा झूसणाऽऽराहणता ।

[८ प्र.] भगवन् ! देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! (देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यान) सात प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार—(१) दिग्व्रत (दिशापरिमाणव्रत), (२) उपभोग-परिभोगपरिणाम, (३) अनर्थदण्डविरमण, (४) सामायिक, (५) देशावकाशिक, (६) पौषधोपवास, और (७) अतिथि-संविभाग तथा अपश्चिम मारणान्तिक-संलेखना-जोषणा-आराधना ।

विवेचन—प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का निरूपण—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. २ से ८ तक) में प्रत्याख्यान के मूल और उत्तर भेदों-प्रभेदों का निरूपण किया गया है ।

परिभाषाएँ—चारित्ररूप कल्पवृक्ष के मूल के समान प्राणातिपातविरमण आदि 'मूलगुण' कहलाते हैं, मूलगुणविषयक प्रत्याख्यान (त्याग-विरति) **'मूलगुणप्रत्याख्यान'** कहलाता है । वृक्ष की शाखा के समान मूलगुणों की अपेक्षा, जो उत्तररूप गुण हों, वे 'उत्तरगुण' कहलाते हैं, और तद्-विषयक प्रत्याख्यान **'उत्तरगुण-प्रत्याख्यान'** कहलाता है । सर्वथा मूलगुणप्रत्याख्यान **'सर्वमूलगुण-प्रत्याख्यान'** और देशतः (अंशतः) मूलगुणप्रत्याख्यान **'देशमूलगुणप्रत्याख्यान'** कहलाता है । सर्व-विरत मुनियों के सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान और देशविरत श्रावकों के देशमूलगुणप्रत्याख्यान होता है ।[1]

दशविध सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान का स्वरूप—(१) **अनागत**—भविष्य में जो तप, नियम या प्रत्याख्यान करना है, उसमें भविष्य में बाधा पड़ती देखकर उसे पहले ही कर लेना । (२) **अतिक्रान्त**—

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २९६।९

पहले जिस तप, नियम, व्रत-प्रत्याख्यान को करना था, उसमें गुरु, तपस्वी, एवं रुग्ण की सेवा आदि कारणों से बाधा पड़ने के कारण उस तप, व्रत-प्रत्याख्यान आदि को बाद में करना, (३) **कोटिसहित**—जहाँ एक प्रत्याख्यान की समाप्ति तथा दूसरे प्रत्याख्यान की आदि एक ही दिन में हो जाए। जैसे—उपवास के पारणे में आयम्बिल आदि तप करना। (४) **नियंत्रित**—जिस दिन जिस प्रत्याख्यान को करने का निश्चय किया है, उस दिन रोगादि बाधाओं के आने पर भी, उसे नहीं छोड़ना, नियमपूर्वक करना। (५) **साकार (सागार)**—जिस प्रत्याख्यान में कुछ आगार (छूट या अपवाद) रखा जाय। उन आगारों में से किसी आगार के उपस्थित होने पर त्यागी हुई वस्तु के त्याग का काल पूरा होने से पहले ही उसे सेवन कर लेने पर भी प्रत्याख्यान-भंग नहीं होता। जैसा—नवकारसी, पौरसी आदि। (६) **अनाकार (अनागार)**—जिस प्रत्याख्यान में **'महत्तरागार'** आदि कोई आगार न हों। 'अनाभोग' और 'सहसाकार' तो उसमें होते ही हैं। (७) **परिमाणकृत**—दत्ति, कवल (ग्रास), घर, भिक्षा या भोज्यद्रव्यों की मर्यादा करना। (८) **निरवशेष**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चारों प्रकार के आहार का सर्वथा प्रत्याख्यान—त्याग करना। (९) **संकेतप्रत्याख्यान**—अंगूठा, मुट्ठी, गांठ आदि किसी भी वस्तु के संकेत को लेकर किया जाने वाला प्रत्याख्यान। (१०) **अद्धा-प्रत्याख्यान**—अद्धा अर्थात् काल विशेष को नियत करके जो प्रत्याख्यान किया जाता है।[1] जैसे—पोरिसी, दो पोरिसी, मास, अर्द्धमास आदि। **सप्तविध देशोत्तरगुणप्रत्याख्यान का स्वरूप**—(१) **दिग्व्रत**—पूर्वादि छहों दिशाओं की गमनमर्यादा करना, नियमित दिशा से आगे आस्रव-सेवन का त्याग करना। (२) **उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत**—उपभोग्य (एक बार भोगने योग्य-भोजनादि) और परिभोग्य (बार-बार भोगे जाने योग्य वस्त्रादि) वस्तुओं (२६ बोलों) की मर्यादा करना। (३) **अनर्थदण्डविरमणव्रत**—अपध्यान, प्रमाद, हिंसाकारीशस्त्रप्रदान, पापकर्मोपदेश, आदि निरर्थक-निष्प्रयोजन हिंसादिजनक कार्य अनर्थदण्ड हैं, उनसे निवृत्त होना। (४) **सामायिकव्रत**—सावद्य व्यापार (प्रवृत्ति) एवं आर्त्त-रौद्रध्यान को त्याग कर धर्मध्यान में तथा समभाव में मनोवृत्ति या आत्मा को लगाना। एक सामायिक की मर्यादा एक मुहूर्त्त की है। सामायिक में बत्तीस दोषों से दूर रहना चाहिए। (५) **देशावकाशिकव्रत**—दिग्व्रत में जो दिशाओं की मर्यादा का तथा पहले के स्वीकृत सभी व्रतों की मर्यादा का दैनिक संकोच करना, मर्यादा के उपरान्त क्षेत्र में आस्रवसेवन न करना, मर्यादितक्षेत्र में जितने द्रव्यों की मर्यादा की है, उसके उपरान्त सेवन न करना। (६) **पौषधोपवासव्रत**—एक दिन-रात (आठ पहर तक) चतुर्विध आहार, मैथुन, स्नान, शृंगार आदि का तथा समस्त सावद्य व्यापार का त्याग करके धर्मध्यान में लीन रहना; पौषध के अठारह दोषों का त्याग करना। (७) **अतिथिसंविभागव्रत**—उत्कृष्ट अतिथि महाव्रती साधुओं को उनके लिए कल्पनीय अशनादि चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, पीठ (चौकी), फलक (पट्टा), शय्या, संस्तारक, औषध, भैषज, ये १४ प्रकार की वस्तुएँ निष्कामबुद्धिपूर्वक आत्मकल्याण की भावना से देना, दान का संयोग न मिलने पर भी भावना रखना, तथा मध्यम एवं जघन्य अतिथि को भी देना।[2]

दिग्व्रत आदि तीन को गुणव्रत और सामायिक आदि ४ व्रतों को शिक्षाव्रत भी कहते हैं।

---

१. देखिये, इन दस प्रत्याख्यानों के लक्षण को सूचित करने वाली गाथाएँ—भगवती. अ. वृत्ति, पृ. २९६, २९७

२. (क) उपासकदशांग अ. वृत्ति, (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा-३, पृ. ११९८ से ११२० तक

अपश्चिम-मारणान्तिक-संल्लेखना-जोषणा-आराधनता की व्याख्या—यद्यपि प्राणियों का आवीचिमरण प्रतिक्षण होता है, परन्तु यहाँ उस मरण की विवक्षा नहीं की गई है, किन्तु समग्र आयु की समाप्तिरूप मरण की विवक्षा है। अपश्चिम अर्थात् जिसके पीछे कोई संल्लेखनादि कार्य करना शेष नहीं, ऐसी अन्तिम मारणान्तिक (आयुष्यसमाप्ति के अन्त—मरणकाल में) की जाने वाली शरीर और कषाय आदि को कृश करने वाली तपस्याविशेष 'अपश्चिम-मारणान्तिक संल्लेखना' है। उसकी जोषणा—स्वीकार करने की आराधना अखण्डकाल (आयु:समाप्ति) तक करना अपश्चिम-मारणान्तिक-संल्लेखना-जोषणा-आराधना है। यहाँ दिग्व्रतादि सात गुण अवश्य देशोत्तर-गुणरूप हैं, किन्तु संल्लेखना के लिए नियम नहीं है, क्योंकि यह देशोत्तरगुणवाले के लिए देशोत्तर-गुणरूप और सर्वोत्तरगुण वाले के लिए सर्वोत्तरगुणरूप है। तथापि देशोत्तरगुणवाले को भी अन्तिम समय में यह अवश्यकरणीय है, यह सूचित करने के लिए देशोत्तरगुण के साथ इसका कथन किया गया है।[1]

जीव और चौवीस दण्डकों में मूलगुण-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी-वक्तव्यता—

९. जीवा णं भंते ! किं मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी ?

गोयमा ! जीवा मूलगुणपच्चक्खाणी वि, उत्तरगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि।

[९ प्र.] भगवन् ! क्या जीव, मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं, अथवा अप्रत्याख्यानी हैं ?

[९ उ.] गौतम ! जीव (समुच्चयरूप में) मूलगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी भी हैं और अप्रत्याख्यानी भी हैं।

१०. नेरइया णं भंते ! किं मूलगुणपच्चक्खाणी० ? पुच्छा।

गोतमा ! नेरइया नो मूलगुणपच्चक्खाणी, नो उत्तरगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकजीव, मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं या अप्रत्याख्यानी हैं ?

[१० उ.] गौतम ! नैरयिक जीव, न तो मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, और न उत्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं, किन्तु अप्रत्याख्यानी हैं।

११. एवं जाव चउरिंदिया।

[११ प्र.] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों पर्यन्त कहना चाहिए।

१२. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा जीवा (सू. ९)।

[१२] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों के विषय में (समुच्चय-औघिक) जीवों की तरह कहना चाहिए।

१३. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरइया (सू. १०)।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २९७

[१३] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के सम्बन्ध में नैरयिक जीवों की तरह कथन करना चाहिए।—ये सब अप्रत्याख्यानी हैं।

विवेचन—जीव और चौबीस दण्डकों में मूलगुण-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी-वक्तव्यता—प्रस्तुत ५ सूत्रों (९ से १३ तक) में समुच्चयजीवों तथा नैरयिकों से ले कर वैमानिक तक के जीवों में मूलगुणप्रत्याख्यानी, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी के अस्तित्व की पृच्छा करके उसका समाधान किया गया है।

निष्कर्ष—नैरयिकों, पंचस्थावरों, तीन विकलेन्द्रिय जीवों, तथा वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकों में मूलगुणप्रत्याख्यानी या उत्तरगुणप्रत्याख्यानी नहीं होते, वे सर्वथा अप्रत्याख्यानी होते हैं। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों में तीनों ही विकल्प पाए जाते हैं। किन्तु तिर्यंचों में मात्र देशप्रत्याख्यानी ही हो सकते हैं।

मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी जीव, पंचेन्द्रियतिर्यंचों और मनुष्यों में अल्प-बहुत्व—

१४. एतेसि णं भंते ! जीवाणं मूलगुणपच्चक्खाणीणं जाव अपच्चक्खाणीण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी अणंतगुणा।

[१४ प्र.] भगवन् ! मूलगुणप्रत्याख्यानी, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी, इन जीवों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े जीव मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, (उनसे) उत्तरगुणप्रत्याख्यानी असंख्येय गुणा हैं, और (उनसे) अप्रत्याख्यानी अनन्तगुणा हैं।

१५. एतेसि णं भंते ! पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखिज्जगुणा।

[१५ प्र.] भगवन् ! इन मूलगुणप्रत्याख्यानी आदि (पूर्वोक्त) जीवों में पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक जीव कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१५. उ] गौतम ! मूलगुणप्रत्याख्यानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीव सबसे थोड़े हैं, उनसे उत्तरगुण-प्रत्याख्यानी असंख्यगुणा हैं, और उनसे अप्रत्याख्यानी असंख्यगुणा हैं।

१६. एतेसि णं भंते ! मणुस्साणं मूलगुणपच्चक्खाणीणं० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वथोवा मणुस्सा मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा।

[१६ प्र.] भगवन् ! इन मूलगुणप्रत्याख्यानी आदि जीवों में मनुष्य कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! मूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य सबसे थोड़े हैं, उनसे उत्तरगुणप्रत्याख्यानी संख्यातगुणा हैं और उनसे अप्रत्याख्यानी मनुष्य असंख्यातगुणा हैं।

विवेचन—मूलगुण—उत्तरगुणप्रत्याख्यानी एवं अप्रत्याख्यानी जीवों, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१४ से १६ तक) में मूलगुणप्रत्याख्यानी आदि समुच्चयजीवों, तिर्यंचपंचेन्द्रियों और मनुष्यों में अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक का विचार किया गया है।

निष्कर्ष—अप्रत्याख्यानी ही सबसे अधिक हैं, समुच्चय जीवों में वे अनन्तगुणे हैं, तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों और मनुष्यों में असंख्यातगुणे हैं।

सर्वतः और देशतः मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी तथा अप्रत्याख्यानी का जीवों तथा चौवीस-दण्डकों में अस्तित्व तथा अल्पबहुत्व—

१७. जीवा णं भंते ! किं सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी ? देशमूलगुणपच्चक्खाणी ? अपच्चक्खाणी ?

गोयमा ! जीवा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी वि।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या जीव, सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं या अप्रत्याख्यानी हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! जीव (समुच्चय में), सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, देशमूलगुण-प्रत्याख्यानी भी हैं और अप्रत्याख्यानी भी हैं।

१८. नेरइयाणं पुच्छा। गोयमा ! नेरतिया नो सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, नो देसमूलगुण-पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी।

[१८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों के विषय में भी यही प्रश्न है।

[१८ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव, न तो सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, और न ही देशमूलगुण प्रत्याख्यानी हैं, वे अप्रत्याख्यानी हैं।

१९. एवं जाव चउरिंदिया।

[१९] इसी तरह यावत् चतुरिन्द्रियपर्यन्त कहना चाहिए।

२०. पंचेंदियतिरिक्खपुच्छा।

गोयमा ! पंचेंदियतिरिक्खा नो सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि।

[२० प्र.] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चजीवों के विषय में भी यही प्रश्न है।

[२० उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी नहीं हैं, देशमूलगुण-प्रत्याख्यानी हैं और अप्रत्याख्यानी भी हैं।

२१. मणुस्सा जहा जीवा।

[२१] मनुष्यों के विषय में (औघिक) जीवों की तरह कथन करना चाहिए।

२२. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा नेरइया।

[२२] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरयिकों की तरह कहना चाहिए।

२३. एतेसि णं भंते ! जीवाणं सव्वमूलगुणपच्चक्खाणीणं देसमूलगुणपच्चक्खाणीणं अपच्चक्खाणीण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी। एवं अप्पाबहुगाणि तिण्णि वि जहा पढमिल्लए दंडए (सु. १४-१६), नवरं सव्वत्थोवा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया देसमूलगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा।

[२३ प्र.] भगवन् ! इन सर्वमूलप्रत्याख्यानी, देशमूलप्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी जीवों में कौन किन से अल्प, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े सर्वमूलप्रत्याख्यानी जीव हैं, उनसे असंख्यातगुणे देशमूल-प्रत्याख्यानी जीव हैं, और अप्रत्याख्यानी जीव उनसे अनन्तगुणे हैं। इसी प्रकार तीनों—औघिक जीवों, पंचेन्द्रियतिर्यंचों और मनुष्यों—का अल्प-बहुत्व प्रथम दण्डक में कहे अनुसार कहना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि देशमूलगुणप्रत्याख्यानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च सबसे थोड़े हैं और अप्रत्याख्यानी पंचेन्द्रियतिर्यंच उनसे असंख्येय-गुणे हैं।

२४. जीवा णं भंते ! किं सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी ? देसुत्तरगुणपच्चक्खाणी ? अपच्चक्खाणी ?

गोयमा ! जीवा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी वि, तिण्णि वि।

[२४ प्र.] भगवन् ! जीव क्या सर्व-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं, देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी है अथवा अप्रत्याख्यानी हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! जीव सर्व-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यानी भी हैं और अप्रत्याख्यानी भी हैं। (अर्थात्—) तीनों प्रकार के हैं।

२५. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य एवं चेव।

[२५] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों का कथन भी इसी तरह करना चाहिए।

२६. सेसा अपच्चक्खाणी जाव वेमाणिया।

[२६] वैमानिकपर्यन्त शेष सभी जीव अप्रत्याख्यानी हैं।

२७. एतेसि णं भंते ! जीवाणं सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी०, अप्पाबहुगाणि।

तिण्णि वि जहा पढमे दंडए (सु. १४-१६) जाव मणूसाणं।

[२७ प्र.] भगवन् ! इन सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानी, देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानी एवं अप्रत्याख्यानी जीवों में से कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[२७ उ.] गौतम ! इन तीनों का अल्पबहुत्व प्रथम दण्डक (सू. १४-१६) में कहे अनुसार यावत् मनुष्यों तक जान लेना चाहिए।

विवेचन—सर्वतः और देशतः मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी तथा अप्रत्याख्यानी जीवों का तथा चौवीस दण्डकों में अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व—प्रस्तुत ११ सूत्रों (सू. १७ से २७ तक) में सर्वतः देशतः मूलोत्तरगुणप्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी समुच्चय जीवों तथा चौवीसदण्डकवर्ती जीवों के अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

निष्कर्ष—सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान केवल मनुष्य में ही होता है, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच दोनों ही हो सकते हैं, तथा शेष सभी जीव अप्रत्याख्यानी होते हैं। मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय कदाचित् अप्रत्याख्यानी भी होते हैं। सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानी तथा देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय हो सकते हैं। शेष सभी जीव अप्रत्याख्यानी हैं। अतः सबसे थोड़े सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, उनसे अधिक देशमूलगुणप्रत्याख्यानी जीव हैं, और सबसे अधिक अप्रत्याख्यानी हैं।[1]

जीवों और चौवीस दण्डकों में संयत आदि तथा प्रत्याख्यानी आदि के अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—

२८. जीवा णं भंते ! किं संजता ? असंजता ? संजतासंजता ?

गोयमा ! जीवा संजया वि०, तिण्णि वि, एवं जहेव पण्णवणाए तहेव भाणियव्वं जाव वेमाणिया। अप्पाबहुगं तहेव (सु. १४-१६) तिण्ह वि भाणियव्वं।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या जीव संयत हैं, असंयत हैं, अथवा संयतासंयत हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! जीव संयत भी हैं, असंयत भी हैं और संयतासंयत भी हैं। इस तरह प्रज्ञापना सूत्र ३२वें पद में कहे अनुसार यावत् वैमानिकपर्यन्त कहना चाहिए और अल्पबहुत्व भी तीनों का पूर्ववत् (सू. १४ से १६ तक में उक्त) कहना चाहिए।

२९. जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणी ? अपच्चक्खाणी ? पच्चक्खाणापच्चक्खाणी ?

गोतमा ! जीवा पच्चक्खाणी वि, एवं तिण्णि वि।

[२९ प्र.] भगवन् ! क्या जीव प्रत्याख्यानी हैं, अप्रत्याख्यानी हैं, अथवा प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी हैं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २८१ से २८३ तक

[२९ उ.] गौतम ! जीव प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं और प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानी भी हैं। अर्थात् तीनों प्रकार के हैं।

३०. एवं मणुस्साण वि।

[३०] इसी प्रकार मनुष्य भी तीनों ही प्रकार के हैं।

३१. पंचिदियतिरिक्खजोणिया आदिल्लविरहिया।

[३१] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव प्रारम्भ के विकल्प से रहित हैं, (अर्थात् वे प्रत्याख्यानी नहीं हैं), किन्तु अप्रत्याख्यानी हैं या प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी हैं।

३२. सेसा सव्वे अपच्चक्खाणी जाव वेमाणिया।

[३२] शेष सभी जीव यावत् वैमानिक तक अप्रत्याख्यानी हैं।

३३. एतेसि णं भंते ! जीवाणं पच्चक्खाणीणं जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्च-क्खाणी अणंतगुणा।

[३३ प्र.] भगवन् ! इन प्रत्याख्यानी आदि जीवों में कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं?

[३३ उ.] गौतम ! सबसे अल्प जीव प्रत्याख्यानी हैं, उनसे प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी असंख्येयगुणे हैं और उनसे अप्रत्याख्यानी अनन्तगुणे हैं।

३४. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया सव्वत्थोवा पच्चक्खाणापच्चक्खाणी अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा।

[३४] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों में प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी जीव सबसे थोड़े हैं, और उनसे असंख्यातगुणे अप्रत्याख्यानी हैं।

३५. मणुस्सा सव्वत्थोवा पच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा।

[३५] मनुष्यों में प्रत्याख्यानी मनुष्य सबसे थोड़े हैं, उनसे संख्येयगुणे प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी हैं और उनसे भी असंख्येयगुणे अप्रत्याख्यानी हैं।

विवेचन—संयत आदि तथा प्रत्याख्यानी आदि के जीवों तथा चौवीस दण्डकों में अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. २८ से ३५ तक) में जीवों तथा चौवीस दण्डकों में संयत-असंयत-संयतासंयत तथा प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी-प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी के अस्तित्व एवं अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का अनेकान्तशैली से निरूपण—

३६. [१] जीवा णं भंते ! किं सासता ? असासता ?

गोयमा ! जीवा सिय सासता, सिय असासता ।

[३६-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव शाश्वत हैं या अशाश्वत हैं ?

[३६-१ उ.] गौतम ! जीव कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचित् अशाश्वत हैं ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'जीवा सिय सासता, सिय असासता' ?

गोतमा ! दव्वट्ठताए सासता, भावट्ठयाए असासता । से तेणट्ठेणं गोतमा ! एवं वुच्चइ जाव सिय असासता ।

[३६-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है कि जीव कथंचित् शाश्वत हैं, कथंचित् अशाश्वत हैं ?

[३६-२ उ.] गौतम ! द्रव्य की दृष्टि से जीव शाश्वत हैं, और भाव (पर्याय) की दृष्टि से जीव अशाश्वत हैं । हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा गया है कि जीव कथंचित् शाश्वत हैं, कथंचित् अशाश्वत हैं ।

३७. नेरइया णं भंते ! किं सासता ? असासता ?

एवं जहा जीवा तहा नेरइया वि ।

[३७ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव शाश्वत हैं या अशाश्वत हैं ?

[३७ उ.] जिस प्रकार (औघिक) जीवों का कथन किया था, उसी प्रकार नैरयिकों का कथन करना चाहिए ।

३८. एवं जाव वेमाणिया जाव सिय असासता ।

सेवं भंते ! सेवं भंते । त्ति० ।

।। सत्तम सए : वितिओ उद्देसओ समत्तो ।।

[३८] इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त चौवीस ही दण्डकों के विषय में कथन करना चाहिए कि वे जीव कथंचित् शाश्वत हैं, कथंचित् अशाश्वत हैं ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर यावत् गौतम-स्वामी विचरने लगे ।

विवेचन—जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का अनेकान्तशैली से प्ररूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में जीवों एवं चौवीस दण्डकों के विषय में शाश्वतता-अशाश्वतता का विचार स्याद्वादशैली में प्रस्तुत किया गया है ।

आशय—द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से जीव (जीवद्रव्य) शाश्वत है, किन्तु विभिन्न गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण करने और विभिन्न पर्याय धारण करने के कारण पर्यायार्थिक-नय की दृष्टि से वह अशाश्वत है।[१]

यद्यपि कोई एक नैरयिक शाश्वत नहीं है, क्योंकि तेतीस सागरोपम से अधिक काल तक कोई भी जीव नैरयिक पर्याय में नहीं रहता, किन्तु जगत् नैरयिक जीवों से शून्य कभी नहीं होता, अतएव संतति की अपेक्षा से उन्हें शाश्वत कहा गया है।

।। सप्तम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

६. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक २९९

तइओ उद्देसओ : 'थावर'

तृतीय उद्देशक : 'स्थावर'

वनस्पतिकायिक जीवों के सर्वाल्पाहारकाल एवं सर्वमहाकाल की वक्तव्यता—

१. वणस्सतिकाइया णं भंते ! कं कालं सव्वप्पाहारगा वा सव्वमहाहारगा वा भवंति ?

गोयमा ! पाउस-वरिसारत्तेसु णं एत्थ णं वणस्सतिकाइया सव्वमहाहारगा भवंति, तदाणंतरं च णं सरदे, तयाणंतरं च णं हेमंते, तदाणंतरं च णं वसंते, तदाणंतरं च णं गिम्हे। गिम्हासु णं वणस्सतिकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति।

[१ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव किस काल में सर्वाल्पाहारी (सबसे थोड़ा आहार करने वाले) होते हैं और किस काल में सर्वमहाहारी (सबसे अधिक आहार करने वाले) होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! प्रावृट् (पावस) ऋतु (श्रावण और भाद्रपद मास) में तथा वर्षा ऋतु (आश्विन और कार्तिक मास) में वनस्पतिकायिक जीव सर्वमहाहारी होते हैं। इसके पश्चात् शरद् ऋतु में, तदनन्तर हेमन्त ऋतु में, इसके बाद वसन्त ऋतु में और तत्पश्चात् ग्रीष्म ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव क्रमशः अल्पाहारी होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वे सर्वाल्पाहारी होते हैं।

२. जति णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति, कम्हा णं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सतिकाइया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरितगरेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति ?

गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पुग्गला य वणस्सतिकाइयत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति, एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सतिकाइया पत्तिया पुप्फिया जाव चिट्ठंति।

[२ प्र.] भगवन् ! यदि ग्रीष्म ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव सर्वाल्पाहारी होते हैं, तो बहुत-से वनस्पतिकायिक ग्रीष्मऋतु में पत्तों वाले, फूलों वाले, फलों वाले, हरियाली से देदीप्यमान (हरेभरे) एवं श्री (शोभा) से अतीव सुशोभित कैसे होते हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! ग्रीष्म ऋतु में बहुत-से उष्णयोनि वाले जीव और पुद्गल वनस्पतिकाय के रूप में उग (उत्पन्न हो) जाते हैं, विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, और विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। हे गौतम ! इस कारण से ग्रीष्म ऋतु में बहुत-से वनस्पतिकायिक पत्तों वाले, फूलों वाले, फलों वाले यावत् सुशोभित होते हैं।

विवेचन—वनस्पतिकायिक जीवों के सर्वाल्पाहारकाल एवं सर्वमहाहारकाल की वक्तव्यता— उद्देशक के प्रारम्भिक इन दो सूत्रों में वनस्पतिकायिक जीव किस ऋतु में सर्वमहाहारी और किस ऋतु में सर्वाल्पाहारी होते हैं, और क्यों ? यह सयुक्तिक निरूपण किया गया है।

प्रावृट् और वर्षा ऋतु में वनस्पतिकायिक सर्वमहाहारी क्यों?—छह ऋतुओं में से इन दो ऋतुओं में वनस्पतिकायिक जीव सर्वाधिक आहारी होते हैं, इसका कारण यह है कि इन ऋतुओं में वर्षा अधिक बरसती है, इसलिए जलस्नेह की अधिकता के कारण वनस्पति को अधिक आहार मिलता है।

ग्रीष्म ऋतु में सर्वाल्पाहारी होते हुए भी वनस्पतियाँ पत्रित-पुष्पित क्यों?—ग्रीष्म ऋतु में जो वनस्पतियाँ पत्र, पुष्प, फलों से युक्त हरीभरी दिखाई देती हैं, इसका कारण उस समय उष्णयोनिक जीवों और पुद्गलों के उत्पन्न होने, बढ़ने आदि का सिलसिला चालू हो जाना है।[1]

वनस्पतिकायिक मूलजीवादि से स्पृष्ट मूलादि के आहार के सम्बन्ध में सयुक्तिक समाधान—

३. से नूणं भंते! मूला मूलजीवफुडा, कंदा कंदजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा?

हंता, गोतमा! मूला मूलजीवफुडा[2] जाव बीया बीयजीवफुडा।

[३ प्र.] भगवन्! क्या वनस्पतिकाय के मूल, निश्चय ही मूलजीवों से स्पृष्ट (व्याप्त) होते हैं, कन्द, कन्द के जीवों से स्पृष्ट होते हैं, यावत् बीज, बीज के जीवों से स्पृष्ट होते हैं?

[३ उ.] हाँ गौतम! मूल, मूल के जीवों से स्पृष्ट होते हैं, यावत् बीज, बीज के जीवों से स्पृष्ट होते हैं।

४. जति णं भंते! मूला मूलजीवफुडा जाव[3] बीया बीयजीवफुडा, कम्हा णं भंते! वणस्सतिकाइया आहारेंति? कम्हा परिणामेंति?

गोयमा! मूला मूलजीवफुडा पुढविजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति। कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति। एवं जाव बीया बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारेंति, तम्हा परिणामेंति।

[४ प्र.] भगवन्! यदि मूल, मूलजीवों से स्पृष्ट होते हैं, यावत् बीज, बीज के जीवों से स्पृष्ट होते हैं, तो फिर, भगवन्! वनस्पतिकायिक जीव किस प्रकार से (कैसे) आहार करते हैं, और किस तरह से उसे परिणमाते हैं?

[४ उ.] गौतम! मूल, मूल के जीवों से व्याप्त (स्पृष्ट) हैं और वे पृथ्वी के जीव के साथ सम्बद्ध (संयुक्त—जुड़े हुए) होते हैं, इस तरह से वनस्पतिकायिक जीव आहार करते हैं, और उसे परिणमाते हैं। इसी प्रकार कन्द, कन्द के जीवों के साथ स्पृष्ट (व्याप्त) होते हैं और मूल के जीवों से

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३००

२. 'मूलजीवफुडा' का अर्थ—मूल के जीवों से स्पृष्ट-व्याप्त है।

३. 'जाव' शब्द कन्द से लेकर बीज तक के पदों का, सूचक है। यथा—'खंधा, खंधजीवफुडा, तया, साला, पवाला, पत्ता, पुप्फा, फला, बीया।'

सम्वद्ध (जुड़े हुए) रहते हैं; इस प्रकार यावत् वीज, वीज के जीवों से व्याप्त (स्पृष्ट) होते हैं, और वे फल के जीवों के साथ सम्वद्ध रहते हैं; इससे वे आहार करते और उसे परिणमाते हैं।

विवेचन—वनस्पतिकायिक मूलजीवादि से स्पृष्ट मूलादि के आहार के सम्बन्ध में सयुक्तिक समाधान—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू. ३ और ४) में वनस्पतिकाय के मूल आदि अपने-अपने जीव के साथ स्पृष्ट—व्याप्त होते हुए कैसे आहार करते हैं ? इसका युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत किया गया है।

वृक्षादिरूप वनस्पति के दस प्रकार—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज।

मूलादि जीवों से व्याप्त मूलादि द्वारा आहारग्रहण—मूलादि, अपने-अपने जीवों से व्याप्त होते हुए भी परस्पर एक दूसरे से सम्वद्ध रहते हैं—जैसे मूल पृथ्वी से, कन्द मूल से, स्कन्ध कन्द से, त्वचा स्कन्ध से शाखा त्वचा से, प्रवाल शाखा से, पत्र प्रवाल से, पुष्प पत्र से, फल पुष्प से और वीज फल से सम्वद्ध-परिवद्ध होता है, इस कारण परम्परा से मूलादि सव एक दूसरे से जुड़े हुए होने से अपना-अपना आहार ले लेते हैं। और उसे परिणमाते हैं।[1]

आलू, मूला आदि वनस्पतियों में अनन्तजीवत्व और विभिन्नजीवत्व की प्ररूपणा—

५. अह भंते ! आलुए मूलए सिंगवेरे हिरिली सिरिली सिस्सिरिली किट्ठिया छिरिया छीरविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खिलूडे भद्दमुत्था पिंडहलिद्दा लोहीणी हूथिहमगा (थिरुगा) मुग्गकण्णी अस्सकण्णी सीहकण्णी सीहंढी मुसुंढी, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता ?

हंता, गोयमा ! आलुए मूलए जाव अणंतजीवा विविहसत्ता।

[५ प्र.] अव प्रश्न यह है 'भगवन् ! आलू, मूला, शृंगवेर (अदरख), हिरिली, सिरिली, सिस्सिरिली, किट्टिका, छिरिया, छीरविदारिका, वज्रकन्द, सूरणकन्द, खिलूड़ा, (आर्द्र-) भद्रमोथा, पिंडहरिद्रा (हल्दी की गांठ), रोहिणी, हुथीहू, थिरुगा, मुद्गकर्णी, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिहण्डी, मुसुण्ढी, ये और इसी प्रकार की जितनी भी दूसरी वनस्पतियां हैं, क्या वे सव अनन्त जीववाली और विविध (पृथक्-पृथक्) जीववाली हैं।

[५ उ.] हाँ गौतम ! आलू, मूला, यावत् मुसुण्ढी; ये और इसी प्रकार की जितनी भी दूसरी वनस्पतियाँ हैं, वे सव अनन्तजीव वाली और विविध (भिन्न-भिन्न) जीववाली हैं।

विवेचन—आलू, मूला आदि वनस्पतियों में अनन्त जीवत्व और विभिन्न जीवत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत पंचम सूत्र में आलू, मूला आदि तथा इसी प्रकार की भूमिगत मूलवाली अनन्तकायिक वनस्पतियों में अनन्त जीवत्व तथा पृथक् जीवत्व की प्ररूपणा की गई है।

'अनन्तजीवा विविहसत्ता' की व्याख्या--आलू आदि अनन्तकाय के प्रकार लोकरूढ़िगम्य हैं, भिन्न-भिन्न देशों में ये उन-उन नामों से प्रसिद्ध हैं, इनमें अनन्त जीव हैं, तथा विविध सत्त्व (पृथक् चेतनावाले) हैं अथवा वर्णादि के भेद से ये विविध प्रकार के हैं, अथवा एक स्वरूप या एककायिक होते हुए भी इन में अनन्त जीवत्व है, इस दृष्टि से विविध यानी विचित्र कर्मों के कारण

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३००

इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता-चेतना है; अथवा जिनके विविध अर्थात् विचित्र विधा=प्रकार या भेद हैं, वे भी विविध सत्त्व हैं।[1]

चौवीस दण्डकों में लेश्या की अपेक्षा अल्पकर्मत्व और महाकर्मत्व की प्ररूपणा—

६. [१] सिय भंते! कण्हलेसे नेरतिए अप्पकम्मतराए, नीललेसे नेरतिए महाकम्मतराए?

हंता, गोयमा! सिया।

[६-१ प्र.] भगवन्! क्या कृष्णलेश्या वाला नैरयिक कदाचित् अल्पकर्मवाला और नील-लेश्या वाला नैरयिक कदाचित् महाकर्मवाला होता है?

[६-१ उ.] हाँ, गौतम! कदाचित् ऐसा होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'कण्हलेसे नेरतिए अप्पकम्मतराए, नीललेसे नेरतिए महाकम्मतराए'?

गोयमा! ठिति पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव महाकम्मतराए।

[६-२ प्र.] भगवन्! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं, कि कृष्णलेश्या वाला नैरयिक कदाचित् अल्पकर्मवाला होता है और नीललेश्या वाला नैरयिक कदाचित् महाकर्मवाला होता है?

[६-२ उ.] गौतम! स्थिति की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि यावत् (नीललेश्या वाला नैरयिक कदाचित्) महाकर्म वाला होता है।

७. [१] सिय भंते! नीललेसे नेरतिए अप्पकम्मतराए, काउलेसे नेरतिए महाकम्मतराए?

हंता, सिया।

[७-१ प्र.] भगवन्! क्या नीललेश्या वाला नैरयिक कदाचित् अल्पकर्मवाला होता है और कापोतलेश्या वाला नैरयिक कदाचित् महाकर्मवाला होता है?

[७-१ उ.] हाँ गौतम! कदाचित् ऐसा होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'नीललेसे अप्पकम्मतराए, काउलेसे नेरतिए महाकम्मतराए?'

गोयमा! ठिति पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा जाव महाकम्मतराए।

[७-२ प्र.] भगवन्! आप किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नीललेश्या वाला नैरयिक कदाचित् अल्पकर्मवाला होता है और कापोतलेश्या वाला नैरयिक कदाचित् महाकर्मवाला होता है?

[७-२ उ.] गौतम! स्थिति की अपेक्षा ऐसा कहता हूँ कि यावत् (कापोतलेश्या वाला नैरयिक कदाचित्) महाकर्मवाला होता है।

८. एवं असुरकुमारे वि, नवरं तेउलेसा अब्भहिया।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३००

[८] इसी प्रकार असुरकुमारों के विषय में भी कहना चाहिए, परन्तु उनमें एक तेजोलेश्या अधिक होती है। (अर्थात्—उनमें कृष्ण, नील, कापोत और तेजो, ये चार लेश्याएँ होती हैं।)

९. एवं जाव वेमाणिया, जस्स जति लेसाओ तस्स तति भाणियव्वाओ। जोतिसियस्स न भण्णति। जाव सिय भंते! पम्हलेसे वेमाणिए अप्पकम्मतराए, सुक्कलेसे वेमाणिए महाकम्मतराए?

हंता, सिया। से केणट्ठेणं० सेसं जहा नेरइयस्स जाव महाकम्मतराए।

[९] इसी तरह यावत् वैमानिक देवों तक कहना चाहिए। जिसमें जितनी लेश्याएँ हों, उतनी कहनी चाहिए, किन्तु ज्योतिष्क देवों के दण्डक का कथन नहीं करना चाहिए। (प्रश्नोत्तर की संयोजना इस प्रकार यावत् वैमानिक तक कर लेनी चाहिए, यथा—)

[प्र.] भगवन्! क्या पद्मलेश्या वाला वैमानिक कदाचित् अल्प कर्म वाला और शुक्ललेश्या वाला वैमानिक कदाचित् महाकर्म वाला होता है?

[उ.] हाँ, गौतम! कदाचित् होता है।

[प्र.] भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं?

[उ.] (इसके उत्तर में) शेष सारा कथन नैरयिक की तरह यावत् 'महाकर्मवाला होता है'; यहाँ तक करना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में लेश्या की अपेक्षा अल्पकर्मत्व-महाकर्मत्व-प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ६ से ९ तक) में नैरयिकों से लेकर वैमानिक दण्डक तक के जीवों में लेश्या के तारतम्य का सयुक्तिक निरूपण किया गया है।

सापेक्ष कथन का आशय—सामान्यतया कृष्णलेश्या वाला जीव महाकर्मी और नीललेश्यावाला जीव उससे अल्पकर्मी होता है, किन्तु आयुष्य की स्थिति की अपेक्षा से कृष्णलेश्यी जीव अल्पकर्मी और नीललेश्यी जीव महाकर्मी भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—सप्तम नरक में उत्पन्न कोई कृष्ण-लेश्यी नैरयिक है, जिसने अपने आयुष्य की बहुत-सी स्थिति क्षय कर दी है, इस कारण उसने बहुत-से कर्म भी क्षय कर दिये हैं, किन्तु उसकी अपेक्षा कोई नीललेश्यी नैरयिक दस सागरोपम की स्थिति से पंचम नरक में अभी तत्काल उत्पन्न हुआ है, उसने अपने आयुष्य की स्थिति अभी अधिक क्षय नहीं की। इस कारण पूर्वोक्त कृष्णलेश्यी नैरयिक की अपेक्षा इस नीललेश्यी के कर्म अभी बहुत बाकी हैं। इस दृष्टि से नीललेश्यी कृष्णलेश्यी की अपेक्षा महाकर्मवाला है।

ज्योतिष्क दण्डक मे निषेध का कारण—ज्योतिष्क देवों मेंय ह सापेक्षता घटित नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें केवल एक तेजोलेश्या होती है। दूसरी लेश्या न होने से उसे दूसरी लेश्या की अपेक्षा अल्पकर्मी या महाकर्मी नहीं कहा जा सकता।[1]

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में वेदना और निर्जरा के तथा इन दोनों के समय के पृथक्त्व का निरूपण—

१०. [१] से नूणं भंते! जा वेदणा सा निज्जरा? जा निज्जरा सा वेदणा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०१

[१०-१ प्र.] भगवन् ! क्या वास्तव में, जो वेदना है, वह निर्जरा कही जा सकती है ? और जो निर्जरा है, वह वेदना कही जा सकती है ?

[१०-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'जा वेयणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा' ?

गोयमा ! कम्मं वेदणा, णोकम्मं निज्जरा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव न सा वेदणा ।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि जो वेदना है, वह निर्जरा नहीं कही जा सकती, और जो निर्जरा है, वह वेदना नहीं कही जा सकती ?

[१०-२ उ.] गौतम ! वेदना कर्म है और निर्जरा नोकर्म है । इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यावत् जो निर्जरा है, वह वेदना नहीं कही जा सकती ।

११. [१] नेरतियाणं भंते ! जा वेदणा सा निज्जरा ? जा निज्जरा सा वेदणा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकों की जो वेदना है, उसे निर्जरा कहा जा सकता है, और जो निर्जरा है, उसे वेदना कहा जा सकता है ?

[११-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति नेरइयाणं जा वेदणा न सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेयणा ?

गोतमा ! नेरइयाणं कम्मं वेदणा, णोकम्मं निज्जरा । से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव न सा वेयणा ।

[११-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि नैरयिकों की जो वेदना है, उसे निर्जरा नहीं कहा जा सकता, और जो निर्जरा है, उसे वेदना नहीं कहा जा सकता ?

[११-२ उ.] गौतम ! नैरयिकों की जो वेदना है, वह कर्म है और जो निर्जरा है, वह नोकर्म है । इस कारण से, हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि यावत् जो निर्जरा है, उसे वेदना नहीं कहा जा सकता ।

१२. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[१२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त (चौवीस ही दण्डकों में) कहना चाहिए ।

१३. [१] से नूणं भंते ! जं वेदेंसु तं निज्जरिंसु ? जं निज्जरिंसु तं वेदेंसु ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! जिन कर्मों का वेदन कर (भोग) लिया, क्या उनको निर्जीर्ण कर लिया और जिन कर्मों को निर्जीर्ण कर लिया, क्या उनका वेदन कर लिया ?

[१३-१ उ.] गौतम ! यह बात (अर्थ) समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'जं वेदेंसु नो तं निज्जरेंसु, जं निज्जरेंसु नो तं वेदेंसु' ?

गोयमा ! कम्मं वेदेंसु, नोकम्मं निज्जरिंसु, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो तं वेदेंसु।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि जिन कर्मों का वेदन कर लिया, उनको निर्जीर्ण नहीं किया, और जिन कर्मों को निर्जीर्ण कर लिया, उनका वेदन नहीं किया ?

[१३-२ उ.] गौतम ! वेदन किया गया कर्मों का, किन्तु निर्जीर्ण किया गया है—नोकर्मों को; इस कारण से, हे गौतम ! मैंने कहा कि यावत्……उनका वेदन नहीं किया।

१४. नेरतिया णं भंते ! जं वेदेंसु तं निज्जरिंसु ? एवं नेरइया वि।

[१४ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों ने जिस कर्म का वेदन कर लिया, क्या उसे निर्जीर्ण कर लिया ?

[१४ उ.] पहले कहे अनुसार नैरयिकों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

१५. एवं जाव वेमाणिया।

[१५] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त चौवीस ही दण्डक में कथन करना चाहिए।

१६. [१] से नूणं भंते ! जं वेदेंति तं निज्जरिंति, जं निज्जरेंति तं वेदेंति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! क्या वास्तव में जिस कर्म को वेदते हैं, उसकी निर्जरा करते हैं, और जिसकी निर्जरा करते हैं, उसको वेदते हैं ?

[१६-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जाव 'नो तं वेदेंति' ?

गोतमा ! कम्मं वेदेंति, नोकम्मं निज्जरेंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो तं वेदेंति।

[१६-२ प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं कि जिसको वेदते हैं, उसकी निर्जरा नहीं करते और जिसकी निर्जरा करते हैं, उसको वेदते नहीं हैं ?

[१६-२ उ.] गौतम ! कर्म को वेदते हैं, और नोकर्म को निर्जीर्ण करते हैं। इस कारण से हे गौतम ! मैं कहता हूँ कि यावत् जिसको निर्जीर्ण करते हैं, उसका वेदन नहीं करते।

१७. एवं नेरइया वि जाव वेमाणिया।

[१७] इसी तरह नैरयिकों के विषय में जानना चाहिए। यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में इसी तरह कहना चाहिए।

१८. [१] से नूणं भंते ! जं वेदिस्संति तं निज्जरिस्संति ? जं निज्जरिस्संति तं वेदिस्संति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१८-१ प्र.] भगवन् ! क्या वास्तव में, जिस कर्म का वेदन करेंगे, उसकी निर्जरा करेंगे, और जिस कर्म की निर्जरा करेंगे, उसका वेदन करेंगे ?

[१८-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं जाव 'णो तं वेदिस्संति' ?

गोयमा ! कम्मं वेदिस्संति, नोकम्मं निज्जरिस्संति। से तेणट्ठेणं जाव नो तं निज्जरि(वेदि) स्संति।

[१८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि यावत् उसका वेदन नहीं करेंगे ?

[१८-२ उ.] गौतम ! कर्म का वेदन करेंगे, नोकर्म की निर्जरा करेंगे। इस कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जिसका वेदन करेंगे, उसकी निर्जरा नहीं करेंगे, और जिसकी निर्जरा करेंगे, उसका वेदन नहीं करेंगे।

१९. एवं नेरतिया वि जाव वेमाणिया।

[१९] इसी तरह नैरयिकों के विषय में जान लेना चाहिए। यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में इसी तरह कहना चाहिए।

२०. [१] से णूणं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए से वेदणासमए ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! जो वेदना का समय है, क्या वह निर्जरा का समय है और जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय है ?

[२०-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'जे वेदणासमए न से णिज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए' ?

गोयमा ! जं समयं वेदेंति नो तं समयं निज्जरेंति, जं समयं निज्जरेंति नो तं समयं वेदेंति; अन्नम्मि समए वेदेंति, अन्नम्मि समए निज्जरेंति; अन्ने से वेदणासमए, अन्ने से निज्जरासमए। से तेणट्ठेणं जाव न से वेदणासमए।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है और जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है ?

[२०-२ उ.] गौतम ! जिस समय में वेदते हैं, उस समय निर्जरा नहीं करते, और जिस समय निर्जरा करते हैं, उस समय वेदन नहीं करते। अन्य समय में वेदन करते हैं और अन्य समय में निर्जरा करते हैं। वेदना का समय दूसरा है और निर्जरा का समय दूसरा है। इसी कारण से, हे गौतम ! मैं कहता हूँ कि····यावत् निर्जरा का जो समय है, वह वेदना का समय नहीं है।

२१. [२] नेरतियाणं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए ? जे निज्जरासमए से वेदणासमए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीवों का जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय है और जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय है ?

[२१-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नेरइयाणं जे वेदणासमए न से निज्जरासमए, जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ?'

गोयमा ! नेरइया णं जं समयं वेदेंति णो तं समयं निज्जरेंति, जं समयं निज्जरेंति नो तं समयं वेदेंति; अन्नम्मि समए वेदेंति, अन्नम्मि समए निज्जरेंति; अन्ने से वेदणासमए, अन्ने से निज्जरासमए । से तेणट्ठेणं जाव न से वेदणासमए ।

[२१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि नैरयिकों के जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है, और जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है ?

[२१-२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव, जिस समय में वेदन करते हैं, उस समय में निर्जरा नहीं करते, और जिस समय में निर्जरा करते हैं, उस समय में वेदन नहीं करते । अन्य समय में वे वेदन करते हैं और अन्य समय में निर्जरा करते हैं । उनके वेदना का समय दूसरा है और निर्जरा का समय दूसरा है । इस कारण से, मैं ऐसा कहता हूँ कि यावत् जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है ।

२२. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[२२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डकों में कहना चाहिए ।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में वेदना और निर्जरा के तथा इन दोनों के समय के पृथक्त्व का निरूपण—प्रस्तुत १३ सूत्रों (सू. १० से २२ तक) में विभिन्न पहलुओं से सामान्य जीव में, चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में वेदना और निर्जरा के पृथक्त्व का तथा इन दोनों के समय के पृथक्त्व का निरूपण किया गया है ।

वेदना और निर्जरा की व्याख्या के अनुसार दोनों के पृथक्त्व की सिद्धि—उदयप्राप्त कर्म को भोगना 'वेदना' कहलाती है और जो कर्म भोग कर क्षय कर दिया गया है, उसे निर्जरा कहते हैं । वेदना कर्म की होती है । इसी कारण वेदना को (उदयप्राप्त) कर्म कहा गया है,[1] और निर्जरा को नोकर्म (कर्माभाव) । तात्पर्य यह है कि कार्मण वर्गणा के पुद्गल सदैव विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे सदा कर्म नहीं कहलाते । कषाय और योग के निमित्त से जीव के साथ बद्ध होने पर ही उन्हें 'कर्म' संज्ञा प्राप्त होती है और वेदन के अन्तिम समय तक वह संज्ञा रहती है । निर्जरा होने पर वे पुद्गल 'कर्म' नहीं रहते, अकर्म हो जाते हैं ।

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०२

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का निरूपण—

२३. [१] नेरतिया भंते ! किं सासया, असासया ?

गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव शाश्वत हैं या अशाश्वत हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचित् अशाश्वत हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नेरतिया सिय सासया, सिय असासया' ?

गोयमा ! अव्वोच्छित्तिनयट्ठताए सासया, वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया। से तेणट्ठेणं जाव सिय असासया।

[२३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि नैरयिक जीव कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचित् अशाश्वत हैं ?'

[२३-२ उ.] गौतम ! अव्युच्छित्ति (द्रव्यार्थिक) नय की अपेक्षा से नैरयिक जीव शाश्वत हैं और व्युच्छित्ति (पर्यायार्थिक) नय की अपेक्षा से नैरयिक जीव अशाश्वत हैं। इस कारण से, हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि नैरयिक जीव कथंचित् शाश्वत हैं और कथंचित् अशाश्वत हैं।

२४. एवं जाव वेमाणियाणं जाव सिय असासया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। सत्तम सए : तइओ उद्देसओ समत्तो ।।

[२४] इसी प्रकार यावत् वैमानिकदेव-पर्यन्त कहना चाहिये कि वे कथञ्चित् शाश्वत हैं और कथञ्चित् अशाश्वत् हैं। यावत् इसी कारण से मैं कहता हूँ कि वैमानिक देव कथञ्चित् शाश्वत हैं, कथञ्चित् अशाश्वत हैं।'

भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्। यह इसी प्रकार है, इस प्रकार कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की शाश्वतता-अशाश्वतता का निरूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों (२३ और २४) में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की शाश्वतता और अशाश्वतता का सापेक्षिक कथन किया गया है।

अव्युच्छित्तिनयार्थता व्युच्छित्तिनयार्थता का अर्थ—अव्युच्छित्ति (ध्रुवता) प्रधान नय अव्युच्छित्ति नय है, उसका अर्थ है—द्रव्य, अर्थात्—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा और व्युच्छित्ति प्रधान जो नय है, उसका अर्थ है—पर्याय, अर्थात्—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी पदार्थ शाश्वत हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सभी पदार्थ अशाश्वत हैं।[1]

।। सप्तम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०२

चउत्थो उद्देसओ : 'जीवा'

चतुर्थ उद्देशक : 'जीव'

षड्विध संसारसमापन्नक जीवों के सम्बन्ध में वक्तव्यता—

१. रायगिहे नगरे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् (श्री गौतमस्वामी ने) श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

२. कतिविहा णं भंते ! संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता ?

गोयमा ? छव्विहा संसारसंमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया एवं जहा जीवाभिगमे जाव सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा।

[संग्रहणी गाथा—जीवा छव्विह पुढवी जीवाण ठिती, भवट्ठिती काए।
निल्लेवण अणगारे किरिया सम्मत्त मिच्छत्ता ।।][1]

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति० !

।। सत्तम सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

[२ प्र.] भगवन् ! संसारसमापन्नक (संसारी) जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! संसारसमापन्नक जीव, छह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं— (१) पृथ्वीकायिक, (२) अप्कायिक, (३) तेजस्कायिक, (४) वायुकायिक, (५) वनस्पतिकायिक एवं (६) त्रसकायिक।

इस प्रकार यह समस्त वर्णन जीवाभिगमसूत्र के तिर्यञ्चसम्बन्धी दूसरे उद्देशक में कहे अनुसार सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया पर्यन्त कहना चाहिए।

[संग्रहणी गाथा का अर्थ—जीव के छह भेद, पृथ्वीकायिक जीवों के छह भेद, पृथ्वीकायिक आदि जीवों की स्थिति, भवस्थिति, सामान्यकायस्थिति, निर्लेपन, अनगारसम्बन्धी वर्णन सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्वक्रिया।]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—षड्विध संसारसमापन्नक जीवों के सम्बन्ध में जीवाभिगमसूत्रानुसार वक्तव्यता—

---

१. यह संग्रहणी गाथा वाचनान्तर में है, वृत्तिकार ने वृत्ति में इसे उद्धृत करके इसकी व्याख्या भी की है।
—देखें—भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३०२-३०३

प्रस्तुत चतुर्थ उद्देशक के दो सूत्रों में संसारी जीवों के भेद तथा जीवाभिगमसूत्रोक्त उनसे सम्बन्धित वर्णन का निर्देश किया है।

संसारी जीवों के सम्बन्ध में जीवाभिगमसूत्रोक्त तथ्य—जीवाभिगमसूत्र में तिर्यञ्च के दूसरे उद्देशक में जो बातें हैं, उनकी झांकी संग्रहणीगाथा में दे ही दी है। (१) संसारी जीवों के ६ भेदों का उल्लेख कर दिया है। तत्पश्चात् (२) **पृथ्वीकायिक जीवों के ६ भेद**—श्लक्ष्णा, शुद्धपृथ्वी, बालुकापृथ्वी, मनःशिला, शर्करापृथ्वी, और खरपृथ्वी। इन सबकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति श्लक्ष्णा की १ हजार वर्ष, शुद्धपृथ्वी की १२ हजार वर्ष, बालुका की १४ हजार वर्ष, मनःशिला की १६ हजार वर्ष, शर्करापृथ्वी की १८ हजार वर्ष और खरपृथ्वी की २२ हजार वर्ष की है। (३) **स्थिति**—नारकों और देवों की जघन्य १० हजार वर्ष, उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है। तिर्यंच और मनुष्य की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्ट ३ पल्योपम की। इसी तरह अन्य जीवों की भवस्थिति प्रज्ञापनासूत्र के चतुर्थ स्थितिपदानुसार जान लें। (४) **निर्लेपन**—तत्काल उत्पन्न पृथ्वीकायिक जीवों को प्रतिसमय एक-एक निकालें तो जघन्य असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में और उत्कृष्ट भी असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकाल में निर्लेप (रिक्त) होते हैं, इत्यादि प्रकार से सभी जीवों का निर्लेपन कहना चाहिए। (५) **अनगार**—जो कि अविशुद्ध लेश्यावाला अवधिज्ञानी है, उसके देव-देवी को जानने सम्बन्धी १२ आलापक कहने चाहिए। (६) **अन्यतीर्थिकों**—द्वारा एक समय में **सम्यक्त्व-मिथ्यात्व क्रियाद्वय** करने की प्ररूपणा का खण्डन, एक समय में इन परस्पर विरोधी दो क्रियाओं में से एक ही क्रिया का मण्डन है। इस प्रकार सांसारिक जीव सम्बन्धी वक्तव्यता है।[1]

॥ सप्तम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३०२-३०३, (ख) जीवाभिगमसूत्र, तिर्यञ्च सम्बन्धी उद्देशक २, प-१३९ सू. १०० से १०४ तक (ग) प्रज्ञापनासूत्र चतुर्थ स्थितिपद

पंचमो उद्देसओ : 'पक्खी'

पंचम उद्देशक : 'पक्षी'

खेचर-पंचेन्द्रिय जीवों के योनिसंग्रह आदि तथ्यों का अतिदेशपूर्वक निरूपण—

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् गौतमस्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) इस प्रकार पूछा—

२. खहचरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! कतिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडया पोयया सम्मुच्छिमा। एवं जहा जीवाभिगमे जाव नो चेव णं ते विमाणे वीतीवएज्जा। एमहालया णं गोयमा ! ते विमाणा पण्णत्ता।

[संग्रहगाथा—'जोणीसंगह लेसा दिट्ठी णाणे य जोग-उवओगे।
उववाय-ट्ठिइ-समुग्घाय-चवण-जाइ-कुल-विहीओ ॥][1]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तम सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[२ प्र.] हे भगवन् ! खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों का योनिसंग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२ उ.] गौतम ! (खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों का) योनिसंग्रह तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—अण्डज, पोतज और सम्मूर्च्छिम। इस प्रकार (आगे का सारा वर्णन) जीवाभिगमसूत्र में कहे अनुसार यावत् 'उन विमानों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, हे गौतम ! वे विमान इतने महान् (बड़े) कहे गए हैं;' यहाँ तक कहना चाहिए।

[संग्रहगाथा का अर्थ—योनिसंग्रह, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, उपपात, स्थिति, समुद्घात, च्यवन और जाति-कुलकोटि।]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरने लगे।

---

१. यह संग्रहगाथा वाचनान्तर में है, वृत्तिकार ने इसे वृत्ति में उद्धृत की है, और इसकी व्याख्या भी की है।
—देखें—भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३०३

विवेचन—खेचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रियजीवों के योनिसंग्रह आदि तथ्यों का अतिदेशपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत पंचम उद्देशक के दो सूत्रों में खेचर पंचेन्द्रियजीवों के योनिसंग्रह, तथा जीवाभिगम-सूत्र निर्देशानुसार इनसे सम्बन्धित अन्य तथ्यों का निरूपण किया गया है।

खेचर पंचेन्द्रिय जीवों के योनिसंग्रह के प्रकार—उत्पत्ति के हेतु को योनि कहते हैं, तथा अनेक का कथन एक शब्द द्वारा कर दिया जाए, उसे संग्रह कहते हैं। खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अनेक होते हुए भी उक्त तीन प्रकार के योनिसंग्रह द्वारा उनका कथन किया गया है। **अण्डज**—अंडे से उत्पन्न होने वाले मोर, कबूतर, हंस आदि। **पोतज**—जरायु (जड़-जेर) विना उत्पन्न होने वाले चिमगादड़ आदि। **सम्मूर्च्छिम**—माता-पिता के संयोग के विना उत्पन्न होने वाले, मेंढक आदि जीव।[1]

जीवाभिगमोक्त तथ्य—जीवाभिगम सूत्रानुसार खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच में लेश्या ६, दृष्टि-३, ज्ञान-३ (भजना से), अज्ञान-३ (भजना से), योग-३, उपयोग-२ पाये जाते हैं। सामान्यतः ये चारों गति से आते हैं, और चारों गतियों में जाते हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। केवलीसमुद्घात और आहारसमुद्घात को छोड़कर इनमें पांच समुद्घात पाए जाते हैं। इनकी बारह लाख कुलकोड़ी है। इस प्रकरण में अन्तिम सूत्र विजय, वैजयन्त, जयन्त, और अपराजित का है। इन चारों का विस्तार इतना है कि यदि कोई देव नौ आकाशान्तर प्रमाण (८५०७४०$\frac{१५}{६०}$ योजन) का एक डग भरता हुआ छह महीने तक चले तो किसी विमान के अन्त को प्राप्त करता है, किसी विमान के अन्त को नहीं। जीवाभिगम से विस्तृत वर्णन जान लेना चाहिए।[2]

॥ सप्तम शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३०३

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३०३, (ख) जीवाभिगमसूत्र सू. ९६ से ९९ तक, पत्रांक १३१ से १३८ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'आउ'

छठा उद्देशक : आयु

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के आयुष्यबन्ध और आयुष्यवेदन के सम्बन्ध में प्ररूपणा—

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१] राजगृह नगर में (गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) यावत् इस प्रकार पूछा—

२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इहगते नेरतियाउयं पकरेति ? उववज्जमाणे नेरतियाउयं पकरेति ? उववन्ने नेरइयाउयं पकरेति ?

गोयमा ! इहगते नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववन्ने नेरइयाउयं पकरेइ ।

[२ प्र.] भगवन् ! जो जीव नारकों (नैरयिकों) में उत्पन्न होने योग्य है, भगवन् ! वह क्या इस भव में रहता हुआ नारकायुष्य बांधता है, अथवा वहाँ (नरक में) उत्पन्न होता हुआ नारकायुष्य बांधता है या फिर (नरक में) उत्पन्न होने पर नारकायुष्य बांधता है ?

[२ उ.] गौतम ! वह (नरक में उत्पन्न होने योग्य जीव) इस भव में रहता हुआ ही नारकायुष्य बांध लेता है, परन्तु नरक में उत्पन्न हुआ नारकायुष्य नहीं बांधता और न नरक में उत्पन्न होने पर नारकायुष्य बांधता है ।

३. एवं असुरकुमारेसु वि ।

[३] इसी प्रकार असुरकुमारों के (आयुष्यबन्ध के) विषय में कहना चाहिए ।

४. एवं जाव वेमाणिएसु ।

[४] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त कहना चाहिए ।

५. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरतिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इहगते नेरतियाउयं पडिसंवेदेति ? उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेति ? उववन्ने नेरइयाउयं पडिसंवेदेति ?

गोयमा ! णो इहगते नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेति, उववन्ने वि नेरइयाउयं पडिसंवेदेति ।

[५ प्र.] भगवन् ! जो जीव नारकों में उत्पन्न होने वाला है, भगवन् ! क्या वह इस भव में रहता हुआ नरकायुष्य का वेदन (प्रतिसंवेदन) करता है, या वहाँ उत्पन्न होता हुआ नरकायुष्य का वेदन करता है, अथवा वहाँ उत्पन्न होने के पश्चात् नरकायुष्य का वेदन करता है ?

[५ उ.] गौतम ! वह (नरक में उत्पन्न होने योग्य जीव) इस भव में रहता हुआ नरकायुष्य का वेदन नहीं करता, किन्तु वहाँ उत्पन्न होता हुआ वह नरकायुष्य का वेदन करता है, और उत्पन्न होने के पश्चात् भी नरकायुष्य का वेदन करता है।

६. एवं जाव वेमाणिएसु।

[६] इस प्रकार यावत् वैमानिक तक चौवीस दण्डकों में (आयुष्यवेदन का) कथन करना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के आयुष्यवन्ध और आयुष्यवेदन के सम्वन्ध में प्ररूपणा—नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवों में से जो जीव जिस गति में उत्पन्न होने वाला है, वह यहाँ रहा हुआ ही उस भव का आयुष्यवेदन कर लेता है, या वहाँ उत्पन्न होता हुआ करता है, अथवा वहाँ उत्पन्न होने के वाद आयुष्यवन्ध या आयुष्यवेदन करता है ? इस विषय में सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के महावेदना-अल्पवेदना के सम्वन्ध में प्ररूपणा—

७. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरतिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इहगते महावेदणे ? उववज्जमाणे महावेदणे ? उववन्ने महावेदणे ?

गोयमा ! इहगते सिय महावेयणे, सिय अप्पवेदणे; उववज्जमाणे सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे; अहे णं उववन्ने भवति ततो पच्छा एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति, आहच्च सातं।

[७ प्र.] भगवन् ! जो जीव नारकों में उत्पन्न होने वाला है, भगवन् ! क्या वह यहाँ (इस भव में) रहता हुआ ही महावेदना वाला हो जाता है, या नरक में उत्पन्न होता हुआ महावेदना वाला होता है, अथवा नरक में उत्पन्न होने के पश्चात् महावेदना वाला होता है ?

[७ उ.] गौतम ! वह (नरक में उत्पन्न होने वाला जीव) इस भव में रहा हुआ कदाचित् महावेदना वाला होता है, कदाचित् अल्पवेदना वाला होता है। नरक में उत्पन्न होता हुआ भी कदाचित् महावेदना वाला और कदाचित् अल्पवेदना वाला होता है; किन्तु जव नरक में उत्पन्न हो जाता है, तव वह एकान्तदुःखरूप वेदना वेदता है, कदाचित् सुख (साता) रूप (वेदना वेदता है।)

८. [१] जीवे णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए पुच्छा।

गोयमा ! इहगते सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे; उववज्जमाणे सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे; अहे णं उववन्ने भवति ततो पच्छा एगंतसातं वेदणं वेदेति, आहच्च असातं।

[८-१ प्र.] भगवन् ! जो जीव असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाला है, (उसके सम्वन्ध में भी) यही प्रश्न है।

[८-१ उ.] गौतम ! (जो जीव असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाला है,) वह यहाँ (इस भव में) रहा हुआ कदाचित् महावेदना वाला और कदाचित् अल्पवेदना वाला होता है; वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह कदाचित् महावेदना वाला और कदाचित् अल्पवेदना वाला होता है, किन्तु जव

वह वहाँ उत्पन्न हो जाता है, तब एकान्तसुख (साता) रूप वेदना वेदता है, कदाचित् दुःख (असाता) रूप वेदना वेदता है।

[२] एवं जाव थणियकुमारेसु।

[८-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

९. जीवे णं भंते ! जे भविए पुढविकाएसु उववज्जित्तए पुच्छा।

गोयमा ! इहगए सिय महावेदणे, सिय अप्पवेदणे; एवं उववज्जमाणे वि; अहे णं उववन्ने भवति ततो पच्छा वेमाताए वेदणं वेदेति।

[९ प्र.] भगवन् ! जो जीव पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य है, (उसके सम्बन्ध में भी) यही पृच्छा है।

[९ उ.] गौतम ! वह (पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य) जीव इस भव में रहा हुआ कदाचित् महावेदनायुक्त और कदाचित् अल्पवेदनायुक्त होता है, इसी प्रकार वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह कदाचित् महावेदना और कदाचित् अल्पवेदना से युक्त होता है और जब वहाँ उत्पन्न हो जाता है, तत्पश्चात् वह विमात्रा (विविध प्रकार) से वेदना वेदता है।

१०. एवं जाव मणुस्सेसु।

[१०] इसी प्रकार का कथन यावत् मनुष्यपर्यन्त करना चाहिए।

११. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिएसु जहा असुरकुमारेसु (सु. ८[१])।

[११] जिस प्रकार असुरकुमारों के विषय में (अल्पवेदना-महावेदना-सम्बन्धी) कथन किया गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के महावेदना-अल्पवेदना के सम्बन्ध में प्ररूपणा— नारकादि दण्डकों में उत्पन्न होने योग्य जीव क्या यहाँ रहता हुआ, वहाँ उत्पन्न होता हुआ या वहाँ उत्पन्न होने के पश्चात् महावेदना वाला होता है ? इस प्रकार के प्रश्नों का सापेक्षशैली से प्रस्तुत पंचसूत्री (सू. ७ से ११ तक) में समाधान किया गया है।

निष्कर्ष—नरकोत्पन्नयोग्य जीव यहाँ रहा हुआ कदाचित् महावेदना और कदाचित् अल्पवेदना से युक्त होता है, वहाँ उत्पन्न होता भी इसी तरह होता है, किन्तु वहाँ उत्पन्न होने के बाद नरकपालादि के असंयोगकाल में या तीर्थंकरों के कल्याणक-अवसरों पर कदाचित् सुख के सिवाय एकान्त दुःख ही भोगता है। दस भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं में पूर्ववत् होते हैं, किन्तु वहाँ उत्पन्न होने के पश्चात् प्रहारादि के आ पड़ने के सिवाय कदाचित् दुःख के सिवाय एकान्तसुख ही भोगते हैं, पृथ्वीकाय से लेकर मनुष्यों तक के जीव पूर्वोक्त दोनों अवस्थाओं में पूर्ववत् ही होते हैं, किन्तु उस-उस भव में उत्पन्न होने के पश्चात् विविध प्रकार (विमात्रा) से वेदना वेदते हैं।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २९०-२९१

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा—

१२. जीवा णं भंते ! किं आभोगनिव्वत्तियाउया ? अणाभोगनिव्वत्तिताउया ?

गोयमा ! नो आभोगनिव्वत्तिताउया, अणाभोगनिव्वत्तिताउया।

[१२ प्र.] भगवन् ! जीव, आभोगनिर्वर्तित आयुष्य वाले हैं या अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्य वाले हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! जीव, आभोगनिर्वर्तित आयुष्य वाले नहीं हैं, किन्तु अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्य वाले हैं।

१३. एवं नेरइया वि।

[१३] इसी प्रकार नैरयिकों के (आयुष्य के) विषय में भी कहना चाहिए।

१४. एवं जाव वेमाणिया।

[१४] यावत् वैमानिक पर्यन्त इसी तरह कहना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा—प्रस्तुत त्रिसूत्री में चतुर्विंशति दण्डकों के जीवों में आभोगनिर्वर्तित आयुष्य-बन्ध का निषेध करके अनाभोग-निर्वर्तित आयुष्य-बन्ध की प्ररूपणा की गई है।

आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित आयुष्य—समस्त सांसारिक जीव अनाभोगपूर्वक (अजानपने में=न जानते हुए) आयुष्य बांधते हैं, वे आभोगपूर्वक (जानपने में=जानते हुए) आयुष्य बन्ध नहीं करते।

समस्त जीवों के कर्कश-अकर्कश-वेदनीय कर्मबन्ध का हेतुपूर्वक निरूपण—

१५. अत्थि णं भंते ! जीवा णं कक्कसवेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

हंता, अत्थि।

[१५ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के कर्कश वेदनीय (अत्यन्त दुःख से भोगने योग्य—कठोर वेदना वाले) कर्म बंधते हैं ?

[१५ उ.] हाँ, गौतम ! बंधते हैं।

१६. कहं णं भंते ! जीवा णं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! पाणातिवातेणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कसवेदणिज्जा कम्मा कज्जंति।

[१६ प्र.] भगवन् ! जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! प्राणातिपात से यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म बंधते हैं।

१७. अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

एवं चेव ।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म बंधते हैं ?

[१७ उ.] हाँ, गौतम ! पहले कहे अनुसार बंधते हैं ।

१८. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[१८] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए ।

१९. अत्थि णं भंते ! जीवाणं अकक्कसवेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

हंता, अत्थि ।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के अकर्कशवेदनीय (सुखपूर्वक भोगने योग्य) कर्म बंधते हैं ?

[१९ उ.] हाँ गौतम ! बंधते हैं ।

२०. कहं णं भंते ! जीवाणं अकक्कसवेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं कोहविवेगेणं जाव मिच्छादंसणसल्ल-विवेगेणं, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अकक्कसवेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ।

[२० प्र.] भगवन् ! जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! प्राणातिपातविरमण से यावत् परिग्रह-विरमण तक से, इसी तरह क्रोध-विवेक से (लेकर) यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक से (जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म बंधते हैं ।) हे गौतम ! इस प्रकार से जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म बंधते हैं ।

२१. अत्थि णं भंते ! नेरतियाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म बंधते हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । (अर्थात्—नैरयिकों के अकर्कशवेदनीय कर्मों का वन्ध नहीं होता ।)

२२. एवं जाव वेमाणिया । नवरं मणुस्साणं जहा जीवाणं (सु. १९) ।

[२२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए । परन्तु मनुष्यों के विषय में इतना विशेष है कि जैसे औधिक जीवों के विषय में कहा गया है, वैसे ही सारा कथन करना चाहिए ।

विवेचन—समस्त जीवों के कर्कश-अकर्कश वेदनीय कर्मवन्ध का हेतुपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत ८ सूत्रों (सू. १५ से २२ तक) में समुच्चय जीवों और चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के कर्कशवेदनीय और अकर्कशवेदनीय कर्मवन्ध के सम्वन्ध में सहेतुक निरूपण किया गया है ।

कर्कशवेदनीय और अकर्कशवेदनीय कर्मबन्ध कैसे, और कब ?—जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म बंध जाते हैं, उनका पता तब लगता है, जब वे उदय में आते हैं, भोगने पड़ते हैं, क्योंकि कर्कशवेदनीय कर्म भोगते समय अत्यन्त दुःखरूप प्रतीत होते हैं। जैसे स्कन्दक आचार्य के शिष्यों ने पहले किसी भव में कर्कशवेदनीय कर्म बांधे थे। अकर्कशवेदनीय कर्म भोगने में सुखरूप प्रतीत होते हैं, जैसे कि भरत चक्री आदि ने बांधे थे। कर्कशवेदनीय को बांधने का कारण १८ पापस्थानक-सेवन और अकर्कशवेदनीय-कर्मबन्ध का कारण इन्हीं १८ पापस्थानों का त्याग है। नरकादि जीवों में प्राणातिपात आदि पापस्थानों से विरमण न होने से वे अकर्कशवेदनीय-कर्मबन्ध नहीं कर सकते।[1]

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के साता-असाता वेदनीय कर्मबन्ध और उनके कारण—

२३. अत्थि णं भंते ! जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

हंता, अत्थि।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के सातावेदनीय कर्म बंधते हैं ?

[२३ उ.] हाँ, गौतम ! बंधते हैं।

२४. कहं णं भंते ! जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरितावणयाए; एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति।

[२४ प्र.] भगवन् ! जीवों के सातावेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! प्राणों पर अनुकम्पा करने से, भूतों पर अनुकम्पा करने से, जीवों के प्रति अनुकम्पा करने से और सत्त्वों पर अनुकम्पा करने से; तथा बहुत-से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख न देने से, उन्हें शोक (दैन्य) उत्पन्न न करने से, (शरीर को सुखा देने वाली) चिन्ता (विषाद या खेद) उत्पन्न न कराने से, विलाप एवं रुदन करा कर आंसू न बहवाने से, उनको न पीटने से, उन्हें परिताप न देने से (जीवों के सातावेदनीय कर्म बंधते हैं।) हे गौतम ! इस प्रकार से जीवों के सातावेदनीय कर्म बंधते हैं।

२५. एवं नेरतियाण वि।

[२५] इसी प्रकार नैरयिक जीवों के (भी सातावेदनीय कर्मबन्ध के) विषय में कहना चाहिए।

२६. एवं जाव वेमाणियाणं।

[२६] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त कहना चाहिए।

२७. अत्थि णं भंते ! जीवाणं असातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

हंता, अत्थि।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०५

[२७ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के असातावेदनीय कर्म बंधते हैं ?

[२७ उ.] हाँ गौतम ! बंधते हैं।

२८. कहं णं भंते ! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरितावणयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणयाए जाव परितावणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं असातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति।

[२८ प्र.] भगवन् ! जीवों के असातावेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! दूसरों को दुःख देने से, दूसरे जीवों को शोक उत्पन्न करने से, जीवों को विषाद या चिन्ता उत्पन्न करने से, दूसरों को रुलाने या विलाप कराने से, दूसरों को पीटने से और जीवों को परिताप देने से, तथा बहुत-से प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों को दुःख पहुँचाने से, शोक उत्पन्न करने से यावत् उनको परिताप देने से (जीवों के असातावेदनीय कर्मबन्ध होता है।) हे गौतम इस प्रकार से जीवों के असातावेदनीय कर्म बंधते हैं।

२९. एवं नेरतियाण वि।

[२९] इसी प्रकार नैरयिकजीवों के (असातावेदनीय कर्मबन्ध के) विषय में समझना चाहिए।

३०. एवं जाव वेमाणियाणं।

[३०] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त (असातावेदनीयबन्धविषयक) कथन करना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के साता-असातावेदनीय कर्मबन्ध और उनके कारण— प्रस्तुत आठ सूत्रों (२३ से ३० तक) में समस्त जीवों के सातावेदनीय एवं असातावेदनीय कर्मबन्ध तथा इनके कारणों का निरूपण किया गया है।

कठिन शब्दों के अर्थ—असोयणयाए=शोक उत्पन्न न करने से। **अजूरणयाए**=जिससे शरीर छीजे, ऐसा विषाद या शोक पैदा न करने से। **अतिप्पणयाए**—आंसू बहें, इस प्रकार का विलाप या रुदन न कराने से। **अपिट्टणयाए**=मारपीट न करने से।[1]

दुःषमदुःषमकाल में भारतवर्ष, भारतभूमि एवं भारत के मनुष्यों के आचार (आकार) और भाव के स्वरूप-निरूपण—

३१. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए दुस्समदुस्समाए समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सति ?

गोयमा ! काले भविस्सति हाहाभूते भंभाभूए कोलाहलभूते, समयाणुभावेणं य णं खरफरुसधूलिमइला दुव्विसहा वाउला भयंकरा वाता संवट्टगा य वाइंति, इह अभिक्खं धूमाहिंति य दिसा

1. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०५

समंता रयस्सला रेणुकलुसतमपडलनिरालोगा, समयलुक्खयाए य णं अहियं चंदा सीतं मोच्छंति, अहियं सूरिया तवइस्संति, अदुत्तरं च णं अभिक्खणं बहवे अरसमेहा विरसमेहा खारमेहा खत्तमेहा (खट्टमेहा) अग्गिमेहा विज्जुमेहा विसमेहा असणिमेहा अपिवणिज्जोदगा वाहिरोगवेदणोदीरणापरिणामसलिला अमणुण्णपाणियगा चंडानिलपहयतिक्खधारानिवायपउरं वासं वासिहिंति। जेणं भारहे वासे गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसमगतं जणवयं, चउप्पयगवेलए खहयरे य पक्खिसंघे, गामाऽरण्णपयारनिरए तसे य पाणे बहुप्पगारे, रुक्ख-गुच्छ-गुम्म-लय-वल्लि-तण-पव्वग-हरितोसहि-पवालंकुरमादीए य तणवणस्सतिकाइए विद्धंसेहिंति। पव्वय-गिरि-डोंगरुत्थल-भट्ठिमादीए य वेयड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति। सलिलबिल-गड्ड-दुग्ग-विसमनिण्णुन्नताइं गंगा-सिंधू-वज्जाइं समीकरेहिंति।

[३१ प्र.] भगवन्! इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल का दुःषमदुःषम नामक छठा आरा जब अत्यन्त उत्कट अवस्था को प्राप्त होगा, तब भारतवर्ष का आकारभाव-प्रत्यवतार (आकार या आचार और भावों का आविर्भाव) कैसा होगा?

[३१ उ.] गौतम! वह काल हाहाभूत (मनुष्यों के हाहाकार से युक्त), भंभाभूत (दुःखार्त्त पशुओं के भां-भां शब्दरूप आर्त्तनाद से युक्त) तथा कोलाहलभूत (दुःखपीड़ित पक्षियों के कोलाहल से युक्त) होगा। काल के प्रभाव से अत्यन्त कठोर, धूल से मलिन (धूमिल), असह्य, व्याकुल (जीवों को व्याकुल कर देने वाली), भयंकर वात (हवाएँ) एवं संवर्त्तक वात (हवाएँ) चलेंगी। इस काल में यहाँ बारबार चारों ओर से धूल उड़ने से दिशाएँ रज (धूल) से मलिन, और रेत से कलुषित, अन्धकारपटल से युक्त एवं आलोक से रहित होंगी। समय (काल) की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यन्त शीतलता (ठंडक) फैंकेंगे; सूर्य अत्यन्त तपेंगे। इसके अनन्तर बारम्बार बहुत से खराब रस वाले मेघ, विपरीत रसवाले मेघ, खारे जलवाले मेघ, खत्तमेघ (खाद के समान पानी वाले मेघ), (अथवा खट्टमेघ=खट्टे पानी वाले बादल), अग्निमेघ (अग्नि के समान गर्मजल वाले मेघ), विद्युत्मेघ (बिजली सहित मेघ), विषमेघ (जहरीले पानी वाले मेघ), अशनिमेघ (ओले—गड़े बरसाने वाले या वज्र के समान पर्वतादि को चूर-चूर कर देने वाले मेघ), अपेय (न पीने योग्य) जल से पूर्ण मेघ (अथवा तृषा शान्त न कर सकने वाले पानी से युक्त मेघ), व्याधि, रोग और वेदना को उत्पन्न करने (उभाड़ने) वाले जल से युक्त तथा अमनोज्ञ जल वाले मेघ, प्रचण्ड वायु के थपेड़ों (आघात) से आहत हो कर तीक्ष्ण धाराओं के साथ गिरते हुए प्रचुर वर्षा बरसाएँगे; जिससे भारतवर्ष के ग्राम, आकर (खान), नगर, खेड़े, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख (बन्दरगाह), पट्टण (व्यापारिक मंडियों) और आश्रम में रहने वाले जनसमूह, चतुष्पद (चौपाये जानवर), खग (आकाश-चारी पक्षीगण), ग्रामों और जंगलों में संचार में रत त्रसप्राणी तथा अनेक प्रकार के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लताएँ, बेलें, घास, दूब, पर्व्वक (गन्ने आदि), हरियाली, शालि आदि धान्य, प्रवाल और अंकुर आदि तृणवनस्पतियाँ, ये सब विनष्ट हो जाएँगी। वैताढ्यपर्वत को छोड़ कर शेष सभी पर्वत, छोटे पहाड, टीले, डूंगर, स्थल, रेगिस्तान बंजरभूमि (भाठा-प्रदेश) आदि सबका विनाश हो जाएगा। गंगा और सिन्धु, इन दो नदियों को छोड़ कर शेष नदियाँ, पानी के झरने, गड्ढे, (सरोवर, झील आदि), (नष्ट हो जाएँगे), दुर्गम और विषम (ऊँची-नीची) भूमि में रहे हुए सब स्थल समतल क्षेत्र (सपाट मैदान) हो जाएँगे।

३२. तीसे णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स भूमीए केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सति?

गोयमा ! भूमी भविस्सति इंगालभूता मुम्मुरभूता छारियभूता तत्तकवेल्लयभूया तत्तसमजोतिभूया धूलिबहुला रेणुबहुला पंकबहुला पणगबहुला चलणिबहुला, बहूणं धरणिगोयराणं सत्ताणं दुनिक्कमा यावि भविस्सति।

[३२ प्र.] भगवन् ! उस समय भारतवर्ष की भूमि का आकार और भावों का आविर्भाव (स्वरूप) किस प्रकार का होगा ?

[३२ उ.] गौतम ! उस समय इस भरतक्षेत्र की भूमि अंगारभूत (अंगारों के समान), मुर्मुरभूत (गोबर के उपलों की अग्नि के समान), भस्मीभूत (गर्म राख के समान), तपे हुए लोह के कड़ाह के समान, तप्तप्राय अग्नि के समान, बहुत धूल वाली, बहुत रज वाली, बहुत कीचड़ वाली, बहुत शैवाल (अथवा पांच रंग की काई) वाली, चलने जितने बहुत कीचड़ वाली होगी, जिस पर पृथ्वीस्थित जीवों का चलना बड़ा ही दुष्कर हो जाएगा।

३३. तीसे णं भंते ! समाए भारहे वासे मणुयाणं केरिसए आयारभाव-पडोयारे भविस्सति ?

गोयमा ! मणुया भविस्संति दुरूवा दुव्वण्णा दुगंधा दूरसा दूफासा, अणिट्ठा अकंता जाव अमणामा, हीणस्सरा दीणस्सरा अणिट्ठस्सरा जाव अमणामस्सरा, अणादिज्जवयण-पच्चायाता निल्लज्जा कूड-कवड-कलह-वह-बंध-वेर-निरया मज्जादातिक्कमप्पहाणा अकज्जनिच्चुज्जता गुरुनियोगविणयरहिता य विकलरूवा परूढनह-केस-मंसुरोमा काला खरफरुसझामवण्णा फुट्टसिरा कविलपलियकेसा बहुण्हारुसंपिणद्धदुद्दंसणिज्जरूवा संकुडियवलीतरंगपरिवेढियंगमंगा जरापरिणत व्व थेरगनरा पविरलपरिसडियदंतसेढी उब्भडघडमुहा विसमनयणा वंकनासा वंकवलीविगतभेसणमुहा कच्छूकसराभिभूता खरतिक्खनक्खकंडूइय-विक्खयतणू दद्दु-किडिभ-सिज्झफुडियफरुसच्छवी चित्तलंगा टोलगति-विसम-संधिबंधणउक्कुडुअट्ठिगविभत्तदुब्बलाकुसंघयणकुप्पमाणकुसंठिता कुरूवा कुट्ठाणासणकुसेज्जकुभोइणो असुइणो अणेगवाहिपरिपीलियंगमंगा खलंतविब्भलगती निरुच्छाहा सत्तपरिवज्जिया विगतचेट्ठनट्ठतेया अभिक्खणं सीय-उण्ह-खर-फरुस-वातविज्झडियमलिणपंसुरउग्गुंडितंगमंगा बहुकोह-माण-माया बहुलोभा असुहदुक्खभागी ओसन्नं धम्मसण्णा-सम्मत्तपरिब्भट्ठा उक्कोसेणं रयणिपमाणमेत्ता सोलसवीसतिवासपरमाउसा पुत्त-णत्तुपरियालपणयबहुला गंगा-सिंधूओ महानदीओ वेयड्ढं च पव्वयं निस्साए बहुत्तरिं णिगोदा बीयंबीयामेत्ता बिलवासिणो भविस्संति।

[३३ प्र.] भगवन् ! उस समय (दुःषमदुःषम नामक छठे आरे) में भारतवर्ष के मनुष्यों का आकार या आचार और भावों का आविर्भाव (स्वरूप) कैसा होगा ?

[३३ उ.] गौतम ! उस समय में भारतवर्ष के मनुष्य अति कुरूप, कुवर्ण, कुगन्ध, कुरस और कुस्पर्श से युक्त, अनिष्ट, अकान्त (कान्तिहीन या अप्रिय) यावत् अमनोगम, हीनस्वर वाले, दीनस्वर वाले, अनिष्टस्वर वाले यावत् अमनाम स्वर वाले, अनादेय और अप्रतीतियुक्त वचन वाले, निर्लज्ज, कूट-कपट, कलह, वध (मारपीट), बन्ध, और वैरविरोध में रत, मर्यादा का उल्लंघन करने में प्रधान (प्रमुख), अकार्य करने में नित्य उद्यत, गुरुजनों (माता-पिता आदि पूज्यजनों) के आदेशपालन, और विनय से रहित, विकलरूप (बेडौल सूरत शक्ल) वाले; बढ़े हुए नख, केश, दाढ़ी, मूंछ और रोम वाले,

कालेकलूटे, अत्यन्त कठोर श्यामवर्ण के विखरे हुए वालों वाले, पीले और सफेद केशों वाले, वहुत-सी नसों (स्नायुओं) से शरीर वंधा हुआ होने से दुर्दर्शनीय रूप वाले, संकुचित (सिकुड़े हुए) और वलीतरंगों (झुर्रियों) से परिवेष्टित, टेढ़ेमेढ़े अंगोपांग वाले, इसलिए जरापरिणत वृद्धपुरुषों के समान प्रविरल (थोड़े-से) टूटे और सड़े हुए दांतों वाले, उद्‌भट घट के समान भयंकर मुख वाले, विषम नेत्रों वाले, टेढ़ी नाक वाले तथा टेढ़ेमेढ़े एवं झुर्रियों से विकृत हुए भयंकर मुख वाले, एक प्रकार की भयंकर खुजली (पांव=पामा) वाले, कठोर एवं तीक्ष्ण नखों से खुजलाने के कारण विकृत वने हुए; दाद, एक प्रकार के कोढ़ (किडिभ), सिध्म (एक प्रकार के भयंकर कोढ वाले, फटी हुई कठोर चमड़ी वाले, विचित्र अंग वाले, ऊंट आदि-सी गति (चाल) वाले, (वुरी आकृति वाले), शरीर के जोड़ों के विषम वंधन वाले, ऊँची- नीची विषम हड्डियों एवं पसलियों से युक्त, कुगठनयुक्त, कुसंहनन वाले, कुप्रमाणयुक्त विषम संस्थानयुक्त, कुरूप, कुस्थान में वढ़े हुए शरीर वाले, कुशय्या वाले (खराव स्थान में शयन करने वाले), कुभोजन करने वाले, विविध व्याधियों से पीड़ित, स्खलित गति (लड़खड़ाती चाल) वाले, उत्साहरहित, सत्त्वरहित, विकृत चेष्टा वाले, तेजोहीन, वारवार शीत, उष्ण, तीक्ष्ण और कठोर वात से व्याप्त (संत्रस्त), रज आदि से मलिन अंग वाले, अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त, अशुभ दुःख के भागी, प्रायः धर्मसंज्ञा और सम्यक्त्व से परिभ्रष्ट, होंगे। उनकी अवगाहना उत्कृष्ट एक रत्निप्रमाण (एक मुंड हाथ भर) होगी। उनका आयुष्य (प्रायः) सोलह वर्ष का और अधिक-से-अधिक वीस वर्ष का (परमायुष्य) होगा। वे वहुत से पुत्र-पौत्रादि परिवार वाले होंगे और उन पर उनका अत्यन्त स्नेह (ममत्व या मोहयुक्त प्रणय) होगा। इनके ७२ कुटुम्ब (निगोद) वीजभूत (आगामी मनुष्यजाति के लिए वीजरूप) तथा वीजमात्र होंगे। ये गंगा और सिन्धु महानदियों के विलों में और वैताढ्य पर्वत की गुफाओं का आश्रय लेकर निवास करेंगे।

विवेचन—दुःषमदुःषमकाल में भारतवर्ष, भारत-भूमि एवं भारत के मनुष्यों के आचार (आकार) और भाव का स्वरूप-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में विस्तार से अवसर्पिणी के छठे आरे के दुःषमदुःषमकाल में भारतवर्ष के, भारत-भूमि की, एवं भारत के मनुष्यों के आचार-विचार एवं आकार तथा भावों के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—छठे आरे में भरतक्षेत्र की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न, भयंकर, हृदय-विदारक, अनेक रोगोत्पादक, अत्यन्त शीत, ताप, वर्षा आदि से दुःसह्य एवं वनस्पतिरहित नीरस सूखी-रूखी भूमि पर निवास के कारण असह्य होगी। भारतभूमि अत्यन्त गर्म, धूलभरी, कीचड़ से लथपथ एवं जीवों के चलने में दुःसह होगी। भारत के मनुष्यों की स्थिति तो अत्यन्त दुःखद, असह्य, कषाय से रंजित होगी। विषम-वेडौल अंगों से युक्त होगी।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—उत्तमकट्ठपत्ताए=उत्कट अवस्था—पराकाष्ठा या परमकष्ट को प्राप्त। **दुव्विसहा**=दुःसह, कठिनाई से सहन करने योग्य। **वाउल**=व्याकुल। **वाया-संवट्टगा य वाहिंति**-संवर्तक हवाएँ चलेंगी। **धूमाहिंति**=धूल उड़ती होने से। **रेणुकलुसतमपडलनिरालोगा**=रज से मलिन होने से अन्धकार के पटल जैसी, नहीं दिखाई देने वाली। **चंडानिलपहयतिक्खधारानिवाय-पउरं वासं वासिहिंति**=प्रचण्ड हवाओं से टकराकर अत्यन्त तीक्ष्ण धारा के साथ गिराने से प्रचुर

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग-१, पृ. २९३-२९४

वर्षा वरसाएँगे। डोंगर=छोटे पर्वत। दुण्णिक्कमा=दुर्निक्रम—मुश्किल से चलने योग्य। अणादेज्ज-वयणा=जिनके वचन स्वीकार करने योग्य न हों। मज्जायातिक्कमप्पहाणा=मर्यादा का उल्लंघन करने में अग्रणी। गुरुनियोगविणयरहिता=गुरुजनों के आदेश पालन एवं विनय से रहित। फुट्टसिरा खड़े या विखरे केशों वाले। कविल-पलियकेसा=कपिल (पीले) एवं पलित (सफेद) केशों वाले। उब्भडघडमुहा=उद्भट- (विकराल) घटमुख जैसे मुखवाले। वंकवलीविगतभेसणमुहा=टेढ़ेमेढ़े झुर्रियों से व्याप्त (विकृत) भीषणमुख वाले। कच्छूकसराभिभूता=कच्छू (पाँव) के कारण खाजखुजली से आक्रान्त। टोलगति=ऊँट के समान गति वाले, अथवा ऊँट के समान वेडौल आकृति वाले। खलंतविब्भलगती =स्खलनयुक्त विह्वल गति वाले। ओसन्नं=वहुलता से, प्राय:। णिगोदा=कुटुम्व। पुत्त-णत्तुपरियालपणयवहुला=पुत्र-नाती आदि परिवार वाले एवं उनके परिपालन में अत्यन्त ममत्व वाले।[1]

छठे आरे के मनुष्यों के आहार तथा मनुष्य-पशु-पक्षियों के आचारादि के अनुसार मरणोपरान्त उत्पत्ति का वर्णन—

३४. ते णं भंते ! मणुया कमाहारमाहारेंहिति ?

गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं गंगा-सिंधूओ महानदीओ रहपहवित्थाराओ अक्खसोतप्पमाणमित्तं जलं वोज्झिहिंति, से वि य णं जले वहुमच्छ-कच्छभाइण्णे णो चेव णं आउवहुले भविस्सति। तए णं ते मणुया सूरोग्गमणमुहुत्तंसि य सूरत्थमणमुहुत्तंसि य विलेहिंतो निद्धाहिंति, विलेहिंतो निद्धाइत्ता मच्छ-कच्छभे थलाइं गाहेहिंति, मच्छ-कच्छभे थलाइं गाहेत्ता सीतातवतत्तएहिं मच्छ-कच्छएहिं एक्कवीसं वाससहस्साइं वित्तिं कप्पेमाणा विहरिस्संति।

[३४ प्र.] भगवन् ! (उस दु:षमदु:षमकाल के) मनुष्य किस प्रकार का आहार करेंगे ?

[३४ उ.] गौतम ! उस काल और उस समय में गंगा और सिन्धु महानदियाँ रथ के मार्ग-प्रमाण विस्तार वाली होंगी। उनमें अक्षस्रोतप्रमाण (रथ की धुरी के प्रवेश करने के छिद्र जितने भाग में आ सके उतना) पानी वहेगा। वह पानी भी अनेक मत्स्य, कछुए आदि से भरा होगा और उसमें भी पानी वहुत नहीं होगा। वे विलवासी मनुष्य सूर्योदय के समय एक मुहूर्त्त और सूर्यास्त के समय एक मुहूर्त्त (अपने-अपने) विलों से वाहर निकलेंगे। विलों से वाहर निकल कर वे गंगा और सिन्धु नदियों में से मछलियों और कछुओं आदि को पकड़ कर जमीन में गाड़ेंगे। इस प्रकार गाड़े हुए मत्स्य-कच्छपादि (रात की) ठंड और (दिन की) धूप से सिक जाएँगे। (तव वे शाम को गाड़े हुए मत्स्य आदि को सुवह और सुवह के गाड़े हुए मत्स्य आदि को शाम को निकाल कर खाएँगे।) इस प्रकार शीत और आतप से पके हुए मत्स्य-कच्छपादि से इक्कीस हजार वर्ष तक जीविका चलाते हुए (जीवननिर्वाह करते हुए) वे विहरण (जीवनयापन) करेंगे।

३५. ते णं भंते ! मणुया निस्सीला णिग्गुणा निम्मेरा निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा उस्सन्नं मंसाहारा मच्छाहारा खोद्दाहारा कुणिमाहारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिंति ? कहिं उववज्जिहिंति ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०६ से ३०९ तक

गोयमा ! ओसन्नं नरग-तिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जिहिंति ।

[३५ प्र.] भगवन् ! वे (उस समय के) शीलरहित, गुणरहित, मर्यादाहीन, प्रत्याख्यान (त्याग-नियम) और पोषधोपवास से रहित, प्राय: मांसाहारी, मत्स्याहारी, क्षुद्राहारी (अथवा मधु का आहार करने वाले अथवा भूमि खोद कर कन्दमूलादि का आहार करने वाले) एवं कुणिमाहारी (मृतक का मांस खाने वाले) मनुष्य मृत्यु के समय मर (काल) कर कहाँ जाएँगे, कहाँ उत्पन्न होंगे ?

[३५ उ.] गौतम ! वे (पूर्वोक्त प्रकार के) मनुष्य मर कर प्राय: (नरक और तिर्यञ्चगति में जाएँगे, और) नरक एवं तिर्यञ्च-योनियों में उत्पन्न होंगे ।

३६, ते णं भंते ! सीहा वग्घा विगा दीविया अच्छा तरच्छा परस्सरा णिस्सीला तहेव जाव कहिं उववज्जिहिंति ?

गोयमा ! ओसन्नं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जिहिंति ।

[३६ प्र.] भगवन् ! (उस काल और उस समय के) निःशील यावत् कुणिमाहारी सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िये), द्वीपिक (चीते, अथवा गेंडे), रीछ (भालू), तरक्ष (जरख) और शरभ (गेंडा) आदि (हिंस्र पशु) मृत्यु के समय मर कर कहाँ जाएँगे, कहाँ उत्पन्न होंगे ?

[३६ उ.] गौतम ! वे प्राय: नरक और तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न होंगे ।

३७. ते णं भंते ! ढंका कंका विलका मद्दुगा सिही णिस्सीला ?

तहेव जाव ओसन्नं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववज्जिहिंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। सत्तम सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ।।

[३७ प्र.] भगवन् ! (उस काल और उस समय के) निःशील आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त ढंक (एक प्रकार के कौए), कंक, विलक, मद्गुक (जलकाक-जलकौए), शिखी (मोर) (आदि पक्षी मर कर कहाँ उत्पन्न होंगे ?)

[३७ उ.] गौतम ! (वे उस काल के पूर्वोक्त पक्षीगण मर कर) प्राय: नरक एवं तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर श्री गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—छठे आरे के मनुष्यों के आहार तथा मनुष्य-पशुपक्षियों के आचार आदि के अनुसार मरणोपरान्त उत्पत्ति का वर्णन—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ३४ से ३७ तक) में से प्रथम में छठे आरे के मनुष्यों की आहारपद्धति का तथा आगे के तीन सूत्रों में क्रमश: उस काल के निःशीलादि मानवों, पशुओं एवं पक्षियों की मरणोपरान्त गति-योनि का वर्णन किया गया है ।

निष्कर्ष—उस समय के मनुष्यों का आहार प्राय: मांस, मत्स्य और मृतक का होगा । मांसाहारी होने से वे शील, गुण, मर्यादा, त्याग-प्रत्याख्यान एवं व्रत-नियम आदि धर्म-पुण्य से नितान्त

विमुख होंगे। मत्स्य आदि को जमीन में गाड़ कर, फिर उन्हें सूर्य के ताप और चन्द्रमा की शीतलता से सिकने देना ही उनकी आहार पकाने की पद्धति होगी। इस प्रकार की पद्धति से २१ हजार वर्ष तक जीवनयापन करने के पश्चात् वे मानव अथवा वे पशु-पक्षी आदि मर कर नरक या तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होंगे।[1]

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—अक्खसोतप्पमाणमेत्तं=रथ की धुरी टिकने के छिद्र जितने प्रमाणभर। **वोज्झिहिति**=वहेंगे। **निद्धाहिति**=निकलेंगे। **णिम्मेरा**=कुलादि की मर्यादा से हीन, नंगधड़ंग रहने वाले।[2]

॥ सप्तम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २९५-२९६

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३०९

सत्तमो उद्देसओ : अणगार

सप्तम उद्देशक : अनगार

संवृत एवं उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले अनगार को लगने वाली क्रिया की प्ररूपणा

१. संवुडस्स णं भंते अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव आउत्तं तुयट्टमाणस्स, आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जति ? संपराइया किरिया कज्जति ?

गोतमा ! संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति, णो संपराइया किरिया कज्जति ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! उपयोगपूर्वक चलते-बैठते, यावत् उपयोगपूर्वक करवट बदलते (सोते) तथा उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन (रजोहरण) आदि ग्रहण करते और रखते हुए उस संवृत (संवरयुक्त) अनगार को क्या ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है ?

[१-१ उ.] गौतम ! उपयोगपूर्वक गमन करते हुए यावत् रखते हुए उस संवृत अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, किन्तु साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'संवुडस्स णं जाव नो संपराइया किरिया कज्जति' ?

गोयमा ! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जति, से णं अहासुत्तमेव रीयति; से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जति ।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि यावत् उस संवृत अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है; किन्तु साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती ?

[१-२ उ.] गौतम ! (वास्तव में) जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न (अनुदयप्राप्त अथवा सर्वथा क्षीण) हो गए हैं, उस (११-१२-१३ वें गुणस्थानवर्ती अनगार) को ही ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, क्योंकि वही यथासूत्र (यथाख्यात-चारित्र सूत्रों-नियमों के अनुसार) प्रवृत्ति करता है । इस कारण से, हे गौतम ! उसको यावत् साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती ।

विवेचन—संवृत एवं उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले अनगार को लगने वाली क्रिया की प्ररूपणा—पूर्ववत् (शतक ७ उद्दे. १ के सूत्र १६ के अनुसार) यहाँ भी संवृत एवं उपयोगपूर्वक

यथासूत्र प्रवृत्ति करने वाले अकषायी अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगने की सयुक्तिक प्ररूपणा की गई है।

विविध पहलुओं से काम-भोग एवं कामी-भोगी के स्वरूप और उनके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—

२. रूवी भंते ! कामा ? अरूवी कामा ?

गोयमा ! रूवी कामा समणाउसो !, नो अरूवी कामा।

[२ प्र.] भगवन् ! काम रूपी हैं या अरूपी हैं ?

[२ उ.] आयुष्मन् श्रमण ! काम रूपी हैं, अरूपी नहीं हैं।

३. सचित्ता भंते ! कामा ? अचित्ता कामा ?

गोयमा ! सचित्ता वि कामा, अचित्ता वि कामा।

[३ प्र.] भगवन् ! काम सचित्त हैं अथवा अचित्त हैं ?

[३ उ.] गौतम ! काम सचित्त भी हैं और काम अचित्त भी हैं।

४. जीवा भंते ! कामा ? अजीवा कामा ?

गोतमा ! जीवा वि कामा, अजीवा वि कामा।

[४ प्र.] भगवन् ! काम जीव हैं अथवा अजीव हैं ?

[४ उ.] गौतम ! काम जीव भी हैं और काम अजीव भी हैं।

५. जीवाणं भंते ! कामा ? अजीवाणं कामा ?

गोयमा ! जीवाणं कामा, नो अजीवाणं कामा।

[५ प्र.] भगवन् ! काम जीवों के होते हैं या अजीवों के होते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! काम जीवों के होते हैं, अजीवों के नहीं होते।

६. कतिविहा णं भंते ! कामा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा य, रूवा य।

[६ प्र.] भगवन् ! काम कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[६ उ.] गौतम ! काम दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) शब्द और (२) रूप।

७. रूवी भंते ! भोगा ? अरूवी भोगा ?

गोयमा ! रूवी भोगा, नो अरूवी भोगा।

[७ प्र.] भगवन् ! भोग रूपी हैं अथवा अरूपी हैं ?

[७ उ.] गौतम ! भोग रूपी होते हैं, वे (भोग) अरूपी नहीं होते ।

८. सचित्ता भंते ! भोगा ? अचित्ता भोगा ?

गोयमा ! सचित्ता वि भोगा, अचित्ता वि भोगा ।

[८ प्र.] भगवन् ! भोग सचित्त होते हैं या अचित्त होते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! भोग सचित्त भी होते हैं और भोग अचित्त भी होते हैं ।

९. जीवा भंते ! भोगा ? ० पुच्छा ।

गोयमा ! जीवा वि भोगा, अजीवा वि भोगा ।

[९ प्र.] भगवन् ! भोग जीव होते हैं या अजीव होते हैं ।

[९ उ.] गौतम ! भोग जीव भी होते हैं और भोग अजीव भी होते हैं ।

१०. जीवाणं भंते ! भोगा ? अजीवाणं भोगा ?

गोयमा ! जीवाणं भोगा, नो अजीवाणं भोगा ।

[१० प्र.] भगवन् ! भोग जीवों के होते हैं या अजीवों के होते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! भोग जीवों के होते हैं, अजीवों के नहीं होते ।

११. कतिविहा णं भंते ! भोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा भोगा पण्णत्ता, तं जहा—गंधा, रसा, फासा ।

[११ प्र.] भगवन् ! भोग कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[११ उ.] गौतम ! भोग तीन प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार—(१) गन्ध, (२) रस और (३) स्पर्श ।

१२. कतिविहा णं भंते ! कामभोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा कामभोगा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा रूवा गंधा रसा फासा ।

[१२ प्र.] भगवन् ! काम-भोग कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! काम-भोग पांच प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श ।

१३. [१] जीवा णं भंते ! किं कामी ? भोगी ?

गोयमा ! जीवा कामी वि, भोगी वि ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! जीव कामी हैं अथवा भोगी हैं ?

[१३-१ उ.] गौतम जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'जीवा कामी वि, भोगी वि' ?

गोयमा ! सोइंदिय-चक्खिंदियाइं पडुच्च कामी, घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च भोगी। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव भोगी वि।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं ?

[१३-२ उ.] गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा से जीव कामी हैं और घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा से जीव भोगी हैं। इस कारण से, हे गौतम ! जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं।

१४. नेरइया णं भंते ! किं कामी ? भोगी ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव, कामी हैं अथवा भोगी हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव भी पूर्ववत् कामी भी हैं, भोगी भी हैं।

१५. एवं जाव थणियकुमारा।

[१५] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

१६. [१] पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! पुढविकाइया नो कामी, भोगी।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के सम्बन्ध में भी यही प्रश्न है।

[१६-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव, कामी नहीं हैं, किन्तु भोगी हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव भोगी ?

गोयमा ! फासिंदियं पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव भोगी।

[१६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि पृथ्वीकायिक जीव कामी नहीं, किन्तु भोगी हैं ?

[१६-२ उ.] गौतम ! स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीव भोगी हैं। इस कारण से, हे गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव यावत् भोगी हैं।

[३] एवं जाव वणस्सतिकाइया।

[१६-३] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों तक कहना चाहिए।

१७. [१] वेइंदिया एवं चेव। नवरं जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च।

[१७-१] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीव भी भोगी हैं, किन्तु विशेपता यह है कि वे जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा भोगी हैं।

[२] तेइंदिया वि एवं चेव। नवरं घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियाइं पडुच्च।

[१७-२] त्रीन्द्रिय जीव भी इसी प्रकार भोगी हैं, किन्तु विशेपता यह है कि वे घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा से भोगी हैं।

[३] चउरिंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! चउरिंदिया कामी वि भोगी वि।

[१७-३ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में प्रश्न है कि वे कामी हैं अथवा भोगी हैं !

[१७-३ उ.] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं।

[४] से केणट्ठेणं जाव भोगी वि ?

गोयमा ! चक्खिदियं पडुच्च कामी, घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियाइं पडुच्च भोगी। से तेणट्ठेणं जाव भोगी वि।

[१७-४ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि चतुरिन्द्रिय जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं ?

[१७-४ उ.] गौतम ! (चतुरिन्द्रिय जीव) चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा से कामी हैं और घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा से भोगी हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि चतुरिन्द्रिय जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं।

१८. अवसेसा जहा जीवा जाव वेमाणिया।

[१८] शेष वैमानिक-पर्यन्त सभी जीवों के विषय में औघिक जीवों की तरह कहना चाहिए कि वे कामी भी हैं, भोगी भी हैं।

१९. एतेसि णं भंते ! जीवाणं कामभोगीणं नोकामीणं, नोभोगीणं, भोगीण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा कामभोगी, नोकामी नोभोगी अणंतगुणा, भोगी अणंतगुणा।

[१९ प्र.] भगवन् ! काम-भोगी, नोकामी नोभोगी और भोगी, इन जीवों में से कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! कामभोगी जीव सबसे थोड़े हैं, नोकामी-नोभोगी जीव उनसे अनन्तगुणे हैं और भोगी जीव उनसे अनन्तगणे हैं।

विवेचन—विविध पहलुओं से काम-भोग एवं कामी-भोगी के स्वरूप और उनके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत अठारह सूत्रों (सू. २ से १९ तक) में विविध पहलुओं से काम, भोग, कामी-भोगी जीवों के स्वरूप और उनके अल्पबहुत्व से सम्बन्धित सिद्धान्तसम्मत प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है।

निष्कर्ष—जिनकी कामना-अभिलाषा तो की जाती हो किन्तु जो विशिष्ट शरीरस्पर्श के द्वारा भोगे न जाते हों, वे **काम** हैं, जैसे—मनोज्ञशब्द, संस्थान तथा वर्ण काम हैं। रूपी का अर्थ है—जिनमें रूप या मूर्तता हो। इस दृष्टि से काम रूपी हैं, क्योंकि उनमें पुद्गलधर्मता होने से वे मूर्त्त हैं। समनस्क प्राणी के रूप की अपेक्षा से काम सचित्त हैं और शब्दद्रव्य की अपेक्षा तथा असंज्ञी जीवों के शरीर के रूप की अपेक्षा से वे अचित्त भी हैं। यह सचित्त और अचित्त शब्द विशिष्ट चेतना अथवा संज्ञित्व तथा विशिष्टचेतनाशून्यता अथवा असंज्ञित्व का बोधक है। जीवों के शरीर के रूपों की अपेक्षा से काम जीव हैं और शब्दों तथा चित्रित पुतली, चित्र आदि की अपेक्षा से काम अजीव भी हैं। कामसेवन के कारणभूत होने से वे जीवों के ही होते हैं, अजीवों में काम का अभाव है। जो शरीर से भोगे जाएँ, वे गन्ध, रस और स्पर्श **'भोग'** कहलाते हैं। वे भोग पुद्गल धर्मी होने से मूर्त्त हैं, अतः रूपी हैं, अरूपी नहीं। किन्हीं संज्ञीजीवों के गन्धादिप्रधान शरीरों की अपेक्षा से भोग सचित्त हैं और असंज्ञीजीवों के गन्धादिविशिष्ट शरीरों की अपेक्षा अचित्त भी हैं। जीवों के शरीर तथा अजीव द्रव्य विशिष्टगन्धादि की अपेक्षा से भोग, जीव भी है, अजीव भी।

चतुरिन्द्रिय और सभी पंचेन्द्रिय जीव काम-भोगी हैं, वे सबसे थोड़े हैं। उनसे नोकामी-नोभोगी अर्थात् सिद्ध जीव अनन्तगुणे हैं और भोगी जीव—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, और त्रीन्द्रिय जीव उनसे अनन्तगुणे हैं क्योंकि वनस्पतिकाय के जीव अनन्त हैं।[1]

क्षीणभोगी छद्मस्थ, अधोऽवधिक, परमावधिक एवं केवली मनुष्यों में भोगित्व-प्ररूपणा—

२०. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जित्तए, से नूणं भंते ! से खीणभोगी नो पभू उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए, से नूणं भंते ! एयमट्ठं एवं वयह ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, पभू णं से उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अन्नयराइं विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी, भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।

[२० प्र.] भगवन् ! ऐसा छद्मस्थ मनुष्य, जो किसी देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होने वाला है, भगवन् ! वास्तव में, क्षीणभोगी (अन्तिम समय में दुर्बल शरीर वाला होने से) उत्थान, कर्म बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम के द्वारा विपुल और भोगने योग्य भोगों को भोगता हुआ विहरण (जीवनयापन) करने में समर्थ नहीं है ? भगवन् ! क्या आप इस अर्थ (तथ्य) को इसी तरह कहते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह (देवलोक में उत्पत्तियोग्य क्षीण-शरीरी भी) उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम द्वारा किन्हीं विपुल एवं भोग्य भोगों को

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३१०-३११

(यत्किंचित् रूप में, मन से भी) भोगने में समर्थ है। इसलिए वह भोगी भोगों का (मन से) परित्याग करता हुआ ही महानिर्जरा और महापर्यवसान (महान् शुभ अन्त) वाला होता है।

२१. आहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु०, ।

एवं चेव जहा छउमत्थे जाव महापज्जवसाणे भवति ।

[२१ प्र.] भगवन् ! ऐसा अधोऽवधिक (नियत क्षेत्र का अवधिज्ञानी) मनुष्य, जो किसी देवलोक में उत्पन्न होने योग्य है, क्या वह क्षीणभोगी उत्थान यावत् पुरुषकारपराक्रम द्वारा विपुल एवं भोग्य भोगों को भोगने में समर्थ है ?

[२१ उ.] (हे गौतम !)········इसके विषय में उपर्युक्त छद्मस्थ के समान ही कथन जान लेना चाहिए; यावत् (भोगों का परित्याग करता हुआ ही वह महानिर्जरा और) महापर्यवसान वाला होता है।

२२. परमाहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए जाव अंतं करेत्तए, से नूणं भंते ! से खीणभोगी० ।

सेसं जहा छउमत्थस्स ।

[२२ प्र.] भगवन् ! ऐसा परमावधिक (परम अवधिज्ञानी) मनुष्य जो उसी भवग्रहण से (जन्म में) सिद्ध होने वाला यावत् सर्व-दुःखों का अन्त करने वाला है, क्या वह क्षीणभोगी यावत् भोगने योग्य विपुल भोगों को भोगने में समर्थ है ?

[२२ उ.] (हे गौतम !) इसका उत्तर भी छद्मस्थ के लिये दिये हुए उत्तर के समान समझना चाहिए।

२३. केवली णं भंते ! मणूसे जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं० ।

एवं चेव जहा परमाहोहिए जाव महापज्जवसाणे भवति ।

[२३ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञानी मनुष्य भी, जो उसी भव में सिद्ध होने वाला है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करने वाला है, क्या वह विपुल और भोग्य भोगों को भोगने में समर्थ है ?

[२४ उ.] (हे गौतम !) इसका कथन भी परमावधिज्ञानी की तरह करना चाहिए, या यावत् वह महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

विवेचन—क्षीणभोगी छद्मस्थ, अधोऽवधिक, परमावधिक, एवं केवली मनुष्यों में भोगित्व-प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. २० से २३ तक) में अन्तिम समय में क्षीणदेह छद्मस्थादि मनुष्य भोग भोगने में असमर्थ होने से भोगी कैसे कहे जा सकते हैं ? इस प्रश्न का सिद्धान्तसम्मत समाधान प्रतिपादित किया गया है।

भोग भोगने में असमर्थ होने से ही भोगत्यागी नहीं—भोग भोगने का साधन शरीर होने से उसे यहाँ भोगी कहा गया है। तपस्या या रोगादि से जिसका शरीर अशक्त और क्षीण हो गया है, उसे 'क्षीणभोगी' कहते हैं। देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होने वाला छद्मस्थ मनुष्य मरणासन्न अवस्था

में अत्यन्त क्षीणभोगी दुर्बल होने से अन्तिम समय में जीता हुआ भी उत्थानादि द्वारा किन्हीं भोगों को भोगने में जब असमर्थ है, तब वह भोगी कैसे कहलाएगा ? उसे भोगत्यागी कहना चाहिए; यह २१ वें सूत्रके प्रश्न का आशय है। इसका सिद्धान्तसम्मत उत्तर दिया गया है कि ऐसा दुर्बल मानव भी अन्तिम अवस्था में जीता हुआ भी (मन एवं वचन से) भोगों को भोगने में समर्थ होता है। अतएव वह भोगी ही कहलाएगा, भोगत्यागी नहीं। भोगत्यागी तो वह तब कहलाएगा, जब भोगों (स्वाधीन अथवा अस्वाधीन समस्त भोग्य भोगों) का मन-वचन-काया तीनों से परित्याग कर देगा। ऐसी स्थिति में वह भोग-त्यागी मनुष्य निर्जरा करता है, उससे भी देवलोकगति प्राप्त करता है अथवा महानिर्जरा एवं महापर्यवसान वाला होता है।

नियतक्षेत्रविषयक अवधिज्ञान वाला अधोऽवधिक कहलाता है। उत्कृष्ट अवधिज्ञानवाला परमावधिज्ञानी चरमशरीरी होता है, और केवलज्ञानी तो चरमशरीरी है ही। इन की भोगित्व एवं भोगत्यागित्व सम्बन्धी प्ररूपणा छद्मस्थ की तरह ही है।[1]

असंज्ञी और समर्थ (संज्ञी) जीवों द्वारा अकामनिकरण और प्रकामनिकरण वेदन का सयुक्तिक निरूपण—

२४. जे इमे भंते ! असण्णिणो पाणा, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया छट्ठा य एगइया तसा, एते णं अंधा मूढा तमं पविट्ठा तमपडलमोहजालपलिच्छन्ना अकामनिकरणं वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! जे इमे असण्णिणो पाणा जाव वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया।

[२४ प्र.] भगवन् ! ये जो असंज्ञी (अमनस्क) प्राणी हैं, यथा—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक; ये पांच (स्थावर) तथा छठे कई त्रसकायिक (सम्मूर्च्छिम) जीव हैं, जो अन्ध (अन्धों की तरह अज्ञानान्ध) हैं, मूढ़ (मोहयुक्त होने से तत्त्वश्रद्धान के अयोग्य) हैं, तामस (अज्ञानरूप अन्धकार) में प्रविष्ट की तरह हैं, (ज्ञानावरणरूप) तमःपटल और (मोहनीयरूप) मोहजाल से प्रतिच्छन्न (आच्छादित) हैं, वे अकाम निकरण (अज्ञान रूप में) वेदना वेदते हैं, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

[२४ उ.] हाँ गौतम ! जो ये असंज्ञी प्राणी पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक और छठे कई त्रसकायिक (सम्मूर्च्छिम) जीव हैं, यावत्····ये सब अकामनिकरण वेदना वेदते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

२४. अत्थि णं भंते ! पभू वि अकामनिकरण[2] वेदणं वेदेति ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक
(ख) तुलना कीजिए—
वत्थ-गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से 'चाइ' त्ति वुच्चई॥ २॥
जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु 'चाइ' त्ति वुच्चई॥ ३॥ —दशवैकालिक सूत्र अ. २, गा. २-३

२. अकामनिकरणं—जिसमें अकाम अर्थात् वेदना के अनुभव में अमनस्क होने से अनिच्छा ही निकरण=कारण है, वह अकामनिकरण है; यह अज्ञानकारणक है।

हंता, गोयमा ! अत्थि ।

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या ऐसा होता है कि समर्थ होते हुए भी जीव, अकामनिकरण (अज्ञानपूर्वक-अनिच्छापूर्वक) वेदना को वेदते हैं ?

[२५ उ.] हाँ, गौतम ! वेदते हैं ।

२६. कहं णं भंते ! पभू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेंति ?

गोतमा ! जे णं णो पभू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रूवाइं पासित्तए, जे णं नो पभू पुरतो रूवाइं अणिज्झाइत्ता णं पासित्तए, जे णं नो पभू मग्गतो रूवाइं अणवयक्खित्ता णं पासित्तए, जे णं नो पभू पासतो रूवाइं अणवलोएत्ता णं पासित्तए, जे णं नो पभू उड्ढं रूवाइं अणालोएत्ता णं पासित्तए, जे णं नो पभू अहे रूवाइं अणालोएत्ता णं पासित्तए, एस णं गोतमा ! पभू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेंति ।

[२६ प्र.] भगवन् ! समर्थ होते हुए भी जीव, अकामनिकरण वेदना को कैसे वेदते हैं ?

[२६ उ.] गौतम ! जो जीव समर्थ होते हुए भी अन्धकार में दीपक के बिना रूपों (पदार्थों) को देखने में समर्थ नहीं होते, जो अवलोकन किये बिना सम्मुख रहे हुए रूपों (पदार्थों) को देख नहीं सकते; अवेक्षण किये बिना पीछे (पीठ के पीछे) के भाग को नहीं देख सकते, अवलोकन किये बिना अगल-बगल के (पार्श्वभाग के दोनों ओर के) रूपों को नहीं देख सकते, आलोकन किये बिना ऊपर के रूपों को नहीं देख सकते और न आलोकन किये बिना नीचे के रूपों को देख सकते हैं, इसी प्रकार हे गौतम ! ये जीव समर्थ होते हुए भी अकामनिकरण वेदना वेदते हैं ।

२७. अत्थि णं भंते ! पभू वि पकामनिकरणं वेदणं वेदेंति ।

हंता, अत्थि ।

[२७ प्र.] भगवन् ! क्या ऐसा भी होता है कि समर्थ होते हुए भी जीव, प्रकामनिकरण, (तीव्र इच्छापूर्वक) वेदना को वेदते हैं ?

[२७ उ.] हाँ, गौतम ! वेदते हैं ।

२८. कहं णं भंते ! पभू वि पकामनिकरणं[1] वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! जे णं नो पभू समुद्दस्स पारं गमित्तए, जे णं नो पभू समुद्दस्स पारगताइं रूवाइं पासित्तए, जे णं नो पभू देवलोगं गमित्तए, जे णं नो पभू देवलोगगताइं रूवाइं पासित्तए एस णं गोयमा ! पभू वि पकामनिकरणं वेदणं वेदेंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। सत्तमसए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ।।

---

१. पकामनिकरणं—प्रकाम—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न होने से प्रकृष्ट अभिलाषा ही जिसमें निकरण—कारण है, वह प्रकामनिकरण है ।

[२८ प्र.] भगवन् ! समर्थ होते हुए भी जीव, प्रकामनिकरण वेदना को किस प्रकार वेदते हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! जो समुद्र के पार जाने में समर्थ नहीं हैं, जो समुद्र के पार रहे हुए रूपों को देखने में समर्थ नहीं हैं, जो देवलोक में जाने में समर्थ नहीं हैं, और जो देवलोक में रहे हुए रूपों को देख नहीं सकते; हे गौतम ! वे समर्थ होते हुए भी प्रकामनिकरण वेदना को वेदते हैं ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं ।

विवेचन—असंज्ञी और समर्थ (संज्ञी) जीवों द्वारा अकामनिकरण एवं प्रकामनिकरणवेदन का सयुक्तिक निरूपण—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २४ से २८ तक) में असंज्ञी एवं समर्थ जीवों द्वारा अकामनिकरण वेदन का तथा समर्थ जीवों द्वारा प्रकामनिकरणवेदन का सयुक्तिक निरूपण किया गया है ।

असंज्ञी और संज्ञी द्वारा अकाम-प्रकामनिकरण वेदन क्यों और कैसे ?—असंज्ञी जीवों के मन न होने से वे इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति या विचारशक्ति के अभाव में सुखदुःखरूप वेदना अकामनिकरण रूप में (अनिच्छा से, अज्ञानतापूर्वक) भोगते हैं । संज्ञी जीव समनस्क होने से देखने-जानने में अथवा ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति में समर्थ होते हुए भी अनिच्छापूर्वक (अकामनिकरण) अज्ञानदशा में सुखदुःखरूप वेदन करते हैं । जैसे—देखने की शक्ति होते भी अन्धकार में रहे हुए पदार्थों को दीपक के विना मनुष्य नहीं देख सकता, इसी प्रकार आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊपर नीचे रहे हुए पदार्थों को देखने की शक्ति होते हुए भी मनुष्य उपयोग के विना नहीं देख सकता; वैसे ही समर्थ जीव के विषय में समझना चाहिए । संज्ञी (समनस्क) जीवों में इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति होते हुए भी उसे प्रवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है, केवल उसकी तीव्र अभिलाषा है, इस कारण वे प्रकामनिकरण (तीव्र इच्छापूर्वक) वेदना वेदते हैं । जैसे—समुद्रपार जाने की, समुद्रपार रहे हुए रूपों को देखने की, देवलोक में जाने की तथा वहाँ के रूपों को देखने की शक्ति न होने से जीव तीव्र अभिलाषापूर्वक वेदना वेदते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ।

निष्कर्ष—असंज्ञी जीव इच्छा और ज्ञान की शक्ति के अभाव में अनिच्छा से अज्ञानपूर्वक सुख-दुःख वेदते हैं । संज्ञी जीव इच्छा और ज्ञानशक्ति से युक्त होते हुए भी उपयोग के विना अनिच्छा से और अज्ञानपूर्वक सुख-दुःख वेदते हैं, और ज्ञान एवं इच्छाशक्ति से युक्त होते हुए भी प्राप्तिरूप सामर्थ्य के अभाव में मात्र तीव्रकामनापूर्वक वेदना वेदते हैं ।[1]

।। सप्तम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) भगवती० अ. वृत्ति, पत्रांक ३१२, (ख) भगवती० (गुजराती अनुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड ३, पृ. २६

अट्ठमो उद्देसओ : 'छउमत्थ'

अष्टम उद्देशक : 'छद्मस्थ'

संयमादि से छद्मस्थ के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का निषेध—

१. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं० ?

एवं जहा पढमसते चउत्थे उद्देसए (सू० १२-१८) तहा भाणियव्वं जाव अलमत्थु ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य, अनन्त और शाश्वत अतीतकाल में केवल संयम द्वारा, केवल संवर द्वारा, केवल ब्रह्मचर्य से, तथा केवल अष्टप्रवचनमाताओं के पालन से सिद्ध हुआ है, बुद्ध हुआ है, यावत् उसने सर्व दुःखों का अन्त किया है ?

[१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। इस विषय में प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशक (सू. १२-१८) में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार यहाँ यावत् 'अलमत्थु' पाठ तक कहना चाहिए।

विवेचन—संयमादि से छद्मस्थ के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का निषेध—प्रस्तुत प्रथम सूत्र में भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशक में उक्त पाठ के अतिदेशपूर्वक निषेध किया गया है कि केवल संयम आदि से अतीत में कोई छद्मस्थ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हुआ, अपितु केवली होकर ही सिद्ध होते हैं, यह निरूपण है।

फलितार्थ—प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशकोक्त पाठ का फलितार्थ यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्य में जितने जीव सिद्ध, बुद्ध मुक्त हुए हैं, होते हैं, होंगे, वे सभी उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक अरिहन्त, जिन, केवली होकर ही हुए हैं, होते हैं, होंगे। उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारक अरिहन्त, जिन केवली को ही अलमत्थु (पूर्ण) कहना चाहिये।[1]

हाथी और कुंथुए के समानजीवत्व की प्ररूपणा—

२. से णूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?

हंता, गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य एवं जहा रायपसेणइज्जे जाव खुड्डियं वा, महालियं वा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव समे चेव जीवे।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या वास्तव में, हाथी और कुन्थुए का जीव समान है ?

[२ उ.] हाँ गौतम ! हाथी और कुन्थुए का जीव समान है। इस विषय में रायपसेणीय (राजप्रश्नीय) सूत्र में कहे अनुसार यावत् 'खुड्डियं वा महालियं वा' इस पाठ तक कहना चाहिए।

हे गौतम ! इसी कारण से हाथी और कुंथुए का जीव समान है।

---

१. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भाग ३, पृ. ११८३

विवेचन—हाथी और कुन्थुए के समान जीवत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत द्वितीय सूत्र में रायपसेणीय सूत्रपाठ के अतिदेशपूर्वक हाथी और कुन्थुए के समजीवत्व की प्ररूपणा की गई है।

राजप्रश्नीय सूत्र में समान जीवत्व की सदृष्टान्त प्ररूपणा—हाथी का शरीर बड़ा और कुंथुए का छोटा होते हुए भी दोनों में मूलतः आत्मा (जीव) समान है, इसे सिद्ध करने के लिए राजप्रश्नीय सूत्र में दीपक का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे—एक दीपक का प्रकाश एक कमरे में फैला हुआ है, यदि उसे किसी वर्तन द्वारा ढँक दिया जाए तो उसका प्रकाश वर्तन-परिमित हो जाता है, इसी प्रकार जब जीव हाथी का शरीर धारण करता है तो वह (आत्मा) उतने बड़े शरीर में व्याप्त रहता है और जब कुंथुए का शरीर धारण करता है तो उसके छोटे-से शरीर में (आत्मा) व्याप्त रहता है। इस प्रकार केवल छोटे-बड़े शरीर का ही अन्तर रहता है जीव में कुछ भी अन्तर नहीं है। सभी जीव समान रूप से असंख्यात प्रदेशों वाले हैं। उन प्रदेशों का संकोच-विस्तार मात्र होता है।

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों द्वारा कृत पापकर्म दुःखरूप और उसकी निर्जरा सुखरूप—

३. नेरइयाणं भंते ! पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जति, जे य कज्जिस्सति सव्वे से दुक्खे ? जे निज्जिण्णे से णं सुहे ?

हंता, गोयमा ! नेरइयाणं पावे कम्मे जाव सुहे।

[३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो पापकर्म किया गया है, जो किया जाता है और जो किया जाएगा, क्या वह सब दुःखरूप है और (उनके द्वारा) जिसकी निर्जरा की गई है, क्या वह सुख रूप है ?

[३ उ.] हाँ, गौतम ! नैरयिकों द्वारा जो पापकर्म किया गया है, यावत् वह सब दुःखरूप है और (उनके द्वारा) जिन (पापकर्मों) की निर्जरा की गई है, वह सब सुखरूप है।

४. एवं जाव वेमाणियाणं।

[४] इस प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त चौवीस दण्डकों में जान लेना चाहिए।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों द्वारा कृत पापकर्म दुःखरूप और उसकी निर्जरा सुखरूप—प्रस्तुत सूत्रद्वय में नैरयिकों से वैमानिक-पर्यन्त सब जीवों के लिए पापकर्म दुखःरूप और उसकी निर्जरा सुखरूप वताई गई है।

निष्कर्ष—पापकर्म संसार-परिभ्रमण का कारण होने से दुःखरूप है, और पापकर्मों की निर्जरा सुखस्वरूप मोक्ष का हेतु होने से सुखरूप है।[1]

सुख और दुःख के कारण को यहाँ सुख-दुःख कहा गया है।

संज्ञाओं के दस प्रकार—चौवीस दण्डकों में—

कति णं भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३१३, (ख) भगवती (हिन्दी-विवेचन) भा. ३, पृ. ११८५

गोयमा ! दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा १ भयसण्णा २ मेहुणसण्णा ३ परिग्गहसण्णा ४ कोहसण्णा ५ माणसण्णा ६ मायासण्णा ७ लोभसण्णा ८ ओहसण्णा ९ लोगसण्णा १०।

[५ प्र.] भगवन् ! संज्ञाएँ कितने प्रकार की कही गई हैं ?

[५ उ.] गौतम ! संज्ञाएँ दस प्रकार की कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) आहारसंज्ञा, (२) भयसंज्ञा, (३) मैथुनसंज्ञा, (४) परिग्रहसंज्ञा, (५) क्रोधसंज्ञा, (६) मानसंज्ञा, (७) मायासंज्ञा, (८) लोभसंज्ञा, (९) लोकसंज्ञा और (१०) ओघसंज्ञा।

६. एवं जाव वेमाणियाणं।

[६] वैमानिकपर्यन्त चौवीस दण्डकों में ये दस संज्ञाएँ पाई जाती हैं।

विवेचन—संज्ञाओं के दस प्रकार : चौबीस दण्डकों में—प्रस्तुत पंचम सूत्र में आहारसंज्ञा आदि १० प्रकार की संज्ञाएँ चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में वताई गई हैं।

संज्ञा की परिभाषाएँ—संज्ञान या आभोग अर्थात्—एक प्रकार की धुन को या मोहनीयादि कर्मोदय से आहारादि प्राप्ति की इच्छाविशेष को संज्ञा कहते हैं, अथवा जीव का आहारादि विषयक चिन्तन या मानसिक ज्ञान भी संज्ञा है। अथवा जिस क्रिया से जीव की इच्छा जानी जाए, उस क्रिया को भी संज्ञा कहते हैं।

संज्ञाओं की व्याख्या—(१) **आहारसंज्ञा**—क्षुधावेदनीय के उदय से कवलादि आहारार्थ पुद्गल-ग्रहणेच्छा; (२) **भयसंज्ञा**—भयमोहनीय के उदय से व्याकुलचित्त पुरुष का भयभीत होना, कांपना, रोमांचित होना, घवराना आदि; (३) **मैथुनसंज्ञा**—पुरुषवेदादि (नोकषायरूप वेदमोहनीय) के उदय से, स्त्री आदि के अंगों को छूने, देखने आदि की तथा तज्जनित कम्पनादि, जिससे मैथुनेच्छा अभिव्यक्त हो; (४) **परिग्रहसंज्ञा**—लोभरूप कषायमोहनीय के उदय से आसक्तिपूर्वक सचित्त-अचित्त-द्रव्यग्रहणेच्छा; (५) **क्रोधसंज्ञा**—क्रोध के उदय से आवेश, दोष रूप परिणाम एवं नेत्र लाल होना, कांपना, मुंह सूखना आदि क्रियाएँ। (६) **मानसंज्ञा**—मान के उदय से अहंकारादिरूप परिणाम; (७) **मायासंज्ञा**—माया के उदय से दुर्भावनावश दूसरों को ठगना, धोखा देना आदि; (८) **लोभसंज्ञा**—लोभके उदय से सचित्त-अचित्तपदार्थ-प्राप्ति की लालसा; (९) **ओघसंज्ञा**—मतिज्ञाना-वरण आदि के क्षयोपशम से शब्द और अर्थ का सामान्यज्ञान; अथवा धुन ही धुन में विना उपयोग के की गई प्रवृत्ति, और (१०) **लोकसंज्ञा**—सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु को विशेष रूप से जानना, अथवा लोकरूढि या लोकदृष्टि के अनुसार प्रवृत्ति करना लोकसंज्ञा है।[1] ये दसों संज्ञाएँ न्यूनाधिक रूप से सभी छद्मस्थ संसारी जीवों में पाई जाती हैं।

नैरयिकों को सतत अनुभव होने वाली दस वेदनाएँ—

६. नेरइया दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—सीतं उसिणं खुहं पिवासं कंडुं परज्झं जरं दाहं भयं सोगं।

---

१. भगवती, अ. वृत्ति, पत्रांक ३१४

[७] नैरयिक जीव दस प्रकार की वेदना का अनुभव करते हुए रहते हैं। वह इस प्रकार— (१) शीत, (२) उष्ण, (३) क्षुधा, (४) पिपासा (५) कण्डू (खुजली), (६) पराधीनता, (७) ज्वर, (८) दाह, (९) भय और (१०) शोक।

विवेचन—नैरयिकों को सतत अनुभव होने वाली दस वेदनाएँ—प्रस्तुत सूत्र में शीत आदि दस वेदनाएँ, जो नैरयिकों को प्रत्यक्ष अनुभव में आती हैं, बताई गई हैं।

हाथी और कुंथए को समान अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगने की प्ररूपणा—

८. [१] से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जति ?

हंता, गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य जाव कज्जति।

[८-१ प्र.] भगवन् क्या वास्तव में, हाथी और कुन्थुए के जीव को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया समान लगती है ?

[८-१ उ] हाँ, गौतम ! हाथी और कुन्थुए के जीव को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया समान लगती है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव कज्जति ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च। से तेणट्ठेणं जाव कज्जति।

[८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि हाथी और कुंथुए के यावत् क्रिया समान लगती है ?

[८-२ उ.] गौतम ! अविरति की अपेक्षा से हाथी और कुन्थुए के जीव को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया समान लगती है।

विवेचन—हाथी और कुंथुए को समान अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगने की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में हाथी और कुन्थुए को अविरति की अपेक्षा से अप्रत्याख्यानिकी क्रिया समान रूप से लगने की प्ररूपणा की गई है, क्योंकि अविरति का सद्भाव दोनों में समान है।

आधाकर्मसेवी साधु को कर्मबन्धादि-निरूपण—

९. आहाकम्मं णं भंते ! भुंजमाणे किं बंधति ? किं पकरेति ? किं चिणाति ? किं उवचिणाति ?

एवं जहा पढमे सते नवमे उद्देसए (सू. २६) तहा भाणियव्वं जाव सासते पंडिते, पंडितत्तं असासयं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० !

॥ सत्तमसए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१ प्र.] भगवन् ! आधाकर्म (आहारादि) का उपयोग करने वाला साधु क्या बांधता है ? क्या करता है ? किसका चय करता है और किसका उपचय करता है ?

[९ उ.] गौतम ! आधाकर्म आहारादि का उपभोग करने वाला साधु आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मो की प्रकृतियों को, यदि वे शिथिल बन्ध से बंधी हुई हों तो, गाढ बंध वाली करता है, यावत् बार-बार संसार-परिभ्रमण करता है। इस विषय का सारा वर्णन प्रथम शतक के नौवें उद्देशक (सू. २६) में कहे अनुसार—यावत् 'पण्डित शाश्वत है और पण्डितत्व अशाश्वत है' यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—आधाकर्मसेवी साधु को कर्मबन्धादि निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम शतक के ९ वें उद्देशक के अतिदेशपूर्वक आधाकर्मदोषसेवन का दुष्फल बताया गया है।

आधाकर्म—आहार, पानी आदि कोई भी पदार्थ जो साधु के निमित्त बनाए जाएँ, वे आधाकर्मदोष युक्त हैं। इसका विशेष विवरण प्रथम शतक के नौवें उद्देशक से जान लेना चाहिए।

।। सप्तम शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ।। □□

नवमो उद्देसओ : 'असंवुड'

नवम उद्देशक : 'असंवृत'

असंवृत अनगार द्वारा इहगत बाह्यपुद्गलग्रहणपूर्वक विकुर्वण-सामर्थ्य-निरूपण—

१. असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियादिइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या असंवृत (संवररहित=प्रमत्त) अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये बिना, एक वर्ण वाले एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[१ उ.] (गौतम !) यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

२. असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले परियादिइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं जाव हंता, पभू ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या असंवृत अनगार बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके एक वर्ण वाले एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! वह ऐसा करने में समर्थ है ।

३. से भंते ! किं इहगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वइ ? तत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वइ ? अन्नत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विउव्वइ ?

गोयमा ! इहगए पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वइ, नो तत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वइ, नो अन्नत्थगए पोग्गले जाव विकुव्वइ ।

[३ प्र.] भगवन् ! वह असंवृत अनगार यहाँ (मनुष्य-लोक में) रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है, या वहां रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है, अथवा अन्यत्र रहे पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह यहाँ (मनुष्यलोक में) रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है, किन्तु न तो वहाँ रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है, और न ही अन्यत्र रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है ।

४. एवं एगवण्णं अणेगरूवं चउभंगो जहा छट्ठसए नवमे उद्देसए (सू. ५) तहा इहावि भाणियव्वं । नवरं अणगारे इहगए चेव पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वइ । सेसं तं चेव जाव लुक्खपोग्गलं निद्धपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए ?

हंता, पभू । से भंते ! किं इहगए पोग्गले परियादिइत्ता जाव (सू. ३) नो अन्नत्थगए पोग्गले परियादिइत्ता विकुव्वइ ।

[४] इस प्रकार एकवर्ण एकरूप, एकवर्ण अनेकरूप, अनेकवर्ण एकरूप और अनेकवर्ण अनेकरूप; यों चौभंगी का कथन जिस प्रकार छठे शतक के नौवें उद्देशक (सू. ५) में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि यहाँ रहा हुआ मुनि, यहाँ रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वणा करता है। शेष सारा वर्णन उसी के अनुसार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् '[प्र.] भगवन् ! क्या रूक्ष पुद्गलों को स्निग्ध पुद्गलों के रूप में परिणत करने में समर्थ है ? [उ.] हाँ, गौतम ! समर्थ है। [प्र.] भगवन् ! क्या वह यहाँ रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके यावत् (सू. ३) अन्यत्र रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण किये विना विकुर्वणा करता है ?' यहां तक कहना चाहिए।

विवेचन—असंवृत अनगार के विकुर्वण-सामर्थ्य का निरूपण—प्रस्तुत सूत्रचतुष्टय में असंवृत अनगार के विकुर्वण-सामर्थ्य का छठे शतक के नौवें उद्देशक के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—वैक्रियलब्धिमान् असंवृत अनगार यहाँ रहे हुए वाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके ही एकवर्ण-एकरूप, एकवर्ण-अनेकरूप, अनेकवर्ण-एकरूप या अनेकवर्ण-अनेकरूप की विकुर्वणा करने में समर्थ है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार वह यहाँ रहा हुआ, यहाँ रहे हुए वाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके विक्रिया करता है, यहाँ तक कि वर्ण की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि के विविध विकल्प भी उसके विकुर्वणा-सामर्थ्य की सीमा में हैं, जिनका कथन छठे शतक के नौवें उद्देशक की तरह यहाँ भी कर लेना चाहिए।[1] निष्कर्ष यह है कि वर्ण के १०, गंध का १, रस के १०, और स्पर्श के चार, यों २५ भंग एवं पहले के चार भंग मिला कर कुल २९ भंग होते हैं।

'इहगए', 'तत्थगए' एवं 'अनत्थगए' का तात्पर्य—प्रश्नकर्त्ता गौतम स्वामी हैं, अतः उनकी अपेक्षा 'इहगए' का अर्थ 'मनुष्यलोक में रहा हुआ' ही करना संगत है। 'तत्थगए' का अर्थ है—वैक्रिय करके वह अनगार जहाँ जाएगा, वह स्थान और 'अनत्थगए' का अर्थ है—उपर्युक्त दोनों स्थानों से भिन्न स्थान। तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर रह कर अनगार वैक्रिय करता है, वहाँ के पुद्गल **'इहगत'** कहलाते हैं। वैक्रिय करके जिस स्थान पर जाता है, वहाँ के पुद्गल **'तत्रगत'** कहलाते हैं; और इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान के पुद्गल **'अन्यत्रगत'** हैं। देव तो 'तत्रगत' अर्थात्—देवलोकगत पुद्गलों को ग्रहण करके वैक्रिय कर सकता है, लेकिन अनगार तो मध्यलोकगत होने के कारण 'इहगत' अर्थात्—मनुष्यलोकगत पुद्गल को ही ग्रहण करके विक्रिया कर सकता है।[2]

महाशिलाकण्टक संग्राम में जय-पराजय का निर्णय—

५. णायमेतं अरहता, सुयमेतं अरहया, विण्णायमेतं अरहया, महासिलाकंटए संगामे महासिलाकंटए संगामे। महासिलाकंटए णं भंते ! संगामे वट्टमाणे के जयित्था ? के पराजइत्था ?

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३०३
(ख) भगवतीसूत्र के थोकड़े, द्वितीय भाग, थोकड़ा नं. ६७, पृ. १२५

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३१५

गोयमा ! वज्जी विदेहपुत्ते जइत्था, नव मल्लई नव लेच्छई कासी-कोसलगा—अट्ठारस वि गणरायाणो पराजइत्था।

[५ प्र.] अर्हन्त भगवान् ने यह जाना है, अर्हन्त भगवान् ने यह सुना है—अर्थात्—सुनने की तरह प्रत्यक्ष देखा है, तथा अर्हन्त भगवान् को यह विशेष रूप से ज्ञात है कि महाशिलाकण्टक संग्राम महाशिलाकण्टक संग्राम ही है। (अतः प्रश्न यह है कि) भगवन् ! जब महाशिलाकण्टक संग्राम चल रहा (प्रवर्त्तमान) था, तब उसमें कौन जीता और कौन हारा ?

[५ उ.] गौतम ! वज्जी (वज्जीगण का अथवा वज्री इन्द्र और) विदेहपुत्र कूणिक राजा जीते, नौ मल्लकी और नौ लेच्छकी, जो कि काशी और कौशलदेश के १८ गणराजा थे, वे पराजित हुए।

महाशिलाकण्टक-संग्राम के लिए कूणिक राजा की तैयारी और अठारह गणराजाओं पर विजय का वर्णन—

६. तए णं से कूणिए राया महासिलाकंटगं संगामं उवट्ठितं जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! उदाइं हत्थिरायं परिकप्पेह, हय-गय-रह-जोहकलियं चातुरंगिणिं सेणं सन्नाहेह, सन्नाहेत्ता जाव मम एतमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह।

[६] उस समय में महाशिलाकण्टक-संग्राम उपस्थित हुआ जान कर कूणिक राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों (आज्ञापालक सेवकों) को बुलाया। बुला कर उनसे इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही 'उदायी' नामक हस्तिराज (पट्टहस्ती) को तैयार करो, और अश्व, हाथी, रथ और योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना सन्नद्ध (शस्त्रास्त्रादि से सुसज्जित) करो और ये सब करके यावत् (मेरी आज्ञानुसार कार्य करके) शीघ्र ही मेरी आज्ञा मुझे वापिस सौंपो।

७. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा जाव[1] अंजलिं कट्टु 'एवं सामी ! तह' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता खिप्पामेव छेयायरियोवएस-मतिकप्पणाविकप्पेहिं सुनिउणेहिं एवं जहा उववातिए जाव भीमं संगामियं अउज्झं उदाइं हत्थिरायं परिकप्पेंति हय-गय-जाव सन्नाहेंति, सन्नाहित्ता जेणेव कूणिए राया तेणेव उवा०, तेणेव २ करयल० कूणियस्स रण्णो तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

[७] तत्पश्चात् कूणिक राजा द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वे कौटुम्बिक पुरुष हृष्ट-तुष्ट हुए, यावत् मस्तक पर अंजलि करके (आज्ञा शिरोधार्य करके)—हे स्वामिन् ! 'ऐसा ही होगा, जैसी आज्ञा'; यों कह कर उन्होंने विनयपूर्वक वचन (आज्ञाकथन) स्वीकार किया। वचन स्वीकार करके निपुण आचार्यों के उपदेश से प्रशिक्षित एवं तीक्ष्ण बुद्धि-कल्पना के सुनिपुण विकल्पों से युक्त तथा औपपातिकसूत्र में कहे गए विशेषणों से युक्त यावत् भीम (भयंकर) संग्राम के योग्य उदार (प्रधान अथवा योद्धा के विना अकेले ही टक्कर लेने वाले) उदायी नामक हस्तीराज (पट्टहस्ती) को सुसज्जित किया। साथ ही घोड़े, हाथी, रथ और योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना भी (शस्त्रास्त्रादि

१. जाव शब्द 'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया नंदिया पीइमणा' इत्यादि पाठ का सूचक है।

से) सुसज्जित की। सुसज्जित करके जहाँ कूणिक राजा था, वहाँ उसके पास आए और करबद्ध होकर उन्होंने कूणिक राजा को उसकी उक्त आज्ञा वापिस सौंपी—आज्ञानुसार कार्य सम्पन्न हो जाने की सूचना दी।

८. तए णं से कूणिए राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवा., २ त्ता मज्जणघरं अणुप्पविसति, मज्जण० २ ण्हाते कतबलिकम्मे कयकोतुयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सन्नद्धबद्धवम्मियकवए उप्पीलियसरासणपट्टिए पिणद्धगेवेज्जविमलवरबद्धचिंधपट्टे गहियायुहप्पहरणे सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउचामरवालवीइतंगे मंगलजयसद्दकतालोए एवं जहा उववातिए जाव उवागच्छित्ता उदाइं हत्थिरायं दुरूढे।

[८] तत्पश्चात् कूणिक राजा जहाँ स्नानगृह था, वहाँ आया, उसने स्नानगृह में प्रवेश किया। फिर स्नान किया, स्नान से सम्बन्धित मर्दनादि बलिकर्म किया, फिर प्रायश्चित्तरूप (विघ्ननाशक) कौतुक (मषी-तिलक आदि) तथा मंगल किये। समस्त आभूषणों से विभूषित हुआ। सन्नद्धबद्ध (शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित) हुआ, लोहकवच को धारण किया, फिर मुड़े हुए धनुर्दण्ड को ग्रहण किया। गले के आभूषण पहने और योद्धा के योग्य उत्तमोत्तम चिह्नपट बांधे। फिर आयुध (गदा आदि शस्त्र) तथा प्रहरण (भाले आदि शस्त्र) ग्रहण किये। फिर कोरण्टक पुष्पों की माला सहित छत्र धारण किया तथा उसके चारों ओर चार चामर ढुलाये जाने लगे। लोगों द्वारा मांगलिक एवं जय-विजय शब्द उच्चारण किये जाने लगे। इस प्रकार कूणिक राजा औपपातिकसूत्र में कहे अनुसार यावत् उदायी नामक प्रधान हाथी पर आरूढ हुआ।

९. तए णं से कूणिए नरिंदे हारोत्थयसुकयरतियवच्छे जहा उववातिए जाव सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं हय-गय-रह-पवरजोहकलिताए चातुरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगरवंदपरिक्खित्ते जेणेव महासिलाकंटए संगामे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता महासिलकंटयं संगामं ओयाए, पुरओ य से सक्के देविंदे देवराया एगं महं अभेज्जकवयं वइरपडिरूवगं विउव्वित्ताणं चिट्ठति। एवं खलु दो इंदा संगामं संगामेंति, तं जहा—देविंदे य मणुइंदे य, एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया पराजिणित्तए।

[९] इसके बाद हारों से आच्छादित वक्षःस्थल वाला कूणिक जनमन में रति-प्रीति उत्पन्न करता हुआ औपपातिक सूत्र में कहे अनुसार यावत् श्वेत चामरों से बार-बार बिजाता हुआ, अश्व, हस्ती, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना से संपरिवृत्त (घिरा हुआ), महान् सुभटों के विशाल समूह से व्याप्त (परिक्षिप्त) कूणिक राजा, जहाँ महाशिलाकण्टक संग्राम (होने जा रहा) था, वहाँ आया। वहाँ आकर वह महाशिलाकण्टक संग्राम में (स्वयं) उतरा। उसके आगे देवराज देवेन्द्र शक्र वज्रप्रतिरूपक (वज्र के समान) अभेद्य एक महान् कवच की विकुर्वणा करके खड़ा हुआ। इस प्रकार (उस युद्धक्षेत्र में मानो) दो इन्द्र संग्राम करने लगे; जैसे कि—एक देवेन्द्र (शक्र) और दूसरा मनुजेन्द्र (कूणिक राजा)। अब कूणिक राजा केवल एक हाथी से भी (शत्रुपक्ष की सेना को) पराजित करने में समर्थ हो गया।

१०. तए णं से कूणिए राया महासिलाकंटकं संगामं संगामेमाणे नव मल्लई, नव लेच्छइ, कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो हयमहियपवरवीरघातियविवडियचिंधधय-पडागे किच्छप्पाण-गते दिसो दिसिं पडिसेहेत्था।

[१०] तत्पश्चात् उस कूणिक राजा ने महाशिलाकण्टक संग्राम करते हुए, नौ मल्लकी और नौ लेच्छकी; जो काशी और कोशल देश के अठारह गणराजा थे, उनके प्रवरवीर योद्धाओं को नष्ट किया, घायल किया और मार डाला। उनकी चिह्नांकित ध्वजा-पताकाएँ गिरा दीं। उन वीरों के प्राण संकट में पड़ गए, अतः उन्हें युद्धस्थल से दसों दिशाओं में भगा दिया (तितर-वितर कर दिया)।

विवेचन—महाशिलाकण्टक संग्राम के लिए कूणिकराजा की तैयारी और अठारह गणराजाओं पर विजय का वर्णन—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू-६ से १० तक) में कूणिकराजा की संग्राम के लिए तैयारी से लेकर अठारह गणराजाओं पर विजय का वर्णन है।

महाशिलाकण्टक संग्राम उपस्थित होने का कारण—यहाँ मूलपाठ में इस संग्राम के उपस्थित होने का कारण नहीं दिया है, किन्तु वृत्तिकार ने 'औपपातिक' 'निरयावलिका' आदि सूत्रों में समागत वर्णन के अनुसार संक्षेप में इस युद्ध का कारण इस प्रकार दिया है—चम्पानगरी में कूणिक राजा राज्य करता था। हल्ल और विहल्ल नाम के उसके दो छोटे भाई थे। उन दोनों को उनके पिता श्रेणिक राजा ने अपने जीवनकाल में उनके हिस्से का एक सेचानक गन्धहस्ती और अठारहसरा वंकचूड़ हार दिया था। ये दोनों भाई प्रतिदिन सेचानक गन्धहस्ती पर बैठ कर गंगातट पर जलक्रीड़ा और मनोरंजन करते थे। उनके इस आमोद-प्रमोद को देखकर कूणिक की रानी पद्मावती को अत्यन्त ईर्ष्या हुई। उसने कूणिक राजा को हल्ल-विहल्ल कुमार से सेचानक हाथी ले लेने के लिए प्रेरित किया। कूणिक ने हल्ल-विहल्ल कुमार से सेचानक हाथी मांगा। इस पर उन्होंने कहा—'यदि आप हाथी लेना चाहते हैं तो हमारे हिस्से का राज्य दे दीजिए।' किन्तु कूणिक उनकी न्यायसंगत बात की परवाह न करके बारबार हाथी मांगने लगा। इस पर दोनों भाई कूणिक के भय से भागकर अपने हाथी और अन्तःपुर सहित वैशाली नगरी में अपने मातामह चेटक राजा की शरण में पहुँचे। कूणिक ने नाना के पास दूत भेजकर हल्ल-विहल्ल कुमार को सौंप देने का सन्देश भेजा। किन्तु चेटक राजा ने हल्ल-विहल्ल को नहीं सौंपा। पुनः कूणिक ने दूत के साथ सन्देश भेजा कि यदि आप दोनों कुमारों को नहीं सौंपते हैं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। चेटक राजा ने न्यायसंगत बात कही, उस पर कूणिक ने कोई विचार नहीं किया। सीधा ही युद्ध में उतरने के लिए तैयार हो गया। यह था महाशिलाकण्टक युद्ध का कारण।[1]

महाशिलाकण्टक संग्राम में कूणिक की जीत कैसे हुई? चेटक राजा ने भी देखा कि कूणिक युद्ध किये बिना नहीं मानेगा। और जब उन्होंने सुना कि कूणिक ने युद्ध में सहायता के लिए 'काल' आदि विमातृजात दसों भाइयों को चेटक राजा के साथ युद्ध करने के लिए बुलाया है, तब उन्होंने भी शरणागत की रक्षा एवं न्याय के लिए अठारह गणराज्यों के अधिपति राजाओं को अपनी-अपनी

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३१६

(ख) औपपातिकसूत्र पत्रांक ६२, ६६, ७२

(ग) भगवती. (हिन्दीविवेचन युक्त) भाग-३, पृ-११९६ से ११९८

सेनासहित बुलाया। वे सब ससैन्य एकत्रित हुए। दोनों ओर की सेनाएँ युद्धभूमि में आ डटीं। घोर संग्राम शुरू हुआ। चेटक राजा का ऐसा नियम था कि वे दिन में एक ही बार एक ही बाण छोड़ते, और उनका छोड़ा हुआ बाण कभी निष्फल नहीं जाता था। पहले दिन कूणिक का भाई कालकुमार सेनापति बनकर युद्ध करने लगा, किन्तु चेटक राजा के एक ही बाण से वह मारा गया। इससे कूणिक की सेना भाग गई। इस प्रकार दस दिन में चेटकराजा ने कालकुमार आदि दसों भाइयों को मार गिराया। ग्यारहवें दिन कूणिक की बारी थी। कूणिक ने सोचा—'मैं भी दसों भाइयों की तरह चेटकराजा ने आगे टिक न सकूंगा। मुझे भी वे एक ही बाण में मार डालेंगे।' अतः उसने तीन दिन तक युद्ध स्थगित रखकर चेटकराजा को जीतने के लिए अष्टमतप (तेला) करके देवाराधना की। अपने पूर्वभव के मित्र देवों का स्मरण किया, जिससे शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र दोनों उसकी सहायता के लिए आए। शक्रेन्द्र ने कूणिक से कहा—चेटकराजा परम श्रावक है, इसलिए उसे मैं मारूंगा नहीं, किन्तु तेरी रक्षा करूंगा। अतः शक्रेन्द्र ने कूणिक की रक्षा करने के लिए वज्र सरीखे अभेद्य कवच की विकुर्वणा की और चमरेन्द्र ने महाशिलाकण्टक और रथमूसल, इन दो संग्रामों की विकुर्वणा की। इन दोनों इन्द्रों की सहायता के कारण कूणिक की शक्ति बढ़ गयी। वास्तव में इन्द्रों की सहायता से ही महाशिलाकण्टक संग्राम में कूणिक की विजय हुई, अन्यथा, विजय में संदेह था।[1]

महाशिलाकण्टक संग्राम के स्वरूप, उसमें मानवविनाश और उनकी मरणोत्तरगति का निरूपण—

११. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति 'महासिलाकंटए संगामे महासिलाकंटए संगामे' !

गोयमा ! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा हत्थी वा जोहे वा सारही वा तणेण वा कट्ठेण वा पत्तेण वा सक्कराए वा अभिहम्मति सव्वे से जाणति 'महासिलाए अहं अभिहते महासिलाए अहं अभिहते'; से तेणट्ठेणं गोयमा ! महासिलाकंटए संगामे महासिलाकंटए संगामे।

[११ प्र.] भगवन् ! इस 'महाशिलाकण्टक' संग्राम को महाशिलाकण्टक संग्राम क्यों कहा जाता है ?

[११ उ.] गौतम ! जब महाशिलाकण्टक संग्राम हो रहा था, तब उस संग्राम में जो भी घोड़ा, हाथी, योद्धा या सारथि आदि तृण से, काष्ठ से, पत्ते से या कंकर आदि से आहत होते, वे सब ऐसा अनुभव करते थे कि हम महाशिला (के प्रहार) से मारे गए हैं। (अर्थात्—महाशिला हमारे ऊपर आ पड़ी है।) हे गौतम ! इस कारण से इस संग्राम को महाशिलाकण्टक संग्राम कहा जाता है।

१२. महासिलाकंटए णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कति जणसतसाहस्सीओ वहियाओ ?

गोयमा ! चउरासीतिं जणसतसाहस्सीओ वहियाओ।

[१२ प्र.] भगवन् ! जब महाशिलाकण्टक संग्राम हो रहा था, तब उसमें कितने लाख मनुष्य मारे गए ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३१७

(ख) औपपातिक सूत्र, पत्रांक ६६

[१२ उ.] गौतम ! महाशिलाकण्टक-संग्राम में चौरासी लाख मनुष्य मारे गए।

१३. ते णं भंते ! मणुया निस्सीला जाव निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा सारुट्ठा परिकुविया समरवहिया अणुवसंता कालमासे कालं किच्चा कहिं गता ? कहिं उववन्ना ?

गोयमा ! ओसन्नं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववन्ना।

[१३ प्र.] भगवन् ! शीलरहित यावत् प्रत्याख्यान एवं पौषधोवास से रहित, रोष (आवेश) में भरे हुए, परिकुपित, युद्ध में घायल हुए और अनुपशान्त वे (युद्ध करने वाले) मनुष्य मृत्यु के समय मर कर कहाँ गए, कहाँ उत्पन्न हुए ?

[१३ उ.] गौतम ! ऐसे मनुष्य प्राय: नरक और तिर्यञ्चयोनियों में उत्पन्न हुए हैं।

विवेचन—महाशिलाकण्टक-संग्राम के स्वरूप, उसमें मानवविनाश एवं उनकी मरणोत्तरगति का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ११ से १३ तक) में महाशिलाकण्टक के स्वरूप तथा उसमें मृत मानवों की संख्या एवं उनकी गति के विषय में किये गए प्रश्नों का समाधान अंकित किया गया है।

फलितार्थ—युद्ध में धन, जन, संस्कृति और संतति के विनाश के अतिरिक्त सबसे बड़ी हानि शासकों द्वारा अपने अहंपोषण, राज्यविस्तार, वैभवप्राप्ति या ईर्ष्या को चरितार्थ करने के लिए युद्ध में झोंके हुए सैनिकों के अज्ञानवश, आवेशवश एवं त्याग-प्रत्याख्यानरहित मरण के कारण दुर्गति की प्राप्ति, मानव जैसे अमूल्य जन्म की असफलता है।

रथमूसलसंग्राम में जय-पराजय का, उसके स्वरूप का, तथा उसमें मृत मनुष्यों की संख्या, गति आदि का निरूपण—

१४. णायमेतं अरहया, सुतमेतं अरहता, विण्णायमेतं अरहता रहमुसले संगामे रहमुसले संगामे। रहमुसले णं भंते ! संगामे वट्टमाणे के जइत्था ? के पराजइत्था ?

गोयमा ! वज्जी विदेहपुत्ते चमरे य असुरिंदे असुरकुमारराया जइत्था, नव मल्लई नव लेच्छई पराजइत्था।

[१४ प्र.] भगवन् ! अर्हन्त भगवान् ने जाना है, इसे प्रत्यक्ष किया है और विशेपरूप से जाना है कि यह रथमूसलसंग्राम है। (अत: मेरा प्रश्न यह है कि) भगवन् ! यह रथमूसलसंग्राम जब हो रहा था, तब कौन जीता, कौन हारा ?

[१४ उ.] हे गौतम (वज्जी गण या वंश का विदेहपुत्र या) वज्री-इन्द्र और विदेहपुत्र (कूणिक) एवं असुरेन्द्र असुरराज चमर जीते और नौ मल्लकी और नौ लिच्छवी (ये अठारह गण) राजा हार गए।

१५. तए णं से कूणिए राया रहमुसलं संगामं उवट्ठितं०, सेसं जहा महासिलाकंटए. नवरं भूताणंदे हत्थिराया जाव रहमुसलं संगामं ओयाए, पुरतो य से सक्के देविंदे देवराया। एवं तहेव जाव चिट्ठति, मग्गतो य से चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया एगं महं आयसं किढिणपडिरूवगं विउव्वित्ताणं

चिट्ठति, एवं खलु तम्रो इंदा संगामं संगामेंति, तं जहा—देविंदे मणुइंदे असुरिंदे य। एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया जइत्तए तहेव जाव दिसो दिसिं पडिसेहेत्था।

[१५] तदनन्तर रथमूसल-संग्राम उपस्थित हुआ जान कर कूणिक राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया। इसके बाद का सारा वर्णन महाशिलाकण्टक की तरह यहाँ कहना चाहिए। इतना विशेष है कि यहाँ 'भूतानन्द' नामक हस्तिराज (पट्टहस्ती) है। यावत् वह कूणिक राजा रथमूसलसंग्राम में उतरा। उसके आगे देवेन्द्र देवराज शक्र है, यावत् पूर्ववत् सारा वर्णन कहना चाहिए। उसके पीछे असुरेन्द्र असुरराज चमर लोह के बने हुए एक महान् किठिन (वांस-निर्मित तापस पात्र) जैसे कवच की विकुर्वणा करके खड़ा है। इस प्रकार तीन इन्द्र संग्राम करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। यथा—देवेन्द्र (शक्र), मनुजेन्द्र (कूणिक) और असुरेन्द्र (चमर)। अब कूणिक केवल एक हाथी से सारी शत्रु-सेना को पराजित करने में समर्थ है। यावत् पहले कहे अनुसार उसने शत्रु राजाओं (की सेना) को दसों दिशाओं में भगा दिया।

१६. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'रहमुसले संगामे रहमुसले संगामे'?

गोयमा! रहमुसले णं संगामे वट्टमाणे एगे रहे अणासए असारहिए अणारोहए समुसले महताजणक्खयं जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वतो समंता परिधावित्था; से तेणट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे।

[१६ प्र.] भगवन्! इस 'रथमूसलसंग्राम' को रथमूसलसंग्राम क्यों कहा जाता है?

[१६ उ] गौतम! जिस समय रथमूसलसंग्राम हो रहा था, उस समय अश्वरहित, सारथि-रहित और योद्धाओं से रहित एक रथ केवल मूसलसहित, अत्यन्त जनसंहार, जनवध, जन-प्रमर्दन और जनप्रलय (संवर्तक) के समान रक्त का कीचड़ करता हुआ चारों ओर दौड़ता था। इसी कारण से उस संग्राम को 'रथमूसलसंग्राम' यावत् कहा गया है।

१७. रहमुसले णं भंते! संगामे वट्टमाणे कति जणसयसाहस्सीओ वहियाओ?

गोयमा! छण्णउतिं जणसयसाहस्सीओ वहियाओ।

[१७ प्र.] भगवन्! जब रथमूसलसंग्राम हो रहा था, तब उसमें कितने लाख मनुष्य मारे गए?

[१७ उ.] गौतम! रथमूसलसंग्राम में छियानवे लाख मनुष्य मारे गए।

१८. ते णं भंते! मणुया निस्सीला जाव (सु. १३) उववन्ना?

गोयमा! तत्थ णं दस साहस्सीओ एगाए मच्छियाए कुच्छिंसि उववन्नाओ, एगे देवलोगेसु उववन्ने, एगे सुकुले पच्चायाते, अवसेसा ओसन्नं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववन्ना।

[१८ प्र.] भगवन्! निःशील (शीलरहित) यावत् वे मनुष्य मृत्यु के समय मरकर कहाँ गए, कहाँ उत्पन्न हुए?

[१८ उ.] गौतम ! उनमें से दस हजार मनुष्य तो एक मछली के उदर में उत्पन्न हुए, एक मनुष्य देवलोक में उत्पन्न हुआ, एक मनुष्य उत्तम कुल (मनुष्यगति) में उत्पन्न हुआ, और शेष प्रायः नरक और तिर्यञ्चयोनियों में उत्पन्न हुए हैं।

१९. कम्हा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया, चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रण्णो साहज्जं दलइत्था ?

गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया पुव्वसंगतिए, चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया परियाय-संगतिए, एवं खलु गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया, चमरे य असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रण्णो साहज्जं दलइत्था।

[१९ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र और असुरेन्द्र असुरराज चमर, इन दोनों ने कूणिक राजा को किस कारण से सहायता (युद्ध में सहयोग) दी ?

[१९ उ.] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र तो कूणिक राजा का पूर्वसंगतिक (पूर्वभवसम्बन्धी—कार्तिक सेठ के भव में मित्र) था, और असुरेन्द्र असुरकुमार राजा चमर, कूणिक राजा का पर्याय-संगतिक (पूरण नामक तापस की अवस्था का साथी) मित्र था। इसीलिए, हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र और असुरेन्द्र असुरराज चमर ने कूणिक राजा को सहायता दी।

विवेचन—रथमूसलसंग्राम में जय-पराजय का, उसके स्वरूप का तथा उसमें मृत मनुष्यों की संख्या, गति आदि का निरूपण—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. १४ से १९ तक) में रथमूसलसम्बन्धी सारा वर्णन प्रायः पूर्वसूत्रोक्त महाशिलाकण्टक की तरह ही किया गया है।

ऐसे युद्धों में सहायता क्यों ?—इन महायुद्धों का वर्णन पढ़ कर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन्द्र जैसे सम्यग्दृष्टिसम्पन्न देवाधिपतियों ने कूणिक की अन्याययुक्त युद्ध में सहायता क्यों की ? इसी प्रश्न को शास्त्रकार ने उठाकर उसका समाधान दिया है। पूर्वभवसांगतिक और पर्याय-सांगतिक होने के कारण ही विवश होकर इन्द्रों तक को सहायता देने हेतु आना पड़ता है।

'संग्राम में मृत मनुष्य देवलोक में जाता है', इस मान्यता का खण्डनपूर्वक स्वसिद्धान्त-मण्डन—

२०. [१] बहुजणे णं भंते ! अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव परूवेति—एवं खलु बहवे मणुस्सा अन्नतरेसु उच्चावएसु संगामेसु अभिमुहा चेव पहया समाणा कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। से कहमेतं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं से बहुजणे अन्नमन्नस्स एवमाइक्खति जाव उववत्तारो भवंति, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—

[२०-१ प्र.] भगवन् ! बहुत-से (धर्मोपदेशक या पौराणिक) लोग परस्पर ऐसा कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि—अनेक प्रकार के छोटे-बड़े (उच्चावच) संग्रामों में से किसी भी संग्राम में सामना करते हुए (अभिमुख रहकर लड़ते हुए) आहत हुए एवं घायल हुए बहुत-से मनुष्य मृत्यु के समय मर कर किसी भी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। भगवन् ! ऐसा कैसे हो सकता है ?

[२०-१ उ.] गौतम ! वहुत-से मनुष्य, जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं, कि संग्राम में मारे गए मनुष्य, देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहने वाले मिथ्या कहते हैं। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ—

"[२] एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वेसाली नामं नगरी होत्था। वण्णग्रो। तत्थ णं वेसालीए णगरीए वरुणे नामं णागनत्तुए परिवसति अड्ढे जाव अपरिभूते समणोवासए अभिगत-जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति।"

[२०-२] गौतम ! उस काल और उस समय में वैशाली नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिकसूत्रोक्त (चम्पानगरी की तरह) जान लेना चाहिए। उस वैशाली नगरी में 'वरुण' नामक नागनप्तृक (नाग नामक गृहस्थ का नाती=दौहित्र या पौत्र) रहता था। वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत (किसी के आगे न दबने वाला—दबंग) व्यक्ति था। वह श्रमणोपासक था, और जीवा-जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता था, यावत् वह आहारादि द्वारा श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रतिलाभित करता हुआ तथा निरन्तर छठ-छठ की (वेले की) तपस्या द्वारा अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता था।

[३] तए णं से वरुणे णागनत्तुए अन्नया कयाई रायाभिग्रोगेणं गणाभिग्रोगेणं बलाभिग्रोगेणं रहमुसले संगामे ग्राणत्ते समाणे छट्ठभत्तिए, अट्ठमभत्तं अणुवट्टेति, अट्ठमभत्तं अणुवट्टेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वदासी—खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! चातुग्घंटं ग्रासरहं जुत्तामेव उवट्ठावेह हय-गय-रहपवर जाव सन्नाहेत्ता मम एतमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

[२०-३] एक वार राजा के अभियोग (आदेश) से, गण के अभियोग से तथा बल (बलवान्—जबर्दस्त व्यक्ति) के अभियोग से वरुण नागनप्तृक (नत्तुआ) को रथमूसलसंग्राम में जाने की आज्ञा दी गई। तब उसने षष्ठभक्त (वेले के तप) को बढ़ाकर अष्टभक्त (तेले का) तप कर लिया। तेले की तपस्या करके उसने अपने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया। और बुलाकर इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रियो ! चार घंटों वाला अश्वरथ, सामग्रीयुक्त तैयार करके शीघ्र उपस्थित करो। साथ ही अश्व, हाथी, रथ और प्रवर योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना को सुसज्जित करो, यावत् यह सब सुसज्जित करके मेरी आज्ञा मुझे वापस सौंपो।

"[४] तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सच्छत्तं सज्झयं जाव उवट्ठावेंति, हय-गय-रह जाव सन्नाहेंति, सन्नाहित्ता जेणेव वरुणे नागनत्तुए जाव पच्चप्पिणंति।

[२०-४] तदनन्तर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने उसकी आज्ञा स्वीकार एवं शिरोधार्य करके यथाशीघ्र छत्रसहित एवं ध्वजासहित चार घंटाओं वाला अश्वरथ, यावत् तैयार करके उपस्थित किया। साथ ही घोड़े, हाथी, रथ एवं प्रवर योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना को यावत् सुसज्जित किया। और ऐसा करके यावत् वरुण नागनत्तुआ को उसकी आज्ञा वापिस सौंपी।

"[५] तए णं से वरुणे नागनत्तुए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति जहा कूणिग्रो (सु. ८) जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिते सन्नद्धबद्ध० सकोरेंटमल्लदामेणं जाव धरिज्जमाणेणं

अणेगगणनायग जाव दूयसंधिवाल० सद्धि संपरिवुडे मज्जणघरातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चातुघंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चातुघंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहित्ता हय-गय-रह जाव संपरिवुडे महता भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जेणेव रहमुसले संगामे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रहमुसलं संगामं ओयाते।

[२०-५] तत्पश्चात् वह वरुण नागनप्तृक, जहाँ स्नानगृह था, वहाँ आया। इसके पश्चात् यावत् कौतुक और मंगलरूप प्रायश्चित्त (विघ्ननाशक) किया, सर्व अलंकारों से विभूषित हुआ, कवच पहना, कोरंटपुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र धारण किया, इत्यादि सारा वर्णन कूणिक राजा की तरह कहना चाहिए। फिर अनेक गणनायकों, दूतों और सन्धिपालों के साथ परिवृत होकर वह स्नानगृह से बाहर। निकल कर बाहर की उपस्थानशाला में आया और सुसज्जित चातुर्घण्ट अश्वरथ पर आरूढ हुआ। रथ पर आरूढ हो कर अश्व, गज, रथ और योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना के साथ, यावत् महान् सुभटों के समूह से परिवृत होकर जहाँ रथमूसल-संग्राम होने वाला था, वहाँ आया। वहाँ आकर वह रथमूसल-संग्राम में उतरा।

"[६] तए णं से वरुणे णागनत्तुए रहमुसलं संगामं ओयाते समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—कप्पति मे रहमुसलं संगामं संगामेमाणस्स जे पुव्वि पहणति से पडिहणित्तए, अवसेसे नो कप्पतीति। अयमेतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता रहमुसलं संगामं संगामेति।

[२०-६] उस समय रथमूसल-संग्राम में प्रवृत्त होने के साथ ही वरुण नागनप्तृक ने इस प्रकार इस रूप का अभिग्रह (नियम) किया—मेरे लिए यही कल्प (उचित नियम) है कि रथमूसल संग्राम में युद्ध करते हुए जो मुझ पर पहले प्रहार करेगा, उसे ही मुझे मारना (प्रहत करना) है, (अन्य) व्यक्तियों को नहीं। इस प्रकार यह अभिग्रह करके वह रथमूसल-संग्राम में प्रवृत्त हो गया।

"[७] तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स रहमुसलं संगामं संगामेमाणस्स एगे पुरिसे सरिसए सरिसत्तए सरिसव्वए सरिसभंडमत्तोवगरणे रहेणं पडिरहं हव्वमागते।

[२०-७] उसी समय रथमूसल-संग्राम में जूझते हुए वरुण नाग-नप्तृक के रथ के सामने प्रतिरथी के रूप में एक पुरुष शीघ्र ही आया, जो उसी के सदृश, उसी के समान त्वचा वाला था, उसी के समान उम्र का और उसी के समान अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणों से युक्त था।

"[८] तए णं से पुरिसे वरुणं णागणत्तुयं एवं वयासी—पहण भो! वरुणा! णागणत्तुया! पहण भो! वरुणा! णागणत्तुया! तए णं से वरुणे णागणत्तुए तं पुरिसं एवं वदासि—नो खलु मे कप्पति देवाणुप्पिया! पुव्वि अहयस्स पहणित्तए, तुमं चेव पुव्वं पहणाहि।

[२०-८] तब उस पुरुष ने वरुण नागनप्तृक को इस प्रकार (ललकारते हुए) कहा—"हे वरुण नागनत्तुआ! मुझ पर प्रहार कर, अरे, वरुण नागनत्तुआ! मुझ पर वार कर!" इस पर वरुण नागनत्तुआ ने उस पुरुष से यों कहा—"हे देवानुप्रिय! जो मुझ पर प्रहार न करे, उस पर पहले प्रहार करने का मेरा कल्प (नियम) नहीं है। इसलिए तुम (चाहो तो) पहले मुझ पर प्रहार करो।"

"[९] तए णं से पुरिसे वरुणेणं णागणत्तुएणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसति, परामुसित्ता उसुं परामुसति, उसुं परामुसित्ता ठाणं ठाति, ठाणं ठिच्चा आयतकण्णायतं उसुं करेति, आयतकण्णायतं उसुं करेत्ता वरुणं णागणत्तुयं गाढप्पहारीकरेति।

[२०-९] तदनन्तर वरुण नागनत्तुआ के द्वारा ऐसा कहने पर उस पुरुष ने शीघ्र ही क्रोध से लालपीला हो कर यावत् दांत पीसते हुए (मिसमिसाते हुए) अपना धनुष उठाया। फिर वाण उठाया। फिर धनुष पर यथास्थान बाण चढ़ाया। फिर अमुक आसन से अमुक स्थान पर स्थित होकर धनुप को कान तक खींचा। ऐसा करके उसने वरुण नागनत्तुआ पर गाढ़ प्रहार किया।

"[१०] तए णं से वरुणे णागणत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसति, धणुं परामुसित्ता उसुं परामुसति, उसुं परामुसित्ता आयतकण्णायतं उसुं करेति, आयतकण्णायतं उसुं करेत्ता तं पुरिसं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियातो ववरोवेति।

[२०-१०] इसके पश्चात् उस पुरुष द्वारा किये गए गाढ़ प्रहार से घायल हुए वरुण नागनत्तुआ ने शीघ्र कुपित होकर यावत् मिसमिसाते हुए धनुप उठाया। फिर उस पर वाण चढ़ाया और उस बाण को कान तक खींचा। ऐसा करके उस पुरुष पर छोड़ा। जैसे एक ही जोरदार चोट से पत्थर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार वरुण नागनप्तृक ने एक ही गाढ़ प्रहार से उस पुरुष को जीवन से रहित कर दिया।

"[११] तए णं से वरुणे नागणत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकते समाणे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु तुरए निगिण्हति, तुरए निगिण्हित्ता रहं परावत्तेइ, २ त्ता रहमुसलातो संगामातो पडिनिक्खमति, रहमुसलाओ संगामातो पडिणिक्खमेत्ता एगंतमंतं अवक्कमति, एगंतमंतं अवक्कमित्ता तुरए निगिण्हति, निगिण्हित्ता रहं ठवेति, २ त्ता रहातो पच्चोरुहति, रहातो पच्चोरुहित्ता रहाओ तुरए मोएति, २ तुरए विसज्जेति, विसज्जित्ता दब्भसंथारगं संथरेति, संथरित्ता दब्भसंथारगं दुरुहति, दब्भसं० दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयल जाव कट्टु एवं वयासी—नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं। नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आइगरस्स जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स। वंदामि णं भगवंतं तत्थगतं इहगते, पासउ मे से भगवं तत्थगते; जाव वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पुव्विं पि णं मए समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं थूलए पाणातिवाते पच्चक्खाए जावज्जीवाए एवं जाव थूलए परिग्गहे पच्चक्खाते जावज्जीवाए, इयाणिं पि णं अहं तस्सेव भगवतो महावीरस्स अंतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, एवं जहा खंदओ (स० २ उ० १ सु० ५०) जाव एतं पि णं चरिमेहिं उस्साह-णिस्सासेहिं 'वोसिरिस्सामि' त्ति कट्टु सन्नाहपट्टं मुयति, सन्नाहपट्टं मुइत्ता सल्लुद्धरणं करेति, सल्लुद्धरणं करेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगते।

[२०-११] तत्पश्चात् उस पुरुष के गाढ़ प्रहार से सख्त घायल हुआ वरुण नागनप्तृक अशक्त, अवल, अवीर्य, पुरुषार्थ एवं पराक्रम से रहित हो गया। अतः 'अब मेरा शरीर टिक नहीं सकेगा' ऐसा

समझकर उसने घोड़ों को रोका, घोड़ों को रोक कर रथ को वापिस फिराया और रथमूसलसंग्राम-स्थल से बाहर निकल गया। संग्रामस्थल से बाहर निकल कर एकान्त स्थान में आकर रथ को खड़ा किया। फिर रथ से नीचे उतर कर उसने घोड़ों को छोड़ कर विसर्जित कर दिया। फिर दर्भ (डाभ) का संथारा (बिछौना) बिछाया और पूर्वदिशा की ओर मुंह करके दर्भ के संस्तारक पर पर्यंकासन से बैठा। और दोनों हाथ जोड़ कर यावत् इस प्रकार कहा—अरिहन्त भगवन्तों को, यावत् जो सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं, नमस्कार हो। मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो, जो धर्म की आदि करने वाले यावत् सिद्धगति प्राप्त करने के इच्छुक हैं। यहाँ रहा हुआ मैं वहाँ (दूर स्थान पर) रहे हुए भगवान् को वन्दन करता हूँ। वहाँ रहे हुए भगवान् मुझे देखें। इत्यादि कहकर यावत् उसने वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—पहले मैंने श्रमण भगवान् महावीर के पास स्थूल प्राणातिपात का जीवनपर्यन्त प्रत्याख्यान किया था, यावत् स्थूल परिग्रह का जीवनपर्यन्त प्रत्याख्यान किया था, किन्तु अब मैं उन्हीं अरिहन्त भगवान् महावीर के पास (साक्षी से) सर्व प्राणातिपात का जीवनपर्यन्त प्रत्याख्यान करता हूँ। इस प्रकार स्कन्दक की तरह (अठारह ही पापस्थानों का सर्वथाप्रत्याख्यान कर दिया।) फिर इस शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास के साथ व्युत्सर्ग (त्याग) करता हूँ, यों कह कर उसने सन्नाहपट (कवच) खोल दिया। कवच खोल कर लगे हुए वाण को वाहर खींचा। वाण शरीर से बाहर निकाल कर उसने आलोचना की, प्रतिक्रमण किया, और समाधि-युक्त होकर मरण प्राप्त किया।

"[१२] तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स एगे पियबालवयंसए रहमुसलं संगामं संगामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले जाव अधारणिज्जमिति कट्टु वरुणं नागनत्तुयं रहमुसलातो संगामातो पडिनिक्खममाणं पासति, पासित्ता तुरए निगिण्हति, तुरए निगिण्हित्ता जहा वरुणे नागनत्तुए जाव तुरए विसज्जेति, विसज्जित्ता दब्भसंथारगं दुरुहति, दब्भसंथारगं दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अंजलिं कट्टु एवं वदासी—जाइं णं भंते ! मम पियबालवयंसस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स सीलाइं वताइं गुणाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणपोसहोववासाइं ताइं णं ममं पि भवंतु त्ति कट्टु सन्नाहपट्टं मुयइ, सन्नाहपट्टं मुइत्ता सल्लुद्धरणं करेति, सल्लुद्धरणं करेत्ता आणुपुव्वीए कालगते।

[२०-१२] उस वरुण नागनत्तुआ का एक प्रिय बालमित्र भी रथमूसलसंग्राम में युद्ध कर रहा था। वह भी एक पुरुष द्वारा प्रबल प्रहार करने से घायल हो गया। इससे अशक्त, अबल, यावत् पुरुषार्थ-पराक्रम से रहित बने हुए उसने सोचा—अब मेरा शरीर टिक नहीं सकेगा। जब उसने वरुण नागनत्तुआ को रथमूसलसंग्राम-स्थल से बाहर निकलते हुए देखा, तो वह भी अपने रथ को वापिस फिरा कर रथमूसलसंग्राम से बाहर निकला, घोड़ों को रोका और जहाँ वरुण नागनत्तुआ ने घोड़ों को रथ से खोलकर विसर्जित किया था, वहाँ उसने भी घोड़ों को विसर्जित कर दिया। फिर दर्भ के संस्तारक को बिछा कर उस पर बैठा। दर्भसंस्तारक पर बैठकर पूर्वदिशा की ओर मुख करके यावत् दोनों हाथ जोड़ कर यों बोला—'भगवन् ! मेरे प्रिय बालमित्र वरुण नागनप्तृक के जो शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास हैं, वे सब मेरे भी हों', इस प्रकार कह कर उसने कवच खोला। कवच खोलकर शरीर में लगे हुए बाण को बाहर निकाला। इस प्रकार करके वह भी क्रमशः समाधियुक्त होकर कालधर्म को प्राप्त हुआ।

"[१३] तए णं तं वरुणं नागणत्तुयं कालगयं जाणित्ता अहासन्निहितेहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं दिव्वे सुरभिगंधोदगवासे वुट्ठे, दसद्धवण्णे कुसुमे निवाडिए, दिव्वे य गीयगंधव्वनिनादे कते यावि होत्था।

[२०-१३] तदनन्तर उस वरुण नागनत्तुआ को कालधर्म प्राप्त हुआ जान कर निकटवर्ती वाणव्यन्तर देवों ने उस पर सुगन्धितजल की वृष्टि की, पांच वर्ण के फूल वरसाए और दिव्यगीत एवं गन्धर्व-निनाद भी किया।

"[१४] तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स तं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभागं सुणित्ता य पासित्ता य बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेति—एवं खलु देवाणुप्पिया! बहवे मणुस्सा जाव उववत्तारो भवंति"।

[२०-१४] तब से उस वरुण नागनत्तुआ की उस दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवप्रभाव को सुन कर और जान कर बहुत-से लोग परस्पर इस प्रकार कहने लगे, यावत् प्ररूपणा करने लगे कि—'देवानुप्रियो! जो संग्राम करते हुए बहुत-से मनुष्य मरते हैं, यावत् वे देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।"

विवेचन—'संग्राम में मृत्यु प्राप्त मनुष्य देवलोक में जाता है' इस मान्यता का खण्डन—प्रस्तुत २० वें सूत्र में वरुण नागनत्तुआ का प्रत्यक्ष उदाहरण दे कर 'युद्ध में मरने वाले सभी देवलोक में जाते हैं' इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण और भ्रान्त धारणा का कारण अंकित किया है।

फलितार्थ—भगवान् महावीर के युग में एक मान्यता यह थी कि युद्ध में मरने वाले—वीरगति पाने वाले—स्वर्ग में जाते हैं। इसी मान्यता की प्रतिच्छाया भगवद्गीता (अ. २, श्लोक ३२, ३७) में इस प्रकार से है—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

अर्थात्—'हे अर्जुन! अनायास ही (युद्ध के कारण) स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। सुखी क्षत्रिय ही ऐसे युद्ध करने का लाभ पाते हैं।

यदि युद्ध में मर गए तो मर कर स्वर्ग पाओगे, और अगर विजयी बन गए तो पृथ्वी का उपभोग (राजा बन कर) करोगे। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! कृतनिश्चय हो करके युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।'

प्रस्तुत सूत्र में वरुण नागनत्तुआ और उसके बालमित्र का उदाहरण प्रस्तुत करके भगवान् ने इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण कर दिया कि केवल संग्राम करने से या युद्ध में मरने से किसी को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, अपितु अज्ञानपूर्वक तथा त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान से रहित होकर असमाधिपूर्वक मरने से प्रायः नरक या तिर्यंचगति ही मिलती है। अतः संग्राम करने वाले को संग्राम करने से अथवा उसमें मरने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, अपितु न्यायपूर्वक संग्राम करने के बाद जो संग्रामकर्ता अपने

दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करता है, आलोचन, प्रतिक्रमण करके शुद्ध हो कर समाधिपूर्वक मरता है, वही स्वर्ग में जाता है।[1]

वरुण की देवलोक में और उसके मित्र की मनुष्यलोक में उत्पत्ति और अन्त में दोनों की महाविदेह में सिद्धि का निरूपण—

२१. वरुणे णं भंते ! नागनत्तुए कालमासे कालं किच्चा कहिं गते ? कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। तत्थ णं वरुणस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता।

[२१-प्र.] भगवन् वरुण नागनत्तुआ मृत्यु के समय में कालधर्म पा कर कहाँ गया, कहाँ उत्पन्न हुआ ?

[२१-उ.] गौतम ! वह सौधर्मकल्प (देवलोक) में अरुणाभ नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ है। उस देवलोक में कतिपय देवों की चार पल्योपम की स्थिति (आयु) कही गई है। अतः वहाँ वरुण-देव की स्थिति भी चार पल्योपम की है।

२२. से णं भंते ! वरुणे देवे ताओ देवलोगातो आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं० ?

जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

[२२-प्र.] भगवन् ! वह वरुण देव उस देवलोक से आयु-क्षय होने पर, भव-क्षय होने पर तथा स्थिति-क्षय होने पर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[२२-उ.] गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सिद्ध होगा, यावत् सभी दुःखों का अन्त करेगा।

२३. वरुणस्स णं भंते णागणत्तुयस्स पियबालवयंसए कालमासे कालं किच्चा कहिं गते ? कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सुकुले पच्चायाते।

[२३-प्र.] भगवन् ! वरुण नागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र काल के अवसर पर कालधर्म पा कर कहाँ गया ?, कहाँ उत्पन्न हुआ ?

[२३-उ.] गौतम ! वह सुकुल में (मनुष्यलोक में अच्छे कुल में) उत्पन्न हुआ है।

२४. से णं भंते ! ततोहिंतो अणंतरं उवट्टित्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ३०७ का टिप्पण

(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा-१, पृ. २०३

(ग) भगवद्गीता अ. २, श्लो. ३२, ३७

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ सत्तमसए : नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[२४-प्र.] भगवन् ! वह (वरुण का बालमित्र) वहाँ से (आयु आदि का क्षय होने पर) काल करके कहाँ जाएगा ?, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[२४-उ.] गौतम ! वह भी महाविदेहक्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर, गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे ।

विवेचन—वरुण की देवलोक में और उसके मित्र की मनुष्यलोक में उत्पत्ति और अन्त में दोनों की महाविदेह से सिद्धि का निरूपण—पूर्वोक्त दोनों आराधक योद्धाओं के उज्ज्वल भविष्य का इन चार सूत्रों द्वारा प्रतिपादन किया गया है ।

निष्कर्ष—रथमूसलसंग्राम में ९६ लाख मनुष्य मारे गए । उनमें से एक वरुण नागनत्तुआ देवलोक में गया और उसका बालमित्र मनुष्यगति में गया, शेष सभी प्रायः नरक या तिर्यंचगति के मेहमान बने ।

॥ सप्तम शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

दसमो उद्देसओ : 'अन्नउत्थिय'

दशम उद्देशक : 'अन्ययूथिक'

अन्यतीर्थिक कालोदायी की पंचास्तिकाय-चर्चा और सम्बुद्ध होकर प्रव्रज्या स्वीकार—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। गुणसिलए चेइए। वण्णओ। जाव पुढविसिलापट्टए।

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन करना चाहिए। वहाँ गुणशीलक नामक चैत्य था। उसका वर्णन भी समझ लेना चाहिए। यावत् (एक) पृथ्वीशिलापट्टक था। उसका वर्णन.....।

२. तस्स णं गुणसिलयस्स चेतियस्स अदूरसामंते बहवे अन्नउत्थिया परिवसंति; तं जहा—कालोदाई सेलोदाई सेवालोदाई उदए णामुदए नम्मुदए अन्नवालए सेलवालए संखवालए सुहत्थी गाहावई।

[२] उस गुणशीलक चैत्य के पास थोड़ी दूर पर बहुत-से अन्यतीर्थी रहते थे। यथा—कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ती गृहपति।

३. तए णं तेसिं अन्नउत्थियाणं अन्नया कयाई एगयओ सहियाणं समुवागताणं सन्निविट्ठाणं सन्निसण्णाणं अयमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—"एवं खलु समणे णातपुत्ते पंच अत्थिकाए पण्णवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं। तत्थ णं समणे णातपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पण्णवेति, तं०—धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं पोग्गलत्थिकायं। एगं च समणे णायपुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पन्नवेति। तत्थ णं समणे णायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पन्नवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवत्थिकायं। एगं च णं समणे णायपुत्ते पोग्गलत्थिकायं रूविकायं अजीवकायं पन्नवेति। से कहमेतं मन्ने एवं ?।

[३] तत्पश्चात् किसी समय वे सब अन्यतीर्थिक एक स्थान पर आए, एकत्रित हुए और सुखपूर्वक भलीभांति बैठे। फिर उनमें परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप प्रारम्भ हुआ—'ऐसा (सुना) है कि श्रमण ज्ञातपुत्र (महावीर) पांच अस्तिकायों का निरूपण करते हैं; यथा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें से चार अस्तिकायों को श्रमण ज्ञातपुत्र 'अजीव-काय' बताते हैं। जैसे कि—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। एक जीवास्तिकाय को श्रमण ज्ञातपुत्र 'अरूपी' और जीवकाय बतलाते हैं। उन पांच अस्तिकायों में से चार अस्तिकायों को श्रमण ज्ञातपुत्र अरूपीकाय बतलाते हैं। जैसे कि—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय। केवल एक पुद्गलास्तिकाय को ही श्रमण ज्ञातपुत्र रूपीकाय और अजीवकाय कहते हैं। उनकी यह बात कैसे मानी जाए ?

४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव गुणसिलए समोसढे जाव परिसा पडिगता।

[४] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर यावत् गुणशीलक चैत्य में पधारे, वहाँ उनका समवसरण लगा। यावत् परिषद् (धर्मोपदेश सुनकर) वापिस चली गई।

५. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोतमगोत्ते णं जहा बितियसते नियंठुद्देसए (श० २ उ० ५ सू० २१-२३) जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्त-पाणं पडिग्गाहित्ता रायगिहातो जाव अतुरियमचवलमसंभंते जाव रियं सोहेमाणे सोहेमाणे तेसिं अन्नउत्थियाणं अदूरसामंतेणं वीइवयति।

[५] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, दूसरे शतक के निर्ग्रन्थ उद्देशक में कहे अनुसार भिक्षाचरी के लिए पर्यटन करते हुए यथापर्याप्त आहार-पानी ग्रहण करके राजगृह नगर से यावत् त्वराहित, चपलतारहित, सम्भ्रान्ततारहित, यावत् ईर्यासमिति का शोधन करते-करते अन्यतीर्थिकों के पास से होकर निकले।

६. [१] तए णं ते अन्नउत्थिया भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीइवयमाणं पासंति, पासेत्ता अन्नमन्नं सद्दावेंति, अन्नमन्नं सद्दावेत्ता एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमा कहा अविप्प-कडा, अयं च णं गोतमे अम्हं अदूरसामंतेणं वीतीवयति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं गोतमं एयमट्ठं पुच्छित्तए" त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता भगवं गोतमं एवं वदासी—एवं खलु गोयमा! तव धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे णायपुत्ते पंच अत्थिकाए पण्णवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं, तं चेव रूविकायं अजीवकायं पण्णवेति, से कहमेयं भंते! गोयमा! एवं?

[६-१] तत्पश्चात् उन अन्यतीर्थिकों ने भगवान् गौतम को थोड़ी दूर से जाते हुए देखा। देखकर उन्होंने एक दूसरे को बुलाया। बुला कर एक दूसरे से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! बात ऐसी है कि (पंचास्तिकाय सम्बन्धी) यह बात हमारे लिए अप्रकट—अज्ञात है। यह (इन्द्रभूति) गौतम हमसे थोड़ी ही दूर पर जा रहे हैं। इसलिए हे देवानुप्रियो! हमारे लिए गौतम से यह अर्थ (बात) पूछना श्रेयस्कर है; ऐसा विचार करके उन्होंने परस्पर (एक दूसरे से) इस सम्बन्ध में परामर्श किया। परामर्श करके जहाँ भगवान् गौतम थे, वहाँ उनके पास आए। पास आ कर उन्होंने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा—

[प्र.] हे गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पंच अस्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं। जैसे कि—धर्मास्तिकाय यावत् आकाशास्तिकाय। यावत् 'एक पुद्गलास्तिकाय को ही श्रमण ज्ञातपुत्र रूपीकाय और अजीवकाय कहते हैं'; यहाँ तक (पहले की हुई) अपनी सारी चर्चा उन्होंने गौतम से कही। फिर पूछा—'हे भदन्त गौतम! यह बात ऐसे कैसे है?'

[२] तए णं से भगवं गोतमे ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—"नो खलु वयं देवाणुप्पिया ! अत्थिभावं 'नत्थि' त्ति वदामो, नत्थिभावं 'अत्थि' त्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिभावं 'अत्थी' ति वदामो, सव्वं नत्थिभावं 'नत्थी' ति वदामो। तं चेदसा खलु तुब्भे देवाणुप्पिया ! एतमट्ठं सयमेव पच्चुविक्खह" त्ति कट्टु ते अन्नउत्थिए एवं वदति। एवं वदित्ता जेणेव गुणसिलए चेतिए जेणेव समणे० एवं जहा नियंठुद्देसए (श० २ उ० ५ सू० २५ [१]) जाव भत्त-पाणं पडिदंसेति, भत्त-पाणं पडिदंसेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने जाव पज्जुवासति।

[६-२ उ.] इस पर भगवान् गौतम ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! हम अस्तिभाव (विद्यमान) को नास्ति (नहीं है), ऐसा नहीं कहते, इसी प्रकार 'नास्तिभाव' (अविद्यमान) को अस्ति (है) ऐसा नहीं कहते। हे देवानुप्रियो ! हम सभी अस्तिभावों को अस्ति (है), ऐसा कहते हैं और समस्त नास्तिभावों को नास्ति (नहीं है), ऐसा कहते हैं। अतः हे देवानुप्रियो ! आप स्वयं अपने ज्ञान (अथवा मन) से इस बात (अर्थ) पर अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करिये।' इस प्रकार कह कर श्री गौतमस्वामी ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा—जैसा भगवान् बतलाते हैं, वैसा ही है।' इस प्रकार कह कर श्री गौतमस्वामी गुणशीलक चैत्य में जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास आए। और द्वितीय शतक के निर्ग्रन्थ उद्देशक (सू-२५-१) में बताये अनुसार यावत् आहार-पानी (भक्त-पान) भगवान् को दिखलाया। भक्तपान दिखला कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उनसे न बहुत दूर और न बहुत निकट रह कर यावत् उपासना करने लगे।

७. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे महाकहापडिवन्ने यावि होत्था, कालोदाई य तं देसं हव्वमागए।

[७] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर महाकथा-प्रतिपन्न (बहुत-से जन-समूह को धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त) थे। उसी समय कालोदायी उस स्थल (प्रदेश) में आ पहुँचा।

८. 'कालोदाई' ति समणे भगवं महावीरे कालोदाइं एवं वदासी—"से नूणं ते कालोदाई ! अन्नया कयाई एगयओ सहियाणं समुवागताणं सन्निविट्ठाणं तहेव (सू० ३) जाव से कहमेतं मन्ने एवं ? से नूणं कालोदाई ! अत्थे समट्ठे ? हंता, अत्थि। तं सच्चे णं एसमट्ठे कालोदाई !, अहं पंच अत्थिकाए पण्णवेमि, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं। तत्थ णं अहं चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पण्णवेमि तहेव जाव एगं च णं अहं पोग्गलत्थिकायं रूविकायं पण्णवेमि"।

[८] 'हे कालोदायी !' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने कालोदायी से इस प्रकार पूछा—'हे कालोदायी ! क्या वास्तव में, किसी समय एक जगह सभी साथ आए हुए और एकत्र सुखपूर्वक बैठे हुए तुम सब में पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार हुआ था कि यावत् 'यह बात कैसे मानी जाए ?' हे कालोदायिन् ! क्या यह बात यथार्थ है ?' (कालोदायी—) 'हाँ, यथार्थ है।'

(भगवान्—) 'हे कालोदायी ! पंचास्तिकायसम्बन्धी यह बात सत्य है। मैं धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय-पर्यन्त पंच अस्तिकाय की प्ररूपणा करता हूँ। उनमें से चार अस्तिकायों को मैं अजीवकाय बतलाता हूँ। यावत् पूर्व कथितानुसार एक पुद्गलास्तिकाय को मैं रूपीकाय (अजीव-काय) बतलाता हूँ।'

९. तए णं से कालोदाई समणं भगवं महावीरं एवं वदासी—एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायंसि अधम्मत्थिकायंसि आगासत्थिकायंसि अरूविकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीदित्तए वा तुयट्टित्तए वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे कालोदाई ! । एगंसि णं पोग्गलत्थिकायंसि रूविकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा ।

[९ प्र.] तब कालोदायी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन अरूपी अजीवकायों पर कोई बैठने, सोने, खड़े रहने, नीचे बैठने यावत् करवट बदलने, आदि क्रियाएँ करने में समर्थ है ?'

[९ उ] हे कालोदायिन् ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। एक पुद्गलास्तिकाय ही रूपी अजीवकाय है. जिस पर कोई भी बैठने, सोने, या यावत् करवट बदलने, आदि क्रियाएँ करने में समर्थ है।

१०. एयंसि णं भंते ! पोग्गलत्थिकायंसि रूविकायंसि अजीवकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे कालोदाई ! ।

[१० प्र.] भगवन् ! जीवों को पापफलविपाक से संयुक्त करने वाले (अशुभफलदायक) पापकर्म, क्या इस रूपीकाय और अजीवकाय को लगते हैं ? क्या इस रूपीकाय और अजीवकायरूप पुद्गलास्तिकाय में पापकर्म लगते हैं ?

[१० उ.] कालोदायिन् ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—रूपी अजीव पुद्गलास्तिकाय को, जीवों को पापफलविपाकयुक्त करने वाले पापकर्म नहीं लगते।)

११. एयंसि णं जीवत्थिकायंसि अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

हंता, कज्जंति ।

[११ प्र.] (भगवन् !) क्या इस अरूपी (काय) जीवास्तिकाय में जीवों को पापफलविपाक से युक्त पापकर्म लगते हैं ?

[११ उ.] हाँ (कालोदायिन् !) लगते हैं। (अर्थात्—अरूपी जीवास्तिकाय में ही जीव पापफलकर्म से संयुक्त होते हैं।)

१२. एत्थ णं से कालोदाई संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामित्तए एवं जहा खंदए (श० २ उ० १ सू० ३२-४५) तहेव पव्वइए, तहेव एक्कारस अंगाइं जाव विहरति।

[१२] (भगवान् द्वारा समाधान पाकर) कालोदायी सम्बुद्ध (बोधि को प्राप्त) हुआ। फिर उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उसने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं आपसे धर्म-श्रवण करना चाहता हूँ।'

भगवान् ने उसे धर्म-श्रवण कराया। फिर जैसे स्कन्दक ने भगवान् से प्रव्रज्या अंगीकार की थी (श. २ उ. १ सू. ३२-४५) वैसे ही कालोदायी भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ। उसी प्रकार उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया;……यावत् कालोदायी अनगार विचरण करने लगे।

विवेचन—अन्यतीर्थिक कालोदायी की पंचास्तिकायचर्चा और सम्बुद्ध होकर प्रव्रज्या-स्वीकार—प्रस्तुत उद्देशक के प्रारम्भ से लेकर १२ सूत्रों में कालोदायी का अनगार के रूप में प्रव्रजित होने तक का घटनाक्रम प्रतिपादित किया गया है।

कालोदायी के जीवनपरिवर्तन का घटनाचक्र—(१) कालोदायी आदि अन्यतीर्थिक साथियों का पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में वार्तालाप, (२) श्री गौतमस्वामी को पास से जाते देख, पंचास्तिकाय सम्बन्धी भगवान् की मान्यता के सम्बन्ध में उनसे पूछा, (३) उन्होंने कालोदायी आदि की पञ्चास्तिकाय-सम्बन्धी मान्यता भगवत्सम्मत वताई, (४) जिज्ञासावश कालोदायी ने भगवान् का साक्षात्कार करके पुनः समाधान प्राप्त किया, पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में अन्य प्रश्न किये, (५) संतोषजनक उत्तर पाकर वह सम्बोधि-प्राप्त हुआ, (६) भगवान् से उसने धर्म-श्रवण की इच्छा प्रकट की, धर्मोपदेश सुना, स्कन्दक की तरह संसारविरक्त होकर प्रव्रजित हुआ, (७) कालोदायी अनगार ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और विचरण करने लगा।[1]

जीवों के पापकर्म और कल्याणकर्म क्रमशः पाप-कल्याण-फल-विपाकसंयुक्त होने का सदृष्टान्त निरूपण—

१३. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहातो णगरातो गुणसिल० पडिनिक्खमति, २ बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[१३] किसी समय श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशीलक चैत्य से निकल कर वाहर जनपदों में विहार करते हुए विचरण करने लगे।

१४. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे, गुणसिलए चेइए। तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ जाव समोसढे, परिसा जाव पडिगता।

[१४] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। (नगर के वाहर) गुणशीलक नामक चैत्य था। किसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पुनः वहाँ पधारे यावत् उनका समवसरण लगा। यावत् परिषद् धर्मोपदेश सुन कर लौट गई।

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ. ३१२ से ३१५ तक

१५. तए णं से कालोदाई अणगारे अन्नया कयाई जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासि—अत्थि णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

हंता, अत्थि।

[१५ प्र.] तदनन्तर अन्य किसी समय कालोदायी अनगार, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ उनके पास आए और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—

भगवन् ! क्या जीवों को पापफलविपाक से संयुक्त पाप-कर्म लगते हैं ?

[१५ उ.] हाँ, (कालोदायिन् !) लगते हैं।

१६. कहं णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

कालोदाई ! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाकुलं विससंमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाते भद्दए भवति, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए (स० ६ उ० ३ सु० २ [१]) जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, तस्स णं आवाते भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग० जाव कज्जंति।

[१६ प्र.] भगवन् ! जीवों को पापफलविपाकसंयुक्त पापकर्म कैसे लगते हैं ?

[१६ उ.] कालोदायिन् ! जैसे कोई पुरुष सुन्दर स्थाली (हांडी, तपेली या देगची) में पकाने से शुद्ध पका हुआ, अठारह प्रकार के दाल, शाक आदि व्यंजनों से युक्त विषमिश्रित भोजन का सेवन करता है। वह भोजन उसे आपात (ऊपर-ऊपर से या प्रारम्भ) में अच्छा लगता है, किन्तु उसके पश्चात् वह भोजन परिणमन होता-होता खराब रूप में, दुर्गन्धरूप में यावत् छठे शतक के महाश्रव नामक तृतीय उद्देशक (सू. २-१) में कहे अनुसार यावत् बार-बार अशुभ परिणाम प्राप्त करता है। हे कालोदायिन् ! इसी प्रकार जीवों को प्राणातिपात से लेकर यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापस्थान का सेवन ऊपर-ऊपर से प्रारम्भ में तो अच्छा लगता है, किन्तु बाद में जब उनके द्वारा बांधे हुए पापकर्म उदय में आते हैं, तब वे अशुभरूप में परिणत होते-होते, दुरूपपने में, दुर्गन्धरूप में यावत् बार-बार अशुभ परिणाम पाते हैं। हे कालोदायिन् ! इस प्रकार से जीवों के पापकर्म अशुभफलविपाक से युक्त होते हैं।

१७. अत्थि णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

हंता, कज्जंति।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के कल्याण (शुभ) कर्म कल्याणफलविपाक सहित होते हैं ?

[१७ उ.] हाँ, कालोदायिन् ! होते हैं।

१८. कहं णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति ?

कालोदाई ! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाकुलं ओसह-सम्मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाते णो भद्दए भवति, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति । एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणातिवातवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ; एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति ।

[१८ प्र.] भगवन् ! जीवों के कल्याणकर्म, कल्याणफलविपाक से संयुक्त कैसे होते हैं ?

[१८ उ.] कालोदायिन् ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ (सुन्दर) स्थाली (हांडी, तपेली या देगची) में पकाने से शुद्ध पका हुआ और अठारह प्रकार के दाल, शाक आदि व्यंजनों से युक्त औषधमिश्रित भोजन करता है, तो वह भोजन ऊपर-ऊपर से प्रारम्भ में अच्छा न लगे, परन्तु बाद में परिणत होता-होता जब वह सुरूपत्व रूप में, सुवर्णरूप में यावत् सुख (या शुभ) रूप में बार-बार परिणत होता है, तब वह दुःखरूप में परिणत नहीं होता; इसी प्रकार हे कालोदायिन् ! जीवों के लिए प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण, क्रोधविवेक (क्रोधत्याग) यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक प्रारम्भ में अच्छा नहीं लगता, किन्तु उसके पश्चात् उसका परिणमन होते-होते सुरूपत्व रूप में, सुवर्णरूप में उसका परिणाम यावत् सुखरूप होता है, दुःखरूप नहीं होता । इसी प्रकार हे कालोदायिन् ! जीवों के कल्याण (पुण्य) कर्म कल्याणफलविपाक-संयुक्त होते हैं ।

विवेचन—जीवों के पापकर्म और कल्याणकर्म क्रमशः पापकल्याणफलविपाक-संयुक्त होने का सदृष्टान्त निरूपण—प्रस्तुत छह सूत्रों में कालोदायी अनगार द्वारा पापकर्म और कल्याणकर्म के फल से सम्बन्धित चार प्रश्नों का भगवान् द्वारा दिया गया दृष्टान्तपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

निष्कर्ष—जिस प्रकार सर्वथा सुसंस्कृत एवं शुद्ध रीति से पकाया हुआ विषमिश्रित भोजन खाते समय बड़ा रुचिकर लगता है, किन्तु जब उसका परिणमन होता है, तब वह अत्यन्त अप्रीति-कर, दुःखद और प्राणविनाशकारक होता है । इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पापकर्म करते समय जीव को अच्छे लगते हैं, किन्तु उनका फल भोगते समय वे बड़े दुःखदायी होते हैं । औषधयुक्त भोजन करना कष्टकर लगता है, उस समय उसका स्वाद अच्छा नहीं लगता, किन्तु उसका परिणाम हित-कर, सुखकर और आरोग्यकर होता है । इसी प्रकार प्राणातिपातादि से विरति कष्टकर एवं अरुचि-कर लगती है, किन्तु उसका परिणाम अतीव हितकर और सुखकर होता है ।[1]

अग्निकाय को जलाने और बुझानेवालों में से महाकर्म आदि और अल्पकर्मादि से संयुक्त कौन और क्यों ?

१९ [१] दो भंते ! पुरिसा सरिसया जाव सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति ।

१. भगवती, अ. वृत्ति, पत्रांक ३२६

एतेसि णं भंते ! दोण्हं पुरिसाणं कतरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव, महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदणतराए चेव ? कतरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेदणतराए चेव ? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति ?

कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेदणतराए चेव। तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! (मान लीजिए) समान उम्र के यावत् समान ही भाण्ड, पात्र और उपकरण वाले दो पुरुष, एक दूसरे के साथ अग्निकाय का समारम्भ करें; (अर्थात्—) उनमें से एक पुरुष अग्निकाय को जलाए और एक पुरुष अग्निकाय को बुझाए; तो हे भगवन् ! उन दोनों पुरुषों में से कौन-सा पुरुष महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, महा-आश्रव वाला और महावेदना वाला है और कौन-सा पुरुष अल्पकर्म वाला, अल्पक्रिया वाला, अल्प-आश्रव वाला और अल्पवेदना वाला होता है ? (अर्थात्—दोनों में से जो अग्नि जलाता है, वह महाकर्म आदि वाला होता है, या जो आग बुझाता है, वह महाकर्मादि युक्त होता है ?)

[१९-१ उ.] हे कालोदायिन् ! उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पुरुष महाकर्म वाला यावत् महावेदना वाला होता है; और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला यावत् अल्पवेदना वाला होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव' ?

कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति, बहुतरागं आउक्कायं समारभति, अप्पतरागं तेउकायं समारभति, बहुतरागं वाउकायं समारभति, बहुतरागं वणस्सतिकायं समारभति, बहुतरागं तसकायं समारभति। तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविक्कायं समारभति, अप्प० आउ०, बहुतरागं तेउक्कायं समारभति, अप्पतरागं वाउकायं सभारभइ, अप्पतरागं वणस्सतिकायं समारभइ, अप्पतरागं तसकायं समारभइ। से तेणट्ठेणं कालोदाई ! जाव अप्पवेदणतराए चेव।

[१९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह महाकर्म वाला आदि होता है और जो अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला आदि होता है ?

[१९-२ उ.] कालोदायिन् ! उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पृथ्वीकाय का बहुत समारम्भ (वध) करता है, अप्काय का बहुत समारम्भ करता है, तेजस्काय का अल्प समारंभ करता है, वायु काय का बहुत समारंभ करता है; वनस्पतिकाय का बहुत समारम्भ करता है और त्रसकाय का बहुत समारम्भ करता है; और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह पृथ्वीकाय का अल्प समारम्भ करता है, अप्काय का अल्प समारम्भ करता है, वायुकाय का अल्प समारम्भ करता है, वनस्पतिकाय का अल्प समारम्भ करता है एवं त्रसकाय का भी अल्प समारम्भ करता है; किन्तु अग्निकाय का बहुत समारम्भ करता है। इसलिए

हे कालोदायिन् ! जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पुरुष महाकर्म वाला आदि है और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला आदि है।

विवेचन—अग्निकाय को जलाने और बुझाने वालों में महाकर्म आदि और अल्पकर्म आदि से संयुक्त कौन और क्यों ?—प्रस्तुत सूत्र (१९) में कालोदायी द्वारा पूछे गए पूर्वोक्त प्रश्न का भगवान् द्वारा दिया गया सयुक्तिक समाधान अंकित है।

अग्नि जलाने वाला महाकर्म आदि से युक्त क्यों ?—अग्नि जलाने से बहुत-से अग्निकायिक जीवों की उत्पत्ति होती है, उनमें से कुछ जीवों का विनाश भी होता है। अग्नि जलाने वाला पुरुष अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य सभी कायों का विनाश (महारम्भ) करता है। इसलिए अग्नि जलाने वाला पुरुष ज्ञानावरणीय आदि महाकर्म उपार्जन करता है, दाहरूप महाक्रिया करता है, कर्मबन्ध का हेतुभूत महा-आश्रव करता है और जीवों को महावेदना उत्पन्न करता है; जबकि अग्नि बुझाने वाला पुरुष एक अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य सब कायों का अल्प आरम्भ करता है। इसलिए वह जलाने वाले पुरुष की अपेक्षा अल्प-कर्म, अल्प-क्रिया, अल्प-आश्रव और अल्प-वेदना से युक्त होता है।[1]

प्रकाश और ताप देने वाले अचित्त प्रकाशमान पुद्गलों की प्ररूपणा—

२०. अत्थि णं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला ओभासेंति उज्जोवेंति तवेंति पभासेंति ?

हंता, अत्थि।

[२०] भगवन् ! क्या अचित्त पुद्गल भी अवभासित (प्रकाशयुक्त) होते (करते) हैं, वे वस्तुओं को उद्योतित करते हैं, ताप करते हैं (या स्वयं तपते) हैं और प्रकाश करते हैं ?

[२० उ.] हाँ कालोदायिन् ! अचित्त पुद्गल भी यावत् प्रकाश करते हैं।

२१. कतरे णं भंते ! ते अचित्ता पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गंता दूरं निपतति, देसं गंता देसं निपतति, जहिं जहिं च णं सा निपतति तहिं तहिं च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासेंति जाव पभासेंति। एते णं कालोदायी ! ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासेंति जाव पभासेंति।

[२१ प्र.] भगवन् ! अचित्त होते हुए भी कौन-से पुद्गल अवभासित होते या करते हैं, यावत् प्रकाश करते हैं ?

[२१ उ.] कालोदायिन् ! क्रुद्ध (कुपित) अनगार की निकली हुई तेजोलेश्या दूर जाकर उस देश में गिरती है, जाने योग्य देश (स्थल) में जाकर उस देश में गिरती है। जहाँ वह गिरती है, वहाँ अचित्त पुद्गल भी अवभासित (प्रकाशयुक्त) होते या करते हैं यावत् प्रकाश करते हैं।

विवेचन—प्रकाश और ताप देने वाले अचित्त प्रकाशमान पुद्गलों की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों में स्वयं प्रकाशमान अचित्त प्रकाशक, तापकर्ता एवं उद्योतक पुद्गलों की प्ररूपणा की गई है।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३२७

सचित्तवत् अचित्त तेजस्काय के पुद्गल—सचित्त तेजस्काय के पुद्गल तो प्रकाश, ताप, उद्योत आदि करते ही हैं, वे अवभासित यावत् प्रकाशित भी होते ही हैं, किन्तु अचित्त पुद्गल भी अवभासित होते एवं प्रकाश, ताप, उद्योत आदि करते हैं, यह इस सूत्र का आशय है। कुपित साधु द्वारा निकाली हुई तेजोलेश्या के पुद्गल अचित्त होते हैं।[1]

कालोदायी द्वारा तपश्चरण, संल्लेखना और समाधिपूर्वक निर्वाणप्राप्ति—

२२. तए णं से कालोदाई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता बहूहिं चउत्थ-छट्ठऽट्ठम जाव अप्पाणं भावेमाणे जहा पढमसए कालासवेसियपुत्ते (स० १ उ० ६ सु० २४) जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तमे सए : दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ सत्तमं सतं समत्तं ॥

[२२] इसके पश्चात् वह कालोदायी अनगार श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार करके बहुत-से चतुर्थ (भक्त-प्रत्याख्यान=उपवास), षष्ठ (भक्त-प्रत्याख्यान=दो उपवास—बेला), अष्टम (भक्त-प्रत्याख्यान=तेला) इत्यादि तप द्वारा यावत् अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे; यावत् प्रथम शतक के नौवें उद्देशक (सू. २४) में वर्णित कालास्यवेषी पुत्र की तरह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सब दुःखों से मुक्त हुए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है।'

विवेचन—कालोदायी अनगार द्वारा तपश्चरण, संल्लेखना और समाधिमरणपूर्वक निर्वाण-प्राप्ति—प्रस्तुत सूत्र में कालास्यवेषी पुत्र की तरह कालोदायी अनगार के भी अन्तिम संल्लेखनासाधना आदि के द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होने का निरूपण किया गया है।

॥ सप्तम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ सप्तम शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३२७

अट्ठमं सयं : अष्टम शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के अष्टम शतक में पुद्गल, आशीविष, वृक्ष, क्रिया, आजीव, प्रासुक, अदत्त, प्रत्यनीक, बन्ध और आराधना; ये दस उद्देशक हैं।

* प्रथम उद्देशक में परिणाम की दृष्टि से पुद्गल के तीन प्रकारों का, नौ दण्डकों द्वारा प्रयोग-परिणत पुद्गलों का, फिर मिश्रपरिणत पुद्गलों का तथा विस्रसापरिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेद का निरूपण है। तत्पश्चात्—मन-वचन-काया की अपेक्षा विभिन्न प्रकार से प्रयोग, मिश्र और विस्रसा से एक, दो, तीन, चार आदि द्रव्यों के परिणमन का वर्णन है। फिर परिमाणों की दृष्टि से पुद्गलों के अल्पवहुत्व की चर्चा है।

* द्वितीय उद्देशक में आशीविष, उसके दो मुख्य प्रकार तथा उसके अधिकारी जीवों एवं उनके विष-सामर्थ्य का निरूपण है। तत्पश्चात् छद्मस्थ द्वारा सर्वभाव से ज्ञान के अविषय और केवली द्वारा सर्वभावेन ज्ञान के विषय के १० स्थानों का, ज्ञान-अज्ञान के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद का, औधिक जीवों, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों एवं सिद्धों में ज्ञान-अज्ञान का प्ररूपण, गति आदि ८ द्वारों की अपेक्षा लब्धिद्वार, उपयोगादि वीस द्वारों की अपेक्षा ज्ञानी-अज्ञानी का प्ररूपण एवं ज्ञानी और अज्ञानी के स्थितिकाल, अन्तर और अल्पवहुत्व का निरूपण किया गया है।

* तृतीय उद्देशक में संख्यातजीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक वृक्षों का, छिन्नकच्छप आदि के टुकड़ों के वीच का जीवप्रदेश स्पृष्ट और शस्त्रादि के प्रभाव से रहित होने का एवं रत्नप्रभादि पृथ्वियों के चरमत्व-अचरमत्व आदि का निरूपण किया गया है।

* चतुर्थ उद्देशक में क्रियाओं और उनसे सम्वन्धित भेद-प्रभेदों आदि का अतिदेशपूर्वक निर्देश है।

* पंचम उद्देशक में सामायिक आदि साधना में उपविष्ट श्रावक का सामान स्वकीय न रहने पर भी स्वकीयत्व का, तथा श्रमणोपासक के व्रतादि के लिए ४९ भंगों का, तथा आजीविकोपासकों के सिद्धान्त, नाम, आचार-विचार और श्रमणोपासकों की उनसे विशेषता का वर्णन है, अन्त में चार प्रकार के देवलोकों का निरूपण है।

* छठे उद्देशक में तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक-अप्रासुक, एषणीय-अनेषणीय आहारदान का श्रमणोपासक को फल-प्राप्ति का, गृहस्थ के द्वारा स्वयं एवं स्थविर के निमित्त कह कर दिये गए पिण्ड-पात्रादि की उपभोगमर्यादा का निरूपण है तथा अकृत्यसेवी किन्तु आराधना-तत्पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी की विभिन्न पहलुओं से आराधकता की सयुक्तिक प्ररूपणा है। तत्पश्चात् जलते दीपक तथा घर में जलने वाली वस्तु का विश्लेषण है, और एक जीव या वहुत जीवों को परकीय एक या वहुत-से शरीरों की अपेक्षा होने वाली क्रियाओं का निरूपण है।

※ **सप्तम उद्देशक** में अन्यतीर्थिकों के द्वारा अदत्तादान को लेकर स्थविरों पर आक्षेप एवं स्थविरों द्वारा प्रतिवाद का निरूपण है। अन्त में गति प्रवाद (प्रपात) के पांच भेदों का निरूपण है।

※ **अष्टम उद्देशक** में गुण, गति, समूह, अनुकम्पा, श्रुत एवं भावविषयक प्रत्यनीकों के भेदों का, निर्ग्रन्थ के लिए आचरणीय पंचविध व्यवहार का, विविध पहलुओं से ऐर्यापथिक और साम्परायिक कर्मबन्ध का, २२ परीषहों में से कौन-सा परिषह किस कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, तथा सप्तविधबन्धक आदि के परीषहों का निरूपण है। तदनन्तर उदय, अस्त और मध्याह्न के समय में सूर्यों की दूरी और निकटता के प्रतिभासादि का एवं मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर-बाहर के ज्योतिष्क देवों व इन्द्रों के उपपातविरहकाल का वर्णन है।

※ **नवम उद्देशक** में विस्रसाबन्ध के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का, प्रयोगबन्ध, शरीर-प्रयोगबन्ध एवं पंच शरीरों के प्रयोगबन्ध का सभेद निरूपण है। पंच शरीरों के एक दूसरे के बन्धक-अबन्धक की चर्चा तथा औदारिकादि पांच शरीरों के देश-सर्वबन्धकों एवं बन्धकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा है।

※ **दशम उद्देशक** में श्रुत-शील की आराधना-विराधना की दृष्टि से अन्यतीर्थिक-मतनिराकरण-पूर्वक स्वसिद्धान्त का ,ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना, इनका परस्पर सम्बन्ध एवं इनकी उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्याराधना के फल का, तथा पुद्गलपरिणाम के भेद-प्रभेदों का, एवं पुद्गलास्तिकाय के एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश तक के अष्ट भंगों का निरूपण है। अन्त में अष्ट कर्मप्रकृतियाँ, उनके अविभागपरिच्छेद, उनसे आवेष्टित-परिवेष्टित समस्त संसारी जीवों की एवं कर्मों के परस्पर सहभाव की वक्तव्यता है।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) विषयसूची

अट्ठमं सयं : अष्टम शतक

अष्टम शतक की संग्रहणी गाथा

१. पोग्गल १ आसीविस २ रुक्ख ३ किरिय ४ आजीव ५ फासुगमदत्ते ६-७ ।
पडिणीय ८ बंध ९ आराहणा य १० दस अट्ठमम्मि सते ।। १ ।।

[१. गाथार्थ] १. पुद्गल, २. आशीविष, ३. वृक्ष, ४. क्रिया, ५. आजीव, ६. प्रासुक, ७. अदत्त, ८. प्रत्यनीक, ९. बन्ध और १०. आराधना, आठवें शतक में ये दस उद्देशक हैं ।

पढमो उद्देसओ : 'पोग्गल'

प्रथम उद्देशक : 'पुद्गल'

पुद्गलपरिणामों के तीन प्रकारों का निरूपण—

२. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[२-उपोद्घात] राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

३. कतिविहा णं भंते ! पोग्गला पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—पयोगपरिणता मीससापरिणता वीससापरिणता ।

[३-प्र.] भगवन् ! पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[३-उ.] गौतम ! पुद्गल तीन प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) प्रयोग-परिणत, (२) मिश्र-परिणत और (३) विस्रसा-परिणत ।

विवेचन—पुद्गल-परिणामों के तीन प्रकारों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में परिणाम (परिणति) की दृष्टि से पुद्गल के तीन प्रकारों का निरूपण किया गया है ।

परिणामों की दृष्टि से तीनों पुद्गलों का स्वरूप—(१) प्रयोग-परिणत—जीव के व्यापार (क्रिया) से शरीर आदि के रूप में परिणत पुद्गल, (२) **मिश्र-परिणत**—प्रयोग और विस्रसा (स्वभाव) इन दोनों द्वारा परिणत पुद्गल और (३) **विस्रसा-परिणत**—विस्रसा यानी स्वभाव से परिणत पुद्गल ।

मिश्रपरिणत पुद्गलों के दो रूप—(१) प्रयोग-परिणाम को छोड़े विना स्वभाव से (विस्रसा) परिणामान्तर को प्राप्त मृतकलेवर आदि पुद्गल मिश्रपरिणत कहलाते हैं; अथवा (२) विस्रसा (स्वभाव) से परिणत औदारिक आदि वर्गणाएँ, जब जीव के व्यापार (प्रयोग) से औदारिक आदि शरीररूप में परिणत होती हैं, तब वे मिश्रपरिणत कहलाती हैं, जब कि उनमें प्रयोग और विस्रसा, दोनों परिणामों की विवक्षा की गई हो। विस्रसापरिणाम को छोड़कर अकेले प्रयोग-परिणामों की विवक्षा हो, तब उक्त वर्गणाएँ प्रयोग-परिणत ही कहलाएँगी।[1]

नौ दण्डकों द्वारा प्रयोग-परिणत पुद्गलों का निरूपण—

प्रथम दण्डक

४. पयोगपरिणता णं भंते ! पोग्गला कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदियपयोगपरिणता बेइंदियपयोगपरिणता जाव पंचिंदियपयोगपरिणता।

[४-प्र.] भगवन् ! प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४-उ.] गौतम ! (प्रयोग-परिणत पुद्गल) पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत, (२) द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत, (३) त्रीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत, (४) चतुरिन्द्रिय-प्रयोग-परिणत, (५) पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

५. एगिंदियपयोगपरिणता णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा, तं जहा—पुढविक्काइयएगिंदियपयोगपरिणता जाव वणस्सतिकाइय-एगिंदियपयोगपरिणता।

[५-प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[५-उ.] गौतम ! (एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—पृथिवीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल, यावत् वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

६. [१] पुढविक्काइयएगिंदियपयोगपरिणता णं भंते ! पोग्गला कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविक्काइयएगिंदियपयोगपरिणता य बादरपुढविक्काइयएगिंदियपयोगपरिणता य।

[६-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[६-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं; जैसे कि—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और बादरपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३२८

[२] आउक्काइयएगिंदियपयोगपरिणता एवं चेव ।

[६-२] इसी प्रकार अप्कायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल भी दो प्रकार के (सूक्ष्म और बादर-रूप से) कहने चाहिए ।

[३] एवं दुयओ भेदो जाव वणस्सतिकाइया य ।

[६-३] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल तक के प्रत्येक के दो दो भेद (सूक्ष्म और बादर-रूप से) कहने चाहिए ।

७. [१] वेइंदियपयोगपरिणताणं पुच्छा ।

गोयमा ! अणेगविहा पण्णत्ता ।

[७-१ प्र.] भगवन् ! अब द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल के प्रकारों के विषय में पृच्छा है ।

[७-१ उ.] गौतम ! वे (द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) अनेक प्रकार के कहे गए हैं ।

[२] एवं तेइंदिय-चउरिंदियपयोगपरिणता वि ।

[७-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों और चतुरिन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार (अनेक विध) के विषय में जानना चाहिए ।

८. पंचिंदियपयोगपरिणताणं पुच्छा ।

गोयमा ! चतुव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—नेरतियपंचिंदियपयोगपरिणता, तिरिक्ख०, एवं मणुस्स०, देवपंचिंदिय० ।

[८-प्र.] अब (गौतमस्वामी की) पृच्छा पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के (प्रकार के) विषय में है ।

[८-उ.] गौतम ! (पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) चार प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार—(१) नारक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल, (२) तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल, (३) मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और (४) देव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

९. नेरइयपंचिंदियपयोग० पुच्छा ।

गोयमा ! सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—रतणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियपयोगपरिणता वि जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयपंचिंदियपयोगपरिणता वि ।

[९-प्र.] (सर्वप्रथम) नैरयिक पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के (प्रकार के) विषय में (गौतमस्वामी की) पृच्छा है ।

[९-उ.] गौतम ! (नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत-पुद्गल) सात प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल यावत् अधःसप्तमा (तमस्तमा)-पृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

१०. [१] **तिरिक्खजोणियपंचिदियपयोगपरिणताणं पुच्छा।**

गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणिय० थलचरतिरिक्ख-जोणियपंचिदिय० खहचरतिरिक्खपंचिदिय०।

[१०-१ प्र.] अब प्रश्न है—तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के (प्रकार के) विषय में।

[१०-१ उ.] गौतम! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल तीन प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि—(१) जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल, (२) स्थलचर-तिर्यञ्च-योनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और (३) खेचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[२] **जलयरतिरिक्खजोणियपओग० पुच्छा।**

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मुच्छिमजलचर० गब्भवक्कंतियजलचर०।

[१०-२ प्र.] भगवन्! जलचर तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं?

[१०-२ उ.] गौतम! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि—(१) सम्मूर्च्छिम जलचर-तिर्यञ्चयोनिक पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और (२) गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) जलचर-तिर्यञ्च-योनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[३] **थलचरतिरिक्ख० पुच्छा।**

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—चउप्पदथलचर० परिसप्पथलचर०।

[१०-३ प्र.] भगवन्! स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं?

[१०-३ उ.] गौतम! (स्थलचरतिर्यञ्च-योनिक पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिकपंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[४] **चउप्पदथलचर० पुच्छा।**

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मुच्छिमचउप्पदथलचर० गब्भवक्कंतियचउप्पय-थलचर०।

[१०-४ प्र] अब मेरा प्रश्न है कि चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के हैं?

[१०-४ उ.] गौतम! वे (पूर्वोक्त पुद्गल) दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—सम्मूर्च्छिम चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और गर्भज-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[५] एवं एतेणं अभिलावेणं परिसप्पा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—उरपरिसप्पा य, भुयपरिसप्पा य।

[१०-५] इसी प्रकार अभिलाप (पाठ) द्वारा परिसर्प स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल भी दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और भुजपरिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[६] उरपरिसप्पा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मुच्छिमा य, गब्भवक्कंतिया य।

[१०-६] (पूर्वोक्त चतुष्पदस्थलचर सम्बन्धी पुद्गलवत्) उर:परिसर्प (सम्बन्धी प्रयोगपरिणत पुद्गल) भी दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सम्मूर्च्छिम (उर:परिसर्पसम्बन्धी पुद्गल) और गर्भज (उर:परिसर्प-सम्बन्धी पुद्गल)।

[७] एवं भुयपरिसप्पा वि।

[१०-७] इसी प्रकार भुजपरिसर्प-सम्बन्धी पुद्गल के भी दो भेद समझ लेने चाहिए।

[८] एवं खहचरा वि।

[१०-८] इसी तरह खेचर (तिर्यञ्चपंचेन्द्रियसम्बन्धी पुद्गल) के भी पूर्ववत् (सम्मूर्च्छिम और गर्भज) दो भेद कहे गए हैं।

११. मणुस्सपंचिंदियपयोग० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मुच्छिममणुस्स० गब्भवक्कंतियमणुस्स०।

[११ प्र.] भगवन् ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[११ उ.] गौतम ! वे (मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सम्मूर्च्छिममनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और गर्भजमनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

१२. देवपंचिदियपयोग० पुच्छा।

गोयमा ! चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—भवणवासिदेवपंचिदियपयोग० एवं जाव वेमाणिया।

[१२ प्र.] भगवन् ! देव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत-पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! वे चार प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि—भवनवासी-देव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल, यावत् वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

१३. भवणवासिदेवपंचिंदिय० पुच्छा।

गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता, तं जहा—असुरकुमार० जाव थणियकुमार०।

[१३ प्र.] भगवन् ! भवनवासी-देवपंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१३ उ] वे (भवनवासीदेवसम्बन्धी-प्रयोग-परिणत पुद्गल) दस प्रकार के कहे गए हैं। यथा—असुरकुमार-देव-प्रयोग-परिणत पुद्गल यावत् स्तनितकुमार-देव-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

१४. एवं एतेणं अभिलावेणं अट्ठविहा वाणमंतरा पिसाया जाव गंधव्वा।

[१४] इसी प्रकार इसी अभिलाप (पाठ) से आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव (प्रयोग-परिणत पुद्गल) कहने चाहिए। यथा—पिशाच (वाणव्यन्तरदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गल) से यावत् गन्धर्व-(वाण० देव०-प्रयोग-परिणत पुद्गल) तक।

१५. जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—चंदविमाणजोतिसिय० जाव ताराविमाणजोतिसियदेव०।

[१५] (इसी प्रकार के अभिलापवत्) ज्योतिष्कदेवप्रयोग-परिणत पुद्गल भी पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—चन्द्रविमानज्योतिष्कदेव (-प्रयोग-परिणत) यावत् ताराविमान-ज्योतिष्कदेव(-प्रयोग-परिणत पुद्गल)।

१६. [१] वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—कप्पोवग० कप्पातीतगवेमाणिय०।

[१६-१] वैमानिकदेव(-प्रयोग-परिणत पुद्गल) के दो प्रकार कहे गए हैं। यथा—कल्पोपपन्नक वैमानिकदेव(-प्रयोग-परिणत पुद्गल) और कल्पातीत-वैमानिकदेव (-प्रयोग-परिणत पुद्गल)।

[२] कप्पोवगा दुवालसविहा पण्णत्ता, तं जहा—सोहम्मकप्पोवग० जाव अच्चुयकप्पोवगवेमाणिया।

[१६-२] कल्पोपपन्नक वैमानिक देव० बारह प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सौधर्म कल्पोपपन्नक से यावत् अच्युत कल्पोपपन्नक देव तक। (इन बारह प्रकार के वैमानिक देवों से सम्बन्धित प्रयोग-परिणत पुद्गल १२ प्रकार के होते हैं।)

[३] कप्पातीत० दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—गेवेज्जगकप्पातीतवे० अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवे०।

[१६-३] कल्पातीत वैमानिकदेव दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—ग्रैवेयक-कल्पातीत-वैमानिकदेव और अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव। (इन्हीं दो प्रकार के कल्पातीत वैमानिकदेवों से सम्बन्धित प्रयोग-परिणत-पुद्गल दो प्रकार के कहने चाहिए।)

[४] गेवेज्जगकप्पातीतगा नवविहा पण्णत्ता, तं जहा—हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जगकप्पातीतगा जाव उवरिमउवरिमगेविज्जगकप्पातीतया।

[१६-४] ग्रैवेयककल्पातीत वैमानिकदेवों के नौ प्रकार कहे गए हैं। यथा—अधस्तन-अधस्तन (सबसे नीचे की त्रिक में नीचे का) ग्रैवेयक कल्पातीत वैमानिक देव यावत् उपरितन-

उपरितन (सबसे ऊपर की त्रिक में सबसे ऊपर वाले ग्रैवेयक-कल्पातीत-वैमानिक-देव। (इन्हीं नामों से सम्बन्धित प्रयोग-परिणत-पुद्गलों के नौ प्रकार कह देने चाहिए।)

[५] अणुत्तरोववाइयकप्पातीतगवेमाणियदेवपंचिदियपयोगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—विजयअणुत्तरोववाइय० जाव परिणया जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयदेवपंचिदिय जाव परिणता। १ दंडगो।

[१६-५ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरौपपातिक कल्पातीतवैमानिक-देव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१६-५ उ.] गौतम ! वे (अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिक देवसम्बन्धी प्रयोग-परिणत पुद्गल) पांच प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि—विजय-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीतवैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल यावत् सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीतवैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

प्रथम दण्डक पूर्ण हुआ।

द्वितीय दण्डक

१७. [१] सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपयोगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पज्जत्तगसुहुमपुढविकाइय जाव परिणया य अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइय जाव परिणया य। [केई अपज्जत्तगं पढमं भणंति, पच्छा पज्जत्तगं।]

[१७-१ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१७-१.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—पर्याप्तक-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[कई आचार्य अपर्याप्तक (वाले प्रकार) को पहले और पर्याप्तक (वाले प्रकार) को बाद में कहते हैं।]

[२] बादरपुढविकाइयएगिंदिय० ? एवं चेव।

[१७-२] इसी प्रकार बादर-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल के भी (उपर्युक्तवत्) दो भेद कहने चाहिए।

१८. एवं जाव वणस्सइकाइया। एक्केक्का दुविहा—सुहुमा य बादरा य, पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य भाणियव्वा।

[१८] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक (एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल) तक प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद और फिर इन दोनों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद (वाले प्रयोग-परिणत पुद्गल) कहने चाहिए।

१९. [१] बेंदियपयोगपरिणयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगबेंदियपयोगपरिणया य, अपज्जत्तग जाव परिणया य ।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१९-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसे कि—पर्याप्तक द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

[२] एवं तेइंदिया वि ।

[१९-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार के विषय में भी जान लेना चाहिए ।

[३] एवं चउरिंदिया वि ।

[१९-३] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

२०. [१] रयणप्पभापुढविनेरइय० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगरयणप्पभापुढवि जाव परिणया य, अपज्जत्तग जाव परिणया य ।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[२०-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार—पर्याप्तक रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिक-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक रत्नप्रभा-नैरयिक-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

[२] एवं जाव अहेसत्तमा ।

[२०-२] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमीपृथ्वी नैरयिक-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार (प्रत्येक के दो-दो) के विषय में कहना चाहिए ।

२१. [१] सम्मुच्छिमजलचरतिरिक्ख० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तग० अपज्जत्तग० । एवं गब्भवक्कंतिया वि ।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम-जलचर-तिर्यञ्चयोनिक पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२१-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसे कि—पर्याप्तक सम्मूर्च्छिम जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक सम्मूर्च्छिम-जलचर-तिर्यञ्चयोनिक पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

इसी प्रकार गर्भज-जलचरसम्बन्धी प्रयोगपरिणत पुद्गलों के प्रकार के विषय में जान लेना चाहिए।

[२] सम्मुच्छिमचउप्पदथलचर०। एवं चेव। एवं गब्भवक्कंतिया य।

[२१-२] इसी प्रकार सम्मूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचरसम्बन्धी प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार के विषय में तथा गर्भज चतुष्पदस्थलचर सम्बन्धी प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रकार के विषय में भी जानना चाहिए।

[३] एवं जाव सम्मुच्छिमखहयर० गब्भवक्कंतिया य एक्केक्के पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य भाणियव्वा।

[२१-३] इसी प्रकार यावत् सम्मूर्च्छिम खेचर और गर्भज खेचर से सम्बन्धित प्रयोगपरिणत पुद्गलों के प्रत्येक के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद कहने चाहिए।

२२. [१] सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदिय० पुच्छा।

गोयमा ! एगविहा पन्नत्ता—अपज्जत्तगा चेव।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२२-१ उ.] गौतम ! वे एक प्रकार के कहे गए हैं। यथा—अपर्याप्तक-सम्मूर्च्छिम मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[२] गब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदिय० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगगब्भवक्कंतिया वि, अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिया वि।

[२२-२ प्र.] भगवन् ! गर्भज मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२२-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—पर्याप्तक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

२३. [१] असुरकुमारभवणवासिदेवाणं पुच्छा।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगअसुरकुमार० अपज्जत्तगअसुर०।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार-भवनवासीदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—पर्याप्तक असुरकुमार-भवनवासीदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक-असुरकुमार-भवनवासीदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गल।

[२] एवं जाव थणियकुमारा पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य।

[२३-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार भवनवासीदेव तक प्रयोग-परिणत पुद्गलों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो-दो भेद कहने चाहिए।

२४. एवं एतेणं अभिलावेणं दुएणं भेदेणं पिसाया य जाव गंधव्वा, चंदा जाव ताराविमाणा, सोहम्मकप्पोवगा जाव अच्चुओ, हिट्ठिमहिट्ठिमगेविज्जकप्पातीत जाव उवरिमउवरिमगेविज्ज०, विजयअणुत्तरो० जाव अपराजिय० ।

[२४] इसी प्रकार इसी अभिलाप से पिशाचों से लेकर यावत् गन्धर्वों तक (आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देवों के प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के तथा चन्द्र से लेकर तारा-पर्यन्त (पांच प्रकार के ज्योतिष्कदेवों के प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के एवं सौधर्मकल्पोपपन्नक से यावत् अच्युतकल्पोपपन्नक तक के और अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयककल्पातीत से लेकर उपरितन-उपरितन ग्रैवेयक कल्पातीत देव-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के, एवं विजय-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत से यावत् अपराजित-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत देव-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के प्रत्येक के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो-दो भेद कहने चाहिए ।

२५. सव्वट्ठसिद्धकप्पातीय० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरो० अपज्जत्तगसव्वट्ठ जाव परिणया वि । २ दंडगा ।

[२५ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीतदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के कितने प्रकार हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं । यथा—पर्याप्तक सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीतदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गल और अपर्याप्तक सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-देव-प्रयोग-परिणत पुद्गल ।

दूसरा दण्डक पूर्ण हुआ ।

तृतीय दण्डक

२६. जे अपज्जत्तासुहुमपुढवीकाइयएगिंदियपयोगपरिणया ते ओरालिय-तेया-कम्मगसरीरप्पयोगपरिणया, जे पज्जत्तासुहुम० जाव परिणया ते ओरालिय-तेया-कम्मगसरीरप्पयोगपरिणया । एवं जाव चउरिंदिया पज्जत्ता । नवरं जे पज्जत्तगबादरवाउकाइयएगिंदियपयोगपरिणया ते ओरालिय-वेउव्विय-तेया-कम्मसरीर जाव परिणता । सेसं तं चेव ।

[२६] जो पुद्गल अपर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकाय-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे औदारिक, तैजस और कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत हैं । जो पुद्गल पर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकाय-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे भी औदारिक, तैजस और कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत हैं ।

इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रियपर्याप्तक तक के (प्रयोग-परिणत पुद्गलों के विषय में) जानना चाहिए । परन्तु विशेष इतना है कि जो पुद्गल पर्याप्त-बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत हैं । (क्योंकि वायुकाय में वैक्रिय शरीर भी पाया जाता है ।) शेष सब पूर्वोक्त वक्तव्यतानुसार जानना चाहिए ।

२७. [१] जे अपज्जत्तरयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियपयोगपरिणया ते वेउव्विय-तेया-कम्म-सरीरप्पयोगपरिणया। एवं पज्जत्तया वि।

[२७-१] जो पुद्गल अपर्याप्त-रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर-प्रयोग-परिणत हैं। इसी प्रकार पर्याप्तक-रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

[२] एवं जाव अहेसत्तमा।

[२७-२] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी-नैरयिक-प्रयोग-परिणत-पुद्गलों तक के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

२८. [१] जे अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलचर जाव परिणया ते ओरालिय-तेया-कम्मासरीर जाव परिणया। एवं पज्जत्तगा वि।

[२८-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक-सम्मूर्च्छिम-जलचर-प्रयोग-परिणत हैं, वे औदारिक, तैजस और कार्मणशरीर-प्रयोग-परिणत हैं। इसी प्रकार पर्याप्तक-सम्मूर्च्छिम-जलचर-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

[२] गब्भवक्कंतिया अपज्जत्तया एवं चेव।

[२८-२] गर्भज-अपर्याप्तक-जलचर-(प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

[३] पज्जत्तयाणं एवं चेव, नवरं सरीरगाणि चत्तारि जहा बादरवाउक्काइयाणं पज्जत्तगाणं।

[२८-३] गर्भज-पर्याप्तक-जलचर-(प्रयोग-परिणत-पुद्गलों) के विषय में भी इसी तरह जानना चाहिए। विशेष यह है कि उनको पर्याप्तक बादर वायुकायिकवत् चार शरीर (-प्रयोगपरिणत) कहना चाहिए।

[४] एवं जहा जलचरेसु चत्तारि आलावगा भणिया एवं चउप्पद-उरपरिसप्प-भुयपरिसप्प-खहयरेसु वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा।

[२८-४] जिस तरह जलचरों के चार आलापक कहे गए हैं, उसी प्रकार चतुष्पद, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प एवं खेचरों (के प्रयोग-परिणतपुद्गलों) के भी चार-चार आलापक कहने चाहिए।

२९. [१] जे सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदियपयोगपरिणया ते ओरालिय-तेया-कम्मासरीर जाव परिणया।

[२९-१] जो पुद्गल सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे औदारिक, तैजस और कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत हैं।

[२] एवं गब्भवक्कंतिया वि अपज्जत्तगा वि।

[२९-२] इसी प्रकार अपर्याप्तक गर्भज-मनुष्य-(पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के विषय में भी कहना चाहिए।

[३] पज्जत्तगा वि एवं चेव, नवरं सरीरगाणि पंच भाणियव्वाणि।

[२९-३] पर्याप्तक गर्भज-मनुष्य-(पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के विषय में भी (सामान्यतया) इसी तरह कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इनमें (औदारिक से लेकर कार्मण तक) पंचशरीर-(प्रयोग-परिणत पुद्गल) कहना चाहिए।

३०. [१] जे अपज्जत्तगा असुरकुमारभवणवासि जहा नेरइया तहेव। एवं पज्जत्तगा वि।

[३०-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक असुरकुमार-भवनवासीदेव-प्रयोगपरिणत हैं, उनका आलापक नैरयिकों की तरह कहना चाहिए। पर्याप्तक-असुरकुमारदेव-प्रयोग-परिणत पुद्गलों के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

[२] एवं दुयएणं भेदेणं जाव थणियकुमारा।

[३०-२] यावत् स्तनितकुमारपर्यन्त पर्याप्तक-अपर्याप्तक दोनों में, इसी तरह कहना चाहिए।

३१. एवं पिसाया जाव गंधव्वा, चंदा जाव ताराविमाणा, सोहम्मो कप्पो जाव अच्चुओ, हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्ज जाव उवरिमउवरिमगेवेज्ज०, विजय-अणुत्तरोववाइए जाव सव्वट्ठसिद्धअणु०, एक्केक्केणं दुयओ भेदो भाणियव्वो जाव जे पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइया जाव परिणया ते वेउव्विय-तेया-कम्मासरीरपयोगपरिणया। दंडगा ३।

[३१] इसी तरह पिशाच से लेकर गन्धर्व वाणव्यन्तर-देव, चन्द्र से लेकर ताराविमान-पर्यन्त ज्योतिष्क-देव और सौधर्मकल्प से लेकर यावत् अच्युतकल्प-पर्यन्त तथा अधःस्तन-अधःस्तन-ग्रैवेयक कल्पातीतदेव से लेकर उपरितन-उपरितन ग्रैवेयककल्पातीत देव तक एवं विजय-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीतदेव से लेकर यावत् सर्वार्थसिद्ध कल्पातीत वैमानिकदेवों तक पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों भेदों में वैक्रिय, तैजस और कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत पुद्गल कहने चाहिए।

चतुर्थ दण्डक

३२. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयएगिंदियपयोगपरिणता ते फासिंदियपयोगपरिणया।

[३२-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक सूक्ष्मपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं।

[२] जे पज्जत्तासुहुमपुढविकाइया० एवं चेव।

[३२-२] जो पुद्गल पर्याप्तक सूक्ष्मपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे भी स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं।

[३] जे अपज्जत्ताबादरपुढविक्काइया० एवं चेव।

[३२-३] जो अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल हैं, वे भी इसी प्रकार समझने चाहिए।

[४] एवं पज्जत्तगा वि।

[३२-४] पर्याप्तक बादरपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल भी इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत समझने चाहिए।

[५] एवं चउक्कएणं भेदेणं जाव वणस्सइकाइया।

[३२-५] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त-प्रत्येक के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक इन चार-चार भेदों में स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल कहने चाहिए।

३३. [१] जे अपज्जत्ताबेइंदियपयोगपरिणया ते जिब्भिदिय-फासिंदियपयोगपरिणया।

[३३-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे जिह्वेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय प्रयोगपरिणित हैं।

[२] जे पज्जत्ताबेइंदिया एवं चेव।

[३३-२] इसी प्रकार पर्याप्तक-द्वीन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल भी जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय प्रयोग परिणत हैं।

[३] एवं जाव चउरिंदिया, नवरं एक्केक्कं इंदियं वड्ढेयव्वं।

[३३-३] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक (पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों में) कहना चाहिए। किन्तु एक-एक इन्द्रिय बढ़ानी चाहिए।(अर्थात्—त्रीन्द्रियप्रयोगपरिणत पुद्गल स्पर्श-जिह्वा-घ्राणेन्द्रिय-प्रयोगपरिणत हैं, और चतुरिन्द्रिय-प्रयोगपरिणत पुद्गल स्पर्श-जिह्वा-घ्राण-चक्षुरिन्द्रिय प्रयोगपरिणत हैं।)

३४. [१] जे अपज्जत्तारयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियपयोगपरिणया ते सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियपयोगपरिणया।

[३४-१] जो पुद्गल अपर्याप्त रत्नप्रभा (आदि) पृथ्वी नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोगपरिणत हैं।

[२] एवं पज्जत्तगा वि।

[३४-२] इसी प्रकार पर्याप्तक (रत्नप्रभादिपृथ्वी नैरयिक-पंचेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत पुद्गल के विषय में भी पूर्ववत् (पंचेन्द्रियप्रयोगपरिणत) कहना चाहिए।

३५. एवं सव्वे भाणियव्वा तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवा, जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव परिणया ते सोइंदिय-चक्खिदिय जाव परिणया। दंडगा ४।

[३५] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य और देव, इन सबके विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए; यावत् जो पुद्गल पर्याप्तसर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिककल्पतीतदेव-प्रयोग-परिणत हैं, वे सब श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं।

पंचम दण्डक

३६. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालिय-तेय-कम्मासरीरप्पयोगपरिणया ते फासिंदियपयोगपरिणया। जे पज्जत्तासुहुम० एवं चेव।

[३६-१] जो पुद्गल अपर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर प्रयोग-परिणत हैं, वे स्पर्शेन्द्रियप्रयोगपरिणत हैं। जो पुद्गल पर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय औदारिक-तैजस-कार्मण-शरीर-प्रयोग-परिणत हैं, वे भी स्पर्शेन्द्रियप्रयोगपरिणत हैं।

[२] बादर० अपज्जत्ता एवं चेव। एवं पज्जत्तगा वि।

[३६-२] अपर्याप्तबादरकायिक एवं पर्याप्तबादर पृथ्वीकायिक-औदारिकादि शरीरत्रय प्रयोगपरिणत पुद्गल के विषय में भी इस प्रकार कहना चाहिए।

३७. एवं एएणं अभिलावेणं जस्स जति इंदियाणि सरीराणि य ताणि भाणियव्वाणि जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव देवपंचिंदिय-वेउव्विय-तेया-कम्मासरीरपयोगपरिणया ते सोइंदिय-चक्खिदिय जाव फासिंदियपयोगपरिणया। दंडगा ५।

[३७] इस प्रकार इस अभिलाप के द्वारा जिस जीव के जितनी इन्द्रियां और शरीर हों, उसके उतनी इन्द्रियों तथा उतने शरीरों का कथन करना चाहिए। यावत् जो पुद्गल पर्याप्तसर्वार्थ-सिद्ध-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीतदेव पंचेन्द्रिय-वैक्रिय-तैजस-कार्मणशरीर-प्रयोग-परिणत हैं, वे श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं।

छठा दण्डक

३८. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयएगिंदियपयोगपरिणया ते वण्णतो कालवण्णपरिणया वि, नील०, लोहिय०, हालिद्द०, सुक्किल०। गंधतो सुब्भिगंधपरिणया वि, दुब्भिगंधपरिणया वि। रसतो तित्तरसपरिणया वि, कडुयरसपरिणया वि, कसायरसप०, अंबिलरसप०, महुररसप०। फासतो कक्खडफासपरि० जाव लुक्खफासपरि०। संठाणतो परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्ट० तंस० चउरंस० आयतसंठाणपरिणया वि।

[३८-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण, नीले वर्ण, रक्तवर्ण, पीत (हारिद्र) वर्ण एवं श्वेतवर्ण रूप से परिणत हैं, गन्ध से सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध रूप से परिणत हैं, रस से तीखे, कटु, काषाय (कसैले), खट्टे और मीठे इन पांचों रस-रूप में परिणत हैं, स्पर्श से कर्कशस्पर्श यावत् रूक्षस्पर्श के रूप में परिणत हैं और संस्थान से परि-मण्डल, वृत्त, त्र्यंस (तिकोन), चतुरस्र (चौकोर) और आयत, इन पांचों संस्थानों के रूप में परिणत हैं।

[२] जे पज्जत्तासुहुमपुढवि० एवं चेव।

[३८-२] जो पुद्गल पर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रियप्रयोगपरिणत हैं, उन्हें भी इसी प्रकार वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-संस्थानरूप में परिणत जानना चाहिए।

३९. एवं जहाऽऽणुपुव्वीए नेयव्वं जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव परिणता ते वण्णतो कालवण्णपरिणया वि जाव आयतसंठाणपरिणया वि। दंडगा ६।

[३९] इसी प्रकार क्रमशः सभी (पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट जीवों के प्रयोग-परिणत पुद्गलों) के विषय में जानना चाहिए। यावत् जो पुद्गल पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक देवपंचेन्द्रिय-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-शरीरप्रयोगपरिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण रूप में यावत् संस्थान से आयत संस्थान तक परिणत हैं।

सप्तम दण्डक

४०. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढवि० एगिंदियओरालिय-तेया-कम्मासरीरप्पयोगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरि० जाव आययसंठाणपरि० वि।

[४०-१] जो पुद्गल अपर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-तैजस-कार्मण-शरीर-प्रयोग परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में भी परिणत हैं, यावत् आयत-संस्थान-रूप में भी परिणत हैं।

[२] जे पज्जत्तासुहुमपुढवि० एवं चेव।

[४०-२] इसी प्रकार पर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर-प्रयोग-परिणत हैं, वे भी इसी तरह वर्णादि-परिणत हैं।

४१. एवं जहाऽऽणुपुव्वीए नेयव्वं जस्स जति सरीराणि जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयदेवपंचिंदियवेउव्विय-तेया-कम्मासरीर जाव परिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि जाव आयतसंठाणपरिणया वि। दंडगा ७।

[४१] इस प्रकार यथानुक्रम से (सभी जीवों के विषय में) जानना चाहिए। जिसके जितने शरीर हों, उतने कहने चाहिए; यावत् जो पुद्गल पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक देव-पंचेन्द्रिय-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-शरीर प्रयोग परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में, यावत् संस्थान से आयतसंस्थानरूप में परिणत हैं।

अष्टम दण्डक

४२. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयएगिंदियफासिंदियपयोगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया जाव आययसंठाणपरिणया वि।

[४२-१] जो पुद्गल अपर्याप्तकसूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में परिणत हैं, यावत् संस्थान से आयत-संस्थान के रूप में परिणत हैं।

[२] जे पज्जत्तासुहुमपुढवि० एवं चेव ।

[४२-२] जो पुद्‌गल पर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग परिणत हैं, वे भी इसी प्रकार जानने चाहिए ।

४३. एवं जहाऽऽणुपुव्वीए जस्स जति इंदियाणि तस्स तति भाणियव्वाणि जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तर जाव देवपंचिंदियसोइंदिय जाव फासिंदियपयोगपरिणया वि ते वण्णओ कालवण्णपरिणया जाव आययसंठाणपरिणया वि । दंडगा ८ ।

[४३] इसी प्रकार अनुक्रम से आलापक कहने चाहिए । विशेष यह कि जिसके जितनी इन्द्रियां हों उतनी कहनी चाहिए । यावत् जो पुद्‌गल पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक देव-पंचेन्द्रिय-श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोगपरिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में, यावत् संस्थान से आयत संस्थान के रूप में परिणत हैं ।

नौवाँ दण्डक

४४. [१] जे अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालिय-तेया-कम्मासरीरफासिंदियपयोगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि जाव आयतसंठाणप० वि ।

[४४-१] जो पुद्‌गल अपर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर-स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोग-परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में भी परिणत हैं, यावत् संस्थान से आयत-संस्थान के रूप में परिणत हैं ।

[२] जे पज्जत्तासुहुमपुढवि० एवं चेव ।

[४४-२] जो पुद्‌गल पर्याप्तक-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर-स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोगपरिणत हैं, वे भी इसी तरह (पूर्ववत्) जानने चाहिए ।

४५. एवं जहाऽऽणुपुव्वीए जस्स जति सरीराणि इंदियाणि य तस्स तति भाणियव्वाणि जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइया जाव देवपंचिंदिय-वेउव्विय-तेया-कम्मासोइंदिय जाव फासिंदिय-पयोगपरि० ते वण्णओ कालवण्णपरि० जाव आययसंठाणपरिणया वि । एवं एए नव दंडगा ९ ।

[४५] इसी प्रकार अनुक्रम से सभी आलापक कहने चाहिए । विशेषतया जिसके जितने शरीर और इन्द्रियां हों, उसके उतने शरीर और उतनी इन्द्रियों का कथन करना चाहिए; यावत् जो पुद्‌गल पर्याप्तकसर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-शरीर तथा श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय-प्रयोगपरिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में यावत् संस्थान से आयत संस्थान के रूपों में परिणत हैं ।

इस प्रकार ये नौ दण्डक पूर्ण हुए ।

विवेचन—नौ दण्डकों द्वारा प्रयोग-परिणत पुद्‌गलों का निरूपण—प्रस्तुत ४२ सूत्रों (सू. ४ से ४५ तक) नौ दण्डकों की दृष्टि से प्रयोग-परिणत पुद्‌गलों का निरूपण किया गया है ।

विवक्षाविशेष से नौ दण्डक (विभाग)—प्रयोगपरिणत पुद्गलों को विभिन्न पहलुओं से समझाने के लिए शास्त्रकार ने नौ दण्डकों द्वारा निरूपण किया है। **प्रथम दण्डक** में सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों तक जीवों की विशेषता से प्रयोगपरिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेदों का कथन है। (२) **द्वितीय दण्डक** में उन्हीं जीवों में से एकेन्द्रिय जीवों के प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर ये दो-दो भेद करके फिर इन सूक्ष्म और बादर के तथा आगे के सब जीवों (यानी सूक्ष्मपृथ्वीकायिक से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों तक) के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद (अपर्याप्तक भेद वाले सम्मूर्च्छिम मनुष्य को छोड़कर) प्रयोग-परिणत पुद्गलों के किये गए हैं। (३) **तृतीय दण्डक** में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त पृथ्वीकायिक से लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त सभी जीवों के औदारिक आदि पांच में से यथा-योग्य शरीरों की अपेक्षा से प्रयोगपरिणत पुद्गलों का कथन किया गया है। (४) **चतुर्थ दण्डक** में पूर्वोक्त शरीरादि विशेषणयुक्त एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सर्वार्थसिद्ध जीवों तक के यथायोग्य इन्द्रियों की अपेक्षा से प्रयोगपरिणत-पुद्गलों का कथन किया गया है। (५) **पंचम दण्डक** में औदा-रिक आदि पांच शरीर और स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों की सम्मिलित विवक्षा से समस्त जीवों के यथा-योग्य प्रयोग-परिणत पुद्गलों का कथन है। (६) **छठे दण्डक** में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से पूर्वोक्त समस्त विशेषणयुक्त सर्व जीवों के प्रयोग-परिणत पुद्गलों का कथन है। (७) **सप्तम दण्डक** में औदारिक आदि शरीर और वर्णादि की अपेक्षा से पुद्गलों का कथन है। (८) **अष्टम दण्डक** में इन्द्रिय और वर्णादि की अपेक्षा से पुद्गलों का कथन है; और (९) **नवम दण्डक** में शरीर, इन्द्रिय और वर्णादि की अपेक्षा से जीवों के प्रयोगपरिणत पुद्गलों का कथन किया गया है।

द्वीन्द्रियादि जीवों की अनेकविधता—मूलपाठ में कहा गया है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के हैं; जैसे कि द्वीन्द्रिय में लट, गिडोला, अलसिया, शंख, सीप, कौडी, कृमि आदि अनेक प्रकार के जीव हैं, त्रीन्द्रिय में जूं, लीख, चींचड़, माकण (खटमल), चींटी, मकोड़ा आदि अनेक प्रकार के जीव हैं, और चतुरिन्द्रिय में मक्खी, मच्छर, भौंरा, भृंगारी आदि अनेकविध जीव हैं; उनको बताने हेतु ही यहाँ अनेकविधता का कथन किया गया है।

पंचेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद—मुख्यतया इनके चार भेद हैं—नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। विवेक्षा विशेष से इनके अनेक अवान्तर भेद हैं।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—**सम्मुच्छिमा**—सम्मूर्च्छिम—माता-पिता के संयोग के विना उत्पन्न होने वाले तिर्यंच और मनुष्य। **गब्भवक्कंतिया**—गर्भव्युत्क्रान्तक—गर्भ से उत्पन्न होने वाले। **परिसप्पा**—परिसर्प—रेंग कर चलने वाले जीव। **उरपरिसप्प**—उर:परिसर्प—पेट से रेंग कर चलने वाले जीव। **भुयपरिसप्प**=भुजपरिसर्प—भुजा के सहारे से चलने वाले। **थलयर**=स्थलचर—भूमि पर चलने वाले जीव। **खहयरा**=खेचर—(आकाश में) उड़ने वाले पक्षी। **अभिलावेणं**=अभिलाप—पाठ से। **गेवेज्जग**=ग्रैवेयक देव। **कप्पोवगा**=कल्पोपपन्नक देव=जहाँ इन्द्रादि अधिकारी और उनके अधीनस्थ छोटे-बड़े आदि का व्यवहार है। **कप्पातीत**=कल्पातीत—जहाँ अधिकारी-अधीनस्थ जैसा कोई भेद नहीं है, सभी स्वतंत्र एवं अहमिन्द्र हैं। **अणुत्तरोववाइयं**=अनुत्तरौपपातिक—सर्वोत्तम

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३१-३३२

देवलोक में उत्पन्न हुए देव। **ओरालिय**=औदारिक शरीर। **तेया**=तैजस शरीर। **वेउव्विय**=वैक्रिय शरीर। **कम्मग**=कार्मण शरीर। **वट्ट**=वृत्त—गोल। **तंस**=त्र्यस्र-त्रिकोण। **चउरंस**=चतुरस्र-चौकोर (चतुष्कोण)। **तित्तरस**=तिक्त-तीखा रस। **अंबिल**=आम्ल—खट्टा। **कसाय**=कसैला। **जहाणुपुव्वीए**=यथाक्रम से।[1]

मिश्रपरिणत-पुद्गलों का नौ दण्डकों द्वारा निरूपण—

४६. मीसापरिणया णं भंते ! पोग्गला कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदियमीसापरिणया जाव पंचिंदियमीसापरिणया।

[४६ प्र.] भगवन् ! मिश्रपरिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४६ उ.] गौतम ! वे पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय-मिश्रपरिणत पुद्गल यावत् पंचेन्द्रियमिश्रपरिणत पुद्गल।

४७. एगिंदियमीसापरिणया णं भंते ! पोग्गला कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एवं जहा पओगपरिणएहिं नव दंडगा भणिया एवं मीसापरिणएहि वि नव दंडगा भाणियव्वा, तहेव सव्वं निरवसेसं, नवरं अभिलावो 'मीसापरिणया' भाणियव्वं, सेसं तं चेव, जाव जे पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरो० जाव आययसंठाणपरिणया वि।

[४७ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय मिश्रपुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रयोगपरिणत पुद्गलों के विषय में नौ दण्डक कहे गए हैं, उसी प्रकार मिश्र-परिणत पुद्गलों के विषय में भी नौ दण्डक कहने चाहिए; और सारा वर्णन उसी प्रकार करना चाहिए। विशेषता यह है कि प्रयोग-परिणत के स्थान पर मिश्र-परिणत कहना चाहिए। शेष समस्त वर्णन पूर्ववत् करना चाहिए; यावत् जो पुद्गल पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक हैं; वे यावत् आयत-संस्थानरूप से भी परिणत हैं।

विवेचन—मिश्रपरिणत पुद्गलों का नौ दण्डकों द्वारा निरूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू. ४६-४७) में प्रयोगपरिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेद की तरह मिश्रपरिणत पुद्गलों के भी भेद-प्रभेद का अतिदेश-पूर्वक निरूपण किया गया है।

विस्रसापरिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेदों का निर्देश—

४८. वीससापरिणया णं भंते ! पोग्गला कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—वण्णपरिणया गंधपरिणया रसपरिणया फासपरिणया संठाणपरिणया। जे वण्णपरिणया ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—कालवण्णपरिणया जाव सुक्किल्लवण्णपरिणया। जे गंधपरिणया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सुब्भिगंधपरिणया वि, दुब्भिगंधपरिणया वि।

---

१. (क) भगवतीसूत्र (गुजराती अनुवादयुक्त) खण्ड-३, पृ. ४२ से ४६ तक

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचनयुक्त) भाग-३, पृ. १२३६ से १२५२ तक

एवं जहा पण्णवणाए[1] तहेव निरवसेसं जाव जे संठाणओ आयतसंठाणपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि जाव लुक्खफासपरिणया वि।

[४८ प्र.] भगवन् ! विस्रसा-परिणत पुद्गल कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४८ उ.] गौतम ! पांच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—वर्णपरिणत, गन्धपरिणत, रसपरिणत, स्पर्शपरिणत और संस्थानपरिणत। जो पुद्गल वर्ण-परिणत हैं, वे पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—काले वर्ण के रूप में परिणत यावत् शुक्ल वर्ण के रूप में परिणत पुद्गल। जो गन्धपरिणत पुद्गल हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सुरभिगन्धपरिणत और दुरभिगन्धपरिणत पुद्गल। इस प्रकार आगे का सारा वर्णन जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र (के प्रथम पद) में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी करना चाहिए; यावत् जो पुद्गल संस्थान से आयत-संस्थान-परिणत हैं, वे वर्ण से काले वर्ण के रूप में भी परिणत हैं, यावत् (स्पर्श से) रूक्ष-स्पर्शरूप में भी परिणत हैं।

विवेचन—विस्रसापरिणत पुद्गलों के भेद-प्रभेदों का निर्देश—प्रस्तुत सूत्र में विस्रसापरिणत (स्वभाव से परिणाम को प्राप्त) पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से तथा इन वर्णादि के परस्पर मिश्र होने पर विकल्प की विवक्षा से प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेश-पूर्वक अनेक भेद-प्रभेदों का निर्देश किया गया है।[2]

मन-वचन-काया की अपेक्षा विभिन्न प्रकार से प्रयोग-मिश्र-विस्रसा से एक द्रव्य के परिणमन की प्ररूपणा—

४९. एगे भंते ! दव्वे किं पयोगपरिणए ? मीसापरिणए ? वीससापरिणए ?

गोयमा ! पयोगपरिणए वा, मीसापरिणए वा, वीससापरिणए वा।

[४९ प्र.] गौतम ! एक द्रव्य क्या प्रयोग-परिणत होता है, मिश्रपरिणत होता है अथवा विस्रसा-परिणत होता है ?

[४९ उ.] गौतम ! एक द्रव्य, प्रयोग-परिणत होता है, अथवा मिश्रपरिणत होता है, अथवा विस्रसा-परिणत होता है।

५०. जदि पयोगपरिणए किं मणप्पयोगपरिणए ? वइप्पयोगपरिणए ? कायप्पयोगपरिणए ?

गोयमा ! मणप्पयोगपरिणए वा, वइप्पयोगपरिणए वा, कायप्पयोगपरिणए वा।

[५० प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य प्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह मनःप्रयोगपरिणत होता है, वचन-प्रयोग-परिणत होता है अथवा कायप्रयोग-परिणत होता है ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रथमपद सूत्र १० [१-२] (महा. विद्या.)

२. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३२६

(ख) प्रज्ञापनासूत्र, प्रथमपद, सूत्र १० [१-२]

[५० उ.] गौतम ! वह मन:प्रयोगपरिणत होता है या वचन-प्रयोग-परिणत होता है अथवा कायप्रयोगपरिणत होता है।

५१. जदि मणप्पश्रोगपरिणए किं सच्चमणप्पश्रोगपरिणए ? मोसमणप्पयोग० ? सच्चामोसमणप्पयो० ? असच्चामोसमणप्पयो० ?

गोयमा ! सच्चमणप्पयोगपरिणए वा, मोसमणप्पयोग० वा, सच्चामोसमणप्प०, असच्चामोसमणप्प० वा।

[५१ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य मन:प्रयोग-परिणत होता है तो क्या वह सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, अथवा मृषा-मन:प्रयोगपरिणत होता है, या सत्य-मृषा-मन:प्रयोग-परिणत होता है, या असत्यामृषा-मन:प्रयोग-परिणत होता है ?

[५१ उ.] गौतम ! वह सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है, अथवा मृषामन:प्रयोगपरिणत होता है, या सत्य-मृषामन:प्रयोगपरिणत होता है या फिर असत्यामृषामन:प्रयोग-परिणत होता है।

५२. जदि सच्चमणप्पश्रोगप० किं आरंभसच्चमणप्पयो० ? अणारंभसच्चमणप्पयोगपरि० ? सारंभसच्चमणप्पयोग० ? असारंभसच्चमण० ? समारंभसच्चमणप्पयोगपरि० ? असमारंभसच्चमणप्पयोगपरिणए ?

गोयमा ! आरंभसच्चमणप्पश्रोगपरिणए वा जाव असमारंभसच्चमणप्पयोगपरिणए वा।

[५२ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है तो क्या वह आरम्भ-सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, अनारम्भ-सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, सारम्भ-सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, असारम्भ-सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, समारम्भ-सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है अथवा असमारम्भ-सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है ?

[५२ उ.] गौतम ! वह आरम्भ-सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है, अथवा यावत् असमारम्भ-सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है।

५३. [१] जदि मोसमणप्पयोगपरिणए किं आरंभमोसमणप्पयोगपरिणए वा ?

एवं जहा सच्चेणं तहा मोसेण वि।

[५३-१ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, मृषामन:प्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह आरम्भ-मृषामन:प्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् असमारम्भ-मृषामन:प्रयोग-परिणत होता है ?

[५३-१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (पूर्वोक्त विशेषणयुक्त) सत्यमन:प्रयोग-परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार (पूर्वोक्त विशेषणयुक्त) मृषामन:प्रयोग-परिणत के विषय में भी कहना चाहिए।

[२] एवं सच्चामोसमणप्पयोगपरिणए वि। एवं असच्चामोसमणप्पयोगेण वि।

[५३-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) सत्यमृषा-मन:प्रयोग-परिणत के विषय में भी तथा इसी प्रकार असत्य-मृषामन:प्रयोग-परिणत के विषय में भी कहना चाहिए।

५४. जदि वइप्पयोगपरिणए किं सच्चवइप्पयोगपरिणए मोसवयप्पयोगपरिणए ?

एवं जहा मणप्पयोगपरिणए तहा वयप्पयोगपरिणए वि जाव असमारंभवयप्पयोगपरिणए वा।

[५४ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, वचनप्रयोग-परिणत होता है तो, क्या वह सत्यवचन-प्रयोग-परिणत होता है, मृषावचन-प्रयोग-परिणत होता है, सत्यमृषा-वचन-प्रयोग-परिणत होता है अथवा असत्यामृषा-वचन-प्रयोग-परिणत होता है ?

[५४-उ.] गौतम ! जिस प्रकार (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) मन:प्रयोगपरिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार वचन-प्रयोग-परिणत (पूर्वोक्त-सर्व-विशेषणयुक्त) के विषय में भी कहना चाहिए; यावत् वह असमारम्भ-वचन-प्रयोग-परिणत भी होता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

५५. जदि कायप्पयोगपरिणए किं ओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए १ ? ओरालियमीसासरीरकायप्पयो० २ ? वेउव्वियसरीरकायप्प० ३ ? वेउव्वियमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए ४ ? आहारगसरीरकायप्पओगपरिणए ५ ? आहारकमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए ६ ? कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए ७ ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए वा जाव कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए वा।

[५५-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह औदारिक शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, औदारिकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है, आहारकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, आहारकमिश्र-कायप्रयोग-परिणत होता है अथवा कार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[५५-उ.] गौतम ! वह एक द्रव्य, औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् वह कार्मणशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है।

५६. जदि ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए एवं जाव पंचिंदियओरालिय जाव परि० ?

गोयमा ! एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए वा बेंदिय जाव परिणए वा जाव पंचिंदिय जाव परिणए वा।

[५६-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-काय-प्रयोगपरिणत होता है, या द्वीन्द्रिय-औदारिक-शरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है ?

[५६-उ.] गौतम ! वह एक द्रव्य, एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है, या द्वीन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पञ्चेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है।

५७. जदि एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए किं पुढविक्काइयएगिंदिय जाव परिणए जाव वणस्सइकाइयएगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए वा ?

गोयमा ! पुढविक्काइयएगिंदिय जाव पयोगपरिणए वा जाव वणस्सइकाइयएगिंदिय जाव परिणए वा ।

[५७-प्र.] भगवन् ! जो एक द्रव्य, एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है; क्या वह पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् वह वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[५७-उ.] हे गौतम ! वह पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ।

५८. जदि पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीर जाव परिणए किं सुहुमपुढविकाइय जाव परिणए ? बादरपुढविक्काइयएगिंदिय जाव परिणए ?

गोयमा ! सुहुमपुढविक्काइयएगिंदिय जाव परिणए वा, बादरपुढविक्काइय जाव परिणए वा ।

[५८-प्र.] भगवन् ! यदि वह एक द्रव्य, पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा बादरपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[५८-उ.] गौतम ! वह सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है अथवा बादरपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ।

५९. [१] जदि सुहुमपुढविकाइय जाव परिणए किं पज्जत्तसुहुमपुढवि जाव परिणए ? अपज्जत्तसुहुमपुढवी जाव परिणए ?

गोयमा ! पज्जत्तसुहुमपुढविकाइय जाव परिणए वा, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइय जाव परिणए वा ।

[५९-१ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है तो क्या वह पर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[५९-१ उ.] गौतम ! यह पर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, या वह अपर्याप्त-सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत भी होता है ।

[२] एवं बादरा वि ।

[५९-२] इसी प्रकार बादर-पृथ्वीकायिक (-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-काय-प्रयोग-परिणत एक द्रव्य) के विषय में भी (पर्याप्त-अपर्याप्त-प्रकार) समझ लेना चाहिए ।

[३] एवं जाव वणस्सइकाइयाणं चउक्कप्रो भेदो ।

[५९-३] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक सभी के चार-चार भेद (सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त) के विषय में (पूर्ववत्) कथन करना चाहिए ।

६०. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं दुयप्रो भेदो—पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य ।

[६०] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के दो-दो भेद—पर्याप्तक और अपर्याप्तक (से सम्बन्धित औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत एक द्रव्य) के विषय में कहना चाहिए ।

६१. जदि पंचिंदियप्रोरालियसरीरकायप्पप्रोगपरिणए किं तिरिक्खजोणियपंचिंदियप्रोरालिय-सरीरकायप्पप्रोगपरिणए ? मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए ?

गोयमा ! तिरिक्खजोणिय जाव परिणए वा, मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए वा ।

[६१-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है, अथवा मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है ?

[६१ उ.] गौतम ! या तो वह तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय औदारिकशरीर-काय-प्रयोगपरिणत होता है, अथवा वह मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ।

६२. जइ तिरिक्खजोणिय जाव परिणए किं जलचरतिरिक्खजोणिय जाव परिणए वा ? थलचर० ? खहचर० ?

एवं चउक्कप्रो भेदो जाव खहचराणं ।

[६२-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है तो क्या वह जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-काय-प्रयोग-परिणत होता है, स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-काय-प्रयोगपरिणत होता है, अथवा खेचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[६२-उ.] गौतम ! वह जलचर, स्थलचर और खेचर, तीनों प्रकार के तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग से परिणत होता है, अतः यावत् खेचरों तक पूर्ववत् प्रत्येक के चार-चार भेदों (सम्मूर्च्छिम, गर्भज, पर्याप्तक और अपर्याप्तक) (के औदारिकशरीर कायप्रयोग-परिणत) के विषय में कहना चाहिए ।

६३. जदि मणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए किं सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदिय जाव परिणए ? गब्भवक्कंतियमणुस्स जाव परिणए ?

गोयमा ! दोसु वि ।

[६३-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, मनुष्यपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह सम्मूर्च्छिममनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा गर्भजमनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[६३-उ.] गौतम ! वह दोनों प्रकार के (सम्मूर्च्छिम अथवा गर्भज) मनुष्यों के औदारिक-शरीर-कायप्रयोग से परिणत होता है।

६४. जदि गब्भवक्कंतियमणुस्स जाव परिणए किं पज्जत्तगब्भवक्कंतिय जाव परिणए? अपज्जत्तगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिदियओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणए ?

गोयमा ! पज्जत्तगब्भवक्कंतिय जाव परिणए वा, अपज्जत्तगब्भवक्कंतिय जाव परिणए ।१।

[६४-प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, गर्भजमनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है तो क्या वह पर्याप्त-गर्भजमनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[६४-उ.] गौतम ! वह पर्याप्त-गर्भजमनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त-गर्भजमनुष्यपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है।

६५. जदि ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए ? बेइंदिय जाव परिणए जाव पंचेंदियओरालिय जाव परिणए ?

गोयमा ! एगिंदियओरालिय एवं जहा ओरालियसरीरकायप्पयोगपरिणएणं आलावगो भणिओ तहा ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणएण वि आलावगो भाणियव्वो, नवरं बायरवाउक्काइय-गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिय-गब्भवक्कंतियमणुस्साण य एएसि णं पज्जत्तापज्जत्तगाणं, सेसाणं अपज्जत्तगाणं । २ ।

[६५-प्र.] यदि एक द्रव्य, औदारिकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह एकेन्द्रिय-औदारिकमिश्र-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, द्वीन्द्रिय-औदारिकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-औदारिक-मिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[६५ उ.] गौतम ! वह एकेन्द्रिय-औदारिकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा द्वीन्द्रिय-औदारिकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-औदारिकमिश्र-शरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है। जिस प्रकार पहले औदारिकशरीर-कायप्रयोगपरिणत के आलापक कहे हैं, उसी प्रकार औदारिकमिश्र-कायप्रयोग-परिणत के भी आलापक कहने चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि बादरवायुकायिक, गर्भज पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक और गर्भज मनुष्यों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के विषय में और शेष सभी जीवों के अपर्याप्तक के विषय में कहना चाहिए।

६६. जदि वेउव्वियसरीरकायप्पयोगपरिणए किं एगिंदियवेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए जाव पंचिंदियवेउव्वियसरीर जाव परिणए ?

गोयमा ! एगिंदिय जाव परिणए वा पंचिंदिय जाव परिणए ।

[६६ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, वैक्रियशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है तो क्या वह एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोग-परिणत होता है ?

[६६ उ.] गौतम ! वह, एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है।

६७. जइ एगिंदिय जाव परिणए किं वाउक्काइयएगिंदिय जाव परिणए ? अवाउक्काइय-एगिंदिय जाव परिणते ?

गोयमा ! वाउक्काइयएगिंदिय जाव परिणए, नो अवाउक्काइय जाव परिणते। एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे[1] वेउव्वियसरीरं भणियं तहा इह वि भाणियव्वं जाव पज्जत्तसव्वट्ठ-सिद्धअणुत्तरोववातियकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए वा, अपज्जत्त-सव्वट्ठसिद्ध जाव कायप्पयोगपरिणए वा। ३।

[६७ प्र.] भगवन् ! यदि वह एक द्रव्य, एकेन्द्रियवैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अवायुकायिक (वायुकायिक जीवों के अतिरिक्त) एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है?

[६७ उ.] गौतम ! वह एक द्रव्य, वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, किन्तु अवायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत नहीं होता। (क्योंकि वायु-काय के सिवाय अन्य किसी एकेन्द्रिय में वैक्रियशरीर नहीं होता।) इसी प्रकार इस अभिलाप के द्वारा प्रज्ञापनासूत्र के 'अवगाहना संस्थान' नामक इक्कीसवें पद में वैक्रियशरीर (-कायप्रयोग-परिणत) के विषय में जैसा कहा है, (उसी के अनुसार) यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा वह अपर्याप्तक-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है।

६८. जदि वेउव्वियमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए किं एगिंदियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए वा जाव पंचिंदियमीसासरीरकायप्पयोगपरिणए ?

एवं जहा वेउव्वियं तहा मीसगं पि, नवरं देव-नेरइयाणं अपज्जत्तगाणं, सेसाणं पज्जत्तगाणं तहेव, जाव नो पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरो जाव प०, अपज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववातियदेवपंचिंदियवे-उव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए। ४।

[६८ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह एकेन्द्रिय-वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रिय-वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोगपरिणत होता है ?

[६८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार वैक्रियशरीर-कायप्रयोग-परिणत के विषय में कहा है, उसी प्रकार वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत के विषय में भी कहना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोग देवों और नैरयिकों के अपर्याप्त के विषय में कहना चाहिए। शेष

---

१. प्रज्ञापनासूत्र पद २१—अवगाहनासंस्थानपद पृ. ३२९ से ३४९ तक, सू. १४७४-१५६५ (म. वि.)

सभी पर्याप्त जीवों के विषय में कहना चाहिए, यावत् पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिक-देव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग-परिणत नहीं होता, किन्तु अपर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिककल्पातीतवैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है; (यहाँ तक कहना चाहिए)।

६९. जदि आहारगसरीरकायप्पओगपरिणए किं मणुस्साहारगसरीरकायप्पओगपरिणए ? अमणुस्साहारग जाव प० ?

एवं जहा ओगाहणसंठाणे जाव इड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय जाव परिणए, नो अणिड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय जाव प०। ५।

[६९ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, आहारकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह मनुष्याहारकशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अमनुष्य-आहारकशरीर- कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[६९ उ.] गौतम ! इस सम्बन्ध में जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के अवगाहनासंस्थान नामक (इक्कीसवें) पद में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् ऋद्धि-प्राप्त प्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्येयवर्षायुष्क मनुष्य-आहारकशरीर कायप्रयोगपरिणत होता है, किन्तु अनृद्धि-प्राप्त (आहारकलब्धि को अप्राप्त)-प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क मनुष्याहारक-शरीर-कायप्रयोग-परिणत नहीं होता।

७०. जदि आहारगमीसासरीरकायप्पयोगप० किं मणुस्साहारगमीसासरीर० ?

एवं जहा आहारगं तहेव मीसगं पि निरवसेसं भाणियव्वं। ६।

[७० प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य आहारकमिश्रशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह मनुष्याहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अमनुष्याहारक-शरीर-काय-प्रयोग परिणत होता है ?

[७० उ०] गौतम ! जिस प्रकार आहारकशरीरकायप्रयोग-परिणत (एक द्रव्य) के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार आहारकमिश्रशरीर-काय-प्रयोग-परिणत के विषय में भी कहना चाहिए।

७१. जदि कम्मासरीरकायप्पओगप० किं एगिंदियकम्मासरीरकायप्पओगप० जाव पंचिंदिय-कम्मासरीर जाव प० ?

गोयमा ! एगिंदियकम्मासरीरकायप्पओ० एवं जहा ओगाहणसंठाणे कम्मगस्स भेदो तहेव इहावि जाव पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयदेवपंचिंदियकम्मासरीरकायप्पयोगपरिणए वा, अपज्जत्त-सव्वट्ठसिद्धअणु० जाव परिणए वा। ७।

[७१ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, कार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, तो क्या वह एकेन्द्रिय-कार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रियकार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है ?

[७१ उ.] हे गौतम ! वह एकेन्द्रियकार्मणशरीरकायप्रयोग-परिणत होता है, इस सम्बन्ध में जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के (इक्कीसवें) अवगाहनासंस्थान-पद में कार्मण के भेद कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहने चाहिए; यावत् पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-कार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-कार्मणशरीर-कायप्रयोग-परिणत होता है; (यहाँ तक कहना चाहिए)।

७२. जइ मीसापरिणए किं मणमीसापरिणए ? वयमीसापरिणए ? कायमीसापरिणए ?

गोयमा ! मणमीसापरिणए वा, वयमीसापरिणते वा कायमीसापरिणए वा ।

[७२ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, मिश्रपरिणत होता है, तो क्या वह मनोमिश्रपरिणत होता है, या वचनमिश्रपरिणत होता है, अथवा कायमिश्रपरिणत होता है ?

[७२ उ.] गौतम ! वह मनोमिश्रपरिणत भी होता है, वचनमिश्रपरिणत भी होता है, या कायमिश्र-परिणत भी होता है।

७३. जदि मणमीसापरिणए किं सच्चमणमीसापरिणए ? मोसमणमीसापरिणए ?

जहा पओगपरिणए तहा मीसापरिणए वि भाणियव्वं निरवसेसं जाव पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव देवपंचिदियकम्मासरीरगमीसापरिणए वा, अपज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणु० जाव कम्मासरीरमीसापरिणए वा ।

[७३ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य मनोमिश्रपरिणत होता है, तो क्या वह सत्यमनोमिश्र-परिणत होता है, मृषामनोमिश्र-परिणत होता है, सत्यमृषामनोमिश्रपरिणित होता है, अथवा असत्यामृषामनोमिश्रपरिणत होता है ?

[७३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रयोग-परिणत एक द्रव्य के सम्बन्ध में कहा गया है, उसी प्रकार मिश्रपरिणत एक द्रव्य के विषय में कहना चाहिए यावत् पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिकदेव पंचेन्द्रिय कार्मण-शरीर-कायमिश्र-परिणत होता है, अथवा अपर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध—अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिक देवपंचेन्द्रियकार्मणशरीर-कायमिश्र-परिणत होता है।

७४. जदि वीससापरिणए किं वण्णपरिणए गंधपरिणए रसपरिणए फासपरिणए संठाणपरिणए ?

गोयमा ! वण्णपरिणए वा गंधपरिणए वा रसपरिणए वा फासपरिणए वा संठाणपरिणए वा ।

[७४ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, विस्रसा (स्वभाव से) परिणत होता है, तो क्या वह वर्णपरिणत होता है, गन्धपरिणत होता है, रसपरिणत होता है, स्पर्शपरिणत होता है, अथवा संस्थान-परिणत होता है ?

[७४ उ.] गौतम ! वह वर्णपरिणत होता है, या गन्धपरिणत होता है, अथवा रसपरिणत होता है, या स्पर्शपरिणत होता है, या वह संस्थानपरिणत होता है।

७५. जदि वण्णपरिणए किं कालवण्णपरिणए नील जाव सुक्किलवण्णपरिणए ?

गोयमा ! कालवण्णपरिणए वा जाव सुक्किलवण्णपरिणए वा।

[७५ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, वर्णपरिणत होता है तो क्या वह काले वर्ण के रूप में परिणत होता है, अथवा नीलवर्ण के रूप में परिणत होता है, अथवा यावत् शुक्लवर्ण के रूप में परिणत होता है ?

[७५ उ.] गौतम ! वह काले वर्ण के रूप में परिणत होता है, अथवा यावत् शुक्लवर्ण के रूप में परिणत होता है।

७६. जदि गंधपरिणए किं सुब्भिगंधपरिणए ? दुब्भिगंधपरिणए ?

गोयमा ! सुब्भिगंधपरिणए वा, दुब्भिगंधपरिणए वा।

[७६ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य गन्ध-परिणत होता है तो क्या वह सुरभिगन्ध रूप में परिणत होता है, अथवा दुरभिगन्धरूप में परिणत होता है ?

[७६ उ.] गौतम ! वह सुरभिगन्धरूप में परिणत होता है, अथवा दुरभिगन्ध रूप में परिणत होता है।

७७, जइ रसपरिणए किं तित्तरसपरिणए ५ पुच्छा ?

गोयमा ! तित्तरसपरिणए वा जाव महुररसपरिणए वा।

[७७ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, रसरूप में परिणत होता है, तो क्या वह तीखे (चरपरे) रस के रूप में परिणत होता है, अथवा यावत् मधुररस के रूप में परिणत होता है ?

[७७ उ.] गौतम ! वह तीखे रस के रूप में परिणत होता है, अथवा यावत् मधुररस के रूप में परिणत होता है।

७८. जइ फासपरिणए किं कक्खडफासपरिणए जाव लुक्खफासपरिणए ?

गोयमा ! कक्खडफासपरिणए वा जाव लुक्खफासपरिणए वा।

[७८ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, स्पर्शपरिणत होता है तो क्या वह कर्कशस्पर्शरूप में परिणत होता है, अथवा यावत् रूक्षस्पर्शरूप में परिणत होता है ?

[७८ उ.] गौतम ! वह कर्कशस्पर्शरूप में परिणत होता है, अथवा यावत् रूक्षस्पर्शरूप में परिणत होता है।

७९. जइ संठाणपरिणए० पुच्छा ?

गोयमा ! परिमंडलसंठाणपरिणए वा जाव आयसंठाणपरिणए वा।

[७९ प्र.] भगवन् ! यदि एक द्रव्य, संस्थान-परिणत होता है, तो क्या वह परिमण्डल-संस्थानरूप में परिणत होता है, अथवा यावत् आयत-संस्थानरूप में परिणत होता है ?

[७९ उ.] गौतम ! वह द्रव्य परिमण्डल-संस्थानरूप में परिणत होता है, अथवा यावत् आयत-संस्थानरूप में परिणत होता है।

विवेचन—मन-वचन-काय की अपेक्षा विभिन्न प्रकार से, प्रयोग से, मिश्र से, और विस्रसा से एक द्रव्य के परिणमन की प्ररूपणा—प्रस्तुत ३१ सूत्रों (सू. ४९ से ७९ तक) में मन, वचन और काया के विभिन्न विशेषणों और प्रकारों के माध्यम से एक द्रव्य के प्रयोग-परिणाम की, फिर मिश्रपरिणाम की और अन्त में वर्णादि की दृष्टि से विस्रसापरिणाम की अपेक्षा से प्ररूपणा की गई है।

प्रयोग की परिभाषा—मन, वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं अथवा वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों में होने वाले परिस्पन्दन (कम्पन या हलचल) को भी योग कहते हैं, इसी योग को यहाँ 'प्रयोग' कहा गया है।

योगों के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप—आलम्बन के भेद से प्रयोग के तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। ये ही मुख्य तीन योग हैं। फिर इनके अवान्तर भेद क्रमशः इस प्रकार हैं—सत्यमनोयोग, असत्य (मृषा) मनोयोग, सत्यमृषा (मिश्र) मनोयोग और असत्यामृषा (व्यवहार) मनोयोग। इसी प्रकार—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, सत्यमृषा (मिश्र) वचनयोग, और असत्यामृषावचनयोग। इसी प्रकार—औदारिकयोग, औदारिकमिश्रयोग, वैक्रिययोग, वैक्रियमिश्रयोग, आहारकयोग, आहारकमिश्रयोग और कार्मणयोग। इस प्रकार ४ मनोयोग के, ४ वचनयोग के और ७ काययोग के यों कुल मिलाकर योग के १५ भेद हुए। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—(१) **सत्यमनोयोग**—मन का जो व्यापार सत् (सज्जनपुरुषों या साधुओं या प्राणियों) के लिए हितकर हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाना वाला हो, अथवा सत्यपदार्थों या सत्तत्त्वों (जीवादि तत्त्वों) के प्रति यथार्थ विचार हो। (२) **असत्यमनोयोग**—सत्य से विपरीत अर्थात्—संसार की तरफ ले जाने रूप प्राणियों के लिए अहितकर विचार अथवा 'जीवादि तत्त्व नहीं हैं' इसका मिथ्याविचार। (३) **सत्यमृषामनोयोग**—व्यवहार से ठीक होने पर भी जो विचार निश्चय से पूर्ण सत्य न हो। (४) **असत्या-मृषामनोयोग**—जो विचार अपने आप में सत्य और असत्य दोनों ही न हो, केवल वस्तुस्वरूपमात्र दिखाया जाए। (५) सत्यवचनयोग, (६) असत्यवचनयोग, (७) सत्यमृषावचनयोग और (८) असत्यामृषावचनयोग, इनका स्वरूप मनोयोग के समान ही समझना चाहिए। मनोयोग में केवल विचारमात्र का ग्रहण है और वचनयोग में वाणी का ग्रहण है। वाणी द्वारा भावों को प्रकट करना वचनयोग है।

(१) **औदारिकशरीरकाययोग**—काय का अर्थ है—समूह। औदारिकशरीर, पुद्गलस्कन्धों का समूह होने से काय है। इससे होने वाले व्यापार को औदारिकशरीर-काययोग कहते हैं। यह योग मनुष्यों और तिर्यञ्चों में होता है।

(२) **औदारिकमिश्रशरीरकाययोग**—औदारिक के साथ कार्मण, वैक्रिय या आहारक की सहायता से होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं। यह योग उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक सभी औदारिकशरीरधारी जीवों को होता है। वैक्रियलब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च जब वैक्रिय शरीर का त्याग करते हैं, तब भी औदारिकमिश्र शरीर होता है। इसी तरह लब्धिधारी मुनिराज जब आहारक

शरीर बनाते हैं, तब आहारकमिश्रकाययोग होता है, किन्तु जब वे आहारक शरीर से निवृत्त होकर मूल शरीरस्थ होते हैं, तब औदारिकमिश्रकाय योग का प्रयोग होता है। केवली भगवान् जब केवली समुद्घात करते हैं, तब दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्रकाययोग का प्रयोग होता है।

(३) **वैक्रियकाययोग**—वैक्रियशरीर द्वारा होने वाली वीर्यशक्ति का व्यापार। यह मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वैक्रियलब्धिबल से वैक्रियशरीर धारण कर लेने पर होता है। देवों और नारकों के वैक्रियकाययोग 'भवप्रत्यय' होता है।

(४) **वैक्रियमिश्रकाययोग**—वैक्रिय और कार्मण, अथवा वैक्रिय और औदारिक, इन दो शरीरों के द्वारा होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को 'वैक्रियमिश्रकाययोग' कहते हैं। वैक्रिय और कार्मणसम्बन्धी वैक्रियमिश्रकाययोग, देवों तथा नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक रहता है। वैक्रिय और औदारिक, इन दो शरीरों सम्बन्धी वैक्रिय-मिश्रकाययोग, मनुष्यों और तिर्यंचों में तभी पाया जाता है, जब वे लब्धिबल से वैक्रिय शरीर का आरम्भ करते हैं। वैक्रियशरीर का त्याग करने में वैक्रियमिश्र नहीं होता, किन्तु औदारिकमिश्र होता है।

(५) **आहारककाययोग**—केवल आहारक शरीर की सहायता से होने वाला वीर्यशक्ति का व्यापार 'आहारककाययोग' होता है।

(६) **आहारकमिश्रकाययोग**—आहारक और औदारिक, इन दो शरीरों के द्वारा होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं। आहारक-शरीर को धारण करने के समय अर्थात्—उसे प्रारम्भ करने के समय तो आहारकमिश्रकाययोग होता है और उसके त्याग के समय औदारिकमिश्रकाययोग होता है।

(७) **कार्मणकाययोग**—केवल कार्मण शरीर की सहायता से वीर्यशक्ति की जो प्रवृत्ति होती है, उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के समय अनाहारक अवस्था में सभी जीवों में होता है। केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में केवली भगवान् के होता है।

कार्मणकाययोग की तरह तैजसकाययोग, इसलिए पृथक् नहीं माना कि तैजस और कार्मण दोनों का सदैव साहचर्य रहता है। वीर्यशक्ति का व्यापार भी दोनों का साथ-साथ होता है, इसलिए कार्मणकाययोग में ही तैजसकाययोग का समावेश हो जाता है।

प्रयोग-परिणत : तीनों योगों द्वारा—काययोग द्वारा मनोवर्गणा के द्रव्यों को ग्रहण करके मनोयोग द्वारा मनोरूप से परिणमाए हुए पुद्गल **'मनःप्रयोगपरिणत'** कहलाते हैं। काययोग द्वारा भाषाद्रव्य को ग्रहण करके वचनयोग द्वारा भाषारूप में परिणत करके बाहर निकाले जाने वाले पुद्गल **'वचन-प्रयोग-परिणत'** कहलाते हैं। औदारिक आदि काययोग द्वारा ग्रहण किये हुए औदारिकादि वर्गणाद्रव्यों को औदारिकादि शरीररूप में परिणमाए हों, उन्हें **'कायप्रयोगपरिणत'** कहते हैं।

आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ का स्वरूप—जीवों को प्राण से रहित कर देना 'आरम्भ' है, किसी जीव को मारने के लिए मानसिक संकल्प करना संरम्भ (सारम्भ) कहलाता है। जीवों को परिताप पहुँचाना समारम्भ कहलाता है। जीवहिंसा के अभाव को अनारम्भ कहते हैं।

आरम्भसत्यमनःप्रयोग आदि का अर्थ—आरम्भ कहते हैं, जीवोपघात को, तद्विषयक सत्य—

आरम्भसत्य है, और आरम्भसत्यविषयक मनःप्रयोग को आरम्भसत्यमनःप्रयोग कहते हैं। इसी प्रकार संरम्भ, समारम्भ और अनारम्भ को जोड़कर तदनुसार अर्थ कर लेना चाहिए।[1]

दो द्रव्य सम्बन्धी प्रयोग-मिश्र-विस्रसापरिणत पदों के मनोयोग आदि के संयोग से निष्पन्न भंग—

८०. दो भंते ! दव्वा किं पयोगपरिणया ? मीसापरिणया ? वीससापरिणया ?

गोयमा ! पओगपरिणया वा १। मीसापरिणया वा २। वीससापरिणया वा ३। अहवेगे पओगपरिणए, एगे मीसापरिणए ४। अहवेगे पओगप०, एगे वीससापरि० ५। अहवेगे मीसापरिणए, एगे वीससापरिणए, एवं ६।

[८०-प्र.] भगवन् ! दो द्रव्य, क्या प्रयोगपरिणत होते हैं, मिश्रपरिणत होते हैं, अथवा विस्रसा-परिणत होते हैं ?

[८०-उ.] गौतम ! वे प्रयोगपरिणत होते हैं, या मिश्रपरिणत होते हैं, अथवा विस्रसापरिणत होते हैं, अथवा एक द्रव्य प्रयोगपरिणत होता है और दूसरा मिश्रपरिणत होता है; या एक द्रव्य प्रयोग-परिणत होता है और दूसरा द्रव्य विस्रसापरिणत होता है; अथवा एक द्रव्य मिश्रपरिणत होता है और दूसरा विस्रसापरिणत होता है।

८१. जदि पओगपरिणया किं मणप्पयोगपरिणया ? वइप्पयोग० ? कायप्पयोगपरिणया ?

गोयमा ! मणप्पयोगपरिणता वा १। वइप्पयोगप० २। कायप्पयोगपरिणया वा ३। अहवेगे मणप्पयोगपरिणते, एगे वयप्पयोगपरिणते ४। अहवेगे मणप्पयोगपरिणए, एगे कायप्पओगपरिणए ५। अहवेगे वयप्पयोगपरिणते, एगे कायप्पओगपरिणते ६।

[८१-प्र.] यदि वे दो द्रव्य प्रयोगपरिणत होते हैं, तो क्या मनःप्रयोग-परिणत होते हैं, या वचनप्रयोग-परिणत होते हैं अथवा कायप्रयोग-परिणत होते हैं ?

[८१-उ.] गौतम ! वे (दो द्रव्य) या तो (१) मनःप्रयोगपरिणत होते हैं, या (२) वचन-प्रयोग-परिणत होते हैं, अथवा (३) काय-प्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा (४) उनमें से एक द्रव्य मनः-प्रयोगपरिणत होता है और दूसरा वचन-प्रयोग-परिणत होता है, अथवा (५) एक द्रव्य मनःप्रयोग-परिणत होता है और दूसरा काय-प्रयोगपरिणत होता है या (६) एक द्रव्य वचन-प्रयोगपरिणत होता है और दूसरा कायप्रयोग-परिणत होता है।

८२. जदि मणप्पयोगपरिणता किं सच्चमणप्पयोगपरिणता ? असच्चमणप्पयोगप० ? सच्चा-मोसमणप्पयोगप० ? असच्चाऽमोसमणप्पयोगप० ?

गोयमा ! सच्चमणप्पयोगपरिणया वा जाव असच्चामोसमणप्पयोगपरिणया वा। अहवेगे सच्चमणप्पयोगपरिणए, एगे मोसमणप्पओगपरिणए १। अहवेगे सच्चमणप्पओगपरिणते, एगे सच्चा-मोसमणप्पओगपरिणए २। अहवेगे सच्चमणप्पओगपरिणए, एगे असच्चामोसमणप्पओगपरिणए ३।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३५-३३६

अहवेगे मोसमणप्पयोगपरिणते, एगे सच्चामोसमणप्पयोगपरिणते ४। अहवेगे मोसमणप्पयोगपरिणते, एगे असच्चामोसमणप्पयोगपरिणते ५। अहवेगे सच्चामोसमणप्पओगपरिणते, एगे असच्चामोसमणप्पओगपरिणते ६।

[८२-प्र.] भगवन् ! यदि वे (दो द्रव्य) मन:प्रयोगपरिणत होते हैं, तो क्या सत्यमन:प्रयोग-परिणत होते हैं, या असत्य-मन:प्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा सत्यमृषामन:प्रयोग-परिणत होते हैं, या असत्यामृषा-मन:प्रयोगपरिणत होते हैं ?

[८२-उ.] गौतम ! वे (दो द्रव्य) (१-४) सत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं, यावत् असत्यामृषा-मन:प्रयोगपरिणत होते हैं; (५) या उनमें से एक द्रव्य सत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है और दूसरा मृषामन:प्रयोगपरिणत होता है, अथवा (६) एक द्रव्य सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है, और दूसरा सत्यमृषामन:प्रयोग-परिणत होता है, या (७) एक द्रव्य सत्यमन:प्रयोग-परिणत होता है और दूसरा असत्यामृषामन:प्रयोगपरिणत होता है; अथवा (८) एक द्रव्य मृषामन:प्रयोग-परिणत होता है, और दूसरा सत्यमृषामन:प्रयोगपरिणत होता है; या (९) एक द्रव्य मृषामन:प्रयोग-परिणत होता है और दूसरा असत्यामृषा-मन:प्रयोगपरिणत होता है अथवा (१०) एक द्रव्य सत्यमृषामन:प्रयोगपरिणत होता है, और दूसरा असत्यामृषामन:प्रयोगपरिणत होता है।

८३. जइ सच्चमणप्पओगपरिणता किं आरंभसच्चमणप्पयोगपरिणया जाव असमारंभसच्चमणप्पयोगपरिणता ?

गोयमा ! आरंभसच्चमणप्पयोगपरिणया वा जाव असमारंभसच्चमणप्पयोगपरिणया वा। अहवेगे आरंभसच्चमणप्पयोगपरिणते, एगे अणारंभसच्चमणप्पयोगपरिणते। एवं एएणं गमएणं दुयसंजोएणं नेयव्वं। सव्वे संयोगा जत्थ जत्तिया उट्ठेंति ते भाणियव्वा जाव सव्वट्ठसिद्धग त्ति।

[८३-प्र] भगवन् ! यदि वे (दो द्रव्य) सत्यमन:प्रयोग-परिणत होते हैं तो क्या वे आरम्भ-सत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं या अनारम्भसत्यमन:प्रयोग-परिणत होते हैं, अथवा संरम्भ (सारम्भ) सत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं, या असंरम्भ (असारम्भ) सत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा समारम्भसत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं या असमारम्भसत्यमन:प्रयोग परिणत होते हैं ?

[८३-उ.] गौतम ! वे दो द्रव्य (१-६) आरम्भसत्यमन:प्रयोग-परिणत होते हैं, अथवा यावत् असमारम्भसत्यमन:प्रयोगपरिणत होते हैं; अथवा एक द्रव्य आरम्भसत्यमन:प्रयोगपरिणत होता है और दूसरा अनारम्भसत्य-मन:प्रयोग-परिणत होता है; इसी प्रकार इस गम (पाठ) के अनुसार द्विक-संयोगी भंग करने चाहिए। जहाँ जितने भी द्विकसंयोग हो सकें, उतने सभी यहाँ कहने चाहिए यावत् सर्वार्थसिद्ध वैमानिक देव-पर्यन्त कहने चाहिए।

८४. जदि मीसापरिणता किं मणमीसापरिणता० ?

एवं मीसापरिणया वि।

[८४-प्र.] भगवन् ! यदि वे (दो द्रव्य) मिश्रपरिणत होते हैं तो मनोमिश्रपरिणत होते हैं ?, (इत्यादि पूर्ववत् प्रयोगपरिणत वाले प्रश्नों की तरह यहाँ भी सभी प्रश्न उपस्थित करने चाहिए।)

[८४-उ.] जिस प्रकार प्रयोग-परिणत के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार मिश्रपरिणत के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए।

८५. जदि वीससापरिणया किं वण्णपरिणया, गंधपरिणता० ? ।

एवं वीससापरिणया वि जाव अहवेगे चउरंससंठाणपरिणते, एगे आययसंठाणपरिणए वा ।

[८५-प्र.] भगवन् ! यदि दो द्रव्य विस्रसा-परिणत होते हैं, तो क्या वे वर्णरूप से परिणत होते हैं, गंधरूप से परिणत होते हैं, (अथवा यावत् संस्थानरूप से परिणत होते हैं ?)

[८५-उ.] गौतम ! जिस प्रकार पहले कहा गया है, उसी प्रकार विस्रसापरिणत के विषय में कहना चाहिए, यावत् एक द्रव्य, चतुरस्रसंस्थानरूप से परिणत होता है, एक द्रव्य आयत संस्थान से परिणत होता है।

विवेचन—दो-द्रव्यसम्बन्धी प्रयोग-मिश्र-विस्रसापरिणत पदों के मनोयोग आदि के संयोग से निष्पन्न भंग—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. ८० से ८५ तक) में दो द्रव्यों से सम्बन्धित विभिन्न विशेषणयुक्त मनोयोग आदि के संयोग से प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत पदों के विभिन्न भंगों का निरूपण किया गया है।

प्रयोगादि तीन पदों के छह भंग—दो द्रव्यों के सम्बन्ध में प्रयोगादि तीन पदों के असंयोगी ३ भंग और द्विकसंयोगी ३ भंग, यों कुल छह भंग होते हैं।

विशिष्ट-मनःप्रयोगपरिणत के पांच सौ चार भंग—सर्वप्रथम सत्यमनःप्रयोगपरिणत, असत्य-मनःप्रयोगपरिणत आदि ४ पदों के असंयोगी ४ भंग और द्विकसंयोगी ६ भंग, इस प्रकार कुल १० भंग होते हैं। फिर आरम्भ-सत्यमनःप्रयोग आदि छह पदों के असंयोगी ६ भंग और द्विकसंयोगी १५ भंग होते हैं। इस प्रकार आरम्भसत्यमनःप्रयोगपरिणत (द्रव्यद्वय) के ६+१५=२१ भंग हुए। इसी प्रकार अनारम्भ सत्यमनःप्रयोग आदि शेष ५ पदों के भी प्रत्येक के इक्कीस-इक्कीस भंग होते हैं। यों सत्यमनःप्रयोगपरिणत के आरम्भ, अनारम्भ, संरंभ, असंरंभ, समारम्भ, असमारम्भ, इन ६ पदों के साथ कुल २१×६=१२६ भंग हुए।

इसी प्रकार सत्यमनःप्रयोगपरिणत की तरह असत्यमनःप्रयोगपरिणत, सत्यमृषामनःप्रयोग-परिणत, असत्यामृषामनःप्रयोगपरिणत, इन तीन पदों के भी आरम्भ आदि ६ पदों के साथ प्रत्येक के पूर्ववत् एक सौ छव्वीस-एक सौ छव्वीस भंग होते हैं। अतः मनःप्रयोगपरिणत के सत्यमनःप्रयोग-परिणत, असत्यमनःप्रयोगपरिणत आदि विशेषणयुक्त चारों पदों के कुल १२६×४=५०४ भंग होते हैं।

पूर्वोक्त विशेषणयुक्त वचनप्रयोगपरिणत के भी ५०४ भंग—जिस प्रकार मनःप्रयोगपरिणत के उपर्युक्त ५०४ भंग होते हैं उसी प्रकार वचनप्रयोगपरिणत के भी ५०४ भंग होते हैं। सर्वप्रथम सत्य-वचनप्रयोग के आरम्भसत्य आदि ६ पदों के प्रत्येक के २१-२१ भंग होने से १२६ भंग होते हैं। फिर असत्यवचनप्रयोग आदि शेप तीन पदों के भी आरम्भ आदि ६ पदों के साथ प्रत्येक के १२६-१२६ भंग होने से कुल १२६×४=५०४ भंग होते हैं।

औदारिक आदि कायप्रयोगपरिणत के १९६ भंग—औदारिकशरीरकायप्रयोग-परिणत आदि ७ पद हैं, इनके असंयोगी ७ भंग और द्विकसंयोगी २१ भंग, यों कुल ७+२१=२८ भंग एक पद के होते हैं। सातों पदों के कुल २८×७=१९६ भंग कायप्रयोगपरिणत के होते हैं।

दो द्रव्यों के त्रियोगसम्बन्धी मिश्रपरिणत भंग—इस प्रकार मन:प्रयोगपरिणत सम्बन्धी ५०४, वचनप्रयोगपरिणत सम्बन्धी ५०४ और कायप्रयोगपरिणत सम्बन्धी १९६, यों कुल १२०४ भंग प्रयोग-परिणत के होते हैं। जिस प्रकार प्रयोगपरिणत दो द्रव्यों के कुल १२०४ भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार मिश्र-परिणत दो द्रव्यों के भी कुल १२०४ भंग समझने चाहिए।

विस्रसा-परिणत द्रव्यों के भंग—जिस रीति से प्रयोगपरिणत दो द्रव्यों के भंग कहे गए हैं, उसी रीति से विस्रसापरिणत दो द्रव्यों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान इन पांच पदों के विविध-विशेषणयुक्त पदों को लेकर असंयोगी और द्विकसंयोगी भंग भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए।[1]

तीन द्रव्यों के मन-वचन-काया की अपेक्षा प्रयोग-मिश्र-विस्रसापरिणत पदों के भंग—

८६. तिण्णि भंते ! दव्वा किं पयोगपरिणता ? मीसापरिणता ? वीससापरिणता ?

गोयमा ! पयोगपरिणया वा, मीसापरिणया वा, वीससापरिणया वा १। अहवेगे पयोगपरिणए, दो मीसापरिणता १। अहवेगे पयोगपरिणए, दो वीससापरिणता २। अहवा दो पयोगपरिणया, एगे मीसापरिणए ३। अहवा दो पयोगपरिणता, एगे वीससापरिणते ४। अहवेगे मीसापरिणए, दो वीससा-परिणता ५। अहवा दो मीससापरिणता, एगे वीससापरिणते ६। अहवेगे पयोगपरिणते, एगे मीसा-परिणते, एगे वीससापरिणते ७।

[८६-प्र.] भगवन् ! तीन द्रव्य क्या प्रयोगपरिणत होते हैं, मिश्रपरिणत होते हैं, अथवा विस्रसापरिणत होते हैं ?

[८६-उ.] गौतम ! तीन द्रव्य या तो प्रयोगपरिणत होते हैं, या मिश्र-परिणत होते हैं, अथवा विस्रसापरिणत होते हैं, या एक द्रव्य प्रयोगपरिणत होता है, और दो द्रव्य मिश्रपरिणत होते हैं, या एक द्रव्य प्रयोगपरिणत होता है, और दो द्रव्य विस्रसा-परिणत होते हैं; अथवा दो द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं और एक द्रव्य मिश्र-परिणत होता है, अथवा दो द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं, और एक द्रव्य विस्रसापरिणत होता है; अथवा एक द्रव्य मिश्रपरिणत होता है और दो द्रव्य विस्रसा-परिणत होते हैं, अथवा दो द्रव्य मिश्रपरिणत होते हैं, और एक द्रव्य विस्रसा-परिणत होता है; या एक द्रव्य प्रयोग-परिणत होता है, एक द्रव्य मिश्रपरिणत होता है और एक द्रव्य विस्रसा-परिणत होता है।

८७. जदि पयोगपरिणता किं मणप्पयोगपरिणया ? वइप्पयोगपरिणता ? कायप्पयोग-परिणता ?

गोयमा ! मणप्पयोगपरिणया वा० एवं एक्कगसंयोगो, दुयसंयोगो तियसंयोगो य भाणियव्वो।

[८७-प्र.] भगवन् ! यदि वे तीनों द्रव्य प्रयोगपरिणत होते हैं, तो क्या मन:प्रयोगपरिणत होते हैं, या वचनप्रयोगपरिणत होते हैं अथवा वे कायप्रयोगपरिणत होते हैं ?

[८७-उ.] गौतम ! वे (तीन द्रव्य) या तो मन:प्रयोगपरिणत होते हैं, या वचनप्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा कायप्रयोगपरिणत होते हैं। इस प्रकार एकसंयोगी (असंयोगी), द्विकसंयोगी और त्रिकसंयोगी भंग कहने चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३७-३३८

८८. जदि मणप्पयोगपरिणता किं सच्चमणप्पयोगपरिणया ४ ?

गोयमा ! सच्चमणप्पयोगपरिणया वा जाव असच्चामोसमणप्पयोगपरिणया वा ४। अहवेगे सच्चमणप्पयोगपरिणए, दो मोसमणप्पयोगपरिणया एवं दुयसंयोगो, तियसंयोगो भाणियव्वो। एत्थ वि तहेव जाव अहवा एगे तंससंठाणपरिणए वा एगे चउरंससंठाणपरिणए वा एगे आययसंठाणपरिणए वा।

[८८ प्र.] भगवन् ! यदि तीन द्रव्य मनःप्रयोग-परिणत होते हैं, तो क्या वे सत्यमनःप्रयोग-परिणत होते हैं, असत्यमनःप्रयोगपरिणत होते हैं ? इत्यादि प्रश्न है।

[८८ उ.] गौतम ! वे (त्रिद्रव्य) सत्यमनःप्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा यावत् असत्यामृषा-मनःप्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा उनमें से एक द्रव्य सत्यमनःप्रयोगपरिणत होता है, और दो द्रव्य मृषामनःप्रयोगपरिणत होते हैं; इत्यादि प्रकार से यहाँ भी द्विकसंयोगी भंग कहने चाहिए।

तीन द्रव्यों के प्रयोग-परिणत की तरह ही मिश्रपरिणत और विस्रसा-परिणत के भंग कहने चाहिए—यावत् अथवा एक त्र्यंस (त्रिकोण) संस्थानरूप से परिणत हो, एक समचतुरस्र-संस्थानरूप से परिणत हो और एक आयत-संस्थानरूप से परिणत हो, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—तीन द्रव्यों के मन-वचन-काया की अपेक्षा प्रयोग-मिश्र-विस्रसापरिणत पदों के भंग—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ८६ से ८८ तक) में तीन द्रव्यों के मन, वचन और काय की अपेक्षा, प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत इन तीन पदों के विविध भंगों का अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है।

तीन पदों के त्रिद्रव्यसम्बन्धी भंग—प्रयोगपरिणत आदि तीन पदों के असंयोगी तीन, द्विक-संयोगी छह, और त्रिकसंयोगी एक भंग होता है। कुल भंग १० होते हैं।

सत्यमनःप्रयोगपरिणत आदि के भंग—सत्यमनःप्रयोगपरिणत आदि ४ पद हैं, इनके असंयोगी (एक-एक) चार भंग, द्विकसंयोगी १२ भंग, और त्रिकसंयोगी ४ भंग होते हैं। यों कुल ४+१२+४=२० भंग हुए। इसी प्रकार मृषामनःप्रयोगपरिणत के भी ४ भंग समझने चाहिए। इसी रीति से वचनप्रयोगपरिणत और कायप्रयोगपरिणत के भंग समझ लेने चाहिए।

मिश्र और विस्रसापरिणत के भंग—प्रयोगपरिणत की तरह मिश्रपरिणत के और विस्रसा-परिणत के भी (वर्णादि के भेदों को लेकर) भंग कहने चाहिए।[1]

चार आदि द्रव्यों के मन-वचन-काया की अपेक्षा प्रयोगादिपरिणत पदों के संयोग से निष्पन्न भंग—

८९. चत्तारि भंते ! दव्वा किं पयोगपरिणया ३ ?

गोयमा ! पयोगपरिणया वा, मीसापरिणया वा, वीससापरिणया वा। अहवेगे पओगपरिणए, तिण्णि मीसापरिणया १। अहवा एगे पओगपरिणए, तिण्णि वीससापरिणया २। अहवा दो पयोग-परिणया, दो मीसापरिणया ३। अहवा दो पयोगपरिणया, दो वीससापरिणया ४। अहवा तिण्णि

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३९

पओगपरिणया, एगे मीससापरिणए ५। अहवा तिण्णि पओगपरिणया, एगे वीससापरिणए ६। अहवा एगे मीससापरिणए, तिण्णि वीससापरिणया ७। अहवा दो मीसापरिणया, दो वीससापरिणया ८। अहवा तिण्णि मीसापरिणया, एगे वीससापरिणए ९। अहवेगे पओगपरिणए एगे मीसापरिणए, दो वीससापरिणया १; अहवेगे पयोगपरिणए, दो मीसापरिणया, एगे वीससापरिणए २; अहवा दो पयोगपरिणया, एगे मीसापरिणए, एगे वीससापरिणए ३।

[८९ प्र.] भगवन् ! चार द्रव्य क्या प्रयोग-परिणत होते हैं, या मिश्रपरिणत होते हैं, अथवा विस्रसापरिणत होते हैं ?

[८९ उ.] गौतम ! वे (चार द्रव्य) (१) या तो प्रयोगपरिणत होते हैं, (२) या मिश्र-परिणत होते हैं, (३) अथवा विस्रसापरिणत होते हैं, (४) अथवा एक द्रव्य प्रयोगपरिणत होता है, तीन मिश्रपरिणत होते हैं, या (५) एक द्रव्य प्रयोग-परिणत होता है और तीन विस्रसा-परिणत होते हैं, (६) अथवा दो द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं और दो मिश्रपरिणत होते हैं, (७) या दो द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं और दो विस्रसापरिणत होते हैं; अथवा (८) तीन द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं और एक द्रव्य मिश्रपरिणत होता है; (९) अथवा तीन द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं और एक द्रव्य विस्रसा-परिणत होता है; अथवा (१०) एक द्रव्य मिश्र-परिणत होता है और तीन द्रव्य विस्रसापरिणत होते हैं, अथवा (११) दो द्रव्य मिश्रपरिणत होते हैं और दो द्रव्य विस्रसापरिणत होते हैं, अथवा (१२) तीन द्रव्य मिश्रपरिणत होते हैं और एक द्रव्य विस्रसापरिणत होता है, अथवा (१३) एक प्रयोगपरिणत होता है, एक मिश्रपरिणत होता है और दो विस्रसापरिणत होते हैं, अथवा (१४) एक प्रयोग-परिणत होता है, दो द्रव्य मिश्रपरिणत होते हैं और एक द्रव्य विस्रसापरिणत होता है, अथवा (१५) दो द्रव्य प्रयोगपरिणत होते हैं, एक मिश्रपरिणत होता है और एक विस्रसापरिणत होता है।

९०. जदि पयोगपरिणया किं मणप्पयोगपरिणया ३?

एवं एएणं कमेणं पंच छ सत्त जाव दस संखेज्जा असंखेज्जा अणंता य दव्वा भाणियव्वा। दुयासंजोएणं, तियासंजोगेणं जाव दससंजोएणं बारससंजोएणं उवजुंजिऊणं जत्थ जत्तिया संजोगा उट्ठेंति ते सव्वे भाणियव्वा। एए पुण जहा नवमसए पवेसणए भणीहामि तहा उवजुंजिऊण भाणियव्वा जाव असंखेज्जा। अणंता एवं चेव, नवरं एक्कं पदं अब्भहियं जाव अहवा अणंता परिमंडलसंठाण-परिणता जाव अणंता आययसंठाणपरिणया।

[९० प्र.] भगवन् ! यदि चार द्रव्य प्रयोग-परिणत होते हैं तो क्या वे मन:प्रयोगपरिणत होते हैं, या वचनप्रयोगपरिणत होते हैं, अथवा कायप्रयोगपरिणत होते हैं ?

[९० उ.] गौतम ! ये सब तथ्य पूर्ववत् कहने चाहिए। तथा इसी क्रम से पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस, यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त द्रव्यों के विषय में कहना चाहिए। द्विकसंयोग से, त्रिकसंयोग से, यावत् दस के संयोग से, बारह के संयोग से; जहाँ जिसके जितने संयोगी भंग बनते हों, उतने सब भंग उपयोगपूर्वक कहने चाहिए। ये सभी संयोगी भंग आगे नौवें शतक के

वत्तीसवें प्रवेशनक नामक उद्देशक में जिस प्रकार हम कहेंगे, उसी प्रकार उपयोग लगाकर यहाँ भी कहने चाहिए; यावत् अथवा अनन्त द्रव्य परिमण्डल-संस्थानरूप से परिणत होते हैं, यावत् अनन्त द्रव्य आयत-संस्थानरूप से परिणत होते हैं।

विवेचन—चार आदि द्रव्यों के मन-वचन-काय की अपेक्षा प्रयोगादि परिणत के संयोग से होने वाले भंग—प्रस्तुत सूत्रद्वय में चार आदि द्रव्यों के प्रयोगादि परिणामों के निमित्त से होने वाले भंगों का कथन किया गया है।

चार द्रव्यों सम्बन्धी प्रयोग-परिणत आदि तीन पदों के भंग—चार द्रव्यों के प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत आदि तीन पदों के असंयोगी ३ भंग, द्विकसंयोगी ९ भंग और त्रिकसंयोगी ३ भंग होते हैं। इस तरह ये सभी मिलकर ३+९+३=१५ भंग होते हैं। पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार इनसे आगे के भंगों के लिए पूर्वोक्त क्रम से संस्थानपर्यन्त यथायोग्य भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।

पंचद्रव्यसम्बन्धी और पांच से आगे के भंग—पांच द्रव्यों के असंयोगी तीन भंग, द्विकसंयोगी १२ भंग और त्रिकसंयोगी ६ भंग, यों कुल ३+१२+६=२१ भंग होते हैं। इस प्रकार पांच, छह, यावत् अनन्त द्रव्यों के भी यथायोग्य भंग वना लेने चाहिए। सूत्र के मूलपाठ में ११ संयोगी भंग नहीं वतलाया गया है; क्योंकि पूर्वोक्त पदों में ११ संयोगी भंग नहीं वनता।

नौवें शतक के ३२वें उद्देशक में गांगेय अनगार के प्रवेशनक सम्वन्धी भंग वताए गए हैं, तदनुसार यहाँ भी उपयोग लगाकर भंगों की योजना कर लेनी चाहिए।[1]

परिणामों की दृष्टि से पुद्गलों का अल्पबहुत्व—

९१. एएसि णं भंते! पोग्गलाणं पयोगपरिणयाणं मीसापरिणयाणं वीससापरिणयाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा?

गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला पयोगपरिणया, मीसापरिणया अणंतगुणा, वीससापरिणया अणंतगुणा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ अट्ठम सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

[९१ प्र.] भगवन्! प्रयोग-परिणत, मिश्र-परिणत और विस्रसा-परिणत, इन तीनों प्रकार के पुद्गलों में कौन-से (पुद्गल), किन (पुद्गलों) से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं?

[९१ उ.] गौतम! प्रयोगपरिणत पुद्गल सवसे थोड़े हैं, उनसे मिश्रपरिणत पुद्गल अनन्त-गुणे हैं, और उनसे विस्रसापरिणत पुद्गल अनन्तगुणे हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है'; ऐसा कह कर यावत् गौतम-स्वामी विचरण करने लगे।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३३९

विवेचन—परिणामों की दृष्टि से पुद्गलों का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत अन्तिमसूत्र में तीनों परिणामों की दृष्टि से पुद्गलों के अल्पबहुत्व की चर्चा की गई है।

सबसे कम और सबसे अधिक पुद्गल—मन-वचन-कायरूप योगों से परिणत पुद्गल सबसे थोड़े हैं, क्योंकि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अल्पकालिक है। प्रयोगपरिणत पुद्गलों से मिश्र-परिणतपुद्गल अनन्तगुणे हैं, क्योंकि प्रयोगपरिणामकृत आकार को न छोड़ते हुए विस्रसापरिणाम द्वारा परिणामान्तर को प्राप्त हुए मृतकलेवरादि अवयवरूप पुद्गल अनन्तानन्त हैं और विस्रसा-परिणत तो उनसे भी अनन्तगुणे हैं, क्योंकि जीव द्वारा ग्रहण न किये जा सकने योग्य परमाणु आदि पुद्गल अनन्तगुणे हैं।[1]

॥ अष्टम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४०

बीओ उद्देसओ : 'आसीविसे'

द्वितीय उद्देशक : 'आशीविष'

आशीविष : दो मुख्य प्रकार और उनके अधिकारी तथा विष-सामर्थ्य—

१. कतिविहा णं भंते ! आसीविसा पण्णत्ता !

गोयमा ! दुविहा आसीविसा पन्नत्ता, तं जहा—जातिआसीविसा य कम्मआसीविसा य।

[१ प्र.] भगवन् ! आशीविष कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! आशीविष दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार—जाति-आशीविष और कर्म-आशीविष।

२. जातिआसीविसा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—विच्छुयजातिआसीविसे, मंडुक्कजातिआसीविसे, उरगजातिआसीविसे, मणुस्सजातिआसीविसे।

[२ प्र.] भगवन् ! जाति-आशीविष कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[२ उ.] गौतम ! जाति-आशीविष चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे कि—(१) वृश्चिक-जाति-आशीविष, (२) मण्डूकजाति-आशीविष, (३) उरगजाति-आशीविष और (४) मनुष्यजाति-आशीविष।

३. विच्छुयजातिआसीविसस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पभू णं विच्छुयजातिआसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदि विसेणं विसपरिगयं विसट्टमाणिं पकरेत्तए। विसए से विसट्ठयाए, नो चेव णं संपत्तीए करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा १।

[३ प्र.] भगवन् ! वृश्चिकजाति-आशीविष का कितना विषय कहा गया है ? (अर्थात् वृश्चिकजाति-आशीविष का सामर्थ्य कितना है ?)

[३ उ.] गौतम ! वृश्चिकजाति-आशीविष, अर्द्धभरतक्षेत्र-प्रमाण शरीर को विषयुक्त-विषैला करने या विष से व्याप्त करने में समर्थ है। इतना उसके विष का सामर्थ्य है, किन्तु सम्प्राप्ति द्वारा अर्थात् क्रियात्मक प्रयोग द्वारा उसने न ऐसा कभी किया है, न करता है और न कभी करेगा।

४. मंडुक्कजातिआसीविसपुच्छा।

गोयमा ! पभू णं मंडुक्कजातिआसीविसे भरहप्पमाणमेत्तं बोंदि विसेणं विसपरिगयं०। सेसं तं चेव, नो चेव जाव करेस्संति वा २।

[४ प्र.] भगवन् ! मण्डूकजाति-आशीविष का कितना विषय है ?

[४ उ.] गौतम ! मण्डूकजाति-आशीविष अपने विष से भरतक्षेत्र-प्रमाण शरीर को विदलित करने एवं व्याप्त करने में समर्थ है। शेष सब पूर्ववत् जानना, यावत् (यह उसका सामर्थ्य मात्र है,) किन्तु सम्प्राप्ति से उसने कभी ऐसा किया नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं।

५. एवं उरगजातिआसीविसस्स वि, नवरं जंबुद्दीवप्पमाणमेत्तं बोंदि विसेणं विसपरिगयं०। सेसं तं चेव, नो चेव जाव करेस्संति वा ३।

[५] इसी प्रकार उरगजाति-आशीविष के सम्बन्ध में जानना चाहिए। इतना विशेष है कि वह जम्बूद्वीप-प्रमाण शरीर को विष से युक्त एवं व्याप्त करने में समर्थ है। यह उसका सामर्थ्यमात्र है, किन्तु सम्प्राप्ति से उसने ऐसा कभी किया नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं।

६. मणुस्सजातिआसीविसस्स वि एवं चेव, नवरं समयखेत्तप्पमाणमेत्तं बोंदि विसेणं विसपरिगयं०। सेसं तं चेव जाव करेस्संति वा ४।

[६] इसी प्रकार मनुष्यजाति-आशीविष के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वह समयक्षेत्र (मनुष्यक्षेत्र=ढाई द्वीप) प्रमाण शरीर को विष से विदलित एवं व्याप्त कर सकता है, किन्तु यह उसका सामर्थ्यमात्र है, सम्प्राप्ति द्वारा कभी ऐसा किया नहीं, करता नहीं और करेगा भी नहीं।

७. जदि कम्मआसीविसे किं नेरइयकम्मआसीविसे, तिरिक्खजोणियकम्मआसीविसे, मणुस्सकम्मआसीविसे, देवकम्मासीविसे ?

गोयमा ! नो नेरइयकम्मासीविसे, तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे वि, मणुस्सकम्मासीविसे वि, देवकम्मासीविसे वि।

[७ प्र.] भगवन् ! यदि कर्म-आशीविष है तो क्या वह नैरयिक-कर्म-आशीविष है, या तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है अथवा मनुष्य-कर्म-आशीविष है या देव-कर्म-आशीविष है ?

[७ उ.] गौतम ! नैरयिक-कर्म-आशीविष नहीं, किन्तु तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है, मनुष्य-कर्म-आशीविष है और देव-कर्म-आशीविष है।

८. जदि तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे ? जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे ?

गोयमा ! नो एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव नो चतुरिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे, पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे।

[८ प्र.] भगवन् ! यदि तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है, तो क्या एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है अथवा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है ?

[८ उ.] गौतम ! एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष नहीं, परन्तु पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है।

९. जदि पंचिदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे ? गब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे ?

एवं जहा वेउव्वियसरीरस्स भेदो जाव पज्जत्तासंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे, नो अपज्जत्तासंखेज्जवासाउय जाव कम्मासीविसे।

[९ प्र.] भगवन् ! यदि पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है तो क्या सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है या गर्भज पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-कर्म-आशीविष है ?

[९ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें शरीरपद में वैक्रिय शरीर के सम्बन्ध में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार कहना चाहिए। यावत् पर्याप्त संख्यातवर्ष की आयुष्य वाला गर्भज कर्मभूमिज पंचेन्द्रियतिर्यञ्जयोनिक-कर्म-आशीविष होता है; परन्तु अपर्याप्त असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाला यावत् कर्म-आशीविष नहीं होता।

१०. जदि मणुस्सकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे ? गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे ?

गोयमा ! णो सम्मुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे, गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे, एवं जहा वेउव्वियसरीरं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसकम्मासीविसे, नो अपज्जत्ता जाव कम्मासीविसे।

[१० प्र.] भगवन् ! यदि मनुष्य-कर्म-आशीविष है, तो क्या सम्मूर्च्छिम मनुष्य-कर्माशीविष है, या गर्भज मनुष्य-कर्म-आशीविष है ?

[१० उ.] गौतम ! सम्मूर्च्छिम मनुष्य-कर्म-आशीविष नहीं होता, किन्तु गर्भज मनुष्य-कर्म-आशीविष होता है। प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें शरीरपद में वैक्रियशरीर के सम्बन्ध में जिस प्रकार जीव-भेद कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् पर्याप्त संख्यात वर्ष के आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्य-कर्म-आशीविष होता है; परन्तु अपर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले यावत् कर्म-आशीविष नहीं होता।

११. जदि देवकम्मासीविसे किं भवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव वेमाणियदेवकम्मासीविसे ?

गोयमा ! भवणवासिदेवकम्मासीविसे, वाणमंतरदेव०, जोतिसिय०, वेमाणियदेवकम्मासीविसे वि।

[११ प्र.] भगवन् ! यदि देव-कर्माशीविष होता है, तो क्या भवनवासी देव-कर्माशीविष होता है; अथवा यावत् वैमानिकदेव-कर्म-आशीविष होता है ?

[११] गौतम ! भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये चारों प्रकार के देव-कर्म-आशीविष होते हैं।

१२. जइ भवणवासिदेवकम्मासीविसे किं असुरकुमारभवणवासिदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमार जाव कम्मासीविसे ?

गोयमा ! असुरकुमारभवणवासिदेवकम्मासीविसे वि जाव थणियकुमार जाव कम्मासीविसे वि।

[१२ प्र.] भगवन् ! यदि भवनवासी देव-कर्म-आशीविष होता है तो क्या असुरकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष होता है, अथवा यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष होता है ?

[१२ उ] गौतम ! असुरकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष होता है, यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देव भी कर्म-आशीविष होता है।

१३. जइ असुरकुमार जाव कम्मासीविसे किं पज्जत्तअसुरकुमारभवणवासिदेवकम्मासीविसे ? अपज्जत्तअसुरकुमारभवणवासिदेवकम्मासीविसे ?

गोयमा ! नो पज्जत्तअसुरकुमार जाव कम्मासीविसे, अपज्जत्तअसुरकुमारभवणवासिदेवकम्मासीविसे। एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१३ प्र.] भगवन् ! यदि असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष है तो क्या पर्याप्त असुरकुमारादि भवनवासी देव-कर्म-आशीविष है या अपर्याप्त असुरकुमारादि भवनवासी देव-कर्म-आशीविष है ?

[१३ उ.] गौतम ! पर्याप्त असुरकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष नहीं, परन्तु अपर्याप्त असुरकुमार भवनवासी देव-कर्म-आशीविष है। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए।

१४. जदि वाणमंतरदेवकम्मासीविसे किं पिसायवाणमंतर० ?

एवं सव्वेसिं पि अपज्जत्तगाणं।

[१४ प्र.] भगवन् ! यदि वाणव्यन्तरदेव-कर्म-आशीविष है, तो क्या पिशाच वाणव्यन्तर-देव-कर्माशीविष है, अथवा यावत् गन्धर्व वाणव्यन्तरदेव-कर्माशीविष है ?

[१४ उ.] गौतम ! वे पिशाचादि सर्व वाणव्यन्तरदेव अपर्याप्तवस्था में कर्माशीविष हैं।

१५. जोतिसियाणं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं।

[१५] इसी प्रकार सभी ज्योतिष्कदेव भी अपर्याप्तावस्था में कर्माशीविष होते हैं।

१६. जदि वेमाणियदेवकम्मासीविसे किं कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे ? कप्पातीतवेमाणियदेवकम्मासीविसे ?

गोयमा ! कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे, नो कप्पातीतवेमाणियदेवकम्मासीविसे।

[१६ प्र.] भगवन् ! यदि वैमानिकदेव कर्माशीविष हैं तो क्या कल्पोपपन्नक वैमानिक देव-कर्माशीविष है, अथवा कल्पातीत वैमानिक देव-कर्म-आशीविष है ?

[१६ उ.] गौतम ! कल्पोपपन्नक वैमानिकदेव कर्म-आशीविष होता है, किन्तु कल्पातीत वैमानिक देव कर्म-आशीविष नहीं होता ।

१७. जति कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं सोधम्मकप्पोव० जाव कम्मासीविसे जाव अच्चुयकप्पोवग जाव कम्मासीविसे ?

गोयमा ! सोधम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेव-कम्मासीविसे वि, नो आणयकप्पोवग जाव नो अच्चुतकप्पोवगवेमाणियदेव० ।

[१७ प्र.] भगवन् ! यदि कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष होता है तो क्या सौधर्म-कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष होता है, अथवा यावत् अच्युत कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष होता है ?

[१७ उ.] गौतम ! सौधर्म-कल्पोपपन्नक वैमानिकदेव यावत् सहस्रार कल्पोपपन्नक वैमानिक देव-पर्यन्त कर्म-आशीविष होते हैं, परन्तु आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष नहीं होता ।

१८. जदि सोहम्मकप्पोवग जाव कम्मासीविसे किं पज्जत्तसोधम्मकप्पोवगवेमाणिय० अपज्जत्तगसोहम्मग० ?

गोयमा ! नो पज्जत्तसोहम्मकप्पोवगवेमाणिय०, अपज्जत्तसोधम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मा-सीविसे ।

[१८ प्र.] भगवन् ! यदि सौधर्मकल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष है तो क्या पर्याप्त सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिकदेव कर्म-आशीविष है अथवा अपर्याप्त सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिकदेव कर्म-आशीविष है ?

[१८. उ.] गौतम ! पर्याप्त सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिक देव कर्म-आशीविष नहीं, परन्तु अपर्याप्त सौधर्मकल्पोपपन्न वैमानिकदेव कर्म-आशीविष है ।

१९. एवं जाव नो पज्जत्तसहस्सारकप्पोवगवेमाणिय जाव कम्मासीविसे, अपज्जत्तसहस्सार-कप्पोवग जाव कम्मासीविसे ।

[१९] इसी प्रकार यावत् पर्याप्त सहस्रार-कल्पोपपन्न वैमानिक देव कर्म-आशीविष नहीं, किन्तु अपर्याप्त सहस्रार-कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कर्म-आशीविष है ।

विवेचन—आशीविष, दो मुख्य प्रकार और उनके अधिकारी—प्रस्तुत १९ सूत्रों (सू. १ से १९ तक) में आशीविष, उसके मुख्य दो प्रकार, जाति-आशीविष और कर्म-आशीविष के अधिकारी जीवों का निरूपण किया गया है ।

आशीविष और उसके प्रकारों का स्वरूप—आशी का अर्थ है—दाढ़ (दंष्ट्रा) । जिन जीवों की दाढ़ में विष होता है, वे 'आशीविष' कहलाते हैं । आशीविष प्राणी दो प्रकार के होते हैं—जाति-आशीविष और कर्म-आशीविष । सांप, बिच्छू, मेंढक आदि जो प्राणी जन्म से ही आशीविष होते हैं,

वे जाति-आशीविष कहलाते हैं और जो कर्म यानी शाप आदि क्रिया द्वारा प्राणियों का विनाश करते हैं, वे कर्म-आशीविष कहलाते हैं। पर्याप्तक तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय और मनुष्य को तपश्चर्या आदि से अथवा अन्य किसी गुण के कारण आशीविष-लब्धि प्राप्त हो जाती है। ये जीव आशीविष-लब्धि के स्वभाव से शाप दे कर दूसरे का नाश करने की शक्ति पा लेते हैं। आशीविषलब्धि वाले जीव से आठवें देवलोक से आगे उत्पन्न नहीं हो सकते। जिन्होंने पूर्वभव में आशीविषलब्धि का अनुभव किया था, अतः पूर्वानुभूतभाव के कारण वे कर्म-आशीविष होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही वे आशीविषयुक्त होते हैं।

जाति-आशीविषयुक्त प्राणियों का विषसामर्थ्य—जाति-आशीविष-वाले प्राणियों के विष का जो सामर्थ्य बताया है, वह विषयमात्र है। उसका आशय यह है—जैसे किसी मनुष्य ने अपना शरीर अर्द्धभरतप्रमाण बनाया हो, उसके पैर में यदि विच्छू डंक मारे तो उसके मस्तक तक उसका विष चढ़ जाता है।[1] इसी प्रकार भरतप्रमाण, जम्बूद्वीपप्रमाण और ढाईद्वीपप्रमाण का अर्थ समझना चाहिए।

छद्मस्थ द्वारा सर्वभावेन ज्ञान के अविषय और केवली द्वारा सर्वभावेन ज्ञान के विषय-भूत दस स्थान—

२०. दस ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणति न पासति, तं जहा—धम्मत्थिकायं १ अधम्मत्थिकायं २ आगासत्थिकायं ३ जीवं असरीरपडिबद्धं ४ परमाणुपोग्गलं ५ सद्दं ६ गंधं ७ वातं ८ अयं जिणे भविस्सति वा ण वा भविस्सइ ९ अयं सव्वदुक्खाणं अंतं करेस्सति वा न वा करेस्सइ १०।

[२०] छद्मस्थ पुरुष इन दस स्थानों (बातों) को सर्वभाव से नहीं जानता और नहीं देखता। वे इस प्रकार हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) शरीर से रहित (मुक्त) जीव, (५) परमाणुपुद्गल, (६) शब्द, (७) गन्ध, (८) वायु, (९) यह जीव जिन होगा या नहीं? तथा (१०) यह जीव सभी दुःखों का अन्त करेगा या नहीं?

२१. एयाणि चेव उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणति पासति, तं जहा—धम्मत्थिकायं १ जाव करेस्सति वा न वा करेस्सति १०।

[२१] इन्हीं दस स्थानों (बातों) को उत्पन्न (केवल) ज्ञान-दर्शन के धारक अरिहन्त-जिन-केवली ही सर्वभाव से जानते और देखते हैं। यथा—धर्मास्तिकाय यावत्—'यह जीव समस्त दुःखों का अन्त करेगा या नहीं?'

विवेचन—सर्वभाव (पूर्णरूप) से छद्मस्थ के ज्ञान के अविषय और केवली के ज्ञान के विषय रूप दस स्थान—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र (सू. २०) में उन दस स्थानों (पदार्थों) के नाम गिनाए गये हैं, जिन्हें छद्मस्थ सर्वभावेन जान और देख नहीं सकता, द्वितीय सूत्र में उन्हीं दस का उल्लेख किया गया है, जिन्हें केवलज्ञानी सर्वभावेन जान और देख सकते हैं।

छद्मस्थ का प्रसंगवश विशेष अर्थ—यों तो छद्मस्थ का सामान्य अर्थ है—केवलज्ञानरहित,

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक ३४१-३४२

किन्तु यहाँ छद्मस्थ का विशेष अर्थ है—अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानरहित; क्योंकि विशिष्ट अवधिज्ञान धर्मास्तिकाय आदि को अमूर्त्त होने से नहीं जानता-देखता, किन्तु परमाणु आदि जो मूर्त्त हैं, उन्हें वह जान-देख सकता है, क्योंकि विशिष्ट अवधिज्ञान का विषय सर्व मूर्त्तद्रव्य हैं।

यदि यह शंका की जाए कि ऐसा छद्मस्थ भी परमाणु आदि को कथंचित् जानता है, सर्वभाव से (समस्त पर्यायों से) नहीं जानता-देखता, जबकि मूलपाठ में कहा गया है—सर्वभाव से नहीं जानता-देखता। इसका समाधान यह है कि यदि छद्मस्थ का ऐसा अर्थ किया जाएगा, तब तो छद्मस्थ के लिए सर्वभावेन अज्ञेय दस संख्या का नियम नहीं रहेगा, क्योंकि ऐसा छद्मस्थ घटादि पदार्थों को भी अनन्त पर्यायरूप से जानने में असमर्थ है। अत: 'सव्वभावेणं' (सर्वभाव से) का अर्थ साक्षात् (प्रत्यक्ष) करने से इस सूत्र का अर्थ संगत होगा कि अवधि आदि विशिष्टज्ञान-रहित छद्मस्थ, धर्मास्तिकाय आदि दस वस्तुओं को प्रत्यक्षरूप से नहीं जानता-देखता। उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारक, अरिहन्त जिन-केवली, केवलज्ञान से इन दस को सर्वभावेन अर्थात्—साक्षात्रूप से जानते-देखते हैं।[1]

ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप तथा भेद-प्रभेद का निरूपण—

२२. कतिविहे णं भंते ! नाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिनाणे मणपज्जवनाणे केवलनाणे।

[२२ प्र.] भगवन् ! ज्ञान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२२ उ.] गौतम ! ज्ञान पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन:पर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान।

२३. [१] से किं तं आभिणिबोहियनाणे ?

आभिणिबोहियनाणे चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—उग्गहो ईहा अवाओ धारणा।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिकज्ञान कितने प्रकार का (किस रूप का) कहा गया है ?

[२३-१ उ.] गौतम ! आभिनिबोधिकज्ञान चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय (अपाय) और (४) धारणा।

[२] एवं जहा रायप्पसेणइए णाणाणं भेदो तहेव इह वि भाणियव्वो जाव से त्तं केवलनाणे।

[२३-२] जिस प्रकार राजप्रश्नीय सूत्र में ज्ञानों के भेद कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहने चाहिए, यावत् 'यह है वह केवलज्ञान'; यहाँ तक कहना चाहिए।

२४. अण्णाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—मइअन्नाणे सुयअन्नाणे विभंगनाणे।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४२

[२४ प्र.] भगवन् ! अज्ञान कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२४ उ.] गौतम ! अज्ञान तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) मति-अज्ञान, (२) श्रुत-अज्ञान और (३) विभंगज्ञान।

२५. से किं तं मइअण्णाणे ?

मइअण्णाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—उग्गहो जाव धारणा।

[२५ प्र.] भगवन् ! मति-अज्ञान कितने प्रकार का है ?

[२५ उ.] गौतम ! मति-अज्ञान चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।

२६. [१] से किं तं उग्गहे ?

उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! वह अवग्रह कितने प्रकार का है ?

[२६-१ उ.] गौतम ! अवग्रह दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह।

[२] एवं जहेव आभिणिबोहियनाणं तहेव, नवरं एगट्ठियवज्जं जाव नोइंदियधारणा, से त्तं धारणा। से त्तं मतिअण्णाणे।

[२६-२] जिस प्रकार (नन्दीसूत्र में) आभिनिबोधिकज्ञान के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ आभिनिवोधिकज्ञान के प्रकरण में अवग्रह आदि के एकार्थिक (समानार्थक) शब्द कहे हैं, उन्हें छोड़कर यावत्—'नोइन्द्रिय-धारणा है', यह हुआ धारणा का स्वरूप यहाँ तक कहना चाहिए। यह हुआ मति-अज्ञान का स्वरूप।

२७. से किं तं सुयअण्णाणे ?

सुतअण्णाणे जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छद्दिट्ठिएहिं जहा नंदीए जाव चत्तारि वेदा संगोवंगा। से त्तं सुयअन्नाणे।

[२७ प्र.] भगवन् ! श्रुत-अज्ञान किस प्रकार का कहा गया है ?

[२७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार नन्दीसूत्र में कहा गया है—'जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्ररूपित है'; इत्यादि यावत्—सांगोपांग चार वेद तक श्रुत-अज्ञान है। इस प्रकार श्रुत-अज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

२८. से किं तं विभंगनाणे ?

विभंगनाणे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—गामसंठिए नगरसंठिए जाव संन्निवेससंठिए दीवसंठिए

समुद्दसंठिए वाससंठिए वासहरसंठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूभसंठिए हयसंठिए गयसंठिए नरसंठिए किन्नरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरगसंठिते गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पसु-पसय-विहग-वानरणाणासंठाणसंठिते पण्णत्ते।

[२८ प्र.] भगवन् ! वह विभंगज्ञान किस प्रकार का कहा गया है ?

[२८ उ.] गौतम ! विभंगज्ञान अनेक प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है— ग्रामसंस्थित (ग्राम के आकार का), नगरसंस्थित (नगराकार) यावत् सन्निवेशसंस्थित, द्वीपसंस्थित, समुद्रसंस्थित, वर्ष-संस्थित (भरतादि क्षेत्र के आकार), वर्षधरसंस्थित (क्षेत्र की सीमा करने वाले पर्वतों के आकार का), सामान्य पर्वत-संस्थित, वृक्षसंस्थित, स्तूपसंस्थित, हयसंस्थित (अश्वाकार), गजसंस्थित, नरसंस्थित, किन्नरसंस्थित, किम्पुरुषसंस्थित, महोरगसंस्थित, गन्धर्वसंस्थित, वृषभसंस्थित (बैल के आकार का), पशु, पशय (अर्थात्—दो खुरवाले जंगली चौपाये जानवर), विहग (पक्षी), और वानर के आकार वाला है। इस प्रकार विभंगज्ञान नाना संस्थानसंस्थित (आकारों से युक्त) कहा गया है।

विवेचन—ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप तथा भेद-प्रभेद का निरूपण—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. २२ से २८ तक) में ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप तथा नन्दीसूत्र और राजप्रश्नीयसूत्र के अतिदेशपूर्वक दोनों के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

पांच ज्ञानों का स्वरूप—(१) **आभिनिबोधिक**—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रहे हुए पदार्थ का अर्थाभिमुख (यथार्थ) निश्चित (संशयादि रहित) बोध (ज्ञान) आभिनिबोधिक है। इसका दूसरा नाम मतिज्ञान भी है। (२) **श्रुतज्ञान**—श्रुत अर्थात् श्रवण किये जाने वाले शब्द के द्वारा (वाच्यवाचक सम्बन्ध से) तत्सम्बद्ध अर्थ को इन्द्रिय और मन के निमित्त से ग्रहण कराने वाला भावश्रुतकारणरूप बोध श्रुतज्ञान कहलाता है। अथवा इन्द्रिय और मन की सहायता से श्रुत-ग्रन्थानुसारी एवं मतिज्ञान के अनन्तर शब्द और अर्थ के पर्यालोचनपूर्वक होने वाला बोध श्रुतज्ञान है। (३) **अवधिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मूर्तद्रव्यों को ही जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा नीचे-नीचे विस्तृत वस्तु का अवधान—परिच्छेद जिससे हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। (४) **मन:पर्यवज्ञान**—मनन किये जाते हुए मनोद्रव्यों के पर्याय-आकार विशेष को—संज्ञीजीवों के मनोगत भावों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना प्रत्यक्ष जानना। (५) **केवलज्ञान**—केवल=एक, मति आदि ज्ञानों से निरपेक्ष त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती सर्वद्रव्य-पर्यायों का युगपत्, शुद्ध, सकल, असाधारण एवं अनन्त हस्तामलकवत् प्रत्यक्षज्ञान।

आभिनिबोधिकज्ञान के चार प्रकारों का स्वरूप (१)**अवग्रह**—इन्द्रिय और पदार्थ के योग्य देश में रहने पर दर्शन के बाद (विशेषरहित) सामान्य रूप से सर्वप्रथम होने वाला पदार्थ का ग्रहण (बोध)(२)। **ईहा**—अवग्रह से जाने गए पदार्थ के विषय में संशय को दूर करते हुए उसके विशेष धर्म की विचारणा करना। (३) **अवाय**—ईहा से ज्ञात हुए पदार्थों में यही है, अन्य नहीं; इस प्रकार से अर्थ का निश्चय करना। (४) **धारणा**—अवाय से निश्चित अर्थ को स्मृति आदि के रूप में धारण कर लेना, ताकि उसकी विस्मृति न हो।

अर्थावग्रह-व्यंजनावग्रह का स्वरूप—अर्थावग्रह पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को कहते हैं। इसमें पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का अस्पष्ट ज्ञान होता है। इसकी स्थिति एक समय की है। अर्थावग्रह से पहले उपकरणेन्द्रिय द्वारा इन्द्रियसम्बद्ध शब्दादि विषयों का अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। इसकी जघन्य स्थिति आवलिका के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट दो से नौ श्वासोच्छ्वास की है। व्यञ्जनावग्रह 'दर्शन' के बाद चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। तत्पश्चात् इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर 'यह कुछ है', ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, वही अर्थावग्रह है।

अवग्रह आदि की स्थिति और एकार्थक नाम—अवग्रह की एक समय की, ईहा की अन्तर्मुहूर्त्त की, अवाय की अन्तर्मुहूर्त्त की और धारणा की स्थिति संख्यातवर्षीय आयु वालों की अपेक्षा संख्यात काल की और असंख्यातवर्षीय आयुवालों की अपेक्षा असंख्यातकाल की है। अवग्रह आदि चारों के प्रत्येक के पांच-पांच एकार्थक नाम नन्दीसूत्र में दिये गए हैं। चारों के कुल मिलाकर वीस भेद हैं।

श्रुतादि ज्ञानों के भेद—नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि १४ भेद हैं, अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, ये दो भेद हैं, मनःपर्यवज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति, ये दो भेद हैं। केवलज्ञान एक ही है, उसका कोई भेद नहीं है।

मति-अज्ञान आदि का स्वरूप और भेद—मिथ्यादृष्टि के मतिज्ञान को मति-अज्ञान कहते हैं, अर्थात्—सामान्य मति सम्यग्दृष्टि के लिए मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि के लिए मति-अज्ञान है। इसी तरह अविशेषित श्रुत, सम्यग्दृष्टि के लिए श्रुतज्ञान है और मिथ्यादृष्टि के लिए श्रुत-अज्ञान है। मिथ्या अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं। ज्ञान में अवग्रह आदि के जो एकार्थक नाम कहे गए हैं, उन्हें यहाँ अज्ञान के प्रकरण में नहीं कहना चाहिए। विभंगज्ञान का शब्दशः अर्थ इस प्रकार भी होता है—जिसमें विरुद्ध भंग—वस्तुविकल्प उठते हों, अथवा अवधिज्ञान से विरूप-विपरीत-मिथ्या-भंग (विकल्प) वाला ज्ञान।

ग्रामसंस्थित आदि का स्वरूप—ग्राम का अवलम्बन होने से वह विभंगज्ञान ग्रामाकार (ग्रामसंस्थित) कहलाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी ऊहापोह कर लेना चाहिए।[1]

औधिक, चौवीस दण्डकवर्ती तथा सिद्ध जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—

२९. जीवा णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! जीवा नाणी वि, अन्नाणी वि। जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी, अत्थेगतिया एगनाणी। जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। जे तिन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुतनाणी ओहिनाणी, अहवा आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी मणपज्जवनाणी। जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुतणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी। जे एगनाणी ते नियमा केवलनाणी। जे अण्णाणी ते अत्थेगतिया दुअण्णाणी, अत्थेगतिया

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४४-३४५

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन युक्त) भाग ३, पृष्ठ १३०२ से १३०४ तक

तिअण्णाणी। जे दुअण्णाणी ते मइअण्णाणी य सुयअण्णाणी य। जे तिअण्णाणी ते मतिअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी।

[२९ प्र.] भगवन्! जीव ज्ञानी है या अज्ञानी है?

[२९ उ.] गौतम! जीव ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी है। जो जीव ज्ञानी हैं, उनमें से कुछ जीव दो ज्ञान वाले हैं, कुछ जीव तीन ज्ञान वाले हैं, कुछ जीव चार ज्ञान वाले हैं और कुछ जीव एक ज्ञान वाले हैं। जो दो ज्ञान वाले हैं, वे मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी होते हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी हैं, अथवा आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी होते हैं। जो चार ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी हैं। जो एक ज्ञान वाले हैं, वे नियमत: केवलज्ञानी हैं। जो जीव अज्ञानी हैं, उनमें से कुछ जीव दो अज्ञान वाले हैं, कुछ तीन अज्ञान वाले होते हैं। जो जीव दो अज्ञान वाले हैं, वे मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी हैं; जो जीव तीन अज्ञान वाले हैं, वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी हैं।

३०. नेरइया णं भंते! किं नाणी, अण्णाणी?

गोयमा! नाणी वि अण्णाणी वि। जे नाणी ते नियमा तिन्नाणी, तं जहा—आभिणिवोहि० सुयनाणी ओहिनाणी। जे अण्णाणी ते अत्थेगतिया दुअण्णाणी, अत्थेगतिया तिअण्णाणी। एवं तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए।

[३० प्र.] भगवन्! नैरयिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं?

[३० उ.] गौतम! नैरयिक जीव ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। उनमें जो ज्ञानी हैं, वे नियमत: तीन ज्ञान वाले हैं, यथा—आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी। जो अज्ञानी हैं, उनमें से कुछ दो अज्ञानवाले हैं, और कुछ तीन अज्ञान वाले हैं। इस प्रकार तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते हैं।

३१. [१] असुरकुमारा णं भंते किं नाणी अण्णाणी?

जहेव नेरइया तहेव तिण्णि नाणाणि नियमा. तिण्णि य अण्णाणाणि भयणाए।

[३१-१ प्र.] भगवन्! असुरकुमार ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं?

[३१-१ उ.] गौतम! जैसे नैरयिकों का कथन किया गया है, उसी प्रकार असुरकुमारों का भी कथन करना चाहिए। अर्थात्—जो ज्ञानी हैं, वे नियमत: तीन ज्ञान वाले हैं और जो अज्ञानी हैं, वे भजना (विकल्प) से तीन अज्ञान वाले हैं।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[३१-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए।

३२. [१] पुढविक्काइया णं भंते! किं नाणी अण्णाणी?

गोयमा! नो नाणी, अण्णाणी—मतिअण्णाणी य, सुतअण्णाणी य।

[३२-१ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी?

[३२-१ उ.] गौतम! वे ज्ञानी नहीं हैं, अज्ञानी हैं। वे नियमत: दो अज्ञान वाले हैं; यथा—मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी।

[२] एवं जाव वणस्सइकाइया ।

[३२-२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त कहना चाहिए ।

३३. [१] बेइंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । जे नाणी ते नियमा दुण्णाणी, तं जहा— आभिणिबोहिय-नाणी य सुयणाणी य । जे अण्णाणी ते नियमा दुअण्णाणी—आभिणिबोहियअण्णाणी य सुयअण्णाणी य ।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[३३-१ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । जो ज्ञानी हैं, वे नियमतः दो ज्ञान वाले हैं, यथा—मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी । जो अज्ञानी हैं, नियमतः दो अज्ञान वाले हैं, यथा—मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी ।

[२] एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि ।

[३३-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी कहना चाहिए ।

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! नाणी वि अण्णाणी वि । जे नाणी ते अत्थेगतिया दुण्णाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी । एवं तिण्णि नाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि य भयणाए ।

[३४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[३४ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । जो ज्ञानी हैं, उनमें से कितने ही दो ज्ञान वाले हैं और कई तीन ज्ञान वाले हैं । इस प्रकार (पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों के) तीन ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

३५. मणुस्सा जहा जीवा तहेव पंच नाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि य भयणाए ।

[३५] जिस प्रकार औघिक जीवों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार मनुष्यों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

३६. वाणमंतरा जहा नेरइया ।

[३६] वाणव्यन्तर देवों का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए ।

३७. जोतिसिय-वेमाणियाणं तिण्णि नाणा तिण्णि अन्नाणा नियमा ।

[३७] ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में तीन ज्ञान अथवा तीन अज्ञान नियमतः होते हैं ।

३८. सिद्धा णं भंते ! पुच्छा।

गोयमा ! णाणी, नो अण्णाणी। नियमा एगनाणी—केवलनाणी।

[३८ प्र.] भगवन् ! सिद्ध भगवान् ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[३८ उ.] गौतम ! सिद्ध भगवान् ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं हैं। वे नियमतः एक—केवलज्ञान वाले हैं।

विवेचन—औधिक जीवों, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों एवं सिद्धों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू-२९ से ३८ तक) में औधिक जीवों, नैरयिक से लेकर वैमानिकपर्यन्त चौवीस दण्डकवर्ती जीवों और सिद्धों में पाये जाने वाले ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा की गई है।

नैरयिकों में तीन ज्ञान नियमतः, तीन अज्ञान भजनातः—सम्यग्दृष्टि नैरयिकों में भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, इसलिए वे नियमतः तीन ज्ञान वाले होते हैं। किन्तु जो अज्ञानी होते हैं, उनमें कितने ही दो अज्ञान वाले होते हैं, जब कोई असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च नरक में उत्पन्न होता है, तब उसके अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान नहीं होता, इस अपेक्षा से नारकों में दो अज्ञान कहे गए हैं। जो मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय नरक में उत्पन्न होता है, तो उसको अपर्याप्त अवस्था में भी विभंगज्ञान होता है। अतः इस अपेक्षा से नारकों में तीन अज्ञान कहे गए हैं।

तीन विकलेन्द्रिय जीवों में दो ज्ञान—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में जिस औपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ने या तिर्यञ्च ने पहले आयुष्य बांध लिया है, वह उपशम-सम्यक्त्व का वमन करता हुआ उनमें (द्वी-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीवों में) उत्पन्न होता है। उस जीव को अपर्याप्त दशा में सास्वादनसम्यग्दर्शन होता है, जो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका तक रहता है; तब तक सम्यग्दर्शन होने के कारण वह ज्ञानी रहता है, उस अपेक्षा से विकलेन्द्रियों में दो ज्ञान बतलाए हैं। इसके पश्चात् तो वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाने से अज्ञानी हो जाता है।[1]

गति आदि आठ द्वारों की अपेक्षा ज्ञानी-अज्ञानी-प्ररूपणा—

३९. निरयगतिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। तिण्णि नाणाइं नियमा, तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए।

[३९ प्र.] भगवन् ! निरयगतिक (नरकगति में जाते हुए) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[३९ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं, वे नियमतः तीन ज्ञान वाले हैं, और जो अज्ञानी हैं, वे भजना से तीन अज्ञान वाले हैं।

४०. तिरियगतिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! दो नाणा, दो अन्नाणा नियमा।

[४० प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चगतिक (तिर्यञ्चगति में जाते हुए) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४५

[४० उ.] गौतम ! उनमें नियमतः दो ज्ञान या दो अज्ञान होते हैं ।

४१. मणुस्सगतिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा ।

[४१ प्र.] भगवन् ! मनुष्यगतिक (मनुष्यगति में जाते हुए) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[४१ उ.] गौतम ! उनके भजना (विकल्प) से तीन ज्ञान होते हैं, और नियमतः दो अज्ञान होते हैं ।

४२. देवगतिया जहा निरयगतिया ।

[४२] देवगतिक जीवों में ज्ञान और अज्ञान का कथन निरयगतिक जीवों के समान समझना चाहिए ।

४३. सिद्धगतिया णं भंते ! ० ।

जहा सिद्धा (सु. ३८) । १ ।

[४३ प्र.] भगवन् ! सिद्धगतिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[४३ उ.] गौतम ! उनका कथन सिद्धों की तरह करना चाहिए । अर्थात्—वे नियमतः एक केवलज्ञान वाले होते हैं । (प्रथमद्वार)

४४. सइंदिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[४४ प्र.] भगवन् ! सेन्द्रिय (इन्द्रिय वाले) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[४४ उ.] गौतम ! उनके चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

४५. एगिंदिया णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा पुढविक्काइया ।

[४५ प्र.] भगवन् ! एक इन्द्रिय वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! इनके विषय में पृथ्वीकायिक जीवों (सू. २७ में कथित) की तरह कहना चाहिए ।

४६. बेइंदिय-तेइंदिय-चतुरिंदियाणं दो नाणा, दो अण्णाणा नियमा ।

[४६] दो इन्द्रियों, तीन इन्द्रियों और चार इन्द्रियों वाले जीवों में दो ज्ञान या दो अज्ञान नियमतः होते हैं ।

४७. पंचिंदिया जहा सइंदिया ।

[४७] पांच इन्द्रियों वाले जीवों का कथन सेन्द्रिय जीवों की तरह करना चाहिए ।

४८. अणिंदिया णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सिद्धा (सु. ३८) । २ ।

[४८ प्र.] भगवन् ! अनिन्द्रिय (इन्द्रियरहित) जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[४८ उ.] गौतम ! उनके विषय में सिद्धों (सू. ३८ में कथित) की तरह जानना चाहिए । (द्वितीय द्वार)

४९. सकाइया णं भंते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ?

गोयमा ! पंच नाणाणि तिण्णि अन्नाणाइं भयणाए ।

[४९ प्र.] भगवन् ! सकायिक (कायासहित) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[४९ उ.] गौतम ! सकायिक जीवों के पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

५०. पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया नो नाणी, अण्णाणी । नियमा दुअण्णाणी; तं जहा— मतिअण्णाणी य सुयअण्णाणी य ।

[५०] पृथ्वीकायिक से यावत् वनस्पतिकायिक जीव तक ज्ञानी नहीं, अज्ञानी होते हैं । वे नियमतः दो अज्ञान (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) वाले होते हैं ।

५१. तसकाइया जहा सकाइया (सु. ४९) ।

[५१] त्रसकायिक जीवों का कथन सकायिक जीवों के समान [सू. ४९] समझना चाहिए ।

५२. अकाइया णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सिद्धा (सु. ३८) । ३ ।

[५२ प्र.] भगवन् ! अकायिक (कायारहित) जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[५२ उ.] गौतम ! इनके विषय में सिद्धों की तरह जानना चाहिए । (तृतीयद्वार)

५३. सुहुमा णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा पुढविकाइया (सु. ५०) ।

[५३ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[५३ उ.] गौतम ! इनके विषय में पृथ्वीकायिक जीवों (सू. ५० में कथित) के समान कथन करना चाहिए ।

५४. बादरा णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सकाइया (सु. ४९) ।

[५४ प्र.] भगवन् ! बादर जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[५४ उ.] गौतम ! इनके विषय में सकायिक जीवों (सू. ४९ में कथित) के समान कहना चाहिए ।

५५. नोसुहुमानोबादरा णं भंते ! जीवा० ?

जहा सिद्धा (सु. ३८) । ४ ।

[५५ प्र.] भगवन् ! नो-सूक्ष्म-नो-बादर जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[५५ उ.] गौतम ! इनका कथन सिद्धों की तरह समझना चाहिए । (चतुर्थ-द्वार)

५६. पज्जत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सकाइया (सु. ४६) ।

[५६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्तक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[५६ उ.] गौतम ! इनका कथन सकायिक (सू. ४९ में कथित) जीवों के समान जानना चाहिए ।

५७. पज्जत्ता णं भंते ! नेरतिया किं नाणी० ?

तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा नियमा ।

[५७ प्र] भगवन् ! पर्याप्तक नैरयिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[५७ उ.] गौतम ! इनमें नियमतः तीन ज्ञान या तीन अज्ञान होते हैं ।

५८. जहा नेरइया एवं जाव थणियकुमारा ।

[५८] पर्याप्त नैरयिक जीवों की तरह यावत् पर्याप्त स्तनितकुमार तक में ज्ञान और अज्ञान का कथन करना चाहिए ।

५९. पुढविकाइया जहा एगिंदिया । एवं जाव चतुरिंदिया ।

[५९] (पर्याप्त) पृथ्वीकायिक जीवों का कथन एकेन्द्रिय जीवों (सू. ४५ में कथित) की तरह करना चाहिए । इसी प्रकार यावत् (पर्याप्त) चतुरिन्द्रिय (अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) तक समझना चाहिए ।

६०. पज्जत्ता णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं नाणी, अण्णाणी ?

तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए ।

[६० प्र.] भगवन् ! पर्याप्त पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[६० उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान और तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते हैं ।

६१. मणुस्सा जहा सकाइया (सु. ४६) ।

[६१] पर्याप्त मनुष्यों के सम्बन्ध में कथन सकायिक जीवों (सू. ४९ में कथित) की तरह करना चाहिए।

६२. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा नेरइया (सु. ५७)।

[६२] पर्याप्त वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का कथन नैरयिक जीवों (सू. ५७) की तरह समझना चाहिए।

६३. अपज्जत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी २ ?

तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए।

[६३ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्तक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?
[६३ उ.] उनमें तीन ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

६४. [१] अपज्जत्ता णं भंते ! नेरतिया किं नाणी, अन्नाणी ?

तिण्णि नाणा नियमा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए।

[६४-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त नैरयिक जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?
[६४-१ उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान नियमतः होते हैं अथवा तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[६४-२] नैरयिक जीवों की तरह यावत् अपर्याप्त स्तनितकुमार देवों तक इसी प्रकार कथन करना चाहिए।

६५. पुढविक्काइया जाव वणस्सतिकाइया जहा एगिंदिया।

[६५] (अपर्याप्त) पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों तक का कथन एकेन्द्रिय जीवों की तरह करना चाहिए।

६६. [१] बेंदिया णं० पुच्छा।

दो नाणा, दो अण्णाणा णियमा।

[६६-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त द्वीन्द्रिय ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?
[६६-१ उ.] गौतम ! इनमें दो ज्ञान अथवा दो अज्ञान नियमतः होते हैं।

[२] एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[६६-२] इसी प्रकार यावत् (अपर्याप्त) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक तक जानना चाहिए।

६७. अपज्जत्तगा णं भंते ! मणुस्सा किं नाणी, अन्नाणी ?

तिण्णि नाणाइं भयणाए, दो अण्णाणाइं नियमा।

[६७ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्तक मनुष्य ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[६७ उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान भजना से होते हैं और दो अज्ञान नियमतः होते हैं।

६८. वाणमंतरा जहा नेरतिया (सु. ६४)।

[६८] अपर्याप्त वाणव्यन्तर जीवों का कथन नैरयिक जीवों की तरह (सू. ६४ के अनुसार) समझना चाहिए।

६९. अपज्जत्तगा जोतिसिय-वेमाणिया णं० ?

तिण्णि नाणा, तिन्नि अण्णाणा नियमा।

[६९ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त ज्योतिष्क और वैमानिक ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[६९ उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान या तीन अज्ञान नियमतः होते हैं।

७०. नोपज्जत्तगनोअपज्जत्तगा णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सिद्धा (सु. ३८)। ५।

[७० प्र.] भगवन् ! नो-पर्याप्त-नो-अपर्याप्त जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[७० उ.] गौतम ! इनका कथन सिद्ध जीवों (सू. ३८) के समान जानना चाहिए।

(पंचम द्वार)

७१, निरयभवत्था णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

जहा निरयगतिया (सु. ३९)।

[७१ प्र.] भगवन् ! निरय-भवस्थ (नारक-भव में रहे हुए) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७१ उ.] गौतम ! इनके विषय में निरयगतिक जीवों के समान (सू. ३९ के अनुसार) कहना चाहिए।

७२. तिरियभवत्था णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

तिण्णि नाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए।

[७२ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चभवस्थ जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७२ उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

७३. मणुस्सभवत्था णं० ?

जहा सकाइया (सु. ४९)।

[७३ प्र.] भगवन् ! मनुष्यभवस्थ जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७३ उ.] गौतम ! इनका कथन सकायिक जीवों की तरह (सू. ४९ के अनुसार) करना चाहिए।

७४. देवभवत्था णं भंते ! ० ?

जहा निरयभवत्था (सु. ७१) ।

[७४ प्र.] भगवन् ! देवभवस्थ जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७४ उ.] गौतम ! निरयभवस्थ जीवों के समान (सू. ७१ के अनुसार) इनके विषय में कहना चाहिए।

७५. अभवत्था जहा सिद्धा (सु. ३८) । ६ ।

[७५] अभवस्थ जीवों के विषय में सिद्धों की तरह (सू. ३८ के अनुसार) जानना चाहिए।

(छठा द्वार)

७६. भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सकाइया (सु. ४९) ।

[७६ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक (भव्य) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७६ उ.] गौतम ! इनका कथन सकायिक जीवों के समान (सू. ४९ के अनुसार) जानना चाहिए।

७७. अभवसिद्धिया णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो नाणी; अण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[७७ प्र.] भगवन् ! अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[७७ उ.] गौतम ! ये ज्ञानी नहीं, किन्तु अज्ञानी हैं। इनमें तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

७८. नोभवसिद्धियनोअभवसिद्धिया णं भंते ! जीवा० ?

जहा सिद्धा (सु. ३८) । ७ ।

[७८ प्र.] भगवन् ! नोभवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिक जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[७८ उ.] गौतम ! इनके सम्बन्ध में सिद्ध जीवों के समान (सू. ३८ के अनुसार) कहना चाहिए।

(सप्तम द्वार)

७९. सण्णी णं० पुच्छा ।

जहा सइंदिया (सु. ४४) ।

[७९ प्र.] भगवन् ! संज्ञीजीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[७९ उ.] गौतम ! सेन्द्रिय जीवों के कथन के समान (सू. ४४ के अनुसार) इनके विषय में कहना चाहिए।

८०. असण्णी जहा बेइंदिया (सु. ४६) ।

[८०] असंज्ञी जीवों के विषय में द्वीन्द्रिय जीवों के समान (सू. ४६ के अनुसार) कहना चाहिए।

८१. नोसण्णीनोअसण्णी जहा सिद्धा (सु. ३८)। ८।

[८१] नो-संज्ञी-नो-असंज्ञी जीवों का कथन सिद्ध जीवों की तरह (सू. ३८ के अनुसार) जानना चाहिए। (अष्टम द्वार)

विवेचन—गति आदि आठ द्वारों की अपेक्षा ज्ञानी-अज्ञानी प्ररूपणा—प्रस्तुत ४३ सूत्रों (सू. ३९ से ८१ तक) में गति, इन्द्रिय, काय, सूक्ष्म, पर्याप्त, भवस्थ, भवसिद्धिक एवं संज्ञी, इन आठ द्वारों के माध्यम से उन-उन गति आदि वाले जीवों में सम्भवित ज्ञान या अज्ञान की प्ररूपणा की गई है।

गति आदि द्वारों के माध्यम से जीवों में ज्ञान-अज्ञान की प्ररूपणा—(१) गतिद्वार—गति की अपेक्षा पांच प्रकार के जीव हैं—नरकगतिक, तिर्यंचगतिक, मनुष्यगतिक, देवगतिक और सिद्धगतिक। निरयगतिक जीव वे हैं, जो यहाँ से मर कर नरक में जाने के लिए विग्रहगति (अन्तरालगति) में चल रहे हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य, जो नरक में जाने वाले हैं, वे यदि सम्यग्दृष्टि हों तो ज्ञानी होते हैं, क्योंकि उन्हें अवधिज्ञान भवप्रत्यय होने के कारण विग्रहगति में भी होता है, और नरक में नियमतः उन्हें तीन ज्ञान होते हैं। यदि वे मिथ्यादृष्टि हों तो वे अज्ञानी होते हैं, उनमें से नरकगामी यदि असंज्ञी पंचेद्रियतिर्यंच हो तो विग्रहगति में अपर्याप्त अवस्था तक उसे विभंगज्ञान नहीं होता, उस समय तक उसे दो अज्ञान ही होते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय नरकगामी को विग्रहगति में भी भवप्रत्ययिक विभंगज्ञान होता है, इसलिए निरयगतिक में तीन अज्ञान भजना से कहे गए हैं। तिर्यंचगतिक जीव वे हैं जो यहाँ से मर कर तिर्यंचगति में जाने के लिए विग्रहगति में चल रहे हैं। उनमें नियम से दो ज्ञान या दो अज्ञान इसलिए बताए हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अवधिज्ञान से च्युत होने के बाद मति-श्रुतज्ञानसहित तिर्यंचगति में जाता है। इसलिए उसमें नियमतः दो ज्ञान होते हैं, तथा मिथ्यादृष्टि जीव विभंगज्ञान से गिरने के बाद मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञानसहित तिर्यंचगति में जाता है। इसलिए नियमतः उसमें दो अज्ञान होते हैं। मनुष्यगति में जाने के लिए जो विग्रहगति में चल रहे हैं, वे मनुष्यगतिक कहलाते हैं। मनुष्यगति में जाते हुए जो जीव ज्ञानी होते हैं, उनमें से कई तीर्थंकर की तरह अवधिज्ञानसहित मनुष्यगति में जाते हैं, उनमें तीन ज्ञान होते हैं, जबकि अवधिज्ञानरहित मनुष्यगति में जाने वालों में दो ज्ञान होते हैं। इसीलिए यहाँ तीन ज्ञान भजना से कहे गए हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे विभंगज्ञानरहित ही मनुष्यगति में उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें दो अज्ञान नियम से कहे गए हैं। देवगति में जाते हुए विग्रहगति में चल रहे जीवों का कथन नैरयिकों की तरह (नियमतः तीन ज्ञान अथवा भजना से तीन अज्ञान वाले) समझना चाहिए। सिद्धगतिक जीवों में तो केवल एक ही ज्ञान—केवलज्ञान होता है। **(२) इन्द्रियद्वार**—सेन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रिय वाले जीव—यानी इन्द्रियों से काम लेने वाले जीव। सेन्द्रिय ज्ञानी जीवों को २, ३, या ४ ज्ञान होते हैं; यह बात लब्धि की अपेक्षा से समझना चाहिए क्योंकि उपयोग की अपेक्षा तो सभी जीवों को एक समय में एक ही ज्ञान होता है। केवलज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है, वह सेन्द्रिय नहीं है। अज्ञानी सेन्द्रिय जीवों को तीन अज्ञान भजना से होते हैं, किन्हीं को दो और किन्हीं को तीन अज्ञान होते हैं। एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि होने से अज्ञानी ही होते हैं, उनमें नियमतः दो अज्ञान होते हैं। तीन विकलेन्द्रियों में दो अज्ञान तो नियमतः होते हैं, किन्तु सास्वादनगुणस्थान होने की अवस्था में दो ज्ञान भी होने सम्भव हैं। अनिन्द्रिय (इन्द्रियों के उपयोग से रहित) जीव तो केवलज्ञानी ही होते हैं। उनमें एकमात्र केवलज्ञान पाया जाता है। **(३) कायद्वार**—सकायिक कहते हैं—औदारिक आदि शरीरयुक्त जीव को अथवा

पृथ्वीकायिक आदि ६ कायसहित को। वे केवली भी होते हैं। अतः सकायिक सम्यग्दृष्टि में पांच ज्ञान भजना से होते हैं। जो मिथ्यादृष्टि सकायिक हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से होते हैं। जो षट्कायों में से किसी भी काय में नहीं हैं, या जो औदारिक आदि कायों से रहित हैं, ऐसे अकायिक जीव सिद्ध होते हैं, उनमें सिर्फ केवलज्ञान ही होता है। (४) सूक्ष्मद्वार—सूक्ष्म जीव पृथ्वीकायिकवत् मिथ्यादृष्टि होने से उन में दो अज्ञान होते हैं। बादर जीवों में केवलज्ञानी भी होते हैं, अतः सकायिक की तरह उनमें पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। (५) पर्याप्तद्वार—पर्याप्तजीव केवलज्ञानी भी होते हैं, अतः उनमें सकायिक जीवों के समान भजना से ५ ज्ञान और ३ अज्ञान पाए जाते हैं। पर्याप्त नारकों में तीन ज्ञान और तीन अज्ञान नियमतः होते हैं, क्योंकि असंज्ञी जीवों में से आए हुए अपर्याप्त नारकों में ही विभंगज्ञान नहीं होता, मिथ्यात्वी पर्याप्तकों में तो होता ही है। इसी प्रकार भवनपति एवं वाणव्यन्तर देवों में समझना चाहिए। पर्याप्त विकलेन्द्रियों में नियम से दो अज्ञान होते हैं। पर्याप्त पंचेन्द्रियतिर्यंचों में ३ ज्ञान और ३ अज्ञान भजना से होते हैं, उसका कारण है, कितने ही जीवों को अवधिज्ञान या विभंगज्ञान होता है, कितनों को नहीं होता। अपर्याप्तक नैरयिकों में तीन ज्ञान नियम से और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय आदि जीवों में सास्वादन सम्यग्दर्शन सम्भव होने से उनमें दो ज्ञान और शेष में दो अज्ञान पाए जाते हैं। अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि मनुष्यों में तीर्थंकर प्रकृति को बांधे हुए जीव भी होते हैं, उनमें अवधिज्ञान होना सम्भव है, अतः उनमें तीन ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। मिथ्यादृष्टि मनुष्यों को अपर्याप्त-अवस्था में विभंगज्ञान नहीं होता, इसलिए उनमें नियमतः दो अज्ञान होते हैं। अपर्याप्त वाणव्यन्तर देवों में जो असंज्ञी जीवों में से आकर उत्पन्न होता है, उसमें अपर्याप्त-अवस्था में विभंगज्ञान का अभाव होता है, शेष में अवधिज्ञान या विभंगज्ञान नियम से होता है, अतः उनमें नैरयिकों के समान तीन ज्ञान वाले, या दो अथवा तीन अज्ञान वाले होते हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में संज्ञी जीवों में से ही आकर उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें अपर्याप्त अवस्था में भी भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान या विभंगज्ञान अवश्य होता है। अतः उनमें नियमतः तीन ज्ञान या तीन अज्ञान होते हैं। नो-पर्याप्त-नो-अपर्याप्त जीव सिद्ध होते हैं, वे पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म से रहित होते हैं। अतः उनमें एकमात्र केवलज्ञान ही होता है। (६) भवस्थद्वार—निरयभवस्थ का अर्थ है—नरकगति में उत्पत्तिस्थान को प्राप्त। इसी प्रकार तिर्यंचभवस्थ आदि पदों का अर्थ समझ लेना चाहिए। निरयभवस्थ का कथन निरयगतिकवत् समझ लेना चाहिए। (७) भवसिद्धिकद्वार—भवसिद्धिक यानी भव्य जीव जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनमें सकायिक की तरह ५ ज्ञान भजना से होते हैं, जबकि मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान भजना से होते हैं। अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव सदैव मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं, अतः उनमें. तीन अज्ञान की भजना है। ज्ञान उनमें होता ही नहीं। (८) संज्ञीद्वार—संज्ञी जीवों का कथन सेन्द्रिय जीवों की तरह है, अर्थात्—उनमें चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। असंज्ञी जीवों का कथन द्वीन्द्रिय जीवों के समान है, अर्थात्—अपर्याप्त अवस्था में उनमें सास्वादन सम्यग्दर्शन की सम्भावना होने से दो ज्ञान भी पाए जाते हैं। अपर्याप्त अवस्था में तो उनमें नियमतः दो अज्ञान होते हैं।[1]

अन्यद्वार—इससे आगे लब्धि आदि बारह द्वार अभी शेष हैं। लब्धिद्वार में लब्धियों के भेद-प्रभेद आदि का वर्णन विस्तृत होने से इस पाठ से अलग दे रहे हैं।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति

नौवें लब्धिद्वार की अपेक्षा से ज्ञानी-अज्ञानी की प्ररूपणा—

८२. कतिविहा णं भंते ! लद्धी पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसविहा लद्धी पण्णत्ता, तं जहा—नाणलद्धी १ दंसणलद्धि २ चरित्तलद्धी ३ चरित्ताचरित्तलद्धी ४ दाणलद्धी ५ लाभलद्धी ६ भोगलद्धी ७ उवभोगलद्धी ८ वीरियलद्धी ९ इंदियलद्धी १०।

[८२ प्र.] भगवन् ! लब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८२ उ.] गौतम ! लब्धि दस प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—(१) ज्ञानलब्धि, (२) दर्शनलब्धि, (३) चारित्रलब्धि, (४) चारित्राचारित्रलब्धि, (५) दानलब्धि, (६) लाभलब्धि, (७) भोगलब्धि, (८) उपभोगलब्धि, (९) वीर्यलब्धि और (१०) इन्द्रियलब्धि।

८३. णाणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—आभिणिबोहियणाणलद्धी जाव केवलणाणलद्धी।

[८३ प्र.] भगवन् ! ज्ञानलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८३ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार की कही गई है। यथा—आभिनिवोधिकज्ञानलब्धि यावत् केवलज्ञानलब्धि।

८४. अण्णाणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—मइअण्णाणलद्धी सुतअण्णाणलद्धी विभंगनाणलद्धी।

[८४ प्र.] भगवन् ! अज्ञानलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८४ उ.] गौतम ! अज्ञानलब्धि तीन प्रकार की कही गई है। यथा—मति-अज्ञानलब्धि, श्रुत-अज्ञानलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि।

८५. दंसणलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मद्दंसणलद्धी मिच्छादंसणलद्धी सम्मामिच्छादंसणलद्धी।

[८५ प्र.] भगवन् ! दर्शनलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८५ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि और सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि।

८६. चरित्तलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—सामाइयचरित्तलद्धी छेदोवट्ठावणियलद्धी परिहारविसुद्धलद्धी सुहुमसंपरायलद्धी अहक्खायचरित्तलद्धी।

[८६ प्र.] भगवन् ! चारित्रलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६ उ.] गौतम ! चारित्रलब्धि पांच प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—सामायिकचारित्रलब्धि, छेदोपस्थापनिकलब्धि, परिहारविशुद्धलब्धि, सूक्ष्मसम्परायलब्धि और यथाख्यातचारित्रलब्धि।

८७. चरित्ताचरित्तलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगागारा पण्णत्ता।

[८७-प्र.] भगवन् ! चारित्राचारित्रलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८७-उ.] गौतम ! वह एकाकार (एक प्रकार की) कही गई है।

८८. एवं जाव उवभोगलद्धी एगागारा पण्णत्ता।

[८८] इसी प्रकार दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, ये सब एक-एक प्रकार की कही गई हैं।

८९. वीरियलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—बालवीरियलद्धी पंडियवीरियलद्धी बालपंडियवीरियलद्धी।

[८९-प्र.] भगवन् ! वीर्यलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[८९-उ.] गौतम ! वीर्यलब्धि तीन प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—बालवीर्यलब्धि, पण्डितवीर्यलब्धि और बाल-पण्डितवीर्यलब्धि।

९०. इंदियलद्धी णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—सोतिंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी।

[९० प्र.] भगवन् ! इन्द्रियलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[९० उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रियलब्धि यावत् स्पर्शेन्द्रियलब्धि।

९१. [१] नाणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी; अत्थेगतिया दुनाणी। एवं पंच नाणाइं भयणाए।

[९१-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[९१-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं। उनमें से कितने ही दो ज्ञान वाले होते हैं। इस प्रकार उनमें पांच ज्ञान भजना (विकल्प) से पाए जाते हैं।

[२] तस्स अलद्धीया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नो नाणी, अण्णाणी; अत्थेगतिया दुअण्णाणी, तिण्णि अण्णाणाणि भयणाए।

[६१-२ प्र.] भगवन् ! ज्ञानलब्धिरहित (अज्ञानलब्धि वाले) जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[६१-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी नहीं अज्ञानी हैं। उनमें से कितने ही जीव दो अज्ञान वाले (और कितने ही तीन अज्ञान वाले) होते हैं। इस प्रकार उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

६२. [१] आभिणिबोहियणाणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी; अत्थेगतिया दुण्णाणी, चत्तारि नाणाइं भयणाए।

[९२-१ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९२-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं ! उनमें से कितने ही जीव दो ज्ञान वाले, कितने ही तीन ज्ञान वाले और कितने ही चार ज्ञान वाले होते हैं। इस तरह उनमें चार ज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

[२] तस्स अलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। जे नाणी ते नियमा एगनाणी-केवलनाणी। जे अण्णाणी ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[९२-२ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि-रहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९२-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी हैं, वे नियमतः एकमात्र केवलज्ञान वाले हैं, और जो अज्ञानी हैं, वे कितने ही दो अज्ञान वाले एवं कितने ही तीन अज्ञान वाले हैं। अर्थात्—उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

६३. [१] एवं सुयनाणलद्धीया वि।

[६३-१] श्रुतज्ञानलब्धि वाले जीवों का कथन आभिनिबोधिक ज्ञानलब्धि वाले जीवों के समान करना चाहिए।

[२] तस्स अलद्धीया वि जहा आभिणिबोहियनाणस्स अलद्धीया।

[६३-२] एवं श्रुतज्ञानलब्धिरहित जीवों का कथन आभिनिबोधिक ज्ञानलब्धिरहित जीवों की तरह जानना चाहिए।

६४. [१] ओहिनाणलद्धीया णं० पुच्छा ?

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी, अत्थेगतिया तिणाणी, अत्थेगतिया चउनाणी। जे तिणाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी। जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुतणाणी ओहिणाणी मणपज्जवनाणी।

[६४-१ प्र.] भगवन् ! अवधिज्ञानलब्धियुक्त जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९४-१ उ.] गौतम ! अवधिज्ञानलब्धियुक्त जीव ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं। उनमें से कतिपय तीन ज्ञान वाले हैं और कई चार ज्ञान वाले हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिबोधिक ज्ञान,

श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान वाले हैं, और जो चार ज्ञान से युक्त हैं, वे आभिनिवोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान वाले हैं।

[२] तस्स अलद्धीया णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। एवं ओहिनाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[९४-२ प्र.] भगवन् ! अवधिज्ञानलब्धि से रहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[९४-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। इस तरह उनमें अवधिज्ञान के सिवाय चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

९५. [१] मणपज्जवनाणलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! णाणी, णो अण्णाणी। अत्थेगतिया तिणाणि, अत्थेगतिया चउनाणी। जे तिणाणी ते आभिणिवोहियनाणी सुतणाणी मणपज्जवणाणी। जे चउनाणी ते आभिणिवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी।

[९५-१ प्र.] भगवन् ! मन:पर्यवज्ञानलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[९५-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं। उनमें से कितने ही तीन ज्ञान वाले हैं और कितने ही चार ज्ञान वाले हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और मन:पर्यायज्ञान वाले हैं, और जो चार ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान वाले हैं।

[२] तस्स अलद्धीया णं० पुच्छा।

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि, मणपज्जवणाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[९५-२ प्र.] भगवन् ! मन:पर्यवज्ञानलब्धि से रहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९५-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। उनमें मन:पर्यवज्ञान के सिवाय चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

९६. [१] केवलनाणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी। नियमा एगणाणी—केवलनाणी।

[९६-१ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञानलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९६-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं। वे नियमत: एकमात्र केवलज्ञान वाले हैं।

[२] तस्स अलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणि वि। केवलनाणवज्जाइं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[९६-२ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञानलब्धिरहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९६-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। उनमें या तो केवलज्ञान को छोड़ कर शेष ४ ज्ञान और ३ अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

९७. [१] अण्णाणलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नाणी, अण्णाणी; तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[९७-१ प्र.] भगवन् ! अज्ञानलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं, या अज्ञानी हैं ?

[९७-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी हैं। उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

[२] तस्स अलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी। पंच नाणाइं भयणाए।

[९७-२ प्र.] भगवन् ! अज्ञानलब्धि से रहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[९७-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी हैं, अज्ञानी नहीं। उनमें ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

९८. जहा अण्णाणस्स लद्धिया अलद्धिया य भणिया एवं मइअण्णाणस्स, सुयअण्णाणस्स य लद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा।

[९८] जिस प्रकार अज्ञानलब्धि और अज्ञानलब्धि से रहित जीवों का कथन किया है, उसी प्रकार मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञानलब्धि वाले तथा इन लब्धियों से रहित जीवों का कथन करना चाहिए।

९९. विभंगनाणलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं नियमा। तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए। दो अण्णाणाइं नियमा।

[९९] विभंगज्ञान-लब्धि से युक्त जीवों में नियमतः तीन अज्ञान होते हैं और विभंगज्ञान-लब्धिरहित जीवों में पांच ज्ञान भजना से और दो अज्ञान नियमतः होते हैं।

१००. [१] दंसणलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[१००-१ प्र.] भगवन् ! दर्शनलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[१००-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं, अज्ञानी भी। उनमें पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

[२] तस्स अलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ?

गोयमा ! तस्स अलद्धिया नत्थि।

[१००-२ प्र.] भगवन् ! दर्शनलब्धिरहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१००-२ उ.] गौतम ! दर्शनलब्धिरहित जीव कोई भी नहीं होता ।

१०१. [१] सम्मद्दंसणलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए ।

[१०१-१] सम्यग्दर्शनलब्धि प्राप्त जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०१-२] सम्यग्दर्शनलब्धिरहित जीवों में तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

१०२. [१] मिच्छादंसणलद्धिया णं भंते ! ० पुच्छा ।

तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०२-१ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१०२-१ उ.] गौतम ! उनमें तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०२-२] मिथ्यादर्शनलब्धिरहित जीवों में ५ ज्ञान और ३ अज्ञान भजना से होते हैं ।

१०३. सम्मामिच्छादंसणलद्धिया अलद्धिया य जहा मिच्छादंसणलद्धी अलद्धी तहेव भाणियव्वं ।

[१०३] सम्यग्मिथ्यादर्शन (मिश्रदर्शन) लब्धिप्राप्त जीवों का कथन मिथ्यादर्शनलब्धि-युक्त जीवों के समान जानना चाहिए, और सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धिरहित जीवों का कथन मिथ्या-दर्शनलब्धिरहित जीवों के समान समझना चाहिए ।

१०४. [१] चरित्तलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! पंच नाणाइं भयणाए ।

[१०४-१ प्र.] भगवन् ! चारित्रलब्धियुक्त जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१०४-१ उ.] गौतम ! उनमें पांच ज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवनाणवज्जाइं चत्तारि नाणाइं, तिन्नि य अन्नाणाइं भयणाए ।

[१०४-२] चारित्रलब्धिरहित जीवों में मनःपर्यवज्ञान को छोड़कर चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

१०५. [१] सामाइयचरित्तलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! नाणी, केवलवज्जाइं चत्तारि नाणाइं भयणाए ।

[१०५-१ प्र.] भगवन् ! सामायिकचारित्रलब्धिमान् जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं ?

[१०५-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी होते हैं । उनमें केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०५-२] सामायिकचारित्रलब्धिरहित जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

१०६. एवं जहा सामाइयचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भणिया एवं जाव अहक्खायचरित्तलद्धिया अलद्धिया य भाणियव्वा, नवरं अहक्खायचरित्तलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए ।

[१०६] इसी प्रकार यावत् यथाख्यातचारित्रलब्धि वाले जीवों तक का कथन सामायिकचारित्रलब्धियुक्त जीवों के समान करना चाहिए । इतना विशेष है कि यथाख्यातचारित्रलब्धिमान् जीवों में पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं । इसी तरह यावत् यथाख्यातचारित्रलब्धिरहित जीवों तक का कथन सामायिकचारित्रलब्धिरहित जीवों के समान करना चाहिए ।

१०७. [१] चरित्ताचरित्तलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी । अत्थेगतिया दुण्णाणी, अत्थेगतिया तिण्णाणी । जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य, सुयनाणी य । जे तिन्नाणी ते आभि० सुतना० ओहिनाणी य ।

[१०७-१ प्र.] भगवन् ! चारित्राचारित्र (देशचारित्र) लब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी हैं ?

[१०७-१ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं । उनमें से कई दो ज्ञान वाले, कई तीन ज्ञान वाले होते हैं । जो दो ज्ञान वाले होते हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी होते हैं, जो तीन ज्ञान वाले होते हैं, वे आभिनिवोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धीयाण पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०७-२] चारित्राचारित्रलब्धिरहित जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

१०८. [१] दाणलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१०८-१] दानलब्धिमान् जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धीया णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी नियमा । एगनाणी—केवलनाणी ।

[१०८-२ प्र.] भगवन् ! दानलब्धिरहित जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१०८-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं । उनमें नियम से एकमात्र केवलज्ञान होता है ।

१०९. एवं जाव वीरियस्स लद्धी अलद्धी य भाणियव्वा ।

[१०९] इसी प्रकार यावत् वीर्यलब्धियुक्त और वीर्यलब्धिरहित जीवों का कथन करना चाहिए ।

११०. [१] बालवीरियलद्धियाणं तिण्णि नाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[११०-१] बालवीर्यलब्धियुक्त जीवों में तीन ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए ।

[११०-२] बालवीर्यलब्धिरहित जीवों में पांच ज्ञान भजना से होते हैं ।

१११. [१] पंडियवीरियलद्धियाणं पंच नाणाइं भयणाए ।

[१११-१] पण्डितवीर्यलब्धिमान् जीवों में पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं मणपज्जवनाणवज्जाइं णाणाइं, अण्णाणाणि तिण्णि य भयणाए ।

[१११-२] पण्डितवीर्यलब्धिरहित जीवों में मनःपर्यवज्ञान के सिवाय चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

११२. [१] बालपंडियवीरियलद्धिया णं भंते ! जीवा० ?
तिण्णि नाणाइं भयणाए ।

[११२-१ प्र.] भगवन् ! बाल-पण्डित-वीर्यलब्धि वाले जीव ज्ञानी हैं, या अज्ञानी ?
[११२-१ उ.] गौतम ! उनमें तीन ज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धियाणं पंच नाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भयणाए ।

[११२-२] बालपण्डितवीर्यलब्धि-रहित जीवों में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

११३. [१] इंदियलद्धिया णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?
गोयमा ! चत्तारि णाणाइं, तिण्णि य अन्नाणाइं भयणाए ।

[११३-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियलब्धिमान् जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?
[११३-१ उ.] गौतम ! उनमें चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

[२] तस्स अलद्धिया णं० पुच्छा ।
गोयमा ! नाणी, नो अण्णाणी नियमा । एगनाणी—केवलनाणी ।

[११३-२ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियलब्धिरहित जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[११३-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं । वे नियमतः एकमात्र केवलज्ञानी होते हैं ।

११४. [१] सोइंदियलद्धियाणं जहा इंदियलद्धिया (सु. ११३)।

[११४-१] श्रोत्रेन्द्रियलब्धियुक्त जीवों का कथन इन्द्रियलब्धिवाले जीवों की तरह (सू. ११३ के अनुसार) करना चाहिए।

[२] तस्स अलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नाणी वि अण्णाणी वि। जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी, अत्थेगतिया एगन्नाणी। जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे एगंनाणी ते केवलनाणी। जे अण्णाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तं जहा—मइअण्णाणी य, सुतअण्णाणी य।

[११४-२ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरहित जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[११४-२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी होते हैं, उनमें से कई दो ज्ञान वाले होते हैं, और कई एक ज्ञान वाले होते हैं। जो दो ज्ञान वाले होते हैं, वे आभिनिवोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी होते हैं। जो एक ज्ञान वाले होते हैं, वे केवलज्ञानी होते हैं। जो अज्ञानी होते हैं, वे नियमतः दो अज्ञानवाले होते हैं। यथा—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

११५. चक्खिदिय-घाणिंदियाणं लद्धियाणं अलद्धियाण य जहेव सोइंदियस्स (सु. ११४)।

[११५] चक्षुरिन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय-लब्धि वाले जीवों का कथन श्रोत्रेन्द्रियलब्धिमान् जीवों के समान (सू. ११४ की तरह) करना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रियलब्धिरहित जीवों का कथन श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरहित जीवों के समान करना चाहिए।

११६. [१] जिब्भिदियलद्धियाणं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाणि भयणाए।

[११६-१] जिह्वेन्द्रियलब्धि वाले जीवों में चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से होते हैं।

[२] तस्स अलद्धिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! नाणी वि, अण्णाणी वि। जे नाणी ते नियमा एगनाणी-केवलनाणी। जे अण्णाणी ते नियमा दुअन्नाणी, तं जहा—मइअण्णाणी य, सुतअन्नाणी य।

[११६-२ प्र.] भगवन् ! जिह्वेन्द्रियलब्धिरहित जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[११६-२ उ.] गौतम वे ज्ञानी भी होते हैं, अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी होते हैं, वे नियमतः एकमात्र केवलज्ञान वाले होते हैं, और जो अज्ञानी होते हैं, वे नियमतः दो अज्ञान वाले होते हैं, यथा—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

११७. फासिंदियलद्धियाणं अलद्धियाणं जहा इंदियलद्धिया य अलद्धिया य (सु. ११३)। ६।

[११७] स्पर्शेन्द्रियलब्धि-युक्त जीवों का कथन इन्द्रियलब्धि वाले जीवों के समान (सू. ११३ के अनुसार) करना चाहिए। (अर्थात् उनमें चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।)

स्पर्शेन्द्रियलब्धिरहित जीवों का कथन इन्द्रियलब्धिरहित जीवों के समान (सू. ११३ के अनुसार) करना चाहिए। (अर्थात्—उनमें एकमात्र केवलज्ञान होता है।)

(नवम द्वार समाप्त)

विवेचन—लब्धिद्वार की अपेक्षा से ज्ञानी-अज्ञानी की प्ररूपणा—प्रस्तुत नवम द्वार में लब्धिद्वार के प्रारम्भ से पूर्व लब्धि के दस प्रकार तथा उनके भेद-प्रभेद का कथन करके ज्ञानादिलब्धि में ज्ञानी-अज्ञानी की सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है।

लब्धि की परिभाषा—ज्ञानादि गुणों के प्रतिबन्धक उन ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षय या क्षयोपशम से आत्मा में ज्ञानादि गुणों की उपलब्धि (लाभ या प्रकट) होना लब्धि है। यह जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द भी है।

लब्धि के मुख्य भेद—ज्ञानादि दश हैं। (१) **ज्ञानलब्धि**—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से आत्मा में मतिज्ञानादि गुणों का लाभ होना। (२) **दर्शनलब्धि**—सम्यक्, मिथ्या या मिश्र-श्रद्धानरूप आत्मा का परिणाम प्राप्त होना दर्शनलब्धि है। (३) **चारित्रलब्धि**—चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयादि से होने वाला परिणाम चारित्रलब्धि है। (४) **चारित्राचारित्रलब्धि**—अप्रत्याख्यानी चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का देशविरतिरूपपरिणाम चारित्राचारित्रलब्धि है। (५) **दानलब्धि**—दानान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से होने वाली लब्धि। (६) **लाभलब्धि**—लाभान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से होने वाली लब्धि। (७) **भोग-लब्धि**—भोगान्तराय के क्षयादि से होने वाली लब्धि को भोगलब्धि कहते हैं। (८) **उपभोगलब्धि**—उपभोगान्तराय के क्षयादि से होने वाली लब्धि उपभोगलब्धि है। (९) **वीर्यलब्धि**—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से होने वाली लब्धि। (१०) **इन्द्रियलब्धि**—मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से तथा जातिनामकर्म एवं पर्याप्तनामकर्म के उदय से होने वाली लब्धि।

ज्ञानलब्धि—ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयादि से आत्मा में ज्ञानगुण का लाभ प्रकट होना। ज्ञानलब्धि के ५ और इसके विपरीत अज्ञानलब्धि के तीन भेद बताये गए हैं।

दर्शनलब्धि के तीन भेद : उनका स्वरूप—(१) **सम्यग्दर्शनलब्धि**—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से आत्मा में होने वाला परिणाम। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मति-अज्ञान आदि भी सम्यग्ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। (२) **मिथ्यादर्शनलब्धि**—अदेव में देव बुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और कुगुरु में गुरुबुद्धिरूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान—मिथ्यात्व के अशुद्ध पुद्गलों के वेदन से उत्पन्न विपर्यासरूप जीव-परिणाम को मिथ्यादर्शनलब्धि कहते हैं। (३) **सम्यग्मिथ्या (मिश्र) दर्शनलब्धि**—मिथ्यात्व के अर्धविशुद्ध पुद्गल के वेदन से एवं मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न मिश्ररुचि—मिश्ररूप (किञ्चित् अयथार्थ तत्त्व श्रद्धानरूप) जीव के परिणाम को सम्यग्मिथ्या-दर्शनलब्धि कहते हैं।

चारित्रलब्धि : स्वरूप और प्रकार—चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयादि से होने वाले विरति-रूप परिणाम को, अथवा अन्य जन्म में गृहीत कर्ममल के निवारणार्थ मुमुक्षु आत्मा के सर्वसावद्य-निवृत्ति-रूप परिणाम को चारित्रलब्धि कहते हैं। (१) **सामायिकचारित्रलब्धि**—सर्वसावद्यव्यापार के त्याग एवं निरवद्यव्यापारसेवनरूप—रागद्वेषरहित आत्मा के क्रियानुष्ठान के लाभ को सामायिकचारित्र-लब्धि कहते हैं। सामायिक के दो भेद हैं—इत्वरकालिक और यावत्कथिक। इन दोनों के कारण

सामायिकचारित्रलब्धि के भी दो भेद हो जाते हैं। (२) **छेदोपस्थापनीयचारित्रलब्धि**—जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का छेद करके महाव्रतों का उपस्थापन—आरोपण होता है, तद्रूप अनुष्ठान-लाभ को छेदोपस्थापनीयचारित्रलब्धि कहते हैं। यह दो प्रकार का है—निरतिचार और सातिचार। इनके कारण छेदोपस्थापनीयचारित्रलब्धि के भी दो भेद हो जाते हैं। (३) **परिहारविशुद्धिचारित्रलब्धि**—जिस चारित्र में परिहार (तपश्चर्या-विशेष) से आत्मशुद्धि होती है, अथवा अनेषणीय आहारादि के परित्याग से विशेषतः आत्मशुद्धि होती है, उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। इस चारित्र में तपस्या का कल्प अठारह मास में परिपूर्ण होता है। इसकी लम्बी प्रक्रिया है। निर्विश्यमानक और निर्विष्टकायिक के भेद से परिहारविशुद्धिचारित्र दो प्रकार का होने से परिहारविशुद्धिचारित्रलब्धि भी दो प्रकार की है। (४) **सूक्ष्मसम्परायचारित्रलब्धि**—जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् सूक्ष्म (संज्वलन) लोभकषाय शेष रहता है, उसे सूक्ष्म-सम्परायचारित्र कहते हैं, ऐसे चारित्र के लाभ को सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्रलब्धि कहते हैं। इस चारित्र के विशुद्ध्यमान और संक्लिश्यमान ये दो भेद होने से सूक्ष्म-सम्परायचारित्रलब्धि भी दो प्रकार की है। (५) **यथाख्यातचारित्रलब्धि**—कषाय का उदय न होने से, अकषायी साधु का प्रसिद्ध चारित्र '**यथाख्यातचारित्र**' कहलाता है। इसके स्वामियों के छद्मस्थ और केवली ऐसे दो भेद होने से यथाख्यातचारित्रलब्धि दो प्रकार की है।

चारित्राचारित्रलब्धि का अर्थ है—देशविरतिलब्धि। यहाँ मूलगुण, उत्तरगुण तथा उसके भेदों की विवक्षा नहीं की है, किन्तु अप्रत्याख्यानकषाय के क्षयोपशमजन्य परिणाममात्र की विवक्षा की गई है। इसलिए यह लब्धि एक ही प्रकार की है।

दानादिलब्धियाँ : एक-एक प्रकार की—दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि तथा उपभोग-लब्धि के भी भेदों की विवक्षा न करने से ये लब्धियाँ भी एक-एक प्रकार की कही गई हैं।

वीर्यलब्धि—वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रकट होने वाली लब्धि वीर्यलब्धि है। उसके तीन प्रकार हैं—(१) **बालवीर्यलब्धि**—जिससे बाल अर्थात् संयमरहित जीव की असंयमरूप प्रवृत्ति होती है, वह बालवीर्यलब्धि है। (२) **पण्डितवीर्यलब्धि**—जिससे संयम के विषय में प्रवृत्ति होती हो। (३) **बाल-पण्डितवीर्यलब्धि**—जिससे देशविरति में प्रवृत्ति होती हो, उसे बालपण्डितवीर्यलब्धि कहते हैं।

ज्ञानलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा—ज्ञानलब्धिमान् जीव सदा ज्ञानी और अज्ञानलब्धिवाले (ज्ञानलब्धिरहित) जीव सदा अज्ञानी होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि वाले जीवों में चार ज्ञान भजना से पाए जाते हैं, इसका कारण यह है कि केवली के आभिनिबोधिक ज्ञान नहीं होता। मतिज्ञान की अलब्धि वाले जो ज्ञानी हैं, वे एकमात्र केवलज्ञान वाले हैं और जो अज्ञानी हैं, वे दो अज्ञान वाले या तीन अज्ञानयुक्त होते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञान की लब्धि और अलब्धि वाले जीवों के विषय में समझना चाहिए। अवधिज्ञान वालों में तीन ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) अथवा चार ज्ञान (केवलज्ञान को छोड़कर) होते हैं। अवधिज्ञान की अलब्धिवाले जो ज्ञानी होते हैं, उनमें दो ज्ञान (मति और श्रुत) होते हैं, या तीन ज्ञान (मति, श्रुत, और मनःपर्यव ज्ञान होते हैं, या फिर एक ज्ञान (केवलज्ञान) होता है। जो अज्ञानी हैं, उनमें दो अज्ञान (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान) या तीनों अज्ञान होते हैं। मनःपर्यायज्ञानलब्धिवाले जीवों में या तो तीन ज्ञान (मति, श्रुत और मनःपर्याय ज्ञान) या फिर ४ ज्ञान (केवलज्ञान को छोड़कर) होते हैं। मनःपर्यायज्ञान की अलब्धिवाले जीवों में जो ज्ञानी हैं, उनमें दो ज्ञान (मति और श्रुत) वाले, या तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) वाले हैं, या फिर

एक ज्ञान (केवलज्ञान) वाले हैं। इनमें जो अज्ञानी हैं, वे दो या तीन अज्ञान वाले हैं। केवलज्ञान-लब्धिवाले जीवों में एकमात्र केवलज्ञान ही होता है, केवलज्ञान की अलब्धिवाले जीवों में जो ज्ञानी हैं उनमें प्रथम के दो ज्ञान, या प्रथम के तीन ज्ञान अथवा मति, श्रुत और मन:पर्यव ज्ञान, या प्रथम के चार ज्ञान होते हैं; जो अज्ञानी हैं, उनमें दो या तीन अज्ञान होते हैं।

अज्ञानलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा—अज्ञानलब्धिमान् जीवों में भजना से तीन अज्ञान (कई प्रथम के दो अज्ञान वाले और कई तीन अज्ञान वाले) होते हैं। अज्ञानलब्धि-रहित जीवों में भजना से ५ ज्ञान पाए जाते हैं। मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान की लब्धि वाले जीवों में पूर्ववत् ३ अज्ञान भजना से पाए जाए हैं। तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान की अलब्धि वाले जीवों में पूर्ववत् ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। विभंगज्ञान की लब्धि वाले अज्ञानी जीवों में नियमत: तीन अज्ञान होते हैं। विभंगज्ञान की अलब्धि वाले ज्ञानी जीवों में पांच ज्ञान भजना से और अज्ञानी जीवों में नियमत: प्रथम के दो अज्ञान पाए जाते हैं।

दर्शनलब्धि युक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—कोई भी जीव दर्शनलब्धि से रहित नहीं होता। दर्शन के तीन प्रकारों (सम्यक्, मिथ्या और मिश्र) में से कोई-न-कोई एक दर्शन जीव में होता ही है। सम्यग्दर्शनब्धि वाले जीवों में ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। सम्यग्दर्शनलब्धि रहित (मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि) जीवों में तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। मिथ्यादर्शनलब्धि वाले जीव अज्ञानी ही होते हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाये जाते हैं। मिथ्यादर्शनलब्धिरहित जीव या तो सम्यग्दृष्टि होंगे या मिश्रदृष्टि होंगे। यदि वे सम्यग्दृष्टि होंगे तो उनमें ५ ज्ञान भजना से होंगे और मिश्रदृष्टि होंगे तो उनमें तीन अज्ञान भजना से होंगे। सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि और अलब्धि वाले जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा मिथ्यादर्शनलब्धि और अलब्धिवाले जीवों की तरह समझनी चाहिए।

चारित्रलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—चारित्रलब्धि वाले जीव ज्ञानी ही होते हैं। अत: उनमें ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं, क्योंकि केवली भगवान् भी चारित्री होते हैं। चारित्र अलब्धिवाले जीव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों तरह के होते हैं। जो ज्ञानी हैं, उनमें भजना से ४ ज्ञान (मन:पर्यायज्ञान को छोड़कर) होते हैं, क्योंकि असंयती सम्यग्दृष्टि जीवों में पहले के दो या तीन ज्ञान होते हैं, और सिद्धभगवान् में केवलज्ञान होता है। सिद्धों में चारित्रलब्धि या अलब्धि नहीं है, वे नो-चारित्री-नो-अचारित्री होते हैं। चारित्रलब्धिरहित, जो अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। सामायिक आदि चार प्रकार के चारित्रलब्धियुक्त जीव ज्ञानी और छद्मस्थ ही होते हैं, इसलिए उनमें चार ज्ञान (केवलज्ञान को छोड़ कर) भजना से पाये जाते हैं। यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों में होता है। इनमें से ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव छद्मस्थ होने से उनमें आदि के ४ ज्ञान होते हैं और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव केवली होते हैं, अत: उनमें केवल ५ वां ज्ञान (केवलज्ञान) होता है। इसलिए कहा गया है कि यथाख्यातचारित्रलब्धियुक्त जीवों में ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

चारित्राचारित्रलब्धियुक्त जीवों में ज्ञान-अज्ञान प्ररूपणा—इस लब्धि वाले जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होते हैं, इसलिए उनमें तीन ज्ञान भजना से पाए जाते हैं, क्योंकि तीर्थंकर आदि जीव जब तक पूर्ण चारित्र ग्रहण नहीं करते, तब तक वे जन्म से लेकर दीक्षाग्रहण करने तक मति, श्रुत और अवधि-ज्ञान से सम्पन्न होते हैं। चारित्राचारित्रलब्धिरहित जीव, जो असंयत सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी हैं, उनमें

सम्यग्ज्ञान होने से ५ ज्ञान भजना से पाए जाते हैं, इनमें जो अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाये जाते हैं।

दानादि चार लब्धियों वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—दानान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली दानलब्धि से युक्त जो ज्ञानी जीव (सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती एवं केवली) हैं, उनमें पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। दानलब्धि वाले जो अज्ञानी जीव हैं, उनमें तीन अज्ञान पाए जाते हैं। दान आदि लब्धिरहित जीव सिद्ध होते हैं, यद्यपि उनके दानान्तराय आदि पांचों अन्तराय कर्मों का क्षय हो चुका होता है, तथापि वहाँ दातव्य आदि पदार्थ का अभाव होने से, तथा दानग्रहणकर्ता जीवों के न होने से और कृतकृत्य हो जाने के कारण किसी प्रकार का प्रयोजन न होने से उनमें दान आदि की लब्धि नहीं मानी गई है। उनमें नियम से एकमात्र केवलज्ञान होता है। अतः दानलब्धि और अलब्धि वाले जीवों की तरह लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, और वीर्यलब्धि तथा इनकी अलब्धि वाले जीवों का कथन करना चाहिए।

वीर्यलब्धि वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—वालवीर्यलब्धि वाले जीव असंयत अविरत होते हैं। उनमें से जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं, उनमें तीन ज्ञान भजना से और जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। वालवीर्यलब्धिरहित जीव सर्वविरत, देशविरत और सिद्ध होते हैं, अतः उनमें पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। पण्डितवीर्यलब्धि-सम्पन्न जीव ज्ञानी ही होते हैं, उनमें पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। मनःपर्यवज्ञान पण्डितवीर्यलब्धि वाले जीवों में ही होता है। पण्डितवीर्यलब्धिरहित जीव असंयत, देशसंयत और सिद्ध होते हैं। इनमें से असंयत जीवों में पहले के तीन ज्ञान या तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं, देशसंयत में प्रथम के तीन ज्ञान भजना से पाए जाते हैं और सिद्ध जीवों में एकमात्र केवलज्ञान ही होता है। सिद्ध जीवों में पण्डितवीर्यलब्धि नहीं होती, क्योंकि अहिंसादि धर्मकार्यों में सर्वथा प्रवृत्ति करना पण्डितवीर्य कहलाता है, और ऐसी प्रवृत्ति सिद्धों में नहीं होती। वाल-पण्डितवीर्यलब्धि वाले देशसंयत जीव होते हैं, उनमें प्रथम के तीन ज्ञान भजना से पाए जाते हैं। वाल-पण्डितवीर्यलब्धिरहित जीव असंयत, सर्वविरत और सिद्ध होते हैं, इनमें पांच ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

इन्द्रियलब्धि वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान-प्ररूपणा—इन्द्रियलब्धि वाले ज्ञानी जीवों में प्रथम के चार ज्ञान भजना से होते हैं, इनमें केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानी इन्द्रियों का उपयोग नहीं करते। इन्द्रियलब्धियुक्त अज्ञानी जीवों में तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। इन्द्रियलब्धि-रहित जीव एकमात्र केवलज्ञानी होते हैं, उनमें सिर्फ एक केवलज्ञान पाया जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय-लब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि और घ्राणेन्द्रियलब्धि वाले और अलब्धिवाले जीवों का कथन इन्द्रियलब्धि और अलब्धि वाले जीवों की तरह करना चाहिए। अर्थात्—श्रोत्रेन्द्रिय आदि लब्धिरहित जो ज्ञानी जीव हैं, उनमें दो या एक ज्ञान होता है। जो ज्ञानी हैं, उनमें सास्वादनसम्यग्दृष्टि अपर्याप्त अवस्था में दो ज्ञान पाये जाते हैं, जो एक ज्ञान वाले हैं, उनमें सिर्फ केवलज्ञान होता है; क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियोपयोगरहित होने से श्रोत्रादि इन्द्रियलब्धिरहित हैं। श्रोत्रेन्द्रियलब्धिरहित अज्ञानी जीवों में प्रथम के दो अज्ञान पाए जाते हैं। चक्षुरिन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय लब्धिमान् जो पंचेन्द्रिय जीव हैं, उनमें चार ज्ञान (केवलज्ञान के अतिरिक्त) और तीन अज्ञान भजना से होते हैं। विकलेन्द्रियों में श्रोत्रेन्द्रियलब्धिवत् दो ज्ञान व दो अज्ञान पाए जाते हैं। चक्षुरिन्द्रियलब्धिरहित जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा केवली होते हैं, एवं घ्राणेन्द्रियलब्धिरहित जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और केवली

होते हैं, उनमें से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवों में सास्वादनसम्यग्दर्शन के सद्भाव में पूर्व के दो ज्ञान, और उसके अभाव में प्रथम के दो अज्ञान पाए जाते हैं। केवलियों में सिर्फ एक केवलज्ञान होता है। जिह्वेन्द्रियलब्धिवाले जीवों में चार ज्ञान या तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। जिह्वेन्द्रिय-लब्धिरहित जीव ज्ञानी भी होते हैं, अज्ञानी भी। जो ज्ञानी हैं, उनमें एकमात्र केवलज्ञान और जो अज्ञानी हैं, वे एकेन्द्रिय हैं, उनमें (विभंगज्ञान के सिवाय) दो अज्ञान नियमतः होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में सास्वादनसम्यग्दर्शन का अभाव होने से उनमें ज्ञान नहीं होता। स्पर्शेन्द्रियलब्धि और अलब्धिवाले जीवों का कथन, इन्द्रियलब्धि और अलब्धिवाले जीवों की तरह करना चाहिए। अर्थात् लब्धिमान् जीवों में चार ज्ञान (केवलज्ञान के सिवाय) और तीन अज्ञान भजना से होते हैं और अलब्धिमान् जीव केवली होते हैं, उनमें एकमात्र केवलज्ञान होता है।[1]

दसवें उपयोगद्वार से लेकर पन्द्रहवें आहारकद्वार तक के जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा—

११८. सागारोवउत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

[११८ प्र.] भगवन् ! साकारोपयोग-युक्त जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[११८ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं, अज्ञानी भी होते हैं, जो ज्ञानी होते हैं, उनमें पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं और जो अज्ञानी होते हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

११९. आभिणिबोहियनाणसाकारोवउत्ता णं भंते ! ० ?

चत्तारि णाणाइं भयणाए।

[११९ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिक-ज्ञानसाकारोपयोगयुक्त जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[११९ उ.] गौतम ! उनमें चार ज्ञान भजना से पाए जाते हैं।

१२०. एवं सुतनाणसागारोवउत्ता वि।

[१२०] श्रुतज्ञान-साकारोपयोग-युक्त जीवों का कथन भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

१२१. ओहिनाणसागारोवउत्ता जहा ओहिनाणलद्धिया (सु. ९४ [१])।

[१२१] अवधिज्ञान-साकारोपयोग-युक्त जीवों का कथन अवधिज्ञानलब्धिमान् जीवों के समान (सू. ९४-१ के अनुसार) करना चाहिए।

१२२. मणपज्जवनाणसागारोवजुत्ता जहा मणपज्जवनाणलद्धिया (सु. ९५ [१])।

[१२२] मनःपर्यवज्ञान-साकारोपयोग-युक्त जीवों का कथन मनःपर्यवज्ञानलब्धिमान् जीवों के समान (सू. ९५-१ के अनुसार) करना चाहिए।

१२३. केवलनाणसागारोवजुत्ता जहा केवलनाणलद्धिया (सु. ९६ [१])।

[१२३] केवलज्ञान-साकारोपयोगयुक्त जीवों का कथन केवलज्ञानलब्धिमान् जीवों के समान (सू. ९६-१ के अनुसार) समझना चाहिए। (अर्थात्—उनमें एकमात्र केवलज्ञान ही पाया जाता है।)

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३५० से ३५४ तक

१२४. मइअण्णाणसागारोवउत्ताणं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१२४] मति-अज्ञान-साकारोपयोगयुक्त जीवों में तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

१२५. एवं सुतअण्णाणसागारोवउत्ता वि ।

[१२५] इसी प्रकार श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोगयुक्त जीवों का कथन करना चाहिए ।

१२६. विभंगनाणसागारोवजुत्ताणं तिण्णि अण्णाणाइं नियमा ।

[१२६] विभंगज्ञान-साकारोपयोग-युक्त जीवों में नियमतः तीन अज्ञान पाए जाते हैं ।

१२७. अणागारोवउत्ता णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

पंच नाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१२७ प्र.] भगवन् ! अनाकारोपयोग वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१२७ उ.] गौतम ! अनाकारोपयोग-युक्त जीव ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । उनमें पांच ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं ।

१२८. एवं चक्खुदंसण-अचक्खुदंसणअणागारोवजुत्ता वि, नवरं चत्तारि णाणाइं, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[१२८] इसी प्रकार चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग-युक्त जीवों के विषय में समझ लेना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से होते हैं ।

१२९. ओहिदंसणअणागारोवजुत्ता णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नाणी वि अण्णाणी वि । जे नाणी ते अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी । जे तिन्नाणी ते आभिणिबोहिय० सुतनाणी ओहिनाणी । जे चउणाणी ते आभिणिबोहियनाणी जाव मणपज्जवनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा तिअण्णाणी, तं जहा—मइअण्णाणी सुतअण्णाणी विभंगनाणी ।

[१२९ प्र.] भगवन् ! अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग-युक्त जीव ज्ञानी होते हैं अथवा अज्ञानी ?

[१२९ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी । जो ज्ञानी होते हैं, उनमें कई तीन ज्ञान वाले होते हैं और कई चार ज्ञान वाले होते हैं । जो तीन ज्ञान वाले होते हैं, वे आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी होते हैं और जो चार ज्ञान वाले होते हैं, वे आभिनिबोधिकज्ञान से लेकर यावत् मनःपर्यवज्ञान तक वाले होते हैं । जो अज्ञानी होते हैं, उनमें नियमतः तीन अज्ञान पाए जाते हैं; यथा—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान ।

१३०. केवलदंसणअणागारोवजुत्ता जहा केवलनाणलद्धिया (सु. ९६ [१]) । १० ।

[१३०] केवलदर्शनअनाकारोपयोगयुक्त जीवों का कथन केवलज्ञानलब्धियुक्त जीवों के समान (सू. ९६-१ के अनुसार) समझना चाहिए । (दशम द्वार)

१३१. सजोगी णं भंते ! जीवा किं नाणी० ?

जहा सकाइया (सु. ४६) ।

[१३१ प्र.] भगवन् ! सयोगी जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[१३१ उ.] गौतम ! सयोगी जीवों का कथन सकायिक जीवों के समान (सू. ४९ के अनुसार) समझना चाहिए।

१३२. एवं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी वि ।

[१३२] इसी प्रकार मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीवों का कथन भी समझना चाहिए।

१३३. अजोगी जहा सिद्धा (सु. ३८) । ११ ।

[१३३] अयोगी (योग-रहित) जीवों का कथन सिद्धों के समान (सू. ३८ के अनुसार) समझना चाहिए। (ग्यारहवां द्वार)

१३४. सलेस्सा णं भंते ! ० ?

जहा सकाइया (सु. ४६) ।

[१३४ प्र.] भगवन् ! सलेश्य (लेश्या वाले) जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[१३४ उ.] गौतम ! सलेश्य जीवों का कथन सकायिक जीवों के समान (सू. ४९ के अनुसार) जानना चाहिए।

१३५. [१] कण्हलेस्सा णं भंते ! ० ?

जहा सइंदिया। (सु. ४४) ।

[१३५-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यावान् जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१३५-१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीवों का कथन सेन्द्रिय जीवों के समान (सू. ४४ के अनुसार) जानना चाहिए।

[२] एवं जाव पम्हलेसा ।

[१३५-२] इसी प्रकार नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या वाले जीवों का कथन करना चाहिए।

१३६. सुक्कलेस्सा जहा सलेस्सा (सु. १३४) ।

[१३६] शुक्ललेश्या वाले जीवों का कथन सलेश्य जीवों के समान (सू. १३४ के अनुसार) समझना चाहिए।

१३७. अलेस्सा जहा सिद्धा (सु. ३८) । १२ ।

[१३७] अलेश्य (लेश्यारहित) जीवों का कथन सिद्धों के समान (सू. ३८ के अनुसार) जानना चाहिए। (बारहवां द्वार)

१३८. [१] सकसाई णं भंते ! ० ?

जहा सइंदिया (सु. ४४) ।

[१३८-१ प्र] भगवन् ! सकषायी जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?

[१३८-१ उ.] गौतम ! सकषायी जीवों का कथन सेन्द्रिय जीवों के समान (सू. ४४ के अनुसार) जानना चाहिए ।

[२] एवं जाव लोहकसाई ।

[१३८-२] इसी प्रकार क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी और लोभकषायी जीवों के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

१३९. अकसाई णं भंते ! किं णाणी० ?

पंच नाणाइं, भयणाए । १३ ।

[१३९ प्र.] भगवन् ! अकषायी (कषायमुक्त) जीव ज्ञानी होते हैं, अथवा अज्ञानी ?

[१३९ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं । उनमें पांच ज्ञान भजना से पाए जाते हैं । (तेरहवां द्वार)

१४०. [१] सवेदगा णं भंते ! ० ?

जहा सइंदिया (सु. ४४) ।

[१४०-१ प्र.] भगवन् ! सवेदक (वेदसहित) जीव ज्ञानी होते हैं, अथवा अज्ञानी ?

[१४०-१ उ.] गौतम ! सवेदक जीवों का कथन सेन्द्रिय जीवों के समान (सू. ४४ के अनुसार) जानना चाहिए ।

[२] एवं इत्थिवेदगा वि । एवं पुरिसवेयगा । एवं नपुंसकवे० ।

[१४०-२] इसी तरह स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक और नपुंसकवेदक जीवों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए ।

१४१. अवेदगा जहा अकसाई (सु. १३९) । १४ ।

[१४१] अवेदक (वेदरहित) जीवों का कथन अकषायी जीवों के समान (सू. १३९ के अनुसार) जानना चाहिए । (चौदहवाँ द्वार)

१४२. आहारगा णं भंते ! जीवा० ?

जहा सकसाई (सु. १३८), नवरं केवलनाणं पि ।

[१४२ प्र.] भगवन् ! आहारक जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[१४२ उ.] गौतम ! आहारक जीवों का कथन सकषायी जीवों के समान (सू. १३८ के अनुसार) जानना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि उनमें केवलज्ञान भी पाया जाता है ।

१४३. अणाहारगा णं भंते ! जीवा किं नाणी, अण्णाणी ?

मणपज्जवनाणवज्जाइं नाणाइं, अन्नाणाणि य तिण्णि भयणाए । १५ ।

[१४३ प्र.] भगवन् ! अनाहारक जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[१४३ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी हैं, उनमें मनः-पर्यवज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान पाए जाते हैं; और जो अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। (पन्द्रहवां द्वार)

विवेचन—दसवें उपयोगद्वार से पन्द्रहवें आहारक द्वार तक के जीवों में ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा—प्रस्तुत २६ सूत्रों (सू. ११८ से १४३ तक) में उपयोग, योग, लेश्या, कषाय, वेद और आहार इन छह प्रकार के विषयों से सहित और रहित जीवों में पाए जाने वाले ज्ञान और अज्ञान की प्ररूपणा की गई है।

१०. उपयोगद्वार—उपयोग एक तरह से ज्ञान ही है, जो जीव का लक्षण है, जीव में अवश्य पाया जाता है। इसके दो प्रकार हैं—साकार-उपयोग और निराकार-उपयोग। साकार का अर्थ है—विशेषतासहित बोध। उसका उपयोग, अर्थात्—ग्रहण-व्यापार, **साकारोपयोग** (ज्ञानोपयोग) कहलाता है। साकारोपयोग-युक्त जीव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के होते हैं। ज्ञानी जीवों में से कुछ जीवों में दो, कुछ जीवों में तीन, कुछ जीवों में चार और कुछ जीवों में एकमात्र केवलज्ञान होता है; इस तरह ऐसे जीवों में पांच ज्ञान भजना से होते हैं। इनका कथन यहाँ ज्ञानलब्धि की अपेक्षा से समझना चाहिए, उपयोग की अपेक्षा से तो एक समय में एक ही ज्ञान अथवा एक ही अज्ञान होता है। इनमें जो जीव अज्ञानी हैं, उनमें तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान आदि साकारोपयोग के भेद हैं। आभिनिबोधिक आदि से युक्त साकारोपयोग वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान का कथन उपर्युक्त वर्णनानुसार उस-उस ज्ञान या अज्ञान की लब्धि वाले जीवों के समान जानना चाहिए।

अनाकारोपयोग—जिस ज्ञान में आकार अर्थात्—जाति, गुण, क्रिया आदि स्वरूपविशेष का प्रतिभास (बोध) न हो, उसे अनाकारोपयोग (दर्शनोपयोग) कहते हैं। अनाकारोपयोगयुक्त जीव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों तरह के होते हैं। ज्ञानी जीवों में लब्धि की अपेक्षा पांच ज्ञान भजना से और अज्ञानी जीवों में लब्धि की अपेक्षा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीव केवली नहीं होते, इसलिए चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग-युक्त जीवों का कथन अनाकारोपयोगयुक्त जीवों के समान जानना चाहिए। अर्थात् उनमें चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। अवधिदर्शन-अनाकारोपयोगयुक्त जीव ज्ञानी और अज्ञानी दो तरह के होते हैं, क्योंकि दर्शन का विषय सामान्य है। सामान्य अभिन्नरूप होने से दर्शन में ज्ञानी और अज्ञानी भेद नहीं होता। अतः इसमें कई तीन या चार ज्ञान वाले होते हैं, अथवा नियमतः तीन अज्ञान वाले होते हैं।

११-योगद्वार—सयोगी जीव अथवा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीवों का कथन सकायिक जीवों के समान समझना चाहिए। चूंकि केवली भगवान् में भी मनोयोगादि होते हैं, इसलिए इनमें (सम्यग्दृष्टि आदि में) पांच ज्ञान भजना से होते हैं। तथा मिथ्यादृष्टि सयोगी या पृथक्-पृथक् योग वाले जीवों में तीन अज्ञान भजना से होते हैं। अयोगी (सिद्ध भगवान् और चतुर्दशगुण-स्थानवर्ती केवली) जीवों में एकमात्र एक केवलज्ञान होता है।

१२-लेश्याद्वार—लेश्यायुक्त (सलेश्य) जीवों में ज्ञान-अज्ञान की प्ररूपणा सकषायी जीवों के समान है, उनमें पांच ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से समझने चाहिए। चूंकि केवलीभगवान् भी शुक्ललेश्या होने से सलेश्य होते हैं, इसलिए उनमें पंचम—केवलज्ञान होता है। कृष्ण, नील, कापोत, तेज और पद्मलेश्या वाले जीवों में ज्ञान-अज्ञान की प्ररूपणा सेन्द्रिय जीवों के समान है, अर्थात्—

उनमें चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। शुक्ललेश्या वाले जीवों का कथन सलेश्य जीवों की तरह करना चाहिए। अलेश्य जीव सिद्ध होते हैं, उनमें एकमात्र केवलज्ञान ही होता है।

१३-कषायद्वार—सकषायी या क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी और लोभकषायी जीवों में ज्ञान-अज्ञानप्ररूपणा सेन्द्रिय के सदृश है, अर्थात्—उनमें केवलज्ञान के सिवाय चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान भजना से होते हैं। अकषायी छद्मस्थ-वीतराग और केवली दोनों होते हैं। छद्मस्थ वीतराग (११-१२ गुणस्थानवर्ती) में प्रथम के चार ज्ञान भजना से पाए जाते हैं और केवली (१३-१४ गुणस्थानवर्ती) में एकमात्र केवलज्ञान ही पाया जाता है। इसीलिये अकषायी जीवों में पांच ज्ञान भजना से बताए गए हैं।

१४-वेदद्वार—सवेदक आठवें गुणस्थान तक के जीव होते हैं। उनका कथन सेन्द्रिय के समान है, अर्थात्—उनमें केवलज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। अवेदक (वेदरहित) जीवों में ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं। नौवें अनिवृत्तिवादर नामक गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव अवेदक होते हैं। उनमें से वारहवें गुणस्थान तक के जीव छद्मस्थ होते हैं, अतः उनमें चार ज्ञान (केवलज्ञान के सिवाय) भजना से पाए जाते हैं, तथा तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव केवली होते हैं, इसलिए उनके सिर्फ एक पंचम ज्ञान—केवलज्ञान होता है, इसी दृष्टि से कहा गया है कि 'अवेदक में पांच ज्ञान पाए जाते हैं।'

१५-आहारकद्वार—यद्यपि आहारक जीव में ज्ञान-अज्ञान का कथन कषायी जीवों के समान (चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान भजना से) बताया गया है, तथापि केवलज्ञानी भी आहारक होते हैं, इसलिए आहारक जीवों में भजना से पांच ज्ञान अथवा तीन अज्ञान कहने चाहिए। मनःपर्यवज्ञान आहारक जीवों को ही होता है; इसलिए अनाहारक जीवों में मनःपर्यवज्ञान के सिवाय चार ज्ञान और तीन अज्ञान भजना से पाए जाते हैं। विग्रहगति, केवली-समुद्घात और अयोगीदशा में जीव अनाहारक होते हैं। शेष अवस्था में जीव आहारक होते हैं। अनाहारक जीवों को प्रथम के तीन ज्ञान अथवा तीन अज्ञान विग्रहगति में होते हैं। अनाहारक केवली को केवलीसमुद्घातदशा में या अयोगी दशा में एकमात्र केवलज्ञान ही होता है। इसी दृष्टि से अनाहारक जीवों में चार ज्ञान (मनःपर्यवज्ञान को छोड़कर) और तीन अज्ञान भजना से कहे गए हैं।[1]

सोलहवें विषयद्वार के माध्यम से द्रव्यादि की अपेक्षा ज्ञान और अज्ञान का निरूपण—

१४४. आभिणिबोहियनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासतो चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो। दव्वतो णं आभिणिबोहियनाणी आदेसेणं सव्वदव्वाइं जाणति पासति। खेत्ततो आभिणिबोहियणाणी आदेसेणं सव्वं खेत्तं जाणति पासति। एवं कालतो वि। एवं भावओ वि।

[१४४ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिक ज्ञान का विषय कितना व्यापक कहा गया है ?

[११४ उ.] गौतम ! वह (आभिनिबोधिक ज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का बताया गया है। यथा—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य से आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश (सामान्य) से सर्वद्रव्यों को जानता और देखता है, क्षेत्र से आभिनिबोधिकज्ञानी सामान्य-(रूप) से सभी क्षेत्र को जानता और देखता है, इसी प्रकार काल से भी और भाव से भी जानना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३५५, ३५६

१४५. सुतनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासओ चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं सुतनाणी उवयुत्ते सव्वदव्वाइं जाणति पासति । एवं खेत्ततो वि, कालतो वि । भावतो णं सुयनाणी उवजुत्ते सव्वभावे जाणति पासति ।

[१४५ प्र.] भगवन् ! श्रुतज्ञान का विषय कितना कहा गया है ?

[१४५ उ.] गौतम ! वह (श्रुतज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से । द्रव्य से, उपयोगयुक्त (उपयुक्त) श्रतज्ञानी सर्वद्रव्यों को जानता और देखता है । क्षेत्र से, श्रुतज्ञानी उपयोगसहित सर्वक्षेत्र को जानता-देखता है । इसी प्रकार काल से भी जानना चाहिए । भाव से उपयुक्त (उपयोगयुक्त) श्रुतज्ञानी सर्वभावों को जानता और देखता है ।

१४६. ओहिनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासओ चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं ओहिनाणी रूविदव्वाइं जाणति पासति जहा नंदीए जाव भावतो ।

[१४६ प्र.] भगवन् ! अवधिज्ञान का विषय कितना कहा गया है ?

[१४६ उ.] गौतम ! वह (अवधिज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का है । वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से । द्रव्य से अवधिज्ञानी रूपीद्रव्यों को जानता और देखता है । (तत्पश्चात् क्षेत्र से, काल से और भाव से) इत्यादि वर्णन जिस प्रकार नन्दीसूत्र में किया गया है, उसी प्रकार यावत् 'भाव' पर्यन्त वर्णन करना चाहिए ।

१४७. मणपज्जवनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए जहा नंदीए जाव भावओ ।

[१४७ प्र.] भगवन् ! मन:पर्यवज्ञान का विषय कितना कहा गया है ?

[१४७ उ.] गौतम ! वह (मन:पर्यवज्ञान-विषय) संक्षेप में चार प्रकार का है । वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से । द्रव्य से, ऋजुमति-मन:पर्यवज्ञानी (मनरूप में परिणत) अनन्तप्रादेशिक अनन्त (स्कन्धों) को जानता-देखता है, इत्यादि जिस प्रकार नन्दीसूत्र में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी यावत् 'भावतः' तक कहना चाहिए ।

१४८. केवलनाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासओ चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणति पासति । एवं जाव भावओ ।

[१४८ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञान का विषय कितना कहा गया है ?

[१४८ उ.] गौतम ! वह (केवलज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से । द्रव्य से केवलज्ञानी सर्वद्रव्यों को जानता और देखता है । इस प्रकार यावत् भाव से केवलज्ञानी सर्वभावों को जानता और देखता है ।

१४९. मइअन्नाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पन्नत्ते ?

गोयमा ! से समासतो चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालग्रो भावतो । दव्वतो णं मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगताइं दव्वाइं जाणति पासति । एवं जाव भावतो मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगते भावे जाणति पासति ।

[१४९ प्र.] भगवन् ! मति-अज्ञान (मिथ्यामतिज्ञान) का विषय कितना कहा गया है ?

[१४९ उ.] गौतम ! वह (मति-अज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य से, मति-अज्ञानी, मति-अज्ञान-परिगत (मति-अज्ञान के विषयभूत) द्रव्यों को जानता और देखता है। इसी प्रकार यावत् भाव से मति-अज्ञानी मति-अज्ञान के विषयभूत भावों को जानता और देखता है।

१५०. सुतअन्नाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासतो चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं सुयअन्नाणी सुतअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं आघवेति पण्णवेति परूवेइ । एवं खेत्ततो कालतो । भावतो णं सुयअन्नाणी सुतअन्नाणपरिगते भावे आघवेति तं चेव ।

[१५० प्र.] भगवन् ! श्रुत-अज्ञान (मिथ्याश्रुतज्ञान) का विषय कितना कहा गया है ?

[१५० उ.] गौतम ! वह (श्रुत-अज्ञान का विषय) संक्षेप में चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य से, श्रुत-अज्ञानी श्रुत-अज्ञान के विषयभूत द्रव्यों का कथन करता है, उन द्रव्यों को बतलाता है, उनकी प्ररूपणा करता है। इसी प्रकार क्षेत्र से और काल से भी जान लेना चाहिए। भाव की अपेक्षा श्रुत-अज्ञानी श्रुत-अज्ञान के विषयभूत भावों को कहता है, बतलाता है, प्ररूपित करता है।

१५१. विभंगणाणस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! से समासतो चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो । दव्वतो णं विभंगनाणी विभंगणाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणति पासति । एवं जाव भावतो णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगए भावे जाणति पासति ।१६।

[१५१ प्र.] भगवन् ! विभंगज्ञान का विषय कितना कहा गया है ?

[१५१ उ.] गौतम ! वह (विभंगज्ञान-विषय) संक्षेप में चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य की अपेक्षा विभंगज्ञानी विभंगज्ञान के विषयगत द्रव्यों को जानता और देखता है। इसी प्रकार यावत् भाव की अपेक्षा विभंगज्ञानी विभंगज्ञान के विषयगत भावों को जानता और देखता है। (विषयद्वार)

विवेचन—ज्ञान और अज्ञान के विषय की प्ररूपणा—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १४४ से १५१ तक) में विषयद्वार के माध्यम से पांच ज्ञानों और तीन अज्ञानों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विषय का निरूपण किया गया है।

ज्ञानों का विषय—(१) आभिनिबोधिक ज्ञान का विषय द्रव्यादि चारों अपेक्षा से कहाँ तक

व्याप्त है ? इस ज्ञान की सीमा द्रव्यादि की अपेक्षा कितनी है ? यही बताना यहाँ अभीष्ट है। द्रव्य का अर्थ है—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, क्षेत्र का अर्थ है—द्रव्यों का आधारभूत आकाश, काल का अर्थ है—द्रव्यों के पर्यायों की स्थिति और भाव का अर्थ है—औदयिक आदि भाव अथवा द्रव्य के पर्याय। इनमें से द्रव्य की अपेक्षा आभिनिवोधिक ज्ञानी धर्मास्तिकाय आदि सर्व द्रव्यों को आदेश से—ओघरूप (सामान्यरूप) से जानता है, उसका आशय यह है कि वह द्रव्यमात्र सामान्यतया जानता है, उसमें रही हुई सभी विशेषताओं से (विशेषरूप से) नहीं जानता। अथवा आदेश का अर्थ है—श्रुतज्ञानजनित संस्कार। इनके द्वारा अवाय और धारणा की अपेक्षा जानता है, क्योंकि ये दोनों ज्ञानरूप हैं। तथा अवग्रह और ईहा दर्शनरूप हैं, इसलिए अवग्रह और ईहा से देखता है। श्रुतज्ञानजन्य संस्कार से लोकालोकरूप सर्वक्षेत्र को देखता है। काल से सर्वकाल को और भाव से औदयिक आदि पांच भावों को जानता है। (२) श्रुतज्ञानी (सम्पूर्ण दस पूर्वधर आदि श्रुतकेवली) उपयोगयुक्त हो कर धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्यों को विशेषरूप से जानता है, तथा श्रुतानुसारी अचक्षु (मानस) दर्शन द्वारा सभी अभिलाप्य द्रव्यों को देखता है। इसी प्रकार क्षेत्रादि के विषय में भी जानना चाहिए। भाव से उपयोगयुक्त श्रुतज्ञानी औदयिक आदि समस्त भावों को अथवा अभिलाप्य (वक्तव्य) भावों को जानता है। यद्यपि श्रुत द्वारा अभिलाप्य भावों का अनन्तवां भाग ही प्रतिपादित है, तथापि प्रसंगानुप्रसंग से अभिलाप्य भाव श्रुतज्ञान के विषय हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा 'श्रुतज्ञानी सर्वभावों को (सामान्यतया) जानता है' ऐसा कहा गया है। (३) **अवधिज्ञान का विषय—द्रव्य से**—अवधिज्ञानी जघन्यत: तैजस और भाषा द्रव्यों के अन्तरालवर्ती सूक्ष्म अनन्त पुद्गलद्रव्यों को जानता है, उत्कृष्टत: बादर और सूक्ष्म सभी पुद्गल द्रव्यों को जानता है। अवधिदर्शन से देखता है। **क्षेत्र से**—अवधिज्ञानी जघन्यत: अंगुल के असंख्यातवें भाग को जानता-देखता है, उत्कृष्टत: समग्र लोक और लोक-सदृश असंख्येय खण्ड अलोक में हों तो उन्हें भी जान-देख सकता है। **काल से**—अवधिज्ञानी जघन्यत: आवलिका के असंख्यातवें भाग को तथा उत्कृष्टत: असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी अतीत, अनागत काल को जानता और देखता है। यहाँ क्षेत्र और काल को जानने का तात्पर्य यह है कि इतने क्षेत्र और काल में रहे हुए रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है। **भाव से**—अवधिज्ञानी जघन्यत: आधार-द्रव्य अनन्त होने से अनन्त भावों को जानता-देखता है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य के अनन्त भावों (पर्यायों) को नहीं जानता-देखता। उत्कृष्टत: भी वह अनन्त भावों को जानता-देखता है। वे भाव भी समस्त पर्यायों के अनन्तवें भाग-रूप जानने चाहिए। (४) **मन:पर्यवज्ञान का विषय**—मन:पर्यवज्ञान प्रकार हैं—ऋजुमति और विपुलमति। सामान्यग्राही मनन-मति या संवेदन के दो को **ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान** कहते हैं। जैसे—'इसने घड़े का चिन्तन किया है', इस प्रकार के अध्यवसाय का कारणभूत (सामान्य कतिपय पर्याय विशिष्ट) मनोद्रव्य का ज्ञान या ऋजु-सरलमति वाला ज्ञान। **द्रव्य से**—ऋजुमतिमन:पर्यायज्ञानी ढाई द्वीप-समुद्रान्तर्वर्ती संज्ञीपंचेन्द्रियपर्याप्तक जीवों द्वारा मनोरूप से परिणमित मनोवर्गणा के अनन्त परमाण्वात्मक (विशिष्ट एक परिणाम-परिणत) स्कन्धों को मन:पर्यायज्ञानावरण की क्षयोपशमपटुता के कारण साक्षात् जानता-देखता है। परन्तु जीवों द्वारा चिन्तित घटादिरूप पदार्थों को मन:पर्यायज्ञानी प्रत्यक्षत: नहीं जानता किन्तु उसके मनोद्रव्य के परिणामों की अन्यथानुपपत्ति से (इस प्रकार के आकार वाला मनोद्रव्य का परिणाम, इस प्रकार के चिन्तन विना घटित नहीं हो सकता, इस तरह के अन्यथानुपपत्तिरूप अनुमान से) जानता है। इसीलिए यहाँ 'जाणइ' के वदले 'पासइ' (देखता है) कहा गया है। विपुल का अर्थ है—अनेक विशेषग्राही। अर्थात्—अनेक विशेषताओं से युक्त मनोद्रव्य के ज्ञान को

'विपुलमतिमनःपर्यायज्ञान' कहते हैं। जैसे– इसने घट का चिन्तन किया है, वह घट द्रव्य से—सोने का बना हुआ है, क्षेत्र से—पाटलिपुत्र का है, **काल से**—नया है या वसन्तऋतु का है, और **भाव से**—बड़ा है, अथवा पीले रंग का है। इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त मनोद्रव्यों को विपुलमति जानता है। अर्थात्—ऋजुमति द्वारा देखे हुए स्कन्धों की अपेक्षा विपुलमति अधिकतर, वर्णादि से विस्पष्ट, उज्ज्वलतर और विशुद्धतर रूप से जानता-देखता है। **क्षेत्र से**—ऋजुमति जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग तथा उत्कृष्टतः मनुष्यलोक में रहे हुए संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है; जबकि विपुलमति उससे ढाई अंगुल अधिक क्षेत्र में रहे हुए जीवों के मनोगत भावों को विशेष प्रकार से विशुद्धतर रूप से—स्पष्ट रूप से जानता-देखता है। तात्पर्य यह है कि ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानी क्षेत्र से उत्कृष्टतः अधोदिशा में—रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरितन तल के नीचे के क्षुल्लक प्रतरों, ऊर्ध्वदिशा में—ज्योतिषी देवलोक के उपरितल को, तथा तिर्यग्दिशा में मनुष्यक्षेत्र में जो ढाई द्वीप-समुद्रक्षेत्र हैं, १५ कर्मभूमियां हैं, तथा छप्पन अन्तर्द्वीप हैं, उनमें रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है। विपुलमति **क्षेत्र से**—समग्र ढाई द्वीप, व दो समुद्रों को विशुद्धरूप से जानता-देखता है। **काल से**—ऋजुमति जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने अतीत-अनागत काल को जानता-देखता है, जबकि विपुलमति इसी को स्पष्टतररूप से निर्मलतर जानता-देखता है। **भाव से**—ऋजुमति समस्त भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है, जबकि विपुलमति इन्हें ही विशुद्धतर-स्पष्टतररूप से जानता-देखता है। (५) **केवलज्ञान का विषय**—केवलज्ञान के दो भेद हैं—भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। केवलज्ञानी सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभावों को युगपत् जानता-देखता है।

तीन अज्ञानों का विषय—मति-अज्ञानी मिथ्यादर्शनयुक्त अवग्रह आदि रूप तथा औत्पात्तिकी आदि बुद्धिरूप मति-अज्ञान के द्वारा गृहीत द्रव्यों को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जानता-देखता है। श्रुत-अज्ञानी श्रत-अज्ञान (मिथ्यादृष्टि-परिगृहीत लौकिक श्रुत या कुप्रावचनिकश्रुत) से गृहीत (विषयीकृत) द्रव्यों को कहता है, बतलाता है, प्ररूपण करता है। विभंगज्ञानी विभंगज्ञान द्वारा गृहीत द्रव्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जानता है और अवधिदर्शन से देखता है।[1]

ज्ञानी और अज्ञानी के स्थितिकाल, अन्तर और अल्पबहुत्व का निरूपण—

१५२. णाणी णं भंते ! 'णाणि' त्ति कालतो केवच्चिरं होती ?

गोयमा ! नाणी दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सादीए वा अपज्जवसिते, सादीए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं।

[१५२ प्र.] भगवन् ! ज्ञानी 'ज्ञानी' के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१५२ उ.] गौतम ! ज्ञानी दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—सादि-अपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित (सान्त) ज्ञानी हैं, वे जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तक, और उत्कृष्टतः कुछ अधिक छियासठ सागरोपम तक ज्ञानीरूप में रहते हैं।

१५३. आभिणिबोहियणाणी णं भंते ! आभिणिबोहियणाणि त्ति० ?।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३५७ से ३६० तक

(ख) नन्दीसूत्र, ज्ञानप्ररूपणा

एवं नाणी, आभिणिवोहियनाणी जाव केवलनाणी, अन्नाणी, मइअन्नाणी, सुतअन्नाणी, विभंगनाणी; एएसिं दसण्ह वि संचिट्ठणा जहा कायठितीए ।१७।

[१५३ प्र.] भगवन् ! आभिनिवोधिक ज्ञानी आभिनिवोधिक-ज्ञानी के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१५३ उ.] गौतम ! ज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी यावत् केवलज्ञानी, अज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी, इन दस का अवस्थितिकाल (प्रज्ञापनासूत्र के अठारहवें) कायस्थिति-पद में कहे अनुसार जानना चाहिए । (कालद्वार)

१५४. अंतरं सव्वं जहा जीवाभिगमे ।१८।

[१५४] इन सब (दसों) का अन्तर जीवाभिगमसूत्र के अनुसार जानना चाहिए । (अन्तरद्वार)

१५५. अप्पावहुगाणि तिण्णि जहा वहुवत्तव्वताए ।१९।

[१५५] इन सबका अल्पवहुत्व (प्रज्ञापनासूत्र के तृतीय—) वहुवक्तव्यता पद के अनुसार जानना चाहिए । (अल्पवहुत्वद्वार)

विवेचन—ज्ञानी और अज्ञानी के स्थितिकाल, अन्तर और अल्पवहुत्व का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १५२ से १५५ तक) में कालद्वार (१७) अन्तरद्वार (१८) और अल्पवहुत्वद्वार (१९) के माध्यम से ज्ञानी और अज्ञानी के स्थितिकाल, पारस्परिक अन्तर और उनके अल्पवहुत्व का अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है ।

ज्ञानी का ज्ञानी के रूप में अवस्थितिकाल—ज्ञानी के दो प्रकार यहाँ वताए गए हैं—सादि-अपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित । प्रथम ज्ञानी ऐसे हैं, जिनके ज्ञान की आदि तो है, पर अन्त नहीं । ऐसे ज्ञानी केवलज्ञानी होते हैं । केवलज्ञान का काल सादि—अनन्त है, अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी नष्ट नहीं होता । द्वितीय ज्ञानी ऐसा है, जिसकी आदि भी है, अन्त भी है । ऐसा ज्ञानी मति आदि चार ज्ञान वाला होता है । मति आदि चार ज्ञानों का काल सादि-सपर्यवसित है । इनमें से मति और श्रुतज्ञान का जघन्य स्थितिकाल एक अन्तर्मुहूर्त्त है । अवधि और मनःपर्यवज्ञान का जघन्य स्थितिकाल एक समय है । आदि के तीनों ज्ञानों का उत्कृष्ट स्थितिकाल कुछ अधिक ६६ सागरोपम है । मनःपर्यवज्ञान का उत्कृष्ट स्थितिकाल देशोन करोड़पूर्व का है । अवधिज्ञान का जघन्य स्थितिकाल एक समय का इसलिए वताया है कि जव किसी विभंगज्ञानी को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, तव सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के प्रथम समय में ही विभंगज्ञान अवधिज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है । इसके पश्चात् शीघ्र ही दूसरे समय में यदि वह अवधिज्ञान से गिर जाता है तव अवधि-ज्ञान केवल एक समय ही रहता है । मनःपर्यायज्ञानी का भी अवस्थितिकाल जघन्य एक समय इसलिए वताया है कि अप्रमत्तगुणस्थान में स्थित किसी संयत (मुनि) को मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होता है, और तुरंत ही दूसरे समय में नष्ट हो जाता है । मनःपर्यायज्ञानी का उत्कृष्ट अवस्थितिकाल देशोन पूर्वकोटि वर्ष का इसलिए वताया है कि किसी पूर्वकोटिवर्ष की आयु वाले मनुष्य ने चारित्र अंगी-कार किया । चारित्र अंगीकार करते ही उसे मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न हो जाए और यावज्जीवन रहे, तो उसका उत्कृष्ट स्थितिकाल किञ्चित् न्यून कोटिवर्ष घटित हो जाता है ।

त्रिविध अज्ञानियों का तद्रूप अज्ञानी के रूप में अवस्थितिकाल—अज्ञानी, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी ये तीनों स्थितिकाल की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं—(१) अनादि-अपर्यवसित (अनन्त), अभव्यों का होता है। (२) अनादि-सपर्यवसित (सान्त), जो भव्यजीवों का होता है। और (३) सादि-सपर्यवसित (सान्त), जो सम्यग्दर्शन से पतित जीवों का होता है। इनमें से जो सादि-सान्त हैं, उनका जघन्य अवस्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है; क्योंकि कोई जीव सम्यग्दर्शन से पतित होकर अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इसका उत्कृष्ट स्थितिकाल अनन्तकाल है, क्योंकि कोई जीव सम्यग्दर्शन से पतित होकर अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल व्यतीत कर अथवा वनस्पति आदि में अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी व्यतीत करके अनन्तकाल के पश्चात् पुनः सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। विभंगज्ञान का अवस्थितिकाल जघन्य एक समय है; क्योंकि उत्पन्न होने के पश्चात् उसका दूसरे समय में विनष्ट होना सम्भव है। इसका उत्कृष्ट स्थितिकाल किञ्चित् न्यून पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम का है, क्योंकि कोई मनुष्य कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक विभंगज्ञानी बना रह कर सातवें नरक में उत्पन्न हो जाता है, उसकी अपेक्षा से यह कथन है।[1]

पांच ज्ञानों और तीन अज्ञानों का परस्पर अन्तरकाल—एक बार ज्ञान अथवा अज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाए और फिर दूसरी बार उत्पन्न हो तो दोनों के बीच का काल अन्तरकाल कहलाता है। यहाँ पांच ज्ञान और तीन अज्ञान के अन्तर के लिए जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश किया गया है। वहाँ इस प्रकार से अन्तर बताया गया है—आभिनिबोधिक ज्ञान का काल से पारस्परिक अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल तक का या कुछ कम अपार्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल का है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान के विषय में समझ लेना चाहिए। केवलज्ञान का अन्तर नहीं होता। मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक ६६ सागरोपम का है। विभंगज्ञान का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल (वनस्पतिकाल जितना) है।[2]

पांच ज्ञानी और तीन अज्ञानी जीवों का अल्पबहुत्व—पांच ज्ञान और तीन अज्ञान से युक्त जीवों का अल्पबहुत्व प्रज्ञापनासूत्र में बताया गया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—सबसे अल्प मनःपर्यायज्ञानी हैं। क्योंकि मनःपर्यायज्ञान केवल ऋद्धिप्राप्त संयतों को ही होता है। उनसे असंख्यात गुणे अवधिज्ञानी हैं; क्योंकि अवधिज्ञानी जीव चारों गतियों में पाए जाते हैं। उनसे आभिनिबोधिक-ज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों तुल्य और विशेषाधिक हैं। इसका कारण यह है कि अवधि आदि ज्ञान से रहित होने पर भी कई पंचेन्द्रिय और कितने ही विकलेन्द्रिय जीव (जिन्हें सास्वादन सम्यग्दर्शन हो) आभिनिबोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान का परस्पर साहचर्य होने से दोनों ज्ञानी तुल्य हैं। इन सभी से सिद्ध अनन्तगुणे होने से केवलज्ञानी जीव अनन्त-गुणे हैं। तीन अज्ञानयुक्त जीवों में सबसे थोड़े विभंगज्ञानी हैं, क्योंकि विभंगज्ञान पंचेन्द्रियजीवों को ही होता है। उनसे मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी दोनों अनन्तगुणे हैं, क्योंकि एकेन्द्रियजीव भी मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी होते हैं, और वे अनन्त हैं, परस्पर तुल्य भी हैं, क्योंकि इन दोनों का परस्पर साहचर्य है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६१
(ख) प्रज्ञापनासूत्र १८ वां कायस्थितिपद (महावीर विद्यालय), पृ. ३०४-३१७
२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६१
(ख) जीवाभिगमसूत्र (अन्तरदर्शक पाठ) सू. २६३, पृ. ४५५ (आगमो.)

ज्ञानी और अज्ञानी जीवों का परस्पर सम्मिलित अल्पबहुत्व—सबसे थोड़े मन:पर्यायज्ञानी हैं, उनसे अवधिज्ञानी असंख्यातगुणे हैं। उनसे आभिनिबोधिक ज्ञानी और श्रुतज्ञानी विशेषाधिक और परस्पर तुल्य हैं। उनसे विभंगज्ञानी असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि देव और नारकों से मिथ्यादृष्टि देव-नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे केवलज्ञानी अनन्तगुणे हैं, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय शेष सभी जीवों से सिद्ध अनन्तगुणे हैं। उनसे मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी अनन्तगुणे हैं, और वे परस्पर तुल्य हैं; क्योंकि साधारण वनस्पतिकायिकजीव भी मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी होते हैं, और वे सिद्धों से अनन्तगुणे हैं।[1]

बीसवें पर्यायद्वार के माध्यम से ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों की प्ररूपणा—

१५६, केवतिया णं भंते! आभिणिबोहियणाणपज्जवा पण्णत्ता?

गोयमा! अणंता आभिणिबोहियणाणपज्जवा पण्णत्ता।

[१५६ प्र.] भगवन्! आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय कितने कहे गए हैं?

[१५६ उ.] गौतम! आभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्याय कहे गए हैं।

१५७. [१] केवतिया णं भंते! सुतनाणपज्जवा पण्णत्ता?

एवं चेव।

[१५७-१ प्र.] भगवन्! श्रुतज्ञान के पर्याय कितने कहे गए हैं?

[१७६-१ उ.] गौतम! श्रुतज्ञान के भी अनन्त पर्याय कहे गए हैं।

[२] एवं जाव केवलनाणस्स।

[१५७-२] इसी प्रकार अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान के भी अनन्त पर्याय कहे गए हैं।

१५८. एवं मतिअन्नाणस्स सुतअन्नाणस्स।

[१५८] इसी प्रकार मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के भी अनन्त पर्याय कहे गए हैं।

१५९. केवतिया णं भंते! विभंगनाणपज्जवा पण्णत्ता?

गोयमा! अणंता विभंगनाणपज्जवा पण्णत्ता। २०१

[१५९ प्र.] भगवन्! विभंगज्ञान के कितने पर्याय कहे गए हैं?

[१५९ उ.] गौतम! विभंगज्ञान के अनन्त पर्याय कहे गए हैं। (पर्यायद्वार)

ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों का अल्पबहुत्व—

१६०. एतेसि णं भंते! आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं सुयनाणपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा?

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६२

(ख) प्रज्ञापनासूत्र तृतीय बहुवक्तव्यपद, सू. २१२, ३३४, पृ. ८० से १११ तक

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणपज्जवनाणपज्जवा, ओहिनाणपज्जवा अणंतगुणा, सुतनाणपज्जवा अणंतगुणा, आभिणिबोहियनाणपज्जवा अणंतगुणा, केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा।

[१६० प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान के पर्यायों में किनके पर्याय, किनके पर्यायों से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१६० उ.] गौतम ! मनःपर्यायज्ञान के पर्याय सवसे थोड़े हैं। उनसे अवधिज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे श्रुतज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे आभिनिवोधिकज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं और उनसे केवलज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं।

१६१. एएसि णं भंते ! मइअन्नाणपज्जवाणं सुतअन्नाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा विभंगनाणपज्जवा, सुतअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, मतिअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा।

[१६१ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान के पर्यायों में, किनके पर्याय, किनके पर्यायों से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१६१ उ.] गौतम ! सवसे थोड़े विभंगज्ञान के पर्याय हैं। उनसे श्रुत-अज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं और उनसे मति-अज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं।

१६२. एएसि णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवाणं जाव केवलनाणपज्जवाणं मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणपज्जवनाणपज्जवा, विभंगनाणपज्जवा अणंतगुणा, ओहिणाणपज्जवा अणंतगुणा, सुतअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, सुतनाणपज्जवा विसेसाहिया, मइअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा, आभिणिबोहियनाणपज्जवा विसेसाहिया, केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठम सए : बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥

[१६२ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) आभिनिबोधिकज्ञान-पर्याय यावत् केवलज्ञान पर्यायों तक में तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान के पर्यायों में किसके पर्याय, किसके पर्यायों से अल्प, वहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[१६२ उ.] गौतम ! सवसे थोड़े मनःपर्यायज्ञान के पर्याय हैं। उनसे विभंगज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे अवधिज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे श्रुत-अज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे श्रुतज्ञान के पर्याय विशेषाधिक हैं। उनसे मति-अज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं। उनसे मतिज्ञान के पर्याय विशेषाधिक हैं और केवलज्ञान के पर्याय उनसे अनन्तगुणे हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर यावत् गौतमस्वामी विचरण करने लगे ।

विवेचन—ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों का तथा उनके अल्पबहुत्व का प्ररूपण—प्रस्तुत ७ सूत्रों (सू. १५६ से १६२ तक) में पर्यायद्वार के माध्यम से ज्ञान और अज्ञान की पर्यायों तथा उनके अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है ।

पर्याय : स्वरूप, प्रकार एवं परस्पर अल्पबहुत्व—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विशेष भेदों को 'पर्याय' कहते हैं । पर्याय के दो भेद हैं—स्वपर्याय और पर-पर्याय । क्षयोपशम की विचित्रता से मतिज्ञान के अवग्रह आदि अनन्त भेद होते हैं, जो स्वपर्याय कहलाते हैं । अथवा मतिज्ञान के विषयभूत ज्ञेयपदार्थ अनन्त होने से उन ज्ञेयों के भेद से ज्ञान के भी अनन्त भेद हो जाते हैं । इस अपेक्षा से भी मतिज्ञान के अनन्त पर्याय हैं । अथवा केवलज्ञान द्वारा मतिज्ञान के अंश (टुकड़े) किये जाएँ तो भी अनन्त अंश होते हैं । इस अपेक्षा से भी मतिज्ञान के अनन्त पर्याय हैं । मतिज्ञान के सिवाय दूसरे पदार्थों के पर्याय 'परपर्याय' कहलाते हैं । मतिज्ञान के स्वपर्यायों का बोध कराने में तथा परपर्यायों से उन्हें भिन्न बतलाने में प्रतियोगी रूप से उनका उपयोग है । इसलिए वे मतिज्ञान के परपर्याय कहलाते हैं । श्रुतज्ञान के भी स्वपर्याय और परपर्याय अनन्त हैं । उनमें से श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत-अनक्षरश्रुत आदि भेद स्वपर्याय कहलाते हैं, जो अनन्त हैं । क्योंकि श्रुतज्ञान के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण तथा श्रुतज्ञान के विषयभूत ज्ञेय पदार्थ अनन्त होने से श्रुतज्ञान के (श्रुतानुसारी बोध के) भेद भी अनन्त हो जाते हैं । अथवा केवलज्ञान द्वारा श्रुतज्ञान के अनन्त अंश होते हैं, वे भी उसके स्वपर्याय ही हैं । उनसे भिन्न पदार्थों के विशेष धर्म, श्रुतज्ञान के परपर्याय कहलाते हैं ।

अवधिज्ञान के स्वपर्याय भी अनन्त हैं, क्योंकि उसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिक), इन दो भेदों के कारण, उनके स्वामी देव और नारक तथा मनुष्य और तिर्यञ्च के, असंख्येय क्षेत्र और काल के भेद से, अनन्त द्रव्य-पर्याय के भेद से एवं केवलज्ञान द्वारा उसके अनन्त अंश होने से अवधिज्ञान के अनन्त भेद होते हैं ।

इसी प्रकार मनःपर्याय और केवलज्ञान के विषयभूत ज्ञेय पदार्थ अनन्त होने से तथा उनके अनन्त अंशों की कल्पना आदि से अनन्त स्वपर्याय होते हैं ।

पर्यायों के अल्पबहुत्व की समीक्षा—यहाँ जो पर्यायों का अल्पबहुत्व बताया गया है, वह स्वपर्यायों की अपेक्षा से समझना चाहिए; क्योंकि सभी ज्ञानों के स्वपर्याय और परपर्याय मिलकर समुदित रूप से परस्पर तुल्य हैं । सबसे अल्प मनःपर्यायज्ञान के पर्याय इसलिए हैं कि उसका विषय केवल मन ही है । मनःपर्यायज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञान का विषय द्रव्य और पर्यायों की अपेक्षा अनन्तगुण होने से अवधिज्ञान के पर्याय उससे अनन्तगुणे हैं । उनसे श्रुतज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं । क्यों कि उसका विषय रूपी-अरूपीद्रव्य होने से वे अनन्तगुणे हैं । उनसे आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे हैं, क्योंकि उनका विषय अभिलाप्य और अनभिलाप्य पदार्थ होने से वे उनसे अनन्तगुणे हैं, और केवलज्ञान के पर्याय उनसे अनन्तगुणे इसलिए हैं कि उसका विषय सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय हैं । इसी प्रकार अज्ञानों के भी अल्पबहुत्व की समीक्षा कर लेनी चाहिए ।

ज्ञान और अज्ञान के पर्यायों के सम्मिलित अल्पबहुत्व में सबसे अल्प मनःपर्यायज्ञान के पर्याय हैं, उनसे विभंगज्ञान के पर्याय अनन्तगुण हैं, क्योंकि उपरिम (नवम) ग्रैवेयक से लेकर नीचे

सप्तम नरक तक में और असंख्य द्वीप समुद्रों में रहे हुए कितने ही रूपी द्रव्य और उनके कतिपय पर्याय विभंगज्ञान के विषय हैं, और वे मन:पर्यायज्ञान के विषयापेक्षया के अनन्तगुणे हैं। उनकी अपेक्षा अवधिज्ञानपर्याय अनन्तगुणे इसलिए हैं कि उसका विषय समस्त रूपी द्रव्य और प्रत्येक के द्रव्य असंख्यपर्याय हैं। उनसे श्रुत-अज्ञान के पर्याय अनन्तगुणा यों हैं कि श्रुत-अज्ञान के विषय सभी मूर्त-अमूर्त द्रव्य एवं सर्वपर्याय हैं। तदपेक्षा श्रुतज्ञानपर्याय विशेषाधिक यों हैं कि श्रुत-अज्ञान-अगोचर कतिपय पदार्थों को भी श्रुतज्ञान जानता है। तदपेक्षया मति-अज्ञानपर्याय अनन्तगुणे यों हैं कि उसका विषय अनभिलाप्यवस्तु भी है। उनसे मतिज्ञान के पर्याय विशेषाधिक यों हैं कि मति-अज्ञान के अगोचर कितने ही पदार्थों को मतिज्ञान जानता है और उनसे केवलज्ञान के पर्याय अनन्तगुणे इसलिए हैं कि केवलज्ञान सर्वकालगत समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को जानता है।[1]

।। अष्टम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६२ से ३६४ तक

तइओ उद्देसओ : 'रुक्खा'

तृतीय उद्देशक : 'वृक्ष'

संख्यातजीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक वृक्षों का निरूपण—

१. कतिविहा णं भंते ! रुक्खा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा रुक्खा पण्णत्ता, तं जहा—संखेज्जजीविया असंखेज्जजीविया अणंतजीविया।

[१ प्र.] भगवन् ! वृक्ष कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! वृक्ष तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) संख्यात जीव वाले, (२) असंख्यात जीव वाले और (३) अनन्त जीव वाले।

२. से किं तं संखेज्जजीविया ?

संखेज्जजीविया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—ताले तमाले तक्कलि तेतलि जहा पण्णवणाए जाव नालिएरी, जे यावन्ने तहप्पगारा। से त्तं संखेज्जजीविया।

[२ प्र.] भगवन् ! संख्यात जीव वाले वृक्ष कौन-से हैं ?

[२ उ.] गौतम ! संख्यात जीव वाले वृक्ष अनेकविध कहे गए हैं। जैसे—ताड़ (ताल), तमाल, तक्कलि, तेतलि इत्यादि, प्रज्ञपनासूत्र (के पहले पद) में कहे अनुसार यावत् नारिकेल (नारियल) पर्यन्त जानना चाहिए। ये और इनके अतिरिक्त इस प्रकार के जितने भी वृक्षविशेष हैं, वे सव संख्यात जीव वाले हैं। यह हुआ संख्यात जीव वाले वृक्षों का वर्णन।

३. से किं तं असंखेज्जजीविया ?

असंखेज्जजीविया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगट्ठिया य वहुवीयगा य।

[३ प्र.] भगवन् ! असंख्यात जीव वाले वृक्ष कौन-से हैं ?

[३ उ.] गौतम ! असंख्यात जीव वाले वृक्ष दो प्रकार के कहे गये हैं। यथा—एकास्थिक (एक गुठली—वीज वाले) और वहुवीजक (वहुत वीजों वाले)।

४. से किं तं एगट्ठिया ?

एगट्ठिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—निंबंवजंवु एवं जहा पण्णवणापए जाव फला वहुवीयगा। से त्तं वहुवीयगा। से त्तं असंखेज्जजीविया।

[४ प्र.] भगवन् ! एकास्थिक वृक्ष कौन-से हैं ?

[४ उ.] गौतम ! एकास्थिक (एक गुठली या वीज वाले) वृक्ष अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे कि—नीम, आम, जामुन आदि। इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र (के प्रथम पद) में कहे अनुसार यावत्

'बहुबीज वाले फलों' तक कहना चाहिए। इस प्रकार यह बहुबीजकों का वर्णन हुआ। और (इसके साथ ही) असंख्यात जीव वाले वृक्षों का वर्णन भी पूर्ण हुआ।

५. से किं तं अणंतजीविया ?

अणंतजीविया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—आलुए मूलए सिंगवेरे एवं जहा सत्तमसए (स० ७ उ० ३ सु० ५) जाव सीउंढो मुसुंढी, जे यावन्ने तहप्पकारा। से त्तं अणंतजीविया।

[५ प्र.] भगवन् ! अनन्त जीव वाले वृक्ष कौन-से हैं ?

[५ उ.] गौतम ! अनन्त जीव वाले वृक्ष अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे—आलू, मूला, शृंगवेर (अदरख) आदि। इस प्रकार भगवतीसूत्र के सप्तम शतक के तृतीय उद्देशक में कहे अनुसार, यावत् 'सिउंढी, मुसुंढी' तक जानना चाहिए। ये और इनके अतिरिक्त जितने भी इस प्रकार के अन्य वृक्ष हैं, उन्हें भी (अनन्त जीव वाले) जान लेना चाहिए। यह हुआ उन अनन्त जीव वाले वृक्षों का कथन।

विवेचन—संख्यातजीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक वृक्षों का निरूपण—प्रस्तुत तृतीय उद्देशक के प्रारम्भिक पांच सूत्रों में वृक्षों के तीन प्रकार का और फिर उनमें से प्रत्येक प्रकार के वृक्षों का परिचय दिया गया है।

संख्यातजीविक, असंख्यातजीविक और अनन्तजीविक का विश्लेषण—जिन में संख्यात जीव हों उन्हें संख्यातजीविक कहते हैं, प्रज्ञापना में दो गाथाओं द्वारा नालिकेरी तक, इनके नामों का उल्लेख किया गया है—

> **ताल तमाले तेतलि, साले य सारकल्लाणे।**
> **सरले जायइ केयइ कदलि तह चम्मरुक्खे य ॥१॥**
> **भुयरुक्खे हिंगुरुक्खे य लवंगरुक्खे य होइ बोद्धव्वे।**
> **पूयफली खज्जूरी बोधव्वा नालियेरी य ॥२॥**

अर्थात्—ताड़, तमाल, तेतलि (इमली), साल, सारकल्याण, सरल, जाई, केतकी, कदली (केला) तथा चर्मवृक्ष, भुर्जवृक्ष, हिंगुवृक्ष और लवंगवृक्ष, पूगफली (पूगीफल—सुपारी), खजूर, और नारियल के वृक्ष संख्यातजीविक समझने चाहिए। असंख्यात जीव वाले (असंख्यातजीविक) मुख्यतया दो प्रकार के हैं—एकास्थिक और बहुबीजक। जिन फलों में एक ही बीज (या गुठली) हो वे एकास्थिक और जिन फलों में बहुत-से बीज हों, वे बहुबीजक-अनेकास्थिक कहलाते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में एकास्थिक के कुछ नाम इस प्रकार दिये गए हैं—

> **'निबंब-जम्बुकोसंब साल अंकोल्लपीलु सल्लूया।**
> **सल्लइमोयइमालुय बउलपलासे करंजे य ॥१॥**

अर्थात्—नीम, आम, जामुन, कोशाम्ब, साल, अंकोल्ल, पीलू, सल्लूक, सल्लकी, मोदकी, मालुक, वकुल, पलाश और करंज इत्यादि फल एकास्थिक जानने चाहिए।

बहुबीजक फलों के प्रज्ञापनासूत्र में उल्लिखित नाम इस प्रकार हैं—

अत्थिय-तेंदु-कविट्ठे-अंबाडग-माउलुंगबिल्ले य ।
आमलग-फणस-दाडिम आसोट्ठे उंबर-वडे य ॥

अस्थिक, तिन्दुक, कविट्ठ, आम्रातक, मातुलुंग (बिजौरा), वेल, आँवला, फणस (अनन्नास), दाड़िम, अश्वत्थ, उदुम्बर और वट, ये बहुबीजक फल हैं।

अनेकजीविक फलदार वृक्षों के भी प्रज्ञापना में कुछ नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

एएसि मूला वि असंखेज्जजीविया, कंदावि खंधावि तयावि, सालावि पवालावि, पत्ता पत्तेय-जीविया पुप्फा अणेगजीविया फला बहुबीयगा।" इन (पूर्वोक्त) वृक्षों के मूल भी असंख्यातजीविक हैं। कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल (नये कोमल पत्ते), पत्ते प्रत्येकजीवी हैं, फूल अनेक-जीविक हैं, फल बहुबीज वाले हैं।[1]

छिन्न कछुए आदि के टुकड़ों के बीच का जीवप्रदेश स्पृष्ट और शस्त्रादि के प्रभाव से रहित—

६. [१] अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया, गोहे गोहावलिया, गोणे गोणावलिया, मणुस्से मणुस्सावलिया, महिसे महिसावलिया, एएसि णं दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपदेसेहिं फुडा ?

हंता, फुडा ।

[६-१ प्र.] भगवन् ! कछुआ, कछुओं की श्रेणी (कूर्मावली), गोधा (गोह), गोधा की पंक्ति (गोधावलिका), गाय, गायों की पंक्ति, मनुष्य, मनुष्यों की पंक्ति, भैंसा, भैंसों की पंक्ति, इन सबके दो या तीन अथवा संख्यात खण्ड (टुकड़े) किये जाएँ तो उनके बीच का भाग (अन्तर) क्या जीवप्रदेशों से स्पृष्ट (व्याप्त—छूआ हुआ) होता है ?

[६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह (बीच का भाग जीवप्रदेशों से) स्पृष्ट होता है।

[२] पुरिसे णं भंते ! ते अंतरे हत्थेण वा पादेण वा अंगुलियाए वा, सलागाए वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा आमुसमाणे वा सम्मुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजातेणं आच्छिंदेमाणे वा विच्छिंदेमाणे वा, अगणिकाएणं वा समोडहमाणे तेसिं जीवपदेसाणं किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पायइ ? छविच्छेदं वा करेइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं संकमति ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष उन कछुए आदि के खण्डों के बीच के भाग को हाथ से, पैर से अंगुलि से, शलाका (सलाई) से, काष्ठ से या लकड़ी के छोटे-से टुकड़े से थोड़ा स्पर्श करे, विशेष स्पर्श करे, थोड़ा-सा खींचे या विशेष खींचे या किसी तीक्ष्ण शस्त्रजात (शस्त्रसमूह) से थोड़ा

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६४-३६५
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (महावीर विद्यालय०) पद १, सूत्र ४७, गाथा ३७-३८
(ग) प्रज्ञापनासूत्र (महावीर विद्यालय०) पद १, सूत्र ४०, गाथा १३-१४-१५

छेदे अथवा विशेष छेदे अथवा अग्निकाय से उसे जलाए तो क्या उन जीवप्रदेशों को थोड़ी या अधिक बाधा (पीड़ा) उत्पन्न कर पाता है अथवा उसके किसी भी अवयव का छेद कर पाता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, (अर्थात् वह जरा-सी भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकता और न अंगभंग कर सकता है ।); क्योंकि उन जीवप्रदेशों पर शस्त्र (आदि) का प्रभाव नहीं होता ।

विवेचन—छिन्न कछुए आदि के टुकड़ों के बीच का जीवप्रदेश स्पृष्ट और शस्त्रादि के प्रभाव से रहित—प्रस्तुत सूत्र (सू. ६) में दो तथ्यों का स्पष्ट निरूपण किया गया है—

(१) किसी भी जीव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी उसके बीच के भाग कुछ काल तक जीवप्रदेशों से स्पृष्ट रहते हैं, तथा (२) कोई भी व्यक्ति जीवप्रदेशों को हाथ आदि से छुए, खींचे या शस्त्रादि से काटे तो उन पर उसका कोई असर नहीं होता ।[1]

रत्नप्रभादि पृथ्वियों के चरमत्व-अचरमत्व का निरूपण—

७. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ पुढवीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा पुढवी, ईसिपब्भारा ।

[७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[७ उ.] गौतम ! पृथ्वियाँ आठ कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं—रत्नप्रभापृथ्वी यावत् अधःसप्तमा (तमस्तमा) पृथ्वी और ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) ।

८. इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी किं चरिमा, अचरिमा ? चरिमपदं निरवसेसं भाणियव्वं जाव वेमाणिया णं भंते ! फासचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोतमे० ।

।। अट्ठमसए : तइओ उद्देसओ समत्तो ।।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या यह रत्नप्रभापृथ्वी चरम (प्रान्तवर्ती—अन्तिम) है अथवा अचरम (मध्यवर्ती) है ?

[८ उ.] (गौतम !) यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का समग्र चरमपद (१० वाँ) कहना चाहिए; यावत्-(प्र.) भगवन् ! वैमानिक स्पर्शचरम से क्या चरम हैं, अथवा अचरम हैं ? (उ.) गौतम ! वे चरम भी हैं और अचरम भी हैं । (यहाँ तक कहना चाहिए ।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; (यों कहकर भगवान् गौतम यावत् विचरण करते हैं ।)

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ–टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३५३

विवेचन—रत्नप्रभादि पृथ्वियों के चरमत्व-अचरमत्व का निरूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू. ७-८) में दो तथ्यों का निरूपण किया गया है—आठ पृथ्वियों का और रत्नप्रभादि पृथ्वियों के चरमत्व—अचरमत्व का।

चरम-अचरम-परिभाषा—चरम का अर्थ यहाँ प्रान्त या पर्यन्तवर्ती (अन्तिम सिरे पर रहा हुआ) है। यह अन्तवर्तित्व अन्य द्रव्य की अपेक्षा से समझना चाहिए। जैसे—पूर्वशरीर की अपेक्षा से चरमशरीर कहा जाता है। **अचरम** का अर्थ है—अप्रान्त यानी मध्यवर्ती। यह भी आपेक्षिक है। जैसे कि कहा जाता है—अन्यद्रव्य की अपेक्षा यह अचरम द्रव्य है अथवा अन्तिम शरीर की अपेक्षा यह मध्य शरीर है।[1]

चरमादि छह प्रश्नोत्तरों का आशय—प्रज्ञापनासूत्र में रत्नप्रभापृथ्वी के सम्बन्ध में ६ प्रश्न और उनके उत्तर प्रस्तुत किये गए हैं। यथा—रत्नप्रभापृथ्वी चरम है, अचरम है, (एकवचन की अपेक्षा से) चरम हैं या अचरम हैं (बहुवचन की अपेक्षा से) अथवा चरमान्त प्रदेश हैं, या अचरमान्त प्रदेश हैं? इसके उत्तर में कहा गया है—रत्नप्रभापृथ्वी न तो चरम है, न अचरम है, न वे (पृथ्वियाँ) चरम हैं, और न अचरम हैं, न ही चरमान्तप्रदेश (उसका भूभाग प्रान्तवर्ती) है, न ही अचरमान्तप्रदेश है। रत्नप्रभा में चरमत्व (एकवचन-बहुवचन दोनों दृष्टियों से) इसलिए घटित नहीं हो सकता कि चरमत्व आपेक्षिक है, अन्यापेक्ष है और अन्य पृथ्वी का वहाँ अभाव होने से रत्नप्रभा चरम नहीं है। और अचरमत्व भी उसमें तब घटित हो, जब बीच में कोई दूसरी पृथ्वी हो, वह भी नहीं है। इसलिए रत्नप्रभा अचरम भी नहीं है। रत्नप्रभापृथ्वी असंख्यात प्रदेशावगाढ़ है किन्तु पास में या मध्य में दूसरी पृथ्वी के प्रदेश न होने से वह न तो चरमान्तप्रदेश है और न अचरमान्त।[2]

॥ अष्टम शतकः तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३६५

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ३६६,

(ख) प्रज्ञापना. पद १०, (म. विद्या.) सू. ७७४-८२९, पृ. १९३-२०८

चउत्थो उद्देसओ : किरिया

चतुर्थ उद्देशक : 'क्रिया'

क्रियाएँ और उनसे सम्बन्धित भेद-प्रभेदों आदि का निर्देश—

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१ उद्देशक का उपोद्घात] राजगृह नगर में यावत् गौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—

२. कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काइया अहिगरणिया, एवं किरियापदं निरवसेसं भाणियव्वं जाव मायावत्तियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे० ।

।। अट्ठमसए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

[२ प्र.] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई हैं ?

[२ उ.] गौतम ! क्रियाएँ पांच कही गई हैं । वे इस प्रकार—

(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी ।

यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का (बाईसवाँ) समग्र क्रियापद कहना चाहिए; यावत् 'मायाप्रत्ययिकी क्रियाएँ विशेषाधिक हैं;'—यहाँ तक कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—क्रियाएँ और उनसे सम्बन्धित भेद-प्रभेदों आदि का निर्देश—प्रस्तुत उद्देशक के सूत्रद्वय में मुख्य क्रियाओं और उनसे सम्बन्धित भेद-प्रभेद एवं अल्पबहुत्व का प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेश-पूर्वक निर्देश किया गया है ।

क्रिया की परिभाषा—कर्मबन्ध की कारणभूत चेष्टा को अथवा दुर्व्यापारविशेष को जैन-दर्शन में क्रिया कहा गया है ।

कायिकी आदि क्रियाओं का स्वरूप और प्रकार—कायिकी के दो प्रकार—१. अनुपरतकायिकी (हिंसादि सावद्ययोग से देशतः या सर्वतः अनिवृत्त-अविरत जीवों को लगने वाली), और **२. दुष्प्रयुक्त-कायिकी**—कायादि के दुष्प्रयोग से प्रमत्तसंयत को लगने वाली क्रिया) । **आधिकरणिकी के दो भेद— १. संयोजनाधिकरणिकी** (पहले से बने हुए अस्त्र-शस्त्रादि हिंसा के साधनों को एकत्रित कर तैयार

रखना) तथा २. निर्वर्तनाधिकरणिकी (नये अस्त्र-शस्त्रादि बनाना)। प्राद्वेषिकी—(स्वयं का, दूसरों का, उभय का अशुभ-द्वेषयुक्त चिन्तन करना), पारितापनिकी (स्व, पर और उभय को परिताप उत्पन्न करना) और प्राणातिपातिकी (अपने आपके, दूसरों के या उभय के प्राणों का नाश करना)। कायिकी आदि पांच-पांच करके पच्चीस क्रियाओं का वर्णन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त इन पांचों क्रियाओं का अल्प-बहुत्व भी विस्तृत रूप से प्रज्ञापना में प्रतिपादित किया गया है।[1]

॥ अष्टम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६७ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचनयुक्त) भा. ३, पृ. १३७४

पंचमो उद्देसओ : 'आजीव'

पंचम उद्देशक : 'आजीव'

सामायिकादि साधना में उपविष्ट श्रावक का सामान या स्त्री आदि परकीय हो जाने पर भी उसके द्वारा स्वममत्ववश अन्वेषण—

१. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१. उद्देशक का उपोद्घात] राजगृह नगर में यावत् गौतमस्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार पूछा—

२. आजीविया णं भंते ! थेरे भगवंते एवं वदासि—

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ भंडे अवहरेज्जा, से णं भंते ! तं भंडं अणुगवेसमाणे किं सभंडं अणुगवेसति ? परायगं भंडं अणुगवेसइ ?

गोयमा ! सभंडं अणुगवेसति नो परायगं भंडं अणुगवेसेति ।

[२ प्र.] भगवन् ! आजीविकों (गोशालक के शिष्यों) ने स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा कि 'सामायिक करके श्रमणोपाश्रय में बैठे हुए किसी श्रावक के भाण्ड-वस्त्र आदि सामान को कोई अपहरण कर ले जाए, (और सामायिक पूर्ण होने पर उसे पार कर) वह उस भाण्ड-वस्त्रादि सामान का अन्वेषण करे तो क्या वह (श्रावक) अपने सामान का अन्वेषण करता है या पराये (दूसरों के) सामान का अन्वेषण करता है ?

[२ प्र.[गौतम ! वह (श्रावक) अपने ही सामान (भाण्ड) का अन्वेषण करता है, पराये सामान का अन्वेषण नहीं करता ।

३. [१] तस्स णं भंते ! तेहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं से भंडे अभंडे भवति ?

हंता, भवति ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! उन शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पोषधोपवास को स्वीकार किये हुए श्रावक का वह अपहृत भाण्ड (सामान) उसके लिए तो अभाण्ड हो जाता है ? (अर्थात् सामायिक आदि की साधनावस्था में वह सामान उसका अपना रह जाता है क्या ?)

[३-१ उ.] हाँ, गौतम, (शीलव्रतादि के साधनाकाल में) वह भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो जाता है ।

[२] से केणं खाइ णं अट्ठेणं भंते ! एवं वच्चति 'सभंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ' ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—णो मे हिरण्णे, नो मे सुवण्णे नो मे कंसे, नो मे दूसे, नो मे विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमादीए संतसारसावदेज्जे, ममत्तभावे पुण से अपरिण्णाते भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—'सभंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! (जब वह भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो जाता है,) तब आप ऐसा क्यों कहते हैं कि वह श्रावक अपने भाण्ड का अन्वेषण करता है, दूसरे के भाण्ड का अन्वेषण नहीं करता ?

[३-२ उ.] गौतम ! सामायिक आदि करने वाले उस श्रावक के मन में हिरण्य (चांदी) मेरा नहीं है, सुवर्ण मेरा नहीं है, कांस्य (कांसी के वर्तन आदि सामान) मेरा नहीं है, वस्त्र मेरे नहीं हैं तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, शिलाप्रवाल (मूंगा) एवं रक्तरत्न (पद्मरागादि मणि) इत्यादि विद्यमान सारभूत द्रव्य मेरा नहीं है। किन्तु (उन पर) ममत्वभाव का उसने प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसी कारण से, हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि वह श्रावक अपने भाण्ड का अन्वेषण करता है, दूसरों के भाण्ड (सामान) का अन्वेषण नहीं करता।

४. समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ जायं चरेज्जा, से णं भंते ! किं जायं चरइ, अजायं चरइ ?

गोयमा ! जायं चरइ, नो अजायं चरइ।

[४ प्र.] भगवन् ! सामायिक करके श्रमणोपाश्रय में बैठे हुए श्रावक की पत्नी के साथ कोई लम्पट व्यभिचार करता (भोग भोगता) है, तो क्या वह (व्यभिचारी) जाया (श्रावक की पत्नी) को भोगता है, या अजाया (श्रावक की स्त्री को नहीं, दूसरे की स्त्री) को भोगता है ?

[४ उ.] गौतम ! वह (व्यभिचारी पुरुष) उस श्रावक की जाया (पत्नी) को भोगता है, अजाया (श्रावक के सिवाय दूसरे की स्त्री को) नहीं भोगता।

५. [१] तस्स णं भंते ! तेहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवइ ?

हंता, भवइ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पोषधोपवास कर लेने से क्या उस श्रावक की वह जाया 'अजाया' हो जाती है ?

[५-१ उ.] हाँ, गौतम ! (शीलव्रतादि की साधनावेला में) श्रावक की जाया, अजाया हो जाती है।

[२] से केणं खाइ णं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० 'जायं चरइ, नो अजायं चरइ' ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ—णो मे माता, णो मे पिता, णो मे भाया, णो मे भगिणी, णो मे भज्जा, णो मे पुत्ता, णो मे धूता, नो मे सुण्हा, पेज्जबंधणे पुण से अव्वोच्छिन्ने भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो अजायं चरइ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! (जब शीलव्रतादि-साधनाकाल में श्रावक की जाया 'अजाया' हो जाती है,) तब आप ऐसा क्यों कहते हैं कि वह लम्पट उसकी जाया को भोगता है, अजाया को नहीं भोगता।

[५-२ उ.] गौतम ! शीलव्रतादि को अंगीकार करने वाले उस श्रावक के मन में ऐसे परिणाम होते हैं कि 'माता मेरी नहीं हैं, पिता मेरे नहीं हैं, भाई मेरा नहीं है, बहन मेरी नहीं है, भार्या मेरी नहीं है, पुत्र मेरे नहीं हैं, पुत्री मेरी नहीं है, पुत्रवधू (स्नुषा) मेरी नहीं है; किन्तु इन सबके प्रति उसका प्रेम (प्रेय) बन्धन टूटा नहीं (अव्यवच्छिन्न) है। इस कारण, हे गौतम ! मैं कहता हूँ कि वह पुरुष उस श्रावक की जाया को भोगता है, अजाया को नहीं भोगता।

विवेचन—सामायिकादि साधना में उपविष्ट श्रावक का सामान या स्त्री आदि स्वकीय हो न रहने पर भी उसके प्रति स्वममत्व—प्रस्तुत तीन सूत्रों में सामायिक आदि में बैठे हुए श्रमणोपासक का सामान अपना न होते हुए भी अपहृत हो जाने पर ममत्ववश स्वकीय मान कर अन्वेषण करने की वृत्ति सूचित की गई है।

सामायिकादि साधना में परकीय पदार्थ स्वकीय क्यों ?—सामायिक, पौषधोपवास आदि अंगीकार किये हुए श्रावक ने यद्यपि वस्त्रादि सामान का त्याग कर दिया है, यहाँ तक कि सोना, चांदी, अन्य धन, घर, दूकान, माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के प्रति भी उसके मन में यही परिणाम होता है कि ये मेरे नहीं हैं, तथापि उसका उनके प्रति ममत्व का त्याग नहीं हुआ है, उनके प्रति प्रेमबन्धन रहा हुआ है, इसलिए वे वस्त्रादि तथा स्त्री आदि उसके कहलाते हैं।[1]

श्रावक के प्राणातिपात आदि पापों के प्रतिक्रमण,-संवर-प्रत्याख्यान-सम्बन्धी विस्तृत भंगों की प्ररूपणा—

६. [१] समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलए पाणातिवाते अपच्चक्खाए भवइ, से णं भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेति ?

गोयमा ! तीतं पडिक्कमति, पडुप्पन्नं संवरेति, अणागतं पच्चक्खाति।

[६-१ प्र.] भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने (पहले) स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान नहीं किया, वह पीछे उसका प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है ?

[६-१ उ.] गौतम ! अतीत काल में किये हुए प्राणातिपात का प्रतिक्रमण करता है (उक्त पाप की निन्दा, गर्हा, आलोचनादि करके उससे निवृत्त होता है) तथा वर्तमानकालीन प्राणातिपात का संवर (निरोध) करता है, एवं अनागत (भविष्यत्कालीन) प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता (उसे न करने की प्रतिज्ञा लेता) है।

[२] तीतं पडिक्कममाणे किं तिविहं तिविहेणं पडिक्कमति १, तिविहं दुविहेणं पडिक्कमति २, तिविहं एगविहेणं पडिक्कमति ३, दुविहं तिविहेणं पडिक्कमति ४, दुविहं दुविहेणं पडिक्कमति ५, दुविहं एगविहेणं पडिक्कमति ६, एक्कविहं तिविहेणं पडिक्कमति ७, एक्कविहं दुविहेणं पडिक्कमति ८, एक्कविहं एगविहेणं पडिक्कमति ९ ?

गोयमा ! तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कमति, तिविहं वा दुविहेणं पडिक्कमति तं चेव जाव

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६८

एक्कविहं वा एक्कविहेणं पडिक्कमति । तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, मणसा वयसा कायसा १ । तिविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे न करेति, न कारवेति, करेंतं नाणुजाणति, मणसा वयसा २; अहवा न करेति, न कारवेति, करेंतं नाणुजाणति, मणसा कायसा ३; अहवा न करेइ, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, वयसा कायसा ४ । तिविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, मणसा ५; अहवा न करेइ, ण कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, वयसा ६; अहवा न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, कायसा ७ । दुविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ, न कारवेति, मणसा वयसा कायसा ८; अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा वयसा कायसा ९; अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ; मणसा वयसा कायसा १० । दुविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे न करेति न कारवेति, मणसा वयसा ११; अहवा न करेति, न कारवेति, मणसा कायसा १२; अहवा न करेति, न कारवेति, वयसा कायसा १३; अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा वयसा १४; अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा कायसा १५; अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणति, वयसा कायसा १६; अहवा न कारवेति, करेंतं नाणुजाणति मणसा वयसा १७; अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा कायसा १८; अहवा न कारवेति, करेंतं नाणुजाणइ वयसा कायसा १९ । दुविहं एक्कविहेणं पडिक्कममाणे न करेति, न कारवेति, मणसा २०; अहवा न करेति, न कारवेति वयसा २१; अहवा न करेति, न कारवेति कायसा २२; अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा २३; अहवा न करेइ, करेंतं नाणुजाणति, वयसा २४; अहवा न करेइ, करेंतं नाणुजाणइ, कायसा २५; अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा २६; अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, वयसा २७; अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, कायसा २८ । एगविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेति मणसा वयसा कायसा २९; अहवा न कारवेइ मणसा वयसा कायसा ३०; अहवा करेंतं नाणुजाणति मणसा वयसा कायसा ३१; एक्कविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे न करेति मणसा वयसा ३२; अहवा न करेति मणसा कायसा ३३; अहवा न करेइ वयसा कायसा ३४; अहवा न कारवेति मणसा वयसा ३५; अहवा न कारवेति मणसा कायसा ३६; अहवा न कारवेइ वयसा कायसा ३७; अहवा करेंतं नाणुजाणति मणसा वयसा ३८; अहवा करेंतं नाणुजाणति मणसा कायसा ३९; अहवा करेंतं नाणुजाणइ वयसा कायसा ४० । एक्कविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे न करेति मणसा ४१; अहवा न करेति वयसा ४२; अहवा न करेति कायसा ४३; अहवा न कारवेति मणसा ४४; अहवा न कारवेति वयसा ४५; अहवा न कारवेइ कायसा ४६; अहवा करेंतं नाणुजाणइ मणसा ४७; अहवा करेंतं नाणुजाणति वयसा ४८; अहवा करेंतं नाणुजाणइ कायसा ४९ ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! अतीतकालीन प्राणातिपात आदि का प्रतिक्रमण करता हुआ श्रमणोपासक, क्या १. त्रिविध-त्रिविध (तीन करण, तीन योग से), २. त्रिविध-द्विविध (तीन करण, दो योग से), ३. त्रिविध-एकविध (तीन करण, एक योग से) ४. द्विविध-त्रिविध (दो करण, तीन योग से), ५. द्विविध-द्विविध (दो करण, दो योग से), ६. द्विविध-एकविध (दो करण, एक योग से), ७. एकविध-त्रिविध (एक करण, तीन योग से), ८. एकविध-द्विविध (एक करण, दो योग से) अथवा ९. एकविध-एकविध (एक करण, एक योग से) प्रतिक्रमण करता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! वह त्रिविध-त्रिविध प्रतिक्रमण करता है, अथवा त्रिविध-द्विविध प्रतिक्रमण करता है, अथवा यावत् एकविध-एकविध प्रतिक्रमण करता है।

१. जब वह **त्रिविध-त्रिविध** प्रतिक्रमण करता है, तब स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से, वचन से और काया से। २. जब **त्रिविध-द्विविध** प्रतिक्रमण करता है, तब स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं, और करते हुए का अनुमोदन नहीं करता, मन से और वचन से; ३. अथवा वह स्वयं करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदन नहीं करता, मन से और काया से; ४. या वह स्वयं करता, कराता और अनुमोदन करता नहीं, वचन से और काया से।

५. जब **त्रिविध-एकविध** प्रतिक्रमण करता है, तब स्वयं नहीं करता, न दूसरे से करवाता है और न करते हुए का अनुमोदन करता है, मन से, ६. अथवा स्वयं नहीं करता, दूसरे से नहीं करवाता और करते हुए का अनुमोदन नहीं करता, वचन से; अथवा ७—स्वयं नहीं करता, दूसरे से नहीं कराता और करते हुए का अनुमोदन नहीं करता है; काया से।

८—जब **द्विविध-त्रिविध** प्रतिक्रमण करता है, तब स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन, वचन और काया से, ९—अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन-वचन-काया से १०—अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से।

जब द्विविध—द्विविध प्रतिक्रमण करता है, तब-११—स्वयं नहीं करता, दूसरों से करवाता नहीं, मन और वचन से; १२—अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन और काया से, अथवा १३—स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, वचन और काया से; अथवा १४—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से; अथवा १५—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से; अथवा १६—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से। अथवा १७—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से, अथवा १८—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से; अथवा १९—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से।

जब द्विविध—एकविध प्रतिक्रमण करता है, तब २०—स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, मन से; अथवा २१—स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, वचन से; अथवा २२—स्वयं करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, काया से। अथवा २३—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से; अथवा २४—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से; अथवा २५—स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से। अथवा २६—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से; अथवा २७—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से; अथवा २८—दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से।

जब एकविध—त्रिविध प्रतिक्रमण करता है, तब २९—स्वयं करता नहीं, मन, वचन और काया से; अथवा ३०—दूसरों से करवाता नहीं, मन, वचन और काया से; अथवा ३१—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से।

जब एकविध-द्विविध प्रतिक्रमण करता है, तब ३२—स्वयं करता नहीं, मन और वचन से; अथवा ३३—स्वयं करता नहीं, मन और काया से; अथवा ३४—स्वयं करता नहीं, वचन और काया से; अथवा ३५—दूसरों से करवाता नहीं, मन और वचन से; अथवा ३६—दूसरों से करवाता नहीं, मन और काया से; अथवा ३७—दूसरों से करवाता नहीं, वचन और काया से। अथवा ३८—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से; अथवा ३९—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से; अथवा ४०—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से।

जब एकविध—एकविध प्रतिक्रमण करता है, तब ४१—स्वयं करता नहीं, मन से; अथवा ४२—स्वयं करता नहीं, वचन से; अथवा ४३—स्वयं करता नहीं, काया से; अथवा ४४—दूसरों से करवाता नहीं, मन से; अथवा ४५—दूसरों से करवाता नहीं, वचन से; अथवा ४६—दूसरों से करवाता नहीं, काया से; अथवा ४७—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से; अथवा ४८—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से; अथवा ४९—करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से।

[३] पडुप्पन्नं संवरमाणे किं तिविहं तिविहेणं संवरेइ ?

एवं जहा पडिक्कममाणेणं एगूणपण्णं भंगा भणिया एवं संवरमाणेण वि एगूणपण्णं भंगा भाणियव्वा।

[६-३ प्र.] भगवन्! प्रत्युत्पन्न (वर्तमानकालीन) संवर करता हुआ श्रावक क्या त्रिविध-त्रिविध संवर करता है? इत्यादि समग्र प्रश्न पूर्ववत् यावत् एकविध-एकविध संवर करता है?

[६-३ उ.] गौतम! प्रत्युत्पन्न का संवर करते हुए श्रावक के पहले कहे अनुसार (त्रिविध-त्रिविध से लेकर एकविध-एकविध तक) उनचास (४९) भंग (जो प्रतिक्रमण के विषय में कहे गए हैं, वे ही) संवर के विषय में कहने चाहिए।

[४] अणागतं पच्चक्खमाणे किं तिविहं तिविहेणं पच्चक्खाइ ?

एवं ते चेव भंगा एगूणपण्णं भाणियव्वा जाव अहवा करेंतं नाणुजाणइ कायसा।

[६-४ प्र.] भगवन्! अनागत (भविष्यत्) काल (के प्राणातिपात) का प्रत्याख्यान करता हुआ श्रावक क्या त्रिविध-त्रिविध प्रत्याख्यान करता है? इत्यादि समग्र प्रश्न पूर्ववत्।

[६-४ उ.] गौतम! पहले (प्रतिक्रमण के विषय में) कहे अनुसार यहाँ भी उनचास (४९) भंग कहने चाहिए; यावत् 'अथवा करते हुए का अनुमोदन नहीं करता, काया से;'—यहाँ तक कहना चाहिए।

७. समणोवासगस्स णं भंते! पुव्वामेव थूलमुसावादे अपच्चक्खाए भवइ, से णं भंते! पच्छा पच्चाइक्खमाणे ?

एवं जहा पाणाइवातस्स सीयालं भंगसतं (१४७) भणितं तहा मुसावादस्स वि भाणियव्वं।

[७ प्र.] भगवन्! जिस श्रमणोपासक ने पहले स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान नहीं किया, किन्तु पीछे वह स्थूल मृषावाद (असत्य) का प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है?

[७ उ.] गौतम! जिस प्रकार प्राणातिपात के (अतीत के प्रतिक्रमण, वर्तमान के संवर और भविष्य के प्रत्याख्यान; यों त्रिकाल) के विषय में कुल ४९ × ३ = १४७ (एक सौ सैंतालीस) भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार मृषावाद के सम्बन्ध में भी एक सौ सैंतालीस भंग कहने चाहिए।

८. एवं अदिण्णादाणस्स वि। एवं थूलगस्स मेहुणस्स वि। थूलगस्स परिग्गहस्स वि जाव अहवा करेंतं नाणुजाणइ कायसा।

[८] इसी प्रकार स्थूल अदत्तादान के विषय में, स्थूल मैथुन के विषय में एवं स्थूल परिग्रह के विषय में भी पूर्ववत् प्रत्येक के एक सौ सैंतालीस-एक सौ सैंतालीस त्रैकालिक भंग कहने चाहिए; यावत्—'अथवा पाप करते हुए का अनुमोदन नहीं करता, काया से;' यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—श्रावक के प्राणातिपात आदि पापों के प्रतिक्रमण-संवर-प्रत्याख्यान सम्बन्धी भंगों की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ६ से ८ तक) में प्राणातिपात आदि पापों के स्थूल रूप से प्रतिक्रमण करने, संवर करने और प्रत्याख्यान करने की विधि के रूप में प्रत्येक के ४९-४९ भंग बताए गए हैं।

श्रावक को प्रतिक्रमण, संवर और प्रत्याख्यान करने के लिए प्रत्येक के ४९ भंग—तीन करण हैं—करना, कराना और अनुमोदन करना, तथा तीन योग हैं—मन, वचन और काया। इनके संयोग से विकल्प नौ और भंग उनचास होते हैं। उनकी तालिका इस प्रकार है—

विकल्प	करण	योग	भंग	विवरण
१	तीन	तीन	१	कृत, कारित, अनुमोदित का मन, वचन, काया से निषेध
२	तीन	दो	३	कृत, कारित, अनुमोदित का मन-वचन से, मन-काय से, वचन-काया से निषेध
३	तीन	एक	३	कृत-कारित-अनुमोदित मन से, वचन से, काया से निषेध
४	दो	तीन	३	कृत-कारित का, कृत-अनुमोदित का और कारित-अनुमोदित का मन-वचन-काय से निषेध
५	दो	दो	९	कृत-कारित, कृत-अनुमोदित और कारित-अनुमोदित का मन-वचन से, मन-काया से और वचन-काया से निषेध
६	दो	एक	९	कृत-कारित का मन से, वचन से, काया से; कृत-अनुमोदित का मन-वचन-काया से; कारित-अनुमोदित का भी इसी प्रकार निषेध
७	एक	तीन	३	कृत का मन-वचन-काया से; कारित का मन-वचन-काया से और अनुमोदित का मन-वचन-काया से निषेध
८	एक	दो	९	कृत का मन-वचन से, मन-काया से, वचन-काया से। कारित का मन-वचन से, मन-काया से और वचन-काया से, इसी प्रकार अनुमोदित का निषेध
९	एक	एक	९	कृत का मन से, वचन से, काया से। कारित का भी इसी तरह और अनुमोदित का भी इसी तरह निषेध।

कुल भंग=४९

भूतकाल के प्रतिक्रमण, वर्तमानकाल के संवर और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा, इस प्रकार तीनों काल की अपेक्षा ४९ भंगों को ३ से गुणा करने पर १४७ भंग होते हैं। ये स्थूल-प्राणातिपात-विषयक हुए। इसी प्रकार स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह, इन प्रत्येक के १४७-१४७ भंग होते हैं। यों पांचों अणुव्रतों के कुल भंग ७३५ होते हैं। श्रावक इन ४९ भंगों में से किसी भी भंग से यथाशक्ति प्रतिक्रमण, संवर या प्रत्याख्यान कर सकता है। तीन करण तीन योग से संवर या प्रत्याख्यानादि श्रावकप्रतिमा स्वीकार किया हुआ श्रावक कर सकता है।[1]

आजीविकोपासकों के सिद्धान्त, नाम, आचार-विचार और श्रमणोपासकों की उनसे विशेषता—

९. एए खलु एरिसगा समणोवासगा भवंति, नो खलु एरिसगा आजीवियोवासगा भवंति।

[९] श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, किन्तु आजीविकोपासक ऐसे नहीं होते।

१०. आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—अक्खीणपडिभोइणो सव्वे सत्ता, से हंता छेत्ता भत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता आहारमाहारेंति।

[१०] आजीविक (गोशालक) के सिद्धान्त का यह अर्थ (तत्त्व) है कि समस्त जीव अक्षीणपरिभोजी (सचित्ताहारी) होते हैं। इसलिए वे (लकड़ी आदि से) हनन (ताड़न) करके, (तलवार आदि से) काट कर, (शूल आदि से) भेदन करके, (पंख आदि को) कतर (लुप्त) कर, (चमड़ी आदि को) उतार कर (विलुप्त करके) और विनष्ट करके खाते (आहार करते) हैं।

११. तत्थ खलु इमे दुवालस आजीवियोवासगा भवंति, तं जहा—ताले १ तालपलंबे २ उव्विहे ३ संविहे ४ अवविहे ५ उदए ६ नामुदए ७ णम्मुदए ८ अणुवालए ९ संखवालए १० अयंबुले ११. कायरए १२।

[११] ऐसी स्थिति (संसार के समस्त जीव असंयत और हिंसादिदोषपरायण हैं, ऐसी परिस्थिति) में आजीविक मत में ये बारह आजीविकोपासक हैं—(१) ताल, (२) तालप्रलम्ब, (३) उद्विध, (४) संविध, (५) अवविध (६) उदय, (७) नामोदय, (८) नर्मोदय, (९) अनुपालक, (१०) शंखपालक, (११) अयम्बुल और (१२) कातरक।

१२. इच्चेते दुवालस आजीवियोवासगा अरहंतदेवतागा अम्मा-पिउसुस्सूसगा; पंचफल-पडिक्कंता, तं जहा—उंबरेहिं, वडेहिं, बोरेहिं सतरेहिं पिलंखूहिं; पलंडु-ल्हसण-कंद-मूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिन्नेहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिएहिं चित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति।

[१२] इस प्रकार ये बारह आजीविकोपासक हैं। इनका देव अरहंत (स्वमत-कल्पना से गोशालक अर्हत्) है। वे माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करते हैं। वे पांच प्रकार के फल नहीं खाते (पांच फलों से विरत हैं।) वे इस प्रकार—उदुम्बर (गुल्लर) के फल, वड़ के फल, बोर, सत्तर (शहतूत) के फल, पीपल (प्लक्ष) फल तथा प्याज (पलाण्डु), लहसुन, कन्दमूल के त्यागी होते हैं। तथा

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७०—३७१

अनिर्लांछित (खस्सी-वधिया न किये हुए), और नाक नहीं नाथे हुए बैलों से त्रस प्राणी की हिंसा से रहित व्यापार द्वारा आजीविका करते हुए विहरण (जीवनयापन) करते हैं।

१३. 'एए वि ताव एवं इच्छंति, किमंग पुण जे इमे समणोवासगा भवंति ?' जेसिं नो कप्पंति इमाइं पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा, कारवेत्तए वा, करेंतं वा अन्नं न समणुजाणेत्तए, तं जहा—इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे केसवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सर-दह-तलायपरिसोसणया असतीपोसणया।

[१३] जब इन आजीविकोपासकों को यह अभीष्ट है, तो फिर जो श्रमणोपासक हैं, उनका तो कहना ही क्या ?; (क्योंकि उन्होंने तो विशिष्टतर देव, गुरु और धर्म का आश्रय लिया है !)

जो श्रमणोपासक होते हैं, उनके लिए ये पन्द्रह कर्मादान स्वयं करना, दूसरों से कराना, और करते हुए का अनुमोदन करना कल्पनीय (उचित) नहीं हैं। वे कर्मादान इस प्रकार हैं—(१) अंगारकर्म (२) वनकर्म, (३) शाकटिक कर्म, (५) भाटीकर्म, (६) स्फोटक कर्म, (७) दन्तवाणिज्य, (८) लाक्षा-वाणिज्य, (९) रसवाणिज्य, (१०) विषवाणिज्य, (११) यंत्रपीडन कर्म, (१२) निर्लांछनकर्म, (१३) दावाग्निदापनता, (१४) सरो—ह्रद—तडागशोषणता, (१५) असतीपोषणता।

१४. इच्चेते समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजातीया भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

[१४] ये श्रमणोपासक शुक्ल (पवित्र), शुक्लाभिजात (पवित्र कुलोत्पन्न) हो कर काल (मरण) के समय मृत्यु प्राप्त करके किन्हीं देवलोकों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—आजीविकोपासकों के सिद्धान्त, नाम, आचार-विचार और श्रमणोपासकों की उनसे विशेषता—प्रस्तुत पांच सूत्रों में आजीविकोपासकों के सिद्धान्त, नाम, आचार-विचार आदि तथ्यों का निरूपण करके श्रमणोपासकों की उनसे विशेषता बताई गई है।

आजीविकोपासकों का आचार-विचार—गोशालक मंखलीपुत्र के शिष्य आजीविक कहलाते हैं। गोशालक के समय में उसके ताल, तालप्रलम्ब आदि बारह विशिष्ट उपासक थे। वे उदुम्बर आदि पांच प्रकार के फल तथा अन्य कुछ फल नहीं खाते थे। जिन बैलों को बधिया नहीं किया गया है, और नाक नाथा नहीं गया है, उनसे अहिंसक ढंग से व्यापार करके वे जीविका चलाते थे।

श्रमणोपासकों की विशेषता—पूर्वोक्त ४९ भंगों में से यथेच्छ भंगों द्वारा श्रमणोपासक अपने व्रत, नियम, संवर, त्याग, प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करते हैं, जबकि आजीविकोपासक इस प्रकार से हिंसा आदि का त्याग नहीं करते, न ही वे कर्मादान रूप पापजनक व्यवसायों का त्याग करते हैं; श्रमणोपासक तो इन १५ कर्मादानों को सर्वथा त्याग करता है, वह इन हिंसादिमूलक व्यवसायों को अपना ही नहीं सकता। यही कारण है कि ऐसा श्रमणोपासक चार प्रकार के देवलोकों में से किसी एक देवलोक में उत्पन्न होता है; क्योंकि वह जीवन और जीविका दोनों से पवित्र, शुद्ध और निष्पाप होता है, और उसे विशिष्ट देव, गुरु, धर्म की प्राप्ति होती है।[1]

कर्मादान और उसके प्रकारों की व्याख्या—जिन व्यवसायों या कर्मों (आजीविका के कार्यों)

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७१-३७२, (ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्तिप्रकाश ४

से ज्ञानावरणीय आदि अशुभकर्मों का विशेषरूप से बन्ध होता है, उन्हें अथवा कर्मबन्ध के हेतुओं को कर्मादान कहते हैं। श्रावक के लिए कर्मादानों का आचरण स्वयं करना, दूसरों से कराना या करते हुए का अनुमोदन करना, निषिद्ध है। ऐसे कर्मादान पन्द्रह हैं— (१) **इंगालकम्मे (अंगारकर्म)** अंगार अर्थात् अग्निविषयक कर्म यानी अग्नि से कोयले बनाने और उसे बेचने-खरीदने का धंधा करना। (२) **वणकम्मे (वनकर्म)** जंगल को खरीद कर वृक्षों, पत्तों आदि को काट कर बेचना, (३) **साडीकम्मे (शाकटिककर्म)** गाड़ी, रथ, तांगा, इक्का आदि तथा उसके अंगों को बनाने और बेचने का धंधा करना। (४) **भाडीकम्मे (भाटीकर्म)** बैलगाड़ी आदि से दूसरों का सामान एक जगह भाड़े से ले जाना, किराये पर बैल, घोड़ा आदि देना, मकान आदि बना-बनाकर किराये पर देना, इत्यादि धंधों से आजीविका चलाना। (५) **फोडीकम्मे (स्फोटकर्म)** सुरंग आदि बिछाकर विस्फोट करके जमीन, खान आदि खोदने-फोड़ने का धंधा करना। (६) **दंतवाणिज्जे (दन्तवाणिज्य)** पेशगी देकर हाथीदांत आदि खरीदने, बनाने व उनसे बनी हुई वस्तुएँ बेचने आदि का धंधा करना। (७) **लक्खवाणिज्जे (लाक्षावाणिज्य)** लाख का क्रय-विक्रय करके आजीविका करना। (८) **केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य)** केश वाले जीवों का अर्थात्—गाय, भैंस आदि को तथा दास-दासी आदि को खरीद-बेचकर व्यापार करना। (९) **रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)**—मदिरा आदि नशीले रसों को बनाने-बेचने आदि का धंधा करना। (१०) **विसवाणिज्जे (विषवाणिज्य)**—विष (अफीम, संखिया आदि जहर) बेचने का धंधा करना। (११) **जंतपीलणकम्मे (यंत्रपीडनकर्म)**—तिल, ईख आदि पीलने के कोल्हू, चरखी आदि का धंधा करना यंत्रपीड़नकर्म है। (१२) **निल्लंछणकम्मे** (निर्लाञ्छनकर्म)—बैल, घोड़े आदि को खसी (बधिया) करने का धंधा। (१३) *दवग्गिदावणया (दावाग्निदापनता)*—खेत आदि साफ करने के लिए जंगल में आग लगाना-लगवाना। (१४) **सर-दह-तलायसोसणया (सरोह्लद-तड़ाग-शोषणता)** सरोवर, ह्लद या तालाब आदि जलाशयों को सुखाना। और (१५) **असईजणपोसणया (असतीजनपोषणता)** कुलटा, व्यभिचारिणी या दुश्चरित्र स्त्रियों का अड्डा बनाकर उनसे कुकर्म करवा कर आजीविका चलाना अथवा दुश्चरित्र स्त्रियों का पोषण करना। अथवा पापबुद्धिपूर्वक मुर्गा-मुर्गी, सांप, सिंह, बिल्ली आदि जानवरों को पालना-पोसना।

देवलोकों के चार प्रकार—

१५. कतिविहा णं भंते ! देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवासि-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठमसए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१५ प्र.] भगवन् ! देवलोक कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! चार प्रकार के देवलोक कहे गए हैं। यथा—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कहकर यावत् विचरते हैं।

॥ अष्टम शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ : 'फासुगं'

छठा उद्देशक : 'प्रासुक'

तथारूप श्रमण, माहन या असंयत आदि को प्रासुक-अप्रासुक, एषणीय-अनेषणीय आहार देने का श्रमणोपासक को फल—

१. समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति ?

गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति ।

[१ प्र.] भगवन् ! तथारूप (श्रमण के वेष तथा तदनुकूल गुणों से सम्पन्न) श्रमण अथवा माहन को प्रासुक एवं एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

[१ उ.] गौतम ! वह (ऐसा करके) एकान्त रूप से निर्जरा करता है; उसके पापकर्म नहीं होता ।

२. समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?

गोयमा ! वहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ ।

[२ प्र.] भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

[२ उ.] गौतम ! उसके वहुत निर्जरा होती है, और अल्पतर पापकर्म होता है ।

३. समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं अस्संजयअविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण जाव किं कज्जइ ?

गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से काई निज्जरा कज्जइ ।

[३ प्र.] भगवन् ! तथारूप असंयत, अविरत, पापकर्मों का जिसने निरोध और प्रत्याख्यान नहीं किया; उसे प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय अशन-पानादि द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को क्या फल प्राप्त होता है ?

[३ उ.] गौतम ! उसे एकान्त पापकर्म होता है, किसी प्रकार की निर्जरा नहीं होती ।

विवेचन—तथारूप श्रमण, माहन या असंयत आदि को प्रासुक-अप्रासुक, एषणीय-अनेषणीय आहार देने का श्रमणोपासक को फल—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रमशः तीन तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) तथारूप श्रमण या ब्राह्मण को प्रासुक-एषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासक को

एकान्त: निर्जरा-लाभ, (२) तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासक को बहुत निर्जरालाभ और अल्प पापकर्म; तथा (३) तथारूप असंयत, अविरत, आदि विशेषणयुक्त व्यक्ति को प्रासुक-अप्रासुक, एषणीय-अनेषणीय आहार देने से एकान्त पापकर्म की प्राप्ति, निर्जरालाभ बिलकुल नहीं।

'तथारूप' का आशय—पहले और दूसरे सूत्र में 'तथारूप' का आशय है—जैनागमों में वर्णित श्रमण के वेश और चारित्रादि श्रमणगुणों से युक्त। तथा तीसरे सूत्र में असंयत, अविरत आदि विशेषणों से युक्त जो 'तथारूप' शब्द है, उसका आशय यह है कि उस-उस अन्यतीर्थिक वेष से युक्त योगी, संन्यासी, बाबा आदि, जो असंयत, अविरत, तथा पापकर्मों के निरोध और प्रत्याख्यान से रहित हैं, उन्हें गुरुबुद्धि से मोक्षार्थ आहार-दान देने का फल सूचित किया गया है।[1]

मोक्षार्थ दान ही यहाँ विचारणीय—प्रस्तुत तीनों सूत्रों में निर्जरा के सद्भाव और अभाव की दृष्टि से मोक्षार्थ दान का ही विचार किया गया है। यही कारण है कि तीनों ही सूत्रपाठों में **'पडिलाभेमाणस्स'** शब्द है, जो कि गुरुबुद्धि से—मोक्षलाभ की दृष्टि से दान देने के फल का सूचक है, अभावग्रस्त, पीड़ित, दुःखित, रोगग्रस्त या अनुकम्पनीय (दयनीय) व्यक्ति या अपने पारिवारिक, सामाजिक जनों को औचित्यादि रूप में देने में 'पडिलाभे' शब्द नहीं आता, अपितु वहाँ **'दलयइ'** या **'दलेज्जा'** शब्द आता है। प्राचीन आचार्यों का कथन भी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत है—

मोक्खत्थं जं दाणं, तं पइ एसो विही समक्खाओ।
अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं, न कयाइ पडिसिद्धं॥

अर्थात्—यह (उपर्युक्त) विधि (विधान) मोक्षार्थ जो दान है, उसके सम्बन्ध में कही गई है, किन्तु अनुकम्पादान का जिनेन्द्र भगवन्तों ने कदापि निषेध नहीं किया है।

तात्पर्य यह है कि अनुकम्पापात्र को दान देने या औचित्यदान आदि के सम्बन्ध में निर्जरा की अपेक्षा यहाँ चिन्तन नहीं किया जाता अपितु पुण्यलाभ का विशेषरूप से विचार किया जाता है।

'प्रासुक-अप्रासुक,' 'एषणीय-अनेषणीय' की व्याख्या—प्रासुक और अप्रासुक का अर्थ सामान्यतया निर्जीव (अचित्त) और सजीव (सचित्त) होता है तथा एषणीय का अर्थ होता है—आहार सम्बन्धी उद्गमादि दोषों से रहित—निर्दोष और अनेषणीय-दोषयुक्त—सदोष।[2]

'बहुत निर्जरा, अल्पतर पाप' का आशय—वैसे तो श्रमणोपासक अकारण ही अपने उपास्य तथारूप श्रमण को अप्रासुक और अनेषणीय आहार नहीं देगा और न तथारूप श्रमण अप्रासुक और अनेषणीय आहार लेना चाहेंगे, परन्तु किसी अत्यन्त गाढ कारण के उपस्थित होने पर यदि श्रमणोपासक अनुकम्पावश तथारूप श्रमण के प्राण बचाने या जीवनरक्षा की दृष्टि से अप्रासुक और अनेषणीय आहार या औषध आदि दे देता है, और साधु वैसी दुःसाध्य रोग या प्राणसंकट की परिस्थिति में अप्रासुक—अनेषणीय भी अपवादरूप में ले लेता है, बाद में प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने की उसकी भावना है, तो ऐसी परिस्थिति में उक्त विवेकी श्रावक को 'बहुत निर्जरा और अल्प पाप'

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ३६०-३६१
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचनयुक्त) भा., ३ पृ-१३९४

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७३-३७४, (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ३, पृ. १३९५

होता है। बिना ही कारण के यों ही अप्रासुक-अनेषणीय आहार साधु को देने वाले और लेने वाले दोनों का अहित है।[1]

गृहस्थ द्वारा स्वयं या स्थविर के निमित्त कह कर दिये गए पिण्ड, पात्र आदि की उपभोग-मर्यादा-प्ररूपणा—

४. [१] निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ दोहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा—एगं आउसो ! अप्पणा भुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पिंडं पडिग्गाहेज्जा, थेरा य से अणुगवेसियव्वा सिया, जत्थेव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्थेवाऽणुप्पदायव्वे सिया, नो चेव णं अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते अणावाए अचित्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहेत्ता, पमज्जित्ता परिट्ठावेतव्वे सिया।

[४-१] गृहस्थ के घर में आहार ग्रहण करने की (वहरने) की बुद्धि से प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को कोई गृहस्थ दो पिण्ड (खाद्य पदार्थ) ग्रहण करने के लिए उपनिमंत्रण करे—'आयुष्मन् श्रमण ! इन दो पिण्डों (दो लड्डू, दो रोटी या दो अन्य खाद्य पदार्थों) में से एक पिण्ड आप स्वयं खाना और दूसरा पिण्ड स्थविर मुनियों को देना। (इस पर) वह निर्ग्रन्थ श्रमण उन दोनों पिण्डों को ग्रहण कर ले और (स्थान पर आ कर) स्थविरों की गवेषणा करे। गवेषणा करने पर उन स्थविर मुनियों को जहाँ देखे, वहीं वह पिण्ड उन्हें दे दे। यदि गवेषणा करने पर भी स्थविरमुनि कहीं न दिखाई दें (मिलें) तो वह पिण्ड स्वयं न खाए और न ही दूसरे किसी श्रमण को दे, किन्तु एकान्त, अनापात (जहाँ आवागमन न हो), अचित्त या बहुप्रासुक स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके वहाँ (उस पिण्ड को) परिष्ठापन करे (परठ दे)।

[२] निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केति तिहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा—एगं आउसो ! अप्पणा भुंजाहि, दो थेराणं दलयाहि, से य ते पडिग्गाहेज्जा, थेरा य से अणुगवेसेयव्वा, सेसं तं चेव जाव परिट्ठावेयव्वे सिया।

[४-२] गृहस्थ के घर में आहार ग्रहण करने के विचार से प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को कोई गृहस्थ तीन पिण्ड ग्रहण करने के लिए उपनिमंत्रण करे—'आयुष्मन् श्रमण ! (इन तीनों में से) एक पिण्ड आप स्वयं खाना, और (शेष) दो पिण्ड स्थविर श्रमणों को देना।' (इस पर) वह निर्ग्रन्थ उन तीनों पिण्डों को ग्रहण कर ले। तत्पश्चात् वह स्थविरों की गवेषणा करे। गवेषणा करने पर जहाँ उन स्थविरों को देखे, वहीं उन्हें वे दोनों पिण्ड दे दे। गवेषणा करने पर भी वे कहीं दिखाई न दें तो शेष वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् स्वयं न खाए, परिष्ठापन करे (परठ दे)।

[३] एवं जाव दसहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा, नवरं एगं आउसो ! अप्पणा भुंजाहि, नव थेराणं दलयाहि, सेसं तं चेव जाव परिट्ठावेतव्वे सिया।

[४-३] इसी प्रकार गृहस्थ के घर में प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को यावत् दस पिण्डों को ग्रहण करने

---

१. "संथरणम्मि असुद्धं दोण्ह वि गेण्हंतदितयाणऽहियं।
आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियं असंथरणे॥" —भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ३७३

के लिए कोई गृहस्थ उपनिमंत्रण दे—'आयुष्मन् श्रमण ! इनमें से एक पिण्ड आप स्वयं खाना और शेष नौ पिण्ड स्थविरों को देना;' इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् जानना; यावत् परिष्ठापन करे (परठ दे)।

५. [१] निग्गंथं च णं गाहावइ जाव केइ दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमंतेज्जा—एगं आउसो ! अप्पणा परिभुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पडिग्गाहेज्जा, तहेव जाव तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए। सेसं तं चेव जाव परिट्ठावेयव्वे सिया।

[५-१] निर्ग्रन्थ यावत् गृहपति-कुल में प्रवेश करे और कोई गृहस्थ उसे दो पात्र (पतद्ग्रह) ग्रहण करने (वहरने) के लिए उपनिमंत्रण करे—'आयुष्मन् श्रमण ! (इन दोनों में से) एक पात्र का आप स्वयं उपयोग करना और दूसरा पात्र स्थविरों को दे देना।' इस पर वह निर्ग्रन्थ उन दोनों पात्रों को ग्रहण कर ले। शेष सारा वर्णन उसी प्रकार कहना चाहिए, यावत् उस पात्र का न तो स्वयं उपयोग करे, और न दूसरे साधुओं को दे; शेष सारा वर्णन पूर्ववत् समझना, यावत् उसे परठ दे।

[२] एवं जाव दसहिं पडिग्गहेहिं।

[५-२] इसी प्रकार तीन, चार यावत् दस पात्र तक का कथन पूर्वोक्त पिण्ड के समान कहना चाहिए।

६. एवं जहा पडिग्गहवत्तव्वया भणिया एवं गोच्छग-रयहरण-चोलपट्टग-कंबल-लट्ठी-संथारग-वत्तव्वया य भाणियव्वा जाव दसहिं संथारएहिं उवनिमंतेज्जा जाव परिट्ठावेयव्वे सिया।

[६] जिस प्रकार पात्र के सम्बन्ध में वक्तव्यता कही, उसी प्रकार गुच्छक (पूंजनी), रजोहरण, चोलपट्टक, कम्बल, लाठी, (दण्ड) और संस्तारक (बिछौना या बिछाने का लम्बा आसन—संथारिया) की वक्तव्यता कहनी चाहिए, यावत् दस संस्तारक ग्रहण करने के लिए उपनिमंत्रण करे, यावत् परठ दे, (यहाँ तक सारा पाठ कहना चाहिए)।

विवेचन—गृहस्थ द्वारा दिये गए पिण्ड, पात्र आदि की उपभोग-मर्यादा-प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में गृहस्थ द्वारा साधु को दिये गए पिण्ड, पात्र आदि के उपभोग करने की विधि बताई गई है।

निष्कर्ष—गृहस्थ ने जो पिण्ड, पात्र, गुच्छक, रजोहरण आदि जितनी संख्या में जिसको उपभोग करने के लिए दिए हैं, उसे ग्रहण करने वाला साधु उसी प्रकार स्थविरों को वितरित कर दें, किन्तु यदि वे स्थविर ढूंढ़ने पर भी न मिलें तो उस वस्तु का उपयोग न स्वयं करे और न ही दूसरे साधु को दे, अपितु उसे विधिपूर्वक परठ दे।

परिष्ठापनविधि—किसी भी वस्तु को स्थण्डिल भूमि पर परिष्ठापन करने के लिए मूलपाठ में स्थण्डिल के ४ विशेषण दिये गए हैं—एकान्त, अनापात, अचित्त और बहुप्रासुक। तथा उस पर परिष्ठापनविधि मुख्यतया दो प्रकार से बताई है—प्रतिलेखन और प्रमार्जन।[1]

स्थण्डिल-प्रतिलेखन-विवेक—परिष्ठापन के लिए स्थण्डिल कैसा होना चाहिए ? इसके लिए शास्त्र में १० विशेषण बताए गए हैं—(१) **अनापात-असंलोक** (जहाँ स्वपक्ष-परपक्ष वाले लोगों में से

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ३६१-३६२

किसी का भी आवागमन न हो, न ही दृष्टिपात हो), (२) **अनुपघातक** (जहाँ संयम की, किसी जीव की एवं आत्मा की विराधना न हो), (३) **सम** (भूमि ऊबड़खावड़ न होकर समतल हो), (४) **अशुषिर** (पोली या थोथी भूमि न हो), (५) **अचिरकालकृत** (जो भूमि थोड़े ही समय पूर्व दाह आदि से अचित्त हुई हो), (६) **विस्तीर्ण** (जो भूमि कम से कम एक हाथ लम्बी-चौड़ी हो), (७) **दूरावगाढ** (जहाँ कम से कम चार अंगुल नीचे तक भूमि अचित्त हो), (८) **अनासन्न** (जहाँ गाँव या बागबीचा आदि निकट में न हो) (९) **बिलवर्जित** (जहाँ चूहे आदि के बिल न हों), (१०) **त्रस-प्राण-बीजरहित** (जहाँ द्वीन्द्रियादि त्रसप्राणी तथा गेहूँ आदि के बीज न हों)। इन दस विशेषणों से युक्त स्थण्डिल भूमि में साधु उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र) आदि वस्तु परठे।[1]

विशिष्ट शब्दों की व्याख्या—'पिंडवायपडिवाए'—पिण्ड=भोजन का पात—निपतन मेरे पात्र में हो, इसकी प्रतिज्ञा=बुद्धि से। **'उवनिमंतेज्ज'**=भिक्षो! ये दो पिण्ड ग्रहण कीजिए, इस प्रकार कहे। **नो अन्नेसिं दावए**=दूसरों को न दे या दिलाये, क्योंकि गृहस्थ ने वह पिण्ड आदि विवक्षित स्थविर को देने के लिए दिया है, अन्य किसी को देने के लिए नहीं। अन्य साधु को देने या स्वयं उसका उपभोग करने से अदत्तादानदोष लगने की सम्भावना है।[2]

अकृत्यसेवी, किन्तु आराधनातत्पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी की आराधकता की विभिन्न पहलुओं से सयुक्तिक प्ररूपणा—

७. [१] निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवति—इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि विउट्टामि विसोहेमि अकरणयाए अब्भुट्ठेमि, अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जामि, तओ पच्छा थेराणं अंतियं आलोएस्सामि जाव तवोकम्मं पडिवज्जिस्सामि। से य संपट्ठिए, असंपत्ते, थेरा य अमुहा सिया, से णं भंते! किं आराहए विराहए?

गोयमा! आराहए, नो विराहए।

[७-१ प्र.] गृहस्थ के घर आहार ग्रहण करने की बुद्धि से प्रविष्ट निर्ग्रन्थ द्वारा किसी अकृत्य (मूलगुण में दोषरूप किसी अकार्य) स्थान (बात) का प्रतिसेवन हो गया हो और तत्क्षण उसके मन में ऐसा विचार हो कि प्रथम मैं यहीं इस अकृत्यस्थान की आलोचना, प्रतिक्रमण, (आत्म-) निन्दा (पश्चात्ताप) और गर्हा करूं; (उसके अनुबन्ध का) छेदन करूं, इस (पाप-दोष से) विशुद्ध बनूं,

---

१. (क) अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव होइ संलोए ॥ १ ॥
अणावायमसंलोए १ परस्सऽणुवघाइए २।
समे ३ अझुसिरे ४ यावि अचिरकालकयम्मि ५ य ॥ २ ॥
वित्थिण्णे ६ दूरमोगाढे ७ णासण्णे ८ बिलवज्जिए ९।
तसपाण-बीयरहिए, १० उच्चाराईणि वोसिरे ॥ ३ ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. २४

(ख) भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक ३७५

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७४-३७५

पुनः ऐसा अकृत्य न करने के लिए अभ्युद्यत (प्रतिज्ञावद्ध) होऊँ; और यथोचित प्रायश्चित्तरूप तपःकर्म स्वीकार कर लूँ। तत्पश्चात् स्थविरों के पास जाकर आलोचना करूंगा, यावत् प्रायश्चित्त-रूप तपःकर्म स्वीकार कर लूंगा। (ऐसा विचार कर) वह निर्ग्रन्थ, स्थविरमुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ; किन्तु स्थविरमुनियों के पास पहुँचने से पहले ही वे स्थविर (वातादिदोष के प्रकोप से) मूक हो जाएँ (बोल न सकें अर्थात् प्रायश्चित्त न दे सकें) तो हे भगवन्! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक है?

[७-१ उ.] गौतम! वह (निर्ग्रन्थ) आराधक है, विराधक नहीं।

[२] से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव अमुहे सिया, से णं भंते! किं आराहए, विराहए?

गोयमा! आराहए, नो विराहए।

[७-२ प्र.] (उपर्युक्त अकृत्यसेवी निर्ग्रन्थ ने तत्काल स्वयं आलोचनादि कर लिया, यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्तरूप तपःकर्म भी स्वीकार कर लिया,) तत्पश्चात् स्थविरमुनियों के पास (आलोचनादि करके यावत् तपःकर्म स्वीकार करने हेतु) निकला, किन्तु उनके पास पहुँचने से पूर्व ही वह निर्ग्रन्थ स्वयं (वातादि दोषवश) मूक हो जाए, तो हे भगवन्! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक?

[७-२ उ.] गौतम! वह (निर्ग्रन्थ) आराधक है, विराधक नहीं।

[३] से य संपट्ठिए, असंपत्ते थेरा य कालं करेज्जा, से णं भंते! किं आराहए विराहए?

गोयमा! आराहए, नो विराहए।

[७-३ प्र.] (उपर्युक्त अकृत्यसेवी निर्ग्रन्थ स्वयं आलोचनादि करके यथोचित प्रायश्चित्त रूप तप स्वीकार करके) स्थविर मुनिवरों के पास आलोचनादि के लिए रवाना हुआ, किन्तु उसके पहुँचने से पूर्व ही वे स्थविर मुनि काल कर (दिवंगत हो) जाएँ, तो हे भगवन्! वह निर्ग्रन्थ आराधक है विराधक?

[७-३ उ.] गौतम! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं।

[४] से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव कालं करेज्जा, से णं भंते! किं आराहए विराहए?

गोयमा! आराहए, नो विराहए।

[७-४ प्र.] भगवन्! (उपर्युक्त अकृत्य-सेवन करके तत्काल स्वयं आलोचनादि करके) वह निर्ग्रन्थ स्थविरों के पास आलोचनादि करने के लिए निकला, किन्तु वहाँ पहुँचा नहीं, उससे पूर्व ही स्वयं काल कर जाए तो हे भगवन्! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक?

[७-४ उ.] गौतम! वह (निर्ग्रन्थ) आराधक है, विराधक नहीं।

[५] से य संपट्ठिए संपत्ते, थेरा यं अमुहा सिया, से णं भंते ! किं आराहए विराहए ?

गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

[७-५ प्र.] उपर्युक्त अकृत्यसेवी निर्ग्रन्थ ने तत्क्षण आलोचनादि करके स्थविर मुनिवरों के पास आलोचनादि करने हेतु प्रस्थान किया, वह स्थविरों के पास पहुँच गया, तत्पश्चात् वे स्थविर मुनि (वातादिदोषवश) मूक हो जाएँ, तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

[७-५ उ.] गौतम ! वह (निर्ग्रन्थ) आराधक है, विराधक नहीं।

[६-८] से य संपट्ठिए संपत्ते अप्पणा य० ।

एवं संपत्तेण वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा जहेव असंपत्तेणं ।

[७-६।७।८] (उपर्युक्त अकृत्यसेवी मुनि स्वयं आलोचनादि करके स्थविरों की सेवा में पहुँचते ही स्वयं मूक हो जाए, (इसी तरह शेष दो विकल्प हैं—स्थविरों के पास पहुँचते ही वे स्थविर काल कर जाएँ, या स्थविरों के पास पहुँचते ही स्वयं निर्ग्रन्थ काल कर जाए;) जिस प्रकार असंप्राप्त (स्थविरों के पास न पहुँचे हुए) निर्ग्रन्थ के चार आलापक कहे गए हैं, उसी प्रकार सम्प्राप्त निर्ग्रन्थ के भी चार आलापक कहने चाहिए। यावत् (चारों आलापकों में) वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं।

८. निग्गंथेण य बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवति—इहेव ताव अहं० । एवं एत्थ वि, ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए।

[८] (उपाश्रय से) बाहर विचारभूमि (नीहारार्थ स्थण्डिलभूमि) अथवा विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) की ओर निकले हुए निर्ग्रन्थ द्वारा किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन हो गया हो, तत्क्षण उसके मन में ऐसा विचार हो कि 'पहले मैं स्वयं यहीं इस अकृत्य की आलोचनादि करूं, यावत् यथार्ह प्रायश्चित्तरूप तपःकर्म स्वीकार कर लूँ', इत्यादि पूर्ववत् सारा वर्णन यहाँ कहना चाहिए। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से असम्प्राप्त और सम्प्राप्त दोनों के (प्रत्येक के स्थविरमूकत्व, स्वमूकत्व, स्थविरकालप्राप्ति और स्वकालप्राप्ति, यों चार-चार आलापक होने से) आठ आलापक कहने चाहिए। यावत् वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं; यहाँ तक सारा पाठ कहना चाहिए।

९. निग्गंथेण य गामाणुगामं दूइज्जमाणेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवति—इहेव ताव अहं० । एत्थ वि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए।

[९] ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए किसी निर्ग्रन्थ द्वारा किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन हो गया हो और तत्काल उसके मन में यह विचार स्फुरित हो कि 'पहले मैं यहीं इस अकृत्य की आलोचनादि करूं; यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्तरूप तपःकर्म स्वीकार करूं; इत्यादि सारा वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। यहाँ भी पूर्ववत् आठ आलापक कहने चाहिए, यावत् वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं, यहाँ तक समग्र पाठ कहना चाहिए।

१०. [१] निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठाए अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तीसे णं एवं भवइ—इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि जाव तवोकम्मं पडिवज्जामि तओ पच्छा पवत्तिणीए अंतियं आलोएस्सामि जाव पडिवज्जिस्सामि, सा य संपट्ठिया असंपत्ता, पवत्तिणी य अमुहा सिया, सा णं भंते ! किं आराहिया, विराहिया ?

गोयमा ! आराहिया, नो विराहिया।

[१०-१ प्र.] गृहस्थ के घर में आहार ग्रहण करने (पिण्डपात) की बुद्धि से प्रविष्ट किसी निर्ग्रन्थी (साध्वी) ने किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन कर लिया, किन्तु तत्काल उसको ऐसा विचार स्फुरित हुआ कि मैं स्वयमेव पहले यहीं इस अकृत्यस्थान की आलोचना कर लूं, यावत् प्रायश्चित्तरूप तपःकर्म स्वीकार कर लूं। तत्पश्चात् प्रवर्तिनी के पास आलोचना कर लूंगी यावत् तपःकर्म स्वीकार कर लूंगी। ऐसा विचार कर उस साध्वी ने प्रवर्तिनी के पास जाने के लिए प्रस्थान किया, प्रवर्तिनी के पास पहुँचने से पूर्व ही वह प्रवर्तिनी (वातादिदोष के कारण) मूक हो गई, (उसकी जिह्वा बंद हो गई—बोल न सकी), तो हे भगवन् ! वह साध्वी आराधक है या विराधक ?

[१०-१ उ.] गौतम ! वह साध्वी आराधिका है, विराधिका नहीं।

[२] सा य संपट्ठिया जहा निग्गंथस्स तिण्णि गमा भणिया एवं निग्गंथीए वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जाव आराहिया, नो विराहिया।

[१०-२] जिस प्रकार संप्रस्थित (आलोचनादि के हेतु स्थविरों के पास जाने के लिए रवाना हुए) निर्ग्रन्थ के तीन गम (पाठ) उसी प्रकार सम्प्रस्थित (प्रवर्तिनी के पास आलोचनादि हेतु रवाना हुई) साध्वी के भी तीन गम (पाठ) कहने चाहिए, यावत् वह साध्वी आराधिका है, विराधिका नहीं, यहाँ तक सारा पाठ कहना चाहिए।

११. [१] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—आराहए, नो विराहए ?

"गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं उण्णालोमं वा गयलोमं वा सणलोमं वा कप्पासलोमं वा तणसूयं वा दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिंदित्ता अगणिकायंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! छिज्जमाणे छिन्ने, पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते, डज्झमाणे दड्ढे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता भगवं ! छिज्जमाणे छिन्ने जाव दड्ढे त्ति वत्तव्वं सिया।

[११-१ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप कहते हैं, कि वे (पूर्वोक्त प्रकार के साधु और साध्वी) आराधक हैं, विराधक नहीं ?

[११-१ उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष एक बड़े ऊन (भेड़) के बाल के या हाथी के रोम के अथवा सण के रेशे के या कपास के रेशे के अथवा तृण (घास) के अग्रभाग के दो, तीन या संख्यात टुकड़े करके अग्निकाय (आग) में डाले तो हे गौतम ! काटे जाते हुए वे (टुकड़े) काटे गए, अग्नि में ले जाते हुए को डाले गए, या जलते हुए को जल गए, इस प्रकार कहा जा सकता है ?

(गौतम स्वामी—) हाँ भगवन् ! काटते हुए काटे गए, अग्नि में डालते हुए डाले गए और जलते हुए जल गए; यों कहा जा सकता है।

" [२] से जहा वा केइ पुरिसे वत्थं अहतं वा धोतं वा तंतुग्गयं वा मंजिट्ठादोणीए पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते, पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते, रज्जमाणे रत्ते त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, भगवं ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते जाव रत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—आराहए, नो विराहए" ।

[११-२] भगवान् का कथन—अथवा जैसे कोई पुरुष बिलकुल नये (नहीं पहने हुए), या धोये हुए, अथवा तंत्र (करघे) से तुरंत उतरे हुए वस्त्र को मजीठ के द्रोण (पात्र) में डाले तो हे गौतम ! उठाते हुए वह वस्त्र उठाया गया, डालते हुए डाला गया, अथवा रंगते हुए रंगा गया, यों कहा जा सकता है ?

[गौतम स्वामी—] हाँ, भगवन् उठाते हुए वह वस्त्र उठाया गया, यावत् रंगते हुए रंगा गया, इस प्रकार कहा जा सकता है।

[भगवान्—] इसी कारण से हे गौतम ! यों कहा जाता है कि (आराधना के लिए उद्यत हुए साधु या साध्वी) आराधक हैं, विराधक नहीं।

विवेचन—अकृत्यसेवी किन्तु आराधनातत्पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी की विभिन्न पहलुओं से आराधकता की सयुक्तिक प्ररूपणा—प्रस्तुत पांच सूत्रों में अकृत्यसेवी किन्तु सावधान तथा क्रमशः स्थविरों व प्रवर्तिनी के समीप आलोचनादि के लिए प्रस्थित साधु या साध्वी की आराधकता का सदृष्टान्त प्ररूपण किया गया है।

निष्कर्ष—किसी साधु या साध्वी से भिक्षाचरी जाते, स्थंडिल भूमि या विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) जाते या ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कहीं भी मूलगुणादि में दोषरूप किसी अकृत्य का सेवन हो गया हो, किन्तु तत्काल वह विचारपूर्वक स्वयं आलोचनादि करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाता है, और अपने गुरुजनों के पास आलोचनादि करके प्रायश्चित्त लेने हेतु प्रस्थान कर देता है, किन्तु संयोगवश पहुँचने से पूर्व ही गुरुजन मूक हो जाते हैं, या काल कर जाते हैं, अथवा स्वयं साधु या साध्वी मूक हो जाते हैं या काल कर जाते हैं, इसी तरह पहुँचने के बाद भी इन चार अवस्थाओं में से कोई एक अवस्था प्राप्त होती है तो वह साधु या साध्वी आराधक है, विराधक नहीं। कारण यह है कि उस साधु या साध्वी के परिणाम गुरुजनों के पास आलोचनादि करने के थे, और वे इसके लिए उद्यत भी हो गए थे, किन्तु उपर्युक्त ८ प्रकार की परिस्थितियों में से किसी भी परिस्थितिवश वे आलोचनादि न कर सके, ऐसी स्थिति में 'चलमाणे चलिए' इत्यादि पूर्वोक्त भगवत्सिद्धान्तानुसार वे आराधक ही हैं, विराधक नहीं।[1]

दृष्टान्तों द्वारा आराधकता की पुष्टि—भगवान् ने "चलमाणे चलिए" के सिद्धान्तानुसार ऊन, सण, कपास आदि तन्तुओं को काटने, आग में डालने और जलाने का तथा नये धोए हुए वस्त्र को मंजीठ के रंग में डालने और रंगने का सयुक्तिक दृष्टान्त देकर आराधना के लिए उद्यत साधक को आराधक सिद्ध किया है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, ३७६ (ख) भगवती. हिन्दीविवेचनयुक्त भा. ३, पृ. १४०५

आराधक विराधक की व्याख्या—आराधक का अर्थ यहाँ मोक्षमार्ग का आराधक तथा भाव शुद्ध होने से शुद्ध है। जैसे कि मृत्यु को लेकर कहा गया है—आलोचना के सम्यक् परिणामसहित कोई साधु गुरु के पास आलोचनादि करने के लिए चल दिया है, किन्तु यदि बीच में ही वह साधु (आलोचना करने से पूर्व ही) रास्ते में काल कर गया, तो भी वह भाव से शुद्ध है।[1] स्वयं आलोचनादि करने वाला वह साधु गीतार्थ होना सम्भव है।

तीन पाठ (गम)—(१) आहारग्रहणार्थ गृहस्थगृह-प्रविष्ट, (२) विचारभूमि आदि में तथा (३) ग्रामानुग्राम-विचरण में।

जलते हुए दीपक और घर में, जलने वाली वस्तु का निरूपण—

१२. पईवस्स णं भंते ! झियायमाणस्स किं पदीवे झियाति, लट्ठी झियाइ, वत्ती झियाइ, तेल्ले झियाइ, दीवचंपए झियाइ, जोती झियाइ ?

गोयमा ! नो पदीवे झियाइ, जाव नो दीवचंपए झियाइ, जोती झियाइ।

[१२ प्र.] भगवन् ! जलते हुए दीपक में क्या जलता है ? क्या दीपक जलता है ? दीपयष्टि (दीवट) जलती है ? वत्ती जलती है ? तेल जलता है ? दीपचम्पक (दीपक का ढक्कन) जलता है, या ज्योति (दीपशिखा) जलती है ?

[१२ उ.] गौतम ! दीपक नहीं जलता, यावत् दीपक का ढक्कन भी नहीं जलता, किन्तु ज्योति (दीपशिखा) जलती है।

१३. अगारस्स णं भंते ! झियायमाणस्स किं अगारे झियाइ, कुड्डा झियायंति, कडणा झियायंति, धारणा झियायंति, बलहरणे झियाइ, वंसा झियायंति, मल्ला झियायंति, वग्गा झियायंति, छित्तरा झियायंति, छाणे झियाति, जोती झियाति ?

गोयमा ! नो अगारे झियाति, नो कुड्डा झियाति, जाव नो छाणे झियाति, जोती झियाति।

[१३ प्र.] भगवन् ! जलते हुए घर (आगार) में क्या जलता है ? क्या घर जलता है ? भींतें जलती हैं ? टाटी (खसखस आदि की टाटी या पतली दीवार) जलती हैं ? धारण (नीचे के मुख्य स्तम्भ) जलते हैं ? वलहरण (मुख्य स्तम्भ—धारण पर रहने वाली आडी लम्बी लकड़ी—बल्ली) जलता है ? वांस जलते हैं ? मल्ल (भींतों के आधारभूत स्तम्भ) जलते हैं ? वर्ग (वांस आदि को वांधने वाली छाल) जलते हैं ? छित्वर (वांस आदि को ढकने के लिए डाली हुई चटाई या छप्पर) जलते हैं ? छादन (छाण-दर्भादियुक्त पटल) जलता है अथवा ज्योति (अग्नि) जलती है ?

[१३ उ.] गौतम ! घर नहीं जलता, भींतें नहीं जलतीं, यावत् छादन नहीं जलता, किन्तु ज्योति (अग्नि) जलती है।

विवेचन—जलते हुए दीपक और घर में, जलने वाली वस्तु का विश्लेषण—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. १२-१३) में दीपक और घर का उदाहरण दे कर इनमें वास्तविक रूप में जलने वाली वस्तु—दीपशिखा और अग्नि वताई गई है।

अगार का विशेपार्थ—अगार से यहाँ घर ऐसा समझना चाहिए—जो कुटी या झोंपड़ीनुमा हो।

---

१. "आलोयणा-परिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे।
जइ मरइ अंतरे च्चिय तहावि सुद्धोत्ति भावाओ॥"—भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७६

एक जीव या बहुत जीवों को परकीय (एक या बहुत-से शरीरों की अपेक्षा होने वाली) क्रियाओं का निरूपण—

१४. जीवे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिए पंचकिरिए, सिय अकिरिए ।

[१४ प्र.] भगवन् ! एक जीव (स्वकीय औदारिक शरीर से, परकीय) एक औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१४ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला, कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है और कदाचित् अक्रिय भी होता है ।

१५. नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीराओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए सिए पंचकिरिए ।

[१५ प्र.] भगवन् ! एक नैरयिक जीव, दूसरे के एक औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१५ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है ।

१६. असुरकुमारे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कतिकिरिए ?

एवं चेव ।

[१६ प्र.] भगवन् ! एक असुरकुमार, (दूसरे के) एक औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१६ उ.] गौतम ! पहले कहे अनुसार (कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला) होता है ।

१७. एवं जाव वेमाणिय, नवरं मणुस्से जहा जीवे (सु. १४) ।

[१७] इसी प्रकार यावत् वैमानिक देवों तक कहना चाहिए । परन्तु मनुष्य का कथन औधिक जीव की तरह जानना चाहिए ।

१८. जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए जाव सिय अकिरिए ।

[१८ प्र.] भगवन् ! एक जीव (दूसरे जीवों के) औदारिक शरीरों की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला, तथा कदाचित् अक्रिय (क्रियारहित) भी होता है ।

१९. नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कतिकिरिए ?

एवं एसो जहा पढमो दंडओ (सु. १५-१७) तहा इमो वि अपरिसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिए, नवरं मणुस्से जहा जीवे (सु. १८) ।

[१९ प्र.] भगवन् ! एक नैरयिक जीव, (दूसरे जीवों के) औदारिक शरीरों की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[१९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम दण्डक (सू. १५ से १७) में कहा गया है उसी प्रकार यह दण्डक भी सारा का सारा यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए; परन्तु मनुष्य का कथन सामान्य (औघिक) जीवों की तरह (सू. १८ में कहे अनुसार) जानना चाहिए ।

२०. जीवा णं भंते ! ओरालियसरीराओ कतिकिरिया ?

गोयमा ! सिय तिकिरिया जाव सिय अकिरिया ।

[२० प्र.] भगवन् ! बहुत-से जीव, दूसरे के एक औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं, तथा कदाचित् अक्रिय भी होते हैं ।

२१. नेरइया णं भंते ! ओरालियसरीराओ कतिकिरिया ?

एवं एसो वि जहा पढमो दंडओ (सु. १५-१७) तहा भाणियव्वो जाव वेमाणिया, नवरं मणुस्सा जहा जीवा (सु. २०) ।

[२१ प्र.] भगवन् ! बहुत-से नैरयिक जीव, दूसरे के एक औदारिक शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम दण्डक (सू. १५ से १७ तक) में कहा गया है, उसी प्रकार यह (दण्डक) भी यावत् वैमानिकपर्यन्त कहना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्यों का कथन औघिक जीवों की तरह (सू. १८ के अनुसार) जानना चाहिए ।

२२. जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि ।

[२२ प्र.] भगवन् ! बहुत-से जीव, दूसरे जीवों के औदारिक शरीरों की अपेक्षा कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले और कदाचित् अक्रिय भी होते हैं ।

२३. नेरइया णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि ।

[२३ प्र.] भगवन् ! बहुत-से नैरयिक जीव, दूसरे जीवों के औदारिक शरीरों की अपेक्षा कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! वे तीन क्रिया वाले भी, चार क्रिया वाले भी और पांच क्रिया वाले भी होते हैं।

२४. एवं जाव वेमाणिया, नवरं मणुस्सा जहा जीवा (सु २२)।

[२४] इसी तरह यावत् वैमानिक-पर्यन्त समझना चाहिए। विशेष इतना ही है कि मनुष्यों का कथन औघिक जीवों की तरह (सू. २२ में कहे अनुसार) जानना चाहिए।

२५. जीवे णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय अकिरिए।

[२५ प्र.] भगवन् ! एक जीव, (दूसरे एक जीव के) वैक्रियशरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[२५ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् क्रियारहित होता है।

२६. नेरइए णं भंते ! वेउव्वियसरीराओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए।

[२६ प्र.] 'भगवन् ! एक नैरयिक जीव, (दूसरे एक जीव के) वैक्रिय शरीर की अपेक्षा कितनी क्रिया वाला होता है ?

[२६ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला और कदाचित् चार क्रिया वाला होता है।

२७. एवं जाव वेमाणिए, नवरं मणुस्से जहा जीवे (सु २५)।

[२७] इस प्रकार यावत् वैमानिकपर्यन्त कहना चाहिए। किन्तु मनुष्य का कथन औघिक जीव की तरह (सू. २५) कहना चाहिए।

२८. एवं जहा ओरालियसरीरेणं चत्तारि दंडगा भणिया तहा वेउव्वियसरीरेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा, नवरं पंचमकिरिया न भण्णइ, सेसं तं चेव।

[२८] जिस प्रकार औदारिकशरीर की अपेक्षा चार दण्डक कहे गए, उसी प्रकार वैक्रियशरीर की अपेक्षा भी चार दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि इसमें पंचम क्रिया का कथन नहीं करना चाहिए। शेष सभी कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

२९. एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगं पि, तेयगं पि, कम्मगं पि भाणियव्वं। एक्केक्के चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव वेमाणिया णं भंते ! कम्मगसरीरेहिंतो कइकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ अट्ठमसए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

[२९] जिस प्रकार वैक्रियशरीर का कथन किया गया है, उसी प्रकार आहारक, तैजस और कार्मण शरीर का भी कथन करना चाहिए। इन तीनों के प्रत्येक के चार-चार दण्डक कहने चाहिए, यावत्—(प्रश्न-) 'भगवन् ! बहुत-से वैमानिक देव (परकीय) कार्मण शरीरों की अपेक्षा कितनी क्रिया वाले होते हैं ?' (उत्तर) 'गौतम ! तीन क्रिया वाले भी और चार क्रिया वाले भी होते हैं'; यहाँ तक कहना चाहिए।

हे भगवन् । यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; (यों कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।)

विवेचन—एक जीव या बहुत जीवों को परकीय एक या बहुत—से शरीरों की अपेक्षा होने वाली क्रियाओं का निरूपण—प्रस्तुत १६ सूत्रों (सू. १४ से २९ तक) में औघिक एक या बहुत जीवों तथा नैरयिक से लेकर वैमानिक तक एक या बहुत जीवों को, परकीय एक या बहुत-से औदारिकादि शरीरों की अपेक्षा से होने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है।

अन्य जीव के औदारिकादि शरीर की अपेक्षा होने वाली क्रिया का आशय—कायिकी आदि पांच क्रियाएँ हैं, जिनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जब एक जीव, दूसरे पृथ्वीकायादि जीव के शरीर की अपेक्षा काया का व्यापार करता है, तब उसे तीन क्रियाएँ होती हैं—कायिकी, आधिकारणिकी और प्राद्वेषिकी। क्योंकि सराग जीव को कायिकक्रिया के सद्भाव में आधिकरणिकी तथा प्राद्वेषिकी क्रिया अवश्य होती है, क्योंकि सराग जीव को काया अधिकरण रूप और प्रद्वेषयुक्त होती है। आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और कायिकी, इन तीनों क्रियाओं का अविनाभावसम्बन्ध है। जिस जीव के कायिकी क्रिया होती है, उसके आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया अवश्य होती हैं, जिस जीव के ये दो क्रियाएँ होती हैं, उसके कायिकी क्रिया भी अवश्य होती है। पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया में भजना (विकल्प) है; जब जीव, दूसरे जीव को परिताप पहुँचाता है अथवा दूसरे के प्राणों का घात करता है, तभी क्रमशः पारितापनिकी अथवा प्राणातिपातिकी क्रिया होती है। अतः जब जीव, दूसरे जीव को परिताप उत्पन्न करता है, तब जीव को चार क्रियाएँ होती हैं, क्योंकि पारितापनिकी क्रिया में पहले की तीन क्रियाओं का सद्भाव अवश्य रहता है। जब जीव, दूसरे जीव के प्राणों का घात करता है, तब उसे पांच क्रियाएँ होती हैं; क्योंकि प्राणातिपातिकी क्रिया में पूर्व की चार क्रियाओं का सद्भाव अवश्य होता है। इसीलिए मूलपाठ में जीव को कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहा गया है। जीव कदाचित् अक्रिय भी होता है, यह बात वीतराग अवस्था की अपेक्षा से कही गई है, क्योंकि उस अवस्था में पांचों में से एक भी क्रिया नहीं होती।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३७७

(ख) *"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ, तस्स अहिगरणिया किरिया नियमा कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ, तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ ।"*

"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ, तस्स पारियावणिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ" इत्यादि। —प्रज्ञापनासूत्र क्रियापद

नैरयिक जीव, जब औदारिकशरीरधारी पृथ्वीकायादि जीवों का स्पर्श करता है, तब उसके तीन क्रियाएँ होती हैं; जब उन्हें परिताप उत्पन्न करता है, तब चार और जब उनका प्राणघात करता है, तब पांच क्रियाएँ होती हैं। नैरयिक जीव अक्रिय नहीं होता, क्योंकि वह वीतराग नहीं हो सकता। मनुष्य के सिवाय शेष २३ दण्डकों के जीव अक्रिय नहीं होते।

किस शरीर की अपेक्षा कितने आलापक ?—औदारिक शरीर की अपेक्षा चार दण्डक (आलापक)—(१) एक जीव को, परकीय एक शरीर की अपेक्षा, (२) एक जीव को बहुत जीवों के शरीरों की अपेक्षा, (३) बहुत जीवों को परकीय एक शरीर की अपेक्षा और (४) बहुत जीवों को, बहुत जीवों के शरीर की अपेक्षा। इसी तरह शेष चार शरीरों के भी प्रत्येक के चार-चार दण्डक—आलापक कहने चाहिए। औदारिक शरीर के अतिरिक्त शेष चार शरीरों का विनाश नहीं हो सकता। इसलिए वैक्रिय, तैजस, कार्मण और आहारक इन चार शरीरों की अपेक्षा जीव कदाचित् तीन क्रिया वाला और कदाचित् चार क्रिया वाला होता है। किन्तु पांच क्रिया वाला नहीं होता। अत: वैक्रिय आदि चार शरीरों की अपेक्षा प्रत्येक के चौथे दण्डक में, 'कदाचित्' शब्द नहीं कहना चाहिए।

नरकस्थित नैरयिक जीव को मनुष्यलोकस्थित आहारक शरीर की अपेक्षा तीन या चार क्रिया वाला बताया गया है, उसका रहस्य यह है कि नैरयिकजीव ने अपने पूर्वभव के शरीर का विवेक (विरति) के अभाव में व्युत्सृजन नहीं किया (त्याग नहीं किया), इसलिए उस जीव द्वारा बनाया हुआ वह (भूतपूर्व) शरीर जब तक शरीरपरिणाम का सर्वथा त्याग नहीं कर देता, तब तक अंशरूप में भी शरीर परिणाम को प्राप्त वह शरीर, पूर्वभाव-प्रज्ञापना की अपेक्षा 'घृतघट' न्याय से (घी निकालने पर भी उसे भूतपूर्व घट की अपेक्षा 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तद्वत्) उसी का कहलाता है। अत: उस मनुष्यलोकवर्ती (भूतपूर्व) शरीर के अंशरूप अस्थि (हड्डी) आदि से आहारकशरीर का स्पर्श होता है, अथवा उसे परिताप उत्पन्न होता है, इस अपेक्षा से नैरयिक जीव आहारकशरीर की अपेक्षा तीन या चार क्रिया वाला होता है। इसी प्रकार देव आदि तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

तैजस, कार्मण शरीर की अपेक्षा जीवों को तीन या चार क्रिया वाला बताया है। वह औदारिकादि शरीराश्रित तैजस-कार्मण शरीर की अपेक्षा समझना चाहिए, क्योंकि केवल तैजस या कार्मण शरीर को परिताप नहीं पहुँचाया जा सकता।

॥ अष्टम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ : 'अदत्ते'

सप्तम उद्देशक : 'अदत्त'

अन्यतीर्थिकों के साथ अदत्तादान को लेकर स्थविरों के वाद-विवाद का वर्णन—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे। वण्णओ। गुणसिलए चेइए। वण्णओ, जाव पुढविसिलावट्टओ। तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अन्नउत्थिया परिवसंति।

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिकसूत्र के नगरीवर्णन के समान जान लेना चाहिए। वहाँ गुणशीलक नामक चैत्य था। उसका वर्णक। यावत् पृथ्वी शिलापट्टक था। उस गुणशीलक चैत्य के आसपास (न बहुत दूर, न बहुत निकट) बहुत-से अन्यतीर्थिक रहते थे।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव समोसढे जाव परिसा पडिगया।

[२] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर धर्मतीर्थ की आदि (स्थापना) करने वाले यावत् समवसृत हुए (पधारे) यावत् धर्मोपदेश सुनकर परिषद् वापिस चली गई।

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अंतेवासी थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना जहा बितियसए (स. २ उ. ५ सु. १२) जाव जीवियासामरणभयविप्पमुक्का समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा जाव विहरंति।

[३] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के बहुत-से शिष्य स्थविर भगवन्त जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न इत्यादि दूसरे शतक में वर्णित गुणों से युक्त यावत् जीवन की आशा और मरण के भय से विमुक्त थे। वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के न अतिदूर, न अतिनिकट ऊर्ध्व जानु (घुटने खड़े रख कर), अधोशिरस्क (नीचे मस्तक नमा कर) ध्यानरूप कोष्ठ को प्राप्त होकर संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

४. तए णं ते अन्नउत्थिया जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो! तिविहं तिविहेणं अस्संजयअविरयअप्पडिहय जहा सत्तमसए बितिए उद्देसए (स. ७ उ. २ सु. १ [२]) जाव एगंतबाला यावि भवह।

[४] एक वार वे अन्यतीर्थिक, जहाँ स्थविर भगवन्त थे, वहाँ आए। उनके निकट आकर वे स्थविर भगवन्तों से यों कहने लगे—'हे आर्यो! तुम त्रिविध-त्रिविध (तीन करण, तीन योग से) असंयत, अविरत, अप्रतिहतपापकर्म (पापकर्म के अनिरोधक) तथा पापकर्म का प्रत्याख्यान नहीं किये

हुए हो'; इत्यादि जैसे सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक (सू. १-२) में कहा गया है, तदनुसार कहा; यावत् तुम एकान्त बाल (अज्ञानी) भी हो।

५. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं अस्संजयअविरय जाव एगंतबाला यावि भवामो ?

[५ प्र.] इस पर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार पूछा—'आर्यो ! किस कारण से हम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकान्तवाल हैं ?

६. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! अदिन्नं गेण्हह, अदिन्नं भुंजह, अदिन्नं सातिज्जह। तए णं तुब्भे अदिन्नं गेण्हमाणा, अदिन्नं भुंजमाणा, अदिन्नं सातिज्जमाणा तिविहं तिविहेणं अस्संजयअविरय जाव एगंतबाला यावि भवह।

[६ उ.] तदनन्तर उन अन्यतीर्थिकों ने स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! तुम अदत्त (किसी के द्वारा नहीं दिया हुआ) पदार्थ ग्रहण करते हो, अदत्त का भोजन करते हो और अदत्त का स्वाद लेते हो, अर्थात्—अदत्त (ग्रहणादि) की अनुमति देते हो। इस प्रकार अदत्त का ग्रहण करते हुए, अदत्त का भोजन करते हुए, और अदत्त की अनुमति देते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तवाल हो।

७. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिन्नं गेण्हामो, अदिन्नं भुंजामो, अदिन्नं सातिज्जामो, तए णं अम्हे अदिन्नं गेण्हमाणा, जाव अदिन्नं सातिज्जमाणा तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतबाला यावि भवामो ?

[७ प्र.] तदनन्तर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार पूछा—'आर्यो ! हम किस कारण से (क्योंकर या कैसे) अदत्त का ग्रहण करते हैं, अदत्त का भोजन करते हैं, और अदत्त की अनुमति देते हैं, जिससे कि हम अदत्त का ग्रहण करते हुए यावत् अदत्त की अनुमति देते हुए त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तबाल हैं ?

८. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुम्हाणं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिन्ने, पडिगहेज्जमाणे अपडिग्गहिए, निसिरिज्जमाणे अणिसट्ठे, तुब्भे णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं एत्थ णं अंतरा केइ अवहरिज्जा, गाहावइस्स णं तं, नो खलु तं तुब्भं, तए णं तुब्भे अदिन्नं गेण्हह जाव अदिन्नं सातिज्जह, तए णं तुब्भे अदिन्नं गेण्हमाणा जाव एगंतबाला यावि भवह।

[८ उ.] इस पर उन अन्यतीर्थिकों ने स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! तुम्हारे मत में दिया जाता हुआ पदार्थ, 'नहीं दिया गया', ग्रहण किया जाता हुआ, 'ग्रहण नहीं किया गया', तथा (पात्र में) डाला जाता हुआ पदार्थ, 'नहीं डाला गया;' ऐसा कथन है; इसलिए हे आर्यो ! तुमको दिया जाता हुआ पदार्थ, जब तक पात्र में नहीं पड़ा, तब तक बीच में से ही कोई उसका अपहरण कर ले तो तुम कहते हो—'वह उस गृहपति के पदार्थ का अपहरण हुआ;' 'तुम्हारे पदार्थ का अपहरण हुआ,' ऐसा तुम नहीं कहते। इस कारण से तुम अदत्त का ग्रहण करते हो, यावत् अदत्त की अनुमति देते हो; अतः तुम अदत्त का ग्रहण करते हुए यावत् एकान्तबाल हो।

९. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—नो खलु अज्जो ! अम्हे अदिन्नं गिण्हामो, अदिन्नं भुंजामो, अदिन्नं सातिज्जामो, अम्हे णं अज्जो ! दिन्नं गेण्हामो, दिन्नं भुंजामो, दिन्नं सातिज्जामो, तए णं अम्हे दिन्नं गेण्हमाणा दिन्नं भुंजमाणा दिन्नं सातिज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहय जहा सत्तमसए (स. ७ उ २ सु. १ [२]) जाव एगंतपंडिया यावि भवामो।

[९. प्रतिवाद]—यह सुनकर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! हम अदत्त का ग्रहण नहीं करते, न अदत्त को खाते हैं और न ही अदत्त की अनुमति देते हैं। हे आर्यो ! हम तो दत्त (स्वामी द्वारा दिये गए) पदार्थ को ग्रहण करते हैं, दत्त भोजन को खाते हैं और दत्त की अनुमति देते हैं। इसलिए हम दत्त का ग्रहण करते हुए, दत्त का भोजन करते हुए और दत्त की अनुमति देते हुए त्रिविध-त्रिविध संयत, विरत, पापकर्म के प्रतिनिरोधक, पापकर्म का प्रत्याख्यान किये हुए हैं। जिस प्रकार सप्तमशतक (द्वितीय उद्देशक सू. १) में कहा है, तदनुसार हम यावत् एकान्तपण्डित हैं।'

१०. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—केण कारणेणं अज्जो ! तुम्हे दिन्नं गेण्हह जाव दिन्नं सातिज्जह, तए णं तुब्भे दिन्नं गेण्हमाणा जाव एगंतपंडिया यावि भवह ?

[१०. वाद]—तब उन अन्यतीर्थिकों ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार कहा—'तुम किस कारण (कैसे या किस प्रकार) दत्त का ग्रहण करते हो, यावत् दत्त की अनुमति देते हो, जिससे दत्त का ग्रहण करते हुए यावत् तुम एकान्तपण्डित हो ?'

११. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणे दिन्ने, पडिग्गहेज्जमाणे पडिग्गहिए, निसिरिज्जमाणे निसट्ठे। अम्हं णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं एत्थ णं अंतरा केइ अवहरेज्जा, अम्हं णं तं, णो खलु तं गाहावइस्स, तए णं अम्हे दिन्नं गेण्हामो दिन्नं भुंजामो, दिन्नं सातिज्जामो, तए णं अम्हे दिन्नं गेण्हमाणा जाव दिन्नं सातिज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय जाव एगंतपंडिया यावि भवामो। तुब्भे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतबाला यावि भवह।

[११. प्रतिवाद]—इस पर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! हमारे सिद्धान्तानुसार—दिया जाता हुआ पदार्थ, 'दिया गया'; ग्रहण किया जाता हुआ पदार्थ 'ग्रहण किया' और पात्र में डाला जाता हुआ पदार्थ 'डाला गया' कहलाता है। इसीलिए हे आर्यो ! हमें दिया जाता हुआ पदार्थ हमारे पात्र में नहीं पहुँचा (पड़ा) है, इसी बीच में कोई व्यक्ति उसका अपहरण कर ले तो 'वह पदार्थ हमारा अपहृत हुआ' कहलाता है, किन्तु 'वह पदार्थ गृहस्थ का अपहृत हुआ,' ऐसा नहीं कहलाता। इस कारण से हम दत्त का ग्रहण करते हैं, दत्त आहार करते हैं और दत्त की ही अनुमति देते हैं। इस प्रकार हम दत्त का ग्रहण करते हुए यावत् दत्त की अनुमति देते हुए हम त्रिविध-त्रिविध संयत, विरत यावत् एकान्तपण्डित हैं, प्रत्युत, हे आर्यो ! तुम स्वयं त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकान्तबाल हो।

१२. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—केण कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं जाव एगंतबाला यावि भवामो ?

[१२ प्र.]—तत्पश्चात् उन अन्यतीर्थिकों ने स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा—आर्यो ! हम किस कारण से (कैसे) त्रिविध-त्रिविध····यावत् एकान्तबाल हैं ?

१३. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! अदिन्नं गेण्हह, अदिन्नं भुंजह, अदिन्नं साइज्जह, तए णं अज्जो ! तुब्भे अदिन्नं गे० जाव एगंतबाला यावि भवह ।

[१३ उ.]—इस पर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा—आर्यो ! तुम लोग अदत्त का ग्रहण करते हो, अदत्त भोजन करते हो, और अदत्त की अनुमति देते हो; इसलिए हे आर्यो ! तुम अदत्त का ग्रहण करते हुए यावत् एकान्तबाल हो ।

१४. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—केण कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिन्नं गेण्हामो जाव एगंतबाला यावि भवामो ?

[१४ प्रतिवाद] तब उन अन्यतीर्थिकों ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा—आर्यो ! हम क्योंकर अदत्त का ग्रहण करते हैं यावत् जिससे कि हम एकान्तबाल हैं ?

१५. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिन्ने तं चेव जाव गाहावइस्स णं तं, णो खलु तं तुब्भं, तए णं तुब्भे अदिन्नं गेण्हह, तं चेव जाव एगंतबाला यावि भवह ।

[१५ प्रत्युत्तर]—यह सुन कर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—आर्यो ! तुम्हारे मत में दिया जाता हुआ पदार्थ 'नहीं दिया गया' इत्यादि कहलाता है, यह सारा वर्णन पहले कहे अनुसार यहाँ करना चाहिए; यावत् वह पदार्थ गृहस्थ का है, तुम्हारा नहीं; इसलिए तुम अदत्त का ग्रहण करते हो, यावत् पूर्वोक्त प्रकार से तुम एकान्तबाल हो ।

विवेचन—अन्यतीर्थिकों के साथ अदत्तादान को लेकर स्थविरों के वाद-विवाद का वर्णन— प्रस्तुत १५ सूत्रों में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्थविरों पर अदत्तादान को लेकर एकान्तबाल के आक्षेप से प्रारम्भ हुआ विवाद स्थविरों द्वारा अन्यतीर्थिकों को दिये गए प्रत्युत्तर तक समाप्त किया गया है ।[1]

अन्यतीर्थिकों की भ्रान्ति—अन्यतीर्थिकों ने इस भ्रान्ति से स्थविर मुनियों पर आक्षेप किया था कि श्रमणों का ऐसा मत है कि दिया जाता हुआ पदार्थ नहीं दिया गया, ग्रहण किया जाता हुआ, नहीं ग्रहण किया गया और पात्र में डाला जाता हुआ पदार्थ, नहीं डाला गया; माना गया है । किन्तु जब स्थविरों ने इसका प्रतिवाद किया और उनकी इस भ्रान्ति का निराकरण 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्तानुसार किया, तब वे अन्यतीर्थिक निरुत्तर हो गए, उलटे उनके द्वारा किया गया आक्षेप उन्हीं के गले पड़ गया ।

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग १

'दिया जाता हुआ' वर्तमानकालिक व्यापार है, और 'दत्त' भूतकालिक है, अतः वर्तमान और भूत दोनों अत्यन्त भिन्न होने से दीयमान (दिया जाता हुआ) दत्त नहीं हो सकता, दत्त ही 'दत्त' कहा जा सकता है, यह अन्यतीर्थिकों की भ्रान्ति थी। इसी का निराकरण करते हुए स्थविरों ने कहा—'हमारे मत से क्रियाकाल और निष्ठाकाल, इन दोनों में भिन्नता नहीं है। जो 'दिया जा रहा है,' वह 'दिया ही गया' समझना चाहिए। 'दीयमान' 'अदत्त' है, यह मत तो अन्यतीर्थिकों का है, जिसे स्थविरों ने उनके समक्ष प्रस्तुत किया था।[1]

स्थविरों पर अन्यतीर्थिकों द्वारा पुनः आक्षेप और स्थविरों द्वारा प्रतिवाद—

१६. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतवाला यावि भवह।

[१६ अन्य आक्षेप]—तत्पश्चात् उन अन्यतीर्थिकों ने उन स्थविर भगवन्तों से कहा—आर्यो ! (हम कहते हैं कि) तुम ही त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तवाल हो !

१७. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—केण कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं जाव एगंतवाला यावि भवामो ?

[१७ प्रतिप्रश्न]—इस पर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से (पुनः) पूछा—आर्यो ! किस कारण से हम त्रिविध-त्रिविध यावत् एकान्तवाल हैं ?

१८. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेह अभिहणह वत्तेह लेसेह संघाएह संघट्टेह परितावेह किलामेह उवद्दवेह, तए णं तुब्भे पुढविं पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअविरय जाव एगंतवाला यावि भवह।

[१८ आक्षेप]—तब उन अन्यतीर्थिकों ने स्थविर भगवन्तों से यों कहा—"आर्यो ! तुम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते (आक्रान्त करते) हो, हनन करते हो, पादाभिघात करते हो, उन्हें भूमि के साथ श्लिष्ट (संघर्षित) करते (टकराते) हो; उन्हें एक दूसरे के ऊपर इकट्ठे करते हो, जोर से स्पर्श करते हो, उन्हें परितापित करते हो, उन्हें मारणान्तिक कष्ट देते हो, और उपद्रवित करते-मारते हो। इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते हुए यावत् मारते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तवाल हो।"

१९. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासो—नो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेमो अभिहणामो जाव उवद्दवेमो, अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जोगं वा रियं वा पडुच्च देसं देसेणं वयामो, पएसं पएसेणं वयामो, तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पएसं पएसेणं वयमाणा नो पुढविं पेच्चेमो अभिहणामो जाव उवद्दवेमो, तए णं अम्हे पुढविं अपेच्चेमाणा अणभिहणेमाणा जाव अणुवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं संजय जाव एगंतपंडिया यावि भवामो, तुब्भे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव वाला यावि भवह।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८१

[१९ प्रतिवाद]—तव उन स्थविरों ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा—"आर्यो ! हम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दवाते (कुचलते) नहीं, हनते नहीं, यावत् मारते नहीं। हे आर्यो ! हम गमन करते हुए काय (अर्थात्—शरीर के लघुनीति-बड़ीनीति आदि कार्य) के लिए, योग (अर्थात्—ग्लान आदि की सेवा) के लिए, ऋत (अर्थात्—सत्य अप्कायादि-जीवसंरक्षणरूप संयम) के लिए एक देश (स्थल) से दूसरे देश (स्थल) में और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हैं। इस प्रकार एक स्थल से दूसरे स्थल में और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हुए हम पृथ्वीकायिक जीवों को दवाते नहीं, उनका हनन नहीं करते, यावत् उनको मारते नहीं। इसलिए पृथ्वीकायिक जीवों को नहीं दवाते हुए, हनन न करते हुए यावत् नहीं मारते हुए हम त्रिविध-त्रिविध संयत, विरत, यावत् एकान्त-पण्डित हैं। किन्तु हे आर्यो ! तुम स्वयं त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकान्तवाल हो।"

२०. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं जाव एगंतवाला यावि भवामो ?

[२० प्रतिप्रश्न]—इस पर उन अन्यतीर्थिकों ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा—"आर्यो ! हम किस कारण त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तवाल हैं ?"

२१. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेह जाव उवद्दवेह, तए णं तुब्भे पुढविं पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतवाला यावि भवह।

[२१ प्रत्युत्तर] तव स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा—"आर्यो ! तुम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दवाते हो, यावत् मार देते हो। इसलिए पृथ्वीकायिक जीवों को दवाते हुए, यावत् मारते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तवाल हो।"

२२. तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी—तुब्भे णं अज्जो ! गम्ममाणे अगते, वीतिक्कमिज्जमाणे अवीतिक्कंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे असंपत्ते ?

[२२ प्रत्याक्षेप]—इस पर वे अन्यतीर्थिक उन स्थविर भगवन्तों से यों वोले—हे आर्यो! तुम्हारे मत में गच्छन् (जाता हुआ), अगत (नहीं गया) कहलाता है; जो लांघा जा रहा है, वह नहीं लांघा गया, कहलाता है, और राजगृह को प्राप्त करने (पहुँचने) की इच्छा वाला पुरुष असम्प्राप्त (नहीं पहुँचा हुआ) कहलाता है।

२३. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी—नो खलु अज्जो ! अम्हं गम्ममाणे अगए, वीइक्कमिज्जमाणे अवीतिक्कंते रायगिहं नगरं जाव असंपत्ते, अम्हं णं अज्जो ! गम्ममाणे गए, वीतिक्कमिज्जमाणे वीतिक्कंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे संपत्ते, तुब्भं णं अप्पणा चेव गम्ममाणे अगए वीतिक्कमिज्जमाणे अवीतिक्कंते रायगिहं नगरं जाव असंपत्ते।

[२३ प्रतिवाद]—तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से इस प्रकार कहा—आर्यो ! हमारे मत में जाता हुआ (गच्छन्), अगत (नहीं गया), नहीं कहलाता, व्यतिक्रम्यमाण (उल्लंघन किया जाता हुआ), अव्यतिक्रान्त (उल्लंघन नहीं किया) नहीं कहलाता। इसी प्रकार

राजगृह नगर को प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति असंप्राप्त नहीं कहलाता। हमारे मत में तो, आर्यो! 'गच्छन्' 'गत'; 'व्यतिक्रम्यमाण' 'व्यतिक्रान्त'; और राजगृह नगर को प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति सम्प्राप्त कहलाता है। हे आर्यो! तुम्हारे ही मत में 'गच्छन्' 'अगत', 'व्यतिक्रम्यमाण' 'अव्यतिक्रान्त' और राजगृह नगर को प्राप्त करने की इच्छा वाला असम्प्राप्त कहलाता है।

२४. तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं पडिहणेंति, पडिहणित्ता गइप्पवायं नाम-मज्झयणं पन्नवइंसु।

[२४] तदनन्तर उन स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों को प्रतिहत (निरुत्तर) किया और निरुत्तर करके उन्होंने गतिप्रपात नामक अध्ययन प्ररूपित किया।

विवेचन—स्थविरों पर अन्यतीर्थिकों द्वारा पुनः आक्षेप और स्थविरों द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत ९ सूत्रों (सू. १६ से २४) में अन्यतीर्थिकों द्वारा पुनः प्रत्याक्षेप से प्रारम्भ होकर यह चर्चा स्थविरों द्वारा भ्रान्तिनिवारणपूर्वक प्रतिवाद में समाप्त होती है।

अन्यतीर्थिकों की भ्रान्ति—पूर्व चर्चा में निरुत्तर अन्यतीर्थिकों ने पुनः भ्रान्तिवश स्थविरों पर आक्षेप किया कि आप लोग ही असंयत यावत् एकान्तबाल हैं, क्योंकि आप गमनागमन करते समय पृथ्वीकायिक जीवों की विविधरूप से हिंसा करते हैं, किन्तु सुलझे हुए विचारों के निर्ग्रन्थ स्थविरों ने धैर्यपूर्वक उनकी इस भ्रान्ति का निराकरण किया कि हम लोग काय, योग और ऋत के लिए बहुत ही यतनापूर्वक गमनागमन करते हैं, किसी भी जीव की किसी भी रूप में हिंसा नहीं करते।

इस पर पुनः अन्यतीर्थिकों ने आक्षेप किया कि आपके मत से गच्छन् अगत, व्यतिक्रम्यमाण अव्यतिक्रान्त और राजगृह को सम्प्राप्त करना चाहने वाला असम्प्राप्त कहलाता है। इसका प्रतिवाद स्थविरों ने किया और आक्षेपक अन्यतीर्थिकों को ही उनकी भ्रान्ति समझा कर निरुत्तर कर दिया।

'देश' और 'प्रदेश' का अर्थ—भूमि का बृहत् खण्ड देश है और लघुतर खण्ड प्रदेश है।[1]

गतिप्रवाद और उसके पांच भेदों का निरूपण—

२५- कइविहे णं भंते! गइप्पवाए पण्णत्ते?

गोयमा! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते, तं जहा—पयोगगती ततगती बंधणछेयणगती उववाय-गती विहायगती। एत्तो आरब्भ पयोगपयं निरवसेसं भाणियव्वं, जाव से त्तं विहायगई।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ अट्ठमसए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

[२५ प्र.]—भगवन्! गतिप्रपात कितने प्रकार का कहा गया है?

[२५ उ.]—गौतम! गतिप्रपात पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—प्रयोगगति, ततगति, बन्धन-छेदनगति, उपपातगति और विहायोगति।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८१

यहाँ से प्रारम्भ करके प्रज्ञापनासूत्र का सोलहवाँ समग्र प्रयोगपद कहना चाहिए; यावत् 'यह विहायोगति का वर्णन हुआ'; यहाँ तक कथन करना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—गतिप्रपात और उसके पांच प्रकारों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में गतिप्रपात या गतिप्रवात और उसके ५ प्रकारों का प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।

गतिप्रपात के पांच भेदों का स्वरूप—गतिप्रपात या गतिप्रवाद एक अध्ययन है, जिसका प्रज्ञापनासूत्र के सोलहवें प्रयोगपद में विस्तृत वर्णन है। वहाँ इन पांचों गतियों के भेद-प्रभेद और उनके स्वरूप का निरूपण किया गया है। संक्षेप में पांचों गतियों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **प्रयोगगति**—जीव के व्यापार से अर्थात्—१५ प्रकार के योगों से जो गति होती है, उसे प्रयोगगति कहते हैं। यह गति यहाँ क्षेत्रान्तरप्राप्तिरूप या पर्यायान्तरप्राप्तिरूप समझनी चाहिए।

(२) **ततगति**—विस्तृत गति या विस्तार वाली गति को ततगति कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति ग्रामान्तर जाने के लिए रवाना हुआ, परन्तु ग्राम बहुत दूर निकला, वह अभी उसमें पहुँचा नहीं; उसकी एक-एक पैर रखते हुए जो क्षेत्रान्तरप्राप्तिरूप गति होती है, वह ततगति कहलाती है। इस गति का विषय विस्तृत होने से इसे 'ततगति' कहा जाता है।

(३) **बन्धन-छेदनगति**—बन्धन के छेदन से होने वाली गति। जैसे शरीर से मुक्त जीव की गति होती है।

(४) **उपपातगति**—उत्पन्न होने रूप गति को उपपातगति कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं—क्षेत्र-उपपात, भवोपपात, और नो-भवोपपात। नारकादिजीव और सिद्धजीव जहाँ रहते हैं, वह आकाश क्षेत्रोपपात है, कर्मों के वश जीव नारकादि भवों (पर्यायों) में उत्पन्न होते हैं, वह भवोपपात है। कर्मसम्बन्ध से रहित अर्थात् नारकादिपर्याय से रहित उत्पन्न होने रूप गति को नो-भवोपपात कहते हैं। इस प्रकार की गति सिद्ध जीव और पुद्गलों में पाई जाती है।

(५) **विहायोगति**—आकाश में होने वाली गति को विहायोगति कहते हैं।[1]

॥ अष्टम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८१

(ख) प्रज्ञापनासूत्र पद १६ (प्रयोगपद), पत्रांक ३२५

अट्ठमो उद्देसओ : 'पडिणीए'

अष्टम उद्देशक : 'प्रत्यनीक'

गुरु-गति-समूह-अनुकम्पा-श्रुत भाव-प्रत्यनीक-भेद-प्ररूपणा—

१. रायगिहे नयरे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में (गौतम स्वामी ने) यावत् (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) इस प्रकार पूछा—

२. गुरू णं भंते ! पडुच्च कति पडिणीया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए थेरपडिणीए।

[२ प्र.] भगवन् ! गुरुदेव की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक (द्वेषी या विरोधी) कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) आचार्य-प्रत्यनीक, (२) उपाध्याय-प्रत्यनीक और (३) स्थविर-प्रत्यनीक।

३. गइं णं भंते ! पडुच्च कति पडिणीया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगपडिणीए परलोगपडिणीए दुहओलोगपडिणीए।

[३ प्र.] भगवन् ! गति की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक कहे गए हैं ?

[३ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) इहलोक-प्रत्यनीक, (२) परलोक-प्रत्यनीक, और (३) उभयलोक-प्रत्यनीक।

४. समूहं णं भंते ! पडुच्च कति पडिणीया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—कुलपडिणीए गणपडिणीए संघपडिणीए।

[४ प्र.] भगवन् ! समूह (श्रमणसंघ) की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक कहे गए हैं ?

[४ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) कुल-प्रत्यनीक, (२) गण-प्रत्यनीक और (३) संघ-प्रत्यनीक।

५. अणुकंपं पडुच्च० पुच्छा।

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—तवस्सिपडिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए।

[५ प्र.] भगवन् ! अनुकम्प्य (साधुओं) की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक कहे गए हैं ?

[५ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) तपस्वी-प्रत्यनीक, (२) ग्लान-प्रत्यनीक और (३) शैक्ष (नवदीक्षित)-प्रत्यनीक।

६. सुयं णं भंते ! पडुच्च० पुच्छा।

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—सुत्तपडिणीए अत्थपडिणीए तदुभयपडिणीए।

[६ प्र.] भगवन् ! श्रुत की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक कहे गए हैं ?

[६ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) सूत्रप्रत्यनीक, (२) अर्थ-प्रत्यनीक और (३) तदुभयप्रत्यनीक।

७. भावं णं भंते ! पडुच्च० पुच्छा।

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—नाणपडिणीए दंसणपडिणीए चरित्तपडिणीए।

[७ प्र.] भगवन् ! भाव की अपेक्षा कितने प्रत्यनीक कहे गए हैं ?

[७ उ.] गौतम ! तीन प्रत्यनीक कहे गए हैं ? वे इस प्रकार—(१) ज्ञान-प्रत्यनीक, (२) दर्शन-प्रत्यनीक और (३) चारित्र-प्रत्यनीक।

विवेचन—गुरु-गति-समूह-अनुकम्पा-श्रुत-भाव की अपेक्षा प्रत्यनीक के भेदों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों में क्रमशः गुरु आदि को लेकर प्रत्येक के तीन-तीन प्रकारों का निरूपण किया गया है।

प्रत्यनीक—प्रतिकूल आचरण करने वाला विरोधी या द्वेषी प्रत्यनीक कहलाता है।

गुरु-प्रत्यनीक का स्वरूप—गुरुपद पर आसीन तीन महानुभाव होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और स्थविर। अर्थ के व्याख्याता आचार्य, सूत्र के दाता उपाध्याय तथा वय, श्रुत और दीक्षापर्याय की अपेक्षा वृद्ध व गीतार्थ साधु स्थविर कहलाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और स्थविर मुनियों के जाति आदि से दोष देखने, अहित करने, उनके वचनों का अपमान करने, उनके समीप रहने, उनके उपदेश का उपहास करने, उनकी वैयावृत्य न करने आदि प्रतिकूल व्यवहार करने वाले इनके 'प्रत्यनीक' कहलाते हैं।

गति-प्रत्यनीक का स्वरूप—मनुष्य आदि गति की अपेक्षा प्रतिकूल आचरण करने वाले गति-प्रत्यनीक कहलाते हैं। **इहलोक**—मनुष्य पर्याय का प्रत्यनीक वह होता है, जो पंचाग्नि तप करने वाले की तरह अज्ञानतापूर्वक इन्द्रिय-विषयों के प्रतिकूल आचरण करता है। **परलोक**—जन्मान्तर-प्रत्यनीक वह होता है, जो परलोक सुधारने के बजाय केवल इन्द्रियविषयासक्त रहता है। **उभयलोकप्रत्यनीक** वह होता है, जो दोनों लोक सुधारने के बदले चोरी आदि कुकर्म करके दोनों लोक बिगाड़ता है, केवल भोगविलासतत्पर रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने कुकृत्यों से इहलोक में भी दण्डित होता है, परभव में भी दुर्गति पाता है।

समूह-प्रत्यनीक का स्वरूप—यहाँ साधुसमुदाय की अपेक्षा तीन प्रकार के समूह बताए हैं—कुल, गण और संघ। एक आचार्य की सन्तति 'कुल', परस्पर धर्मस्नेह सम्बन्ध रखने वाले तीन कुलों का समूह 'गण' और ज्ञान-दर्शन-चारित्रगुणों से विभूषित समस्त श्रमणों का समुदाय 'संघ' कहलाता

है। कुल गण या संघ के विपरीत आचरण करने वाले क्रमश: कुलप्रत्यनीक, गण-प्रत्यनीक और संघ-प्रत्यनीक कहलाते हैं।

अनुकम्प्य-प्रत्यनीक का स्वरूप—अनुकम्पा करने योग्य—अनुकम्प्य साधु तीन हैं—तपस्वी, ग्लान (रुग्ण) और शैक्ष। इन तीन अनुकम्प्य साधुओं की आहारादि द्वारा सेवा नहीं करके इनके प्रतिकूल आचरण या व्यवहार करने वाले साधु क्रमशः तपस्वी-प्रत्यनीक, ग्लान-प्रत्यनीक और शैक्ष-प्रत्यनीक कहलाते हैं।

श्रुतप्रत्यनीक का स्वरूप—श्रुत (शास्त्र) के विरुद्ध कथन, प्रचार, अवर्णवाद आदि करने वाला, शास्त्रज्ञान को निष्प्रयोजन अथवा शास्त्र को दोषयुक्त बताने वाला श्रुतप्रत्यनीक है। श्रुत तीन प्रकार का होने के कारण श्रुतप्रत्यनीक के भी क्रमश: सूत्रप्रत्यनीक अर्थप्रत्यनीक और तदुभय-प्रत्यनीक, ये तीन भेद हैं।

भाव-प्रत्यनीक का स्वरूप—क्षायिकादि भावों के प्रतिकूल आचरणकर्ता भावप्रत्यनीक है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये तीन भाव हैं। इन तीनों के विरुद्ध आचरण, दोषदर्शन, अवर्णवाद आदि करना क्रमश: ज्ञानप्रत्यनीक, दर्शनप्रत्यनीक और चारित्रप्रत्यनीक है[1]

निर्ग्रन्थ के लिए आचरणीय पंचविध व्यवहार, उनकी मर्यादा और व्यवहारानुसार प्रवृत्ति का फल—

८. कइविहे णं भंते ! ववहारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगम-सुत-आणा-धारणा-जीए। जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ आगमे सिया; जहा से तत्थ सुते सिया, सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णो वा से तत्थ सुए सिया; जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ आणा सिया; जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ धारणा सिया; जहा से तत्थ जीए सिया जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। इच्चेएहिं पंचहिं ववहारं पट्ठवेज्जा, तं जहा—आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं। जहा जहा से आगमे सुए आणा धारणा जीए तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा।

[८ प्र] भगवन् ! व्यवहार कितने प्रकार का कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! व्यवहार पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) आगम-व्यवहार, (२) श्रुतव्यवहार, (३) आज्ञाव्यवहार, (४) धारणाव्यवहार और (५) जीतव्यवहार। इन पांच प्रकार के व्यवहारों में से जिस साधु के पास आगम (केवलज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्व का ज्ञान) हो, उसे उस आगम से व्यवहार (प्रवृत्ति-निवृत्ति) करना चाहिए। जिसके पास आगम न हो, उसे श्रुत से व्यवहार चलाना चाहिए। जहाँ श्रुत न हो वहाँ आज्ञा से उसे व्यवहार चलाना चाहिए। यदि आज्ञा भी न हो तो जिस प्रकार की धारणा हो, उस उस धारणा से व्यवहार चलाना चाहिए। कदाचित् धारणा न हो तो जिस प्रकार का जीत हो, उस

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८२

जीत से व्यवहार चलाना चाहिए। इस प्रकार इन पांचों आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत से (साधु-साध्वी को) व्यवहार चलाना चाहिए। जिसके पास जिस-जिस प्रकार से आगम, श्रुत, आज्ञा धारणा और जीत, इन पांच व्यवहारों में से जो व्यवहार हो, उसे उस उस प्रकार से व्यवहार चलाना (प्रवृत्ति-निवृत्ति करना) चाहिए।

९. से किमाहु भंते ! आगमबलिया समणा निग्गंथा ?

इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया जया जहिं जहिं तया तया तहिं तहिं अणिस्सिओवस्सितं सम्मं ववहरमाणे समणे निग्गंथे आणाए आराहए भवइ।

[९ प्र.] भगवन् ! आगमबलिक श्रमण निर्ग्रन्थ (पूर्वोक्त पंचविध व्यवहार के विषय में) क्या कहते हैं ?

[९ उ.] (गौतम !) इस प्रकार इन पंचविध व्यवहारों में से जब-जब और जहाँ-जहाँ जो व्यवहार संभव हो, तब-तब और वहां-वहाँ उससे, अनिश्रितोपाश्रित (राग और द्वेष से रहित) हो कर सम्यक् प्रकार से व्यवहार (प्रवृत्ति-निवृत्ति) करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ (तीर्थंकरों की) आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ के लिए आचरणीय पंचविध व्यवहार एवं उनकी मर्यादा—प्रस्तुत दो सूत्रों में साधु-साध्वी के लिए साधुजीवन में उपयोगी पंचविध व्यवहारों तथा उनकी मर्यादा का निरूपण किया गया है।

व्यवहार का विशेषार्थ—यहाँ आध्यात्मिक जगत् में व्यवहार का अर्थ मुमुक्षुओं की यथोचित सम्यक् प्रवृत्ति-निवृत्ति है, अथवा उसका कारणभूत जो ज्ञानविशेष है, उसे भी व्यवहार कह सकते हैं।

आगम आदि पंचविध व्यवहार का स्वरूप—(१) **आगमव्यवहार**—जिससे वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो, उसे 'आगम' कहते हैं। केवलज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान, चौदह पूर्व, दस पूर्व और नौ पूर्व का ज्ञान **'आगम'** कहलाता है। आगमज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार—**आगमव्यवहार** कहलाता है। (२) **श्रुत-व्यवहार**—शेष आचारप्रकल्प आदि ज्ञान 'श्रुत' कहलाता है। श्रुत से प्रवर्तित व्यवहार श्रुतव्यवहार है। यद्यपि पूर्वों का ज्ञान भी श्रुतरूप है, तथापि अतीन्द्रियार्थ-विषयक विशिष्ट ज्ञान का कारण एवं सातिशय ज्ञान होने से उसे 'आगम' की कोटि में रखा गया है। (३) **आज्ञा-व्यवहार**—दो गीतार्थ साधु अलग-अलग दूर देश में विचरते हैं, उनमें से एक का जंघाबल क्षीण हो जाने से विहार करने में असमर्थ हो जाए, वह अपने दूरस्थ गीतार्थसाधु के पास अगीतार्थसाधु के माध्यम से अपने अतिचार या दोष आगम की सांकेतिक गूढ़ भाषा में कहकर या लिखकर भेजता है, और गूढभाषा में कही हुई या लिखी हुई आलोचना सुन-जान कर वे गीतार्थमुनि भी संदेशवाहक मुनि के माध्यम से उक्त अतिचार के प्रायश्चित्त द्वारा की जाने वाली शुद्धि का संदेश आगम की गूढभाषा में ही कह या लिखकर देते हैं। यह आज्ञाव्यवहार का स्वरूप है। (४) **धारणा-व्यवहार**—किसी गीतार्थ मुनि ने या गुरुदेव ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त दिया है, उसकी धारणा से वैसे अपराध में उसी प्रायश्चित्त का प्रयोग करना धारणाव्यवहार है। धारणाव्यवहार प्रायः आचार्य-परम्परागत होता है। (५) **जीतव्यवहार**—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र (पुरुष) और प्रतिसेवना का तथा संहनन, और धैर्य आदि की हानि का विचार करके जो प्रायश्चित्त दिया जाए वह जीतव्यवहार है। अथवा अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा आचरित,

असावद्य, आगम से अवाधित एवं निर्धारित मर्यादा को भी जीतव्यवहार कहते हैं। कारणवश किसी गच्छ में शास्त्रोक्त से अधिक प्रायश्चित्त प्रवृत्त हो गया हो, उसका अनुसरण करना भी जीतव्यवहार है।

पूर्व-पूर्व व्यवहार के अभाव में उत्तरोत्तर व्यवहार आचरणीय—मूलपाठ में स्पष्ट वता दिया है कि ५ व्यवहारों में से व्यवहर्ता मुमुक्षु के पास यदि आगम हो तो उसे आगम से, उसमें भी केवलज्ञानादि पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर से व्यवहार चलाना चाहिए। आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में धारणा से और धारणा के अभाव में जीतव्यवहार से प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार करना चाहिए।[1]

अन्त में फलश्रुति के साथ स्पष्ट निर्देश—जव-जव, जिस-जिस अवसर में, जिस-जिस प्रयोजन या क्षेत्र में, जो-जो व्यवहार उचित हो, तव-तव उस-उस अवसर में, उस-उस प्रयोजन या क्षेत्र में, उस-उस व्यवहार का प्रयोग अनिश्रित—समस्त आशंसा—यशःकीर्ति, आहारादिलिप्सा से रहित तथा अनुपाश्रित—वैयावृत्य करने वाले शिष्यादि के प्रति सर्वथा पक्षपातरहित हो कर (अथवा राग-आसक्ति और द्वेष से रहित होकर) करना चाहिए। तभी वह भगवदाज्ञाराधक होगा।[2]

विविध पहलुओं से ऐर्यापथिक और साम्परायिक कर्मवन्ध से सम्बन्धित प्ररूपणा—

१०. कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे बंधे पन्नत्ते, तं जहा—इरियावहियाबंधे य संपराइयबंधे य।

[१० प्र.] भगवन् ! वन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ.] गौतम ! वन्ध दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—ईर्यापथिकवन्ध और साम्परायिकवन्ध।

११. इरियावहियं णं भंते ! कम्मं किं नेरइओ बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधइ, तिरिक्खजोणिणी बंधइ, मणुस्सो बंधइ, मणुस्सी बंधइ, देवो बंधइ, देवी बंधइ ?

गोयमा ! नो नेरइओ बंधइ, नो तिरिक्खजोणिओ बंधइ, नो तिरिक्खजोणिणी बंधइ, नो देवो बंधइ, नो देवी बंधइ, पुव्वपडिवन्नए पडुच्च मणुस्सा य, मणुस्सीओ य बंधंति, पडिवज्जमाणए पडुच्च मणुस्सो वा बंधइ १, मणुस्सी वा बंधइ २, मणुस्सा वा बंधंति ३, मणुस्सीओ वा बंधंति ४, अहवा मणुस्सो य मणुस्सी य बंधइ ५, अहवा मणुस्सो य मणुस्सीओ य बंधंति ६, अहवा मणुस्सा य मणुस्सी य बंधंति ७, अहवा मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति ८।

[११ प्र.] भगवन् ! ईर्यापथिककर्म क्या नैरयिक वांधता है, या तिर्यञ्चयोनिक वांधता है, या तिर्यञ्चयोनिक स्त्री वांधती है, अथवा मनुष्य वांधता है, या मनुष्य-स्त्री (नारी) वांधती है, अथवा देव वांधता है या देवी वांधती है ?

[११ उ.] गौतम ! ईर्यापथिककर्म न नैरयिक वांधता है, न तिर्यञ्चयोनिक वांधता है, न तिर्यञ्चयोनिक स्त्री वांधती है, न देव वांधता है और न ही देवी वांधती है, किन्तु पूर्वप्रतिपन्नक की

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८४

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८५

अपेक्षा इसे मनुष्य पुरुष और मनुष्य स्त्रियाँ बांधती हैं; प्रतिपद्यमान की अपेक्षा मनुष्य-पुरुष बांधता है अथवा मनुष्य स्त्री बांधती है, अथवा बहुत-से मनुष्य-पुरुष बांधते हैं या बहुत-सी मनुष्य स्त्रियाँ बांधती हैं, अथवा एक मनुष्य और एक मनुष्य-स्त्री बांधती है, या एक मनुष्य-पुरुष और बहुत-सी मनुष्य-स्त्रियाँ बांधती हैं, अथवा बहुत-से मनुष्य पुरुष और एक मनुष्य-स्त्री बांधती है, अथवा बहुत-से मनुष्य-नर और बहुत-सी मनुष्य-नारियाँ बांधती हैं।

१२. तं भंते ! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, नपुंसगो बंधंति, इत्थीओ बंधंति; पुरिसा बंधंति, नपुंसगा बंधंति ? नोइत्थी-नोपुरिसो-नोनपुंसगो बंधइ ?

गोयमा ! नो इत्थी बंधइ, नो पुरिसो बंधइ जाव नो नपुंसओ बंधइ। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च अवगयवेदा बंधंति, पडिवज्जमाणए य पडुच्च अवगयवेदो वा बंधति, अवगयवेदा वा बंधंति।

[१२ प्र.] भगवन् ! ऐर्यापथिक (कर्म) बन्ध क्या स्त्री बांधती है, पुरुष बांधता है, नपुंसक बांधता है, स्त्रियाँ बांधती हैं, पुरुष बांधते हैं या नपुंसक बांधते हैं, अथवा नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक बांधता है ?

[१२ उ.] गौतम ! इसे स्त्री नहीं बांधती, पुरुष नहीं बांधता, नपुंसक नहीं बांधता, स्त्रियाँ नहीं बांधतीं, पुरुष नहीं बांधते और नपुंसक भी नहीं बांधते, किन्तु पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा वेदरहित (बहु) जीव बांधते हैं, अथवा प्रतिपद्यमान की अपेक्षा वेदरहित (एक) जीव बांधता है या (बहु) वेद-रहित जीव बांधते हैं।

१३. जइ भंते ! अवगयवेदो वा बंधइ, अवगयवेदा वा बंधंति तं भंते ! किं इत्थीपच्छाकडो बंधइ १, पुरिसपच्छाकडो बंधइ २, नपुंसकपच्छाकडो बंधइ ३, इत्थीपच्छाकडा बंधंति ४, पुरिसपच्छाकडा वि बंधंति ५, नपुंसगपच्छाकडा वि बंधंति ६, उदाहु इत्थिपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधति ४, उदाहु इत्थीपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४, उदाहु पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४, उदाहु इत्थिपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य भाणियव्वं ८, एवं एते छव्वीसं भंगा २६ जाव उदाहु इत्थीपच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य नपुंसकपच्छाकडा य बंधंति ?

गोयमा ! इत्थिपच्छाकडो वि बंधइ १, पुरिसपच्छाकडो वि बंधइ २, नपुंसगपच्छाकडो वि बंधइ ३, इत्थीपच्छाकडा वि बंधंति ४, पुरिसपच्छकडा वि बंधंति ५, नपुंसकपच्छाकडा वि बंधंति ६, अहवा इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ ७, एवं एए चेव छव्वीसं भंगा भाणियव्वा जाव अहवा इत्थिपच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य नपुंसगपच्छाकडा य बंधंति।

[१३ प्र.] भगवन् ! यदि वेदरहित एक जीव अथवा वेदरहित बहुत जीव ऐर्यापथिक (कर्म) बन्ध बांधते हैं तो क्या १—स्त्री-पश्चात्कृत जीव (जो जीव भूतकाल में स्त्रीवेदी था, अब वर्त्तमान काल में अवेदी हो गया है) बांधता है, अथवा २—पुरुष-पश्चात्कृत जीव (जो जीव पहले पुरुषवेदी था, अब अवेदी हो गया है) बांधता है; या ३—नपुंसक-पश्चात्कृत जीव (जो पहले नपुंसकवेदी था, अब अवेदी हो गया है) बांधता है ? अथवा ४—स्त्रीपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या ५—पुरुष-पश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या ६—नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं ? अथवा ७—एक स्त्री-पश्चात्कृत जीव और एक पुरुषपश्चात्कृत जीव बांधता है, या ८—एक स्त्री-पश्चात्कृत जीव

वहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या ९—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव और एक पुरुषपश्चात्कृत जीव बांधता है, अथवा १०—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव और बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव बांधते है, या ११—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है या १२—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, अथवा १३—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है, या १४—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, अथवा १५—एक पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसक-पश्चात्कृत जीव बांधता है, या १६—एक पुरुष-पश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, अथवा १७—बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है, अथवा १८—बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं ? या फिर १९—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव, एक पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है, अथवा २०—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव, एक पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसक-पश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या २१—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है ? अथवा २२—एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या २३—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव, एक पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है, अथवा २४—बहुत स्त्रीपश्चात्-कृत जीव, एक पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं, या २५—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और एक नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधता है, अथवा २६—बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! ऐर्यापथिक कर्म (१) स्त्रीपश्चात्कृत जीव भी बांधता है, (२) पुरुष-पश्चात्कृत जीव भी बांधता है, (३) नपुंसकपश्चात्कृत जीव भी बांधता है, (४) स्त्री पश्चात्कृत जीव भी बांधते हैं, (५) पुरुषपश्चात्कृत जीव भी बांधते हैं, (६) नपुंसकपश्चात्कृत जीव भी बांधते हैं, अथवा (७) एक स्त्रीपश्चात्कृत जीव और एक पुरुषपश्चात्कृत जीव भी बांधता है अथवा यावत् (२६) बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्-कृत जीव भी बांधते हैं। इस प्रकार (प्रश्न में कथित) छब्बीस भंग यहाँ (उत्तर में ज्यों के त्यों) कह देने चाहिए।

१४. तं भंते ! किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ १, बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २, बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३, बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४, न बंधी बंधइ बंधिस्सइ ५, न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ ६, न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ७, न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ८ ?

गोयमा ! भवागरिसं पडुच्च अत्थेगतिए बंधी बंधइ बंधिस्सइ। अत्थेगतिए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ। एवं तं चेव सव्वं जाव अत्थेगतिए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ। गहणागरिसं पडुच्च अत्थेगतिए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ; एवं जाव अत्थेगतिए न बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ। णो चेव णं न बंधी, बंधइ, न बंधिस्सइ। अत्थेगतिए न बंधी, न बंधइ, बंधिस्सइ। अत्थेगतिए न बंधी, न बंधइ, न बंधिस्सइ।

[१४ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ने (ऐर्यापथिक कर्म) १—बांधा है, बांधता है और बांधेगा,

अथवा २—बांधा है, बांधता है, नहीं बांधेगा, या ३—बांधा है, नही बांधता है, बांधेगा, अथवा ४—बांधा है, नहीं बांधता है, नहीं बांधेगा, या ५—नहीं बांधा, बांधता है, बांधेगा, अथवा ६—नहीं बांधा, बांधता है, नहीं बांधेगा, या ७—नहीं बांधा, नहीं बांधता, बांधेगा ८—न बांधा, न बांधता है, न बांधेगा ?

[१४ उ.] गौतम ! भवाकर्ष की अपेक्षा किसी एक जीव ने बांधा है, बांधता है और बांधेगा; किसी एक जीव ने बांधा है, बांधता है और नहीं बांधेगा; यावत् किसी एक जीव ने नहीं बांधा, नहीं बांधता है, नहीं बांधेगा। इस प्रकार (प्रश्न में कथित) सभी (आठों) भंग यहाँ कहने चाहिए। ग्रहणाकर्ष की अपेक्षा (१) किसी एक जीव ने बांधा, बांधता है, बांधेगा; (२) किसी एक जीव ने बांधा, बांधता है, नहीं बांधेगा; (३) बांधा, नहीं बांधता है, बांधेगा; (४) बांधा, नहीं बांधता, नहीं बांधेगा; (५) किसी एक जीव ने नहीं बांधा, बांधता है, यहाँ तक (यावत्) कहना चाहिए। इसके पश्चात् छठा भंग—नहीं बांधा, बांधता नहीं है, बांधेगा; नहीं कहना चाहिए। (तदनन्तर सातवां भंग)—किसी एक जीव ने नहीं बांधा, नहीं बांधता है, बांधेगा और आठवां भंग एक जीव ने नहीं बांधा, नहीं बांधता, नहीं बांधेगा, (कहना चाहिए।)

१५. तं भंते ! किं साईयं सपज्जवसियं बंधइ, साईयं अपज्जवसियं बंधइ, अणाईयं सपज्जवसियं बंधइ, अणाईयं अपज्जवसियं बंधइ ?

गोयमा ! साईयं सपज्जवसियं बंधइ, नो साईयं अपज्जवसियं बंधइ, नो अणाईयं सपज्जवसियं बंधइ, नो अणाईयं अपज्जवसियं बंधइ।

[१५ प्र.] भगवन् ! जीव ऐर्यापथिक कर्म क्या सादि-सपर्यवसित बांधता है या सादि-अपर्यवसित बांधता है, अथवा अनादि-सपर्यवसित बांधता है या अनादि-अपर्यवसित बांधता है ?

[१५ उ.] गौतम ! जीव ऐर्यापथिक कर्म सादि-सपर्यवसित बांधता है, किन्तु सादि-अपर्यवसित नहीं बांधता, अनादि-सपर्यवसित नहीं बांधता और न अनादि-अपर्यवसित बांधता है।

१६. तं भंते ! किं देसेणं देसं बंधइ, देसेणं सव्वं बंधइ, सव्वेणं देसं बंधइ, सव्वेणं सव्वं बंधइ ?

गोयमा ! नो देसेणं देसं बंधइ, णो देसेणं सव्वं बंधइ, नो सव्वेणं देसं बंधइ, सव्वेणं सव्वं बंधइ।

[१६ प्र.] भगवन् ! जीव ऐर्यापथिक कर्म देश से आत्मा के देश को बांधता है, देश से सर्व को बांधता है, सर्व से देश को बांधता है या सर्व से सर्व को बांधता है ?

[१६ उ.] गौतम ! वह ऐर्यापथिक कर्म देश से देश को नहीं बाँधता, देश से सर्व को नहीं बांधता, सर्व से देश को नहीं बांधता, किन्तु सर्व से सर्व को बांधता है।

१७. संपराइयं णं भंते ! कम्मं किं नेरइयो बंधइ, तिरिक्खजोणीओ बंधइ, जाव देवी बंधइ ?

गोयमा ! नेरइओ वि बंधइ, तिरिक्खजोणीओ वि बंधइ, तिरिक्खजोणिणी वि बंधइ, मणुस्सो वि बंधइ, मणुस्सी वि बंधइ, देवो वि बंधइ, देवी वि बंधइ।

[१७ प्र.] भगवन् ! साम्परायिक कर्म नैरयिक बांधता है, तिर्यञ्च बांधता है, तिर्यञ्च-स्त्री (मादा) बांधती है, मनुष्य बांधता है, मनुष्य-स्त्री बांधती है, देव बांधता है या देवी बांधती है ?

[१७ उ.] गौतम ! नैरयिक भी बांधता है, तिर्यञ्च भी बांधता है, तिर्यञ्च-स्त्री (मादा) भी बांधती है, मनुष्य भी बांधता है, मानुषी भी बांधती है, देव भी बांधता है और देवी भी बांधती है।

१८. तं भंते ! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, तहेव जाव नोइत्थीनो-पुरिसोनो-नपुंसओ बंधइ ?

गोयमा ! इत्थी वि बंधइ, पुरिसो वि बंधइ, जाव नपुंसगो वि बंधइ। अहवेए य अवगयवेदो य बंधइ, अहवेए य अवगयवेया य बंधंति।

[१८ प्र.] भगवन् ! साम्परायिक कर्म क्या स्त्री बांधती है, पुरुष बांधता है, यावत् नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक बांधता है ?

[१८ उ.] गौतम ! स्त्री भी बांधती है, पुरुष भी बांधता है, नपुंसक भी बांधता है, अथवा वहुत स्त्रियां भी बांधती हैं, बहुत पुरुष भी बांधते हैं और बहुत नपुंसक भी बांधते हैं, अथवा ये सब और अवेदी एक जीव भी बांधता है, अथवा ये सब और बहुत अवेदी जीव भी बांधते हैं।

१९. जइ भंते ! अवगयवेदो य बंधइ अवगयवेदा य बंधंति तं भंते ! किं इत्थीपच्छाकडो बंधइ, पुरिसपच्छाकडो ?

एवं जहेव इरियावहियाबंधगस्स तहेव निरवसेसं जाव अहवा इत्थीपच्छाकडा य, पुरिसपच्छाकडा य, नपुंसगपच्छाकडा य बंधंति।

[१९ प्र.] भगवन् ! यदि वेदरहित एक जीव और वेदरहित बहुत जीव साम्परायिक कर्म बांधते हैं तो क्या स्त्रीपश्चात्कृत जीव बांधता है या पुरुषपश्चात्कृत जीव बांधता है ? इत्यादि प्रश्न (सू. १३ के अनुसार) पूर्ववत् कहना चाहिए।

[१९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में छब्बीस भंग कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् (२६) बहुत स्त्रीपश्चात्कृत जीव, बहुत पुरुषपश्चात्कृत जीव और बहुत नपुंसकपश्चात्कृत जीव बांधते हैं;—यहाँ तक कहना चाहिए।

२०. तं भंते ! किं बंधी बंधइ बंधिस्सइ १; बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २; बंधी न बंधइ, बंधिस्सइ ३; बंधी न बंधइ, न बंधिस्सइ ४ ?

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी बंधइ बंधिस्सइ १; अत्थेगतिए बंधी बंधइ, न बंधिस्सइ २; अत्थेगतिए बंधी न बंधइ, बंधिस्सइ ३; अत्थेगतिए बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४।

[२० प्र.] भगवन् ! साम्परायिक कर्म (१) किसी जीव ने बांधा, बांधता है, और बांधेगा ? (२) बांधा, बांधता है और नहीं बांधेगा ? (३) बांधा, नहीं बांधता है और बांधेगा ? तथा (४) बांधा, नहीं बांधता है, और नहीं बांधेगा ?

[२० उ.] गौतम ! (१) कई जीवों ने बांधा, बांधते हैं, और बांधेंगे; (२) कितने ही जीवों ने बांधा, बांधते हैं, और नहीं बांधेंगे; (३) कितने ही जीवों बांधा है, नहीं बांधते हैं, और बांधेंगे; (४) कितने ही जीवों ने बांधा है, नहीं बांधधते हैं, और नहीं बाधेंगे।

२१. तं भंते ! किं साईयं सपज्जवसियं बंधइ ? पुच्छा तहेव ।

गोयमा ! साईयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाईयं वा सपज्जवसियं बंधइ, अणाईयं वा अपज्जवसियं बंधइ; णो चेव णं साईयं अपज्जवसियं बंधइ ।

[२१ प्र.] भगवन् ! साम्परायिक कर्म सादि-सपर्यवसित बांधते हैं ? इत्यादि (सू. १५ के अनुसार) प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए ।

[२१ उ.] गौतम ! साम्परायिक कर्म सादि-सपर्यवसित बांधते हैं, अनादि-सपर्यवसित बांधते हैं, अनादि-अपर्यवसित बांधते हैं; किन्तु सादि-अपर्यवसित नहीं बांधते ।'

२२. तं भंते ! किं देसेणं देसं बंधइ ?

एवं जहेव इरियावहियाबंधगस्स जाव सव्वेणं सव्वं बंधइ ।

[२२ प्र.] भगवन् ! साम्परायिक कर्म देश से आत्मदेश को बांधते हैं ? इत्यादि प्रश्न, (सू. १६ के अनुसार) पूर्ववत् करना चाहिए ।

[२२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में कहा गया है, उसी प्रकार साम्परायिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए, यावत् सर्व से सर्व को बांधते हैं ।

विवेचन—विविध पहलुओं से ऐर्यापथिक और साम्परायिक कर्मबन्ध से सम्बन्धित निरूपण— प्रस्तुत तेरह सूत्रों (सू. १० से २२ तक) में ऐर्यापथिक और साम्परायिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में निम्नोक्त छह पहलुओं से विचारणा की गई है—

१. ऐर्यापथिक या साम्परायिक कर्म चार गतियों में से किस गति का प्राणी, बांधता है ?

२. स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि में से कौन बांधता है ?

३. स्त्रीपश्चात्कृत, पुरुषपश्चात्कृत, नपुंसकपश्चात्कृत, एक या अनेक अवेदी में से कौन अवेदी बांधता है ?

४. दोनों कर्मों के बांधने की त्रिकाल सम्बन्धी चर्चा ।

५. सादिसपर्यवसित आदि चार विकल्पों में से कैसे इन्हें बांधता है ?

६. ये कर्म देश से आत्मदेश को बांधते हैं ? इत्यादि प्रश्नोत्तर ।

बन्ध : स्वरूप एवं विवक्षित दो प्रकार—जैसे शरीर में तेल आदि लगाकर धूल में लोटने पर उस व्यक्ति के शरीर पर धूल चिपक जाती है, वैसे ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव के प्रदेशों में जब हलचल होती है, तब जिस आकाश में आत्मप्रदेश होते हैं, वहीं के अनन्त-अनन्त तद्-तद्-योग्य कर्मपुद्गल जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ बद्ध हो जाते हैं । दूध-पानी की तरह कर्म और आत्मप्रदेशों का एकमेक होकर मिल जाना **बन्ध** है । बेड़ी आदि का बन्धन **द्रव्यबन्ध** है, जबकि कर्मों का बन्ध **भावबन्ध** है । विवक्षाविशेष से यहाँ कर्मबन्ध के दो प्रकार कहे गए हैं—ऐर्यापथिक और साम्परायिक । केवल योगों के निमित्त से होने वाले सातावेदनीयरूप बन्ध को **ऐर्यापथिककर्मबन्ध** कहते हैं । जिनसे चतुर्गतिकसंसार में परिभ्रमण हो, उन्हें सम्पराय—कषाय कहते हैं, सम्परायों (कषायों) के निमित्त से होने वाले कर्मबन्ध को **साम्परायिककर्मबन्ध** कहते हैं । यह प्रथम से दशम गुणस्थान तक होता है ।

ऐर्यापथिककर्मबन्ध : स्वामी, कर्ता, बन्धकाल, बन्धविकल्प तथा बन्धांश—(१) **स्वामी**—ऐर्यापथिककर्म का बन्ध नारक, तिर्यञ्च, और देवों को नहीं होता, यह केवल मनुष्यों को ही होता है। मनुष्यों में भी ग्यारहवें (उपशान्तमोह), बारहवें (क्षीणमोह) और तेरहवें (सयोगीकेवली) गुणस्थानवर्ती मनुष्यों को ही होता है। ऐसे मनुष्य पुरुष और स्त्री दोनों ही होते हैं। जिसने पहले ऐर्यापथिककर्म का बन्ध किया हो, अर्थात्—जो ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के द्वितीय-तृतीय आदि समयवर्ती हो, उसे **पूर्वप्रतिपन्न** कहते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा इसे बहुत-से मनुष्य नर और बहुत-सी मनुष्य नारियाँ बांधती हैं; क्योंकि ऐसे पूर्वप्रतिपन्न स्त्री और पुरुष बहुत होते हैं। और दोनों प्रकार के केवली (स्त्रीकेवली और पुरुषकेवली) सदा पाए जाते हैं। इसलिए इसका भंग नहीं होता। जो जीव ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के प्रथम समयवर्ती होते हैं, वे **'प्रतिपद्यमान'** कहलाते हैं। इनका विरह सम्भव है। इसलिए एकत्व और बहुत्व को लेकर इनके (स्त्री और पुरुष के) असंयोगी ४ भंग और द्विकसंयोगी ४ भंग, यों कुल ८ भंग बनते हैं।

ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में जो स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि को लेकर प्रश्न किया गया है, वह लिंग की अपेक्षा समझना चाहिए, वेद की अपेक्षा नहीं, क्योंकि ऐर्यापथिक कर्मबन्ध-कर्ता जीव उपशान्तवेदी या क्षीणवेदी ही होते हैं। इसीलिए इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—**अपगतवेद-वेद** के उदय से रहित जीव ही इसे बांधते हैं। पूर्वप्रतिपन्नक अवेदी जीव सदा बहुत होते हैं, इसलिए उनके विषय में बहुवचन ही दिया गया है, जबकि प्रतिपद्यमान अवेदी जीव में विरह होने से एकत्व आदि की सम्भावना के कारण एकवचन और बहुवचन दोनों विकल्प कहे गए हैं।

जो जीव गतकाल में स्त्री था, किन्तु अब वर्तमानकाल में अवेदी हो गया है, उसे **स्त्रीपश्चात्कृत** कहते हैं, इसी तरह **'पुरुषपश्चात्कृत'** और **'नपुंसकपश्चात्कृत'** का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। इन तीनों की अपेक्षा से यहाँ वेदरहित एक जीव या अनेक जीवों के द्वारा ऐर्यापथिक-कर्मबन्धसम्बन्धी २६ भंगों को प्रस्तुत करके प्रश्न किया है। इनमें असंयोगी ६ भंग, द्विकसंयोगी १२ भंग और त्रिकसंयोगी ८ भंग हैं। इस प्रश्न का उत्तर भी २६ भंगों द्वारा दिया गया है।

त्रैकालिक ऐर्यापथिक कर्मबन्ध-विचार—इसके पश्चात् ऐर्यापथिक कर्मबन्ध के सम्बन्ध में भूत, वर्तमान और भविष्य काल-सम्बन्धी **आठ भंगों द्वारा प्रश्न** किया गया है, जिसका उत्तर **'भवाकर्ष'** और **'ग्रहणाकर्ष'** की अपेक्षा दिया गया है। अनेक भवों में उपशमश्रेणी की प्राप्ति द्वारा ऐर्यापथिक कर्मपुद्गलों का आकर्ष-ग्रहण करना **'भवाकर्ष'** है और एक भव में ऐर्यापथिक कर्मपुद्गलों का ग्रहण करना, **'ग्रहणाकर्ष'** है। भवाकर्ष की अपेक्षा यहाँ ८ भंग उत्पन्न होते हैं—उनका आशय क्रमशः इस प्रकार है—१. **प्रथम भंग—बांधा था, बांधता है, बांधेगा**, यह भवाकर्षापेक्षया उस जीव में पाया जाता है, जिसने गतकाल (किसी पूर्वभव) में उपशमश्रेणी की थी, उस समय ऐर्यापथिक कर्म बांधा था; वर्तमान में उपशम श्रेणी करता है, उस समय इसे बांधता है और आगामी भव में उपशमश्रेणी करेगा, उस समय इसे बांधेगा। २. **द्वितीय भंग—बांधा था, बांधता है, नहीं बांधेगा**—यह उस जीव में पाया जाता है, जिसने पूर्वभव में उपशमश्रेणी की थी और ऐर्यापथिक कर्म बांधा था, वर्तमान में क्षपक श्रेणी में इसे बांधता है और फिर इसी भव में मोक्ष चला जाएगा, इसलिए आगामी काल में नहीं बांधेगा। ३. **तृतीय भंग—'बांधा था, नहीं बांधता है, बांधेगा'**—यह भंग उस जीव में पाया जाता है, जिसने पूर्वभव में उपशमश्रेणी की थी, उसमें बांधा था, वर्तमान भव में श्रेणी नहीं

करता, अतः यह कर्म नहीं बांधता और भविष्य में उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी करेगा, तब बांधेगा। ४. **चौथा भंग—'बांधा था, नहीं बांधेता है, नहीं बांधेगा'**, यह उस जीव में पाया जाता है, जो वर्तमान में चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान है। उसने गतकाल (पूर्वकाल) में बांधा था, वर्तमान में नहीं बांधता और भविष्यकाल में भी नहीं बांधेगा। ५. **पंचम भंग—'नहीं बांधा, बांधता है, बांधेगा-** यह उस जीव में पाया जाता है, जिसने पूर्वभव में उपशमश्रेणी नहीं की थी, अतः ऐर्यापथिक कर्म नहीं बांधा था, वर्तमान भव में उपशमश्रेणी में बांधता है, आगामी भव में उपशमश्रेणी या क्षपक-श्रेणी में बांधेगा। ६ **छठा भंग—'नहीं बांधा था, बांधता है, नहीं बांधेगा'** यह भंग उस जीव में पाया जाता है, जिसने पूर्वभव में उपशमश्रेणी नहीं की थी, अतः नहीं बांधा था, वर्तमानभव में क्षपकश्रेणी में बांधता है, इसी भव में मोक्ष चला जाएगा, इसलिए आगामी काल (भव) में नहीं बांधेगा। ७. **सप्तम भंग—'नहीं बांधा था, नहीं बांधता है, बांधेगा'**—यह भंग उस जीव में पाया जाता है, जो जीव भव्य है, किन्तु भूतकाल में उपशमश्रेणी नहीं की, इसलिए नहीं बांधा था, वर्तमानकाल में भी उपशमश्रेणी नहीं करता, इसलिए नहीं बांधता, किन्तु आगामीकाल में उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी करेगा, तब बांधेगा। ८. **अष्टमभंग-'नहीं बाँधा था, नहीं बांधता, नहीं बांधेगा**—यह भंग अभव्यजीव में पाया जाता है, जिसने पूर्वभव में ऐर्यापथिककर्म नहीं बांधा था, वर्तमान में नहीं बांधता और भविष्य में भी नहीं बांधेगा, क्योंकि अभव्य जीव ने उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी नहीं की, न करता है, और न ही करेगा। एक ही भव में ऐर्यापथिक कर्म पुद्गलों के ग्रहणरूप 'ग्रहणाकर्ष' की दृष्टि से—१. **प्रथमभंग**—उस जीव में पाया जाता है, जिसने इसी भव में भूतकाल में उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी के समय ऐर्यापथिककर्म बांधा था, वर्तमान में बांधता है, भविष्य में बांधेगा। २. **द्वितीयभंग**—तेरहवें गुणस्थान में एक समय शेष रहता है, उस समय पाया जाता है, क्योंकि उसने भूतकाल में बांधा था, वर्तमानकाल में बांधता है, और आगामीकाल में शैलेशी अवस्था में नहीं बांधेगा। ३. **तृतीयभंग**—का स्वामी वह जीव है, जो उपशमश्रेणी करके उससे गिर गया है। उसने उपशमश्रेणी के समय ऐर्यापथिक कर्म बांधा था, अब वर्तमान में नहीं बांधता और उसी भव में फिर उपशमश्रेणी करने पर बांधेगा; क्योंकि एक भव में एक जीव दो बार उपशमश्रेणी कर सकता है। ४. **चौथाभंग**—चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में पाया जाता है। सयोगीअवस्था में उसने ऐर्यापथिक कर्म बांधा था; किन्तु एक समय पश्चात् ही चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति हो जाने पर शैलेशी अवस्था में नहीं बांधता, तथा आगामीकाल में नहीं बांधेगा। ५. **पांचवांभंग**—उस जीव में पाया जाता है, जिसने आयुष्य के पूर्वभाग में उपशमश्रेणी आदि नहीं की, इसलिए नहीं बांधा, वर्तमान में श्रेणी प्राप्त की है, इसलिए बांधता है और भविष्य में भी बांधेगा। ६. **छठाभंग**—शून्य है। यह किसी भी जीव में नहीं पाया जाता, क्योंकि छठाभंग है—नहीं बांधा, बांधता है, नहीं बांधेगा। प्रथम की दो बातें तो किसी जीव में सम्भव हैं, लेकिन 'नहीं बांधेगा' यह बात एक ही भव में नहीं पाई जा सकती। ७. **सप्तमभंग**—भव्यविशेष की अपेक्षा से है। ८. **अष्टमभंग**—अभव्य की अपेक्षा से है।

ऐर्यापथिक कर्म-बन्ध-विकल्प चतुष्टय—यहाँ सादि-सान्त, सादि-अनन्त, अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त इन चार विकल्पों को लेकर ऐर्यापथिक कर्म-बंधकर्ता के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है, जिसके उत्तर में कहा गया है—प्रथम विकल्प—**सादि-सान्त** में ही ऐर्यापथिक कर्मबन्ध होता है, शेष तीन विकल्पों में नहीं।

जीव के साथ ऐर्यापथिक कर्मबन्धांश सम्बन्धी चार विकल्प—इसके पश्चात् चार-विकल्पों द्वारा ऐर्यापथिक कर्मबन्धांश सम्बन्धी प्रश्न उठाया गया है। उसका आशय यह है—(१) **देश से देश-बन्ध**—जीव-आत्मा के एक देश से, कर्म के एक देश का बन्ध, (२) **देश से सर्वबन्ध**—जीव के एक देश से सम्पूर्ण कर्म का बन्ध, (३) **सर्व से देशबन्ध**—सम्पूर्ण जीव प्रदेशों से कर्म के एक देश का बन्ध, और (४) **सर्व से सर्वबन्ध**—सम्पूर्ण-जीव प्रदेशों से सम्पूर्ण कर्म का बन्ध—इनमें से चौथे विकल्प से ऐर्यापथिककर्म का बन्ध होता है, क्योंकि जीव का ऐसा ही स्वभाव है, शेष तीन विकल्पों से जीव के साथ कर्म का बन्ध नहीं होता।

साम्परायिक कर्मबन्ध : स्वामी, कर्ता, बन्धकाल, बन्धविकल्प तथा बन्धांश-बन्धस्वामी—कषाय निमित्तक कर्मबन्धरूप साम्परायिक कर्मबन्ध के स्वामी के विषय में प्रथम प्रश्न में सात विकल्प उठाए गए हैं, उनमें से (१) नैरयिक, (२) तिर्यंच, (३) तिर्यंची, (४) देव और (५) देवी, ये पांच तो सकषायी होने से सदा साम्परायिकबन्धक होते हैं, (६) मनुष्य-नर और (७) मनुष्य-नारी ये दो सकषायी अवस्था में साम्परायिक-कर्मबन्धक होते हैं, अकषायी हो जाने पर साम्परायिकबन्धक नहीं होते।

बन्धकर्ता—द्वितीय प्रश्न में साम्परायिक कर्मबन्धकर्ता के विषय में एकत्वविवक्षित और बहुत्वविवक्षित स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि को लेकर सात विकल्प उठाए गए हैं, जिसके उत्तर में कहा गया है—एकत्वविवक्षित और बहुत्वविवक्षित स्त्री, पुरुष और नपुंसक, ये ६ सदैव साम्परायिक कर्मबन्धकर्ता होते हैं, क्योंकि ये सब सवेदी हैं। अवेदी कादाचित्क (कभी-कभी) पाया जाता है, इसलिए वह कदाचित् साम्परायिक कर्म बांधता है। तात्पर्य यह है—स्त्री आदि पूर्वोक्त छह साम्परायिक कर्म बांधते हैं, अथवा स्त्री आदि ६ और वेदरहित एक जीव (क्योंकि वेदरहित एक जीव भी पाया जाता है, इसलिए) साम्परायिक कर्म बांधते हैं, अथवा पूर्वोक्त स्त्री आदि छह और वेदरहित बहुत जीव (क्योंकि वेदरहित जीव बहुत भी पाए जा सकते हैं, इसलिए) साम्परायिक कर्म बांधते हैं। तीनों वेदों का उपशम या क्षय हो जाने पर भी जीव जब तक यथाख्यातचारित्र को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह वेदरहित जीव साम्परायिकबन्धक होता है। यहाँ पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की विवक्षा इसलिए नहीं की गई है कि दोनों में एकत्व और बहुत्व पाया जाता है, तथा वेदरहित हो जाने पर साम्परायिक बन्ध भी अल्पकालिक हो जाता है। साम्परायिक कर्मबन्धक के भी ऐर्यापथिक कर्मबन्धक की तरह २६ भंग होते हैं। वे पूर्ववत् समझ लेने चाहिए।

साम्परायिक कर्मबन्ध-सम्बन्धी त्रैकालिक विचार—काल की अपेक्षा ऐर्यापथिक कर्मबन्ध सम्बन्धी ८ भंग प्रस्तुत किये गए थे, लेकिन साम्परायिक कर्मबन्ध अनादि काल से है। इसलिए भूतकाल सम्बन्धी जो 'ण बन्धी—नहीं बांधा' इस प्रकार के ४ भंग हैं, वे इसमें नहीं बन सकते। जो ४ भंग बन सकते हैं, उनका आशय इस प्रकार है—१—**'प्रथम भंग—बांधा था, बांधता है, बांधेगा'**—यह भंग यथाख्यातचारित्र-प्राप्ति से दो समय पहले तक सर्वसंसारी जीवों में पाया जाता है, क्योंकि भूतकाल में उन्होंने साम्परायिक कर्म बांधा था, वर्तमान में बांधते हैं और भविष्य में भी यथाख्यात-चारित्र-प्राप्ति के पहले तक बांधेंगे। यह प्रथम भंग अभव्यजीव की अपेक्षा भी घटित हो सकता है। २—**द्वितीय भंग—बांधा था, बांधता है, नहीं बांधेगा**—यह भंग भव्य जीव की अपेक्षा से है। मोहनीय-कर्म के क्षय से पहले उसने साम्परायिक कर्म बांधा था, वर्तमान में बांधता है, और आगामीकाल में मोहक्षय की अपेक्षा नहीं बांधेगा। ३—**तृतीय भंग—बांधा था, नहीं बांधता, बांधेगा**—यह भंग उपशम-

श्रेणी प्राप्त जीव की अपेक्षा है। उपशमश्रेणी करने के पूर्व उसने साम्परायिक कर्म बांधा था, वर्तमान में उपशान्तमोह होने से नहीं बांधता और उपशम श्रेणी से गिर जाने पर आगामीकाल में पुन: बांधेगा। ४—**चतुर्थ भंग—'बांधा था, नहीं बांधता, नहीं बांधेगा'**—यह भंग क्षपकश्रेणी-प्राप्त क्षीण-मोह जीव की अपेक्षा से है। मोहनीयकर्मक्षय के पूर्व उसने साम्परायिक कर्म बांधा था, वर्तमान में मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से नहीं बांधता और तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त हो जाने से आगामी काल में नहीं बांधेगा।[1]

साम्परायिक कर्मबन्धक के विषय में सादि-सान्त आदि ४ विकल्प—पूर्ववत् सादि-सपर्यवसित (सान्त) आदि ४ विकल्पों को लेकर साम्परायिक कर्मबन्ध के विषय में प्रश्न उठाया गया है। इन चार भंगों में से सादि-अपर्यवसित-(अनन्त) को छोड़ कर शेष प्रथम, तृतीय और चतुर्थ भंगों से जीव साम्परायिक कर्म बांधता है। जो जीव उपशम श्रेणी से गिर गया है और आगामी काल में पुन: उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी को अंगीकार करेगा, उसकी अपेक्षा **प्रथम भंग** घटित होता है। जो जीव प्रारम्भ में ही क्षपकश्रेणी करने वाला है, उसकी अपेक्षा **अनादि-सपर्यवसित** नामक **तृतीय भंग** घटित होता है, तथा अभव्य जीव की अपेक्षा **अनादि-अपर्यवसित** नामक **चतुर्थ भंग** घटित होता है। **सादि-अपर्यवसित** नामक दूसरा भंग किसी भी जीव में घटित नहीं होता। यद्यपि उपशमश्रेणी से भ्रष्ट जीव सादिसाम्परायिकबन्धक होता है, किन्तु वह कालान्तर में अवश्य मोक्षगामी होता है, उस समय उसमें साम्परायिक कर्म का व्यवच्छेद हो जाता है, इसलिए अन्तरहितता उसमें घटित नहीं होती।[2]

बावीस परीषहों का अष्टविध कर्मों में समवतार तथा सप्तविधबन्धकादि के परीषहों की प्ररूपणा—

२३. कइ णं भंते ! कम्मपयडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपयडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[२३ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियां कितनी कही गई हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियां आठ कही गई हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय।

२४. कइ णं भंते ? परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बावीसं परीसहा पण्णत्ता, तं जहा—दिगिछापरीसहे १, पिवासापरीसहे २, जाव दंसणपरीसहे २२।

[२४ प्र.] भगवन् ! परीषह कितने कहे गए हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! परीषह बावीस कहे गए हैं। वे इस प्रकार—१. क्षुधा-परीषह, २. पिपासा-परीषह यावत् २२—दर्शन-परीषह।

२५. एए णं भंते ! बावीसं परीसहा कतिसु कम्मपगडीसु समोयरंति ?

गोयमा ! चउसु कम्मपयडीसु समोयरंति, तं जहा—नाणावरणिज्जे, वेयणिज्जे, मोहणिज्जे, अंतराइए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८५ से ३८७ तक

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८८

[२५ प्र.] भगवन् ! इन बावीस परीषहों का किन कर्मप्रकृतियों में समवतार (समावेश) हो जाता है ?

[२५ उ.] गौतम ! चार कर्मप्रकृतियों में इन २२ परीषहों का समवतार होता है। वे इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय।

२६. नाणावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! दो परीसहा समोयरंति, तं जहा—पण्णापरीसहे नाणपरीसहे (अन्नाण परीसहे) य।

[२६ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म में कितने परीषहों का समवतार होता है ?

[२६ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म में दो परीषहों का समवतार होता है। यथा—प्रज्ञा-परीषह और ज्ञानपरीषह (अज्ञानपरीषह)।

२७. वेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! एक्कारस परीसहा समोयरंति, तं जहा—

पंचेव आणुपुव्वी, चरिया, सेज्जा, वहे य, रोगे य।
तणफास जल्लमेव य एक्कारस वेदणिज्जम्मि ॥१॥

[२७ प्र.] भगवन् ! वेदनीय कर्म में कितने परीषहों का समवतार होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! वेदनीय कर्म में ग्यारह परीषहों का समवतार होता है। वे इस प्रकार हैं—अनुक्रम से पहले के पांच परीषह (क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, उष्णपरीषह और दंश-मशकपरीषह), चर्यापरीषह, शय्यापरीषह, वधपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह और जल्ल (मल) परीषह। इन ग्यारह परीषहों का समवतार वेदनीय कर्म में होता है।

२८. [१] दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! एगे दंसणपरीसहे समोयरइ।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! दर्शन-मोहनीय कर्म में कितने परीषहों का समवतार होता है ?

[२८-१ उ.] गौतम ! दर्शनमोहनीय कर्म में एक दर्शनपरीषह का समवतार होता है।

[२] चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! सत्त परीसहा समोयरंति, तं जहा—

अरती अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे।
सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहम्मि सत्तेते ॥२॥

[२८-२ प्र.] भगवन् ! चारित्रमोहनीय कर्म में कितने परीषहों का समवतार होता है ?

[२८-२ उ.] गौतम ! चारित्रमोहनीय कर्म में सात परीषहों का समवतार होता है। वह इस प्रकार—अरतिपरीषह, अचेलपरीषह, स्त्रीपरीषह, निषद्यापरीषह, याचनापरीषह, आक्रोश-परीषह और सत्कार-पुरस्कारपरीषह। इन सात परीषहों का समवतार चारित्रमोहनीय कर्म में होता है।

२९. अंतराइए णं भंते ! कम्मे कति परीसहा समोयरंति ?

गोयमा ! एगे अलाभपरीसहे समोयरइ ।

[२९ प्र.] भगवन् ! अन्तरायकर्म में कितने परीषहों का समवतार होता है ?

[२९ उ.] गौतम ! अन्तरायकर्म में एक अलाभपरीषह का समवतार होता है ।

३०. सत्तविहबंधगस्स णं भंते ! कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बावीसं परीसहा पण्णत्ता, वीसं पुण वेदेइ—जं समयं सीयपरीसहं वेदेति णो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ णो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ । जं समयं चरियापरीसहं वेदेति णो तं समयं निसीहियापरीसहं वेदेति, जं समयं निसीहियापरीसहं वेदेइ णो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ ।

[३० प्र.] भगवन् ! सप्तविधबन्धक (सात प्रकार के कर्मों को बांधने वाले) जीव के कितने परीषह बताए गए हैं ?

[३० उ.] गौतम ! उसके बावीस परीषह कहे गए हैं । परन्तु वह जीव एक साथ बीस परीषहों का वेदन करता है; क्योंकि जिस समय वह शीतपरीषह वेदता है, उस समय उष्णपरीषह का वेदन नहीं करता; और जिस समय उष्णपरीषह का वेदन करता है, उस समय शीतपरीषह का वेदन नहीं करता । तथा जिस समय चर्यापरीषह का वेदन करता है, उस समय निषद्यापरीषह का वेदन नहीं करता और जिस समय निषद्यापरीषह का वेदन करता है, उस समय चर्यापरीषह का वेदन नहीं करता ।

३१. अट्ठविहबंधगस्स णं भंते ! कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बावीसं परीसहा पण्णत्ता० एवं (सु. ३०) अट्ठविहबंधगस्स ।

[३१ प्र.] भगवन् ! आठ प्रकार कर्म बाँधने वाले जीव के कितने परीषह कहे गए हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! उसके बावीस परीषह कहे गए हैं । यथा—क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, दंशमशक-परीषह यावत् अलाभपरीषह । किन्तु वह एक साथ बीस परीषहों को वेदता है । जिस प्रकार सप्तविधबन्धक के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार (सू. ३० के अनुसार) अष्ट-विधबन्धक के विषय में भी कहना चाहिए ।

३२. छव्विहबंधगस्स णं भंते ! सरागछउमत्थस्स कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चोद्दस परीसहा पण्णत्ता, बारस पुण वेदेइ—जं समयं सीयपरीसहं वेदेइ णो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ नो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ । जं समयं चरियापरीसहं वेदेति णो तं समयं सेज्जापरीसहं वेदेइ, जं समयं सेज्जापरीसहं वेदेति णो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ ।

[३२ प्र.] भगवन् ! छह प्रकार के कर्म बांधने वाले सराग छद्मस्थ जीव के कितने परीषह कहे गए हैं ?

[३२ उ.] गौतम ! उसके चौदह परीषह कहे गए हैं; किन्तु वह एक साथ बारह परीषह वेदता है। जिस समय शीतपरीषह वेदता है, उस समय उष्णपरीषह का वेदन नहीं करता; और जिस समय उष्णपरीषह का वेदन करता है, उस समय शीतपरीषह का वेदन नहीं करता। जिस समय चर्यापरीषह का वेदन करता है, उस समय शय्यापरीषह का वेदन नहीं करता; और जिस समय शय्यापरीषह का वेदन करता है, उस समय चर्यापरीषह का वेदन नहीं करता।

३३. [१] एक्कविहबंधगस्स णं भंते ! वीयरागछउमत्थस्स कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एवं चेव जहेव छव्विहबंधगस्स।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! एकविधबन्धक वीतराग-छद्मस्थ जीव के कितने परीषह कहे गए हैं ?

[३३-१ उ.] गौतम ! षड्विधबन्धक के समान इसके भी चौदह परीषह कहे गए हैं, किन्तु वह एक साथ बारह परीषहों का वेदन करता है। जिस प्रकार षड्विधबन्धक के विषय में कहा है, उसी प्रकार एकविधबन्धक के विषय में समझना चाहिए।

[२] एगविहबंधगस्स णं भंते ! सजोगिभवत्थकेवलिस्स कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एक्कारस परीसहा पण्णत्ता, नव पुण वेदेइ। सेसं जहा छव्विहबंधगस्स।

[३३-२ प्र.] भगवन् ! एकविधबन्धक सयोगी-भवस्थ केवली के कितने परीषह कहे गए हैं ?

[३३-२ उ.] गौतम ! इसके ग्यारह परीषह कहे गए हैं, किन्तु वह एक साथ नौ परीषहों का वेदन करता है। शेष समग्र कथन षड्विधबन्धक के समान समझ लेना चाहिए।

३४. अबंधगस्स णं भंते ! अजोगिभवत्थकेवलिस्स कति परीसहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एक्कारस परीसहा पण्णत्ता, नव पुण वेदेइ, जं समयं सीयपरीसहं वेदेति नो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेदेति नो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ। जं समयं चरिया-परीसहं वेदेइ नो तं समयं सेज्जापरीसहं वेदेति, जं समयं सेज्जापरीसहं वेदेइ नो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ।

[३४-प्र.] भगवन् ! अबन्धक अयोगी-भवस्थ-केवली के कितने परीषह कहे गए हैं ?

[३४ उ.] गौतम ! उसके ग्यारह परीषह कहे गए हैं। किन्तु वह एक साथ नौ परीषहों का वेदन करता है। क्योंकि जिस समय शीतपरीषह का वेदन करता है, उस समय उष्णपरीषह का वेदन नहीं करता; और जिस समय उष्णपरीषह का वेदन करता है, उस समय शीतपरीषह का वेदन नहीं करता। जिस समय चर्या-परीषह का वेदन करता है, उस समय शय्या-परीषह का वेदन नहीं करता और जिस समय शय्या-परीषह का वेदन करता है, उस समय चर्या-परीषह का वेदन नहीं करता।

विवेचन—बावीस परीषहों की अष्टकर्मों में समावेश की तथा सप्तविधबन्धक आदि के परीषहों की प्ररूपणा—प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. २३ से ३४ तक) में बावीस परीषहों के सम्बन्ध में दो तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) किस कर्म में कितने परीषहों का समावेश होता है ? अर्थात् किस-किस

कर्म के उदय से कौन-कौन से परीषह उत्पन्न होते हैं ? तथा (२) सप्तविधवन्धक, षड्विधवन्धक, अष्टविधवन्धक, एकविधवन्धक और अवन्धक आदि में कितने-कितने परीपहों की सम्भावना है।

परीषह : स्वरूप और प्रकार—आपत्ति आने पर भी संयममार्ग से भ्रष्ट न होने, तथा उसमें स्थिर रहने के लिए एवं कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक, मानसिक कष्ट साधु, साध्वियों को सहन करने चाहिए, वे **'परीषह'** कहलाते हैं। ऐसे परीषह २२ हैं। यथा—(१) **क्षुधापरीषह**—भूख का कष्ट सहना, संयममर्यादानुसार एषणीय, कल्पनीय निर्दोष आहार न मिलने पर जो क्षुधा का कष्ट सहना होता है, उसे क्षुधापरीषह कहते हैं। (२) **पिपासापरीषह**—प्यास का परीपह, (३) **शीतपरीषह**—ठंड का परीषह, (४) **उष्णपरीषह**—गर्मी का परीषह (५) **दंश-मशक-परीषह**—डांस, मच्छर, खटमल, जूं, चींटी आदि का परीषह, (६) **अचेलपरीषह**—वस्त्राभाव, वस्त्र की अल्पता या जीर्णशीर्ण, मलिन आदि अपर्याप्त वस्त्रों के सद्भाव में होने वाला परीपह, (७) **अरतिपरीषह**—संयममार्ग में कठिनाइयाँ, असुविधाएँ, एवं कष्ट आने पर अरति-अरुचि या उदासी या उद्विग्नता से होने वाला कष्ट, (८) **स्त्रीपरीषह**—स्त्रियों से होने वाला कष्ट, साध्वियों के लिए पुरुषों से होने वाला कष्ट, (यह अनुकूल परीषह है।) (९) **चर्यापरीषह**—ग्राम, नगर आदि के विहार से या पैदल चलने से होने वाला कष्ट, (१०) **निषद्या या निशीथिका परीषह**—स्वाध्याय आदि करने की भूमि में तथा सूने घर आदि में ठहरने से होने वाले उपद्रव का कष्ट, (११) **शय्या-परीषह**—रहने के (आवास-) स्थान की प्रतिकूलता से होने वाला कष्ट, (१२) **आक्रोशपरीषह**—कठोर, धमकीभरे वचन, या डाट-फटकार से होने वाला, (१३) **वधपरीषह**—मारने-पीटने आदि से होने वाला कष्ट, (१४) **याचनापरीषह**—भिक्षा माँग कर लाने में होने वाला मानसिक कष्ट, (१५) **अलाभ-परीषह**—भिक्षा आदि न मिलने पर होने वाला कष्ट, (१६) **रोगपरीषह**—रोग के कारण होने वाला कष्ट, (१७) **तृणस्पर्शपरीषह**—घास के बिछौने पर सोने से शरीर में चुभने से या मार्ग में चलते समय तृणादि पैर में चुभने से होने वाला कष्ट, (१८) **जल्लपरीषह**—कपड़ों या तन पर मैल, पसीना आदि जम जाने से होने वाली ग्लानि, (१९) **सत्कार-पुरस्कारपरीषह**—जनता द्वारा सम्मान-सत्कार, प्रतिष्ठा, यश, प्रसिद्धि आदि न मिलने से होने वाला मानसिक खेद अथवा सत्कार-सम्मान मिलने पर गर्व अनुभव करना, (२०) **प्रज्ञापरीषह**—प्रखर अथवा विशिष्टबुद्धि का गर्व करना, (२१) **ज्ञान या अज्ञान परीषह**—विशिष्ट ज्ञान होने पर उसका अहंकार करना, ज्ञान (बुद्धि) की मन्दता होने से मन में दैन्यभाव आना, और (२२) **अदर्शन या दर्शन परीषह**—दूसरे मत वालों की ऋद्धि-वृद्धि एवं चमत्कार-आडम्बर आदि देख कर सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त से विचलित होना या सर्वज्ञोक्त तत्त्वों के प्रति शंकाग्रस्त होना। **चार कर्मों में बावीस परीषहों का समावेश**—कर्म प्रकृतियां मूलतः आठ हैं। उनमें से ४ कर्मों—ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय में २२ परीषहों का समावेश होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन चार कर्मों के उदय से पूर्वोक्त २२ परीपह उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञापरीषह और ज्ञान या अज्ञान परीषह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होते हैं। वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा आदि ११ परीषह होते हैं। इन परीषहों के कारण पीड़ा उत्पन्न होना—वेदनीय कर्म का उदय है। मोहनीय कर्म के उदय से ८ परीषह होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन या दर्शन परीषह और चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अरति, अचेल आदि ७ परीपह होते हैं और अन्तरायकर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है।

सप्तविध आदि बन्धक के साथ परीषहों का साहचर्य—आयुकर्म को छोड़कर शेष ७ अथवा आयुबंधकाल में ८ कर्मों को बांधने वाले जीव के सभी २२ परीषह हो सकते हैं; किन्तु ये वेदते हैं—

अधिक-से-अधिक एक साथ बीस परीषह, क्योंकि शीत और उष्ण, चर्या और निषद्या अथवा चर्या और शय्या ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने से एक का ही एक समय में अनुभव होता है। षड्विधबन्धक सराग छद्मस्थ के १४ परीषह बताए गए हैं। वे मोहनीय कर्मजन्य ८ परीषहों के सिवाय समझने चाहिए। किन्तु उनमें वेदन हो सकता है १२ परीषहों का ही। पूर्वोक्त रीति से चर्या और शय्या, या चर्या और निषद्या अथवा शीत और उष्ण दोनों का एक साथ वेदन नहीं होता। एक वेदनीय कर्म के बन्धक छद्मस्थ वीतराग (ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती) जीव के भी १४ परीषह मोहनीयकर्म के ८ परीषहों को छोड़ कर) होते हैं, किन्तु वे वेदते हैं अधिक-से-अधिक १२ परीषह ही। तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी भवस्थ केवली एकविध बन्धक के और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अबन्धक अयोगी भवस्थ केवली के एकमात्र वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले ११ परीषह (जो कि पहले बताए गए हैं) होते हैं, किन्तु उनमें से एक साथ ९ का ही वेदन पूर्वोक्त रीत्या संभव है।[1]

उदय, अस्त और मध्याह्न के समय में सूर्यों की दूरी और निकटता के प्रतिभास आदि की प्ररूपणा—

३५. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति, मज्झंतिय-मुहुत्तंसि मूले य दूरे य दीसंति, अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति ?

हंता, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे य तं चेव जाव अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति।

[३५ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में क्या दो सूर्य, उदय के मुहूर्त्त (समय) में दूर होते हुए भी निकट (मूल में) दिखाई देते हैं, मध्याह्न के मुहूर्त्त (समय) में निकट (मूल) में होते हुए दूर दिखाई देते हैं और अस्त होने के मुहूर्त्त (समय) में दूर होते हुए भी निकट (मूल में) दिखाई भी देते हैं ?

[३५ उ.] हाँ, गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो सूर्य, उदय के समय दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं, इत्यादि यावत् अस्त होने के समय में दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं।

३६. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि य मज्झंतियमुहुत्तंसि य, अत्थमण-मुहुत्तंसि य सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं ?

हंता, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उग्गमण जाव उच्चत्तेणं।

[३६ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में दो सूर्य, उदय के समय में, मध्याह्न के समय में और अस्त होने के समय में क्या सभी स्थानों पर (सर्वत्र) ऊँचाई में सम हैं ?

[३६ उ.] हाँ, गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में रहे हुए दो सूर्य ··· यावत् सर्वत्र ऊँचाई में सम हैं।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३८९ से ३९२ तक
(ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ९

३७. जइ णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि य मज्झंतियमुहुत्तंसि य अत्थमण-मुहुत्तंसि जाव उच्चत्तेणं से केणं खाइ-अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उग्गमण-मुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति जाव अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति ?

गोयमा ! लेसापडिघाएणं उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति, लेसाभितावेणं मज्झंतिय-मुहुत्तंसि मूले य दूरे य दीसंति, लेस्सापडिघाएणं अत्थमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उग्गमणमुहुत्तंसि दूरे य मूले य दीसंति जाव अत्थमण जाव दीसंति ।

[३७ प्र.] भगवन् ! यदि जम्बूद्वीप में दो सूर्य, उदय के समय, मध्याह्न के समय और अस्त के समय सभी स्थानों पर (सर्वत्र) ऊँचाई में समान हैं तो ऐसा क्यों कहते हैं, कि जम्बूद्वीप में दो सूर्य उदय के समय दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं, यावत् अस्त के समय में दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं ?

[३७ उ.] गौतम ! लेश्या (तेज) के प्रतिघात से सूर्य उदय के समय दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं। मध्याह्न में लेश्या (तेज) के अभिताप से पास होते हुए भी दूर दिखाई देते हैं और अस्त के समय तेज के प्रतिघात से दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं। इस कारण से, हे गौतम ! मैं कहता हूँ कि जम्बूद्वीप में दो सूर्य, उदय के समय दूर होते हुए भी पास में दिखाई देते हैं, यावत् अस्त के समय दूर होते हुए भी निकट दिखाई देते हैं।

३८. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरिया किं तीयं खेत्तं गच्छंति, पडुप्पन्नं खेत्तं गच्छंति, अणागयं खेत्तं गच्छंति ?

गोयमा ! णो तीयं खेत्तं गच्छंति, पडुप्पन्नं खेत्तं गच्छंति, णो अणागयं खेत्तं गच्छंति ।

[३८ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में दो सूर्य, क्या अतीत क्षेत्र की ओर जाते हैं, वर्तमान क्षेत्र की ओर जाते हैं, अथवा अनागत क्षेत्र की ओर जाते हैं ?

[३८ उ] गौतम ! वे अतीत क्षेत्र की ओर नहीं जाते, अनागत क्षेत्र की ओर भी नहीं जाते, वर्तमान क्षेत्र की ओर जाते हैं।

३९. जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया किं तीयं खेत्तं ओभासंति, पडुप्पन्नं खेत्तं ओभासंति, अणागयं खेत्तं ओभासंति ?

गोयमा ! नो तीयं खेत्तं ओभासंति, पडुप्पन्नं खेत्तं ओभासंति, नो अणागयं खेत्तं ओभासंति ।

[३९ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में दो सूर्य, क्या अतीत क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं, वर्तमान क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं या अनागत क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं ?

[३९ उ.] गौतम ! वे अतीत क्षेत्र को प्रकाशित नहीं करते, और न अनागत क्षेत्र को ही प्रकाशित करते हैं, किन्तु वर्तमान क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं।

४०. तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासंति, अपुट्ठं ओभासंति ?

गोयमा ! पुट्ठं ओभासंति, नो अपुट्ठं ओभासंति जाव नियमा छद्दिसिं ।

[४० प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में दो सूर्य, स्पृष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं, अथवा अस्पृष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं ?

[४० उ.] गौतम ! वे स्पृष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं, अस्पृष्ट क्षेत्र को प्रकाशित नहीं करते; यावत् नियमतः छहों दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।

४१. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरिया किं तीयं खेत्तं उज्जोवेंति ?

एवं चेव जाव नियमा छद्दिसिं।

[४१ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में दो सूर्य, क्या अतीत क्षेत्र को उद्योतित करते हैं ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[४१ उ.] गौतम ! इस विषय में पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए; यावत् नियमतः छह दिशाओं को उद्योतित करते हैं।

४२. एवं तवेंति, एवं भासंति जाव नियमा छद्दिसिं।

[४२] इसी प्रकार तपाते हैं; यावत् छह दिशा को नियमतः प्रकाशित करते हैं।

४३. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरियाणं किं तीए खेत्ते किरिया कज्जइ, पडुप्पन्ने खित्ते किरिया कज्जइ, अणागए खेत्ते किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! नो तीए खेत्ते किरिया कज्जइ, पडुप्पन्ने खेत्ते किरिया कज्जइ, णो अणागए खेत्ते किरिया कज्जइ।

[४३ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में सूर्यों की क्रिया क्या अतीत क्षेत्र में की जाती है ? वर्तमान क्षेत्र में ही की जाती है अथवा अनागत क्षेत्र में की जाती है ?

[४३ उ.] गौतम ! अतीत क्षेत्र में क्रिया नहीं की जाती, और न अनागत क्षेत्र में क्रिया की जाती है, किन्तु वर्तमान क्षेत्र में क्रिया की जाती है।

४४. सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति, अपुट्ठा कज्जइ ?

गोयमा ! पुट्ठा कज्जइ, नो अपुट्ठा कज्जति जाव नियमा छद्दिसिं।

[४४ प्र.] भगवन् ! वे सूर्य स्पृष्ट क्रिया करते हैं या अस्पृष्ट ?

[४४ उ.] गौतम ! वे स्पृष्ट क्रिया करते हैं, अस्पृष्ट क्रिया नहीं करते; यावत् नियमतः छहों दिशाओं में स्पृष्ट क्रिया करते हैं।

४५. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे सूरिया केवतियं खेत्तं उड्ढं तवंति, केवतियं खेत्तं अहे तवंति, केवतियं खेत्तं तिरियं तवंति ?

गोयमा ! एगं जोयणसयं उड्ढं तवंति, अट्ठारस जोयणसयाइं अहे तवंति, सीयालीसं जोयणसहस्साइं दोण्णि तेवट्ठे जोयणसए एक्कवीसं च सट्ठिभाए जोयणस्स तिरियं तवंति।

[४५ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप में सूर्य कितने ऊँचे क्षेत्र को तपाते हैं, कितने नीचे क्षेत्र को तपाते हैं, और कितने तिरछे क्षेत्र को तपाते हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! वे सौ योजन ऊँचे क्षेत्र को तप्त करते हैं, अठारह सौ योजन नीचे के क्षेत्र को तप्त करते हैं, और सैंतालीस हजार दो सौ तिरसठ योजन तथा एक योजन के साठिया इक्कीस भाग (४७२६३ $\frac{२१}{६०}$) तिरछे क्षेत्र को तप्त करते हैं।

विवेचन—उदय, अस्त और मध्याह्न के समय में सूर्यों की दूरी और निकटता के प्रतिभास आदि की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (सू. ३५ से ४५ तक) में जम्बूद्वीपस्थ सूर्य-सम्बन्धी दूरी और निकटता आदि निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया गया है—

१—सूर्य उदय और अस्त के समय दूर होते हुए भी निकट तथा मध्याह्न में निकट होते हुए भी दूर दिखाई देते हैं।

२—उदय, अस्त और मध्याह्न के समय सूर्य ऊँचाई में सर्वत्र समान होते हुए भी लेश्या (तेज) के अभिताप से उदय-अस्त के समय दूर होते हुए भी निकट तथा मध्याह्न में निकट होते हुए भी दूर दिखाई देते हैं।

३—दो सूर्य, अतीत-अनागत क्षेत्र को नहीं, किन्तु वर्तमान क्षेत्र को प्रकाशित और उद्योतित करते हैं। वे अतीत-अनागत क्षेत्र की ओर नहीं, वर्तमान क्षेत्र की ओर जाते हैं।

४—वे स्पृष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं, अस्पृष्ट क्षेत्र को नहीं; यावत् नियमतः छहों दिशाओं को प्रकाशित तथा उद्योतित करते हैं।

५—सूर्यों की क्रिया अतीत-अनागत क्षेत्र में नहीं, वर्तमान क्षेत्र में की जाती है।

६—वे स्पृष्ट क्रिया करते हैं, अस्पृष्ट नहीं, यावत् छहों दिशाओं में स्पृष्ट क्रिया करते हैं।

७—वे सूर्य सौ योजन ऊँचे क्षेत्र को, १८०० योजन नीचे के क्षेत्र को, तथा ४७२६३ $\frac{२१}{६०}$ योजन तिरछे क्षेत्र को तप्त करते हैं।

सूर्य के दूर और निकट दिखाई देने के कारण का स्पष्टीकरण—सूर्य समतल भूमि से ८०० योजन ऊँचा है, किन्तु उदय और अस्त के समय देखने वालों को अपने स्थान की अपेक्षा निकट दृष्टिगोचर होता है, इसका कारण यह है कि उस समय उसका तेज मन्द होता है। मध्याह्न के समय देखने वालों को अपने स्थान की अपेक्षा दूर मालूम होता है, इसका कारण यह है कि उस समय उसका तीव्र तेज होता है। इन्हीं कारणों से सूर्य निकट और दूर दिखाई देता है। अन्यथा उदय, अस्त और मध्याह्न के समय सूर्य तो समतलभूमि से ८०० योजन ही दूर रहता है।

सूर्य की गति : अतीत, अनागत या वर्तमान क्षेत्र में ?—यहाँ क्षेत्र के साथ अतीत, अनागत और वर्तमान विशेषण लगाए गए हैं। जो क्षेत्र अतिक्रान्त हो गया है, अर्थात्—जिस क्षेत्र को सूर्य पार कर गया है, उसे **'अतीतक्षेत्र'** कहते हैं। जिस क्षेत्र में सूर्य अभी गति कर रहा है, उसे **'वर्तमानक्षेत्र'** कहते हैं, और जिस क्षेत्र में सूर्य गमन करेगा, उसे **'अनागतक्षेत्र'** कहते हैं। सूर्य न अतीत क्षेत्र में गमन करता है, न ही अनागतक्षेत्र में गमन करता है, क्योंकि अतीत क्षेत्र अतिक्रान्त हो चुका है और अनागतक्षेत्र अभी आया नहीं है, इसलिए वह वर्तमान क्षेत्र में ही गति करता है।

सूर्य किस क्षेत्र को प्रकाशित, उद्योतित और तप्त करता है ?—सूर्य अतीत और अनागत तथा अस्पृष्ट और अनवगाढ़ क्षेत्र को प्रकाशित, उद्योतित और तप्त नहीं करता, परन्तु वर्तमान, स्पृष्ट और अवगाढ़ क्षेत्र को प्रकाशित, उद्योतित और तप्त करता है; अर्थात्—इसी क्षेत्र में क्रिया करता है, अतीत, अनागत आदि में नहीं।

सूर्य की ऊपर, नीचे और तिरछे प्रकाशित आदि करने की सीमा—सूर्य अपने विमान से सौ योजन ऊपर (ऊर्ध्व) क्षेत्र को तथा ८०० योजन नीचे के समतल भूभाग से भी हजार योजन नीचे अधोलोक ग्राम तक नीचे के क्षेत्र को और सर्वोत्कृष्ट (सबसे बड़े) दिन में चक्षु:स्पर्श की अपेक्षा ४७२६३ २१/६० योजन तक तिरछे क्षेत्र को उद्योतित, प्रकाशित और तप्त करते हैं।[1]

मानुषोत्तरपर्वत के अन्दर-बाहर के ज्योतिष्क देवों और इन्द्रों का उपपात-विरहकाल—

४६. अंतो णं भंते ! माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स जे चंदिम-सूरिय-गहगण-णक्खत्त-ताराख्वा ते णं भंते ! देवा किं उड्ढोववन्नगा ?

जहा जीवाभिगमे तहेव निरवसेसं जाव उक्कोसेणं छम्मासा।

[४६ प्र.] भगवन् ! मानुषोत्तरपर्वत के अन्दर जो चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप देव हैं, वे क्या ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न हुए हैं ?

[४६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार जीवाभिगम सूत्र में कहा गया है, उसी प्रकार यावत्—'उनका उपपात-विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है'; यहाँ तक कहना चाहिए।

४७. बहिया णं भंते ! माणुसुत्तरस्स० जहा—जीवाभिगमे जाव इंदट्ठाणे णं भंते ! केवतियं कालं उववाएणं विरहिए पन्नत्ते ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठमसए : अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[४७ प्र.] भगवन् ! मानुषोत्तरपर्वत के बाहर जो चन्द्रादि देव हैं, वे ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न हुए हैं ?

[४७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार जीवाभिगमसूत्र में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी यावत्—'[प्र.] भगवन् ! इन्द्रस्थान कितने काल तक उपपात-विरहित कहा गया है ? [उ.] गौतम ! जघन्यत: एक समय, उत्कृष्टत: छह मास बाद दूसरा इन्द्र उस स्थान पर उत्पन्न होता है। इतने काल तक इन्द्रस्थान उपपात-विरहित होता है';—यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३९३

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ टिप्पणयुक्त), पृ. ३७७-३७८

विवेचन—मानुषोत्तरपर्वत के अन्दर-बाहर के ज्योतिष्क देवों एवं इन्द्रों का उपपातविरह-काल—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र में मानुषोत्तर-पर्वत के अन्दर के ज्योतिष्क देवों एवं इन्द्रों के उपपातविरहकाल का और द्वितीयसूत्र में मानुषोत्तरपर्वत के वाहर के ज्योतिष्कदेवों एवं इन्द्रों के उपपातविरहकाल का जीवाभिगमसूत्र के अतिदेशपूर्वक निरूपण है।[1]

।। अष्टमशतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ३७८-३७९.

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३९३-३९४

(ग) जीवाभिगमसूत्र, प्रतिपत्ति ३, पत्रांक ३४५-३४६ (आगमोदय.)

(I) '(प्र.)····कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा चारोववन्नगा चारट्ठिइया गइरइया गइसमावन्नगा ? (उ.) *गोयमा !* ते णं देवा नो उड्ढोववन्नगा, नो कप्पोववन्नगा, विमाणोववन्नगा, चारोववन्नगा, नो चारट्ठिइया, गइरइया गइसमावन्नगा' इत्यादि।

(II) (प्र.) इंदट्ठाणे णं भंते ! केवइयं कालं विरहिए उववाएणं ?, (उ.) गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मास त्ति।'

(III) '····(प्र.)····जे चन्दिम.····तेणं भंते ! किं उड्ढोववन्नगा ? (उ.) गोयमा ! ते णं देवा नो उड्ढोववन्नगा, नो कप्पोववन्नगा, विमाणोववन्नगा, नो चारोववन्नगा चारट्ठिइया, नो गइरइया, नो गइसमावन्नगा' इत्यादि।

नवमो उद्देसओ : 'बंध'

नवम उद्देशक : 'बन्ध'

बन्ध के दो प्रकार : प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध—

१. कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा—पयोगबंधे य, वीससीबंधे य।

[१ प्र.] भगवन् ! बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! बन्ध दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध।

विवेचन—बन्ध के दो प्रकार : प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध—प्रयोगबन्ध—जो जीव के प्रयोग से अर्थात् मन, वचन और कायारूप योगों की प्रवृत्ति से बन्धता है। **विस्रसाबन्ध**—जो स्वाभाविक रूप से बन्धता है। बन्ध का अर्थ यहाँ पुद्गलादिविषयक सम्बन्ध है।[1]

विस्रसाबन्ध के भेद-प्रभेद और स्वरूप—

२. वीससाबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—साईयवीससाबंधे य अणाईयवीससाबंधे य।

[२ प्र.] भगवन् ! विस्रसाबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) सादिक विस्रसाबन्ध और (२) अनादिक विस्रसाबन्ध।

३. अणाईयवीससाबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—धम्मत्थिकायअन्नमन्नअणादीयवीससाबंधे, अधम्मत्थिकाय-अन्नमन्नअणादीयवीससाबंधे, आगासत्थिकायअन्नमन्नअणादीयवीससाबंधे।

[३ प्र.] भगवन् ! अनादिक विस्रसाबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) धर्मास्तिकाय का अन्योन्य अनादिक विस्रसाबन्ध (२) अधर्मास्तिकाय का अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध, और (३) आकाशास्तिकाय का अन्योन्य अनादिक विस्रसाबन्ध।

४. धम्मत्थिकायअन्नमन्नअणादीयवीससाबंधे णं भंते ! किं देसबंधे सव्वबंधे ?

गोयमा ! देसबंधे, नो सव्वबंधे।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३९४

[४ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय का अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध क्या देशबन्ध है या सर्वबन्ध है ?

[४ उ.] गौतम ! वह देशबन्ध है, सर्वबन्ध नहीं ।

५. एवं अधम्मत्थिकायअन्नमन्नअणादीयवीससाबंधे वि, एवं आगासत्थिकायअन्नमन्नअणादीय-वीससाबंधे वि ।

[५] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध एवं आकाशास्तिकाय के अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध के विषय में भी समझ लेना चाहिए। (अर्थात्—ये भी देशबन्ध हैं, सर्वबन्ध नहीं ।)

६. धम्मत्थिकायअन्नमन्नअणाईयवीससाबंधे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[६ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय का अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध कितने काल तक रहता है ?

[६ उ.] गौतम ! सर्वाद्धा (सर्वकाल=सर्वदा) रहता है ।

७. एवं अधम्मत्थिकाए, एवं आगासत्थिकाये ।

[७] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय का अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध एवं आकाशास्तिकाय का अन्योन्य-अनादि-विस्रसाबन्ध भी सर्वकाल रहता है ।

८. सादीयवीससाबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—बंधणपच्चइए भायणपच्चइए परिणामपच्चइए ।

[८ प्र.] भगवन् ! सादिक-विस्रसाबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है। जैसे—(१) बन्धन-प्रत्ययिक, (२) भाजनप्रत्ययिक और (३) परिणामप्रत्ययिक ।

९. से किं तं बंधणपच्चइए ?

बंधणपच्चइए, जं णं परमाणुपुग्गला दुपएसिय-तिपएसिय-जाव-दसपएसिय-संखेज्जपएसिय-असंखेज्जपएसिय-अणंतपएसियाणं खंधाणं वेमायनिद्धयाए वेमायलुक्खयाए वेमायनिद्ध-लुक्खयाए बंधणपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । से तं बंधणपच्चइए ।

[९ प्र.] भगवन् ! बन्धन-प्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध किसे कहते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! परमाणु, द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, यावत् दशप्रदेशिक, संख्यातप्रदेशिक, असंख्यातप्रदेशिक और अनन्तप्रदेशिक पुद्गल-स्कन्धों का विमात्रा (विषममात्रा) में स्निग्धता से, विमात्रा में रूक्षता से तथा विमात्रा में स्निग्धता-रूक्षता से बन्धन-प्रत्ययिक बन्ध समुत्पन्न होता है । वह जघन्यत: एक समय तक और उत्कृष्टत: असंख्येय काल तक रहता है । यह हुआ बन्धन-प्रत्ययिक सादि-विस्रसाबन्ध का स्वरूप ।

१०. से किं तं भायणपच्चइए ?

भायणपच्चइए, जं णं जुण्णसुरा-जुण्णगुल-जुण्णतंदुलाणं भायणपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं भायणपच्चइए।

[१० प्र.] भगवन् ! भाजन-प्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध किसे कहते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! पुरानी सुरा (मदिरा), पुराने गुड़, और पुराने चावलों का भाजन-प्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध समुत्पन्न होता है। वह जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्टतः संख्यात काल तक रहता है। यह है भाजन-प्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध का स्वरूप।

११. से किं तं परिणामपच्चइए ?

परिणामपच्चइए, जं णं अब्भाणं अब्भरुक्खाणं जहा ततियसए (स. ३ उ. ७ सु. ४ [५]) जाव अमोहाणं परिणामपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा। से त्तं परिणामपच्चइए। से त्तं सादीयवीससाबंधे। से त्तं वीससाबंधे।

[११ प्र.] भगवन् ! परिणामप्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध किसे कहते हैं ?

[११ उ.] गौतम ! (इसी शास्त्र के तृतीय शतक उद्देशक ७ सू. ४-५) में जो बादलों (अभ्रों) का, अभ्रवृक्षों का यावत् अमोघों आदि के नाम कहे गए हैं, उन सबका, परिणाम-प्रत्ययिक (सादि-विस्रसा) बन्ध समुत्पन्न होता है। वह बन्ध जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः छह मास तक रहता है। यह हुआ परिणाम-प्रत्ययिक-सादि-विस्रसाबन्ध का स्वरूप। और यह हुआ विस्रसा-बन्ध का कथन।

विवेचन—विस्रसाबन्ध के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. २ से ११ तक) में विस्रसाबन्ध के सादि-अनादिरूप दो भेद, तत्पश्चात् अनादिविस्रसाबन्ध के तीन और सादि विस्रसाबन्ध के तीन भेदों के प्रकार और स्वरूप का निरूपण किया गया है।

त्रिविध अनादि विस्रसाबन्ध का स्वरूप—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय की अपेक्षा से अनादि विस्रसाबन्ध तीन प्रकार का कहा गया है। धर्मास्तिकाय के प्रदेशों का उसी के दूसरे प्रदेशों के साथ सांकल और कड़ी की तरह जो परस्पर एक देश से सम्बन्ध होता है, वह धर्मास्तिकाय-अन्योन्य-अनादिविस्रसाबन्ध कहलाता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के विस्रसाबन्ध के विषय में समझना चाहिए। धर्मास्तिकाय के प्रदेशों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है, वह देशबन्ध होता है, नीरक्षीरवत् सर्वबन्ध नहीं, क्योंकि यदि सर्वबन्ध माना जाएगा तो एक प्रदेश में दूसरे समस्त प्रदेशों का समावेश हो जाने से धर्मास्तिकाय एक प्रदेशरूप ही रह जाएगा, असंख्यप्रदेशरूप नहीं रहेगा; जो कि सिद्धान्त से असंगत है। अतः धर्मास्तिकाय आदि तीनों का परस्पर देशबन्ध ही होता है, सर्वबन्ध नहीं।

त्रिविध-सादिविस्रसाबन्ध का स्वरूप—सादिविस्रसाबन्ध के बन्धनप्रत्ययिक, भाजन-प्रत्ययिक और परिणामप्रत्ययिक, ये तीन भेद कहे गए हैं। बन्धन अर्थात् विवक्षित स्निग्धता आदि गुणों के निमित्त से परमाणुओं का जो बन्ध सम्पन्न होता है, उसे **बन्धनप्रत्ययिक बन्ध** कहते हैं, भाजन का अर्थ है—आधार। उसके निमित्त से जो बन्ध सम्पन्न होता है, वह **भाजनप्रत्ययिक** है। जैसे—घड़े में

रखी हुई पुरानी मदिरा गाढ़ी हो जाती है, पुराने गुड़ और पुराने चावलों का पिण्ड बंध जाता है, वह **भाजनप्रत्ययिकबन्ध** कहलाता है। परिणाम अर्थात् रूपान्तर (हो जाने) के निमित्त से जो बन्ध होता है, उसे परिणाम-प्रत्ययिक बन्ध कहते हैं।[1]

अमोघ शब्द का अर्थ—सूर्य के उदय और अस्त के समय उसकी किरणों का एक प्रकार का आकार **'अमोघ'** कहलाता है।

बन्धन-प्रत्ययिकबन्ध का नियम—सामान्यतया स्निग्धता और रूक्षता से परमाणुओं का बन्ध होता है। किस प्रकार होता है ? इसका नियम क्या है ? यह समझ लेना आवश्यक है। एक आचार्य ने इस विषय में नियम बतलाते हुए कहा है—समान स्निग्धता या समान रूक्षता वाले स्कन्धों का बन्ध नहीं होता, विषम स्निग्धता या विषम रूक्षता में बन्धन होता है। स्निग्ध का द्विगुणादि अधिक स्निग्ध के साथ तथा रूक्ष का द्विगुणादि अधिक रूक्ष के साथ बन्ध होता है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ जघन्यगुण को छोड़ कर सम या विषम बन्ध होता है। अर्थात् एकगुण स्निग्ध या एकगुण रूक्षरूप जघन्य गुण को छोड़ कर शेष सम या विषम गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष का परस्पर बन्ध होता है। सम स्निग्ध का सम स्निग्ध के साथ तथा सम रूक्ष का सम रूक्ष के साथ बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ—एकगुण स्निग्ध का एकगुण स्निग्ध के साथ अथवा एकगुण स्निग्ध का दोगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता है। दोगुण स्निग्ध का दोगुण स्निग्ध के साथ या तीनगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता, किन्तु चारगुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है। जिस प्रकार स्निग्ध के सम्बन्ध में कहा, उसी प्रकार रूक्ष के विषय में समझ लेना चाहिए। एकगुण को छोड़ कर परस्थान में स्निग्ध और रूक्ष के परस्पर सम या विषम में दोनों प्रकार के बन्ध होते हैं। यथा—एकगुण स्निग्ध का एकगुण रूक्ष के साथ बन्ध नहीं होता, किन्तु द्वयादि गुणयुक्त रूक्ष के साथ बन्ध होता है, इसी तरह द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रूक्ष अथवा त्रिगुणरूक्ष के साथ बन्ध होता है। इस प्रकार सम और विषम दोनों प्रकार के बन्ध होते हैं।[2]

प्रयोगबन्ध : प्रकार, भेद-प्रभेद तथा उनका स्वरूप—

१२. से किं तं पयोगबंधे ?

पयोगबंधे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणाईए वा अपज्जवसिए १, सादीए वा अपज्जवसिए २, सादीए वा सपज्जवसिए ३। तत्थ णं जे से अणाईए अपज्जवसिए से णं अट्ठण्हं जीवमज्झपएसाणं।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३९५ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ३, पृ. १४७३

२. (क) वही, पत्रांक ३९५

(ख) समनिद्धयाए बन्धो न होई, समलुक्खयाए वि ण होइ।
वेमायनिद्धलुक्खत्तणेण बन्धो उ खंधाणं ॥ १ ॥
निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं।
निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बन्धो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा ॥ २ ॥

—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ३९५ में उद्धृत

[ग] स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ च।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५ सू.

तत्थ वि णं तिण्हं तिण्हं अणाईए अपज्जवसिए, सेसाणं साईए। तत्थ णं जे से सादीए अपज्जवसिए से णं सिद्धाणं। तत्थ णं जे से साईए सपज्जवसिए से णं चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—आलावणबंध अल्लियावणबंधे सरीरबंधे सरीरप्पयोगबंधे।

[१२ प्र.] भगवन् ! प्रयोगबन्ध किस प्रकार का है ?

[१२ उ.] गौतम ! प्रयोगबन्ध तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित, (२) सादि-अपर्यवसित अथवा (३) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो अनादि-अपर्यवसित है, वह जीव के आठ मध्यप्रदेशों का होता है। उन आठ प्रदेशों में भी तीन-तीन प्रदेशों का जो बन्ध होता है, वह अनादि-अपर्यवसित बन्ध है। शेष सभी प्रदेशों का सादि (-अपर्यवसित) बन्ध है। इन तीनों में से जो सादि-अपर्यवसित बन्ध है, तथा इनमें से जो सादि-सपर्यवसित बन्ध है, वह चार प्रकार-का कहा गया है। यथा—(१) आलापनबन्ध, (२) अल्लिकापन—(आलीन) बन्ध, (३) शरीर-बन्ध और (४) शरीर-प्रयोग-बन्ध।

१३. से किं तं आलावणबंधे ?

आलावणबंधे, जं णं तणभाराण वा कट्ठभाराण वा पत्तभाराण वा पलालभाराण वा वेल्ल-भाराण वा वेत्तलया-वाग-वरत्त-रज्जु-वल्लि-कुस-दब्भमादिएहिं आलावणबंधे समुप्पज्जइ; जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं आलावणबंधे।

[१३ प्र.] भगवन् ! आलापनबन्ध किसे कहते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! तृण (घास) के भार, काष्ठ के भार, पत्तों के भार, पलाल के भार और वेल के भार, इन भारों को वेंत की लता, छाल, वरत्रा (चमड़े की बनी मोटी रस्सी = वरत), रज्जु (रस्सी) वेल, कुश और डाभ (नारियल की जटा) आदि से बांधने से आलापनबन्ध समुत्पन्न होता है। यह बन्ध जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टतः संख्येय काल तक रहता है। यह आलापनबन्ध का स्वरूप है।

१४. से किं तं अल्लियावणबंधे ?

अल्लियावणबंधे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—लेसणाबंधे उच्चयबंधे समुच्चयबंधे साहणणाबंधे।

[१४ प्र.] भगवन् ! अल्लिकापन (आलीन) बन्ध किसे कहते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! आलीनबन्ध चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—श्लेपणा-बन्ध, उच्चयबन्ध, समुच्चयबन्ध और संहननबन्ध।

१५. से किं तं लेसणाबंधे ?

लेसणाबंधे, जं णं कुड्डाणं कुट्टिमाणं खंभाणं पासायाणं कट्ठाणं चम्माणं घडाणं पडाणं कडाणं छुहा-चिक्खल्ल-सिलेस-लक्ख-महुसित्थमाइएहिं लेसणएहिं बंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं लेसणाबंधे।

[१५ प्र.] भगवन् ! श्लेपणाबन्ध किसे कहते हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! श्लेषणाबन्ध इस प्रकार का है—जो कुड्यों (भित्तियों) का, कुट्टिमों (आंगन के फर्श) का, स्तम्भों का, प्रासादों का, काष्ठों का, चर्मों (चमड़ों) का, घड़ों का, वस्त्रों का, और चटाइयों (कटों) का; चूना, कीचड़, श्लेष (गोंद आदि चिपकाने वाले द्रव्य, अथवा वज्रलेप), लाख, मोम आदि श्लेषण द्रव्यों से बन्ध सम्पन्न होता है, वह श्लेपणाबन्ध कहलाता है।

यह बन्ध जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्ट संख्यातकाल तक रहता है। यह श्लेपणाबन्ध का कथन हुआ।

१६. से किं तं उच्चयबंधे ?

उच्चयबंधे, जं णं तणरासीण वा कट्ठरासीण वा पत्तरासीण वा तुसरासीण वा भुसरासीण वा गोमयरासीण वा अवगररासीण वा उच्चएणं बंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं उच्चयबंधे।

[१६ प्र.] भगवन् ! उच्चयबन्ध किसे कहते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! तृणराशि, काष्ठराशि, पत्रराशि, तुपराशि, भूसे का ढेर, गोबर (या उपलों) का ढेर अथवा कूड़े-कचरे का ढेर, इन का ऊँचे ढेर (पुंज=संचय) रूप से जो बन्ध सम्पन्न होता है, उसे 'उच्चयबन्ध' कहते हैं। यह बन्ध जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्टतः संख्यातकाल तक रहता है। इस प्रकार उच्चयबन्ध का कथन किया गया है।

१७. से किं तं समुच्चयबंधे ?

समुच्चयबंधे, जं णं अगड-तडाग-नदी-दह-वावी-पुक्खरणी-दीहियाणं गुंजालियाणं सराणं सरपंतिआणं सरसरपंतियाणं बिलपंतियाणं देवकुल-सभा-पवा-थूभ-खाइयाणं फरिहाणं पागार-ऽट्टालग-चरिय-दार-गोपुर-तोरणाणं पासाय-घर-सरण-लेण-आवणाणं सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहमादीणं छुहा-चिक्खल्ल-सिलेससमुच्चएणं बंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं समुच्चयबंधे।

[१७ प्र.] भगवन् ! समुच्चयबन्ध किसे कहते हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! कुआ, तालाब, नदी, द्रह, वापी (बावड़ी), पुष्करिणी (कमलों से युक्त वापी), दीर्घिका, गुंजालिका, सरोवर, सरोवरों की पंक्ति, बड़े सरोवरों की पंक्ति, बिलों की पंक्ति, देवकुल (मन्दिर), सभा, प्रपा (प्याऊ), स्तूप, खाई, परिखा (परिघा), प्राकार (किला या कोट), अट्टालक (अटारी, किले पर का कमरा या गढ़), चरक (गढ़ और नगर के मध्य का मार्ग), द्वार, गोपुर, तोरण, प्रासाद (महल), घर, शरणस्थान, लयन (गृहविशेष), आपण (दूकान), श्रृंगाटक (सिंघाड़े के आकार का मार्ग), त्रिक (तिराहा), चतुष्क (चौराहा), चत्वरमार्ग, (चौपड़—बाजार का मार्ग), चतुर्मुख मार्ग और राजमार्ग (बड़ी और चौड़ी सड़क) आदि का चूना, (गीली) मिट्टी, कीचड़, एवं श्लेष (वज्रलेप आदि)के द्वारा समुच्चयरूप से जो बन्ध समुत्पन्न होता है, उसे 'समुच्चयबन्ध' कहते हैं। उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्येयकाल की है। इस प्रकार समुच्चयबन्ध का कथन पूर्ण हुआ।

१८. से किं तं साहणणाबंधे ?

साहणणाबंधे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—देससाहणणाबंधे य सव्वसाहणणाबंधे य।

[१८ प्र.] भगवन् ! संहननबन्ध किसे कहते हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! संहननबन्ध दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) देश-संहननबन्ध और (२) सर्वसंहननबन्ध।

१९. से किं तं देससाहणणाबंधे ?

देससाहणणाबंधे, जं णं सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणिया-लोही-लोहकडाह-कडच्छुअ-आसण-सयण-खंभ-भंड-मत्त-उवगरणमाईणं देससाहणणाबंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं। से त्तं देससाहणणाबंधे।

[१९ प्र.] भगवन् ! देशसंहननबन्ध किसे कहते हैं ?

[१९ उ.] गौतम ! शकट (गाड़ी), रथ, यान (छोटी गाड़ी), युग्य वाहन (दो हाथ प्रमाण वेदिका से उपशोभित जम्पान=पालखी), गिल्लि (हाथी की अम्बाड़ी), थिल्लि (पलाण), शिविका (पालखी), स्यन्दमानी पुरुष प्रमाण वाहन विशेष, म्याना), लोढ़ी, लोहे की कड़ाही, कुड़छी, (चमचा बड़ा या छोटा), आसन, शयन, स्तम्भ, भाण्ड (मिट्टी के बर्तन), पात्र, नाना उपकरण आदि पदार्थों के साथ जो सम्बन्ध सम्पन्न होता है, वह देशसंहननबन्ध है। वह जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टतः संख्येय काल तक रहता है। यह है देशसंहननबन्ध का स्वरूप।

२०. से किं तं सव्वसाहणणाबंधे ?

सव्वसाहणणाबंधे, से णं खीरोदगमाईणं। से त्तं सव्वसाहणणाबंधे। से त्तं साहणणाबंधे। से त्तं अल्लियावणबंधे।

[२० प्र.] भगवन् ! सर्वसंहननबन्ध किसे कहते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! दूध और पानी आदि की तरह एकमेक हो जाना सर्वसंहननबन्ध कहलाता है। इस प्रकार सर्वसंहननबन्ध का स्वरूप है। यह आलीनबन्ध का कथन हुआ।

२१. से किं तं सरीरबंधे ?

सरीरबंधे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पुव्वप्पओगपच्चइए य पडुप्पन्नप्पओगपच्चइए य।

[२१ प्र.] भगवन् ! शरीरबन्ध किस प्रकार का है ?

[२१ उ.] गौतम ! शरीरबन्ध दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) पूर्वप्रयोग-प्रत्ययिक और (२) प्रत्युत्पन्न-प्रयोग-प्रत्ययिक।

२२. से किं तं पुव्वप्पओगपच्चइए ?

पुव्वप्पओगपच्चइए, जं णं नेरइयाणं संसारत्थाणं सव्वजीवाणं तत्थ तत्थ तेसु तेसु कारणेसु समोहन्नमाणाणं जीवप्पदेसाणं बंधे समुप्पज्जइ। से त्तं पुव्वप्पयोगपच्चइए।

[२२ प्र.] भगवन् ! पूर्वप्रयोग-प्रत्ययिक-शरीरवन्ध किसे कहते हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! जहाँ-जहाँ जिन-जिन कारणों से समुद्घात करते हुए नैरयिक जीवों और संसारस्थ सर्वजीवों के जीवप्रदेशों का जो बन्ध सम्पन्न होता है, वह पूर्वप्रयोगवन्ध कहलाता है। यह है पूर्वप्रयोग-प्रत्ययिकबन्ध।

२३. से किं तं पडुप्पन्नप्पयोगपच्चइए ?

पडुप्पन्नप्पयोगपच्चइए, जं णं केवलनाणिस्स अणगारस्स केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स, ताओ समुग्घायाओ पडिनियत्तमाणस्स, अंतरा मंथे वट्टमाणस्स तेया-कम्माणं बंधे समुप्पज्जइ। किं कारणं ? ताहे से पएसा एगत्तीगया भवंति त्ति.। से त्तं पडुप्पन्नप्पयोगपच्चइए। से त्तं सरीरबंधे।

[२३ प्र.] भगवन् ! प्रत्युत्पन्न-प्रयोग-प्रत्ययिक किसे कहते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! केवलीसमुद्घात द्वारा समुद्घात करते हुए और उस समुद्घात से प्रतिनिवृत्त होते (वापस लौटते) हुए बीच के मार्ग (मन्थानावस्था) में रहे हुए केवलज्ञानी अनगार के तैजस और कार्मण शरीर का जो बन्ध सम्पन्न होता है, उसे प्रत्युत्पन्न-प्रयोग-प्रत्ययिक-बन्ध कहते हैं। [प्र.] (तैजस और कार्मण शरीर के बन्ध का) क्या कारण है ? [उ.] उस समय (आत्म) प्रदेश एकत्रीकृत (संघातरूप) होते हैं, जिससे (तैजस-कार्मण-शरीर का) बन्ध होता है। यह हुआ, उस प्रत्युत्पन्न-प्रयोगप्रत्ययिकबन्ध का स्वरूप। यह शरीरबन्ध का कथन हुआ।

विवेचन—प्रयोगबन्ध : प्रकार और भेद-प्रभेद तथा उनका स्वरूप—प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. १२ से २३ तक) में प्रयोगबन्ध के तीन भंग तथा सादि-सपर्यवसित बन्ध के चार भेद एवं उनके प्रभेद और स्वरूप का वर्णन किया गया है।

प्रयोगबन्ध : स्वरूप और जीवों की दृष्टि से प्रकार—जीव के व्यापार से जो बन्ध होता है, वह प्रयोगबन्ध कहलाता है। प्रयोगबन्ध के तीन विकल्प हैं—(१) अनादि-अपर्यवसित—जीव के असंख्यात प्रदेशों में से मध्य के आठ (रुचक) प्रदेशों का बन्ध अनादि-अपर्यवसित है। जव केवली समुद्घात करते हैं, तब उनके प्रदेश समग्रलोकव्यापी हो जाते हैं, उस समय भी वे आठ प्रदेश तो अपनी स्थिति में ही रहते हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। उनकी स्थापना इस प्रकार है— |॰।॰| नीचे ये चार प्रदेश हैं, और इनके ऊपर चार प्रदेश हैं। इस प्रकार समुदायरूप से ८ प्रदेशों का बन्ध है। पूर्वोक्त ८ प्रदेशों में भी प्रत्येक प्रदेश का अपने पास रहे हुए दो प्रदेशों के साथ तथा ऊपर या नीचे रहे हुए एक प्रदेश के साथ, इस प्रकार तीन-तीन प्रदेशों के साथ भी अनादि-अपर्यवसित बन्ध है। शेष सभी प्रदेशों का सयोगी अवस्था तक सादि-सपर्यवसित नामक तीसरा विकल्प है, तथा सिद्ध जीवों के प्रदेशों का सादि-अपर्यवसित बन्ध है। प्रस्तुत चार भंगों (विकल्पों) में से दूसरे भंग (अनादि-सपर्यवसित) में बन्ध नहीं होता।

सादि-सपर्यवसित बन्ध के चार भेद हैं—(१) **आलापनबन्ध**—(रस्सी आदि से घास आदि को बांधना), (२) **आलीनबन्ध**—(लाख आदि एक श्लेष्य पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ बन्ध होना), (३) **शरीरबन्ध**–(समुद्घात करते समय विस्तारित और संकोचित जीव-प्रदेशों के सम्बन्ध से तैजसादि शरीर-प्रदेशों का सम्बन्ध होना), और (४) **शरीरप्रयोगबन्ध**—(औदारिकादि शरीर की

प्रवृत्ति से शरीर के पुद्गलों को ग्रहण करने रूप वन्ध) : इसके पश्चात् आलीनवन्ध के श्लेषणादिवन्ध के रूप में ४ भेद तथा उनका स्वरूप मूलपाठ में वतला दिया गया है।

संहननवन्ध : दो रूप—विभिन्न पदार्थों के मिलने से एक आकार का पदार्थ वन जाना, संहननवन्ध है। पहिया, जुआ आदि विभिन्न अवयव मिलकर जैसे गाड़ी का रूप धारण कर लेते हैं, वैसे ही किसी वस्तु के एक अंश के साथ, किसी अन्य वस्तु के अंश रूप से सम्वन्ध होना—जुड़ जाना, **देश-संहननवन्ध** है और दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना, **सर्व-संहननवन्ध** है।

शरीरवन्ध : दो भेद—वेदना, कषाय-आदि समुद्घातरूप जीवव्यापार से होने वाला जीव-प्रदेशों का वन्ध, अथवा जीवप्रदेशाश्रित तैजस-कार्मणशरीर का वन्ध **पूर्वप्रयोग-प्रत्ययिक शरीरवन्ध** है, तथा वर्तमानकाल में केवली समुद्घात रूप जीवव्यापार से होने वाला तैजस-कार्मणशरीर का वन्ध, **प्रत्युत्पन्न-प्रयोग-प्रत्ययिकवन्ध** है।[1]

शरीरप्रयोगवन्ध के प्रकार एवं औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से निरूपण—

२४. से किं तं सरीरप्रयोगवंधे ?

सरीरप्पयोगवंधे पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओरालियसरीरप्पओगवंधे वेउव्वियसरीरप्पओग-वंधे आहारगसरीरप्पओगवंधे तेयासरीरप्पयोगवंधे कम्मासरीरप्पयोगवंधे।

[२४ प्र.] भगवन् ! शरीरप्रयोगवन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२४ उ.] गौतम ! शरीरप्रयोगवन्ध पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) औदारिकशरीरप्रयोगवन्ध, (२) वैक्रियशरीरप्रयोगवन्ध, (३) आहारकशरीरप्रयोगवन्ध, (४) तैजसशरीरप्रयोगवन्ध और (५) कार्मणशरीरप्रयोगवन्ध।

२५. **ओरालियसरीरप्पयोगवंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?**

गोयमा ! पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—एगिंदियओरालियसरीरप्पयोवंधे वेइंदियओरालिय-सरीरप्पयोगवंधे जाव पंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगवंधे।

[२५ प्र.] भगवन् ! औदारिक शरीरप्रयोगवन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२५ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीरप्रयोगवन्ध, (२) द्वीन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगवन्ध, (३) त्रीन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोग-वन्ध, (४) चतुरिन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगवन्ध और (५) पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोग-वन्ध।

२६. एगिंदियओरालियसरीरप्पयोगवंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरप्पयोगवंधे, एवं एएणं अभिलावेणं भेदा जहा ओगाहणसंठाणे ओरालियसरीरस्स तहा भाणियव्वा जाव पज्जत्तगब्भ-

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३९४

वक्कंतियमणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे य अपज्जत्तगब्भवक्कंतियमणूसपंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे य।

[२६ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय औदारिक-शरीरप्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२६ उ.] गौतम ! एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध इत्यादि। इस प्रकार इस अभिलाप द्वारा जैसे प्रज्ञापनासूत्र के (इक्कीसवें) 'अवगाहना-संस्थान-पद' में औदारिक शरीर के भेद कहे गए हैं, वैसे यहाँ भी यावत्—'पर्याप्त-गर्भज-मनुष्य-पञ्चेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध और अपर्याप्त गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध' तक कहना चाहिए।

२७. ओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए पमादपच्चया कम्मं च जोगं च भवं च आउयं च पडुच्च ओरालियसरीरप्पयोगनामकम्मस्स उदएणं ओरालियसरीरप्पयोगबंधे।

[२७ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! सवीर्यता, संयोगता और सद्द्रव्यता से, प्रमाद के कारण, कर्म, योग, भव और आयुष्य आदि हेतुओं की अपेक्षा से औदारिक-शरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से औदारिक-शरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

२८. एगिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

एवं चेव।

[२८ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[२८ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त-कथनानुसार यहाँ भी जानना चाहिए।

२९. पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे एवं चेव।

[२९ प्र.] इसी प्रकार पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध के विषय में कहना चाहिए।

३०. एवं जाव वणस्सइकाइया। एवं बेइंदिया। एवं तेइंदिया। एवं चउरिंदिया।

[३०] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध तथा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध तक कहना चाहिए।

३१. तिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?
एवं चेव।

[३१ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[३१ उ.] गौतम ! (इस विषय में भी) पूर्वोक्त कथनानुसार जानना चाहिए।

३२. मणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए पमादपच्चया जाव आउयं च पडुच्च मणुस्सपंचिंदिय-ओरालियसरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं मणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधे ।

[३२ प्र.] भगवन् ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[३२ उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता और सद्द्रव्यता से, तथा प्रमाद के कारण यावत् आयुष्य की अपेक्षा से एवं मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-नामकर्म के उदय से 'मनुष्यपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध' होता है ।

३३. ओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे ?

गोयमा ! देसबंधे वि सव्वबंधे वि ।

[३३ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध या सर्वबन्ध है ?

[३३ उ.] गौतम ! वह देशबन्ध भी है, और सर्वबन्ध भी है ।

३४. एगिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे सव्वबंधे ?

एवं चेव ।

[३४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध है या सर्वबन्ध है ?

[३४ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त कथनानुसार यहाँ भी जानना चाहिए ।

३५. एवं पुढविकाइया ।

[३५] इसी प्रकार पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध के विषय में समझना चाहिए ।

३६. एवं जाव मणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे ?

गोयमा ! देसबंधे वि, सव्वबंधे वि ।

[३६] इसी प्रकार यावत्—'[प्र.] भगवन् ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध है या सर्वबन्ध है ? [उ.] गौतम ! वह देशबन्ध भी है और सर्वबन्ध भी है'—यहाँ तक कहना चाहिए ।

३७. ओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं; देसबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं समयूणाइं ।

[३७ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध काल की अपेक्षा, कितने काल तक रहता है ?

[३७ उ.] गौतम ! सर्वबन्ध एक समय तक रहता है और देशबन्ध जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः एक समय कम तीन पल्योपम तक रहता है ।

३८. एगिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं; देसबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समऊणाइं।

[३८ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध कालतः कितने काल तक रहता है ?

[३८ उ.] गौतम ! सर्वबन्ध एक समय तक रहता है और देशबन्ध जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः एक समय कम २२ हजार वर्ष तक रहता है।

३९. पुढविकाइयएगिंदिय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं, देसबंधे जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समऊणाइं।

[३९ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध कालतः कितने काल तक रहता है ?

[३९ उ.] गौतम ! (वह) सर्वबन्ध एक समय तक रहता है और देशबन्ध जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लक भव-ग्रहण पर्यन्त तथा उत्कृष्टतः एक समय कम २२ हजार वर्ष तक रहता है।

४०. एवं सव्वेसिं सव्वबंधो एक्कं समयं, देसबंधो जेसिं नत्थि वेउव्वियसरीरं तेसिं जहन्नेणं खुड्डागं भवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं जा जस्स उक्कोसिया ठिती सा समऊणा कायव्वा। जेसिं पुण अत्थि वेउव्वियसरीरं तेसिं देसबंधो जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं जा जस्स ठिती सा समऊणा कायव्वा जाव मणुस्साणं देसबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं समयूणाइं।

[४०] इस प्रकार सभी जीवों का सर्वबन्ध एक समय तक रहता है। जिनके वैक्रियशरीर नहीं है, उनका देशबन्ध जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लकभवग्रहण-पर्यन्त और उत्कृष्टतः जिस जीव की जितनी उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति है, उससे एक समय कम तक रहता है। जिनके वैक्रियशरीर है, उनके देशबन्ध जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः जिसकी जितनी (आयुष्य) स्थिति है, उसमें से एक समय कम तक रहता है। इस प्रकार यावत् मनुष्यों का देशबन्ध जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः एक समय कम तीन पल्योपम तक जानना चाहिए।

४१. ओरालियसरीरबंधंतरं णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागं भवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडिसमयाहियाइं। देसबंधंतरं जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं तिसमयाहियाइं।

[४१ प्र.] भगवन् ! औदारिक शरीर के बन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[४१ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लकभव-ग्रहण-पर्यन्त है और उत्कृष्टतः समयाधिक पूर्वकोटि तथा तेतीस सागरोपम है। देशबन्ध का अन्तर जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः तीन समय अधिक तेतीस सागरोपम है।

४२. एगिंदियओरालिय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागं भवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समयाहियाइं। देसबंधंतरं जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[४२ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-बन्ध का अन्तर कितने काल का है ?

[४२ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लक भव-ग्रहण-पर्यन्त है और उत्कृष्टतः एक समय अधिक बाईस हजार वर्ष है। देशबन्ध का अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त का है।

४३. पुढविक्काइयएगिंदिय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहेव एगिंदियस्स तहेव भाणियव्वं; देसबंधंतरं जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तिण्णि समया।

[४३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीरबन्ध का अन्तर कितने काल का है ?

[४३. उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जिस प्रकार एकेन्द्रिय का कहा गया है, उसी प्रकार कहना चाहिए। देशबन्ध का अन्तर जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः तीन समय का है।

४४. जहा पुढविक्काइयाणं एवं जाव चउरिंदियाणं वाउक्काइयवज्जाणं, नवरं सव्वबंधंतरं उक्कोसेणं जा जस्स ठिती सा समयाहिया कायव्वा। वाउक्काइयाणं सव्वबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं समयाहियाइं। देसबंधंतरं जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[४४] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों का शरीरबन्धान्तर कहा गया है, उसी प्रकार वायुकायिक जीवों को छोड़ कर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीवों का शरीरबन्धान्तर कहना चाहिए; किन्तु विशेषतः उत्कृष्ट सर्वबन्धान्तर जिस जीव की जितनी (आयुष्य) स्थिति हो, उससे एक समय अधिक कहना चाहिए। (अर्थात्—सर्वबन्ध का अन्तर समयाधिक आयुष्यस्थिति-प्रमाण जानना चाहिए।) वायुकायिक जीवों के सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लकभव-ग्रहण और उत्कृष्टतः समयाधिक तीन हजार वर्ष का है। इनके देशबन्ध का अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त का है।

४५. पंचिंदियतिरिक्खजोणियओरालिय० पुच्छा। सव्वबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमयूणं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी समयाहिया, देसबंधंतरं जहा एगिंदियाणं तहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[४५ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-औदारिकशरीरबन्ध का अन्तर कितने काल का कहा गया है ?

[४५ उ.] गौतम ! इनके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः तीन समय कम क्षुल्लकभव-ग्रहण है

और उत्कृष्टतः समयाधिक पूर्वकोटि का है। देशबन्ध का अन्तर जिस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों का कहा गया, उसी प्रकार सभी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों का कहना चाहिए।

४६. एवं मणुस्साण वि निरवसेसं भाणियव्वं जाव उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[४६] इसी प्रकार मनुष्यों के शरीरबन्धान्तर के विषय में भी पूर्ववत् यावत्—'उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त्त का है'—यहाँ तक सारा कथन करना चाहिए।

४७. जीवस्स णं भंते ! एगिंदियत्ते णोएगिंदियत्ते पुणरवि एगिंदियत्ते एगिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं दो खुड्डागभवग्गहणाइं तिसमयूणाइं, उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं; देसबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं, उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं।

[४७ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रियावस्थागत जीव (एकेन्द्रियत्व को छोड़ कर) नो-एकेन्द्रियावस्था (किसी दूसरी जाति) में रह कर पुनः एकेन्द्रियरूप (एकेन्द्रियजाति) में आए तो एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[४७ उ.] गौतम ! (ऐसे जीव का) सर्वबन्धान्तर जघन्यतः तीन समय कम दो क्षुल्लक भव-ग्रहण काल और उत्कृष्टतः संख्यात वर्ष-अधिक दो हजार सागरोपम का होता है।

४८. जीवस्स णं भंते ! पुढविकाइयत्ते नोपुढविकाइयत्ते पुणरवि पुढविकाइयत्ते पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरप्पयोगबंधंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं तिसमयऊणाइं; उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंता उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो। देसबंधंतरं जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं, उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव आवलियाए असंखेज्जइभागो।

[४८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-अवस्थागत जीव नो-पृथ्वीकायिक-अवस्था में (पृथ्वीकाय को छोड़ कर अन्य किसी काय में) उत्पन्न हो (वहाँ रह) कर, पुनः पृथ्वीकायिकरूप (पृथ्वीकाय) में आए, तो पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[४८ उ.] गौतम ! (ऐसे जीव का) सर्वबन्धान्तर जघन्यतः तीन समय कम दो क्षुल्लकभव-ग्रहण काल और उत्कृष्टतः अनन्तकाल होता है। कालतः अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल है, क्षेत्रतः अनन्त लोक, असंख्येय पुद्गल-परावर्तन हैं। वे पुद्गल-परावर्तन आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रमाण हैं। (अर्थात्—आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय हैं, उतने पुद्गल परावर्तन हैं।) देशबन्ध का अन्तर जघन्यतः समयाधिक क्षुल्लकभव-ग्रहण-काल और उत्कृष्टतः अनन्तकाल,······ यावत्—'आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रमाण पुद्गल-परावर्तन है'; यहाँ तक जानना चाहिए।

४९. जहा पुढविक्काइयाणं एवं वणस्सइकाइयवज्जाणं जाव मणुस्साणं। वणस्सइकाइयाणं दोण्णि खुड्डाइं एवं चेव; उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, असंखिज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा। एवं देसबंधंतरं पि उक्कोसेणं पुढवीकालो।

[४९] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों का प्रयोगवन्धान्तर कहा गया है, उसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों को छोड़ कर यावत् मनुष्यों के प्रयोगवन्धान्तर तक (सभी जीवों के विषय में) समझना चाहिए। वनस्पतिकायिक जीवों के सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यत: काल की अपेक्षा से तीन समय कम दो क्षुल्लकभव-ग्रहणकाल, और उत्कृष्टत: असंख्येयकाल है, अथवा असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है, क्षेत्रत: असंख्येय लोक है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जघन्यत: समयाधिक क्षुल्लकभवग्रहण तक का है, और उत्कृष्टत: पृथ्वीकायिक स्थितिकाल तक है, (अर्थात्—असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल यावत् असंख्येय लोक है।)

५०. एएसि णं भंते ! जीवाणं ओरालियसरीरस्स देसबंधगाणं सव्वबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओरालियसरीरस्स सव्वबंधगा अबंधगा विसेसाहिया, देसबंधगा असंखेज्जगुणा।

[५० प्र.] भगवन् ! औदारिक शरीर के इन देशवन्धक, सर्वबन्धक और अबन्धक जीवों में कौन किनसे अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[५० उ.] गौतम ! सबसे थोड़े (अल्प) औदारिक शरीर के सर्ववन्धक जीव हैं, उनसे अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं, और उनसे असंख्यात गुणे देशबन्धक जीव हैं।

विवेचन—शरीरप्रयोगबन्ध के प्रकार एवं औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से निरूपण—प्रस्तुत २७ सूत्रों (सू. २४ से ५० तक) में शरीरप्रयोगबन्ध के विषय में निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया गया है—

१. औदारिक आदि के भेद से शरीरप्रयोगबन्ध ५ प्रकार का है।

२. एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक औदारिक शरीरप्रयोगबन्ध पांच प्रकार का है।

३. एकेन्द्रिय-औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक ५ प्रकार के हैं।

४. द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्त, अपर्याप्त गर्भज मनुष्य तक औदारिकशरीरप्रयोग-बन्ध समझना चाहिए।

५. समस्त जीवों के औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध वीर्य, योग, सद्द्रव्य एवं प्रमाद के कारण कर्म, योग, भव और आयुष्य की अपेक्षा औदारिकशरीरप्रयोग—नामकर्म के उदय से होता है।

६. समस्त जीवों के औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध देशबन्ध भी है, सर्वबन्ध भी।

७. समस्त जीवों के औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध की कालत: स्थिति की सीमा।

८. समस्त जीवों के सर्व-देशबन्ध की अपेक्षा कालत: औदारिकशरीरबन्ध के अन्तर-काल की सीमा।

९. समस्त जीवों द्वारा अपने एकेन्द्रियादि पूर्वरूप को छोड़ कर अन्य रूपों में उत्पन्न हो या रह कर, पुनः उसी अवस्था (रूप) में आने पर औदारिकशरीर-प्रयोगवन्धान्तर-काल की सीमा।

१०. औदारिकशरीर के देशवन्धक, सर्ववन्धक और अवन्धक जीवों का अल्प-बहुत्व।

औदारिकशरीर-प्रयोगवन्ध के आठ कारण—जिस प्रकार प्रासादनिर्माण में द्रव्य, वीर्य, संयोग, योग, (मन-वचन-काया का व्यापार), शुभकर्म (का उदय), आयुष्य, भव (तिर्यंच-मनुष्यभव) और काल (तृतीय-चतुर्थ-पंचम आरा), इन कारणों की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार औदारिकशरीर-वन्ध में भी निम्नोक्त ८ कारण अपेक्षित हैं—(१) **सवीर्यता**—वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न शक्ति, (२) **सयोगता**—योगायुक्तता (३) **सद्द्रव्यता**—जीव के तदारूप औदारिकशरीरयोग्य तथाविध पुद्गलों—(द्रव्यों) की विद्यमानता (४) **प्रमाद**—शरीरोत्पत्तियोग्य विषय-कषायादि प्रमाद; (५) **कर्म**—तिर्यञ्चमनुष्यादि जातिनामकर्म, (६) **योग**—काययोगादि; (७) **भव**—तिर्यञ्च एवं मनुष्य का अनुभूयमान भव, और (८) **आयुष्य**—तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्य। इन ८ कारणों से उदयप्राप्त औदारिकशरीरप्रयोग-नामकर्म से औदारिकशरीर-प्रयोग-वन्ध होता है। प्रस्तुत प्रसंग में मूल प्रश्न है—औदारिकशरीरप्रयोगवन्ध के कारणभूत कर्मोदय के सम्बन्ध में, अतः इस प्रश्न का उत्तर तो यही होना चाहिए—औदारिकशरीरप्रयोगनामकर्म के उदय से यह होता है; किन्तु मूलपाठ में जो ८ कारण वताए हैं, वे इस मुख्य कारण—नामकर्म के सहकारी कारण हैं, जो औदारिक शरीर-प्रयोगवन्ध में आवश्यक हैं; यही इस सूत्र का आशय है।

औदारिकशरीर-प्रयोगवन्ध के दो रूप : सर्ववन्ध, देशवन्ध—जिस प्रकार घृतादि से भरी हुई एवं अग्नि से तपी हुई कड़ाही में जव मालपूआ डाला जाता है, तो प्रथम समय में वह घृतादि को केवल ग्रहण करता (खींचता) है, तत्पश्चात् शेष समयों में वह घृतादि को ग्रहण भी करता है और छोड़ता भी है; उसी प्रकार यह जीव जव पूर्वशरीर को छोड़ कर अन्य शरीर को धारण करता है, तव प्रथम समय में उत्पत्तिस्थान में रहे हुए उस शरीर के योग्य पुद्गलों को केवल ग्रहण करता है। इस प्रकार का यह वन्ध—'सर्ववन्ध' है। तत्पश्चात् द्वितीय आदि समयों में शरीरयोग्य पुद्गलों को ग्रहण भी करता है और छोड़ता भी है; अतः यह वन्ध देशवन्ध है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि औदारिकशरीरप्रयोगवन्ध सर्ववन्ध भी होता है, देशवन्ध भी। जो सर्ववन्ध होता है, वह केवल एक समय का होता है। मालपूए के पूर्वोक्त दृष्टान्तानुसार जव वायुकायिक या मनुष्यादि जीव वैक्रिय-शरीर करके उसे छोड़ देता है, तव छोड़ने के वाद औदारिकशरीर का एक समय तक सर्ववन्ध करता है, तत्पश्चात् दूसरे समय में वह देशवन्ध करता है। दूसरे समय में यदि उसका मरण हो जाए तो इस अपेक्षा से देशवन्ध जघन्य एक समय का होता है। औदारिकशरीरधारी जीवों की उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति तीन पल्योपम की है। उसमें से जीव प्रथम समय में सर्ववन्धक और उसके वाद एक समय कम तीन पल्योपम तक देशवन्धक रहता है। इस दृष्टि से समस्त जीवों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति के अनुसार एक समय तक वे सर्ववन्धक और फिर देशवन्धक रहते हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति २२ हजार वर्ष की है। उसमें से १ समय तक वे सर्ववन्धक और फिर १ समय कम २२ हजार वर्ष तक वे देशवन्धक रहते हैं।

उत्कृष्ट देशवन्ध—जिसकी जितनी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति होती है, उसका देशवन्ध उसमें एक समय कम होता है। जैसे—अप्काय की ७००० वर्ष, तेजस्काय की ३ अहोरात्र, वनस्पतिकाय की

१०००० वर्ष, द्वीन्द्रिय की १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय की ४९ दिन, चतुरिन्द्रिय की ६ मास की उत्कृष्ट आयु-स्थिति होती है।

क्षुल्लक-भवग्रहण का आशय—अपनी-अपनी काय और जाति में जो छोटे-से-छोटा भव हो, उसे क्षुल्लकभव कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त्त में सूक्ष्मनिगोद के ६५५३६ क्षुल्लकभव होते हैं, एक-श्वासोच्छ्वास में १७ से कुछ अधिक क्षुल्लकभव होते हैं। पृथ्वीकाय के एक मुहूर्त्त में १२८२४ क्षुल्लकभव होते हैं। अप्काय से चतुरिन्द्रिय जीवों तक का देशबन्ध जघन्य ३ समय कम क्षुल्लकभव ग्रहण तक है। क्योंकि उनमें भी वैक्रियशरीर नहीं होता।

औदारिक शरीर के सर्वबन्ध और देशबन्ध का अन्तर-काल—समुच्चय जीवों की अपेक्षा औदारिक शरीरबन्ध का सामान्य अन्तर—सर्वबन्ध का अन्तर—तीन समय कम क्षुल्लकभव ग्रहण पर्यन्त बताया है, उसका आशय यह है कि कोई जीव तीन समय की विग्रहगति से औदारिकशरीर-धारी जीवों में उत्पन्न हुआ तो वह विग्रहगति के दो समय में अनाहारक रहता है, और तीसरे समय में सर्वबन्धक होता है। यदि क्षुल्लकभव तक जीवित रह कर मृत्यु को प्राप्त हो गया और औदारिक शरीरधारी जीवों में उत्पन्न हुआ तो वहाँ पहले समय में वह सर्वबन्धक होता है। इस प्रकार सर्वबन्ध का सर्वबन्ध के साथ जघन्य अन्तर तीन समय कम क्षुल्लकभवग्रहण होता है। उत्कृष्ट अन्तर समयाधिक पूर्वकोटि और तेतीस सागरोपम का बताया है, उसका आशय यह है कि कोई जीव मनुष्य आदि गति में अविग्रहगति से आकर उत्पन्न हुआ। वहाँ प्रथम समय में वह सर्वबन्धक रहा। तत्पश्चात् पूर्वकोटि तक जीवित रहकर मृत्यु को प्राप्त हुआ, वहाँ से वह ३३ सागरोपम की स्थितिवाला नैरयिक हुआ, अथवा अनुत्तरविमानवासी सर्वार्थसिद्ध देव हुआ। वहाँ से च्यव (या मर) कर वह तीन समय की विग्रहगति द्वारा आकर औदारिकशरीरधारी जीव हुआ। वह जीव विग्रहगति में दो समय तक अनाहारक रहा और तीसरे समय में औदारिकशरीर का सर्वबन्धक रहा। विग्रहगति में जो वह अनाहारक दो समय तक रहा था, उनमें से एक समय पूर्वकोटि के सर्वबन्धक के स्थान में डाल दिया जाए तो वह पूर्वकोटि पूर्ण हो जाती है, उस पर एक समय अधिक बचा हुआ रहता है। यों सर्वबन्ध का परस्पर उत्कृष्ट अन्तर एक समयाधिक पूर्वकोटि और तेतीस सागरोपम होता है।

औदारिक शरीर के देशबन्ध का अन्तर—जघन्य एक समय है, क्योंकि देशबन्धक मर कर अविग्रह से प्रथम समय में सर्वबन्धक होकर पुनः द्वितीयादि समयों में देशबन्धक हो जाता है। इस प्रकार देशबन्धक का देशबन्धक के साथ अन्तर जघन्यतः एक समय का होता है। उत्कृष्टतः अन्तर तीन समय अधिक ३३ सागरोपम का है। क्योंकि देशबन्धक मर कर ३३ सागरोपम की स्थिति के नैरयिकों या देवों में उत्पन्न हो गया। वहाँ से च्यवकर तीन समय की विग्रहगति से औदारिक शरीर-धारी जीवों में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार विग्रहगति में दो समय तक अनाहारक रहा, तीसरे समय में सर्वबन्धक हुआ और फिर देशबन्धक हो गया। इस प्रकार देशबन्धक का उत्कृष्ट अन्तर ३ समय अधिक ३३ सागरोपम का घटित होता है।

आगे के तीन सूत्रों में एकेन्द्रियादि का कथन करते हुए औदारिकशरीरबन्ध का अन्तर विशेषरूप से बताया गया है।

प्रकारान्तर से औदारिकशरीरबन्ध का अन्तर—कोई एकेन्द्रिय जीव तीन समय की विग्रह-गति से उत्पन्न हुआ, तो वह विग्रहगति में दो समय तक अनाहारक रहा और तीसरे समय में सर्व-बन्धक हुआ। फिर तीन समय कम क्षुल्लकभव-प्रमाण आयुष्य पूर्ण करके एकेन्द्रिय के सिवाय

द्वीन्द्रियादि जाति में उत्पन्न हो जाय तो वहाँ भी क्षुल्लकभव की स्थिति पूर्ण करके अविग्रहगति द्वारा पुनः एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न हो तो प्रथम समय में वह सर्ववन्धक रहता है। इस प्रकार सर्ववन्ध का जघन्य अन्तर तीन समय कम दो क्षुल्लकभव होता है। कोई पृथ्वीकायिक जीव, अविग्रहगति द्वारा उत्पन्न हो तो प्रथम समय में वह सर्ववन्धक होता है। वहाँ २२,००० वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण करके मर कर त्रसकायिक जीवों में उत्पन्न हो, और वहाँ भी संख्यातवर्षाधिक दो हजार सागरोपम की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्ण करके पुनः एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो तो वहाँ प्रथम समय में वह सर्व-बन्धक होता है। इस प्रकार सर्ववन्ध का उत्कृष्ट अन्तर संख्यातवर्षाधिक दो हजार सागरोपम होता है।

कोई पृथ्वीकायिक जीव मर कर पृथ्वीकायिक जीवों के सिवाय दूसरे जीवों में उत्पन्न हो जाए और वहाँ से मर कर पुनः पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो तो उसके सर्ववन्ध का अन्तर जघन्य तीन समय कम दो क्षुल्लकभव होता है। उत्कृष्टकाल की अपेक्षा अनन्तकाल—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-प्रमाण काल होता है। अर्थात्—अनन्तकाल के समयों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समयों का अपहार किया (भाग दिया) जाए तो अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल होता है। क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तलोक है, इसका तात्पर्य है—अनन्त काल के समयों में लोकाकाश के प्रदेशों द्वारा अपहार किया जाए, तो अनन्तलोक होते हैं। वनस्पतिकाय की कायस्थिति अनन्तकाल की है, इस अपेक्षा से सर्व-बन्ध का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है। यह अनन्तकाल असंख्य पुद्गलपरावर्तन-प्रमाण है।

पुद्गलपरावर्तन आदि की व्याख्या—दस कोटाकोटि अद्धा पल्योपमों का **एक सागरोपम** होता है। दस कोटाकोटि सागरोपमों का एक **अवसर्पिणीकाल** होता है; और इतने ही काल का एक **उत्सर्पिणीकाल** होता है। ऐसी अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का एक **पुद्गलपरावर्तन** होता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। उस आवलिका के असंख्यात समयों का जो असंख्यातवां भाग है उसमें जितने समय होते हैं, उतने पुद्गलपरावर्तन यहाँ लिये गए हैं। इनकी संख्या भी **असंख्यात** हो जाती है, क्योंकि असंख्यात के असंख्यात भेद हैं।

औदारिकशरीर के बन्धकों का अल्पवहुत्व—सवसे थोड़े सर्ववन्धक जीव इसलिए हैं कि वे उत्पत्ति के समय ही पाए जाते हैं। उनसे अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि विग्रहगति में और सिद्धगति में जीव अबन्धक होते हैं। उनसे देशवन्धक इसलिए असंख्यातगुणे हैं कि देशवन्ध का काल असंख्यातगुणा है।[1]

वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के भेद-प्रभेद एवं विभिन्न पहलुओं से तत्सम्बन्धित विचारणा—

५१. वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते! कतिविहे पन्नत्ते?

गोयमा! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य, पंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य।

[५१ प्र.] भगवन्! वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है?

[५१ उ.] गौतम! वह दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) एकेन्द्रिय वैक्रिय-शरीर-प्रयोगबन्ध और (२) पंचेन्द्रिय वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ४०० से ४०३ तक

५२. जइ एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे किं वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे, अवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे वेउव्वियसरीरभेदो तहा भाणियव्वो जाव पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे य अपज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय जाव पयोगबंधे य ।

[५२ प्र.] भगवन् ! यदि एकेन्द्रिय-वैक्रिय-शरीर प्रयोगबन्ध है, तो क्या वायुकायिक एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध है अथवा अवायुकायिक एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध है ?

[५२ उ.] गौतम ! इस प्रकार के अभिलाप द्वारा (प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें) अवगाहना संस्थानपद में वैक्रियशरीर के जिस प्रकार भेद कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी यावत्—'पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध और अपर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध' तक कहना चाहिए ।

५३. वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए जाव आउयं वा लद्धिं वा पडुच्च वेउव्वियसरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे ।

[५३ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५३ उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता, सद्द्रव्यता, यावत् आयुष्य अथवा लब्धि की अपेक्षा तथा वैक्रियशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से वैक्रियशरीरप्रयोग-बन्ध होता है ।

५४. वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए तं चेव जाव लद्धिं वा पडुच्च वाउक्काइयएगिंदियवेउव्विय जाव बंधे ।

[५४ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५४ उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता, सद्द्रव्यता यावत्—आयुष्य और लब्धि की अपेक्षा से तथा वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से वायुकायिक एकेन्द्रियवैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध होता है ।

५५. [१] रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए जाव आउयं वा पडुच्च रयणप्पभापुढवि० जाव बंधे ।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५५-१ उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता, सद्द्रव्यता यावत्—आयुष्य की अपेक्षा से तथा रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

[२] एवं जाव अहेसत्तमाए।

[५५-२] इसी प्रकार यावत्-अधःसप्तम नरक-पृथ्वी तक कहना चाहिए।

५६. तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीर० पुच्छा।

गोयमा ! वीरिय० जहा वाउक्काइयाणं।

[५६ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिकपंचेन्द्रियवैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५६ उ.] गौतम ! सवीर्यता यावत्—आयुष्य और लब्धि को लेकर तथा तिर्यंचयोनिक पंचेन्द्रिय-वैक्रिय-शरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से वह होता है।

५७. मणुस्सपंचिंदियवेउव्विय० ?

एवं चेव।

[५७ प्र.] भगवन् ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५७ उ.] गौतम ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) जान लेना चाहिए।

५८. [१] असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्विय० ?

जहा रयणप्पभापुढविनेरइया।

[५८-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[५८-१ उ.] गौतम ! इसका कथन भी रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिकों की तरह समझना चाहिए।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[५८-२] इसी प्रकार यावत्—स्तनितकुमार-भवनवासी देवों तक कहना चाहिए।

५९. एवं वाणमंतरा।

[५९] इसी प्रकार वाण-व्यन्तर देवों के विषय में भी रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

६०. एवं जोइसिया।

[६०] इसी प्रकार ज्योतिष्कदेवों के विषय में जानना चाहिए।

६१. [१] एवं सोहम्मकप्पोवगया वेमाणिया। एवं जाव अच्चुय०।

[६१-१] इसी प्रकार (रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिकों के समान) सौधर्मकल्पोपपन्नक वैमानिक देवों यावत्—अच्युत-कल्पोपपन्नक वैमानिक देवों तक के विषय में जानना चाहिए।

[२] गेवेज्जकप्पातीया वेमाणिया एवं चेव।

[६१-२] ग्रैवेयक-कल्पातीत वैमानिक देवों के विषय में भी इसी प्रकार जान लेना चाहिए।

[३] अणुत्तरोववाइयकप्पातीया वेमाणिया एवं चेव।

[६१-३] अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिक देवों के विषय में भी पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

६२. वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते! किं देशबंधे, सव्वबंधे?
गोयमा! देसबंधे वि, सव्वबंधे वि।

[६२ प्र.] भगवन्! वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध है अथवा सर्वबन्ध है?
[६२ उ.] गौतम! वह देशबन्ध भी है, सर्वबन्ध भी है।

६३. वाउक्काइयएगिंदिय०?
एवं चेव।

[६३ प्र.] भगवन्! वायुकायिक एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध है अथवा सर्वबन्ध है?
[६३ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

६४. रयणप्पभापुढविनेरइय०?
एवं चेव।

[६४ प्र.] भगवन्! रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिक-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध देशबन्ध है या सर्वबन्ध?
[६४ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए।

६५. एवं जाव अणुत्तरोववाइया।

[६५] इसी प्रकार यावत्—अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिक देवों तक समझना चाहिए।

६६. वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधे णं भंते! कालओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा! सव्वबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो समया। देसबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समयूणाइं।

[६६ प्र.] भगवन्! वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध, कालतः कितने काल तक रहता है?
[६६ उ.] गौतम! इसका सर्वबन्ध जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः दो समय तक

रहता है और देशबन्ध जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः एक समय कम तेतीस सागरोपम तक रहता है।

६७. वाउक्काइयएगिंदियवेउव्विय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं; देसबंधे जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[६७ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध कितने काल तक रहता है ?

[६७ उ.] गौतम ! इसका सर्वबन्ध जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः दो समय तक रहता है, तथा देशबन्ध जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है।

६८. [१] रयणप्पभापुढविनेरइय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं; देसबंधे जहन्नेणं दसवाससहस्साइं तिसमयऊणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं समऊणं।

[६८-१ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिक-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध कितने काल तक रहता है ?

[६८-१ उ.] गौतम ! इसका सर्वबन्ध एक समय तक रहता है, और देशबन्ध, जघन्यतः तीन समय कम दस हजार वर्ष तक तथा उत्कृष्टतः एक समय कम एक सागरोपम तक रहता है।

[२] एवं जाव अहेसत्तमा। नवरं देसबंधे जस्स जा जहन्निया ठिती सा तिसमयूणा कायव्वा, जा च उक्कोसिया सा समयूणा।

[६८-२] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तम नरकपृथ्वी तक जानना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि जिसकी जितनी जघन्य (आयु-) स्थिति हो, उसमें तीन समय कम जघन्य देशबन्ध तथा जिसकी जितनी उत्कृष्ट (आयु-) स्थिति हो, उसमें एक समय कम उत्कृष्ट देशबन्ध जानना चाहिए।

६९. पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण मणुस्साण य जहा वाउक्काइयाणं।

[६९] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का कथन वायुकायिक के समान जानना चाहिए।

७०. असुरकुमार-नागकुमार० जाव अणुत्तरोववाइयाणं जहा नेरइयाणं, नवरं जस्स जा ठिई सा भाणियव्वा जाव अणुत्तरोववाइयाणं सव्वबंधे एक्कं समयं; देसबंधे जहन्नेणं एक्कत्तीसं सागरोवमाइं तिसमयूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समयूणाइं।

[७०] असुरकुमार, नागकुमार, यावत्—अनुत्तरौपपातिक देवों का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि जिसकी जितनी स्थिति हो, उतनी कहनी चाहिए, यावत्—अनुत्तरौपपातिक देवों का सर्वबन्ध एक समय तक रहता है तथा देशबन्ध जघन्य तीन समय कम इकतीस सागरोपम और उत्कृष्ट एकसमय कम तेतीस सागरोपम तक का होता है।

७१. वेउव्वियसरीरप्पयोगबंधंतरं णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ जाव आवलियाए असंखेज्जइभागो। एवं देसबंधंतरं पि।

[७१ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कालतः कितने काल का होता है ?

[७१ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्तकाल है—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी यावत्—आवलिका के असंख्यातवें भाग के समयों के बराबर पुद्गलपरावर्तन तक रहता है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जान लेना चाहिए।

७२. वाउक्काइयवेउव्वियसरीर० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं। एवं देसबंधंतरं पि।

[७२ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[७२ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग होता है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जान लेना चाहिए।

७३. तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पयोगबंधंतरं० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडीपुहत्तं। एवं देसबंधंतरं पि।

[७३ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[७३ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व का होता है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जान लेना चाहिए।

७४. एवं मणूसस्स वि।

[७४] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी (पूर्ववत्) जान लेना चाहिए।

७५. जीवस्स णं भंते ! वाउकाइयत्ते नोवाउकाइयत्ते पुणरवि वाउकाइयत्ते वाउकाइय-एगिंदियवेउव्विय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो। एवं देसबंधंतरं पि।

[७५ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक अवस्थागत जीव (वहाँ से मर कर) वायुकायिक के सिवाय अन्य काय में उत्पन्न हो कर रहे, और फिर वह वहाँ से मर कर पुनः वायुकायिक जीवों में उत्पन्न हो तो उसके वायुकायिक-एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[७५ उ.] गौतम ! उसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल—वनस्पतिकाल तक होता है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जान लेना चाहिए।

७६. [१] जीवस्स णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइयत्ते णोरयणप्पभापुढवि० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो। देसबंधंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं; उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो।

[७६-१ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी नैरयिकरूप में रहा हुआ जीव, (वहाँ से मर कर) रत्नप्रभापृथ्वी के सिवाय अन्य स्थानों में उत्पन्न हो, और (वहाँ से मर कर) पुनः रत्नप्रभापृथ्वी में नैरयिकरूप से उत्पन्न हो तो उस रत्नप्रभानैरयिक-वैक्रियशरीरप्रयोगवन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[७६-१ उ.] गौतम ! (ऐसे जीव के वैक्रियशरीरप्रयोगवन्ध के) सर्वबन्ध का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट अनन्तकाल—वनस्पतिकाल का होता है। देशवन्ध का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल—वनस्पतिकाल का होता है।

[२] एवं जाव अहेसत्तमाए, नवरं जा जस्स ठिती जहन्निया सा सव्वबंधंतरे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव।

[७६-२] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तम नरकपृथ्वी तक जानना चाहिए। विशेष इतना है कि सर्वबन्ध का जघन्य अन्तर जिस नैरयिक की जितनी जघन्य (आयु-) स्थिति हो, उससे अन्तर्मुहूर्त अधिक जानना चाहिए। शेष सर्वकथन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७७. पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-मणुस्साण जहा वाउक्काइयाणं।

[७७] पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों और मनुष्यों के सर्वबन्ध का अन्तर वायुकायिक के समान जानना चाहिए।

७८. असुरकुमार-नागकुमार जाव सहस्सारदेवाणं एएसिं जहा रयणप्पभागाणं, नवरं सव्वबंधंतरे जस्स जा ठिती जहन्निया सा अंतोमुहुत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव।

[७८] [इसी प्रकार] असुरकुमार, नागकुमार यावत् सहस्रारदेवों तक के वैक्रियशरीर-प्रयोगवन्ध का अन्तर रत्नप्रभापृथ्वी-नैरयिकों के समान जानना चाहिए। विशेष इतना है कि जिसकी जो जघन्य (आयु-) स्थिति हो, उसके सर्वबन्ध का अन्तर, उससे अन्तर्मुहूर्त अधिक जानना चाहिए। शेष सारा कथन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७९. जीवस्स णं भंते ! आणयदेवत्ते नोआणय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं अट्ठारससागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं; उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो। देसबंधंतरं जहन्नेणं वासपुहत्तं; उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो। एवं जाव अच्चुए; नवरं जस्स जा ठिती सा सव्वबंधंतरे जहन्नेणं वासपुहत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव।

[७९ प्र.] भगवन् ! आनत देवलोक में देवरूप से उत्पन्न कोई देव, (वहाँ से च्यव कर) आनत देवलोक के सिवाय दूसरे जीवों में उत्पन्न हो जाए, (फिर वहाँ से मर कर) पुनः आनत देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हो, तो उस आनतदेव के वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[७९ उ.] गौतम ! उसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्य वर्ष-पृथक्त्वअधिक अठारह सागरोपम का और उत्कृष्ट अनन्तकाल—वनस्पतिकाल का होता है। देशबन्ध के अंतर का काल जघन्य वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्ट अनंतकाल—वनस्पतिकाल का होता है। इसी प्रकार यावत् अच्युत देवलोक तक के वैक्रियशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि जिसकी जितनी जघन्य (आयु-) स्थिति हो, सर्वबंधान्तर में उससे वर्षपृथक्त्व-अधिक समझना चाहिए। शेष सारा कथन पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

८०. गेवेज्जकप्पातीय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं; उक्कोसेणं अणंतं कालं, वणस्सइकालो। देसबंधंतरं जहन्नेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

[८० प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयककल्पातीत वैक्रिय-शरीर-प्रयोगबंध का अंतर कितने काल का होता है ?

[८० उ.] गौतम ! सर्वबंध का अंतर जघन्यतः वर्षपृथक्त्व-अधिक २२ सागरोपम का है और उत्कृष्टतः अनंतकाल—वनस्पतिकाल का होता है। देशबन्ध का अन्तर जघन्यतः वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्टतः वनस्पतिकाल का होता है।

८१. जीवस्स णं भंते ! अणुत्तरोववातिय० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं। देसबंधंतरं जहन्नेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं।

[८१ प्र.] भगवन् ! कोई अनुत्तरौपपातिकदेवरूप में रहा हुआ जीव वहाँ से च्यव कर, अनुत्तरौपपातिकदेवों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य स्थानों में उत्पन्न हो, और वहाँ से मरकर पुनः अनुत्तरौपपातिक देवरूप में उत्पन्न हो, तो उसके वैक्रियशरीर-प्रयोगबंध का अंतर कितने काल का होता है ?

[८१ उ.] गौतम ! उसके सर्वबंध का अंतर जघन्यतः वर्षपृथक्त्व-अधिक इकतीस सागरोपम का और उत्कृष्टतः संख्यातसागरोपम का होता है। उसके देशबंध का अंतर जघन्यतः वर्षपृथक्त्व का और उत्कृष्टतः संख्यात सागरोपम का होता है।

८२. एएसि णं भंते ! जीवाणं वेउव्वियसरीरस्स देसबंधगाणं सव्वबंधगाणं, अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा वेउव्वियसरीरस्स सव्वबंधगा, देसबंधगा असंखेज्जगुणा, अबंधगा अणंतगुणा।

[८२ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर के इन देशबन्धक, सर्वबन्धक और अबन्धक जीवों में, कौन किनसे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[८२ उ.] गौतम ! इनमें सबसे थोड़े वैक्रियशरीर के सर्वबन्धक जीव हैं; उनसे देशबन्धक जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे अबन्धक जीव अनन्तगुणे हैं।

विवेचन—वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के भेद-प्रभेद एवं विभिन्न पहलुओं से उससे सम्बन्धित विचारणा—प्रस्तुत ३१ सूत्रों (सू. ५२ से ८२ तक) में वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के भेद-प्रभेद, इसके कारणभूत कर्मोदयादि, इसका देशबन्धत्व-सर्वबन्धत्व-विचार, इसके प्रयोगबन्धकाल की सीमा, प्रयोगबन्ध का अन्तरकाल, प्रकारान्तर से प्रयोगबन्धान्तर, तथा इनके देश-सर्वबन्धक के अल्पबहुत्व की विचारणा की गई है।

वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के नौ कारण—औदारिकशरीरबन्ध के सवीर्यता, सयोगता आदि आठ कारण तो पहले बतला दिये गए हैं, वे ही ८ कारण वैक्रियशरीरबन्ध के हैं, नौवां कारण है—लब्धि। वैक्रियकरणलब्धि वायुकाय, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों की अपेक्षा से कारण बताई गई है। अर्थात्—इन तीनों के वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध नौ कारणों से होता है, जबकि देवों और नारकों के आठ कारणों से ही वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध होता है; क्योंकि उनका वैक्रियशरीर भवप्रत्ययिक होता है।

वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के रहने की कालसीमा—वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध भी दो प्रकार से होता है—देशबन्ध और सर्वबन्ध। वैक्रियशरीरी जीवों में उत्पन्न होता हुआ या लब्धि से वैक्रियशरीर बनाता हुआ कोई जीव प्रथम एक समय तक सर्वबन्धक रहता है। इसलिए सर्वबन्ध जघन्य एक समय तक रहता है। किन्तु कोई औदारिक शरीर वाला जीव वैक्रियशरीर धारण करते समय सर्वबन्धक होकर फिर मर कर देव या नारक हो तो प्रथम समय में वह सर्वबन्ध करता है, इस दृष्टि से वैक्रियशरीर के **'सर्वबन्ध' का उत्कृष्टकाल** दो समय का है। औदारिक शरीरी कोई जीव, वैक्रियशरीर करते हुए प्रथम समय में सर्वबन्धक होकर द्वितीय समय में देशबन्धक होता है और तुरंत ही मरण को प्राप्त हो जाए तो देशबन्ध जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट एक समय कम ३३ सागरोपम का है; क्योंकि देवों और नारकों में उत्कृष्टस्थिति में उत्पद्यमान जीव प्रथम समय में सर्वबन्धक होकर शेष समयों (३३ सागरोपम में एक समय कम तक) में वह देशबन्धक ही रहता है।

वायुकाय, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्य के वैक्रियशरीरीय देशबन्ध की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। नैरयिकों और देवों के वैक्रियशरीरीय देशबन्ध की स्थिति जघन्य तीन समय कम १० हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक समय कम तेतीस सागरोपम की होती है।

वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर—औदारिकशरीरी वायुकायिक कोई जीव वैक्रियशरीर का प्रारम्भ करे तथा प्रथम समय में सर्वबन्धक होकर मृत्यु प्राप्त करे, उसके पश्चात् वायुकायिकों में उत्पन्न हो तो उसे अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियशक्ति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वह अन्तर्मुहूर्त्त में पर्याप्त होकर वैक्रियशरीर करता है, तब सर्वबन्धक होता है। इसलिए सर्वबन्ध का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त होता है। औदारिकशरीरी कोई वायुकायिक जीव वैक्रियशरीर करे, तो उसके प्रथम-समय में वह सर्वबन्धक होता है। इसके बाद देशबन्धक होकर मरण को प्राप्त करे तथा औदारिक-शरीरी वायुकायिक में पल्योपम का असंख्यातवां भाग काल बिता कर अवश्य वैक्रियशरीर करता है। उस समय प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है, इसलिए सर्वबन्धक का उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवां भाग होता है।

रत्नप्रभापृथ्वी का दस हजार वर्ष की स्थितिवाला नैरयिक उत्पत्ति के प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है। वहाँ से काल करके गर्भजपंचेन्द्रिय में अन्तर्मुहूर्त्त रह कर पुनः रत्नप्रभापृथ्वी में

उत्पन्न होता है, तब प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है । इसीलिए इसके सर्वबन्धक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १० हजार वर्ष होता है ।

आनतकल्प का अठारह सागरोपम की स्थिति वाला कोई देव, उत्पत्ति के प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है । वहाँ से च्यव कर वर्षपृथक्त्व (दो वर्ष से नौ वर्ष तक) आयुष्यपर्यंत मनुष्य में रह कर पुन: उसी आनतकल्प में देव होकर प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है । इसलिए सर्वबन्ध का जघन्य अन्तर वर्षपृथक्त्व-अधिक १८ सागरोपम का होता है ।

अनुत्तरौपपातिक देवों में सर्वबन्ध और देशबन्ध का अन्तर संख्यात सागरोपम है; क्योंकि वहाँ से च्यवकर जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण नहीं करता ।

इसके अतिरिक्त वैक्रियशरीरप्रयोगबन्ध के देशबन्ध और सर्वबन्ध का अन्तर मूलपाठ में बतलाया गया है, वह सुगम है । उसकी घटना स्वयमेव कर लेनी चाहिए ।

वैक्रियशरीर के देश-सर्वबन्धकों का अल्पबहुत्व—वैक्रियशरीरप्रयोग के सर्वबन्धक जीव सबसे अल्प हैं, क्योंकि उनका काल अल्प है । उनसे देशबन्धक असंख्यातगुणे हैं; क्योंकि सर्वबन्धकों की अपेक्षा देशबन्धकों का काल असंख्यातगुणा है । उनसे वैक्रियशरीर के अबन्धक जीव अनन्तगुणे इसलिए हैं कि सिद्धजीव और वनस्पतिकायिक आदि जीव, जो वैक्रियशरीर के अबन्धक हैं, उनसे अनन्तगुणे हैं ।[1]

आहारकशरीरप्रयोगबन्ध का विभिन्न पहलुओं से निरूपण—

८३. आहारगसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

[८३ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[८३ उ.] गौतम ! आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध एक प्रकार का (एकाकार) कहा गया है ।

८४. [१] जइ एगागारे पण्णत्ते किं मणुस्साहारगसरीरप्पयोगबंधे ? किं अमणुस्साहारगसरीरप्पयोगबंधे ?

गोयमा ! मणुस्साहारगसरीरप्पयोगबंधे, नो अमणुस्साहारगसरीरप्पयोगबंधे ।

[८४-१ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध एक प्रकार का कहा गया है, तो वह मनुष्यों के होता है अथवा अमनुष्यों (मनुष्यों के सिवाय अन्य जीवों) के होता है ?

[८४-१ उ.] गौतम ! मनुष्यों के आहारकशरीरप्रयोगबन्ध होता है, अमनुष्यों के नहीं होता ।

[२] एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे जाव इड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कंतियमणुस्साहारगसरीरप्पयोगबंधे, णो अणिड्ढिपत्तपमत्त जाव आहारगसरीरप्पयोगबंधे ।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४०६ से ४०९ तक ।

[८४-२] इस प्रकार इस अभिलाप द्वारा (प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें) 'अवगाहना-संस्थान-पद' में कहे अनुसार; यावत्—ऋद्धिप्राप्त-प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीरप्रयोगबन्ध होता है, परन्तु अनृद्धिप्राप्त (ऋद्धि को अप्राप्त), प्रमत्त-संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्त-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिज-गर्भज-मनुष्य के नहीं होता है।

८५. आहारगसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए जाव लद्धि पडुच्च आहारगसरीरप्पयोगणामाए कम्मस्स उदएणं आहारगसरीरप्पयोगबंधे।

[८५ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[८५ उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता और सद्द्रव्यता, यावत् (आहारक-) लब्धि के निमित्त से, आहारकशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से आहारकशरीरप्रयोगबन्ध होता है।

८६. आहारगसरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे ?

गोयमा ! देसबंधे वि, सव्वबंधे वि।

[८६ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीरप्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध होता है, अथवा सर्वबन्ध होता है ?

[८६ उ.] गौतम ! वह देशबन्ध भी होता है, सर्वबन्ध भी होता है।

८७. आहारगसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं देसबंधे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[८७ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध, कालतः कितने काल तक रहता है ?

[८७ उ.] गौतम ! आहारकशरीरप्रयोगबन्ध का सर्वबन्ध एक समय तक रहता है; देशबन्ध जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है।

८८. आहारगसरीरप्पयोगबंधंतरं णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं—अणंताओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोया; अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं। एवं देसबंधंतरं पि।

[८८ प्र.] भगवन् ! आहारक-शरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[८८ उ.] गौतम ! इसके सर्वबन्ध का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल; कालतः अनन्त-उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल होता है, क्षेत्रतः अनन्तलोक देशोन (कुछ कम) अपार्ध (अर्द्ध) पुद्गलपरावर्तन होता है। इसी प्रकार देशबन्ध का अन्तर भी जानना चाहिए।

८९. एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगसरीरस्स देसबंधगाणं, सव्वबंधगाणं, अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसरीरस्स सव्वबंधगा, देसबंधगा संखेज्जगुणा, अबंधगा अणंतगुणा ।

[८९ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर के इन देशबन्धक, सर्वबन्धक और अबन्धक जीवों में कौन किनसे कम, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[८९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े आहारकशरीर के सर्वबन्धक जीव हैं, उनसे देशबन्धक संख्यातगुणे हैं और उनसे अबन्धक जीव अनन्तगुणे हैं ।

विवेचन—आहारकशरीरप्रयोगबन्ध का विभिन्न पहलुओं से निरूपण—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८३ से ८९ तक) में आहारकशरीरप्रयोगबन्ध, उसका प्रकार, उसकी कालावधि, उसका अन्तर-काल, उसके देश-सर्वबन्धकों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है ।

आहारकशरीरप्रयोगबन्ध के अधिकारी—केवल मनुष्य ही हैं । उनमें भी ऋद्धि (लब्धि)-प्राप्त, प्रमत्त-संयत, सम्यग्दृष्टि, पर्याप्त, संख्यातवर्ष की आयु वाले, कर्मभूमि में उत्पन्न, गर्भज मनुष्य ही होते हैं ।

आहारकशरीरप्रयोगबन्ध की कालावधि—इसका सर्वबन्ध एक समय का ही होता है, और देशबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही है, क्योंकि इसके पश्चात् आहारकशरीर रहता ही नहीं है । उस अन्तर्मुहूर्त्त के प्रथम समय में सर्वबन्ध होता है, तदनन्तर देशबन्ध ।

आहारकशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर—आहारकशरीर को प्राप्त हुआ जीव, प्रथम समय में सर्वबन्धक होता है, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त्त तक आहारकशरीरी रहकर पुनः अपने मूल औदारिक-शरीर को प्राप्त हो जाता है । वहाँ अन्तर्मुहूर्त्त रहने के बाद पुनः संशयादि-निवारण के लिए उसे आहारकशरीर बनाने का कारण उत्पन्न होने पर पुनः आहारकशरीर बनाता है; और उसके प्रथम समय में वह सर्वबन्धक ही होता है । इस प्रकार सर्वबन्ध का अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का होता है । यहाँ इन दोनों अन्तर्मुहूर्त्तो को एक अन्तर्मुहूर्त्त की विवक्षा करके एक अन्तर्मुहूर्त्त बताया गया है; तथा उत्कृष्ट अन्तर काल की अपेक्षा अनन्तकाल का—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का है और क्षेत्र की अपेक्षा अनन्तलोक-अपार्धपुद्गलपरावर्तन का होता है । देशबन्ध के अन्तर के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए ।

आहारकशरीर-प्रयोगबन्ध के देश-सर्वबन्धकों का अल्पबहुत्व—आहारकशरीर के सर्वबन्धक इसलिए सबसे कम बताए हैं कि उनका समय अल्प ही होता है । उनसे देशबन्धक संख्यातगुणे इसलिए बताए हैं कि देशबन्ध का काल बहुत है । वे संख्यातगुणे ही होते हैं, असंख्यातगुणे नहीं; क्योंकि मनुष्य ही संख्यात हैं । इस कारण आहारकशरीर के देशबन्धक भी असंख्यातगुणे नहीं हो सकते । उनसे अबन्धक अनन्तगुणे इसलिए बताए हैं कि आहारकशरीर केवल मनुष्यों के, उनमें भी किन्हीं संयतजीवों के और उनके भी कदाचित् ही होता है, सर्वदा नहीं । शेष काल में वे जीव (स्वयं) तथा सिद्ध जीव तथा वनस्पतिकायिक आदि शेष सभी मनुष्येतर जीव आहारकशरीर के अबंधक होते हैं और वे उनसे अनन्तगुणे हैं ।[1]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४०९

तैजसशरीरप्रयोगबन्ध के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से निरूपण—

९०. तेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—एगिंदियतेयासरीरप्पयोगबंधे, बेइंदिय०, तेइंदिय०, जाव पंचिंदियतेयासरीरप्पयोगबंधे ।

[९० प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९० उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार—एकेन्द्रिय-तैजसशरीरप्रयोगबन्ध, द्वीन्द्रिय-तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध, त्रीन्द्रिय-तैजसशरीरप्रयोगबन्ध, चतुरिन्द्रिय-तैजसशरीरप्रयोगबन्ध और पंचेन्द्रिय-तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध ।

९१. एगिंदियतेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा ओगाहणसंठाणे जाव पज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय-कप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियतेयासरीरप्पयोगबंधे य अपज्जत्तसव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव बंधे य ।

[९१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९१ उ.] गौतम ! इस प्रकार इस अभिलाप द्वारा जैसे—(प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें) अवगाहनासंस्थानपद में भेद कहे हैं, वैसे यहाँ भी यावत्—पर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध और अपर्याप्त-सर्वार्थसिद्ध-अनुत्तरौपपातिक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रिय-तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध; यहाँ तक कहना चाहिए ।

९२. तेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए जाव आउयं वा पडुच्च तेयासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं तेयासरीरप्पयोगबंधे ।

[९२ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[९२-उ.] गौतम ! सवीर्यता, सयोगता और सद्द्रव्यता, यावत् आयुष्य के निमित्त से, तथा तैजसशरीरप्रयोगनामकर्म के उदय से तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध होता है ।

९३. तेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे सव्वबंधे ?

गोयमा ! देसबंधे, नो सव्वबंधे ।

[९३ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध क्या देशबन्ध होता है, अथवा सर्वबन्ध होता है ?

[९३ उ.] गौतम ! देशबन्ध होता है, सर्वबन्ध नहीं होता ।

९४. तेयासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणाईए वा अपज्जवसिए, अणाईए वा सपज्जवसिए ।

[९४ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीरप्रयोगबन्ध कालतः कितने काल तक रहता है ?

[९४ उ.] गौतम ! तैजसशरीरप्रयोगबन्ध (कालतः) दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित और (२) अनादि-सपर्यवसित।

९५. तेयासरीरप्पयोगबंधंतरं णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! अणाईयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणाईयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं।

[९५ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर, कालतः कितने काल का होता है ?

[९५ उ.] गौतम ! (इसके कालतः दो प्रकारों में से) न तो अनादि-अपर्यवसित तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर है और न ही अनादि सपर्यवसित तैजसशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर है।

९६. एएसि णं भंते ! जीवाणं तेयासरीरस्स देसबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा तेयासरीरस्स अबंधगा, देसबंधगा अणंतगुणा।

[९६ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर के इन देशबन्धक और अबन्धक जीवों में कौन, किससे कम, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[९६ उ.] गौतम ! तैजस-शरीर के अबन्धक जीव सबसे थोड़े हैं, उनसे देशबन्धक जीव अनन्तगुणे हैं।

विवेचन—तैजसशरीरप्रयोगबन्ध के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओं से विचारणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ९० से ९६ तक) में पूर्ववत् विभिन्न पहलुओं से तैजसशरीरप्रयोगबन्ध से सम्बन्धित विचारणा की गई है।

तैजसशरीरप्रयोगबन्ध का स्वरूप—तैजसशरीर अनादि है, इसलिए इसका सर्वबन्ध नहीं होता। तैजसशरीरप्रयोगबन्ध अभव्यजीवों के अनादि-अपर्यवसित (अन्तरहित) होता है, जबकि भव्य जीवों के अनादि-सपर्यवसित (सान्त) होता है। तैजसशरीर सर्व संसारी जीवों के सदैव रहता है, इसलिए तैजसशरीरप्रयोगबन्ध का अन्तर नहीं होता। तैजसशरीर के अबन्धक केवल सिद्धजीव ही होते हैं, शेष सभी संसारी जीव इसके देशबन्धक हैं, इस दृष्टि से सबसे अल्प इसके अबन्धक बतलाए गए हैं, उनसे अनन्तगुणे देशबन्धक इसलिए बताए गए हैं, कि शेष समस्त संसारी जीव सिद्धजीवों से अनन्तगुणे हैं।[1]

कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध के भेद-प्रभेदों की अपेक्षा विभिन्न दृष्टियों से निरूपण—

९७. कम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे जाव अंतराइय-कम्मासरीरप्पयोगबंधे।

[९७ प्र.] भगवन् ! कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४१०

[९७ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध, यावत्—अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध।

९८. णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणणिण्हवणयाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासादणाए णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे।

[९८ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय-कार्मण-शरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[९८ उ.] गौतम ! ज्ञान की प्रत्यनीकता (विपरीतता या विरोध) करने से, ज्ञान का निह्नव (अपलाप) करने से, ज्ञान में अन्तराय देने से, ज्ञान से प्रद्वेष करने (ज्ञान के दोष निकालने) से, ज्ञान की अत्यन्त आशातना करने से, ज्ञान के अविसंवादन-योग से, तथा ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोग नामकर्म के उदय से ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

९९. दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! दंसणपडिणीययाए एवं जहा णाणावरणिज्जं, नवरं 'दंसण' नाम घेत्तव्वं जाव दंसणविसंवादणाजोगेणं दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं जाव प्पओगबंधे।

[९९ प्र.] भगवन् ! दर्शनावरणीय-कार्मण-शरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[९९-उ.] गौतम ! दर्शन की प्रत्यनीकता से, इत्यादि जिस प्रकार ज्ञानावरणीय-कार्मण-शरीर-प्रयोगबन्ध के कारण कहे गए हैं, उसी प्रकार दर्शनावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध के भी कारण जानने चाहिए। विशेष अन्तर इतना ही है कि यहाँ ('ज्ञान' के स्थान में) 'दर्शन' शब्द कहना चाहिए; यावत्—'दर्शन-विसंवादन-योग से, तथा दर्शनावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से दर्शनावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है'; यहाँ तक कहना चाहिए।

१००. सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?

गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए, एवं जहा सत्तमसए दुस्समा-उ (छट्ठु) द्देसए जाव अपरियावणयाए (स. ७ उ. ६ सु. २४) सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं सायावेयणिज्जकम्मा जाव पयोगबंधे।

[१०० प्र.] भगवन् ! सातावेदनीयकर्मशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०० उ.] गौतम ! प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, भूतों (चार स्थावर जीवों) पर अनुकम्पा करने से इत्यादि, जिस प्रकार (भगवतीसूत्र के) सातवें शतक के दुःषम नामक छठे उद्देशक (सू. २४) में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी, यावत्—प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को परिताप उत्पन्न न करने से तथा सातावेदनीय-कर्मशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से सातावेदनीय-कर्मशरीर-प्रयोगबन्ध होता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

१०१. अस्सायावेयणिज्ज० पुच्छा।

गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दुस्समा-उ (छट्ठु)द्देसए जाव परियावणयाए (स. ७ उ. ६ सु. २८) अस्सायावेयणिज्जकम्मा जाव पयोगबंधे।

[१०१ प्र.] भगवन् ! असातावेदनीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०१ उ.] गौतम ! दूसरे जीवों को दुःख पहुँचाने से, उन्हें शोक उत्पन्न करने से इत्यादि; जिस प्रकार (भगवतीसूत्र के) सातवें शतक के 'दुःषम' नामक छठे उद्देशक (के सूत्र २८) में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी, यावत्—उन्हें परिताप उत्पन्न करने से तथा असातावेदनीय-कर्म-शरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से असातावेदनीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है; यहाँ तक कहना चाहिए।

१०२. मोहणिज्जकम्मासरीरप्पयोग० पुच्छा।

गोयमा ! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायाए तिव्वलोभाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे।

[१०२ प्र.] भगवन् ! मोहनीय-कर्मशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०२ उ.] गौतम ! तीव्र क्रोध से, तीव्र मान से, तीव्र माया से, तीव्र लोभ से, तीव्र दर्शन-मोहनीय से और तीव्र चारित्रमोहनीय से तथा मोहनीय-कार्मणशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से, मोहनीय-कार्मण-शरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०३. नेरइयाउयकम्मासरीरप्पयोगबंधे णं भंते ! पुच्छा०।

गोयमा ! महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं नेरइयाउयकम्मासरीर-प्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउयकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे।

[१०३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०३-उ.] गौतम ! महारम्भ करने से, महापरिग्रह से, पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करने से और मांसाहार करने से, तथा नैरयिकायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से, नैरयिकायुष्य-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०४. तिरिक्खजोणियाउयकम्मासरीरप्पयोग० पुच्छा।

गोयमा ! माइल्लयाए नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतूल-कूडमाणेणं तिरिक्खजोणिय-कम्मासरीर जाव पयोगबंधे।

[१०४ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक-आयुष्य-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०४ उ.] गौतम ! माया करने से, निकृति (परवंचनार्थ चेष्टा या माया को छिपाने हेतु दूसरी गूढ़ माया) करने से, मिथ्या बोलने से, खोटा तौल और खोटा माप करने से, तथा तिर्यञ्च-योनिक-आयुष्य-कार्मणशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से तिर्यञ्चयोनिक-आयुष्य-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०५. मणुस्सआउयकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणक्कोसयाए अमच्छरिययाए मणुस्साउयकम्मा० जाव पयोगबंधे।

[१०५ प्र.] भगवन् ! मनुष्यायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०५ उ.] गौतम ! प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की विनीतता (नम्रता) से, दयालुता से, अमत्सरभाव से तथा मनुष्यायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से, मनुष्यायुष्य-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०६. देवाउयकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए देवाउयकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे।

[१०६-प्र.] भगवन् ! देवायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०६-उ.] गौतम ! सराग-संयम से, संयमासंयम (देशविरति) से, बाल (अज्ञानपूर्वक) तपस्या से तथा अकामनिर्जरा से, एवं देवायुष्य-कार्मणशरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से, देवायुष्य-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०७. सुभनामकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा-सरीर० जाव पयोगबंधे।

[१०७ प्र.] भगवन् ! शुभनाम-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०७ उ.] गौतम ! काया की ऋजुता (सरलता) से, भावों की ऋजुता से, भाषा की ऋजुता (सरलता) से तथा अविसंवादनयोग से एवं शुभनाम-कार्मणशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से शुभनाम-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०८. असुभनामकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! कायअणुज्जुययाए भावअणुज्जुययाए भासअणुज्जुययाए विसंवायणाजोगेणं असुभ-नामकम्मा० जाव पयोगबंधे।

[१०८ प्र.] भगवन् ! अशुभनाम-कार्मणशरीरप्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०८ उ.] गौतम ! काया की वक्रता से, भावों की वक्रता से, भाषा की वक्रता (अनृजुता) से तथा विसंवादन-योग से एवं अशुभनाम-कार्मणशरीर-प्रयोग-नामकर्म के उदय से अशुभनामकार्मण-शरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

१०९. उच्चागोयकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! जातिअमदेणं कुलअमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे।

[१०९ प्र.] भगवन् ! उच्चगोत्र-कार्मणशरीर-प्रयोगवन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१०९ उ.] गौतम ! जातिमद न करने से, कुलमद न करने से, वलमद न करने से, रूपमद न करने से, तपोमद न करने से, श्रुतमद (ज्ञान का मद) न करने से, लाभमद न करने से और ऐश्वर्यमद न करने से तथा उच्चगोत्र-कार्मण-शरीरप्रयोग-नामकर्म के उदय से उच्चगोत्रकार्मणशरीर-प्रयोगवन्ध होता है।

११०. नीयागोयकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! जातिमदेणं कुलमदेणं वलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मासरीर० जाव पयोगवंधे।

[११० प्र.] भगवन् ! नीचगोत्र-कार्मण-शरीर-प्रयोगवन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[११० उ.] गौतम ! जातिमद करने से, कुलमद करने से, वलमद करने से, रूपमद करने से, तपोमद करने से, श्रुतमद करने से, लाभमद करने से और ऐश्वर्यमद करने से तथा नीचगोत्र-कार्मण-शरीर-प्रयोग नामकर्म के उदय से नीचगोत्र-कार्मणशरीरप्रयोगवन्ध होता है।

१११. अंतराइयकम्मासरीर० पुच्छा।

गोयमा ! दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइय-कम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगवंधे।

[१११] भगवन् ! अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगवन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

[१११] गौतम ! दानान्तराय से, लाभान्तराय से, भोगान्तराय से, उपभोगान्तराय से और वीर्यान्तराय से, तथा अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगनामकर्म के उदय से अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोग-वन्ध होता है।

११२. [१] णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगवंधे णं भंते ! किं देसवंधे सव्ववंधे ?

गोयमा ! देसवंधे, णो सव्ववंधे।

[११२-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगवन्ध क्या देशवन्ध है अथवा सर्ववन्ध है ?

[११२-१ उ.] गौतम ! वह देशवन्ध है, सर्ववन्ध नहीं है।

[२] एवं जाव अंतराइयकम्मासरीरप्पओगवंधे।

[११२-२] इसी प्रकार यावत् अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगवन्ध तक जानना चाहिए।

११३. णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगवंधे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगवंधे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अणाईए सपज्ज-वसिए, अणाईए अपज्जवसिए वा, एवं जहा तेयगसरीरसंचिट्ठणा तहेव।

[११३ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध कालतः कितने काल तक रहता है ?

[११३ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध (काल की अपेक्षा से) दो प्रकार का कहा गया है। यथा—अनादि-सपर्यवसित और अनादि-अपर्यवसित। जिस प्रकार तैजसशरीर प्रयोगबन्ध का स्थितिकाल (सू. ९४ में) कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

११४. एवं जाव अंतराइयकम्मस्स।

[११४] इसी प्रकार यावत्—अन्तराय-कर्म-(कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध के स्थितिकाल) तक कहना चाहिए।

११५. णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पयोगबंधंतरं णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! अणाईयस्स० एवं जहा तेयगसरीरस्स अंतरं तहेव।

[११५ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[११५ उ.] गौतम ! (ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध के कालतः) अनादि-अपर्यवसित और अनादि-सपर्यवसित (इन दोनों रूपों) का अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार तैजसशरीर-प्रयोगबन्ध के अन्तर के विषय में कहा गया था, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

११६. एवं जाव अंतराइयस्स।

[११६] इसी प्रकार यावत्—अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध के अन्तर तक समझना चाहिए।

११७. एएसि णं भंते ! जीवाणं नाणावरणिज्जस्स देसबंधगाणं, अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो० ?

जाव अप्पाबहुगं जहा तेयगस्स।

[११७ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर के इन देशबन्धक और अबन्धक जीवों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार तैजसशरीरप्रयोगबंध के देशबन्धकों एवं अबन्धकों के अल्पबहुत्व के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।

११८. एवं आउयवज्जं जाव अंतराइयस्स।

[११८] इसी प्रकार आयुष्य को छोड़ कर यावत् अन्तराय-कार्मणशरीर-प्रयोगबंध के देशबन्धकों और अबन्धकों के अल्पबहुत्व के विषय में कहना चाहिए।

११९. आउयस्स पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आउयस्स कम्मस्स देसबंधगा, अबंधगा संखेज्जगुणा।

[११९ प्र.] भगवन् ! आयुष्यकार्मणशरीर-प्रयोगबंध के देशबन्धक और अबन्धक जीवों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[११९ उ.] गौतम! आयुष्यकर्म के देशबन्धक जीव सबसे थोड़े हैं, उनसे अबन्धक जीव संख्यातगुणे हैं।

विवेचन—कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध का भेद-प्रभेदों की अपेक्षा विभिन्न दृष्टियों से निरूपण—प्रस्तुत २३ सूत्रों (सू. ९७ से ११९ तक) में कार्मणशरीर के ज्ञानावरणीयादि आठ भेदों को लेकर उस-उस कर्म के भेद की अपेक्षा प्रयोगबन्ध की पूर्ववत् विचारणा की गई है।

कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध : स्वरूप, भेद-प्रभेदादि एवं कारण—आठ प्रकार के कर्मों के पिण्ड को कार्मणशरीर कहते हैं। ज्ञानावरणीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध आदि आठों के वे ही कारण बताए हैं जो उन-उन कर्मों के कारण हैं। जैसे—ज्ञानावरणीय के ६ कारण हैं, वे ही ज्ञानावरणीय कार्मण-शरीरप्रयोगबन्ध के हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण—इन दोनों कर्मों के कारण समान हैं, सिर्फ ज्ञान और दर्शन शब्द का अन्तर है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के जो कारण बताए गए हैं, उनमें ज्ञानप्रत्यनीकता, दर्शनप्रत्यनीकता आदि का ज्ञान और ज्ञानीपुरुष, तथा दर्शन और दर्शनीपुरुष की प्रत्यनीकता आदि अर्थ समझना चाहिए।

ज्ञानावरणीयादि अष्ट-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध देशबन्ध होता है, सर्वबन्ध नहीं—देशबन्ध के ही तैजसशरीरप्रयोगबन्ध की तरह अनादि-अपर्यवसित और अनादि-सपर्यवसित ये दो भेद हैं। इन दोनों का अन्तर नहीं है।

आयुकर्म के देशबन्धक—आयुष्यकर्म के देशबन्धक सबसे थोड़े हैं और अबन्धक उनसे संख्यातगुण हैं; क्योंकि आयुष्यबन्ध का समय बहुत ही थोड़ा है, और अबन्ध का समय उससे बहुत अधिक है। यह सूत्र अनन्तकायिक जीवों की अपेक्षा से है। वहाँ अनन्तकायिक जीव संख्यातजीवित ही है। उनमें आयुष्य के अबन्धक देशबन्धकों से संख्यातगुण ही होते हैं। यद्यपि सिद्धजीव, जो आयुष्य के अबन्धक हैं, उन्हें भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाए तो भी वे देशबन्धकों से संख्यातगुण ही होते हैं, क्योंकि सिद्ध आदि अबन्धक अनन्त जीव भी अनन्तकायिक आयुष्यबन्धक जीवों के अनन्तवें भाग ही होते हैं।

जीव जिस समय आयुष्यकर्म के बन्धक होते हैं, उस समय उन्हें सर्वबन्धक इसलिए नहीं कहा गया है कि जिस प्रकार औदारिकशरीर को बांधते समय जीव प्रथम समय में शरीरयोग्य सब पुद्गलों को एक साथ खींचता है, उस प्रकार अविद्यमान समग्र आयु प्रकृति को नहीं बांधता, इसलिए आयुकर्म का सर्वबन्ध नहीं होता।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**णाणनिह्नवणयाए**=ज्ञान की—श्रुत की या श्रुतगुरुओं की निह्नवता (अपलाप) से। **णाणंतराएण**=ज्ञान-श्रुत में अन्तराय—शास्त्र-ज्ञान के ग्रहण करने आदि में विघ्न डालना। **णाणप्पओसेणं**=ज्ञान-श्रुतादि या ज्ञानवानों के प्रति प्रद्वेष-अप्रीति से। **णाणऽच्चासायणाए**—ज्ञान या ज्ञानियों की अत्यन्त आशातना—हीलना से। **णाणविसंवायणाजोगेणं**=विसंवादन का अर्थ है—अतिशय ज्ञानियों द्वारा और रूप में प्रतिपादित तथ्य को अन्यथा कहना या विपरीत प्ररूपणा करना। ज्ञान या ज्ञानियों के प्रतिपादित तथ्यों में दोषदर्शन रूप अन्यथा व्यापार। तद्रूप योग-ज्ञान-विसंवादन योग से। **दंसणपडिणीययाए**=दर्शन—चक्षुदर्शनादि की प्रत्यनीकता से। **तिव्वदंसण-**

1. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४११-४१२

मोहणिज्जयाए=तीव्र मिथ्यात्व—तीव्र दर्शनमोहनीय के कारण से। **तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए**=यहाँ कषाय से अतिरिक्त नोकषायरूप चारित्रमोहनीय का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि तीव्रक्रोधादिवश कषायचारित्रमोहनीय के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। **साणुक्कोसयाए**=अनुकम्पायुक्तता से।[1]

पांच शरीरों के एक दूसरे के साथ बन्धक-अबन्धक की चर्चा-विचारणा—

१२०. [१] **जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?**

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए।

[१२०-१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के औदारिकशरीर का सर्वबन्ध है, क्या वह जीव वैक्रियशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२०-१ उ.] गौतम ! वह बन्धक नहीं, अबन्धक है।

[२] **आहारगसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?**

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए।

[१२०-२ प्र.] भगवन् ! (जिस जीव के औदारिकशरीर का सर्वबन्ध है) क्या वह जीव आहारकशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२०-२ उ.] गौतम ! वह बन्धक नहीं, अबन्धक है।

[३] **तेयासरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?**

गोयमा ! बंधए, नो अबंधए।

[१२०-३ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के औदारिक शरीर का सर्वबन्ध है, क्या वह जीव तैजसशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२०-३ उ.] गौतम ! वह बन्धक है, अबन्धक नहीं।

[४] **जइ बंधए किं देसबंधए, सव्वबंधए ?**

गोयमा ! देसबंधए, नो सव्वबंधए।

[१२०-४ प्र.] भगवन् ! यदि वह तैजसशरीर का बन्धक है, तो क्या वह देशबन्धक है या सर्वबन्धक ?

[१२०-४ उ.] गौतम ! वह देशबन्धक है, सर्वबन्धक नहीं।

[५] **कम्मासरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?**

जहेव तेयगस्स जाव देसबंधए, नो सव्वबंधए।

[१२०-५ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर का सर्वबन्धक जीव कार्मणशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ४११-४१२

[१२०-५ उ.] गौतम ! जैसे तैजसशरीर के विषय में कहा है, वैसे यहाँ भी, यावत्-देशबन्धक है, सर्वबन्धक नहीं, यहाँ तक कहना चाहिए ।

१२१. जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए ।

[१२१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के औदारिकशरीर का देशबन्ध है, भगवन् ! क्या वह वैक्रियशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

१२२. एवं जहेव सव्वबंधेणं भणियं तहेव देसबंधेण वि भाणियव्वं जाव कम्मगस्स ।

[१२२] जिस प्रकार सर्वबन्धक के विषय में (उपर्युक्त) कथन किया, उसी प्रकार देशबन्ध के विषय में भी यावत्—कर्मणशरीर तक कहना चाहिए ।]

१२३. [१] जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए ।

[१२३-१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के वैक्रियशरीर का सर्वबन्ध है, क्या वह औदारिकशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२३-१ उ.] गौतम ! वह बन्धक नहीं, अबन्धक है ।

[२] आहारगसरीरस्स एवं चेव ।

[१२३-२] इसी प्रकार आहारकशरीर के विषय में कहना चाहिए ।

[३] तेयगस्स कम्मगस्स य जहेव ओरालिएणं समं भणियं तहेव भाणियव्वं जाव देसबंधए, नो सव्वबंधए ।

[१२३-३] तैजस और कार्मणशरीर के विषय में जैसे औदारिकशरीर के साथ कथन किया है, वैसा ही कहना चाहिए, यावत्—वह देशबन्धक है, सर्वबन्धक नहीं, यहाँ तक कहना चाहिए ।

१२४. [१] जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए ।

[१२४-१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के वैक्रियशरीर का देशबन्ध है, क्या वह औदारिकशरीर का बन्धक है, अथवा अबन्धक है ?

[१२४-१ उ.] गौतम ! वह बन्धक नहीं, अबन्धक है ।

[२] एवं जहा सव्वबंधेणं भणियं तहेव देसबंधेण वि भाणियव्वं जाव कम्मगस्स ।

[१२४-२] इसी प्रकार जैसे वैक्रियशरीर के सर्वबन्ध के विषय में कहा गया, वैसे ही यहाँ भी देशबन्ध के विषय में यावत्—कार्मणशरीर तक कहना चाहिए।

१२५. [१] जस्स णं भंते ! आहारगसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?

गोयमा ! नो बंधए, अबंधए।

[१२५-१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के आहारकशरीर का सर्वबन्ध है, वह जीव औदारिक-शरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२५-१ उ.] गौतम ! वह बन्धक है, अबन्धक नहीं।

[२] एवं वेउव्वियस्स वि।

[१२५-२] इसी प्रकार वैक्रियशरीर के विषय में कहना चाहिए।

[३] तेया-कम्माणं जहेव ओरालिएणं समं भणियं तहेव भाणियव्वं।

[१२५-३] तैजस और कार्मणशरीर के विषय में जैसे औदारिकशरीर के साथ कहा, वैसे यहाँ (आहारकशरीर के साथ) भी कहना चाहिए।

१२६. जस्स णं भंते आहारगसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स० ?

एवं जहा आहारगसरीरस्स सव्वबंधेणं भणियं तहा देसबंधेण वि भाणियव्वं जाव कम्मगस्स।

[१२६ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के आहारकशरीर का देशबन्ध है, वह औदारिकशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार आहारकशरीर के सर्वबन्ध के विषय में कहा, उसी प्रकार उसके देशबन्ध के विषय में भी यावत्—कार्मणशरीर तक कहना चाहिए।

१२७. [१] जस्स णं भंते ! तेयासरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?

गोयमा ! बंधए वा अबंधए वा।

[१२७-१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के तैजसशरीर का देशबन्ध है, वह औदारिकशरीर का बन्धक है या अबन्धक ?

[१२७-१ उ.] गौतम ! वह बन्धक भी है, अबन्धक भी है।

[२] जइ बंधए किं देसबंधए, सव्वबंधए ?

गोयमा ! देसबंधए वा, सव्वबंधए वा।

[१२७-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह औदारिकशरीर का बन्धक है, तो वह क्या देशबन्धक है अथवा सर्वबन्धक है ?

[१२७-२ उ.] गौतम ! वह देशवन्धक भी है, सर्ववन्धक भी है।

[३] वेउव्वियसरीरस्स किं वंधए, अवंधए ?

एवं चेव।

[१२७-३ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर का वन्धक जीव वैक्रियशरीर का वन्धक है अथवा अवन्धक ?

[१२७-३ उ.] गौतम ! पूर्ववक्तव्यानुसार समझना चाहिए।

[४] एवं आहारगसरीरस्स वि।

[१२७-४] इसी प्रकार आहारकशरीर के विषय में भी जानना चाहिए।

[५] कम्मगसरीरस्स किं वंधए, अवंधए ?

गोयमा ! वंधए, नो अवंधए।

[१२७-५ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर का वन्धक जीव कार्मणशरीर का वन्धक है या अवन्धक ?

[१२७-५ उ.] गौतम ! वह वन्धक है, अवन्धक नहीं।

[६] जइ वंधए किं देसवंधए, सव्ववंधए ?

गोयमा ! देसवंधए, नो सव्ववंधए।

[१२७-६ प्र.] भगवन् ! यदि वह कार्मणशरीर का वन्धक है तो देशवन्धक है या सर्व-वन्धक ?

[१२७-६ उ.] गौतम ! वह देशवन्धक है, सर्ववन्धक नहीं।

१२८. जस्स णं भंते ! कम्मगसरीरस्स देसवंधए से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स ?

जहा तेयगस्स वत्तव्वया भणिया तहा कम्मगस्स वि भाणियव्वा जाव तेयासरीरस्स जाव देसवंधए, नो सव्ववंधए।

[१२८ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के कार्मणशरीर का देशवन्ध है, वह औदारिकशरीर का वन्धक है या अवन्धक ?

[१२८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार तैजसशरीर की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार कार्मण-शरीर की भी, यावत्—'तैजसशरीर' तक यावत्—देशवन्धक है, सर्ववन्धक नहीं, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—पांचों शरीरों के एक-दूसरे के साथ वन्धक-अवन्धक की चर्चा-विचारणा—प्रस्तुत ९ सूत्रों (सू. १२० से १२८ तक) में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, इन पांचों शरीरों के परस्पर एक दूसरे के साथ वन्धक-अवन्धक तथा देशवन्ध-सर्ववन्ध की चर्चा-विचारणा की गई है।

पांच शरीरों में परस्पर बन्धक-अबन्धक—औदारिक और वैक्रिय, इन दो शरीरों का परस्पर एक साथ वन्ध नहीं होता, इसी प्रकार औदारिक और आहारकशरीर का भी एक साथ वन्ध नहीं होता। अतएव औदारिकशरीरवन्धक जीव वैक्रिय और आहारक का अवन्धक होता है, किन्तु तैजस और कार्मणशरीर का औदारिकशरीर के साथ कभी विरह नहीं होता। इसीलिए वह इनका देशवन्धक होता है। इन दोनों शरीरों का सर्ववन्ध तो कभी होता ही नहीं।

तैजस कार्मणशरीर का देशबन्धक औदारिकशरीर का वन्धक और अबन्धक कैसे?—तैजसशरीर और कार्मणशरीर का देशवन्धक जीव औदारिकशरीर का वन्धक भी होता है, अवन्धक भी, इसका आशय यह है कि विग्रहगति में वह अवन्धक होता है तथा वैक्रिय में हो या आहारक में, तव भी वह औदारिकशरीर का अवन्धक ही रहता है, और शेष समय में वन्धक होता है। उत्पत्ति के प्रथम समय में वह सर्ववन्धक होता है, जवकि द्वितीय आदि समयों में वह देशवन्धक हो जाता है। इसी प्रकार कार्मणशरीर के विषय में भी समझना चाहिए।

शेष शरीरों के साथ वन्धक-अवन्धक आदि का कथन सुगम है, स्वयमेव घटित कर लेना चाहिए।[1]

औदारिक आदि पांच शरीरों के देश-सर्वबन्धकों एवं अबन्धकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—

१२९. एएसि णं भंते! जीवाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेया-कम्मासरीरगाणं देसबंधगाणं सव्वबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा?

गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसरीरस्स सव्वबंधगा १। तस्स चेव देसबंधगा संखेज्जगुणा २। वेउव्वियसरीरस्स सव्वबंधगा असंखेज्जगुणा ३। तस्स चेव देसबंधगा असंखेज्जगुणा ४। तेया-कम्मगाणं दुण्ह वि तुल्ला अबंधगा अणंतगुणा ५। ओरालियसरीरस्स सव्वबंधगा अणंतगुणा ६। तस्स चेव अबंधगा विसेसाहिया ७। तस्स चेव देसबंधगा असंखेज्जगुणा ८। तेया-कम्मगाणं देसबंधगा विसेसाहिया ९। वेउव्वियसरीरस्स अबंधगा विसेसाहिया १०। आहारगसरीरस्स अबंधगा विसेसाहिया ११।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ अट्ठमसए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१२९ प्र.] भगवन्! इन औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर के देशवन्धक, सर्ववन्धक और अवन्धक जीवों में कौन किनसे कम, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं?

[१२९ उ.] गौतम! (१) सबसे थोड़े आहारकशरीर के सर्ववन्धक जीव हैं, (२) उनसे उसी (आहारकशरीर) के देशवन्धक जीव संख्यातगुणे हैं, (३) उनसे वैक्रियशरीर के सर्ववन्धक असंख्यातगुणे हैं, (४) उनसे वैक्रियशरीर के देशवन्धक जीव असंख्यातगुणे हैं, (५) उनसे तैजस और कार्मण, इन दोनों शरीरों के अवन्धक जीव अनन्तगुणे हैं, ये दोनों परस्पर तुल्य हैं। (६) उनसे औदारिकशरीर के सर्ववन्धक जीव अनन्तगुणे हैं, (७) उनसे औदारिकशरीर के अवन्धक जीव

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक ४२३

विशेषाधिक हैं, (८) उनसे उसी (औदारिकशरीर) के देशबन्धक असंख्यातगुणे हैं, (९) उनसे तैजस और कार्मणशरीर के देशबन्धक जीव विशेषाधिक हैं। (१०) उनसे वैक्रियशरीर के अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं और (११) उनसे आहारकशरीर के अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—औदारिकादि शरीरों के देश-सर्वबन्धकों और अबन्धकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा— प्रस्तुत सूत्र में पांचों शरीरों के बन्धकों-अबन्धकों में जो जिससे अल्प, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं, उनकी प्ररूपणा की गई है।

अल्पबहुत्व का कारण—(१) आहारकशरीर चौदहपूर्वधर मुनि के ही होता है, वे भी विशेष प्रयोजन होने पर ही आहारकशरीर धारण करते हैं। फिर सर्वबन्ध का काल भी सिर्फ एक समय का है, अतएव आहारकशरीर के सर्वबन्धक सबसे अल्प हैं। (२) उनसे आहारकशरीर के देशबन्धक संख्यातगुणे हैं, क्योंकि देशबन्ध का काल अन्तर्मुहूर्त्त है। (३) उनसे वैक्रियशरीर के सर्वबन्धक असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि आहारकशरीरधारी जीवों से वैक्रियशरीरी असंख्यातगुणे अधिक हैं। (४) उनसे वैक्रिय-शरीरधारी देशबन्धक जीव असंख्यातगुणे अधिक हैं, क्योंकि सर्वबन्ध से देशबन्ध का काल असंख्यातगुणा है। अथवा प्रतिपद्यमान सर्वबन्धक होते हैं, और पूर्वप्रतिपन्न देशबन्धक; अतः प्रतिपद्यमान की अपेक्षा पूर्वप्रतिपन्न असंख्यातगुणे हैं। (५) उनसे तैजस और कार्मणशरीर के अबन्धक अनन्तगुणे हैं, क्योंकि इन दोनों शरीरों के अबन्धक सिद्ध भगवान् हैं, जो वनस्पतिकायिक जीवों के सिवाय शेष सर्व संसारी जीवों से अनन्तगुणे हैं। (६) उनसे औदारिकशरीर के सर्वबन्धक जीव अनन्तगुणे हैं, क्योंकि वनस्पति-कायिक जीव भी औदारिकशरीरधारियों में हैं, जो कि अनन्त हैं। (७) उनसे औदारिकशरीर के अबन्धक जीव इसलिए विशेषाधिक हैं, कि विग्रहगतिसमापन्नक जीव तथा सिद्ध जीव सर्वबन्धकों से बहुत हैं। (८) उनसे औदारिकशरीर के देशबन्धक असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि विग्रहगति के काल की अपेक्षा देशबन्धक का काल असंख्यातगुणा है। (९) उनसे तैजस-कार्मणशरीर के देशबन्धक विशेषाधिक हैं, क्योंकि सारे संसारी जीव तैजस और कार्मण शरीर के देशबन्धक होते हैं। इनमें विग्रहगति-समापन्नक, औदारिक सर्वबन्धक और वैक्रियादि-बन्धक जीव भी आ जाते हैं। अतः औदारिक देशबन्धकों से ये विशेषाधिक बताए गए हैं। (१०) उनसे वैक्रियशरीर के अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि वैक्रियशरीर के बन्धक प्रायः देव और नारक हैं। शेष सभी संसारी जीव और सिद्ध भगवान् वैक्रिय के अबन्धक ही हैं, इस अपेक्षा से वे तैजसादि देशबन्धकों से विशेषाधिक बताए गए हैं। (११) उनसे आहारकशरीर के अबन्धक विशेषाधिक हैं, क्योंकि वैक्रिय तो देव-नारकों के भी होता है, किन्तु आहारकशरीर सिर्फ चतुर्दश पूर्वधर मुनियों के होता है। इस अपेक्षा से आहारकशरीर के अबन्धक विशेषाधिक कहे गए हैं।[1]

।। अष्टम शतक : नवम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४१४

दसमो उद्देसओ : 'आराहणा'

दशम उद्देशक : 'आराधना'

श्रुत और शील की आराधना-विराधना की दृष्टि से भगवान् द्वारा अन्यतीर्थिकमत-निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्तनिरूपण—

१. रायगिहे नगरे जाव एवं वयासी—

१. [उद्देशक का उपोद्घात] राजगृह नगर में यावत् गौतमस्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) इस प्रकार पूछा—

२. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव एवं परूवेंति—एवं खलु सीलं सेयं १, सुयं सेयं २, सुयं सेयं सीलं सेयं ३, से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—सीलसंपन्ने णामं एगे, णो सुयसंपन्ने १; सुयसंपन्ने नामं एगे, नो सीलसंपन्ने २; एगे सीलसंपन्ने वि सुयसंपन्ने वि ३, एगे णो सीलसंपन्ने नो सुयसंपन्ने ४। तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं, असुयवं, उवरए, अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं, सुयवं अणुवरए, विण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं, सुयवं, उवरए, विण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं, असुतवं अणुवरए, अविण्णायधम्मे एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते।

[२ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं—(१) शील ही श्रेयस्कर है; (२) श्रुत ही श्रेयस्कर है, (३) (शीलनिरपेक्ष ही) श्रुत श्रेयस्कर है, अथवा (श्रुत-निरपेक्ष ही) शील श्रेयस्कर है; अतः हे भगवन् ! यह किस प्रकार सम्भव है ?

[२ उ.] गौतम ! अन्यतीर्थिक, जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् उन्होंने जो ऐसा कहा है वह मिथ्या कहा है। गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ। मैंने चार प्रकार के पुरुष कहे हैं। वे इस प्रकार—

१—एक व्यक्ति शीलसम्पन्न है, किन्तु श्रुतसम्पन्न नहीं है।

२—एक व्यक्ति श्रुतसम्पन्न है, किन्तु शीलसम्पन्न नहीं है।

३—एक व्यक्ति शीलसम्पन्न भी है और श्रुतसम्पन्न भी है।

४—एक व्यक्ति न शीलसम्पन्न है और न श्रुतसम्पन्न है।

(१) इनमें से जो प्रथम प्रकार का पुरुष है, वह शीलवान् है, परन्तु श्रुतवान् नहीं। वह (पापादि से) उपरत (निवृत्त) है, किन्तु धर्म को विशेषरूप से नहीं जानता। हे गौतम! इस पुरुष को मैंने देश-आराधक कहा है।

(२) इनमें से जो दूसरा पुरुष है, वह पुरुष शीलवान् नहीं, परन्तु श्रुतवान् है। वह (पापादि से) अनुपरत (अनिवृत्त) है, परन्तु धर्म को विशेपरूप से जानता है। हे गौतम! इस पुरुष को मैंने देश-विराधक कहा है।

(३) इनमें से जो तृतीय पुरुष है, वह पुरुष शीलवान् भी है और श्रुतवान् भी है। वह (पापादि से) उपरत है और धर्म का भी विज्ञाता है। हे गौतम! इस पुरुष को मैंने सर्व-आराधक कहा है।

(४) इनमें से जो चौथा पुरुष है, वह न तो शीलवान् है और न श्रुतवान् है। वह (पापादि से) अनुपरत है, धर्म का भी विज्ञाता नहीं है। गौतम! इस पुरुष को मैंने सर्व-विराधक कहा है।

विवेचन—श्रुत और शील की आराधना एवं विराधना की दृष्टि से भगवान् द्वारा अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्तप्ररूपण—प्रस्तुत द्वितीय सूत्र में अन्यतीर्थिकों की श्रुत-शील सम्बन्धी एकान्त मान्यता का निराकरण करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित श्रुत-शील की आराधना-विराधना-सम्बन्धी चतुर्भंगी रूप स्वसिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

अन्यतीर्थिकों का श्रुत-शीलसम्बन्धी मत मिथ्या क्यों?—(१) कुछ अन्यतीर्थिक यों मानते हैं कि शील अर्थात् क्रियामात्र ही श्रेयस्कर है, श्रुत अर्थात्—ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह आकाशवत् निश्चेष्ट है। वे कहते हैं—पुरुषों के लिए क्रिया ही फलदायिनी है, ज्ञान फलदायक नहीं है। खाद्यपदार्थों के उपयोग के ज्ञान मात्र से ही कोई सुखी नहीं होता। (२) कुछ अन्यतीर्थिकों का कहना है कि ज्ञान (श्रुत) ही श्रेयस्कर है। ज्ञान से ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। क्रिया से नहीं। ज्ञानरहित क्रियावान् पुरुष को अभीष्ट फलसिद्धि के दर्शन नहीं होते। जैसा कि वे कहते हैं—पुरुषों के लिए ज्ञान ही फलदायक है, क्रिया फलदायिनी नहीं होती; क्योंकि मिथ्याज्ञानपूर्वक क्रिया करने वाले को अनिष्टफल की ही प्राप्ति होती है। (३) कितने ही अन्यतीर्थिक परस्पर निरपेक्ष श्रुत और शील को श्रेयस्कर मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान क्रियारहित भी फलदायक है, क्योंकि क्रिया उसमें गौणरूप से रहती है, अथवा क्रिया ज्ञानरहित हो तो भी फलदायिनी है, क्योंकि उसमें ज्ञान गौणरूप से रहता है। इन दोनों में से कोई भी एक, पुरुष की पवित्रता का कारण है। उनका आशय यह है कि मुख्य-वृत्ति से शील श्रेयस्कर है, किन्तु श्रुत भी उसका उपकारी होने से गौणवृत्ति से श्रेयस्कर है। अथवा श्रुत मुख्यवृत्ति से और शील गौणवृत्ति से श्रेयस्कर है। प्रथम के दोनों मत एकान्त होने से मिथ्या हैं और तीसरे मत में मुख्य-गौणवृत्ति का आश्रय ले कर जो प्रतिपादन किया गया है, वह भी युक्तिसंगत और सिद्धान्तसम्मत नहीं है क्योंकि श्रुत और शील दोनों पृथक्-पृथक् या गौण-मुख्य न रह कर समुदित रूप में साथ-साथ रहने पर ही मोक्षफलदायक होते हैं। इस सम्बन्ध में

दोनों पहियों के एक साथ जुड़ने पर ही रथ चलता है तथा अन्धा और पंगु दोनों मिल कर ही अभीष्ट नगर में प्रविष्ट हो सकते हैं। ये दो दृष्टान्त दे कर वृत्तिकार श्रुत और शील दोनों के एक साथ समायोग को ही अभीष्ट फलदायक मानते हैं।[1]

श्रुत-शील की चतुर्भंगी का आशय—(१) प्रथम भंग का स्वामी शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नहीं, उसका आशय यह है कि वह भावतः शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हुआ या तत्त्वों का विशेष ज्ञाता नहीं है, अतः स्वबुद्धि से ही पापों से निवृत्त है। मूलपाठ में उक्त **'अविण्णायधम्मे'** पद से यह स्पष्ट होता है, कि जिसने धर्म को विशेष रूप नहीं जाना, वह (अविज्ञातधर्मा) साधक मोक्ष-मार्ग की देशतः—अंशतः आराधना करने वाला है। अर्थात्—जो चारित्र की आराधना करता है, किन्तु विशेषरूप से ज्ञानवान् नहीं है (उससे ज्ञान की आराधना विशेषरूप से नहीं होती।) अथवा स्वयं अगीतार्थ है, इसलिए गीतार्थ के निश्राय में रहकर तपश्चर्यारत रहता है। इस भंग का स्वामी मिथ्यादृष्टि नहीं, किन्तु सम्यग्दृष्टि है। (२) दूसरे भंग का स्वामी शीलसम्पन्न नहीं, किन्तु श्रुतसम्पन्न है, वह पापादि से अनिवृत्त है, किन्तु धर्म का विशेष ज्ञाता है। इसलिए उसे यहाँ देशविराधक कहा गया है, क्योंकि वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्न-त्रय जो मोक्षमार्ग है, उसमें से तृतीय भागरूप चारित्र की विराधना करता है, अर्थात्—प्राप्त हुए चारित्र का पालन नहीं करता, अथवा चारित्र को प्राप्त ही नहीं करता। इस भंग का स्वामी अविरतिसम्यग्दृष्टि है, अथवा प्राप्त चारित्र का अपालक श्रुतसम्पन्नसाधक है। (३) तृतीय भंग का स्वामी शीलसम्पन्न भी है और श्रुतसम्पन्न भी। वह उपरत है तथा धर्म का भी विशिष्ट ज्ञाता है। अतः वह सर्वाराधक है; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय-मोक्षमार्ग की सर्वथा आराधना करता है। (४) चतुर्थ भंग का स्वामी शील और श्रुत दोनों से रहित है। वह अनुपरत है और धर्म का विज्ञाता भी नहीं; क्योंकि श्रुत (सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन) से रहित पुरुष न तो विज्ञातधर्मा हो सकता है और न ही सम्यक्चारित्र की आराधना कर सकता है। इसलिए रत्नत्रय का विराधक होने से वह सर्वविराधक माना गया है।[2]

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४१७-४१८

(ख) **क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानं फलदं मतम्।**
स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत्॥ १॥
विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात्॥ २॥

(ग) **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।'**
'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' —तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. १

(घ) नाणं पयासयं, सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥

(ङ) संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४१८

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ३, पृ. १५४१-१५४२

ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना, इनका परस्पर सम्बन्ध एवं इनकी उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्याराधना का फल—

३. कतिविहा णं भंते ! आराहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा—नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा।

[३ प्र.] भगवन् ! आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] गौतम ! आराधना तीन प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—(१) ज्ञानाराधना, (२) दर्शनाराधना और (३) चारित्राराधना।

४. णाणाराहणा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—उक्कोसिया मज्झिमिया जहन्ना।

[४ प्र.] भगवन् ! ज्ञानाराधना तीन प्रकार की कही गई है ?

[४ उ.] गौतम ! ज्ञानाराधना तीन प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—(१) उत्कृष्ट, (२) मध्यम और (३) जघन्य।

५. दंसणाराहणा णं भंते ! ० ?

एवं चेव तिविहा वि।

[५ प्र.] भगवन् ! दर्शनाराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

[५ उ.] गौतम ! दर्शनाराधना भी इसी प्रकार तीन प्रकार की कही गई है।

६. एवं चरित्ताराहणा वि।

[६] इसी प्रकार चारित्राराधना भी तीन प्रकार की कही गई है।

७. जस्स णं भंते ! उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा ? जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स उक्कोसिया णाणाराहणा ?

गोयमा ! जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स दंसणाराहणा उक्कोसिया वा अजहन्न-उक्कोसिया वा, जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स नाणाराहणा उक्कोसा वा जहन्ना वा अजहन्नमणुक्कोसा वा।

[७ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, और जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

[७ उ.] गौतम ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, उसके दर्शनाराधना उत्कृष्ट या मध्यम (अजघन्य-अनुत्कृष्ट) होती है। जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, जघन्य या मध्यम ज्ञानाराधना होती है।

८. जस्स णं भंते ! उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा ? जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया णाणाराहणा ?

जहा उक्कोसिया णाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया णाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ।

[८ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है और जिस जीव के उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

[८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और दर्शनाराधना के विषय में कहा, उसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और उत्कृष्ट चारित्राराधना के विषय में भी कहना चाहिए ।

९. जस्स णं भंते ! उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा ? जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा ?

गोयमा ! जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहन्ना वा अजहन्नमणुक्कोसा वा, जस्स पुण उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स दंसणाराहणा नियमा उक्कोसा ।

[९ प्र.] भगवन् ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है; और जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

[९ उ.] गौतम ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य चारित्राराधना होती है और जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, उसके नियमतः (अवश्यमेव) उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है ।

१०. उक्कोसियं णं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति ?

गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति । अत्थेगतिए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति । अत्थेगतिए कप्पोवएसु वा कप्पातीएसु वा उववज्जति ।

[१० प्र.] भगवन् ! ज्ञान की उत्कृष्ट आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है ?

[१० उ.] गौतम ! कितने ही जीव उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं, यावत् सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं; कितने ही जीव दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सभी दुःखों का अन्त करते हैं; कितने ही जीव कल्पोपपन्न देवलोकों में अथवा कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं ।

११. उक्कोसियं णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं० ?

एवं चेव ।

[११ प्र.] भगवन् ! दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है ?

[११ उ.] गौतम ! (जिस प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के फल के विषय में कहा है,) उसी प्रकार उत्कृष्ट दर्शनाराधना के (फल के) विषय में समझना चाहिए।

१२. उक्कोसियं णं भंते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता० ?

एवं चेव। नवरं अत्थेगतिए कप्पातीएसु उववज्जति।

[१२ प्र.] भगवन् ! चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त करता है ?

[१२ उ.] गौतम ! उत्कृष्ट ज्ञानाराधना के (फल के) विषय में जिस प्रकार कहा था उसी प्रकार उत्कृष्ट चारित्राराधना के (फल के) विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि कितने ही जीव (इसके फलस्वरूप) कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।

१३. मज्झिमियं णं भंते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति ?

गोयमा ! अत्थेगतिए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेति, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ।

[१३ प्र.] भगवन् ! ज्ञान की मध्यम-आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सभी दुःखों का अन्त कर देता है ?

[१३ उ.] गौतम ! कितने ही जीव दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सभी दुःखों का अन्त करते हैं; वे तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते।

१४. मज्झिमियं णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता० ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! दर्शन की मध्यम आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

[१४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार ज्ञान की मध्यम आराधना के (फल के) विषय में कहा, उसी प्रकार दर्शन की मध्यम आराधना के (फल के) विषय में कहना चाहिए।

१५. एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणं पि।

[१५] इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से चारित्र की मध्यम आराधना के (फल के) विषय में कहना चाहिए।

१६. जहन्नियं णं भंते ! नाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति ?

गोयमा ! अत्थेगतिए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ, सत्त-ऽट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ।

[१६ प्र.] भगवन् ! ज्ञान की जघन्य आराधना करके जीव कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

[१६ उ.] गौतम ! कितने ही जीव तीसरा भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं; परन्तु सात-आठ भव का अतिक्रमण नहीं करते।

१७. एवं दंसणाराहणं पि।

[१७] इसी प्रकार जघन्य दर्शनाराधना के (फल के) विषय में समझना चाहिए।

१८. एवं चरित्ताराहणं पि।

[१८] इसी प्रकार जघन्य चारित्राराधना के (फल के) विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना, इनका परस्पर सम्बन्ध एवं इनकी उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्याराधना का फल—प्रस्तुत १६ सूत्रों (सू. ३ से १८ तक) में रत्नत्रय की आराधना और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट फल के विषय में निरूपण किया गया है।

आराधना : परिभाषा, प्रकार और स्वरूप—ज्ञानादि की निरतिचार रूप से अनुपालना करना **आराधना** है। आराधना के तीन प्रकार हैं—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। पांच प्रकार के ज्ञान या ज्ञानाधार श्रुत (शास्त्रादि) की, काल, विनय, बहुमान आदि आठ ज्ञानाचार-सहित निर्दोष रीति से पालना करना **ज्ञानाराधना** है। शंका, कांक्षा आदि अतिचारों को न लगाते हुए, निःशंकित, निष्कांक्षित आदि आठ दर्शनाचारों का शुद्धतापूर्वक पालन करते हुए दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की आराधना करना, **दर्शनाराधना** है। सामायिक आदि चारित्रों अथवा समिति-गुप्ति, व्रत-महाव्रतादि रूप चारित्र का निरतिचार-विशुद्ध पालन करना **चारित्राराधना** है। ज्ञानकृत्य एवं ज्ञानानुष्ठानों में उत्कृष्ट प्रयत्न करना **उत्कृष्ट ज्ञानाराधना** है। इसमें चौदह पूर्व का ज्ञान आ जाता है। मध्यम प्रयत्न करना **मध्यम ज्ञानाराधना** है, इसमें ग्यारह अंगों का ज्ञान आ जाता है। और जघन्य (अल्पतम) प्रयत्न करना **जघन्य ज्ञानाराधना** है। इसमें अष्टप्रवचनमाता का ज्ञान आ जाता है। इसी प्रकार दर्शन और चारित्र की आराधना में उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य प्रयत्न करना उनकी उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य आराधना है। उत्कृष्ट दर्शनाराधना में क्षायिकसम्यक्त्व, मध्यम दर्शनाराधना में उत्कृष्ट क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यक्त्व और जघन्य दर्शनाराधना में जघन्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। उत्कृष्ट चारित्राराधना में यथाख्यात चारित्र, मध्यम चारित्राराधना में सूक्ष्मसम्पराय और परिहारविशुद्धि चारित्र तथा जघन्य चारित्राराधना में सामायिकचारित्र और छेदोपस्थापनिक चारित्र पाया जाता है।

आराधना के पूर्वोक्त प्रकारों का परस्पर सम्बन्ध—उत्कृष्ट ज्ञानाराधक में उत्कृष्ट और मध्यम दर्शनाराधना होती है, किन्तु जघन्य दर्शनाराधना नहीं होती, क्योंकि उसका वैसा ही स्वभाव है। उत्कृष्ट दर्शनाराधक में ज्ञान के प्रति तीनों प्रकार का प्रयत्न सम्भव है, अतः पूर्वोक्त तीनों प्रकार की ज्ञानाराधना भजना से होती है। जिसमें उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, उसमें चारित्राराधना उत्कृष्ट या मध्यम होती है; क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञानाराधक में चारित्र के प्रति तीनों प्रकार का प्रयत्न भजना से होता है। जिसकी उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसमें तीनों प्रकार की चारित्राराधना भजना से

होती है; क्योंकि उत्कृष्ट दर्शनाराधक में चारित्र के प्रति तीनों प्रकार का प्रयत्न अविरुद्ध है। जहाँ उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, वहाँ उत्कृष्ट दर्शनाराधना अवश्य होती है, क्योंकि उत्कृष्ट चारित्र उत्कृष्ट दर्शनानुगामी होता है।

रत्नत्रय की त्रिविध आराधनाओं का उत्कृष्ट फल—उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना वाले कतिपय साधक उसी भव में तथा कतिपय दो (बीच में एक देव और एक मनुष्य का) भव ग्रहण करके मोक्ष जाते हैं। कई जीव कल्पोपपन्न या कल्पातीत देवलोकों में, विशेषत: उत्कृष्ट चारित्राराधना वाले एकमात्र कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। मध्यम ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना वाले कई जीव जघन्य दो भव ग्रहण करके उत्कृष्टत: तीसरे भव में (बीच में दो भव देवों के करके) अवश्य मोक्ष जाते हैं। इसी तरह जघन्यत: ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाले कतिपय जीव जघन्य तीसरे भव में, उत्कृष्टत: सात या आठ भवों में अवश्यमेव मोक्ष जाते हैं। ये सात भव देवसम्बन्धी और आठ भव चारित्रसम्बन्धी, मनुष्य के समझने चाहिए।[1]

पुद्गल-परिणाम के भेद-प्रभेदों का निरूपण—

१९. कतिविहे णं भंते ! पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते, तं जहा—वण्णपरिणामे १ गंधपरिणामे २ रसपरिणामे ३ फासपरिणामे ४ संठाणपरिणामे ५।

[१९ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९ उ.] गौतम ! पुद्गलपरिणाम पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) वर्ण-परिणाम, (२) गन्ध-परिणाम, (३) रस-परिणाम, (४) स्पर्श-परिणाम और (५) संस्थान-परिणाम।

२०. वण्णपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—कालवण्णपरिणामे जाव सुक्किल्लवण्णपरिणामे।

[२० प्र.] भगवन् ! वर्णपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२० उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—कृष्ण (काला) वर्ण-परिणाम यावत् शुक्ल (श्वेत) वर्ण-परिणाम।

२१. एएणं अभिलावेणं गंधपरिणामे दुविहे, रसपरिणामे पंचविहे, फासपरिणामे अट्ठविहे।

[२१] इसी प्रकार के अभिलाप द्वारा गन्धपरिणाम दो प्रकार का, रसपरिणाम पांच प्रकार का और स्पर्शपरिणाम आठ प्रकार का जानना चाहिए।

२२. संठाणपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—परिमंडलसंठाणपरिणामे जाव आययसंठाणपरिणामे।

[२२ प्र.] भगवन् ! संस्थान-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४१९-४२०

[२२ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—परिमण्डलसंस्थान-परिणाम, यावत् आयतसंस्थान-परिणाम।

विवेचन—पुद्गल-परिणाम के भेद-प्रभेदों का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रों में पुद्गल-परिणाम के वर्णादि पांच प्रकार एवं उनके भेदों का निरूपण किया गया है।

पुद्गल-परिणाम की व्याख्या—पुद्गल का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपान्तर होना पुद्गलपरिणाम है। इसके मूल भेद पांच और उत्तरभेद पच्चीस हैं।[1]

पुद्गलास्तिकाय के एकप्रदेश से लेकर अनन्तप्रदेश तक अष्टविकल्पात्मक प्रश्नोत्तर—

२३. एगे भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसे किं दव्वं १, दव्वदेसे २, दव्वाइं ३, दव्वदेसा ४, उदाहु दव्वं च दव्वदेसे य ५, उदाहु दव्वं च दव्वदेसा य ६, उदाहु दव्वाइं च दव्वदेसे य ७. उदाहु दव्वाइं च दव्वदेसा य ८ ?

गोयमा ! सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे, नो दव्वाइं, नो दव्वदेसा, नो दव्वं च दव्वदेसे य, जाव नो दव्वाइं च दव्वदेसा य।

[२३ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय का एक प्रदेश (१) द्रव्य है, (२) द्रव्य-देश है (३) बहुत द्रव्य हैं, अथवा (४) बहुत द्रव्य-देश हैं ? अथवा (५) एक द्रव्य और एक द्रव्यदेश है, या (६) एक द्रव्य और बहुत द्रव्य-देश हैं, अथवा (७) बहुत द्रव्य और एक द्रव्यदेश है, या (८) बहुत द्रव्य और बहुत द्रव्यदेश हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! वह कथञ्चित् एक द्रव्य है, कथञ्चित् एक द्रव्यदेश है, किन्तु वह बहुत द्रव्य नहीं, न बहुत द्रव्यदेश है, एक द्रव्य और एक द्रव्यदेश भी नहीं, यावत् बहुत द्रव्य और बहुत द्रव्यदेश भी नहीं।

२४. दो भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसा किं दव्वं दव्वदेसे० पुच्छा तहेव ?

गोयमा ! सिय दव्वं १, सिय दव्वदेसे २, सिय दव्वाइं ३, सिय दव्वदेसा ४, सिय दव्वं च दव्वदेसे य ५, नो दव्वं च दव्वदेसा य ६, सेसा पडिसेहेयव्वा।

[२४ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के दो प्रदेश क्या एक द्रव्य हैं, अथवा एक द्रव्यदेश हैं ? इत्यादि (पूर्वोक्त अष्टविकल्पात्मक) प्रश्न।

[२४ उ.] गौतम ! १. कथंचित् द्रव्य हैं, २. कथञ्चित् द्रव्यदेश हैं, ३. कथंचित् बहुत द्रव्य हैं, ४. कथंचित् बहुत द्रव्यदेश हैं, और ५. कथंचित् एक द्रव्य और एक द्रव्यदेश हैं; परन्तु ६. एक द्रव्य और बहुत द्रव्यदेश नहीं, ७. बहुत द्रव्य और एक द्रव्यदेश नहीं तथा ८. बहुत द्रव्य और बहुत द्रव्यदेश नहीं हैं। (अर्थात्—प्रथम के ५ भंगों के अतिरिक्त शेष भंगों का निषेध करना चाहिए।)

२५. तिण्णि भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसा किं दव्वं, दव्वदेसे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय दव्वं १, सिय दव्वदेसे २, एवं सत्त-भंगा भाणियव्वा, जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसे य; नो दव्वाइं च दव्वदेसा य।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ४२०

[२५ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के तीन प्रदेश, क्या एक द्रव्य हैं अथवा एक द्रव्यदेश हैं ? इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न ।

[२५ उ.] गौतम ! १. कथञ्चित् एक द्रव्य हैं, २. कथञ्चित् एक द्रव्यदेश हैं; इस प्रकार यावत्—'कथञ्चित् बहुत द्रव्य और एक द्रव्यदेश है; किन्तु बहुत द्रव्य और बहुत द्रव्यदेश नहीं हैं'; यहां तक (पूर्वोक्त) सात भंग कहने चाहिए ।

२६. चत्तारि भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसा किं दव्वं० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय दव्वं १, सिय दव्वदेसे २, अट्ठ वि भंगा भाणियव्वा जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसा य ८ ।

[२६ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के चार प्रदेश क्या एक द्रव्य हैं या एक द्रव्यदेश हैं ? इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न.... ।

[२६ उ.] गौतम ! कथञ्चित् एक द्रव्य हैं, कथञ्चित् एक द्रव्यदेश हैं, इत्यादि आठों ही भंग, यावत् 'कथञ्चित् बहुत द्रव्य हैं और बहुत द्रव्यदेश हैं,' यहाँ तक कहने चाहिए ।

२७. जहा चत्तारि भणिया एवं पंच छ सत्त जाव असंखेज्जा ।

[२७] जिस प्रकार चार प्रदेशों के विषय में कहा, उसी प्रकार पांच, छह, सात यावत् असंख्यप्रदेशों तक के विषय में कहना चाहिए ।

२८. अणंता भंते ! पोग्गलत्थिकायपएसा किं दव्वं ?

एवं चेव जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसा य ।

[२८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के अनन्तप्रदेश क्या एक द्रव्य हैं या एक द्रव्यदेश हैं ? इत्यादि (पूर्वोक्त अष्टविकल्पात्मक) प्रश्न....।

[२८ उ.] गौतम ! पहले कहे अनुसार यहाँ भी यावत्—'कथंचित् बहुत द्रव्य हैं, और बहुत द्रव्यदेश हैं'; यहाँ तक आठों ही भंग कहने चाहिए ।

विवेचन—पुद्गलास्तिकाय के एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश तक के विषय में अष्टविकल्पीय प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. २३ से २८ तक) में पुद्गलास्तिकाय के एकप्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश तक के विषय में अष्टविकल्पात्मक प्रश्नोत्तर प्ररूपित हैं ।

किसमें कितने भंग ?—प्रस्तुत सूत्रों में पुद्गलास्तिकाय के विषय में ८ भंग उपस्थित किये गए हैं, जिनमें द्रव्य और द्रव्यदेश के एकवचन और बहुवचन-सम्बन्धी असंयोगी चार भंग हैं और द्विकसंयोगी ४ भंग हैं । जब दूसरे द्रव्य के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, तब वह द्रव्य (गुणपर्याययोगी) है और जब दूसरे द्रव्य के साथ उसका सम्बन्ध होता है, तब वह द्रव्यदेश (द्रव्यावयव) है । पुद्गलास्तिकाय के एक प्रदेश में प्रदेश एक ही है, इसलिए उसमें बहुवचनसम्बन्धी दो भंग और द्विकसंयोगी चार भंग, ये ६ भंग नहीं पाए जाते । पुद्गलास्तिकाय के द्विप्रदेशिकस्कन्धरूप से परिणत दो प्रदेशों में उपर्युक्त ८ भंगों में से पहले-पहले के पांच भंग पाए जाते हैं और पुद्गलास्तिकाय के त्रिप्रदेशिकस्कन्धरूप से परिणत तीन प्रदेशों में पहले-पहले के सात भंग पाए जाते हैं । चार प्रदेशों

में आठों ही भंग पाए जाते हैं। चारप्रदेशी से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशी पुद्गलास्तिकाय तक में प्रत्येक में आठ-आठ भंग पाए जाते हैं।[1]

लोकाकाश के और प्रत्येक जीव के प्रदेश—

२९. केवतिया णं भंते ! लोयागासपएसा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा लोयागासपएसा पण्णत्ता।

[२९ प्र] भगवन् ! लोकाकाश के प्रदेश कितने कहे गए हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! लोकाकाश के असंख्येय प्रदेश कहे गए हैं।

३०. एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स केवइया जीवपएसा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जावतिया लोगागासपएसा एगमेगस्स णं जीवस्स एवतिया जीवपएसा पण्णत्ता।

[३० प्र.] भगवन् ! एक-एक जीव के कितने-कितने जीवप्रदेश कहे गए हैं ?

[३० उ.] गौतम ! लोकाकाश के जितने प्रदेश कहे गए हैं, उतने ही एक-एक जीव के जीव-प्रदेश कहे गए हैं।

विवेचन—लोकाकाश के और प्रत्येक जीव के प्रदेश—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम (सू. २९) सूत्र में लोकाकाश के प्रदेशों का तथा द्वितीय (सू. ३०) सूत्र में एक-एक जीव के प्रदेशों का निरूपण किया गया है।

लोकाकाशप्रदेश और जीवप्रदेश की तुल्यता—लोक असंख्यातप्रदेशी है, इसलिए उसके प्रदेश असंख्याता हैं। जितने लोक के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के प्रदेश हैं। जब जीव, केवली-समुद्घात करता है, तब वह आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर देता है; अर्थात्—लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक जीवप्रदेश अवस्थित हो जाता है।[2]

आठ कर्मप्रकृतियां, उनके अविभागपरिच्छेद और आवेष्टित-परिवेष्टित समस्त संसारी जीव—

३१. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[३१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियां कितनी कही गई हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियां आठ कही गई हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय।

३२. [१] नेरइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ।

[३२-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितनी कर्मप्रकृतियां कही गई हैं ?

[३२-१ उ.] गौतम ! (उनके) आठ कर्मप्रकृतियां (कही गई हैं।)

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४२१

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१

[२] एवं सव्वजीवाणं अट्ठ कम्मपगडीओ ठावेयव्वाओ जाव वेमाणियाणं।

[३२-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त सभी जीवों के आठ कर्मप्रकृतियों की प्ररूपणा करनी चाहिए।

३३. नाणावरणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स केवतिया अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता?
गोयमा! अणंता अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता।

[३३ प्र.] भगवन्! ज्ञानावरणीय कर्म के कितने अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं?
[३३ उ.] गौतम! उसके अनन्त अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं।

३४. नेरइयाणं भंते! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवतिया अविभागपलिच्छेया पण्णत्ता?
गोयमा! अणंता अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता।

[३४ प्र.] भगवन्! नैरयिकों के ज्ञानावरणीयकर्म के कितने अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं?
[३४ उ.] गौतम! उनके अनन्त अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं।

३५. एवं सव्वजीवाणं जाव वेमाणियाणं पुच्छा।
गोयमा! अणंता अविभागपलिच्छेदा पण्णत्ता।

[३५ प्र.] भगवन्! इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त सभी जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म के कितने अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं?
[३५ उ.] गौतम! अनन्त अविभाग-परिच्छेद कहे गए हैं।

३६. एवं जहा णाणावरणिज्जस्स अविभागपलिच्छेदा भणिया तहा अट्ठण्ह वि कम्मपगडीणं भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं अंतराइयस्स।

[३६] जिस प्रकार (सभी जीवों के) ज्ञानावरणीय कर्म के (अनन्त) अविभाग-परिच्छेद कहे हैं, उसी प्रकार वैमानिक-पर्यन्त सभी जीवों के यावत् अन्तराय कर्म तक आठों कर्मप्रकृतियों के [प्रत्येक के अनन्त-अनन्त) अविभाग-परिच्छेद कहने चाहिए।

३७. एगमेगस्स णं भंते! जीवस्स एगमेगे जीवपएसे णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए सिया?

गोयमा! सिय आवेढियपरिवेढिए, सिय नो आवेढियपरिवेढिए। जइ आवेढियपरिवेढिए नियमा अणंतेहिं।

[३७ प्र.] भगवन्! प्रत्येक जीव का प्रत्येक जीवप्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म के कितने अविभाग-परिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित है?

[३७ उ.] हे गौतम! वह कदाचित् आवेष्टित-परिवेष्टित होता है, कदाचित् आवेष्टित-परिवेष्टित नहीं होता। यदि आवेष्टित-परिवेष्टित होता है तो वह नियमतः अनन्त अविभाग-परिच्छेदों से होता है।

३८. एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स एगमेगे जीवपएसे णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिते ?

गोयमा ! नियमा अणंतेहिं ।

[३८ प्र.] भगवन् ! प्रत्येक नैरयिक जीव का प्रत्येक जीवप्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म के कितने अविभाग-परिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित होता है ?

[३८ उ.] गौतम ! वह नियमतः अनन्त अविभाग-परिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित होता है।

३९. जहा नेरइयस्स एवं जाव वेमाणियस्स । नवरं मणूसस्स जहा जीवस्स ।

[३९] जिस प्रकार नैरयिक जीवों के विषय में कहा, उसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए; परन्तु विशेष इतना है कि मनुष्य का कथन (औघिक-सामान्य) जीव की तरह करना चाहिए।

४०. एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवपएसे दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवतिएहिं० ?

एवं जहेव नाणावरणिज्जस्स तहेव दंडगो भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स ।

[४० प्र.] भगवन् ! प्रत्येक जीव का प्रत्येक जीव-प्रदेश दर्शनावरणीयकर्म के कितने अविभाग-परिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित है ?

[४० उ.] गौतम ! जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के विषय में दण्डक कहा गया है, वैसे यहाँ भी उसी प्रकार वैमानिक-पर्यन्त कहना चाहिए।

४१. एवं जाव अंतराइयस्स भाणियव्वं, नवरं वेयणिज्जस्स आउयस्स नामस्स गोयस्स, एएसिं चउण्ह वि कम्माणं मणूसस्स जहा नेरइयस्स तहा भाणियव्वं, सेसं तं चेव ।

[४१] इसी प्रकार यावत् अन्तराय कर्म-पर्यन्त कहना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार कर्मों के विषय में जिस प्रकार नैरयिक जीवों के लिए कथन किया गया है, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए भी कहना चाहिए। शेष सब वर्णन पूर्वोक्त कथनानुसार कहना चाहिए।

विवेचन—आठ कर्मप्रकृतियां, उनके अविभागपरिच्छेद और उनसे आवेष्टित-परिवेष्टित समस्त संसारी जीव—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (सू. ३१ से ४१ तक) में क्रमशः आठ कर्मप्रकृतियों, उनसे बद्ध समस्त संसारी जीव, तथा उनके अष्टकर्मप्रकृतियों के अनन्त-अनन्त अविभागपरिच्छेद, तथा उन अविभागपरिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित समस्त संसारी जीव का निरूपण किया गया है।

अविभाग-परिच्छेद की व्याख्या—परिच्छेद का अर्थ है—अंश और अविभाग का अर्थ है—जिसका विभाग न हो सके। अर्थात्—केवलज्ञानी की प्रज्ञा द्वारा भी जिसके विभाग—अंश न किये जा सकें, ऐसे सूक्ष्म (निरंश) अंश को अविभाग-परिच्छेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में (कर्म-) दलिकों की अपेक्षा से परमाणुरूप निरंश अंश को अविभाग-परिच्छेद कहा जा सकता है। ज्ञानावरणीय कर्म के

अनन्त अविभाग-परिच्छेद कहने का अर्थ है—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान के जितने अंशों—भेदों को आवृत करता है, उतने ही उसके अविभाग-परिच्छेद होते हैं, और ज्ञानावरणीयकर्मदलिकों की अपेक्षा वे उसके कर्म परमाणुरूप अनन्त होते हैं। प्रत्येक संसारी जीव (मनुष्य के सिवाय) ८ कर्मों में से प्रत्येक कर्म के अनन्त-अनन्त परमाणुओं (अविभाग-परिच्छेदों) से युक्त होता है, तथा उनसे आवेष्टित-परिवेष्टित (अर्थात् गाढरूप से—चारों ओर से लिपटा हुआ—बद्ध) होता है।

आवेष्टित-परिवेष्टित के विषय में विकल्प—औधिक(सामान्य) जीव—सूत्र में कदाचित् ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग-परिच्छेदों से आवेष्टित-परिवेष्टित न होने की जो बात कही गई है, वह केवली की अपेक्षा से कही गई है; क्योंकि उनके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो चुका है। इसी प्रकार केवलियों के दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का भी क्षय हो चुका है, अतः इन घाती-कर्मों द्वारा केवलज्ञानियों की आत्मा को ये कर्म आवेष्टित-परिवेष्टित नहीं करते। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये चारों कर्म अघातिक हैं, अतः इनके विषय में मनुष्यपद में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि ये चारों जैसे छद्मस्थों के होते हैं, वैसे केवलियों के भी होते हैं। सिद्ध भगवान् में नहीं होते; इसलिए जीव-पद में इस विषयक भजना है, किन्तु मनुष्यपद में नहीं, क्योंकि केवली भी मनुष्यगति और मनुष्यायु का उदय होने से मनुष्य ही हैं।[1]

आठ कर्मों के परस्पर सहभाव की वक्तव्यता—

४२. जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स दरिसणावरणिज्जं, जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ?

गोयमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं नियमा अत्थि, जस्स णं दरिसणावरणिज्जं तस्स वि नाणावरणिज्जं नियमा अत्थि।

[४२ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके क्या दर्शनावरणीय कर्म भी है और जिस जीव के दर्शनावरणीय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म भी है ?

[४२ उ.] हाँ गौतम ! जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके नियमतः दर्शनावरणीय कर्म है और जिस जीव के दर्शनावरणीय कर्म है, उनके नियमतः ज्ञानावरणीय कर्म भी है।

४३. जस्स णं भंते ! णाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं, जस्स वेयणिज्जं तस्स णाणावरणिज्जं ?

गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमा अत्थि, जस्स पुण वेयणिज्जं तस्स णाणावरणिज्जं सिय अत्थि, सिय नत्थि।

[४३ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म है, क्या उसके वेदनीय कर्म है, और जिस जीव के वेदनीय कर्म है, क्या उसके ज्ञानावरणीय कर्म भी है ?

[४३ उ.] गौतम ! जिस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके नियमतः वेदनीय कर्म है; किन्तु जिस जीव के वेदनीय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४२२

४४. जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं, जस्स मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ?

गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं नियमा अत्थि ।

[४४ प्र] भगवन् ! जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, क्या उसके मोहनीय कर्म है, और जिसके मोहनीय कर्म है, क्या उसके ज्ञानावरणीय कर्म है ?

[४४ उ.] गौतम ! जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, उसके मोहनीय कर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता; किन्तु जिसके मोहनीय कर्म है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म नियमतः होता है ।

४५. [१] जस्स णं भंते ! णाणावरणिज्जं तस्स आउयं० ?

एवं जहा वेयणिज्जेण समं भणियं तहा आउएण वि समं भाणियव्वं ।

[४५-१ प्र.] भगवन् ! जिसके ज्ञानावरणीय कर्म है, क्या उसके आयुष्यकर्म होता है, और जिसके आयुष्यकर्म है, क्या उसके ज्ञानावरणीय कर्म है ?

[४५-१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार वेदनीय कर्म के साथ (ज्ञानावरणीय के विषय में) कहा गया, उसी प्रकार आयुष्यकर्म के साथ (ज्ञानावरणीय के विषय में) कहना चाहिए ।

[२] एवं नामेण वि, एवं गोएण वि समं ।

[४५-२] इसी प्रकार नामकर्म और गोत्रकर्म के साथ (ज्ञानावरणीय के विषय में) भी कहना चाहिए ।

[३] अंतराइएण वि जहा दरिसणावरणिज्जेण समं तहेव नियमा परोप्परं भाणियव्वाणि १ ।

[४५-३] जिस प्रकार दर्शनावरणीय के साथ (ज्ञानावरणीयकर्म के विषय में) कहा, उसी प्रकार अन्तराय कर्म के साथ (ज्ञानावरणीय के विषय में) भी नियमतः परस्पर सहभाव कहना चाहिए ।

४६. जस्स णं भंते ! दरिसणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं, जस्स वेयणिज्जं तस्स दरिसणावरणिज्जं ?

जहा नाणावरणिज्जं उवरिमेहिं सत्तहिं कम्मेहिं समं भणियं तहा दरिसणावरणिज्जं पि उवरिमेहिं छहिं कम्मेहिं समं भाणियव्वं जाव अंतराइएणं २ ।

[४६ प्र] भगवन् ! जिसके दर्शनावरणीय कर्म है, क्या उसके वेदनीय कर्म होता है, और जिस जीव के वेदनीय कर्म है, क्या उसके दर्शनावरणीय कर्म होता है ?

[४६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का कथन ऊपर के सात कर्मों के साथ किया गया उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का भी ऊपर के छह कर्मों के साथ यावत् अन्तराय कर्म तक कथन करना चाहिए ।

४७. जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं, जस्स मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं ?

गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमा अत्थि।

[४७ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के वेदनीयकर्म है, क्या उसके मोहनीयकर्म है, और जिस जीव के मोहनीयकर्म है, क्या उसके वेदनीयकर्म है ?

[४७ उ.] गौतम ! जिस जीव के वेदनीयकर्म है, उसके मोहनीयकर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता, किन्तु जिस जीव के मोहनीयकर्म है, उसके वेदनीयकर्म नियमत: होता है।

४८. जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स आउयं० ?

एवं एयाणि परोप्परं नियमा।

[४८ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के वेदनीयकर्म है, क्या उसके आयुष्यकर्म है, और जिसके आयुष्यकर्म है क्या उसके वेदनीयकर्म है ?

[४८ उ.] गौतम ! ये दोनों कर्म नियमत: परस्पर साथ-साथ होते हैं।

४९. जहा आउएण समं एवं नामेण वि, गोएण वि समं भाणियव्वं।

[४९] जिस प्रकार आयुष्यकर्म के साथ (वेदनीय कर्म के विषय में) कहा, उसी प्रकार नाम और गोत्रकर्म के साथ भी (वेदनीयकर्म के विषय में) कहना चाहिए।

५०. जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं० ? पुच्छा।

गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण अंतराइयं तस्स वेयणिज्जं नियमा अत्थि ३।

[५० प्र.] भगवन् ! जिस जीव के वेदनीयकर्म है, क्या उसके अन्तरायकर्म है, और जिसके अन्तरायकर्म है, क्या उसके वेदनीयकर्म है ?

[५० उ.] गौतम ! जिस जीव के वेदनीयकर्म है, उसके अन्तरायकर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता, परन्तु जिसके अन्तरायकर्म होता है. उसके वेदनीयकर्म नियमत: होता है।

५१. जस्स णं भंते ! मोहणिज्जं तस्स आउयं, जस्स आउयं तस्स मोहणिज्जं ?

गोयमा ! जस्स मोहणिज्जं तस्स आउयं नियमा अत्थि, जस्स पुण आउयं तस्स पुण मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि।

[५१ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के मोहनीयकर्म होता है, क्या उसके आयुष्यकर्म होता है, और जिसके आयुष्यकर्म होता है, क्या उसके मोहनीयकर्म होता है ?

[५१ उ.] गौतम ! जिस जीव के मोहनीयकर्म है, उसके आयुष्यकर्म अवश्य होता है, जिसके आयुष्यकर्म है, उसके मोहनीयकर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता।

५२. एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वं ४।

[५२] इसी प्रकार नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म के विषय में भी कहना चाहिए।

५३. जस्स णं भंते ! आउयं तस्स नामं० ? पुच्छा।

गोयमा ! दो वि परोप्परं नियमं।

[५३ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के आयुष्यकर्म होता है, क्या उसके नामकर्म होता है, और जिसके नामकर्म होता है, क्या उसके आयुष्यकर्म होता है ?

[५३ उ.] गौतम ! ये दोनों कर्म परस्पर नियमतः होते हैं।

५४. एवं गोत्तेण वि समं भाणियव्वं।

[५४] (आयुष्यकर्म के विषय में) गोत्रकर्म के साथ भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

५५. जस्स णं भंते ! आउयं तस्स अंतराइयं ? पुच्छा।

गोयमा ! जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमा ५।

[५५] भगवन् ! जिस जीव के आयुष्यकर्म होता है, क्या उसके अन्तरायकर्म होता है, और जिसके अन्तरायकर्म है, उसके आयुष्यकर्म होता है ?

[५५ उ.] गौतम ! जिसके आयुष्यकर्म होता है, उसके अन्तरायकर्म कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता, किन्तु जिस जीव के अन्तरायकर्म होता है, उसके आयुष्यकर्म अवश्य होता है।

५६. जस्स णं भंते ! नामं तस्स गोयं, जस्स णं गोयं तस्स णं नामं ?

गोयमा ! जस्स णं णामं तस्स णं नियमा गोयं, जस्स णं गोयं तस्स णं नियमा नामं—गोयमा ! दो वि एए परोप्परं नियमा।

[५६ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के नामकर्म होता है, क्या उसके गोत्रकर्म होता है, और जिसके गोत्रकर्म होता है, उसके नामकर्म होता है ?

[५६ उ.] गौतम ! जिसके नामकर्म होता है, उसके गोत्रकर्म अवश्य होता है, और जिसके गोत्रकर्म होता है, उसके नामकर्म भी अवश्य होता है। ये दोनों कर्म सहभावी हैं।

५७. जस्स णं भंते ! णामं तस्स अंतराइयं० ? पुच्छा।

गोयमा ! जस्स नामं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण अंतराइयं तस्स नामं नियमा अत्थि ६।

[५७ प्र.] भगवन् ! जिसके नामकर्म होता है, क्या उसके अन्तरायकर्म होता है, और जिसके अन्तरायकर्म होता है, उसके नामकर्म होता है ?

[५७ उ.] गौतम ! जिस जीव के नामकर्म होता है, उसके अन्तराय कर्म होता भी है, नहीं भी होता किन्तु जिसके अन्तरायकर्म होता है, उसके नामकर्म नियमतः होता है।

५८. जस्स णं भंते ! गोयं तस्स अंतराइयं० ? पुच्छा ।

गोयमा ! जस्स णं गोयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि, जस्स पुण अंतराइयं तस्स गोयं नियमा अत्थि ७ ।

[५८ प्र.] भगवन् ! जिसके गोत्रकर्म होता है, क्या उसके अन्तरायकर्म होता है, और जिस जीव के अन्तराय कर्म होता है, क्या उसके गोत्रकर्म होता है ?

[५८ उ.] गौतम ! जिसके गोत्रकर्म है, उसके अन्तरायकर्म होता भी है, और नहीं भी होता, किन्तु जिसके अन्तरायकर्म है, उसके गोत्रकर्म अवश्य होता है ।

विवेचन—कर्मों के परस्पर सहभाव की वक्तव्यता—प्रस्तुत १७ सूत्रों (सू. ४२ से ५८ तक) में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का अपने से उत्तरोत्तर कर्मो के साथ नियम से होने अथवा न होने का विचार किया गया है ।

'नियमा' और 'भजना' का अर्थ—ये दोनों जैनागमीय पारिभाषिक शब्द हैं । नियमा का अर्थ है—नियम से, अवश्य, और 'भजना' का अर्थ है—विकल्प से, कदाचित् होना, कदाचित् न होना । प्रस्तुत प्रकरण में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की अपेक्षा से ८ कर्मों की नियमा और भजना समझना चाहिए ।

किसमें किन-किन कर्मों की नियमा और भजना—मनुष्य में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातीकर्मो की भजना है (क्योंकि केवली के ये चार घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं), जबकि वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म की नियमा है । शेष २३ दण्डकों में आठ कर्मो की नियमा है । सिद्ध भगवान् में कर्म होते ही नहीं । इस प्रकार आठ कर्मों की नियमा और भजना के कुल २८ भंग समुत्पन्न होते हैं । यथा—ज्ञानावरणीय से ७, दर्शनावरणीय से ६, वेदनीय से ५, मोहनीय से ४, आयुष्य से ३, नामकर्म से २, और गोत्रकर्म से १ ।[1]

ज्ञानावरणीय से ७ भंग—(१) ज्ञानावरणीय में दर्शनावरणीय की नियमा और दर्शनावरणीय में ज्ञानावरणीय की नियमा, (२) ज्ञानावरणीय में वेदनीय की नियमा, किन्तु वेदनीय में ज्ञानावरणीय की भजना, (३) ज्ञानावरणीय में मोहनीय की भजना, किन्तु मोहनीय में ज्ञानावरणीय की नियमा, (४) ज्ञानावरणीय में आयुष्यकर्म की नियमा, किन्तु आयुष्यकर्म में ज्ञानावरणीय की भजना, (५) ज्ञानावरणीय में नामकर्म की नियमा, किन्तु नामकर्म में ज्ञानावरणीय की भजना, (६) ज्ञानावरणीय में गोत्रकर्म की नियमा, किन्तु गोत्रकर्म में ज्ञानावरणीय की भजना तथा (७) ज्ञानावरणीय में अन्तरायकर्म की नियमा ।

दर्शनावरणीय से ६ भंग—(८) दर्शनावरणीय में वेदनीय की नियमा, किन्तु वेदनीय में दर्शनावरणीय की भजना, (९) दर्शनावरणीय में मोहनीय की भजना, किन्तु मोहनीय में दर्शनावरणीय की नियमा, (१०) दर्शनावरणीय में आयुष्यकर्म की नियमा, किन्तु आयुष्यकर्म में दर्शनावरणीय की भजना, (११) दर्शनावरणीय में नामकर्म की नियमा किन्तु नामकर्म में दर्शनावरणीय में की भजना, (१२) दर्शनावरणीय में गोत्रकर्म की नियमा, किन्तु गोत्रकर्म में दर्शनावरणीय की भजना और (१३) दर्शनावरणीय में अन्तरायकर्म की नियमा, तथैव अन्तरायकर्म में दर्शनावरणीय की नियमा ।

वेदनीय से ५ भंग—(१४) वेदनीय में मोहनीय की भजना, किन्तु मोहनीय में वेदनीय की नियमा, (१५) वेदनीय में आयुष्य की नियमा, तथैव आयुष्यकर्म में वेदनीय की नियमा, (१६) वेदनीय में नामकर्म की नियमा, तथैव नामकर्म में वेदनीय की नियम, (१७) वेदनीय में गोत्रकर्म की नियमा, तथैव गोत्रकर्म में वेदनीय की नियमा, (१८) वेदनीय में अन्तरायकर्म की भजना, किन्तु अन्तरायकर्म में वेदनीय की नियमा।

मोहनीय से ४ भंग—(१९) मोहनीय में आयुष्य की नियमा, किन्तु आयुष्यकर्म में मोहनीय की भजना, (२०) मोहनीय में नामकर्म को नियमा, किन्तु नामकर्म में मोहनीय की भजना, (२१) मोहनीय में गोत्रकर्म की नियमा, किन्तु गोत्रकर्म में मोहनीय की भजना, (२२) मोहनीय में अन्तरायकर्म की नियमा, किन्तु अन्तराय कर्म में मोहनीय की भजना।

आयुष्यकर्म से ३ भंग—(२३) आयुष्यकर्म में नामकर्म की नियमा, तथैव नामकर्म में आयुष्यकर्म की नियमा, (२४) आयुष्यकर्म में गोत्रकर्म की नियमा तथैव गोत्रकर्म में आयुष्यकर्म की नियमा, (२५) आयुष्यकर्म में अन्तरायकर्म की भजना, किन्तु अन्तरायकर्म में आयुष्यकर्म की नियमा।

नामकर्म से दो भंग—(२६) नामकर्म में गोत्रकर्म की नियमा तथैव गोत्रकर्म में नामकर्म की नियमा, (२७) नामकर्म में अन्तरायकर्म की भजना, किन्तु अन्तराय कर्म में नामकर्म की भजना।

गोत्रकर्म से एक भंग—(२८) गोत्रकर्म में अन्तरायकर्म की भजना, किन्तु अन्तरायकर्म में गोत्रकर्म की नियमा।

इस प्रकार आठ कर्मों के नियमा और भजना से परस्पर सहभाव की घटना कर लेनी चाहिए।[1]

संसारी और सिद्ध जीव के पुद्‌गली और पुद्‌गल होने का विचार—

५९. [१] जीवे णं भंते! किं पोग्गली, पोग्गले?

गोयमा! जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि।

[५९-१ प्र.] भगवन्! जीव पुद्‌गली है अथवा पुद्‌गल है।

[५९-१ उ] गौतम! जीव पुद्‌गली भी है और पुद्‌गल भी।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ 'जीवे पोग्गली वि पोग्गले वि'?

गोयमा! से जहानामए छत्तेणं छत्ती, दंडेणं दंडी, घडेणं घडी, पडेणं पडी, करेणं करी एवामेव—

गोयमा! जीवे वि सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियाइं पडुच्च पोग्गली, जीवं पडुच्च पोग्गले, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ 'जीवे पोग्गली वि पोग्गले वि'।

[५९-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि जीव पुद्‌गली भी है और पुद्‌गल भी है?

[५९-२ उ.] गौतम! जैसे किसी पुरुष के पास छत्र हो उसे छत्री, दण्ड हो उसे दण्डी,

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४२४

घट होने से घटी, पट होने से पटी, एवं कर होने से करी कहा जाता है, इसी तरह, हे गौतम ! जीव श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय-(स्वरूप पुद्गल वाला होने से) की अपेक्षा से 'पुद्गली' कहलाता है, तथा स्वयं जीव की अपेक्षा 'पुद्गल' कहलाता है। इस कारण से हे गौतम ! मैं कहता हूँ कि जीव पुद्गली भी है और पुद्गल भी है।

६० [१] नेरइए णं भंते ! किं पोग्गली० ? एवं चेव।

[६०-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव पुद्गली है, अथवा पुद्गल है ?

[६०-१ उ.] गौतम ! उपर्युक्त सूत्रानुसार यहाँ भी कथन करना चाहिए।

[२] एवं जाव वेमाणिए। नवरं जस्स जइ इंदियाइं तस्स तइ वि भाणियव्वाइं।

[६०-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए, किन्तु साथ ही, जिस जीव के जितनी इन्द्रियां हों, उसके उतनी इन्द्रियां कहनी चाहिए।

६१, [१] सिद्धे णं भंते ! किं पोग्गली, पोग्गले ?

गोयमा ! नो पोग्गली, पोग्गले।

[६१-१ प्र.] भगवन् ! सिद्धजीव पुद्गली हैं या पुद्गल हैं ?

[६१-१ उ.] गौतम ! सिद्धजीव पुद्गली नहीं किन्तु पुद्गल हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव पोग्गले ?

गोयमा ! जीवं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'सिद्धे नो पोग्गली, पोग्गले'।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठमसए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ समत्तं अट्ठमं सयं ॥

[६१-२ प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं, कि सिद्धजीव पुद्गली नहीं, किन्तु पुद्गल हैं ?

[६२-२ उ.] गौतम ! जीव की अपेक्षा सिद्धजीव पुद्गल हैं; (किन्तु उनके इन्द्रियां न होने से वे पुद्गली नहीं हैं;) इस कारण से मैं कहता हूँ कि सिद्धजीव पुद्गली नहीं, किन्तु पुद्गल हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर श्री गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—संसारी एवं सिद्ध जीव के पुद्गली तथा पुद्गल होने का विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रमशः जीव, चतुर्विंशति दण्डकवर्ती जीव एवं सिद्ध भगवान् के पुद्गली या पुद्गल होने के सम्बन्ध में सापेक्ष विचार किया गया है।

पुद्गली एवं पुद्गल की व्याख्या—प्रस्तुत प्रकरण में 'पुद्गली' उसे कहते हैं, जिसके श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय आदि पुद्गल हों। जैसे—घट, पट, दण्ड, छत्र आदि के संयोग से पुरुष को घटी, पटी, दण्डी एवं छत्री कहा जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंरूपी पुद्गलों के संयोग से औधिक जीव तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीवों को 'पुद्गली' कहा गया है। सिद्ध जीवों के इन्द्रियरूपी पुद्गल नहीं होते, इसलिए वे 'पुद्गली' नहीं कहलाते। जीव को यहाँ जो 'पुद्गल' कहा गया है, वह जीव की संज्ञा मात्र है। यहाँ 'पुद्गल' शब्द से 'रूपी अजीव द्रव्य' ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिए। वृत्तिकार ने जीव के लिए 'पुद्गल' शब्द को संज्ञावाची बताया है।[1]

॥ अष्टम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ४२४

नवमं सयं : नवम शतक

प्राथमिक

※ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का यह नौवाँ शतक है।

※ इसमें जम्बूद्वीप, चन्द्रमा आदि, अन्तर्द्वीपज असोच्चा केवली, गांगेय-प्रश्नोत्तर, ऋषभदत्त-देवानन्दाप्रकरण, जमालि अनगार, एवं पुरुषहन्ता आदि से सम्बद्ध प्रश्नोत्तर आदि विषयों के प्रतिपादक चौंतीस उद्देशक हैं।

※ प्रथम उद्देशक में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र का अतिदेश करके जम्बूद्वीप का स्वरूप, उसका आकार, लम्बाई-चौड़ाई, उसमें स्थित भरत-ऐरावत, हैमवत-ऐरण्यवत, हरिवर्ष-रम्यकवर्ष एवं महाविदेहक्षेत्र तथा इनमें बहने वाली हजारों छोटी-बड़ी नदियों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

※ द्वितीय उद्देशक में जम्बूद्वीप में स्थित विविध द्वीप-समुद्रों तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि का जीवाभिगमसूत्र के अनुसार संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

※ तृतीय से तीसवें उद्देशक तक में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मेरुगिरि के दक्षिण में स्थित 'एकोरुक' अन्तर्द्वीप का स्वरूप, लम्बाई-चौड़ाई, परिधि का वर्णन है, तथा इसी क्रम से शेष २७ अन्तर्द्वीपों के नाम, स्वरूप, अवस्थिति, लम्बाई-चौड़ाई एवं परिधि आदि के वर्णन के लिए जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश किया गया है। एकोरुक से लेकर शुद्धदन्त तक इन २८ अन्तर्द्वीपों के प्रत्येक के नाम से एक-एक उद्देशक है। उसमें रहने वाले मनुष्यों का वर्णन है।

※ इकतीसवें उद्देशक में केवली आदि दशविध साधकों से सुने विना (असोच्चा) ही धर्मश्रवण, बोधिलाभ, अनगारधर्म में प्रव्रज्या, शुद्ध ब्रह्मचर्यवास, शुद्ध संयम, शुद्ध संवर, पंचविध ज्ञान की प्राप्ति-अप्राप्ति, तदनन्तर असोच्चाकेवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या-प्रदान, अवस्थिति, निवास, संख्या, योग, उपयोग आदि का वर्णन है। अन्त में, सोच्चा केवली के विषय में भी इसी प्रकार के तथ्य बतलाए गए हैं।

※ बत्तीसवें उद्देशक में पार्श्वनाथ-संतानीय गांगेय अनगार के द्वारा भगवान् से चौवीसदण्डकवर्ती जीवों के सान्तर-निरन्तर उत्पाद, उद्वर्त्तन, तथा प्रवेशनकों के विविधसंयोगी भंगों का विस्तृत रूप से वर्णन है। तत्पश्चात्, इन्हीं जीवों के सत् से, सत् में तथा सत् में से उत्पाद तथा उद्वर्त्तन का, तथा स्वयं उत्पन्न होने का वर्णन है। अन्त में, गांगेय अनगार को भगवान् महावीर की सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता पर पूर्णश्रद्धा और विनयभक्तिपूर्वक अपने पूर्वस्वीकृत चातुर्यामधर्म के बदले पंचमहाव्रतयुक्त धर्म स्वीकार करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाने का वर्णन है।

※ तेतीसवें उद्देशक के दो विभाग हैं,—इसके पूर्वार्द्ध में ब्राह्मणकुण्ड निवासी ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी का वर्णन है। सर्वप्रथम ऋषभदत्त ब्राह्मण के गुणों का परिचय दिया गया है।

तदनन्तर देवानन्दा के भी गुणों का संक्षिप्त वर्णन है। तत्पश्चात् ऋषभदत्त ने ब्राह्मणकुण्ड में भगवान् महावीर के पदार्पण की बात सुनकर उनका वन्दन—नमन, पर्युपासना एवं प्रवचनश्रवण करने का विचार किया। सेवकों से रथ तैयार करवा कर पति-पत्नी दोनों पृथक्-पृथक् रथ में बैठ कर भगवान् की सेवा में पहुँचे। भगवान् को देख कर देवानन्दा ब्राह्मणी के स्तनों से दूध की धारा बहने लगी आदि घटना से गौतम स्वामी के मन में उठे हुए प्रश्न का समाधान भगवान् ने कर दिया कि "देवानन्दा मेरी माता है।" तत्पश्चात् ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी के भगवान् से प्रव्रज्या लेने, शास्त्राध्ययन एवं तपश्चर्या करने तथा अन्त में दोनों के मोक्ष प्राप्त करने का वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् उत्तरार्द्ध में जमालि के चरित का वर्णन है। क्षत्रियकुण्ड निवासी क्षत्रियकुमार जमालि की शरीरसम्पदा, वैभव, सुखभोग के साधनों से परितृप्ति आदि के वर्णन के पश्चात् एक दिन भगवान् महावीर का पदार्पण सुन कर उनके दर्शन-वन्दनादि के लिए प्रस्थान का, प्रवचनश्रवण के अनन्तर संसार से विरक्ति का, फिर माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा प्रदान करने के अनुरोध का एवं माता-पिता के साथ विरक्त जमाली के लम्बे आलाप-संलाप का, फिर अनुमति प्राप्त होने पर प्रव्रज्याग्रहण का विस्तृत वर्णन है। तत्पश्चात् भगवान् की बिना आज्ञा के जमालि के पृथक् विहार, शरीर में महारोग उत्पन्न होने का, शय्यासंस्तारक बिछाने के निमित्त से स्फुरित सिद्धान्तविरुद्ध प्ररूपणा का, सर्वज्ञता का मिथ्या दावा, गौतम के दो प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ जमालि की विराधना का एवं किल्विषिक देवों में उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन है। दोनों के निवास के पीछे 'कुण्डग्राम' नाम होने से इस उद्देशक का नाम कुण्डग्राम दिया गया है।

* चौंतीसवें उद्देशक में पुरुष के द्वारा अश्वादि घात सम्बन्धी, तथा घातक को वैरस्पर्श सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है। इसके पश्चात् एकेन्द्रिय जीवों के परस्पर श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी क्रिया सम्बन्धी तथा वायुकाय को वृक्षमूलादि कंपाने—गिराने की क्रिया सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

* कुल मिलाकर प्रस्तुत शतक में भगवान् के अनेकान्तात्मक अनेक सिद्धान्तों का सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है। □□

नवमं सयं : नवम शतक

नौवें शतक की संग्रहणी गाथा—

१. जंबुद्दीवे १ जोइस २ अंतरदीवा ३० असोच्च ३१ गंगेय ३२ ।
कुंडग्गामे ३३ पुरिसे ३४ नवमम्मि सयम्मि चोत्तीसा ॥१॥

[१. गाथार्थ—] १. जम्बूद्वीप, २. ज्योतिष, ३ से ३० तक (अट्ठाईस) अन्तर्द्वीप, ३१. अश्रुत्वा (-केवली इत्यादि), ३२. गांगेय (अनगार), ३३. (ब्राह्मण-) कुण्डग्राम और ३४. पुरुष (पुरुषहन्ता इत्यादि)।

(इस प्रकार) नौवें शतक में चौंतीस उद्देशक हैं।

विवेचन—जम्बूद्वीप—जिसमें जम्बूद्वीप-विषयक वक्तव्यता है।

अन्तरदीवा—तीसरे उद्देशक से लेकर तीसवें उद्देशक तक, अट्ठाईस उद्देशकों में २८ अन्तर्द्वीपों के मनुष्यों का वर्णन एक साथ ही किया गया है।

अश्रुत्वा—इस उद्देशक में विना ही धर्म सुने हुए एवं सुने हुए केवली तथा उनसे सम्बन्धित साधकों का निरूपण है।

पुरुष—इस चौंतीसवें उद्देशक में पुरुष को मारने वाले इत्यादि के विषय में वक्तव्यता है।[1]

पढमो उद्देसओ : जंबुद्दीवे

प्रथम उद्देशक : जम्बूद्वीप

मिथिला में भगवान् का पदार्पण : अतिदेशपूर्वक जम्बूद्वीपनिरूपण—

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिला नामं नगरी होत्था। वण्णओ। माणिभद्दे चेइए। वण्णओ। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। जाव भगवं गोयमे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

[२. उपोद्घात] उस काल और उस समय में मिथिला नाम की नगरी थी। (उसका) वर्णन (यहाँ समझ लेना चाहिए)। वहाँ माणिभद्र नाम का चैत्य था। उसका भी वर्णन औपपातिकसूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए। स्वामी (श्रमण भगवान् महावीर) का समवसरण हुआ। (उनके दर्शन-वन्दन आदि करने के लिए) परिषद् निकली। (भगवान् ने) धर्म कहा—धर्मोपदेश दिया, यावत् भगवान् गौतम ने पर्युपासना करते हुए (भगवान् महावीर से) इस प्रकार पूछा—

---

१. भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्र ४३५

३. कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे ? किंसंठिए णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे ?

एवं जंबुद्दीवपण्णत्ती[1] भाणियव्वा जाव एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे दीवे चोद्दस सलिलासय-सहस्सा छप्पन्नं च सहस्सा भवंतीति मक्खाया।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति०।

।। नवम सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ।।

[३ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप कहाँ है ? (उसका) संस्थान (आकार) किस प्रकार का है ?

[३ उ.] गौतम ! इस विषय में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में कहे अनुसार यावत्—इसी तरह जम्बूद्वीप नामक द्वीप में पूर्वसहित अपर (समुद्रगामी) चौदह लाख छप्पन हजार नदियाँ हैं, ऐसा कहा गया है; (यहाँ तक) कहना चाहिए।

विवेचन—सपुव्वावरेणं व्याख्या—पूर्वसमुद्र और अपर (पश्चिम) समुद्र की ओर जा कर उनमें गिरने वाली नदियाँ।[2]

चौदह लाख छप्पन हजार नदियाँ—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार इस प्रकार हैं—

१. भरत और ऐरवत में—गंगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती, इन चार नदियों की प्रत्येक की चौदह-चौदह हजार सहायक नदियाँ हैं।

२. हैमवत और ऐरण्यवत में—रोहित, रोहितांशा, सुवर्णकूला और रूप्यकूला इन चारों की, प्रत्येक की अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार नदियाँ हैं।

३. हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में—हरि, हरिकान्ता, नरकान्ता, नारीकान्ता, इन चारों की, प्रत्येक की छप्पन-छप्पन हजार नदियाँ हैं।

४. महाविदेह में—शीता और शीतोदा की प्रत्येक की ५ लाख ३२ हजार नदियाँ हैं। ये कुल मिला कर १४५६००० नदियाँ होती हैं।[3]

जम्बूद्वीप का आकार—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार—जम्बूद्वीप सब द्वीपों के मध्य में सबसे छोटा द्वीप है। इसकी आकृति तेल का मालपूआ, रथचक्र, पुष्करकर्णिका, तथा पूर्ण चन्द्र की-सी गोल है। यह एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है।[4]

।। नवम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. पाठान्तर—'जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए तहा णेयव्वं जोइसविहूणं।
जाव—"खंडा जोयण वासा पव्वय कूडा य तित्थ सेढीओ।
विजय द्दह सलिलाओ य पिंडए होंति संगहणी ॥"
—भगवती. अ. वृत्ति में इसकी व्याख्या भी मिलती है।—सं.

२. भगवती. वृत्ति, पत्र ४२५.

३. वही, पत्र ४२५

४. "अयं णं जंबुद्दीवे दीवे ... वट्टे तेल्लपूयसंठाणसंठिए, वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए, वट्टे पुक्खरकन्निया ... संठाणसंठिए वट्टे पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए पन्नत्ते ...।" —जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प. १५-१-३०८।

बीओ उद्देसओ : जोइस

द्वितीय उद्देशक : ज्योतिष

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

जम्बूद्वीप आदि द्वीप-समुद्रों में चन्द्र आदि की संख्या—

२. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइया चंदा पभासिंसु वा पभासेंति वा पभासिस्संति वा ? एवं जहा[1] जीवाभिगमे जाव—'नव य सया पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं' ।। सोभं सोभिंसु सोभिंति सोभिस्संति ।

[२ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में कितने चन्द्रों ने प्रकाश किया, प्रकाश करते हैं और प्रकाश करेंगे ?

[२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार जीवाभिगमसूत्र में कहा है, उसी प्रकार जानना चाहिए, यावत्—'एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारों के समूह शोभित हुए, शोभित होते हैं और शोभित होंगे'; यहाँ तक जानना चाहिए ।

३. लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतिया चंदा पभासिंसु वा पभासिंति वा पभासिस्संति वा ? एवं जहा जीवाभिगमे[2] जाव ताराओ ।

[३ प्र.] भगवन् ! लवणसमुद्र में कितने चन्द्रों ने प्रकाश किया, प्रकाश करते हैं और प्रकाश करेंगे ?

[३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार जीवाभिगमसूत्र में कहा है, उसी प्रकार तारों के वर्णन तक जानना चाहिए ।

४. धायइसंडे कालोदे पुक्खरवरे अब्भितरपुक्खरद्धे मणुस्सखेत्ते, एएसु सव्वेसु जहा[3] जीवाभिगमे जाव—'एग ससीपरिवारो तारागणकोडिकोडीणं ।'

---

१. जीवाभिगम-मूलपाठ—जाव—एगं च सयसहस्सं तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं —जीवाभिगम सू. १५३, पत्र ३०३

२. देखिये—जीवाभिगमसूत्र पत्र ३०३, सू. १५५ में ।

पंचम प्रश्न के उत्तर में—संखेज्जा चंदा पभासिंसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा इत्यादि ।

जीवाभिग०

३. देखिये—जीवाभिगम में—सू. १७५-१७७ पत्र ३२७-३५ ।

[४] धातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करवरद्वीप आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध और मनुष्यक्षेत्र; इन सब में जीवाभिगमसूत्र के अनुसार, यावत्—"एक चन्द्र का परिवार कोटाकोटी तारागण (सहित) होता है" (यहाँ तक जानना चाहिए)।

५. पुक्खरद्धे णं भंते! समुद्दे केवइया चंदा पभासिसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा? एवं सव्वेसु दीव-समुद्देसु जोतिसियाणं भाणियव्वं जाव सयंभूरमणे जाव सोभं सोभिसु वा सोभंति वा सोभिस्संति वा।

सेवं भंते! सेवं भंते त्ति०।

।। नवम सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ।।९-२।।

[५ प्र.] भगवन्! पुष्करार्द्ध समुद्र में कितने चन्द्रों ने प्रकाश किया, प्रकाश करते हैं और प्रकाश करेंगे?

[५ उ.] (जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक में) समस्त द्वीपों और समुद्रों में ज्योतिष्क देवों का जो वर्णन किया गया है, उसी प्रकार, यावत्—स्वयम्भूरमण समुद्र में यावत् शोभित हुए, शोभित होते हैं और शोभित होंगे; (वहाँ तक कहना चाहिए।)

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है; भगवन्! यह इसी प्रकार है; (यों कह कर यावत् भगवान् गौतम विचरते हैं।)

विवेचन—जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश—प्रस्तुत द्वितीय उद्देशक में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करवरद्वीप आदि सभी द्वीप-समुद्रों में मुख्यतया चन्द्रमा की संख्या के विषय में तथा गौणरूप से सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की संख्या के विषय में प्रश्न किये हैं। उनके उत्तर में जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देशक का अतिदेश किया गया है। जीवाभिगमसूत्र के अनुसार—मुख्यतया चन्द्रमा की संख्या—जम्बूद्वीप में २, लवणसमुद्र में ४, धातकीखण्डद्वीप में १२, कालोदसमुद्र में ४२, पुष्करवरद्वीप में १४४, आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध में ७२ तथा मनुष्यक्षेत्र में १३२, एवं पुष्करोदसमुद्र में संख्यात हैं। इसके अनन्तर मनुष्यक्षेत्र के बाहर के वरुणवरद्वीप एवं वरुणोदसमुद्र आदि असंख्यात द्वीप-समुद्रों में यथासम्भव संख्यात एवं असंख्यात चन्द्रमा हैं। इसी प्रकार इन सब में सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा ताराओं की संख्या भी जीवाभिगम सूत्र से जान लेनी चाहिए। इतना विशेष है कि मनुष्यक्षेत्र में जो भी चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिष्कदेव हैं, वे सब चर हैं, जब कि मनुष्यक्षेत्र के बाहर के सब अचर (स्थिर) हैं।[1]

कुछ कठिन शब्दों के अर्थ—पभासिसु=प्रकाश किया। **सोभंसोभिसु**=शोभा की या सुशोभित हुए।[2]

---

१. जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, वृत्ति, सू. १५३, १५५, १७५-७७, पत्र ३००, ३०३, ३२७-३३५

२. (क) भगवती. खण्ड ३, (भगवानदास दोशी) पृ. १२६

(ख) भगवती. वृत्ति, पत्र ४२७

नव य सया पण्णासा० इत्यादि पंक्ति का आशय—सू. २ में 'जाव' शब्द से आगे और 'नव, शब्द से पूर्व' **एगं च सयसहस्सं तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं'** यह पाठ होना चाहिए, तभी यह अर्थ संगत हो सकता है कि **'एक लाख' तेतीस हजार नौ सौ पचास कोटाकोटि तारागण**......।[1]

सभी द्वीप-समुद्रों में चन्द्र आदि ज्योतिष्कों का अतिदेश—पाँचवें सूत्र में पुष्करार्द्ध द्वीप में चन्द्र-संख्या के प्रश्न के उत्तर में अतिदेश किया गया है कि इस प्रकार सभी द्वीप-समुद्रों में चन्द्रमा ही नहीं, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह एवं ताराओं (समस्त ज्योतिष्कदेवों) की संख्या जीवाभिगमसूत्र से जान लेनी चाहिए।[2]

॥ नवम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) जीवाभिगमसूत्र १५३, पत्र ३००

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२७

२. (क) जीवाभिगमसूत्र सू. १७५-७७

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२८

तईआइया तीसंता उद्देसा : अंतरदीवा

तृतीय से तीसवें उद्देशक तक : अन्तर्द्वीप

उपोद्घात—

१. राहगिहे जाव एवं वयासी—

[१. उपोद्घात] राजगृह नगर में, यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—

एकोरुक आदि अट्ठाईस अन्तर्द्वीपक मनुष्य—

२. कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे णामं दीवे पन्नत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं एवं जहा जीवाभिगमे[1] जाव सुद्धदंतदीवे जाव देवलोगपरिग्गहा णं ते मणुया पण्णत्ता समणाउसो ! ।

[२ प्र.] भगवन् ! दक्षिण दिशा का 'एकोरुक' मनुष्यों या 'एकोरुकद्वीप' नामक द्वीप कहाँ वताया गया है ?

[२ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में [चुल्ल हिमवन्त नामक वर्षधर पर्वत के पूर्व दिशागत चरमान्त (किनारे) से उत्तर-पूर्वदिशा (ईशानकोण) में तीन सौ योजन लवण समुद्र में जाने पर वहाँ दक्षिणदिशा के 'एकोरुक' मनुष्यों का 'एकोरुक' नामक द्वीप है। हे गौतम ! उस द्वीप की लम्बाई-चौड़ाई तीन सौ योजन है और उसकी परिधि (परिक्षेप) नौ सौ उनचास योजन से कुछ कम है। वह द्वीप एक पद्मवरवेदिका और एक वनखण्ड से चारों ओर से वेष्टित (घिरा हुआ) है। इन दोनों (पद्मवरवेदिका और वनखण्ड) का प्रमाण और वर्णन] जीवाभिगमसूत्र की तृतीय प्रतिपत्ति के प्रथम उद्देशक के अनुसार इसी क्रम से यावत् शुद्धदन्तद्वीप तक का वर्णन(जान लेना चाहिए।) यावत्—हे आयुष्यमन् श्रमण ! इन द्वीपों के मनुष्य देवगतिगामी कहे गए हैं—यहाँ तक का वर्णन जान लेना चाहिए।

३. एवं अट्ठावीसं पि अंतरदीवा सएणं सएणं आयाम-विक्खंभेणं भाणियव्वा, नवरं दीवे दीवे उद्देसओ। एवं सव्वे वि अट्ठावीसं उद्देसगा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

नवम सए : तइयाइआ तीसंता उद्देसा समत्ता ॥ ९. ३-३०॥

---

१. देखिये—जीवाभिगम सूत्र सू. १०९-१२, पत्र १४४-१५६ (आगमो०)

"अधिक पाठ—दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं दिसिभागेणं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे नामं दीवे पण्णत्ते, 'तं गोयमा !' तिन्नि जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं, णव एक्कूणवन्ने जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पन्नत्ते। से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, दोण्ह वि पमाणं वन्नओ य, एवं एएणं कमेणं ......।" भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ४२८

[३] इस प्रकार अपनी-अपनी लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार इन अट्ठाईस अन्तर्द्वीपों का वर्णन कहना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ एक-एक द्वीप के नाम से एक-एक उद्देशक कहना चाहिए। इस प्रकार ये सब मिल कर इन अट्ठाईस अन्तर्द्वीपों के अट्ठाईस उद्देशक होते हैं।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है; यों कह कर भगवान् गौतम यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—अन्तर्द्वीप और वहाँ के निवासी मनुष्य—ये द्वीप लवणसमुद्र के अन्दर होने से 'अन्तर्द्वीप' कहलाते हैं। इनके रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपक कहलाते हैं। यों तो उत्तरवर्ती और दक्षिणवर्ती समस्त अन्तर्द्वीप छप्पन होते हैं, परन्तु **'दाहिणिल्लाण'** कह कर दक्षिणदिशावर्ती अन्तर्द्वीपों के सम्बन्ध में ही प्रश्न है और वे २८ हैं। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं—१. एकोरुक, २. आभासिक, ३. लांगूलिक, ४. वैषाणिक, ५. हयकर्ण, ६. गजकर्ण ७. गोकर्ण, ८. शष्कुलीकर्ण, ९. आदर्शमुख, १०. मेण्ढ्रमुख, ११. अयोमुख, १२. गोमुख, १३. अश्वमुख, १४. हस्तिमुख, १५. सिंहमुख, १६. व्याघ्रमुख, १७. अश्वकर्ण, १८. सिंहकर्ण, १९. अकर्ण, २०. कर्णप्रावरण, २१. उल्कामुख, २२. मेघमुख, २३. विद्युन्मुख, २४. विद्युद्दन्त, २५. घनदन्त, २६. लष्टदन्त, २७. गूढदन्त और २८. शुद्धदन्त द्वीप। इन्हीं अन्तर्द्वीपों के नाम पर इनके रहने वाले मनुष्य भी इसी नाम वाले कहलाते हैं तथा एकोरुक आदि २८ अन्तर्द्वीपों में से प्रत्येक अन्तर्द्वीप के नाम से एक-एक उद्देशक है।[1]

जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश—'जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से दक्षिण में' इतना मूल में कह कर आगे जीवाभिगमसूत्र का अतिदेश किया गया है, कई प्रतियों में—"चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स ......सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते; दोण्ह वि पमाणं वण्णओ य, एवं एएणं कमेणं;" इत्यादि जो पाठ मिलता है, वह भगवतीसूत्र का मूलपाठ नहीं है, जीवाभिगमसूत्र का है। इसी कारण हमने कोष्ठक में उसका अर्थ दे दिया है। यहाँ इतना ही मूलपाठ स्वीकृत किया है—**"एवं जहा जीवाभिगमे जाव सुद्धदंतदीवे ......।"** जीवाभिगम के पाठ में वेदिका, वनखण्ड, कल्पवृक्ष, मनुष्य-मनुष्यणी का वर्णन किया गया है।[2]

अन्तर्द्वीपक मनुष्यों का आहार-विहार आदि—अन्तर्द्वीपक मनुष्यों में आहारसंज्ञा एक दिन के अन्तर से उत्पन्न होती है। वे पृथ्वीरस, पुष्प और फल का आहार करते हैं। वहाँ की पृथ्वी का स्वाद खांड जैसा होता है। वृक्ष ही उनके घर होते हैं। वहाँ ईंट-चूने आदि के मकान नहीं होते। उन मनुष्यों की स्थिति पल्योपम के असंख्यावें भाग होती है। छह मास आयुष्य शेष रहने पर वे एक साथ पुत्र-पुत्रीयुगल को जन्म देते हैं। ८१ दिन तक उनका पालन-पोषण करते हैं। तत्पश्चात् मर कर वे

---

१. (क) भगवती. (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १५७७
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२८
   (ग) पण्णवणासुत्तं पद १, भा. १, (महावीर विद्यालय) सू. ९५, पृ. ५५
२. (क) विहायपण्णत्तिसुत्तं, मूलपाठ टिप्पण (म. वि.) भा. १, पृ. ४०८
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२८

देवगति में उत्पन्न होते हैं। इसीलिए कहा गया है—**'देवलोकपरिग्गहा'** अर्थात् वे देवगतिगामी होते हैं।[1]

वे अन्तर्द्वीप कहाँ ?—जीवाभिगमसूत्र के अनुसार—जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र और हैमवत की सीमा बाँधने वाला चुल्ल हिमवान पर्वत है। वह पर्वत पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र को स्पर्श करता है। इसी पर्वत के पूर्वी और पश्चिमी किनारे से लवणसमुद्र में, चारों विदिशाओं में से प्रत्येक विदिशा में तीन-तीन सौ योजन आगे जाने पर एकोरुक आदि एक-एक करके चार अन्तर्द्वीप आते हैं। ये द्वीप गोल हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई तीन-तीन सौ योजन की है, तथा प्रत्येक की परिधि ९४९ योजन से कुछ कम है। इन द्वीपों से आगे ४००-४०० योजन लवणसमुद्र में जाने पर चार-चार सौ योजन लम्बे-चौड़े हयकर्ण आदि पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ, ये चार द्वीप आते हैं। ये भी गोल हैं। इनकी परिधि १२६५ योजन से कुछ कम है।

इसी प्रकार इन से आगे क्रमशः पांच सौ, छह सौ, सात सौ, आठ सौ एवं नौ सौ योजन जाने पर क्रमशः ४-४ द्वीप आते हैं, जिनके नाम पहले बता चुके हैं। इन चार-चार अन्तर्द्वीपों की लम्बाई-, चौड़ाई भी क्रमशः पांच सौ से लेकर नौ सौ योजन तक जाननी चाहिए। ये सभी गोल हैं। इनकी परिधि तीन गुनी से कुछ अधिक है।[2]

इसी प्रकार चुल्ल हिमवान पर्वत की चारों विदिशाओं में ये २८ अन्तर्द्वीप हैं।

छप्पन अन्तर्द्वीप—जिस प्रकार चुल्ल हिमवान पर्वत की चारों विदिशाओं में २८ अन्तर्द्वीप कहे गए हैं, इसी प्रकार शिखरी पर्वत की चारों विदिशाओं में भी २८ अन्तर्द्वीप हैं, जिनका वर्णन इसी शास्त्र के १० वें शतक के ७ वें से लेकर ३४ वें उद्देशक तक २८ उद्देशकों में किया गया है। उन अन्तर्द्वीपों के नाम भी इन्हीं के समान हैं।[3]

कठिन शब्दों के अर्थ—दाहिणिल्लाणं=दक्षिण दिशा के। **चरिमंताओ**=अन्तिम किनारे से। **उत्तर-पुरत्थिमेणं**=ईशानकोण=उत्तरपूर्व दिशा से। **ओगाहित्ता**=अवगाहन करने (आगे जाने) पर। **एगूणवण्णे**=उनचास। **किंचिविसेसूणे**=कुछ कम। **परिक्खेवेणं**=परिधि (घेरे) से युक्त। **सव्वओ समंता**=चारों ओर। **संपरिक्खित्ते**=परिवेष्टित, घिरा हुआ। **सएणं**=अपने।[4]

॥ नवम शतक : तीसरे से तीसवें उद्देशक तक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२९
   (ख) विहायपण्णत्तिसुत्तं भा. १, पृ. ४०८

२. (क) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उ. १, पृ. १४४ से १५६ तक।
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२९

३. भगवती. शतक १०, उ. ७ से ३४ तक मूलपाठ।

४. (क) भगवती. (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १५७७
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४२९

एगत्तीसइमो उद्देसओ : 'असोच्चा केवली'

इकतीसवाँ उद्देशक : अश्रुत्वा केवली

उपोद्घात—

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१ उपोद्घात—] राजगृह नगर में यावत् (गौतमस्वामी ने भगवान् महावीरस्वामी से) इस प्रकार पूछा—

केवली यावत् केवली-पाक्षिक उपासिका से धर्मश्रवणलाभालाभ—

२. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, अत्थेगतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्जा सवणयाए ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! केवली, केवली के श्रावक, केवली की श्राविका, केवली के उपासक, केवली की उपासिका, केवलि-पाक्षिक (स्वयम्बुद्ध), केवलि-पाक्षिक के श्रावक, केवलि-पाक्षिक की श्राविका, केवलि-पाक्षिक के उपासक, केवलि-पाक्षिक की उपासिका, (इनमें से किसी) से विना सुने ही किसी जीव को केवलिप्ररूपित धर्मश्रवण का लाभ होता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका (इन दस) से सुने विना ही किसी जीव को केवलिप्ररूपित धर्म-श्रवण का लाभ होता है और किसी जीव को नहीं भी होता ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—असोच्चा णं जाव नो लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—तं चेव जाव नो लभेज्ज सवणयाए ।

[२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है, कि केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका (इन दस) से सुने विना ही किसी जीव को केवलिप्ररूपित धर्म-श्रवण का लाभ होता है और किसी को नहीं भी होता ?

[२-२ उ.] गौतम ! जिस जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया हुआ है, उसको केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका (इन) में से किसी से सुने विना ही केवलि-प्ररूपित धर्म-श्रवण का लाभ होता है और जिस जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया हुआ है, उसे केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना केवलि-प्ररूपित धर्म-श्रवण का लाभ नहीं होता। हे गौतम ! इसी कारण ऐसा कहा गया कि यावत् किसी को धर्म-श्रवण का लाभ होता है और किसी को नहीं होता।

विवेचन—केवली इत्यादि शब्दों का भावार्थ—केवलिस्स—जिन अथवा तीर्थंकर। **केवलि-श्रावक**—जिसने केवली भगवान् से स्वयमेव पूछा है, अथवा उनके वचन सुने हैं, वह। **केवलि-उपासक**—केवली की उपासना करने वाले अथवा केवली द्वारा दूसरे को कहे गए वचन को सुनकर वना हुआ उपासक भक्त। **केवलि-पाक्षिक**—केवलि-पाक्षिक अर्थात्—स्वयम्बुद्धकेवली।[1]

असोच्चा धम्मं लभेज्जा सवणयाए—(उपर्युक्त दस में से किसी के पास से) धर्मफलादि-प्रतिपादक वचन को सुने विना ही अर्थात्—स्वाभाविक धर्मानुराग-वश होकर ही (केवलिप्ररूपित) श्रुत-चारित्ररूप धर्म सुन पाता है, अर्थात्—श्रावणरूप से धर्म-लाभ प्राप्त करता है। आशय यह है कि वह धर्म का वोध पाता है।[2]

नाणावरणिज्जाणं''''खओवसमे—ज्ञानावरणीयकर्म के मतिज्ञानावरणीय आदि भेदों के कारण तथा मतिज्ञानावरण के भी अवग्रहादि अनेक भेद होने से यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। क्षयोपशम शब्द का प्रयोग करने के कारण यहाँ मतिज्ञानावरणीयादि चार ज्ञानावरणीय कर्म ही ग्राह्य हैं, केवलज्ञानावरण नहीं, क्योंकि उसका क्षयोपशम नहीं, क्षय ही होता है। पर्वतीय नदी में लुढकते-लुढकते गोल वने हुए पाषाणखण्ड की तरह किसी-किसी के स्वाभाविकरूप से ज्ञानावरणीय-कर्म का क्षयोपशम हो जाता है। ऐसी स्थिति में इन दस में से किसी से विना सुने ही धर्मश्रवण प्राप्त कर लेता है। धर्मश्रवणलाभ में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है।[3]

केवली आदि से शुद्धबोधि का लाभालाभ—

३. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं बोहिं बुज्झेज्जा ?

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव अत्थेगतिए केवलं वोहिं वुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं णो वुज्झेज्जा।

[३-१ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना ही क्या कोई जीव शुद्धबोधि (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लेता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना ही कई जीव शुद्ध वोधि प्राप्त कर लेते हैं और कई जीव प्राप्त नहीं कर पाते।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३२

२. वही, पत्र ४३२

३. वही, पत्र ४३२

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव नो बुज्झेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे णो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं बोहिं णो बुज्झेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव णो बुज्झेज्जा।

[३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि यावत् शुद्ध बोधि प्राप्त नहीं कर पाते ?

[३-२ उ.] हे गौतम ! जिस जीव ने दर्शनावरणीय (दर्शन-मोहनीय) कर्म का क्षयोपशम किया है, वह जीव केवली यावत् केवलि-पाक्षिक उपासिका से सुने बिना ही शुद्ध बोधि प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिस जीव ने दर्शनावरणीय कर्मो का क्षयोपशम नहीं किया है, उस जीव को केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने बिना शुद्ध बोधि का लाभ नहीं होता। इसी कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि यावत् किसी को सुने बिना शुद्ध बोधिलाभ नहीं होता।

विवेचन—शुद्ध बोधिलाभ सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि केवली आदि दस साधकों से धर्म सुने बिना ही शुद्ध बोधिलाभ उसी को होता है, जिसने दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम किया हो, जिसने दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम नहीं किया, उसे शुद्ध बोधिलाभ नहीं होता।[1]

कतिपय शब्दों के भावार्थ—केवलं बोहिं बुज्झेज्जा=केवल=शुद्ध बोधि=शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है=अनुभव करता है। **दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं**=यहाँ 'दर्शनावरणीय' से दर्शन-मोहनीय कर्म का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि बोधि, सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची शब्द है। अतः सम्यग्दर्शन (बोधि) का लाभ दर्शनमोहनीयकर्म क्षयोपशमजन्य है।[2]

केवली आदि से शुद्ध अनगारिता का ग्रहण-अग्रहण—

४. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा।

[४-१ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक-उपासिका से सुने बिना ही क्या कोई जीव केवल मुण्डित हो कर अगारवास त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित हो सकता है ?

[४-१ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक-उपासिका से सुने बिना ही कोई जीव मुण्डित होकर अगारवास छोड़कर शुद्ध या सम्पूर्ण अनगारिता में प्रव्रजित हो पाता है, और कोई प्रव्रजित नहीं हो पाता।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति का निष्कर्ष, पत्र ४३२

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४३२

[२] से केणट्ठेणं जाव नो पव्वएज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं धम्मंतराइयाणं खओवसमे कडे भवति से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवति से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव मुंडे भवित्ता जाव णो पव्वएज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव नो पव्वएज्जा ।

[४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से यावत् कोई जीव प्रव्रजित नहीं हो पाता ?

[४-२ उ.] गौतम ! जिस जीव के धर्मान्तरायिक कर्मों का क्षयोपशम किया हुआ है, वह जीव केवली आदि से सुने बिना ही मुण्डित होकर अगारवास से अनगारधर्म में प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु जिस जीव के धर्मान्तरायिक कर्मों का क्षयोपशम नहीं हुआ है, वह मुण्डित होकर अगारवास से अनगारधर्म में प्रव्रजित नहीं हो पाता । इसी कारण से हे गौतम ! यह कहा गया है कि यावत् वह (कोई जीव) प्रव्रज्या ग्रहण नहीं कर पाता ।

विवेचन—केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा : भावार्थ—मुण्डित होकर गृहवासत्याग करके शुद्ध या सम्पूर्ण अनगारिता में प्रव्रजित हो पाता है, अर्थात् अनगारधर्म में दीक्षित हो पाता है ।[1]

धम्मंतराइयाणं कम्माणं—धर्म में अर्थात्—चारित्र अंगीकाररूप धर्म में अन्तराय-विघ्न डालने वाले कर्म धर्मान्तरायिक कर्म अर्थात्—वीर्यान्तराय एवं विविध चारित्रमोहनीय कर्म ।[2]

केवली आदि से ब्रह्मचर्य-वास का धारण-अधारण—

५. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा ?

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगतिए केवलं बंभचेरवासं नो आवसेज्जा ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने बिना ही क्या कोई जीव शुद्ध ब्रह्मचर्यवास धारण कर पाता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने बिना ही कोई जीव शुद्ध ब्रह्मचर्यवास को धारण लेता है और कोई नहीं कर पाता ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो आवसेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो आवसेज्जा ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३

२. वही, पत्र ४३३

[५-२. प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यावत् कोई जीव धारण नहीं कर पाता ?

[५-२ उ.] गौतम ! जिस जीव ने चारित्रावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने विना ही शुद्ध ब्रह्मचर्यवास को धारण कर लेता है किन्तु जिस जीव ने चारित्रावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया है, वह जीव यावत् शुद्ध ब्रह्मचर्यवास को धारण नहीं कर पाता। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यावत् वह धारण नहीं कर पाता ।

विवेचन—चारित्रावरणीय कर्म—यहाँ वेद नोकपायमोहनीयरूप चारित्रावरणीयकर्म विशेप रूप से ग्रहण करने चाहिए; क्योंकि मैथुनविरमण रूप ब्रह्मचर्यवास के विशेपतः आवारक कर्म वे ही हैं ।[1]

केवली आदि से शुद्ध संयम का ग्रहण-अग्रहण—

६. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ?

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स जाव उवासियाए वा जाव अत्थेगतिए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगतिए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ।

[६-१ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना ही क्या कोई जीव शुद्ध संयम द्वारा संयम-यतना करता है ?

[६-१ उ.] हे गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना ही कोई जीव शुद्ध संयम द्वारा संयम—यतना करता है और कोई जीव नहीं करता ।

[२] से केणट्ठेणं जाव नो संजमेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगतिए नो संजमेज्जा ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यावत् कोई जीव शुद्ध संयम द्वारा संयम—यतना करता है और कोई जीव नहीं करता ?

[६-२ उ.] गौतम ! जिस जीव ने यतनावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया हुआ है, वह केवली यावत् केवलि-पाक्षिक-उपासिका से सुने विना ही शुद्ध संयम द्वारा संयम—यतना करता है, किन्तु जिसने यतनावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया है, वह केवली आदि से सुने विना यावत् शुद्ध संयम द्वारा संयम—यतना नहीं करता। इसीलिए हे गौतम ! पूर्वोक्त प्रकार से कहा गया है।

विवेचन—केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा—शुद्ध संयम अर्थात्—चारित्र ग्रहण अथवा पालन करके संयम—यतना करता है—अर्थात् संयम में लगने वाले अतिचार का परिहार करने के लिए

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३

यतनाविशेष करता है। **जयणावरणिज्जाणं कम्माणं०**—यतनावरणीय कर्म से चारित्रविशेषविषयक वीर्यान्तरायरूप कर्म समझना चाहिए।[1]

केवली आदि से शुद्ध संवर का आचरण-अनाचरण—

७. [१] असोच्चा णं भंते! केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा?

गोयमा! असोच्चा णं केवलिस्स जाव अत्थेगतिए केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्थेगतिए केवलेणं जाव नो संवरेज्जा।

[७-१ प्र.] भगवन्! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से धर्म-श्रवण किये विना ही क्या कोई जीव शुद्ध संवर द्वारा संवृत होता है?

[७-१ उ.] गौतम! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने विना ही कोई जीव शुद्ध संवर से संवृत होता है और कोई जीव शुद्ध संवर से संवृत नहीं होता।

[२] से केणट्ठेणं जाव नो संवरेज्जा?

गोयमा! जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे णो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो संवरेज्जा।

[७-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कोई जीव केवली आदि से सुने विना ही शुद्ध संवर से संवृत होता है और कोई जीव यावत् नहीं होता?

[७-२ उ.] गौतम! जिस जीव ने अध्यवसानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने विना ही, यावत् शुद्ध संवर से संवृत हो जाता है, किन्तु जिसने अध्यवसानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम नहीं किया है, वह जीव केवली आदि से सुने विना यावत् शुद्ध संवर से संवृत नहीं होता। इसी कारण से हे गौतम! यह कहा जाता है कि यावत् शुद्ध संवर से संवृत नहीं होता।

विवेचन—केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा—शुद्ध संवर से संवृत होता है, अर्थात्—आश्रवनिरोध करता है।

अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं—संवर शब्द से यहाँ शुभ अध्यवसायवृत्ति विवक्षित है। वह भावचारित्र रूप होने से तदावरणक्षयोपशम-लभ्य है, इसलिए अध्यवसानावरणीय शब्द से यहाँ भावचारित्रावरणीय कर्म समझने चाहिए।[2]

केवली आदि से आभिनिबोधिक आदि ज्ञान-उपार्जन-अनुपार्जन—

८. [१] असोच्चा णं भंते! केवलिस्स जाव केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पाडेज्जा?

गोयमा! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं नो उप्पाडेज्जा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३

[८-१ प्र.] भगवन् ! केवली आदि से सुने बिना ही क्या कोई जीव शुद्ध आभिनिबोधिक-ज्ञान उपार्जन कर लेता है ?

[८-१ उ.] गौतम ! केवली आदि से सुने बिना कोई जीव शुद्ध आभिनिबोधिक ज्ञान प्राप्त करता है और कोई जीव यावत् नहीं प्राप्त करता ।

[२] से केणट्ठेणं जाव नो उप्पाडेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, जस्स णं आभिणिबोहियनाणावर-णिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं आभिणिबोहिय-नाणं नो उप्पाडेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव नो उप्पाडेज्जा ।

[८-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से यावत् नहीं प्राप्त करता ?

[८-२ उ.] गौतम ! जिस जीव ने आभिनिबोधिक-ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षयोपशम किया है, वह केवली आदि से सुने बिना ही शुद्ध आभिनिबोधिकज्ञान उपार्जन कर लेता है, किन्तु जिसने आभिनिबोधिक-ज्ञानावरणीय कर्मो का क्षयोपशम नहीं किया है, वह केवली आदि से सुने बिना शुद्ध आभिनिबोधिकज्ञान का उपार्जन नहीं कर पाता । हे गौतम ! इसीलिए कहा जाता है कि कोई जीव यावत् शुद्ध आभिनिबोधिकज्ञान उपार्जन कर लेता है और कोई नहीं कर पाता ।

९. असोच्चा णं भंते ! केवलि० जाव केवलं सुयनाणं उप्पाडेज्जा ?

एवं जहा आभिणिबोहियनाणस्स वत्तव्वया भणिया तहा सुयनाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे भाणियव्वे ।

[९ प्र.] भगवन् ! केवली आदि से सुने बिना ही क्या कोई जीव श्रुतज्ञान उपार्जन कर लेता है ?

[९ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार आभिनिबोधिकज्ञान का कथन किया गया, उसी प्रकार शुद्ध श्रुतज्ञान के विषय में भी कहना चाहिए ।

विशेष इतना ही है कि यहाँ श्रुतज्ञानावरणीयकर्मो का क्षयोपशम कहना चाहिए ।

१०. एवं चेव केवलं ओहिनाणं भाणियव्वं; नवरं ओहिणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे भाणियव्वे ।

[१०] इसी प्रकार शुद्ध अवधिज्ञान के उपार्जन के विषय में कहना चाहिए । विशेष यह है कि यहाँ अवधिज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम कहना चाहिए ।

११. एवं केवलं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, नवरं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे भाणियव्वे ।

[११] इसी प्रकार शुद्ध मनःपर्ययज्ञान के उत्पन्न होने के विषय में कहना चाहिए । विशेष इतना ही है कि मनःपर्ययज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम का कथन करना चाहिए ।

१२. असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पाडेज्जा ?

एवं चेव, नवरं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए भाणियव्वे, सेसं तं चेव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा ।

[१२ प्र.] भगवन् ! केवली आदि से सुने विना ही क्या कोई जीव केवलज्ञान उपार्जन कर लेता है ?

[१२ उ.] पूर्ववत् यहाँ भी कहना चाहिए । विशेष इतना ही है कि यहाँ केवलज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय कहना चाहिए । शेष सव कथन पूर्ववत् है । इसीलिए हे गौतम ! यह कहा जाता है कि यावत् केवलज्ञान का उपार्जन करता ।

विवेचन—आभिनिबोधिक आदि ज्ञानों के उत्पादन के सम्बन्ध में—निष्कर्प यह है कि आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, इन पाँच ज्ञानों का उपार्जन केवली आदि से सुने विना भी वही कर सकता है, जिसके उस-उस ज्ञान के आवरणरूप कर्मो का क्षयोपशम तथा क्षय हो गया हो, अन्यथा नहीं कर सकता ।

केवली आदि से ग्यारह बोलों की प्राप्ति और अप्राप्ति—

१३. [१] असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए व केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए १ ?, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा २ ? केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ३ ?, केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा ४ ?, केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ५ ?, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ६ ?, केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा ७ ?, जाव केवलं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा १० ?, केवलनाणं उप्पाडेज्जा ११ ?,

गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलिपंन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, अत्थेगतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्जा सवणयाए १; अत्थेगतिए केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, अत्थेगतिए केवलं बोहिं णो बुज्झेज्जा २; अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए जाव नो पव्वएज्जा ३; अत्थेगतिए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगतिए केवलं बंभचेरवासं नो आवसेज्जा ४; अत्थेगतिए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगतिए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा ५; एवं संवरेण वि ६; अत्थेगतिए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगतिए जाव नो उप्पाडेज्जा ७; एवं जाव[1] मणपज्जवनाणं ८-९-१०; अत्थेगतिए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगतिए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ११ ।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक-उपासिका (इन दस) के पास से धर्मश्रवण किये विना ही क्या कोई जीव केवलि-प्ररूपित धर्म-श्रवण-लाभ करता है; शुद्ध

---

१. 'जाव' शब्द से यहाँ 'श्रुतज्ञान' और 'अवधिज्ञान' पद जोड़ना चाहिए ।

बोधि (सम्यग्दर्शन) प्राप्त करता है, मुण्डित हो कर अगारवास से शुद्ध अनगारिता को स्वीकार करता है, शुद्ध ब्रह्मचर्यवास धारण करता है, शुद्ध संयम द्वारा संयम—यतना करता है, शुद्ध संवर से संवृत होता है, शुद्ध आभिनिबोधिकज्ञान उत्पन्न करता है, यावत् शुद्ध मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान उत्पन्न करता है?

[१३-१ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से सुने बिना ही कोई जीव केवलि-प्ररूपित धर्म-श्रवण का लाभ पाता है, कोई जीव नहीं पाता १, कोई जीव शुद्ध बोधिलाभ प्राप्त करता है, कोई नहीं प्राप्त करता २, कोई जीव मुण्डित हो कर अगारवास से शुद्ध अनगारधर्म में प्रव्रजित होता है और कोई प्रव्रजित नहीं होता ३, कोई जीव शुद्ध ब्रह्मचर्यवास को धारण करता है और कोई नहीं धारण करता ४, कोई जीव शुद्ध संयम से संयम—यतना करता है और कोई नहीं करता ५, कोई जीव शुद्ध संवर से संवृत होता है और कोई जीव संवृत नहीं होता ६, इसी प्रकार कोई जीव आभिनिबोधिकज्ञान का उपार्जन करता है और कोई उपार्जन नहीं करता ७, कोई जीव यावत् मनःपर्यवज्ञान का उपार्जन करता है और कोई नहीं करता ८-९-१०, कोई जीव केवलज्ञान का उपार्जन करता है और कोई नहीं करता ११।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ असोच्चा णं तं चेव जाव अत्थेगतिए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ १, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ २, जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ ३, एवं चरित्तावरणिज्जाणं ४, जयणावरणिज्जाणं ५, अज्झवसाणावरणिज्जाणं ६, आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं ७, जाव मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ ८-९-१०, जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं जाव खए नो कडे भवइ ११, से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव[1] केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्जा सवणयाए, केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा जाव केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा। जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवति १, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ २, जस्स णं धम्मंतराइयाणं ३, एवं जाव जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कडे भवइ ११, से णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए १, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा २, जाव केवलणाणं उप्पाडेज्जा ११।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! इस (पूर्वोक्त) कथन का क्या कारण है कि कोई जीव केवलिप्ररूपित धर्मश्रवण-लाभ करता है, यावत् केवलज्ञान का उपार्जन करता है और कोई यावत् केवलज्ञान का नहीं करता ?

[१३-२ उ.] गौतम ! (१) जिस जीव ने ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (२) जिस जीव ने दर्शनावरणीय (दर्शनमोहनीय) कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (३) धर्मान्तरायिक-

---

१ 'जाव' शब्द से यहाँ 'श्रुतज्ञान' और 'अवधिज्ञान' पद जोड़ना चाहिए।

कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (४) चारित्रावरणीयकर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (५) यतनावरणीयकर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (६) अध्यवसानावरणीयकर्म का क्षयोपशम नहीं किया, (७) आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम नही किया, (८ से १०) इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, तथा (११) केवलज्ञानावरणीयकर्म का क्षय नहीं किया, वे जीव केवली आदि से धर्मश्रमण किये विना धर्म-श्रवणलाभ नहीं पाते, शुद्धबोधिलाभ का अनुभव नहीं करते, यावत् केवलज्ञान को उत्पन्न नहीं कर पाते। (१) जिस जीव ने ज्ञानावरणीयकर्मों का क्षयोपशम किया है, (२) जिसने दर्शनावरणीयकर्मो का क्षयोपशम किया है, (३) जिसने धर्मान्तरायिककर्मों का क्षयोपशम किया है, (४-११) यावत् जिसने केवलज्ञानावरणीयकर्मों का क्षय किया है, वह केवली आदि से धर्मश्रवण किये विना ही केवलि-प्ररूपित धर्म-श्रवण लाभ प्राप्त करता है, शुद्ध बोधिलाभ का अनुभव करता है, यावत् केवलज्ञान को उपार्जित कर लेता है।

विवेचन—ग्यारह बोलों की प्राप्ति किसको और किसको नहीं? केवलज्ञानी आदि दस में से किसी से शुद्ध धर्म-श्रवण किये विना ही कौन व्यक्ति केवलि-प्ररूपित धर्मश्रवण का लाभ पाता, शुद्ध सम्यग्दर्शन का अनुभव करता है, यावत् केवलज्ञान उपार्जित करता है? इसके उत्तर में प्रस्तुत सूत्र (सं. १३) में उन-उन कर्मों का क्षयोपशम तथा क्षय करने वाले व्यक्ति को उस-उस बोल की प्राप्ति बताई गई है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के उन-उन आवारक कर्मों का क्षयोपशम या क्षय नहीं होता, वह उस-उस बोल की प्राप्ति से वंचित रहता है।

केवली आदि से विना सुने केवलज्ञानप्राप्ति वाले को विभंगज्ञान एवं क्रमशः अवधिज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया—

१४. तस्स णं छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स पगतिभद्दयाए पगइउवसंतयाए पगतिपयणुकोह-माण-माया-लोभयाए मिउमद्दवसंपन्नयाए अल्लीणताए भद्दताए विणीतताए अण्णया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विब्भंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं जाणइ पासइ, से णं तेणं विब्भंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पासंडत्थे सारंभे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ, सम्मत्तं पडिवज्जित्ता समणधम्मं रोएति, समणधम्मं रोएत्ता चरित्तं पडिवज्जइ, चरित्तं परिवज्जित्ता लिंगं पडिवज्जइ, तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं परिहायमाणेहिं, सम्मद्दंसणपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं परिवड्ढमाणेहिं से विब्भंगे अन्नाणे सम्मत्तपरिग्गहिए खिप्पामेव ओही परावत्तइ।

[१४] निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) का तपःकर्म करते हुए सूर्य के सम्मुख बाहें ऊँची करके आतापनाभूमि में आतापना लेते हुए उस (विना धर्मश्रवण किए केवलज्ञान तक प्राप्त करने वाले) जीव की प्रकृति-भद्रता से, प्रकृति की उपशान्तता से स्वाभाविक रूप से ही क्रोध, मान, माया और

लोभ की अत्यन्त मन्दता होने से, अत्यन्त मृदुत्वसम्पन्नता से, कामभोगों में अनासक्ति से, भद्रता और विनीतता से तथा किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या एवं तदावरणीय (विभंगज्ञानावरणीय) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए 'विभंग' नामक अज्ञान उत्पन्न होता है। फिर वह उस उत्पन्न हुए विभंगज्ञान द्वारा जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन तक जानता और देखता है। उस उत्पन्न हुए विभंगज्ञान से वह जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है। वह पाषण्डस्थ, सारम्भी (आरम्भयुक्त), सपरिग्रह (परिग्रही) और संक्लेश पाते हुए जीवों को भी जानता है और विशुद्ध होते हुए जीवों को भी जानता है। (तत्पश्चात्) वह (विभंगज्ञानी) सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, सम्यक्त्व प्राप्त करके श्रमणधर्म पर रुचि करता है, श्रमणधर्म पर रुचि करके चारित्र अंगीकार करता है। चारित्र अंगीकार करके लिंग (साधुवेश) स्वीकार करता है। तब उस (भूतपूर्व विभंगज्ञानी) के मिथ्यात्व के पर्याय क्रमशः क्षीण होते-होते और सम्यग्-दर्शन के पर्याय क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह 'विभंग' नामक अज्ञान, सम्यक्त्व-युक्त होता है और शीघ्र ही अवधि (ज्ञान) के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

विवेचन—'तस्स छट्ठंछट्ठेणं' : आशय—जो व्यक्ति केवली आदि से बिना सुने ही केवलज्ञान उपार्जन कर लेता है, ऐसे किसी जीव को किस क्रम से अवधिज्ञान प्राप्त होता है, उसकी प्रक्रिया यहाँ बताई गई है। 'छट्ठंछट्ठेणं' यहाँ यह बताने के लिए कहा गया है कि प्रायः लगातार बेले-बेले की तपस्या करने वाले बालतपस्वी को विभंगज्ञान उत्पन्न होता है।[1]

ईहापोहमग्गणगवेसणं : ईहा—विद्यमान पदार्थों के प्रति ज्ञानचेष्टा। **अपोह**—'यह घट है, पट नहीं,' इस प्रकार विपक्ष के निराकरणपूर्वक वस्तुतत्त्व का विचार। **मार्गण**—अन्वयधर्म-पदार्थ में विद्यमान गुणों का आलोचन (विचार)। **गवेषण**—व्यतिरेक (धर्म) का निराकरण रूप आलोचन (विचार)।[2]

समुत्पन्न विभंगज्ञान की शक्ति—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि वह बालतपस्वी विभंगज्ञान प्राप्त होने पर जीवों को भी कथंचित् ही जानता है, साक्षात् नहीं, क्योंकि विभंगज्ञानी मूर्त्तपदार्थों को ही जान सकता है, अमूर्त्त को नहीं। इसी प्रकार पाषण्डस्थ यानी व्रतस्थ, आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने से महान् संक्लेश पाते हुए जीवों को भी जानता है और अल्पमात्रा में परिणामों की विशुद्धि होने से परिणामविशुद्धिमान् जनों को भी जानता है।[3]

विभंगज्ञान अवधिज्ञान में परिणत होने की प्रक्रिया—इससे पूर्व प्रकृतिभद्रता, विनम्रता, कषायों की उपशान्तता, कामभोगों में अनासक्ति, शुभ अध्यवसाय एवं सुपरिणाम आदि के कारण विभंगज्ञानी होते हुए भी परिणामों की विशुद्धि होने से सर्वप्रथम सम्यक्त्वप्राप्ति, फिर श्रमणधर्म पर रुचि, चारित्र को अंगीकार और फिर साधुवेष को स्वीकार करता है। सम्यक्त्वप्राप्ति किस प्रकार होती है ? इसकी प्रक्रिया बताने के लिए अन्त में पाठ दिया गया है—"**विभंगे अण्णाणे सम्मत्त-**

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३

२. वही अ. वृत्ति, पत्र ४३३

३. वही अ. वृत्ति, पत्र ४३३

परिग्गहिए....। उसका आशय यह है कि चारित्र प्राप्ति से पहले वह भूतपूर्व विभंगज्ञानी सम्यक्त्व प्राप्त करता है और सम्यक्त्व प्राप्त होते ही उसका विभंगज्ञान अवधिज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। उसके बाद की प्रक्रिया है—श्रमणधर्म की रुचि, चारित्रधर्मस्वीकार, वेशग्रहण आदि, जो कि मूलपाठ में पहले बता दी गई है।[1]

'अणिक्खित्तेणं' आदि शब्दों का भावार्थ—**अणिक्खित्तेणं**—लगातार बीच में छोड़े बिना। **पगिज्झिय**—रख कर। **आयावणभूमीए**—आतापना लेने के स्थान में। **पगइपतणुकोह**....—प्रकृति से, स्वभाव से ही पतले क्रोधादि कषाय। **मिउमद्दवसंपण्णयाए**—अत्यन्त मृदुता-कोमलता से सम्पन्न होने के कारण। **अल्लीणयाए**—अलीनता = अनासक्ति = कामभोगों के प्रति गृद्धिरहितता। **अण्णया कयावि**—अन्य किसी समय। **परिहायमाणेहिं** = परिक्षीण होते हुए। **परिवड्ढमाणेहिं** = बढ़ते-बढ़ते। **ओही परावत्तइ**—अवधिज्ञान में परिवर्तित हो जाता है।[2]

पूर्वोक्त अवधिज्ञानी में लेश्या, ज्ञान आदि का निरूपण—

१५. से णं भंते ! कतिसु लेस्सासु होज्जा ?

गोयमा ! तिसु विसुद्धलेस्सासु होज्जा, तं जहा—तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए।

[१५ प्र.] भगवन् ! वह अवधिज्ञानी कितनी लेश्याओं में होता है ?

[१५ उ.] गौतम ! वह तीन विशुद्ध लेश्याओं में होता है। यथा—१. तेजोलेश्या, २. पद्म-लेश्या और ३. शुक्ललेश्या।

१६. से णं भंते ! कतिसु णाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! तिसु, आभिणिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाणेसु होज्जा।

[१६ प्र.] भगवन् ! वह अवधिज्ञानी कितने ज्ञानों में होता है ?

[१६ उ.] गौतम ! वह आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, इन तीन ज्ञानों में होता है।

१७. [१] से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?

गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा।

[१७-१ प्र.] भगवन् ! वह सयोगी होता है, या अयोगी ?

[१७-१ उ.] गौतम ! वह सयोगी होता है, अयोगी नहीं होता।

[२] जइ सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा ?

गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा।

[१७-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह सयोगी होता है, तो क्या मनोयोगी होता है, वचनयोगी होता है या काययोगी होता है ?

[१७-२ उ.] गौतम ! वह मनोयोगी होता है, वचनयोगी होता है और काययोगी भी होता है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३३-४३४

२. वही. पत्र ४३३

१८. से णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा ?

गोयमा ! सागारोवउत्ते वा होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा ।

[१८ प्र.] भगवन् ! वह साकारोपयोग-युक्त होता है, अथवा अनाकारोपयोग-युक्त होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! वह साकारोपयोग-युक्त भी होता है और अनाकारोपयोग-युक्त भी होता है ।

१९. से णं भंते ! कयरम्मि संघयणे होज्जा ?

गोयमा ! वइरोसभनारायसंघयणे होज्जा ।

[१९ प्र.] भगवन् ! वह किस संहनन में होता है ?

[१९ उ.] गौतम ! वह वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला होता है ।

२०. से णं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ?

गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अन्नयरे संठाणे होज्जा ।

[२० प्र.] भगवन् ! वह किस संस्थान में होता है ?

[२० उ.] गौतम ! वह छह संस्थानों में से किसी भी संस्थान में होता है ।

२१. से णं भंते ! कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं सत्त रयणी, उक्कोसेणं पंचधणुसतिए होज्जा ।

[२१ प्र.] भगवन् ! वह कितनी ऊँचाई वाला होता है ?

[२१ उ.] गौतम ! वह जघन्य सात हाथ (रत्नि) और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष ऊँचाई वाला होता है ।

२२. से णं भंते ! कयरम्मि आउए होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगट्ठवासाउए, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउए होज्जा ।

[२२ प्र.] भगवन् ! वह कितनी आयुष्य वाला होता है ?

[२२ उ.] गौतम ! वह जघन्य साधिक आठ वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटि आयुष्य वाला होता है ।

२३. [१] से णं भंते ! किं सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा ?

गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो अवेदए होज्जा ।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! वह सवेदी होता है या अवेदी ?

[२३-१ उ.] गौतम ! वह सवेदी होता है, अवेदी नहीं होता ।

[२] जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा ?

गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए वा होज्जा ।

[२३-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह सवेदी होता है तो क्या स्त्रीवेदी होता है, पुरुषवेदी होता है अथवा नपुंसकवेदी होता है, या पुरुष-नपुंसक (—कृत्रिम नपुंसक—) वेदी होता है ?

[२३-२ उ.] गौतम ! वह स्त्रीवेदी नहीं होता, पुरुषवेदी होता है, नपुंसकवेदी नहीं होता, किन्तु पुरुष-नपुंसकवेदी होता है ।

२४. [१] से णं भंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ?

गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह (अवधिज्ञानी) सकषायी होता है, अथवा अकषायी होता है ?

[२४-१ उ.] गौतम ! वह सकषायी होता है, अकषायी नहीं होता ।

[२] जइ सकसाई होज्जा, से णं भंते ! कतिसु कसाएसु होज्जा ?

गोयमा ! चउसु संजलणकोह-माण-माया-लोभेसु होज्जा ।

[२४-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह सकषायी होता है, तो वह कितने कषायों वाला होता है ?

[२४-२ उ.] गौतम ! वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चार कषायों से युक्त होता है ।

२५. [१] तस्स णं भंते ! केवतिया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता ।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! उसके कितने अध्यवसाय होते हैं ?

[२५-१ उ.] गौतम ! उसके असंख्यात अध्यवसाय होते हैं ।

[२] ते णं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था ?

गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था ।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! उसके वे अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं या अप्रशस्त ?

[२५-२ उ.] गौतम ! वे प्रशस्त होते हैं, अप्रशस्त नहीं होते ।

विवेचन—अवधिज्ञानी के सम्बन्ध में प्रश्न—ये प्रश्न जो लेश्या, ज्ञान, योग, उपयोग आदि के सम्बन्ध में किये गए हैं, वे उसके सम्बन्ध में किये गए हैं जो पहले विभंगज्ञानी था, किन्तु पूर्वोक्त प्रक्रियापूर्वक शुद्ध अध्यवसाय एवं शुद्ध परिणाम के कारण सम्यक्त्व प्राप्त करके अवधिज्ञानी हुआ और श्रमणधर्म में दीक्षित होकर चारित्र ग्रहण कर चुका है ।[१]

'तिसु विसुद्धलेसासु होज्ज'—प्रशस्त भावलेश्या होने पर ही सम्यक्त्वादि प्राप्त होते हैं, अप्रशस्त लेश्याओं में नहीं ।

तिसु .... णाणेसु होज्ज—विभंगज्ञानी को सम्यक्त्व प्राप्त होते ही उसके मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान, ये तीनों अज्ञान, (मति-श्रुतावधि-) ज्ञानरूप में परिणत हो जाते हैं ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३५

णो अजोगी होज्ज—अवधिज्ञानी को अवधिज्ञान काल में अयोगी-अवस्था प्राप्त नहीं होती।

सागारोवउत्ते वा—विभंगज्ञान से निवृत्त होने वाला अवधिज्ञानी, दोनो उपयोगों में से किसी भी एक उपयोग में प्रवृत्त होना है।

साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग का अर्थ—साकारोपयोग अर्थात् ज्ञान और अनाकारोपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग से पूर्व होने वाला दर्शन (निराकार ज्ञान)।

वज्रऋषभनाराच-संहनन ही क्यों?—यहाँ जो अवधिज्ञानी के लिए वज्रऋषभनाराच-संहनन का कथन किया गया है, वह आगे प्राप्त होने वाले केवलज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान की प्राप्ति वज्रऋषभनाराच-संहनन वालों को ही होती है।

सवेदी आदि का तात्पर्य—विभंगज्ञान से अवधिज्ञान काल में साधक सवेदी होता है, क्योंकि उस दशा में उसके वेद का क्षय नहीं होता। विभंगज्ञान से अवधिज्ञान प्राप्त करने की जो प्रक्रिया है, उस प्रक्रिया का स्त्री में स्वभावत: अभाव होता है। अत: सवेदी में वह पुरुषवेदी एवं कृत्रिमनपुंसकवेदी होता है।

सकसाई होज्ज—विभंगज्ञान एवं अवधिज्ञान के काल में कपायक्षय नहीं होता, किन्तु संज्वलनकपाय होता है, क्योंकि विभंगज्ञान के अवधिज्ञान में परिणत होने पर वह अवधिज्ञानी साधक जब चारित्र अंगीकार कर लेता है, तब उसमें संज्वलन के ही क्रोधादि चार कषाय होते है।

प्रशस्त अध्यवसायस्थान ही क्यों?—विभंगज्ञान से अवधिज्ञान की प्राप्ति अप्रशस्त अध्यवसाय वाले को नहीं होती, इसलिए अवधिज्ञानी में प्रशस्त अध्यवसायस्थान ही होते हैं।

उक्त अवधिज्ञानी को केवलज्ञान-प्राप्ति का क्रम—

२६. से णं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं वट्टमाणे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणिय जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, जाओ वि य से इमाओ नेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देवगतिनामाओ उत्तरपयडीओ तासिं च णं उवग्गहिए अणंताणुबंधी कोह-माण-माया-लोभे खवेइ, अणंताणुबंधी कोह-माण-माया-लोभे खवित्ता अपच्चक्खाणकसाए कोह-माण-माया-लोभे खवेइ, अपच्चक्खाणकसाए कोह-माण-माया-लोभे खवित्ता पच्चक्खाणावरणे कोह-माण-माया-लोभे खवेइ, पच्चक्खाणावरणे कोह-माण-माया-लोभे खवित्ता संजलणे कोह-माण-माया-लोभे खवेइ। संजलणे कोह-माण-माया-लोभे खवित्ता पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दरिसणावरणिज्जं पंचविहमंतराइयं तालमत्थकडं च णं मोहणिज्जं कट्टु कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाण-दंसणे समुप्पज्जति।

[२६] वह अवधिज्ञानी बढ़ते हुए प्रशस्त अध्यवसायों से, अनन्त नैरयिकभव-ग्रहणों से अपनी आत्मा को विसंयुक्त (-विमुक्त) कर लेता है, अनन्त तिर्यञ्चयोनिक भवों से अपनी आत्मा को विसंयुक्त कर लेता है, अनन्त मनुष्यभव-ग्रहणों से अपनी आत्मा को विसंयुक्त कर लेता है और अनन्त देव-भवों से अपनी आत्मा को वियुक्त कर लेता है। जो ये नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और

देवगति नामक चार उत्तर (कर्म-) प्रकृतियाँ हैं, उन प्रकृतियों के आधारभूत (उपगृहीत) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ का क्षय करके अप्रत्याख्यानकषाय—क्रोध-मान-माया-लोभ का क्षय करता है, अप्रत्याख्यान क्रोधादि कषाय का क्षय करके प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है; प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकषाय का क्षय करके संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। संज्वलन के क्रोध-मान-माया-लोभ का क्षय करके पंचविध (पांच प्रकार के) ज्ञानावरणीयकर्म, नवविध (नौ प्रकार के) दर्शनावरणीयकर्म, पंचविध अन्तरायकर्म को तथा मोहनीयकर्म को कटे हुए ताड़वृक्ष के समान बना कर, कर्मरज को बिखेरने वाले अपूर्वकरण में प्रविष्ट उस जीव के अनन्त, अनुत्तर, व्याघातरहित, आवरणरहित, कृत्स्न (सम्पूर्ण), प्रतिपूर्ण एवं श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन (एक साथ) उत्पन्न होता है।

विवेचन—चारित्रात्मा अवधिज्ञानी के प्रशस्त अध्यवसायों का प्रभाव—प्रस्तुत में केवलज्ञान-प्राप्ति का क्रम बताया गया है कि सर्वप्रथम प्रशस्त अध्यवसायों के प्रभाव से नरकादि चारों गतियों के भविष्यकालभावी अनन्त भवों से अपनी आत्मा को वियुक्त कर लेना है. फिर गतिनामकर्म की चारों नरकादि गतिरूप उत्तरकर्मप्रकृतियों के कारणभूत अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन कषाय का क्षय कर लेता है। कषायों का सर्वथा क्षय होते ही ज्ञानावरणीयादि चार घातिक कर्मों का क्षय कर लेता है। इन चारों के क्षय होते ही अनन्त, अव्याघात परिपूर्ण, निरावरण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है।[1]

मोहनीयकर्म का नाश, शेष घाति कर्मनाश का कारण—प्रस्तुत सूत्र में ज्ञानावरणीयादि तीनों कर्मों का उत्तरप्रकृतियों सहित क्षय पहले बताया है, किन्तु मोहनीयकर्म के क्षय हुए विना इन तीनों कर्मों का क्षय नहीं होता। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए यहाँ कहा गया है—**'तालमत्थकडं च णं मोहणिज्जं कटटु'**, इसका भावार्थ यह है कि जिस प्रकार ताड़वृक्ष का मस्तक सूचि भेद (सूई से या सूई की तरह छिन्न-भिन्न) करने से वह सारा का सारा वृक्ष क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म का क्षय होने पर शेष घातिकर्मों का भी क्षय हो जाता है। अर्थात्—मोहनीयकर्म की शेष प्रकृतियों का क्षय करके साधक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनों कर्मों की सभी प्रकृतियों का क्षय कर देता है।[2]

केवलज्ञान के विशेषणों का भावार्थ—केवलज्ञान विषय की अनन्तता के कारण **अनन्त** है। केवलज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए वह अनुत्तर (सर्वोत्तम) ज्ञान है। वह दीवार, भींत आदि के व्यवधान के कारण प्रतिहत (स्खलित) नहीं होता—किसी भी प्रकार की कोई भी रुकावट उसे रोक नहीं सकती, इसलिए वह **'निर्व्याघात'** है। सम्पूर्ण आवरणों के क्षय होने पर उत्पन्न

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं ('मूल' टिप्पण) भा. १ पृ. ४१६ (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३५

२. यथा हि तालमस्तकविनाशक्रियाऽवश्यम्भावि-तालविनाशा एवं मोहनीयकर्मविनाशक्रियाऽप्यवश्यम्भाविशेषकर्मविनाशेति। आह च—

> **मस्तकसूचिविनाशे, तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः।**
> **तद्वत् कर्मविनाशोऽपि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥१॥**
>
> —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३६

होने से वह 'निरावरण' है। सकल पदार्थों का ग्राहक होने से वह 'कृत्स्न' होता है। अपने सम्पूर्ण अंशों से युक्त उत्पन्न होने से वह 'प्रतिपूर्ण' होता है। केवलदर्शन के लिए भी यही विशेषण समझ लेने चाहिए।[1]

असोच्चा केवली द्वारा उपदेश-प्रव्रज्या सिद्धि आदि के सम्बन्ध में—

२७. से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्जा वा पण्णवेज्जा वा परूवेज्जा वा ?

नो इणट्ठे समट्ठे, णऽन्नत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा।

[२७ प्र.] भगवन् ! वे असोच्चा केवली, केवलिप्ररूपित धर्म कहते हैं, बतलाते हैं अथवा प्ररूपणा करते हैं ?

[२७ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। वे (केवल) एक ज्ञात (उदाहरण) के अथवा एक (व्याकरण) प्रश्न के उत्तर के सिवाय अन्य (धर्म का) उपदेश नहीं करते।

२८. से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे, उवदेसं पुण करेज्जा।

[२८ प्र.] भगवन् ! वे असोच्चा केवली (किसी को) प्रव्रजित करते हैं या मुण्डित करते हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं। किन्तु उपदेश करते (कहते) हैं (कि तुम अमुक के पास प्रव्रज्या ग्रहण करो।)

२९. से णं भंते ! सिज्झति जाव अंतं करेति ?

हंता, सिज्झति जाव अंतं करेति।

[२९ प्र.] भगवन् ! (क्या असोच्चा केवली) सिद्ध होते हैं यावत् समस्त दुःखों का अन्त करते हैं ?

[२९ उ.] हाँ गौतम ! वे सिद्ध होते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

३०. से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा, अहो होज्जा, तिरियं होज्जा ?

गोयमा ! उड्ढं वा होज्जा, अहो वा होज्जा, तिरियं वा होज्जा। उड्ढं होज्जमाणे सद्दावइ-वियडावइ-गंधावइ-मालवंतपरियाएसु वट्टवेयड्ढपव्वएसु होज्जा, साहरणं पडुच्च सोमणसवणे वा पंडगवणे वा होज्जा। अहो होज्जमाणे गड्डाए वा दरीए वा होज्जा, साहरणं पडुच्च पायाले वा भवणे वा होज्जा। तिरियं होज्जमाणे पण्णरससु कम्मभूमीसु होज्जा, साहरणं पडुच्च अड्ढाइज्जदीव-समुद्दत-देक्कदेसभाए होज्जा।

[३० प्र.] भगवन् ! वे असोच्चा केवली ऊर्ध्वलोक में होते हैं, अधोलोक में होते हैं या तिर्यक्लोक में होते हैं ?

---

१. भगवतीसूत्र भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १६०४

[३० उ.] गौतम ! वे ऊर्ध्वलोक में भी होते हैं, अधोलोक में भी होते हैं और तिर्यग्लोक में भी होते हैं। यदि ऊर्ध्वलोक में होते हैं तो शब्दापाती, विकटापाती, गन्धापाती, और माल्यवन्त नामक वृत्त (वैताढ्य) पर्वतों में होते हैं तथा संहरण की अपेक्षा सौमनसवन में अथवा पाण्डुकवन में होते हैं। यदि अधोलोक में होते हैं तो गर्त्ता (अधोलोक ग्रामादि) में अथवा गुफा में होते हैं तथा संहरण की अपेक्षा पातालकलशों में अथवा भवनवासी देवों के भवनों में होते हैं। यदि तिर्यग्लोक में होते हैं तो पन्द्रह कर्मभूमि में होते हैं तथा संहरण की अपेक्षा अढाई द्वीप और समुद्रों के एक भाग में होते हैं।

३१. ते णं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं दस। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव अत्थेगतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, अत्थेगतिए असोच्चा णं केवलि जाव नो लभेज्जा सवणयाए जाव अत्थेगतिए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगतिए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा।

[३१ प्र.] भगवन् ! वे असोच्चा केवली एक समय में कितने होते हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट दस होते हैं।

[**उपसंहार**—] इसलिए हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से धर्मश्रवण किये विना ही किसी जीव को केवलिप्ररूपित धर्म-श्रवण प्राप्त होता है और किसी को नहीं होता; यावत् कोई जीव केवलज्ञान उत्पन्न कर लेता है और कोई जीव केवलज्ञान उत्पन्न नहीं कर पाता।

विवेचन—असोच्चा केवली का आचार-विचार, उपलब्धि एवं स्थान—२७ से ३१ सूत्र तक प्रस्तुत पाँच सूत्रों में असोच्चा केवली से सम्वन्धित निम्नोक्त प्रश्नों के उत्तर हैं—(१) वे केवलि-प्ररूपित धर्म कहते, बतलाते या प्रेरणा करते हैं ?, (२) वे किसी को प्रव्रजित या मुण्डित करते हैं ?, (३) वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ?, (४) वे ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग्लोक में कहाँ-कहाँ होते हैं ?, (५) वे एक समय में कितने होते हैं ?[1]

आघवेज्ज—शिष्यों को शास्त्र का अर्थ ग्रहण कराते हैं, अथवा अर्थ-प्रतिपादन करके सत्कार प्राप्त कराते हैं।

पन्नवेज्ज—भेद वताकर या भिन्न-भिन्न करके समझाते हैं।

परूवेज्ज—उपपत्तिकथनपूर्वक प्ररूपण करते हैं।

पव्वावेज्ज मुंडावेज्ज—रजोहरण आदि द्रव्यवेष देकर प्रव्रजित (दीक्षित) करते हैं, मस्तक का लोच करके मुण्डित करते हैं।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४१६-४१७

उवएसं पुण करेज्ज—किसी दीक्षार्थी के उपस्थित होने पर 'अमुक के पास दीक्षा लो' केवल इतना सा उपदेश करते हैं।[1]

सद्दावइ इत्यादि पदों का आशय—शब्दापाती, विकटापाती गन्धापाती और माल्यवन्त, ये स्थान जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार क्षेत्रसमास के अभिप्राय से क्रमशः हैमवत, ऐरण्यवत, हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष क्षेत्र में हैं।

सोमणसवणे पंडगवणे—मेरुपर्वत पर सौमनसवन तीसरा और पाण्डुकवन चौथा वन है।[2]

सोच्चा से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

३२. सोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! सोच्चा णं केवलिस्स वा जाव अत्थेगतिए केवलिपण्णत्तं धम्मं० । एवं जा चेव असोच्चाए वत्तव्वया सा चेव सोच्चाए वि भाणियव्वा, नवरं अभिलावो सोच्चेति । सेसं तं चेव निरवसेसं जाव 'जस्स णं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कडे भवइ से णं सोच्चा केवलिस्स वा जाव उवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभिज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा (सु. १३ [२])।

[३२ प्र.] भगवन् ! केवली यावत् केवली-पाक्षिक की उपासिका से (धर्मप्रतिपादक वचन) श्रवण कर क्या कोई जीव केवलिप्ररूपित धर्म-बोध (श्रवण) प्राप्त करता है ?

[३२ उ.] गौतम ! केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से धर्म-वचन सुनकर कोई जीव केवलिप्ररूपित धर्म का बोध प्राप्त करता है और कोई जीव प्राप्त नहीं करता। इस विषय में जिस प्रकार असोच्चा की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार 'सोच्चा' की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ सर्वत्र 'सोच्चा' ऐसा पाठ कहना चाहिए। शेष सभी पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए; यावत् जिसने मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया है तथा जिसने केवलज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय किया है, वह केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से धर्मवचन सुनकर केवलिप्ररूपित धर्म-बोध (श्रवण) प्राप्त करता है, शुद्ध बोधि (सम्यग्दर्शन) का अनुभव करता है, यावत् केवलज्ञान प्राप्त करता है।

विवेचन—'असोच्चा' का अतिदेश—जैसे केवली आदि के वचन बिना सुने ही जिन्हें सम्यग्-बोध से लेकर यावत् केवलज्ञान तक प्राप्त होता है, यह कहा गया है, उसी प्रकार केवली आदि से

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३६
 आघवेज्ज त्ति—आग्राहयेच्छिष्यान्, अर्घापयेद् वा—प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेत्।
 पन्नवेज्ज त्ति—प्रज्ञापयेद्—भेदभणनतो बोधयेद् वा।
 परूवेज्ज त्ति—उपपत्तिकथनतः।
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३६

धर्मश्रवण करने वाले जीव को भी सम्यग्वोध से लेकर यावत् केवलज्ञान (तक) उत्पन्न होता है। 'असोच्चा' को लेकर जो पाठ था उसी पाठ का 'सोच्चा' के सभी प्रकरण में अतिदेश किया गया है।[1]

केवली आदि से सुन कर अवधिज्ञान की उपलब्धि—

३३. तस्स णं अट्ठमंअट्ठमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभद्दयाए तहेव जाव गवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ। से णं तेणं ओहिनाणेणं समुप्पन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ।

[३३] (केवली आदि से धर्म-वचन सुन कर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को) निरन्तर तेले-तेले (अट्ठम-अट्ठम) तप:कर्म से अपनी आत्मा को भावित करते हुए प्रकृतिभद्रता आदि (पूर्वोक्त) गुणों से यावत् ईहा, अपोह, मार्गण एवं गवेषण करते हुए अवधिज्ञान समुत्पन्न होता है। वह उस उत्पन्न अवधिज्ञान के प्रभाव से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अलोक में भी लोकप्रमाण असंख्य खण्डों को जानता और देखता है।

विवेचन—केवली आदि से सुनकर सम्यग्दर्शनादिप्राप्त जीव को अवधिज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया- बिना सुने अवधिज्ञान प्राप्त करने वाले जीव को पहले विभंगज्ञान प्राप्त होता है, फिर सम्यक्त्वादि प्राप्त होने पर वही विभंगज्ञान अवधिज्ञान में परिणत हो जाता है, जब कि सुन कर अवधिज्ञान प्राप्त करने वाला जीव बेले के बदले निरन्तर तेले की तपस्या करता है। प्रकृतिभद्रता आदि गुण तथा उससे ईहादि के कारण अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिसके प्रभाव से उत्कृष्टत: अलोक में भी लोक-प्रमाण असंख्य खण्डों को जानता-देखता है।[2] फिर वह सम्यक्त्व, चारित्र, साधुवेष आदि से केवल-ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है।

तथारूप अवधिज्ञानी में लेश्या, योग, देह आदि—

३४. से णं भंते कतिसु लेस्सासु होज्जा ?

गोयमा ! छसु लेस्सासु होज्जा, तं जहा—कण्हलेसाए जाव सुक्कलेसाए।

[३४ प्र.] भगवन् ! वह (तथारूप अवधिज्ञानी जीव), कितनी लेश्याओं में होता है ?

[३४ उ.] गौतम ! वह छहों लेश्याओं में होता है। यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या।

३५. से णं भंते ! कतिसु णाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा। तिसु होज्जमाणे आभिणिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाण-मणपज्जवनाणेसु होज्जा।

[३५ प्र.] भंते ! वह (तथारूप अवधिज्ञानी जीव) कितने ज्ञानों में होता है ?

[३५ उ.] गौतम ! वह तीन या चार ज्ञानों में होता है। यदि तीन ज्ञानों में होता है, तो

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र, ४३८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३८

आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में होता है। यदि चार ज्ञान में होता है तो आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में होता है।

३६. से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?

एवं जोगो उवओगो संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए (सु. १७-२२) तहेव भाणियव्वाणि।

[३६ प्र.] भगवन् ! वह (तथारूप अवधिज्ञानी) सयोगी होता है अथवा अयोगी होता है ? (आदि प्रश्न यावत् आयुष्य तक)

[३६ उ.] गौतम ! जैसे 'असोच्चा' के योग, उपयोग, संहनन, संस्थान, ऊँचाई और आयुष्य के विषय में कहा, उसी प्रकार यहाँ (सोच्चा के) भी योगादि के विषय में कहना चाहिए।

३७. [१] से णं भंते किं सवेदए० पुच्छा।

गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा।

[३७-१ प्र.] भगवन् ! वह अवधिज्ञानी सवेदी होता है अथवा अवेदी ?
[३७-१ उ.] गौतम ! वह सवेदी होता है अथवा अवेदी भी होता है।

[२] जइ अवेदए होज्जा किं उवसंतवेयए होज्जा, खीणवेयए होज्जा ?

गोयमा ! नो उवसंतवेदए होज्जा, खीणवेदए होज्जा।

[३७-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह अवेदी होता है तो क्या उपशान्तवेदी होता है अथवा क्षीणवेदी होता है ?

[३७-२ उ.] गौतम ! वह उपशान्तवेदी नहीं होता, क्षीणवेदी होता है।

[३] जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा० पुच्छा।

गोयमा इत्थीवेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए वा होज्जा।

[३७-३ प्र.] भगवन् ! यदि वह सवेदी होता है तो क्या स्त्रीवेदी होता है पुरुषवेदी होता है, नपुंसकवेदी होता है, अथवा पुरुष-नपुंसकवेदी होता है ?

[३७-३ उ.] गौतम ! वह स्त्रीवेदी भी होता है या पुरुषवेदी होता है अथवा पुरुष-नपुंसकवेदी होता है।

३८. [१] से णं भंते ! सकसाई होज्जा ? अकसाई होज्जा ?

गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई वा होज्जा।

[३८-१ प्र.] भगवन् ! वह अवधिज्ञानी सकषायी होता है अथवा अकषायी होता है ?
[३८-१ उ.] गौतम ! वह सकषायी होता है अथवा अकषायी भी होता है।

[२] जइ अकसाई होज्जा किं उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा ?

गोयमा ! नो उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा।

[३८-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह अकषायी होता है तो क्या उपशान्तकषायी होता है या क्षीणकषायी ?

[३८-२ उ.] गौतम ! वह उपशान्तकषायी नहीं होता, किन्तु क्षीणकषायी होता है।

[३] जइ सकसाई होज्जा से णं भंते ! कतिसु कसाएसु होज्जा ?

गोयमा ! चउसु वा, तिसु वा, दोसु वा, एक्कम्मि वा होज्जा। चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोह-माण-माया-लोभेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाण-माया-लोभेसु होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमाया-लोभेसु होज्जा, एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणे लोभे होज्जा।

[३८-३ प्र.] भगवन् ! यदि वह सकषायी होता है तो कितने कषायों में होता है ?

[३८-३ उ.] गौतम ! वह चार कषायों में, तीन कषायों में, दो कषायों में अथवा एक कषाय में होता है। यदि वह चार कषायों में होता है, तो संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में होता है। यदि तीन कषायों में होता है तो संज्वलन मान, माया और लोभ में होता है। यदि वह दो कषायों में होता है तो संज्वलन माया और लोभ में होता है और यदि वह एक कषाय में होता है तो एक संज्वलन लोभ में होता है।

३९. तस्स णं भंते ! केवतिया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा, एवं जहा असोच्चाए (सु. २५-२६) तहेव जाव केवलवरनाण-दंसणे समुप्पज्जइ (सु. २६)।

[३९ प्र.] भंते ! उस (तथारूप) अवधिज्ञानी के कितने अध्यवसाय बताए गए हैं ?

[३९ उ.] गौतम ! उसके असंख्यात अध्यवसाय होते है। जिस प्रकार (सू.२५, २६ में) असोच्चा केवली के अध्यवसाय के विषय में कहा गया, उसी प्रकार यहाँ भी 'सोच्चा केवली' के लिए यावत् उसे केवलज्ञान—केवलदर्शन उत्पन्न होता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

सोच्चा केवली द्वारा उपदेश, प्रव्रज्या, सिद्धि आदि के सम्बन्ध में—

४०. से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघविज्जा वा, परूविज्जा वा ?

हंता, आघविज्ज वा, पण्णवेज्ज वा, परूवेज्ज वा।

[४० प्र.] भंते ! वह 'सोच्चा केवली' केवलि-प्ररूपित धर्म कहते हैं, बतलाते हैं या प्ररूपित करते हैं ?

[४० उ.] हाँ गौतम ! वे केवलि-प्ररूपित धर्म कहते हैं, बतलाते हैं और उसकी प्ररूपणा भी करते हैं।

४१. [१] से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?

हंता, गोयमा ! पव्वावेज्ज वा, मुंडावेज्ज वा।

[४१-१ प्र.] भगवन् ! वे सोच्चाकेवली किसी को प्रव्रजित करते हैं या मुण्डित करते हैं ?

[४१-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे प्रव्रजित भी करते हैं, मुण्डित भी करते हैं।

[२] तस्स णं भंते ! सिस्सा वि पव्वावेज्ज वा, मुंडावेज्ज वा ?

हंता, पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ।

[४१-२ प्र.] भगवन् ! उन सोच्चाकेवली के शिष्य किसी को प्रव्रजित करते हैं या मुण्डित करते हैं ?

[४१-२ उ.] हाँ गौतम ! उनके शिष्य भी प्रव्रजित करते हैं और मुण्डित करते हैं ।

[३] तस्स णं भंते ! पसिस्सा वि पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?

हंता, पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ।

[४१-३ प्र.] भगवन् ! क्या उन श्रुत्वाकेवली के प्रशिष्य भी किसी को प्रव्रजित और मुण्डित करते हैं ?

[४१-३ उ.] हाँ गौतम ! उनके प्रशिष्य भी प्रव्रजित करते है और मुण्डित करते हैं ।

४२. [१] से णं भंते ! सिज्झति बुज्झति जाव अंतं करेइ ?

हंता, सिज्झइ जाव अंतं करेइ ।

[४२-१ प्र.] भगवन् ! वे श्रुत्वाकेवली सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं ?

[४२-१ उ.] हाँ गौतम ! वे सिद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं ।

[२] तस्स णं भंते ! सिस्सा वि सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

हंता, सिज्झंति जाव अंतं करेंति ।

[४२-२ प्र] भंते ! क्या उन सोच्चाकेवली के शिष्य भी सिद्ध होते हैं यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं ?

[४२-२ उ.] हाँ, गौतम ! वे भी सिद्ध, बुद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं ।

[३] तस्स णं भंते ! पसिस्सा वि सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? एवं चेव जाव अंतं करेंति ।

[४२-३ प्र.] भगवन् ! क्या उनके प्रशिष्य भी सिद्ध होते हैं, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करते हैं ?

[४२-३ उ.] हाँ, गौतम ! वे भी सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ।

४३. से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा ? जहेव असोच्चाए (सु. ३०) जाव तदेक्कदेसभाए होज्जा ।

[४३ प्र.] भंते ! वे सोच्चाकेवली ऊर्ध्वलोक में होते हैं, अधोलोक में होते हैं और तिर्यग्लोक में भी होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[४३ उ.] हे गौतम ! जैसे (सू. ३० में) असोच्चाकेवली के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। यावत् वे अढाई द्वीप-समुद्र के एक भाग में होते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

४४. ते णं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं—१०८ ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सोच्चा णं केवलिस्स वा जाव केवलिउवासियाए वा जाव अत्थेगतिए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगतिए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ।

।। नवमसयस्स इगतीसइमो उद्देसो ।।

[४४ प्र.] भगवन् ! वे सोच्चाकेवली एक समय में कितने होते हैं ?

[४४ उ.] गौतम ! वे एक समय में जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट एक सौ आठ होते हैं।

[उपसंहार—] इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि केवली यावत् केवलि-पाक्षिक की उपासिका से धर्मप्रतिपादक वचन सुन कर यावत् कोई जीव केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है और कोई प्राप्त नहीं करता।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; ऐसा कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—सोच्चा अवधिज्ञानी के लेश्या आदि का निरूपण—सू. ३४ से ४४ तक में तथारूप अवधिज्ञानी के लेश्या, ज्ञान, योग, उपयोग, संघयण, संठाण, उच्चत्व, आयुष्य, वेद, कषाय, अध्यवसान, उपदेश, प्रव्रज्यादान, सिद्धि, स्थान एवं एक समय में कितनी संख्या आदि के सम्बन्ध में असोच्चा-केवली के क्रम से ही प्रतिपादन किया गया है।[1]

असोच्चा से सोच्चा अवधिज्ञानी की कई बातों में अन्तर—(१) **लेश्या**—असोच्चा अवधिज्ञानी में तीन ही विशुद्ध लेश्याएँ बताई गई हैं, जबकि सोच्चा अवधिज्ञानी में छह लेश्याएँ बताई गई हैं। उसका रहस्य यह है कि यद्यपि तीन प्रशस्त भावलेश्या होने पर ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है, तथापि द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से वह सम्यक्त्व श्रुत की तरह छह लेश्याओं में होता है, क्योंकि सोच्चाकेवली का अधिकार होने से मनुष्य ही उसका अधिकारी है। इसलिए उक्त लेश्या वाले द्रव्यों तथा उनकी परिणति की अपेक्षा से छह लेश्याओं का कथन किया गया है। (२) **ज्ञान**—तेले-तेले की विकट तपस्या करने वाले साधु को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और अवधिज्ञानी में प्रारम्भिक दो ज्ञान (मति-श्रुतज्ञान) अवश्य होने से उसे तीन ज्ञानों में बतलाया गया है। जो मन:पर्यायज्ञानी होता है, उसके अवधिज्ञान उत्पन्न होने पर अवधिज्ञानी चार ज्ञानों से युक्त हो जाता है। (३) **वेद**—यदि अक्षीणवेदी को अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो तो वह सवेदक होता है, उस समय या तो वह स्त्रीवेदी

---

[1] वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४१८-४२०

होता है या पुरुषवेदी अथवा पुरुषनपुंसकवेदी होता है और अवेदी को अवधिज्ञान होता है तो वह क्षीणवेदी को होता है, उपशान्तवेदी को नहीं होता, क्योंकि आगे इसी अवधिज्ञानी के केवलज्ञान की उत्पत्ति का कथन विवक्षित है। (४) **कषाय**—कषायक्षय न होने की स्थिति में अवधिज्ञान प्राप्त होता है तो वह जीव सकषायी होता है और कषायक्षय होने पर अवधिज्ञान होता है तो अकषायी होता है। यदि अक्षीणकषायी अवधिज्ञान प्राप्त करता है तो चारित्रयुक्त होने से चार संज्वलन कषायों में होता है, जब क्षपकश्रेणिवर्ती होने से संज्वलन क्रोध क्षीण हो जाता है, तब अवधिज्ञान प्राप्त होता है, तो संज्वलनमानादि तीन कषाय युक्त होता है, जब क्षपकश्रेणि की दशा में संज्वलन क्रोध-मान क्षीण हो जाता है तो संज्वलन माया-लोभ से युक्त होता है और जब तीनों क्षीण हो जाते हैं तो वह अवधिज्ञानी एकमात्र संज्वलन लोभ से युक्त होता है।[1]

॥ नवम शतक : इकतीसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

१ भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४३८

बत्तीसइमो उद्देसओ : 'गंगेय'

बत्तीसवाँ उद्देशक : 'गांगेय'

उपोद्घात—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नगरे होत्था। वण्णओ। दूतिपलासे चेइए। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

[१] उस काल, उस समय में वाणिज्यग्राम नामक नगर था। (उसका वर्णन जान लेना चाहिए)। वहाँ द्युतिपलाश नाम का चैत्य (उद्यान) था। (एक वार) वहाँ भगवान् महावीरस्वामी (पधारे), (उन) का समवसरण लगा। परिषद् वन्दन के लिये निकली। (भगवान् ने) धर्मोपदेश दिया। परिषद् वापिस लौट गई।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—

[२] उस काल उस समय में पार्श्वापत्य (पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य) गांगेय नामक अनगार थे। जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ वे आए और श्रमण भगवान् महावीर के न अतिनिकट और न अतिदूर खड़े रह कर उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

चौवीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर-उपपात-उद्वर्तन-प्ररूपणा—

३. संतरं भंते! नेरइया उववज्जंति, निरंतरं नेरइया उववज्जंति?

गंगेया! संतरं पि नेरइया उववज्जंति, निरंतरं पि नेरइया उववज्जंति।

[३ प्र.] भगवन्! नैरयिक सान्तर (सामयिक व्यवधान सहित) उत्पन्न होते हैं या निरन्तर (लगातार—बीच में समय के व्यवधानविना) उत्पन्न होते हैं?

[३ उ.] हे गांगेय! नैरयिक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

४. [१] संतरं भंते! असुरकुमारा उववज्जंति, निरंतरं असुरकुमारा उववज्जंति?

गंगेया! संतरं पि असुरकुमारा उववज्जंति, निरंतरं पि असुरकुमारा उववज्जंति।

[४-१ प्र.] भगवन्! असुरकुमार सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

[४-१ उ.] गांगेय! वे सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[४-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक जानना चाहिए।

५. [१] संतरं भंते ! पुढविकाइया उववज्जंति, निरंतरं पुढविकाइया उववज्जंति ?
गंगेया ! नो संतरं पुढविकाइया उववजंति, निरंतरं पुढविकाइया उववज्जंति ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर उत्पन्न होते हैं ?
[५-१ उ.] गांगेय ! पृथ्वीकायिक जीव सान्तर उत्पन्न नहीं होते; निरन्तर उत्पन्न होते हैं ।

[२] एवं जाव वणस्सइकाइया ।

[५-२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों तक जानना चाहिए ।

६. वेइंदिया जाव वेमाणिया, एते जहा णेरइया ।

[६] द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर यावत् वैमानिक देवों तक नैरयिकों के समान (उत्पत्ति) जानना चाहिए ।

७. संतरं भंते ! नेरइया उव्वट्टंति, निरंतरं नेरइया उव्वट्टंति ?
गंगेया ! संतरं पि नेरइया उव्वट्टंति, निरंतरं पि नेरइया उव्वट्टंति ।

[७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव सान्तर उद्वर्त्तित होते (मरते) हैं या निरन्तर ?
[७ उ.] गांगेय ! नैरयिक जीव सान्तर भी उद्वर्त्तित होते हैं और निरन्तर भी ।

८. एवं जाव थणियकुमारा ।

[८] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक (के उद्वर्त्तन के सम्बन्ध में) जानना चाहिए ।

९. [१] संतरं भंते ! पुढविक्काइया उव्वट्टंति० ? पुच्छा ।
गंगेया ! णो संतरं पुढविक्काइया उव्वट्टंति, निरंतरं पुढविक्काइया उव्वट्टंति ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव सान्तर उद्वर्त्तित होते हैं या निरन्तर ?

[९-१ उ.] गांगेय ! पृथ्वीकायिक जीवों का उद्वर्त्तन (मरण) सान्तर नहीं होता, निरन्तर होता रहता है ।

[२] एवं जाव वणस्सइकाइया नो संतरं, निरंतरं उव्वट्टंति ।

[९-२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों तक (के उद्वर्त्तन के विषय में) जानना चाहिए । ये सान्तर नहीं, निरन्तर उद्वर्त्तित होते हैं ।

१०. संतरं भंते ! वेइंदिया उव्वट्टंति, निरंतरं वेंदिया उव्वट्टंति ?
गंगेया ! संतरं पि वेइंदिया उव्वट्टंति, निरंतरं पि बेइंदिया उव्वट्टंति ।

[१० प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों का उद्वर्त्तन (मरण) सान्तर होता है या निरन्तर ?
[१० उ.] गांगेय ! द्वीन्द्रिय जीवों का उद्वर्त्तन सान्तर भी होता है और निरन्तर भी ।

११. एवं जाव वाणमंतरा ।

[११] इसी प्रकार यावत् वाणव्यन्तर तक जानना चाहिए ।

१२. संतरं भंते ! जोइसिया चयंति० ? पुच्छा।

गंगेया ! संतरं पि जोइसिया चयंति, निरंतरं पि जोइसिया चयंति।

[१२ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देवों का च्यवन (मरण) सान्तर होता है या निरन्तर ?

[१२ उ.] गांगेय ! ज्योतिष्क देवों का च्यवन सान्तर भी होता है और निरन्तर भी।

१३. एवं जाव वेमाणिया वि।

[१३] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक (च्यवन के सम्बन्ध में) जान लेना चाहिए।

विवेचन—उपपात-उद्वर्त्तन : परिभाषा—जीवों के जन्म या उत्पत्ति को उपपात और मरण या च्यवन को उद्वर्त्तन कहते हैं। वैमानिक और ज्योतिष्क देवों का मरण 'च्यवन' कहलाता है। नारकादि का मरण उद्वर्त्तन।

सान्तर और निरन्तर—जीवों की उत्पत्ति आदि में समय आदि काल का अन्तर (व्यवधान) हो तो वह 'सान्तर' कहलाता है, जिसकी उत्पत्ति आदि में समय आदि काल का अन्तर (व्यवधान) नहीं होता, वह 'निरन्तर' कहलाता है।

एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु—ये जीव प्रतिसमय उत्पन्न होते और प्रतिसमय मरते हैं। इसलिए उनकी उत्पत्ति और उद्वर्तन सान्तर नहीं, निरन्तर होता है। एकेन्द्रिय के सिवाय शेष सभी जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु में अन्तर सम्भव है। इसलिए वे सान्तर एवं निरन्तर, दोनों प्रकार से उत्पन्न होते और मरते हैं।[१]

पासावच्चिज्जे—पार्श्वापत्य अर्थात्—पार्श्वनाथ भगवान् के सन्तानीय—शिष्यानुशिष्य।[२]

प्रवेशनक : चार प्रकार—

१४. कइविहे णं भंते ! पवेसणए पण्णत्ते ?

गंगेया ! चउव्विहे पवेसणए पण्णत्ते, तं जहा—नेरइयपवेसणए तिरिक्खजोणियपवेसणए मणुस्सपवेसणए देवपवेसणए।

[१४ प्र.] भगवन् ! प्रवेशनक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१४ उ.] गांगेय ! प्रवेशनक चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) नैरयिक-प्रवेशनक (२) तिर्यग्योनिक-प्रवेशनक, (३) मनुष्य-प्रवेशनक और (४) देव-प्रवेशनक।

विवेचन—प्रवेशनक—एक गति से दूसरी गति में प्रवेश करना—जाना, प्रवेशनक है। अर्थात्—एक गति से मर कर दूसरी गति में उत्पन्न होना प्रवेशनक कहलाता है। गतियाँ चार होने से प्रवेशनक भी चार प्रकार का ही है।[३]

---

१. भगवतीसूत्र (अर्थ-विवेचन) भा ४ (पं घेवरचंदजी), पृ १६१७

२ वही, पृ १६१७

३. गत्यन्तरादुद्वृत्तस्य विजातीयगतौ जीवस्य प्रवेशनं उत्पाद इत्यर्थः। —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४२

नैरयिक-प्रवेशनक निरूपण—

१५. नेरइयपवेसणए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?

गंगेया ! सत्तविहे पन्नत्ते, तं जहा—रयणप्पभापुढविनेरइयपवेसणए जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयपवेसणए।

[१५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-प्रवेशनक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५ उ.] गांगेय ! (नैरयिक-प्रवेशनक) सात प्रकार का कहा गया है, जैसे कि रत्नप्रभा-पृथ्वी नैरयिक-प्रवेशनक यावत् अधःसप्तमपृथ्वी नैरयिक-प्रवेशनक।

विवेचन—नैरयिक-प्रवेशनक सात ही क्यों ?—नरक सात हैं और नैरयिक जीव रत्नप्रभा आदि नरकों में से किसी भी एक नरक में उत्पन्न होता है, अतः उसके सात ही प्रवेशनक हो सकते हैं। यथा—रत्नप्रभा-प्रवेशनक, शर्कराप्रभा-प्रवेशनक आदि।[1]

एक नैरयिक के प्रवेशनक-भंग—

१६. एगे भंते ! नेरइए नेरइयपवेसणए णं पविसमाणे किं रयणप्पभाए होज्जा, सक्करप्पभाए होज्जा, जाव अहेसत्तमाए होज्जा ?

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा।७।

[१६ प्र.] भंते ! क्या एक नैरयिक जीव नैरयिकप्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ रत्नप्रभा-पृथ्वी में होता है, या शर्कराप्रभा-पृथ्वी में होता है अथवा यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है ?

[१६ उ.] गांगेय ! वह नैरयिक रत्नप्रभा-पृथ्वी में होता है, या यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है।

विवेचन—एक नैरयिक के असंयोगी सात प्रवेशनक भंग—यदि एक नारक रत्नप्रभा आदि नरकों में उत्पन्न (प्रविष्ट) हो तो उसके सात विकल्प होते हैं। जैसे कि—(१) या तो वह रत्नप्रभा-पृथ्वी में उत्पन्न होता है, (२) या शर्कराप्रभा-पृथ्वी में, (३ से ७) या इसी तरह आगे एक-एक पृथ्वी में यावत् अथवा अधःसप्तमपृथ्वी में उत्पन्न होता है। इस प्रकार असंयोगी सात भंग होते हैं। उत्कृष्ट प्रवेशनक के सिवाय सभी नरकभूमियों में असंयोगी सात ही विकल्प होते हैं।[2]

दो नैरयिकों के प्रवेशनक भंग—

१७. दो भंते ! नेरइया नेरइयपवेसणए णं पविसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा जाव अहेसत्तमाए होज्जा ?

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा। ७।

अहवा एगे रयणप्पभाए हुज्जा, एगे सक्करप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए होज्जा २। जाव एगे रयणप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, ३-४-५-६। अहवा एगे

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४२२

२ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४२ (ख) भगवती. (पं. घेवरचंदजी) भा. ४, पृ. १६१९.

सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा ७। जाव अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ८-९-१०-११। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए होज्जा १२। एवं जाव अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, १३-१४-१५। एवं एक्केक्का पुढवी छड्डेयव्वा जाव अहवा एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, १६-१७-१८-१९-२०-२१।

[१७ प्र.] भगवन् ! दो नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में ?

[१७ उ.] गांगेय ! वे दोनों (१) रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, अथवा (२-७) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं।

अथवा (१) एक रत्नप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होता है और एक शर्कराप्रभापृथ्वी में। अथवा (२) एक रत्नप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होता है, और एक वालुकाप्रभापृथ्वी में (३-४-५-६)। अथवा यावत् एक रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होता है, और एक अधःसप्तमपृथ्वी में। (अर्थात्—एक रत्नप्रभापृथ्वी में और एक पंकप्रभापृथ्वी में, एक रत्नप्रभापृथ्वी में और एक धूमप्रभापृथ्वी में, एक रत्नप्रभापृथ्वी में और एक तमःप्रभापृथ्वी में, या एक रत्नप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होता है। इस प्रकार रत्नप्रभा के साथ छह विकल्प होते हैं।

(७) अथवा एक शर्कराप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होता है और एक वालुकाप्रभा में, अथवा (८-९-१०-११) यावत् एक शर्कराप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होता है और एक अधःसप्तम पृथ्वी में। (अर्थात्—एक शर्कराप्रभा में और एक पंकप्रभा में; एक शर्कराप्रभा में और एक धूमप्रभा में; एक शर्कराप्रभा में और एक तमःप्रभा में; अथवा एक शर्कराप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में उत्पन्न होता है। इस प्रकार शर्कराप्रभा के साथ पांच विकल्प हुए।)

(१२) अथवा एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में उत्पन्न होता है; (१३-१४-१५) अथवा इसी प्रकार यावत् एक वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में उत्पन्न होता है। (अर्थात्—अथवा एक वालुकाप्रभा में और एक धूमप्रभा में; या एक वालुकाप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में उत्पन्न होता है। इस प्रकार वालुकाप्रभा के साथ चार विकल्प हुए)।

(१६-१७-१८-१९-२०-२१) इसी प्रकार (पूर्व-पूर्व की) एक-एक पृथ्वी छोड़ देनी चाहिए; यावत् एक तमःप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में उत्पन्न होता है। (अर्थात्—एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में; एक पंकप्रभा में और एक तमःप्रभा में या एक पंकप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में, यों तीन विकल्प पंकप्रभा के साथ तथा एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में या एक धूमप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में; यों दो विकल्प धूमप्रभा के साथ तथा एक तमःप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में उत्पन्न होता है, यों एक विकल्प तमःप्रभा के साथ होता है)।

विवेचन—दो नैरयिकों के प्रवेशनक-भंग—दो नैरयिकों के कुल प्रवेशनक-भंग २८ होते हैं। जिनमें से एक-एक नरक में दोनों नैरयिकों के एक साथ उत्पन्न होने की अपेक्षा से ७ भंग होते हैं। दो नरकों में एक-एक नैरयिक की एक साथ उत्पत्ति होने की अपेक्षा से द्विकसंयोगी कुल २१ भंग होते हैं, जिनमें रत्नप्रभा के साथ ६, शर्कराप्रभा के साथ ५, वालुकाप्रभा के साथ ४, पंकप्रभा के साथ ३,

धूमप्रभा के साथ २ और तमःप्रभा के साथ १; इस प्रकार कुल मिलाकर २१ भंग होते हैं। दो नैरयिकों के असंयोगी ७ और द्विकसंयोगी २१, ये दोनों मिला कर कुल २८ भंग (विकल्प) होते हैं।[1]

तीन नैरयिकों के प्रवेशनक-भंग—

१८. तिण्णि भंते ! नेरइया नेरइयपवेसणए णं पविसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा जाव अहेसत्तमाए होज्जा ?

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा। ७।

अहवा एगे रयणप्पभाए, दो सक्करप्पभाए होज्जा १। जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, दो अहेसत्तमाए होज्जा, २-३-४-५-६। अहवा दो रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए होज्जा १। जाव अहवा दो रयणप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, २-३-४-५-६ = १२। अहवा एगे सक्करप्पभाए, दो वालुयप्पभाए होज्जा १। जाव अहवा एगे सक्करप्पभाए, दो अहेसत्तमाए होज्जा, २-३-४-५ = १७। अहवा दो सक्करप्पभाए, एगे वालयप्पभाए होज्जा १। जाव अहवा दो सक्करपभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, २-३-४-५ = २२। एवं जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया तहा सव्वपुढवीणं भाणियव्वा, जाव अहवा दो तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा। ४-४, ३-३, २-२, १-१, = ४२।

अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, एगे पंकप्पभाए होज्जा २। जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, एगेसक्करप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, ३-४-५। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा ६। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे धूमप्पभाए होज्जा ७। एवं जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, ८-९। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे धूमप्पभाए होज्जा १०। जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, ११-१२। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए होज्जा १३। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १४। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १५। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए होज्जा १६। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे धूमप्पभाए होज्जा १७। जाव अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, १८-१९। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे धूमप्पभाए होज्जा २०। जाव अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा, २१-२२। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए होज्जा २३। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे धूमप्प०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २४। अहवा एगे सक्करप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २५। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे धूमप्पभाए होज्जा २६। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे तमाए

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४२, (ख) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचंदजी), पृ. १६२१

होज्जा २७। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २८। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए होज्जा २९। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३०। अहवा एगे वालुयप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३१। अहवा एगे पंकप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए होज्जा ३२। अहवा एगे पंकप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३३। अहवा एगे पंकप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३४। अहवा एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३५। ८४।

[१८ प्र.] भगवन् ! तीन नैरयिक नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं ?

[१८ उ.] गांगेय ! वे तीन नैरयिक (एक साथ) रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तम में उत्पन्न होते हैं।

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में और दो शर्कराप्रभा में; अथवा (२-३-४-५-६) यावत् एक रत्नप्रभा में और दो अधःसप्तम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं। (इस प्रकार १-२ का रत्नप्रभा के साथ अनुक्रम से दूसरे नरकों के साथ संयोग करने से छह भंग होते हैं)।

(१) अथवा दो नैरयिक रत्नप्रभा में और एक शर्कराप्रभा में उत्पन्न होते है। (२-३-४-५-६) अथवा यावत् दो जीव रत्नप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार २-१ के भी पूर्ववत् ६ भंग होते हैं)।

(१) अथवा एक शर्कराप्रभा में और दो वालुकाप्रभा में होते हैं, (२-३-४-५) अथवा यावत् एक शर्कराप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार शर्कराप्रभा के साथ १-२ के पांच भंग होते हैं)।

(१) अथवा दो शर्कराप्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होता है, अथवा (२-३-४-५) यावत् दो शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में उत्पन्न होता है। (इस प्रकार २-१ के पूर्ववत् पांच भंग होते हैं)।

जिस प्रकार शर्कराप्रभा की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार सातों नरकों की वक्तव्यता, यावत् दो तमःप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में होता है, यहाँ तक जानना चाहिए। (इस प्रकार ६+६+५+५=२२ तथा ४-४, ३-३, २-२, १-१=कुल ४२ भंग हुए)

अथवा (१) एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रा में और एक वालुकाप्रभा में (२) अथवा एक रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है।

अथवा (३-४-५) यावत् एक रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा के साथ ५ विकल्प होते हैं।)

अथवा (६) एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है। (७) अथवा एकरत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। (८-९) इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। इस प्रकार रत्नप्रभा और वालुकाप्रभा के साथ ४ विकल्प होते हैं।

अथवा (१०) एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है; (११-१२) यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार वालुकाप्रभा को छोड़ने पर रत्नप्रभा और पंकप्रभा के साथ तीन विकल्प होते हैं।)

अथवा (१३) एक रत्नप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है; (१४) अथवा एक रत्नप्रभा में एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार पंकप्रभा को छोड़ देने पर, रत्नप्रभा और धूमप्रभा के साथ दो विकल्प होते हैं।)

(१५) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (धूमप्रभा को छोड़ देने पर यह एक विकल्प होता है।) इस प्रकार रत्नप्रभा के ५+४+३+२+१= १५ विकल्प होते हैं।

(१६) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है; (१७) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है; (१८-१९) यावत् अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा के साथ चार विकल्प होते हैं।)

(२०) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है; (२१-२२) यावत् अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार वालुकाप्रभा को छोड़ देने पर शर्कराप्रभा और पंकप्रभा के साथ तीन विकल्प होते हैं।)

(२३) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है।

(२४) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार पंकप्रभा को छोड़ देने पर, शर्कराप्रभा और धूमप्रभा के साथ दो विकल्प होते हैं।)

(२५) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार धूमप्रभा को छोड़ देने पर एक विकल्प होता है। यों शर्कराप्रभा के साथ ४+३+२+१=१० विकल्प होते हैं।)

(२६) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। (२७) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है; (२८) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। अथवा (२९) एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (३०) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (३१) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार वालुकाप्रभा के साथ ३+२+१= ६ विकल्प होते हैं।)

(३२) अथवा एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (३३) अथवा एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यों पंकप्रभा और धूमप्रभा के साथ दो विकल्प होते हैं।) (३४) अथवा एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार पंकप्रभा के साथ २+१=३ विकल्प होते हैं।)

(३५) अथवा एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस तरह धूमप्रभापृथ्वी के साथ एक विकल्प होता है।)

(र. १५+श. १०+वा. ६+पं. ३+धू. १, यों त्रिकसंयोगी कुल भंग ३५ होते हैं।)

विवेचन—तीन नैरयिकों के नरकप्रवेशनकभंग—यदि तीन जीव नरक में उत्पन्न हों तो उनके असंयोगी (एक-एक) भंग ७, द्विक संयोगी ४२ और त्रिक संयोगी ३५, ये सब मिल कर ८४ भंग होते हैं। जो ऊपर बतला दिए गए हैं।[1]

चार नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

१९. चत्तारि भंते ! नेरइया नेरइयपवेसणए णं पविसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा० ? पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि सक्करप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा २। एवं जाव[2] अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि अहेसत्तमाए होज्जा ३-६। अहवा दो रयणप्पभाए, दो सक्करप्पभाए होज्जा १, एवं जाव[3] अहवा दो रयणप्पभाए, दो अहेसत्तमाए होज्जा २-६= १२।

अहवा तिण्णि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए होज्जा १। एवं जाव[4] अहवा तिण्णि रयणप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-६=१८।

अहवा एगे सक्करप्पभाए, तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा १, एवं जहेव रयणप्पभाए उवरिमाहिं समं चारियं तहा सक्करप्पभाए वि उवरिमाहिं समं चारियव्वं २-१५=३३।

एवं एक्केक्काए समं चारेयव्वं जाव अहवा तिण्णि तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १५-१५= ६३।

अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, दो वालुयप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयण-

---

१. भगवती—अ. वृत्ति. पत्र ४४२

२. 'जाव' पद से—'अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि पंकप्पभाए होज्जा ३। अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि धूमप्पभाए होज्जा ४। अहवा एगे रयणप्पभाए, तिण्णि तमप्पभाए होज्जा ५।' इस प्रकार तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भंग समझना चाहिए।

३. इसी प्रकार 'जाव' पद से—'अहवा दो रयणप्पभाए, दो वालुयप्पभाए होज्जा, २। अहवा दो रयणप्पभाए, दो पंकप्पभाए होज्जा ३। अहवा दो रयणप्पभाए, दो धूमप्पभाए होज्जा ४। अहवा दो रयणप्पभाए, दो तमाए होज्जा।' इस प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम भंग समझना चाहिए।

४. एवं 'जाव' पद से—'अहवा तिण्णि रयणप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए २। अहवा तिण्णि रयणप्पभाए, एगे पंकप्पभाए ३। अहवा तिण्णि रयणप्पभाए, एगे धूमप्पभाए ४। अहवा तिण्णि रयणप्पभाए, एगे तमाए ५।' इस प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम भंग समझना।

प्पभाए, एगे सक्कर०, दो पंकप्पभाए होज्जा २। एवं जाव एगे रयणप्पभाए, एगे सक्कर०, दो अहेसत्तमाए होज्जा ३-४-५।

अहवा एगे रणय०, दो सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १। एवं जाव अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-३-४-५ = १०।

अहवा दो रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १ = ११। एवं जाव अहवा दो रयण०, एगे सक्कर०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ५ = १५। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, दो पंकप्पभाए होज्जा १ = १६। एवं जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुय०, दो अहेसत्तमाए होज्जा २-३-४ = १९। एवं एएणं गमएणं जहा तिण्हं तियजोगो तहा भाणियव्वो जाव अहवा दो धूमप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १०५।

अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे पंकप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे धूमप्पभाए होज्जा २। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे तमाए होज्जा ३। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, एगे वालुयप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ४। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, एगे धूमप्पभाए १ = ५। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंकप्पभाए, एगे तमाए होज्जा २-६। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३-७। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे सक्कर०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा १ = ८। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-९। अहवा एगे रयण०, एगे सक्करप्पभाए, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १ = १०। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूमप्पभाए होज्जा १-११। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे तमाए होज्जा २-१२। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३-१३। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा १-१४। अहवा एगे रयणप्पभाए, एगे वालुय०, एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-१५। अहवा एगे रयण०, एगे वालय०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १-१६। अहवा एगे रयण०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा १-१७। अहवा एगे रयण०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-१८। अहवा एगे रयण०, एगे पंक०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १-१९। अहवा एगे रयण०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १-२०। अहवा एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूमप्पभाए होज्जा १-२१। एवं जहा रयणप्पभाए उवरिमाओ पुढवीओ चारियाओ तहा सक्करप्पभाए वि उवरिमाओ चारियव्वाओ जाव अहवा एगे सक्कर०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १०-३०। अहवा एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा १—३१। अहवा एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूमप्पभाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २-३२। अहवा एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३-३३। अहवा एगे वालुय०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ४-३४। अहवा एगे पंक०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १-३५।

[१६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकप्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए चार नैरयिक जीव क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१६ उ.] 'गांगेय ! वे चार नैरयिक जीव रत्नप्रभा में होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी में होते हैं । (इस प्रकार असंयोगी सात विकल्प और सात ही भंग होते हैं ।)

(द्विकसंयोगी तिरेसठ भंग)— (१) अथवा एक रत्नप्रभा में और तीन शर्कराप्रभा में होते हैं; (२) अथवा एक रत्नप्रभा में और तीन वालुकाप्रभा में होते हैं; (३-४-५-६) इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में और तीन अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (इस प्रकार रत्नप्रभा के साथ १-३ के ६ भंग होते हैं ।)

(७) अथवा दो रत्नप्रभा में और दो शर्कराप्रभा में होते हैं; (८-९-१०-११-१२) इसी प्रकार यावत् अथवा दो रत्नप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (यों रत्नप्रभा के साथ २-२ के छह भंग होते हैं ।)

(१३) अथवा तीन रत्नप्रभा में और एक शर्कराप्रभा में होता है; (१४-१८) इसी प्रकार यावत् अथवा तीन रत्नप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है । (इस प्रकार रत्नप्रभा के साथ ३-१ के ६ भंग होते हैं । यों रत्नप्रभा के साथ कुल भंग ६+६+६=१८ हुए ।)

(१) अथवा एक शर्कराप्रभा में और तीन वालुकाप्रभा में होते हैं । जिस प्रकार रत्नप्रभा का आगे की नरकपृथ्वियों के साथ संचार (योग) किया, उसी प्रकार शर्कराप्रभा का भी उसके आगे की नरकों के साथ संचार करना चाहिए । (इस प्रकार शर्कराप्रभा के साथ १-३ के ५ भंग, २-२ के ५ भंग, एवं ३-१ के ५ भंग, यों कुल मिलाकर १५ भंग हुए ।)

इसी प्रकार आगे की एक-एक (वालुकाप्रभा पंकप्रभा, आदि) नरकपृथ्वियों के साथ योग करना चाहिए । (इस प्रकार वालुकाप्रभा के साथ भी १-३ के ४, २-२ के ४ और ३-१ के ४ यों कुल १२ भंग पंकप्रभा के साथ १-३ के ३, २-२ के ३ और ३-१ के ३, यों कुल ९ भंग, तथा धूमप्रभा के साथ १-३ के २, २-२ के २, और ३-१ के २, तथा तमःप्रभा के साथ १-३ का १, २-२ का १ और ३-१ का १ होता है । यावत् अथवा तीन तमःप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में होता है, यहाँ तक कहना चाहिए । (इस प्रकार द्विकसंयोगी कुल ६३ भंग हुए ।)

(त्रिकसंयोगी १०५ भंग)—(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और दो वालुकाप्रभा में होते हैं ।

(२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और दो पंकप्रभा में होते हैं । (३-४-५) इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते । (इस प्रकार १-१-२ के पाँच भंग हुए ।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में दो शर्कराप्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होता है; (२ से ५) इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में दो शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है । इसी प्रकार १-२-१ के भी पाँच भंग हुए ।

(१) अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होता है ।

(२ से ५) इसी प्रकार यावत् अथवा दो रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार २-१-१ के पाँच भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और दो पंकप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं (२-३-४)। (इस प्रकार रत्नप्रभा और वालुकाप्रभा के साथ ४ भंग होते हैं।)

इसी प्रकार के अभिलाप द्वारा जैसे तीन नैरयिकों के त्रिकसंयोगी भंग कहे, उसी प्रकार चार नरयिकों के भी त्रिकसंयोगी भंग जानना चाहिए; यावत् दो धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक तमस्तमःप्रभा में होता है। (इस प्रकार त्रिकसंयोगी कुल १०५ भंग हुए।)

(चतुःसंयोगी ३५ भंग—) (१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है, (३) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है।

(४) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तम पृथ्वी में होता है। (ये चार भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (३) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तम पृथ्वी में होता है। (इस प्रकार ये तीन भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार ये दो भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तम पृथ्वी में होता है। (यह एक भंग हुआ।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में एक पंकप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (३) अथवा एक रत्न में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (ये तीन भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तम पृथ्वी में होता है। (ये दो भंग हुए।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है। (यह एक भंग हुआ।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (ये दो भंग होते हैं।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यह एक भंग) (१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक धूमप्रभा में एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यह एक भंग हुआ। इस प्रकार रत्नप्रभा के संयोग वाले ४+३+२+१,+३+२+१,+२+१+१=२० भंग होते हैं।)

(१) अथवा एक शर्कराप्रभा में एक वालुकाप्रभा में एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। जिस प्रकार रत्नप्रभा का उससे आगे की पृथ्वियों के साथ संचार (योग) किया उसी प्रकार शर्कराप्रभा का उससे आगे की पृथ्वियों के साथ योग करना चाहिए यावत् अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार शर्कराप्रभा के संयोग वाले १० भंग होते हैं।)

(१) अथवा एक बालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (२) अथवा एक बालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (३) अथवा एक बालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस तरह वालुकाप्रभा के संयोग वाले ४ भंग हुए।)

(१) अथवा एक बालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है अथवा एक पंकप्रभा में एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। इस प्रकार सब मिल कर चतुःसंयोगी भंग २०+१०+४+१=३५ होते हैं। तथा चार नैरयिक, आश्रयी असंयोगी ७, द्विकसंयोगी ६३, त्रिकसंयोगी १०५ और चतुःसंयोगी ३५, ये सब २१० भंग होते हैं।)

विवेचन—चार नैरयिकों के प्रवेशनक भंग—चार नैरयिकों के १-३, २-२,३-१ इस प्रकार के द्विकसंयोगी भंग तीन होते हैं। उनमें से रत्नप्रभा के साथ शेष पृथ्वियों का संयोग करने से १-३ के ६, २-२ के ६, और ३-१ के ६, यों १८ भंग हुए। इसी प्रकार शर्कराप्रभा के साथ पूर्वोक्त तीनों विकल्पों के ५+५+५=१५ भंग, इसी प्रकार बालुकाप्रभा के साथ पूर्वोक्त तीनों विकल्पों के ४+४+४=१२, भंग होते हैं। तथा पंकप्रभा के साथ पूर्वोक्त तीनों विकल्प भी ३+३+३=९ भंग, एवं धूमप्रभा के साथ २+२+२=६ भंग तथा तमःप्रभा के साथ १+१+१=३ भंग होते हैं। सभी मिलकर द्विकसंयोगी ६३ भंग बताए गए। उनमें से रत्नप्रभा के साथ संयोग वाले १८ भंग ऊपर बता दिये गए हैं। इसी प्रकार शर्कराप्रभा के साथ आगे की पृथ्वियों का योग करने से १—३ के ५ भंग होते हैं। यथा—एक शर्कराप्रभा में और तीन बालुकाप्रभा आदि में होते हैं। इसी तरह २—२ के भी पाँच भंग होते हैं—दो शर्कराप्रभा में और दो वालुकाप्रभा आदि में होते हैं। यों शर्कराप्रभा के साथ संयोग वाले ५ भंग हुए। इसी प्रकार ३—१ के भी शर्कराप्रभा के संयोग वाले ५ भंग होते हैं। यथा—तीन शर्कराप्रभा में और एक वालुकाप्रभा आदि में होता है। इस प्रकार शर्कराप्रभा के साथ संयोग वाले कुल १५ भंग हुए। वालुकाप्रभा के साथ आगे की पृथ्वियों का संयोग करने से ४ भंग होते हैं, जो मूल पाठ में बतला दिये हैं। उन्हें पूर्वोक्त तीन विकल्पों से गुणा करने पर कुल ४+४+४=१२ भंग होते हैं। इसी प्रकार पंकप्रभा के साथ आगे की पृथ्वियों का संयोग करने पर तथा तीन विकल्पों से गुणा करने पर कुल ९ भंग होते हैं। इसी प्रकार धूमप्रभा के साथ ६ भंग तथा तमःप्रभा के साथ ३ भंग होते हैं। यों उत्तरोत्तर आगे की पृथ्वियों के साथ संयोग करने से ऊपर

बताए अनुसार रत्नप्रभा के १८ शर्कराप्रभा के १५, वालुकाप्रभा के १२, पंकप्रभा के ९, धूमप्रभा के ६ और तमःप्रभा के ३, ये कुल मिला कर चार नैरयिकों के द्विसंयोगी ६३ भंग होते हैं।

चार नैरयिकों के त्रिकसंयोगी भंग—१०५ होते हैं। यथा चार नैरयिकों के १-१-२, १-२-१ और २-१-१ ये तीन भंग एक विकल्प के होते हैं, इनको रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा के साथ वालुकाप्रभा आदि आगे की पृथ्वियों के साथ संयोग करने पर ५ विकल्प होते हैं। पूर्वोक्त तीन भंगों के साथ गुणा करने पर १५ भंग होते हैं। इसी प्रकार इन तीन भंगों द्वारा रत्नप्रभा और वालुकाप्रभा का आगे की पृथ्वियों के साथ संयोग करने में कुल १२ भंग होते हैं। रत्नप्रभा और पंकप्रभा के साथ शेष पृथ्वियों का संयोग करने पर कुल ९ भंग होते हैं। रत्नप्रभा और धूमप्रभा का संयोग करने पर ६ भंग, तथा रत्नप्रभा और तमःप्रभा के साथ संयोग करने पर तीन भंग होते हैं। इस प्रकार रत्नप्रभा के संयोग वाले कुल भंग १५+१२+९+६+३=४५ होते हैं। पूर्वोक्त तीन विकल्पों द्वारा शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा के साथ संयोग करने पर १२, शर्कराप्रभा और पंकप्रभा के साथ संयोग करने पर ९, शर्कराप्रभा और धूमप्रभा के साथ संयोग करने पर ६, तथा शर्कराप्रभा और तमःप्रभा का संयोग करने पर ३ भंग होते हैं। इस प्रकार शर्कराप्रभा के साथ संयोग वाले कुल भंग १२+९+६+३=३० होते हैं। पूर्वोक्त तीन विकल्पों द्वारा वालुकाप्रभा और पंकप्रभा के साथ शेष पृथ्वियों का संयोग करने पर ९, वालुकाप्रभा और धूमप्रभा के साथ ६ तथा वालुकाप्रभा और तमःप्रभा के साथ संयोग करने से ३ भंग होते हैं। इस प्रकार वालुकाप्रभा के साथ संयोग वाले कुल भंग ९+६+३=१८ होते हैं। पूर्वोक्त तीन विकल्पों द्वारा पंकप्रभा और धूमप्रभा के साथ शेष पृथ्वियों का संयोग करने पर ९, पंकप्रभा और तमःप्रभा के साथ संयोग वाले ३ भंग होते हैं। यों पंकप्रभा के संयोग वाले कुल भंग ९+३=१२ होते हैं। पूर्वोक्त तीन विकल्पों द्वारा पंकप्रभा और तमःप्रभा के साथ संयोग करने पर तीन भंग होते हैं। पूर्वोक्त तीन विकल्पों के द्वारा धूमप्रभा और तमःप्रभा के साथ संयोग वाले ३ भंग होते हैं। इस प्रकार त्रिकसंयोगी समस्त भंग ४५+३०+१८+९+३=१०५ होते हैं।[1]

उपर्युक्त पद्धति से चार नैरयिकों के चतुःसंयोगी ३५ भंग होते हैं, जिनका उल्लेख मूलपाठ में कर दिया है।

यों चार नैरयिकों की अपेक्षा से असंयोगी ७, द्विकसंयोगी ६३, त्रिकसंयोगी १०५ और चतुःसंयोगी ३५, यों कुल २१० भंग होते हैं।

पंच नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२०. पंच भंते ! नेरइया नेरइयप्पवेसणए णं पविसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा ? पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

पांच नैरयिकों के द्विसंयोगी भंग—

अहवा एगे रयण०, चत्तारि सक्करप्पभाए होज्जा १। जाव अहवा एगे रयण०, चत्तारि अहेसत्तमाए होज्जा ६। अहवा दो रयण० तिण्णि सक्करप्पभाए होज्जा १-७। एवं जाव अहवा दो

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा-१, पृ. ४२४ से ४२६ तक
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४०

रयणप्पभाए, तिण्णि अहेसत्तमाए होज्जा ६=१२। अहवा तिण्णि रयण०, दो सक्करप्पभाए होज्जा १-१३। एवं जाव अहेसत्तमाए होज्जा ६=१८। अहवा चत्तारि रयण०, एगे सक्करप्पभाए होज्जा १-१९। एवं जाव अहवा चत्तारि रयण०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ६=२४। अहवा एगे सक्कर०, चत्तारि वालुयप्पभाए होज्जा १। एवं जहा रयणप्पभाए समं उवरिमपुढवीओ चारियाओ तहा सक्करप्पभाए वि समं चारेयव्वाओ जाव अहवा चत्तारि सक्करप्पभाए एगे अहेसत्तमाए होज्जा २०। एवं एक्केक्काए समं चारेयव्वाओ जाव अहवा चत्तारि तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ८४।

पाँच नैरयिकों के त्रिसंयोगी भंग—

अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, तिण्णि वालुप्पभाए होज्जा १। एवं जाव अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, तिण्णि अहेसत्तमाए होज्जा ५। अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, दो वालुयप्पभाए होज्जा १-६। एवं जाव अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, दो अहेसत्तमाए होज्जा ५-१०। अहवा दो रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, दो वालुयप्पभाए होज्जा १-११। एवं जाव अहवा दो रयणप्पभाए, एगे सक्करप्पभाए, दो अहेसत्तमाए होज्जा ५-१५। अहवा एगे रयण०, तिण्णि सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १-१६। एवं जाव अहवा एगे रयण०, तिण्णि सक्कर०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ५-२०। अहवा दो रयण०, दो सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १-२१। एवं जाव दो रयण०, दो सक्कर०, एगे अहेसत्तमाए ५-२५। अहवा तिण्णि रयण०,एगे सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए होज्जा १-२६। एवं जाव अहवा तिण्णि रयण०, एगे सक्कर०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ५-३०। अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, तिण्णि पंकप्पभाए होज्जा १-३१। एवं एएणं कमेणं जहा चउण्हं तियसंजोगो भणितो तहा पंचण्ह वि तियसंजोगो भाणियव्वो; नवरं तत्थ एगो संचारिज्जइ, इह दोण्णि, सेसं तं चेव, जाव अहवा तिण्णि धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहेसत्तमाए होज्जा २१०।

पंच नैरयिकों के चतुःसंयोगी भंग—

अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, दो पंकप्पभाए होज्जा १। एवं जाव अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर० एगे वालुय०, दो अहेसत्तमाए होज्जा ४। अहवा एगे रयण० एगे सक्कर० दो वालुय०, एगे पंकप्पपभाए होज्जा १-५। एवं जाव अहेसत्तमाए ४-८। अहवा एगे रयण०, दो सक्करप्पभाए, एगे वालुय०, एगे पंकप्पभाए होज्जा १-९। एवं जाव अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, एगे वालुय०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ४-१२। अहवा दो रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे पंकप्पभाए होज्जा १-१३। एवं जाव अहवा दो रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ४-१६। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, दो धूमप्पभाए होंज्जा १-१७। एवं जहा चउण्हं चउक्कसंजोगो भणिओ तहा पंचण्ह वि चउक्कसंजोगो भाणियव्वो, नवरं अब्भहियं एगो संचारेयव्वो, एवं जाव अहवा दो पंक०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १४०।

अहवा १-१-१-१-१ एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय, एगे पंक०, एगे धूमप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे तमाए होज्जा २। अहवा एगे

रयण०, जाव एगे पंक० एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुयप्पभाए, एगे धूमप्पभाए, एगे तमाए होज्जा ४ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे धूमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ५ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ६ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा ७ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, एगे धूम० एगे अहेसत्तमाए होज्जा ८ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे पंक०, एगे तम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा ९ । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, एगे धूम०, एगे तम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १० । अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगेपंक०, एगे धूम०, एगे तमाए होज्जा ११ । अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १२ । अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे तम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १३ । अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, एग धूम०, एगे तम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १४ । अहवा एगे रयण०, एगे पंक०, जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा १५ । अहवा एगे सक्कर० एगे वालुय० जाव एगे तमाए होज्जा १६ । अहवा एगे सक्कर० एगे वालुय०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १७ । अहवा एगे सक्कर०, जाव एगे पंक०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १८ । अहवा एगे सक्कर०, एगे वालुय०, एगे धूम०, एगे तमाए, एगे अहेसत्तमाए होज्जा १९ । अहवा एगे सक्कर०, एगे पंक०, जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा २० । अहवा एगे वालुय० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा २१ । ४६२ ।

[२० प्र.] भगवन् ! पांच नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पृच्छा ।

[२० उ.] गांगेय ! रत्नप्रभा में होते हैं, यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं । (इस प्रकार असंयोगी सात भंग होते हैं ।)

(द्विकसंयोगी ८४ भंग—) (१) अथवा एक रत्नप्रभा में और चार शर्कराप्रभा में होते हैं; (२-६) यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में और चार अधःसप्तम-पृथ्वी में होते हैं । (इस प्रकार रत्नप्रभा के साथ १-४ शेष पृथ्वियों का योग करने पर ६ भंग होते हैं ।

(१) अथवा दो रत्नप्रभा में और तीन शर्कराप्रभा में होते हैं; (२-६) इसी प्रकार यावत् अथवा दो रत्नप्रभा में और तीन अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (यों २-३ से ६ भंग होते हैं ।)

(१) अथवा तीन रत्नप्रभा में और दो शर्कराप्रभा में होते हैं । २-६ इसी प्रकार यावत् अथवा तीन रत्नप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (यों ३-२ से ६ भंग होते हैं ।)

(१) अथवा चार रत्नप्रभा में और एक शर्कराप्रभा में होता है, (२-६) यावत् अथवा चार रत्नप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है । (इस प्रकार ४-१ से ६ भंग होते हैं । यों रत्नप्रभा के साथ शेष पृथ्वियों के संयोग से कुल चौवीस भंग होते हैं ।)

(१) अथवा एक शर्कराप्रभा में और चार वालुकाप्रभा में होते हैं । जिस प्रकार रत्नप्रभा के साथ (१-४, २-३, ३-२ और ४-१ से आगे की पृथ्वियों का संयोग किया, उसी प्रकार शर्कराप्रभा

के साथ संयोग करने पर बीस भंग (५+५+५+५=२०) होते हैं। यावत् अथवा चार शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

इसी प्रकार वालुकाप्रभा आदि एक-एक पृथ्वी के साथ आगे की पृथ्वियों का (१-४; २-३, ३-२ और ४-१ से) योग करना चाहिए; यावत् चार तमःप्रभा में और एक अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है।

विवेचन—पांच नैरयिकों के द्विकसंयोगी भंग—इसके ४ विकल्प होते हैं यथा—१-४, २-३, ३-२, और ४-१। रत्नप्रभा के द्विकसंयोगी ६ भंगों के साथ ४ विकल्पों का गुणा करने पर २४ भंग होते हैं। शर्कराप्रभा के साथ ५ भंगों से ४ विकल्पों का गुणा करने पर २०, वालुकाप्रभा के साथ-१६, पंकप्रभा के साथ १२, धूमप्रभा के साथ ८ और तमःप्रभा के साथ ४ भंग होते। इस प्रकार कुल २४+२०+१६+१२+८+४=८४ भंग द्विकसंयोगी होते हैं।[1]

(**त्रिकसंयोगी २१० भंग—**) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और तीन वालुकाप्रभा में होते हैं। इसी प्रकार यावत्—अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और तीन अधःसप्तम पृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार एक, एक और तीन के रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा के साथ संयोग से पांच भंग होते हैं।)

अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और दो वालुकाप्रभा में होते हैं; इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार एक, दो, दो के संयोग से पांच भंग होते हैं।)

अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और दो वालुकाप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और दो अधःसप्तम पृथ्वी में होते हैं। (यों दो, एक, दो के संयोग से ५ भंग होते हैं।)

अथवा एक रत्नप्रभा में, तीन शर्कराप्रभा में, और एक वालुकाप्रभा में होता है। इसी प्रकार यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, तीन शर्करा प्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार एक, तीन, एक के संयोग से पांच भंग होते हैं।)

अथवा दो रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होता है। इसी प्रकार यावत् दो रत्नप्रभा, दो शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (इस प्रकार दो, दो एक के संयोग से ५ भंग हुए)

अथवा तीन रत्नप्रभा में एक शर्करा प्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होता है। इस प्रकार यावत् तीन रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यों ३-१-१ के संयोग से ५ भंग होते हैं।

विवेचन—पांच नैरयिकों के त्रिक संयोगी भंग—त्रिकसंयोगी विकल्प ६ होते हैं। यथा—१-१-३, १-२-२, २-१-२, १-३-१, २-२-१, और ३-१-१ ये ६ विकल्प। प्रत्येक नरक के साथ

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४४

संयोग होने से प्रत्येक के ५-५ भंग होते हैं। यों ७×५=३५ भंग हुए। इन ३५ भंगों को ६ विकल्पों के साथ गुणा करने से ३५×६=२१० भंग कुल होते हैं।[1]

अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और तीन पंकप्रभा में होते हैं। इस क्रम से जिस प्रकार चार नैरयिकों के त्रिकसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार पांच नैरयिकों के भी त्रिकसंयोगी भंग जानना चाहिए। विशेष यह है कि वहाँ 'एक' का संचार था, (उसके स्थान पर) यहाँ दो का संचार करना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जान लेना चाहिए; यावत्—अथवा तीन धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में, और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है; यहाँ तक कहना चाहिए।

त्रिकसंयोगी भंग—इनमें से रत्नप्रभा के संयोग वाले ९०, शर्कराप्रभा के संयोग वाले ६०, वालुकाप्रभा के संयोगवाले ३६, पंकप्रभा के संयोग वाले १८, और धूमप्रभा के संयोग वाले ६ भंग होते हैं। ये सभी ९०+६०+३६,+१८+६=२१० भंग त्रिकसंयोगी होते हैं।[2]

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और दो पंकप्रभा में होते हैं, इसी प्रकार (२-४) यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (यों १-१-१-२ के संयोग से चार भंग होते हैं।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, दो वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है। इसी प्रकार (२-४) यावत् एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, दो वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यों १-१-२-१ के संयोग से चार भंग होते हैं।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होता है। इस प्रकार (२-४) यावत् एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में एक वालुकाप्रभा में, और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यों १-२-१-१ के संयोग से चार भंग होते हैं।)

(१) अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक पंकप्रभा में होते हैं। इसी प्रकार यावत् (२-४) अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यों २-१-१-१ के संयोग से ४ भंग होते हैं।)

अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में और दो धूमप्रभा में होते हैं। जिस प्रकार चार नैरयिक जीवों के चतुःसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार पांच नैरयिक जीवों के चतुःसंयोगी भंग कहना चाहिए, किन्तु यहाँ एक अधिक का संचार (संयोग) करना चाहिए। इस प्रकार यावत् दो पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है, यहाँ तक कहना चाहिए। (ये चतुःसंयोगी १४० भंग होते हैं)।

विवेचन—पांच नैरयिकों के चतुःसंयोगी भंग—चतुःसंयोगी ४ विकल्प होते हैं, यथा—१-१-१-२, १-१-२-१, १-२-१-१, और २-१-१-१। सात नरकों के चतुःसंयोगी पैंतीस भंग होते हैं। इन पैंतीस को ४ से गुणा करने पर कुल १४० भंग होते हैं। यथा—रत्नप्रभा में संयोग वाले ८०,

---

१. भगवती अ. वृत्ति सूत्र ४४४

२. भगवती. भाग ४, (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १६४३

शर्कराप्रभा के संयोग वाले ४०, वालुकाप्रभा के संयोग वाले १६ और पंकप्रभा के संयोग वाले ४, ये सभी मिलकर पंच नैरयिकों के चतुःसंयोगी १४० भंग होते हैं।

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक धूमप्रभा में होता है। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, और एक तमःप्रभा में होता है, (३) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

(४) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (५) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

(६) अथवा एक रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में एक वालुकाप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

(७) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (८) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (९) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१०) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (११) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (१२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१३) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१४) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१५) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक पंकप्रभा में, यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१६) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक तमःप्रभा में होता है। (१७) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तम पृथ्वी में होता है। (१८) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (१९) एक शर्कराप्रमा में, एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (२०) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (२१) अथवा एक वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

विवेचन—पंच नैरयिकों के पंचसंयोगी भंग—पंच नैरयिकों का पंचसंयोगी विकल्प एवं भंग १-१-१-१-१ एक ही होता है इस प्रकार सात नरकों के पंचसंयोगी २१ ही विकल्प और २१ ही भंग होते हैं। जिनमें से रत्नप्रभापृथ्वी के संयोग वाले १५, शर्कराप्रभा के संयोग वाले ५ और

वालुकाप्रभा के संयोग वाला १ भंग होता है। यों सभी मिलकर १५+५+१=२१ भंग पंचसंयोगी होते हैं।[1]

पांच नैरयिकों के समस्त भंग—पांच नैरयिक जीवों के असंयोगी ७, द्विकसंयोगी ८४, त्रिकसंयोगी २१०, चतुःसंयोगी १४० और पंचसंयोगी २१, ये सभी मिलकर ७+८४+२१०+१४०+२१=४६२ भंग होते हैं।[2]

छह नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२१. छब्भंते ! नेरइया नेरइयप्पवेसणए णं पविसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा० ? पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा एगे रयण०, पंच सक्करप्पभाए वा होज्जा १। अहवा एगे रयण०, पंच वालुयप्पभाए वा होज्जा २। जाव अहवा एगे रयण०, पंच अहेसत्तमाए होज्जा ६। अहवा दो रयण०, चत्तारि सक्करप्पभाए होज्जा १-७। जाव अहवा दो रयण०, चत्तारि अहेसत्तमाए होज्जा ६-१२। अहवा तिण्णि रयण०, तिण्णि सक्कर० १-१३। एवं एएणं कमेणं जहा पंचण्हं दुयासंजोगो तहा छण्ह वि भाणियव्वो, नवरं एक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो जाव अहवा पंच तमाए एगे अहेसत्तमाए होज्जा १०५।

अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, चत्तारि वालुयप्पभाए होज्जा १। अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, चत्तारि पंकप्पभाए होज्जा २। एवं जाव अहवा एगे रयण० एगे सक्कर० चत्तारि अहेसत्तमाए होज्जा ५। अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा ६। एवं एएणं कमेणं जहा पंचण्हं तियासंजोगो भणिओ तहा छण्ह वि भाणियव्वो, नवरं एक्को अब्भहिओ उच्चारेयव्वो, सेसं तं चेव। ३५०।

चउक्कसंजोगो वि तहेव। ३५०।

पंचगसंजोगो वि तहेव, नवरं एक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो जाव पच्छिमो भंगो—अहवा दो वालुय०, एगे पंक०, एगे धूम०, एगे तम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा। १०५।

अहवा एगे रयण० एगे सक्कर० जाव एगे तमाए होज्जा १, अहवा एगे रयण० जाव एगे धूम०, एगे अहेसत्तमाए होज्जा २, अहवा एगे रयण० जाव एगे पंक० एगे तमाए एगे अहेसत्तमाए होज्जा ३, अहवा एगे रयण० जाव एगे वालुय० एगे धूम० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा ४, अहवा एगे रयण० एगे सक्कर० एगे पंक० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा ५, अहवा एगे रयण० एगे वालुय० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा ६, अहवा एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा ७। ९२४।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४८

[२१ प्र.] भगवन् ! छह नैरयिक जीव, नैरयिक प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२१ उ.] गांगेय ! वे रत्नप्रभा में होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार ये असंयोगी ७ भंग होते हैं ।)

(द्विकसंयोगी १०५ भंग)—(१) अथवा एक रत्नप्रभा में और पांच शर्कराप्रभा में होते हैं। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में और पांच वालुकाप्रभा में होते हैं। अथवा (३-६) यावत् एक रत्नप्रभा में और पांच अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (१) अथवा दो रत्नप्रभा में और चार शर्कराप्रभा होते हैं, अथवा (२—६) यावत् दो रत्नप्रभा में और चार अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (१) अथवा तीन रत्नप्रभा में और तीन शर्कराप्रभा में होते हैं। इस क्रम द्वारा जिस प्रकार पांच नैरयिक जीवों के द्विकसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार छह नैरयिकों के भी कहने चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ एक अधिक का संचार करना चाहिए, यावत् अथवा पांच तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

(त्रिकसंयोगी ३५० भंग)—(१) एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और चार वालुकाप्रभा में होते हैं। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में एक शर्करप्रभा में और चार पंकप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् (३—५) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और चार अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (६) अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और तीन वालुकाप्रभा में होते हैं। इस क्रम से जिस प्रकार पांच नैरयिक जीवों के त्रिकसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार छह नैरयिक जीवों के भी त्रिकसंयोगी भंग कहने चाहिए। विशेष इतना ही है कि यहाँ एक का संचार अधिक करना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए। (इस प्रकार त्रिकसंयोगी कुल ३५० भंग हुए।)

(चतुष्कसंयोगी ३५० भंग)—जिस प्रकार पांच नैरयिकों के चतुष्कसंयोगी भंग कहे गए, उसी प्रकार छह नैरयिकों के चतुःसंयोगी भंग जान लेने चाहिए।

(पंचसंयोगी १०५ भंग)—पांच नैरयिकों के जिस प्रकार पंचसंयोगी भंग कहे गए, उसी प्रकार छह नैरयिकों के पंचसंयोगी भंग जान लेने चाहिए, परन्तु इसमें एक नैरयिक का अधिक संचार करना चाहिए। यावत् अन्तिम भंग (इस प्रकार है—) दो वालुकाप्रभा में, एक पंकप्रभा में, एक धूमप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है।

(इस प्रकार पंचसंयोगी कुल १०५ भंग हुए।)

(षट्संयोगी ७ भंग)—(१) अथवा एक रत्नप्रभा में एक शर्कराप्रभा में, यावत् एक तमःप्रभा में होता है, (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, यावत् एक धूमप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (३) अथवा एक रत्नप्रभा में, यावत् एक पंकप्रभा में, एक तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (४) अथवा एक रत्नप्रभा में, यावत् एक वालुकाप्रभा में, एक धूमप्रभा में, यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (५) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक पंकप्रभा में, यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (६) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (७) अथवा एक शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता ।

विवेचन—छह नैरयिकों के प्रवेशनक भंग—प्रस्तुत सू. २१ में छह नैरयिकों के प्रवेशनक भंगों का विवरण दिया गया है।

एक संयोगी ७ भंग—प्रत्येक नरक में ६ नैरयिकों का प्रवेशनक होने से सात नरकों के असंयोगी भंग ७ हुए।

द्विकसंयोगी १०५ भंग—द्विकसंयोगी विकल्प ५ होते हैं—यथा—१-५, २-४, ३-३, ४-२, और ५-१। इन पांच विकल्पों को १—रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा, २—रत्नप्रभा-वालुकाप्रभा, ६—रत्नप्रभा-पंकप्रभा, ४—रत्नप्रभा-धूमप्रभा, ५—रत्नप्रभा-तमःप्रभा और ६—रत्नप्रभा-तमःस्तमःप्रभा, इन ६ से गुणाकार करने पर ६×५=३० भंग रत्नप्रभा के संयोग वाले हुए। इसी प्रकार शर्कराप्रभा के संयोग वाले २५ भंग होते हैं, वालुकाप्रभा के संयोग वाले २०, पंकप्रभा के संयोग वाले १५, धूमप्रभा के संयोग वाले १० और तमःप्रभा के संयोग वाले ५ भंग होते हैं। ये सभी मिलकर ३०+२५+२०+१५+१०+५=१०५ भंग होते हैं।

त्रिकसंयोगी ३५० भंग—त्रिकसंयोगी विकल्प १० होते हैं, यथा—१-१-४, १-२-३, २-१-३, १-३-२, २-२-२, ३-१-२, १-४-१, २-३-१, ३-२-१ और ४-१-१। इन १० विकल्पों को रत्नप्रभा के संयोग वाले र. श. वा., र. श. पं., र. श. धू., र. श. त, र. श. अधः, र. वा. पं., र. वा. धू, र. वा. त., र. वा. अधः, र. पं. धू., र. पं. त., र. पं. अधः, र. धू. त., र. धू. अधः, र. त. अधः, १५ भंगों से गुणा करने पर १५० भंग होते हैं। इसी तरह १० विकल्पों को शर्कराप्रभा के संयोग वाले—श. वा. पं., श. वा. धू., श. वा. त., श. वा. अधः, श. पं. धू., श. पं. त., श. पं. अधः, श. धू. तम., श. धू. अधः, श. त. अधः, इन १० भंगों के साथ गुणा करने पर १०० भंग होते हैं। वालुकाप्रभा के संयोग वाले—वा. पं. धू., वा. पं. त., वा. पं. अधः, वा. धू. त., वा. धू. अधः, वा. त. अधः, इन ६ भंगों को १० विकल्पों से गुणा करने पर ६० भंग होते हैं। इसी प्रकार पंकप्रभा के संयोग वाले—पं. धू. त., पं. धू. अधः, पं. त. अधः, इन ३ भंगों के साथ १० विकल्पों को गुणा करने से ३० भंग होते हैं। धूमप्रभा के संयोग वाला सिर्फ एक भंग धू. त. अधः, होता है। इसे १० विकल्पों के साथ गुणा करने से १० भंग होते हैं। इस प्रकार ये सभी मिल कर १५०+१००+६०+३०+१०=३५० भंग त्रिकसंयोगी होते हैं।

चतुःसंयोगी ३५० भंग—चतुःसंयोगी विकल्प भी १० होते हैं। यथा—१-१-१-३, १-१-२-२, १-२-१-२, २-१-१-२, १-१-३-१, १-२-२-१, २-१-२-१, १-३-१-१, २-२-१-१ और ३-१-१-१। इन दस विकल्पों को रत्नप्रभा आदि के संयोग वाले पूर्वोक्त ३५ भंगों के साथ गुणाकार करने पर ३५० भंग होते हैं।

पंचसंयोगी १०५ भंग—पंचसंयोगी ५ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-१-१-२, १-१-१-२-१, १-१-२-१-१, १-२-१-१-१, २-१-१-१-१। इन ५ विकल्पों को रत्नप्रभा के संयोग वाले (र. श. वा. पं. धू., र. श. वा. पं. त., र. श. वा. पं. अधः, र. श. वा. धू. त., र. श. वा. धू. अधः, (र. श. वा. त. अधः, र. श. पं, धू. त., र. श. पं. धू. अधः, र. श. पं. त. अधः, र. श. धू. त. अधः, र. वा. पं. धू. तम., र. वा. पं. धू. अधः, र. वा. पं. त. अधः, र. वा. धू. त. अधः, र. शं. धू. त. अधः. इन १५ भंगों के साथ गुणा करने पर ७५ भंग होते हैं। इसी प्रकार शर्कराप्रभा के संयोग

वाले—श. वा. पं. धू. त., श. वा. पं. धू. अधः, श. वा. पं. त. अधः, श. वा. धू. त. अधः, श. पं. धू. त. अधः, इन ५ भंगों को पूर्वोक्त ५ विकल्पों के साथ गुणा करने पर २५ भंग होते हैं। इसी तरह वालुकाप्रभा के वा. पं. धू. त. अधः, इस एक भंग के साथ ५ विकल्पों को गुणा करने पर ५ भंग होते हैं। ये सभी मिलकर ७५+२५+५=१०५ भंग पंचसंयोगी होते हैं।

षट्संयोगी ७ भंग—६ नैरयिकों का षट्संयोगी एक ही विकल्प होता है, उसके द्वारा सात नरकों के षट्संयोगी ७ भंग होते हैं। इस प्रकार ६ नैरयिक जीवों के असंयोगी ७ भंग, द्विकसंयोगी १०५, त्रिकसंयोगी ३५०, चतुष्कसंयोगी ३५०, पंचसंयोगी १०५ और षट्संयोगी ७, ये सब मिलकर ९२४ प्रवेशनक भंग होते हैं।[1]

सात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२२. सत्त भंते ! नेरइया नेरइयपवेसणएणं पविसमाणा० पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा एगे रयणप्पभाए, छ सक्करप्पभाए होज्जा। एवं एएणं कमेणं जहा छण्हं दुयासंजोगो तहा सत्तण्ह वि भाणियव्वं नवरं एगो अब्भहिओ संचारिज्जइ। सेसं तं चेव।

तियासंजोगो, चउक्कसंजोगो, पंचसंजोगो, छक्कसंजोगो य छण्हं जहा तहा सत्तण्ह वि भाणियव्वो, नवरं एक्केको अब्भहिओ संचारेयव्वो जाव छक्कगसंजोगो। अहवा दो सक्कर० एगे वालुय० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा।

अहवा एगे रयण० एगे सक्कर० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा १। १७१६।

[२२ प्र.] भगवन् ! सात नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२२ उ.] गांगेय ! वे सातों नैरयिक रत्नप्रभा में होते हैं, यावत् अथवा अधःसप्तम-पृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार असंयोगी ७ भंग होते हैं।)

(द्विकसंयोगी १२६ भंग)—अथवा एक रत्नप्रभा में और छह शर्कराप्रभा में होते हैं। इस क्रम से जिस प्रकार छह नैरयिक जीवों के द्विकसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार सात नैरयिक जीवों के भी द्विकसंयोगी भंग कहने चाहिए। इतना विशेष है कि यहाँ एक नैरयिक का अधिक संचार करना चाहिए। शेष सभी पूर्ववत् जानना चाहिए।

जिस प्रकार छह नैरयिकों के त्रिकसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी और षट्संयोगी भंग कहे, उसी प्रकार सात नैरयिकों के त्रिकसंयोगी आदि भंगों के विषय में भी कहना चाहिए। विशेषता इतनी है कि यहाँ एक-एक नैरयिक जीव का अधिक संचार करना चाहिए। यावत्—षट्संयोगी का अन्तिम भंग इस प्रकार कहना चाहिए—अथवा दो शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में, यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है। (यहाँ तक जानना चाहिए।)

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४३१-४३२

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४५

सप्तसंयोगी एक भंग--अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में यावत् एक अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है।

विवेचन—सात नैरयिकों के असंयोगी ७ भंग—नरक सात हैं, प्रत्येक नरक में सातों नैरयिक प्रवेश करते हैं, इसलिए ७ भंग हुए।

द्विकसंयोगी १२६ भंग—द्विकसंयोगी ६ विकल्प होते हैं, यथा—१-६, २-५, ३-४, ४-३, ५-२, ६-१। इन ६ विकल्पों के साथ रत्नप्रभादि के संयोग से जनित २१ भंगों का गुणाकार करने से १२६ भंग द्विकसंयोगी होते हैं।

त्रिकसंयोगी ५२५ भंग—सात नैरयिकों के त्रिकसंयोगी १५ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-५, १-२-४, २-१-४, १-३-३, २-२-३, ३-१-३, १-४-२, २-३-२, ३-२-२, ४-१-२, १-५-१, २-४-१, ३-३-१, ४-२-१ और ५-१-१।

इन १५ विकल्पों को पूर्वोक्त त्रिकसंयोगी ३५ विकल्पों के साथ गुणा करने से कुल ५२५ भंग होते हैं।

चतुःसंयोगी ७०० भंग—चतुःसंयोगी २० विकल्प होते हैं। यथा—१-१-१-४, १-१-४-१, १-४-१-१, ४-१-१-१, १-१-२-३, १-१-३-२, १-३-१-२, ३-१-१-२, १-२-१-३, २-१-१-३, ३-२-१-१, २-३-१-१, २-२-२-१, २-१-२-२, १-२-२-२, २-२-१-२, १-२-३-१, १-३-२-१, २-१-३-१ और ३-१-२-१।

इन २० विकल्पों को पूर्वोक्त ३५ भंगों के साथ गुणाकार करने पर चतुःसंयोगी कुल ७०० भंग होते हैं।

पंचसंयोगी ३१५ भंग—इसके १५ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-१-१-३, १-१-१-३-१ इत्यादि। इन १५ विकल्पों को रत्नप्रभादि के संयोग से जनित २१ भंगों के साथ गुणाकार करने पर पंचसंयोगी भंगों की कुल संख्या ३१५ होती है।

षट्संयोगी ४२ भंग—षट्संयोगी विकल्प ६ होते हैं। यथा—१-१-१-१-१-२, १-१-१-१-२-१, १-१-१-२-१-१, १-१-२-१-१-१, १-२-१-१-१-१, २-१-१-१-१-१। इन ६ विकल्पों के साथ रत्नप्रभादि के संयोग से जनित ७ भंगों का गुणाकार करने पर षट्संयोगी भंगों की कुल संख्या ४२ होती है।

सप्तसंयोगी एक भंग—१-१-१-१-१-१-१ इस प्रकार सप्तसंयोगी एक ही भंग होता है।

इस प्रकार सात नैरयिकों के नरकप्रवेशनक में एकसंयोगी ७, द्विकसंयोगी १२६, त्रिकसंयोगी ५२५, चतुष्कसंयोगी ७००, पंचसंयोगी ३१५, षट्संयोगी ४२ और सप्तसंयोगी १; यों कुल मिलाकर १७१६ भंग होते हैं।[1]

आठ नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२३. अट्ठ भंते ! नेरतिया नेरइयपवेसणएणं पविसमाणा० पुच्छा। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. ४३४-४३५

(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ४४५

अहवा १+७एगे रयण० सत्त सक्करप्पभाए होज्जा १ । एवं दुयासंजोगो जाव छक्कसंजोगो य जहा सत्तण्हं भणिओ तहा अट्ठण्ह वि भाणियव्वो, नवरं एक्केको अब्भहिओ संचारेयव्वो । सेसं तं चेव जाव छक्कसंजोगस्स । अहवा ३+१+१+१+१+१ तिण्णि सक्कर० एगे वालुय० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा, अहवा एगे रयण० जाव एगे तमाए दो अहेसत्तमाए होज्जा, अहवा एगे रयण० जाव दो तमाए एगे अहेसत्तमाए होज्जा, एवं संचारेयव्वं जाव अहवा दो रयण० एगे सक्कर० जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा । ३००३ ।

[२३ प्र.] भगवन् ! आठ नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२३ उ.] गांगेय ! रत्नप्रभा में होते हैं, यावत् अथवा अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं ।

अथवा एक रत्नप्रभा में और सात शर्कराप्रभा में होते हैं, इत्यादि; जिस प्रकार सात नैरयिकों के द्विकसंयोगी त्रिकसंयोगी, चतुःसंयोगी, पंचसंयोगी और षट्संयोगी भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार आठ नैरयिकों के भी द्विकसंयोगी आदि भंग कहने चाहिएं; किन्तु इतना विशेष है कि एक-एक नैरयिक का अधिक संचार करना चाहिए । शेष सभी षट्संयोगी तक पूर्वोक्त प्रकार से कहना चाहिए । अन्तिम भंग यह है—अथवा तीन शर्कराप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है । (१) अथवा एक रत्नप्रभा में, यावत् एक तमःप्रभा में और दो अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (२) अथवा एक रत्नप्रभा में यावत् दो तमःप्रभा में और एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है । इसी प्रकार सभी स्थानों में संचार करना चाहिए । यावत्—अथवा दो रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में यावत् एक अधःसप्तमपृथ्वी में होता है ।

विवेचन—आठ नैरयिकों के असंयोगी भंग सिर्फ ७ होते हैं ।

द्विकसंयोगी १४७ भंग—इसके सात विकल्प होते हैं । यथा—१-७, २-६, ३-५, ४-४, ५-३, ६-२, ७-१ । इस सात विकल्पों के साथ सात नरकों के २१ भंगों का गुणाकार करने पर कुल १४७ भंग होते हैं ।

त्रिकसंयोगी ७३५ भंग—इसके २१ विकल्प होते हैं । यथा—१-१-६, १-२-५, १-३-४, १-४-३, १-५-२, १-६-१, ६-१-१, ५-२-१, २-१-५, २-२-४, २-३-३, २-४-२, २-५-१, ३-१-४, ३-२-३, ३-४-१, ३-३-२, ४-२-२, ४-३-१, ४-१-३, और ५-१-२ । इन २१ विकल्पों के साथ सात नरकों के त्रिकसंयोगी (पूर्वोक्तवत्) ३५ भंगों का गुणाकार करने पर कुल ७३५ भंग होते हैं ।

चतुःसंयोगी १२२५ भंग—इसके ३५ विकल्प होते हैं । यथा—१-१-१-५, १-१-२-४, १-२-१-४, २-१-१-४, १-१-३-३, १-२-२-३, २-१-२-३, १-३-१-३, २-२-१-३, ३-१-१-३, १-१-४-२, १-२-३-२, २-१-३-२, १-३-२-२, २-२-२-२, ३-१-२-२, १-४-१-२, २-३-१-२, ३-२-१-२, ४-१-१-२, १-१-५-१, १-२-४-१, २-१-४-१, १-३-३-१, २-२-३-१, ३-१-३-१, १-४-२-१, २-३-२-१, ३-२-२-१, ४-१-२-१, १-५-१-१, २-४-१-१, ३-३-१-१, ४-२-१-१ और ५-१-१-१ । इन ३५ विकल्पों के साथ चतुःसंयोगी पूर्वोक्त ३५ भंगों का गुणाकार करने पर कुल १२२५ भंग होते हैं ।

पंचसंयोगी ७३५ भंग—इसके विकल्प ३५ होते हैं। यथा—१-१-१-१-४ इत्यादि क्रम से पूर्वापरसंख्या के चालन से ३५ विकल्प पूर्ववत् होते हैं। उन्हें सात नरकपदों से जनित २१ भंगों के साथ गुणा करने से कुल भंगों की संख्या ७३५ होती है।

षट्संयोगी १४७ भंग—इसके २१ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-१-१-१-३ इत्यादि क्रम से पूर्वापर संख्याचालन से २१ विकल्प। इनके साथ सात नरकों के संयोग से जनित ७ भंगों का गुणा करने से कुल भंगों की संख्या १४७ होती है।

सप्तसंयोगी ७ भंग—इनके ७ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-१-१-१-१-२, १-१-१-१-१-२-१, १-१-११-२-१-१, १-१-१-२-१-१-१, १-१-२-१-१-१-१, १-२-१-१-१-१-१, २-१-१-१-१-१-१। इन सात विकल्पों का प्रत्येक नरक के साथ संयोग करने से केवल ७ भंग होते हैं।

इस प्रकार आठ नैरयिकों के नरकप्रवेशनक के असंयोगी ७ भंग, द्विकसंयोगी १४७, त्रिकसंयोगी ७३५, चतुष्कसंयोगी १२२५, पंचसंयोगी, ७३५, षट्संयोगी १४७ और सप्तसंयोगी ७ भंग—कुल मिला कर सब भंग ३००३ होते।[1]

नौ नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२४. नव भंते ! नेरतिया नेरतियपवेसणएणं पविसमाणा० पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा १-८ एगे रयण० अट्ठ सक्करप्पभाए होज्जा। एवं दुयासंजोगो जाव सत्तगसंजोगो य। जहा अट्ठण्हं भणियं तहा नवण्हं पि भाणियव्वं, नवरं एक्केक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो, सेसं तं चेव। पच्छिमो आलावगो—अहवा तिण्णि रयण० एगे सक्कर० एगे वालुय० जाव एगे अहेसत्तमाए वा होज्जा। ५००५।

[२४ प्र.] भगवन् ! नौ नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२४ उ.] हे गांगेय ! वे नौ नैरयिक जीव रत्नप्रभा में होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक रत्नप्रभा में और आठ शर्कराप्रभा में होते हैं; इत्यादि जिस प्रकार अष्ट नैरयिकों के द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतुष्कसंयोगी, पंचसंयोगी, षट्संयोगी और सप्तसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार नौ नैरयिकों के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि एक-एक नैरयिक का अधिक संचार करना चाहिए। शेष सभी पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। अंतिम भंग इस प्रकार है—अथवा तीन रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, एक बालुकाप्रभा में, यावत् एक अधःसप्तम-पृथ्वी में होता है।

विवेचन—नौ नैरयिकों के असंयोगी भंग—सात होते हैं।

द्विकसंयोगी १६८ भंग—इनके १-८, २-७, ३-६, ४-५, ६-३, ५-४, ७-२, ८-१ ये ८ विकल्प

---

१ (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ४४६

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ—टिप्पणयुक्त) भा १, पृ, ४३६

होते हैं। इन ८ विकल्पों को सात नरकों के संयोग से जनित २१ भंगों से गुणा करने पर कुल भंगों की संख्या १६८ होती है।

त्रिकसंयोगी ९८० भंग—इसके २८ विकल्प होते हैं। यथा-१-१-७, २-३-४, ४-१-४, १-२-६, २-४-३, ४-२-३, १-३-५, २-५-२, ४-३-२, १-४-४, २-६-१, ४-४-१, १-५-३, ३-१-५, ५-१-३, १-६-२, ३-२-४, ५-२-२, १-७-१, ३-३-३, ५-३-१, २-१-६, ३-४-२, ६-१-२, २-२-५, ३-५-१, ६-२-१ और ७-१-१।

इन २८ विकल्पों को सात नरकों के संयोग से जनित ३५ भंगों के साथ गुणा करने पर कुल भंगों की संख्या ९८० होती है।

चतुष्कसंयोगी १९६० भंग—इसके १-१-१-६ इस प्रकार चतु:संयोगी ५६ विकल्प होते हैं। इन्हें सात नरकों के संयोग से जनित (पूर्वोक्त) ३५ भंगों के साथ गुणाकार करने पर कुल भंगों की संख्या १९६० होती हैं।

पंचसंयोगी १४७० भंग—इसके पंचसंयोगी १-१-१-१-६ इत्यादि प्रकार से ७० विकल्प होते हैं। इन्हें सात नरकों के संयोग से जनित २१ भंगों के साथ गुणा करने पर कुल भंगों की संख्या १४७० होती हैं।

षट्संयोगी ३९२ भंग—इसके १-१-१-१-१-४ इत्यादि प्रकार से ५६ विकल्प होते हैं। इन विकल्पों को सात नरकों के संयोग से जनित ७ भंगों के साथ गुणा करने पर कुल ३९२ भंग होते हैं।

सप्तसंयोगी २८ भंग—इसके १-१-१-१-१-१-३ इत्यादि प्रकार से २८ विकल्प होते हैं, इनका सात नरकों में से प्रत्येक के साथ संयोग करने से केवल २८ भंग ही होते हैं।

इस प्रकार नौ नैरयिकों के नरकप्रवेशनक के एक-संयोगी (असंयोगी) ७ भंग, द्विकसंयोगी १६८, त्रिकसंयोगी ९८०, चतुष्कसंयोगी १९६०, पंचसंयोगी १४७०, षट्संयोगी—३९२, और सप्तसंयोगी २८ भंग, ये सव मिलाकर ५००५ भंग हुए।[1]

दश नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२५. दस भंते! नेरइया नेरइयपवेसणएणं पविसमाणा० पुच्छा। गंगेया! रयणप्पभाए होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा १+९ एगे रयणप्पभाए, नव सक्करप्पभाए होज्जा। एवं दुयासंजोगो जाव सत्तसंजोगो य जहा नवण्हं, नवरं एक्केक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो। सेसं तं चेव। अपच्छिमआलावगो—अहवा ४+१+१+१+१+१+१, चत्तारि रयण०, एगे सक्करप्पभाए जाव एगे अहेसत्तमाए होज्जा। ८००८।

[२५ प्र.] भगवन्! दस नैरयिकजीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में होते हैं? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न।

[२५ उ.] गांगेय! वे दस नैरयिक जीव, रत्नप्रभा में होते हैं, अथवा यावत् अध:सप्तमपृथ्वी में होते हैं।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा. १, पृ. ४३७

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४६

अथवा एक रत्नप्रभा में और नौ शर्कराप्रभा में होते हैं; इत्यादि जिस प्रकार नौ नैरयिक जीवों के द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतु:संयोगी, पंचसंयोगी, षट्संयोगी एवं सप्तसंयोगी भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार दस नैरयिक जीवों के भी (द्विकसंयोगी यावत् सप्तसंयोगी) कहने चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ एक-एक नैरयिक का अधिक संचार करना चाहिए, शेष सभी भंग पूर्ववत् जानने चाहिए। उनका अन्तिम आलापक (भंग) इस प्रकार है—अथवा चार रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में यावत् एक अध:सप्तमपृथ्वी में होता है।

विवेचन—दस नैरयिकों के असंयोगी भंग—केवल सात होते हैं।

द्विकसंयोगी १८९ भंग—इनके ९ विकल्प होते हैं। यथा १-९, २-८, ३-७, ४-६, ५-५ ६-४, ७-३, ८-२, ९-१। इन ९ विकल्पों के साथ सात नरकों के संयोग से जनित २१ भंगों को गुणा करने पर कुल १८९ भंग होते हैं।

त्रिकसंयोगी १२६० भंग—इनके ३६ विकल्प होते हैं। यथा—१-१-८, १-२-७, १-३-६, १-४-५, १-५-४, १-६-३, १-७-२, १-८-१, २-७-१, २-६-२, २-५-३, २-४-४, २-३-५, २-२-६, २-१-७, ३-६-१, ३-५-२, ३-४-३, ३-३-४, ३-२-५, ३-१-६, ४-५-१, ४-४-२, ४-३-३, ४-२-४, ४-१-५, ५-४-१, ५-३-२, ५-२-३, ५-१-४, ६-३-१, ६-२-२, ६-१-३, ७-२-१, ७-१-२, और ८-१-१। इन ३६ विकल्पों को, सात नरकों के संयोग से जनित पूर्वोक्त ३५ भगों के साथ गुणा करने पर कुल १२६० भंग होते हैं।

चतुष्कसंयोगी २९४० भंग—इनके १-१-१-७ इत्यादि प्रकार से अंकों के परस्पर चालन से ८४ विकल्प होते हैं। इन ८४ विकल्पों को सात नरकों के संयोग से पूर्वोक्त प्रकार से जनित ३५ भगों के साथ गुणाकार करने पर कुल भंगों की संख्या २९४० होती है।

पंचसंयोगी २६४६ भंग—इनके १-१-१-१-६ इत्यादि प्रकार से अंकों के परस्पर चालन से १२६ विकल्प होते हैं। इन १२६ विकल्पों को सात नरकों के संयोग से (पूर्ववत्) जनित २१ भंगों के साथ गुणा करने पर १२६×२१=२६४६ कुल भंग होते हैं।

षट्संयोगी ८८२ भंग—इनके १-१-१-१-१-५ इत्यादि प्रकार से अंकों के परस्पर चालन करने से १२६ विकल्प होते हैं। इन १२६ विकल्पों को सात नरकों के संयोग से जनित ७ भंगों के साथ गुणा करने पर भंगों की कुल संख्या ८८२ होती है।

सप्तसंयोगी ८४ भंग—इनके १-१-१-१-१-१-४ इत्यादि प्रकार से अंकों के परस्पर चालन से ८४ विकल्प होते हैं। इन्हें सात नरकों के समुत्पन्न एक भंग के साथ गुणाकार करने पर ८४ भंग कुल होते हैं।

इस प्रकार दस नैरयिकों के नरकप्रवेशनक के असंयोगी ७ भंग, द्विकसंयोगी १८९, त्रिकसंयोगी १२६०, चतुष्कसंयोगी २९४०, पंचसंयोगी २६४६, षट्संयोगी ८८२ और सप्तसंयोगी ८४ भंग, ये सभी मिल कर दस नैरयिक जीवों के कुल ८००८ भंग होते हैं।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा-१, पृ-४३८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४७

संख्यात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२६. संखेज्जा भंते ! नेरइया नेरइयप्पवेसणएणं पविसमाणा० पुच्छा । गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७ ।

अहवा एगे रयणप्पभाए, संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा, एवं जाव अहवा एगे रयणप्पभाए, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा दो रयण०, संखेज्जा सक्करप्पभाए वा होज्जा, एवं जाव अहवा दो रयण०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा तिण्णि रयण०, संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं एक्केक्को संचारेयव्वो जाव अहवा दस रयण०, संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा, एवं जाव अहवा दस रयण०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा संखेज्जा रयण०, संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा; जाव अहवा संखेज्जा रयणप्पभाए, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा एगे सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा; एवं जहा रयणप्पभाए उवरिमपुढवीहिं समं चारिया एवं सक्करप्पभाए वि उवरिमपुढवीहिं समं चारेयव्वा । एवं एक्केक्का पुढवी उवरिमपुढवीहिं समं चारेयव्वा जाव अहवा संखेज्जा तमाए, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । २३१ ।

अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, संखेज्जा पंकप्पभाए होज्जा । जाव अहवा एगे रयण०, एगे सक्कर०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । जाव अहवा एगे रयण०, दो सक्कर०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा एगे रयण०, तिण्णि सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं एक्केक्को संचारेयव्वो । अहवा एगे रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा; जाव अहवा एगे रयण०, संखेज्जा वालुय०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा दो रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । जाव अहवा दो रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा तिण्णि रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं एक्केक्को रयणप्पभाए संचारेयव्वो, जाव अहवा संखेज्जा रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा; जाव अहवा संखेज्जा रयण०, संखेज्जा सक्कर०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, संखेज्जा पंकप्पभाए होज्जा; जाव अहवा एगे रयण०, एगे वालुय०, संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । अहवा एगे रयण०, दो वालुय०, संखेज्जा पंकप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं तियासंजोगो चउक्कसंजोगो जाव सत्तग-संजोगो य जहा दसण्हं तहेव भाणियव्वो । पच्छिमो आलावगो सत्तसंजोगस्स—अहवा संखेज्जा रयण०, संखेज्जा सक्कर०, जाव संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा । ३३३७ ।

[२६ प्र.] भगवन् ! संख्यात नैरयिक जीव, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या रत्नप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२६ उ.] गांगेय ! संख्यात नैरयिक रत्नप्रभा में होते हैं, यावत् अथवा अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं । (ये असंयोगी ७ भंग होते हैं ।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में होता है, और संख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं, (२-६) इसी प्रकार यावत् एक रत्नप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (ये ६ भंग हुए।)

(१) अथवा दो रत्नप्रभा में और संख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं (२-६) इसी प्रकार यावत् दो रत्नप्रभा में, और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (ये भी ६ भंग हुए।)

(१) अथवा तीन रत्नप्रभा में और संख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं। इसी प्रकार इसी क्रम से एक-एक नारक का संचार करना चाहिए। यावत् दस रत्नप्रभा में और संख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् अथवा दस रत्नप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा संख्यात रत्नप्रभा में और संख्याल शर्कराप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् संख्यात रत्नप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक शर्कराप्रभा में, और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। जिस प्रकार रत्नप्रभा-पृथ्वी का शेप नरकपृथ्वियों के साथ संयोग-क्रिया उसी प्रकार शर्कराप्रभा-पृथ्वी का भी आगे की सभी नरक-पृथ्वियों के साथ संयोग करना चाहिए।

इसी प्रकार एक-एक पृथ्वी का आगे की नरक-पृथ्वियों के साथ संयोग करना चाहिए; यावत् अथवा संख्यात तमःप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (इस प्रकार द्विकसंयोगी भंगों की कुल संख्या २३१ हुई।)

(१) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। (२) अथवा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और संख्यात पंकप्रभा में होते हैं। इसी प्रकार यावत् (३-५) एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। यावत्—अथवा एक रत्नप्रभा में, दो शर्कराप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक रत्नप्रभा में, तीन शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। इस प्रकार इसी क्रम से एक-एक नारक का अधिक संचार करना चाहिए।

अथवा एक रत्नप्रभा में संख्यात शर्कराप्रभा और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। यावत् अथवा एक रत्नप्रभा में संख्यात वालुकाप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा दो रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। यावत् अथवा दो रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में और संख्यात अधः सप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा तीन रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। इस प्रकार इस क्रम से रत्नप्रभा में एक-एक नैरयिक का संचार करना चाहिए, यावत् अथवा संख्यात रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं। यावत्—अथवा संख्यात रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और संख्यात पंकप्रभा में होते हैं। यावत्-अथवा एक रत्नप्रभा में, एक वालुकाप्रभा में और संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

अथवा एक रत्नप्रभा में, दो वालुकाप्रभा में और संख्यात पंकप्रभा में होते हैं ।

इसी प्रकार इसी क्रम से त्रिकसंयोगी, चतुष्कसंयोगी, यावत् सप्तसंयोगी भंगों का कथन, दस नैरयिकसम्बन्धी भंगों के समान करना चाहिए । अन्तिम भंग (आलापक) जो सप्तसंयोगी है, यह है—अथवा संख्यात रत्नप्रभा में, संख्यात शर्कराप्रभा में यावत् संख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं ।

विवेचन—संख्यात का स्वरूप—आगमिक परिभाषानुसार यहाँ ग्यारह से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या को संख्यात कहा गया है ।

असंयोगी ७ भंग—प्रत्येक नरक के साथ संख्यात का संयोग होने से असंयोगी या एकसंयोगी ७ भंग होते हैं ।

द्विकसंयोगी २३१ भंग—द्विकसंयोगी में संख्यात के दो विभाग किये गए हैं, इसलिए एक और संख्यात, दो और संख्यात, यावत् दस और संख्यात तथा संख्यात और संख्यात इस प्रकार एक विकल्प के ११ भंग होते हैं ।

ये विकल्प रत्नप्रभादि पृथ्वियों के साथ आगे की पृथ्वियों का संयोग करने पर एक से लेकर संख्यात तक ग्यारह पदों का संयोग करने से और शर्कराप्रभादि पृथ्वियों के साथ केवल 'संख्यात' पद का संयोग करने से बनते हैं ।

रत्नप्रभादि पूर्व-पूर्व की पृथ्वियों के साथ संख्यात पद का संयोग और आगे-आगे की पृथ्वियों के साथ एकादि पदों का संयोग करने से जो भंग होते हैं, उनकी विवक्षा यहाँ नहीं की गई है । अर्थात् एक रत्नप्रभा में और संख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं, तथा एक रत्नप्रभा में और संख्यात वालुकाप्रभा में होते हैं । यही क्रम यहां अभीष्ट है, न कि संख्यात रत्नप्रभा में और एक शर्कराप्रभा में होते हैं, संख्यात रत्नप्रभा में और एक वालुकाप्रभा में होते हैं, इत्यादि क्रम से भंग करना अभीष्ट नहीं है । पूर्वसूत्रों में भी यही क्रम ग्रहण किया गया है ।

यहाँ भी पहले की नरकपृथ्वियों के साथ एकादि संख्या का और आगे-आगे की नरकपृथ्वियों के साथ संख्यात राशि का संयोग करना चाहिए । इसमें आगे-आगे की नरकपृथ्वियों के साथ वाली संख्यात राशि में से एकादि संख्या को कम करने पर भी संख्यातराशि की संख्यातता कायम रहती है । इनमें से रत्नप्रभा के एक से लेकर संख्यात तक ११ पदों का और शेष पृथ्वियों के साथ अनुक्रम से 'संख्यात' पद का संयोग करने से ६६ भंग होते हैं । शर्कराप्रभा का शेष नरकपृथ्वियों के साथ संयोग करने से ५ विकल्प होते हैं । उन ५ विकल्पों को एकादि ग्यारह पदों से गुणा करने पर शर्कराप्रभा के संयोग वाले कुल ५५ भंग होते हैं । इसी प्रकार वालुकाप्रभा के संयोगवाले ४४ भंग. पंकप्रभा के संयोग वाले ३३ भंग, धूमप्रभा के संयोग वाले २२ भंग और तमःप्रभा के संयोगवाले ११ भंग होते हैं । ये सभी मिलकर द्विकसंयोगी ६६+५५+४४+३३+२२+११=२३१ भंग होते हैं ।

त्रिकसंयोगी ७३५ भंग—त्रिकसंयोगी में २१ विकल्प होते हैं । यथा एक रत्नप्रभा में, एक शर्कराप्रभा में, और संख्यात वालुकाप्रभा में, यह प्रथम विकल्प है । अब पहली नरक में १ जीव और तीसरी नरक में संख्यात जीव, इस पद को कायम रखकर दूसरी नरक में अनुक्रम से संख्या का विन्यास किया जाता है । अर्थात्—दो से लेकर दस तक की संख्या का तथा 'संख्यात' पद का योग करने से कुल ११ भंग होते हैं । तथा इसके बाद दूसरी और तीसरी पृथ्वी में संख्यात पद को कायम

रखकर पहली पृथ्वी में दो से लेकर दस तक एवं संख्यात पद का संयोग करने पर दस भंग होते हैं। ये सब मिलकर २१ भंग होते हैं। इन २१ विकल्पों के साथ पूर्वोक्त सात नरकों के त्रिकसंयोगी ३५ भंगों को गुणा करने पर त्रिकसंयोगी कुल ७३५ भंग होते हैं।

चतुःसंयोगी १०८५ भंग—पहले की चार नरकपृथ्वियों के साथ क्रमशः १-१-१ और संख्यात इस प्रकार प्रथम भंग होता है। इसके बाद पूर्वोक्त क्रम से तीसरी नरक में, दो से लेकर संख्यात पद तक का संयोग करने से दूसरे १० विकल्प बनते हैं। इसी प्रकार दूसरी नरकपृथ्वी में और प्रथम नरक-पृथ्वी में भी दो से लेकर संख्यात पद तक का संयोग करने से बीस विकल्प होते हैं। ये सभी मिल कर ३१ विकल्प होते हैं। इन ३१ विकल्पों के साथ सात नरकों के चतुःसंयोगी पूर्वोक्त ३५ विकल्पों को गुणा करने पर कुल १०८५ भंग होते हैं।

पंचसंयोगी ८६१ भंग—प्रथम की पाँच नरकभूमियों के साथ १-१-१-१ और संख्यात, इस क्रम से पहला भंग होता है। इसके पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से चौथी नरकभूमि में अनुक्रम से दो से लेकर संख्यात-पद तक का संयोग करना चाहिए। इसी प्रकार तीसरी, दूसरी और पहली नरकपृथ्वी में भी दो से लेकर संख्यात-पद तक का संयोग करना चाहिए। इस प्रकार सब मिल कर पंचसंयोगी ४१ भंग होते हैं। उनके साथ पूर्वोक्त ७ नरक सम्बन्धी पंचसंयोगी २१ पदों का गुणा करने से कुल ८६१ भंग होते हैं।

षट्संयोगी ३५७ भंग—षट्संयोग में पूर्वोक्त क्रमानुसार ५१ भंग होते हैं। उनके साथ सात नरकों के षट्संयोगी पूर्वोक्त ७ पदों का गुणा करने से कुल ३५७ भंग होते हैं।

सप्तसंयोगी ६१ भंग—पूर्वोक्त रीति से ६१ भंग समझने चाहिए। इस प्रकार संख्यात नैरयिक जीवों—आश्रयी ७+२३१+७३५+१०८५+८६१+३५७+६१=३३३७ कुल[1] भंग होते हैं।

असंख्यात नैरयिकों के प्रवेशनकभंग—

२७. असंखेज्जा भंते ! नेरइया नेरइयपवेसणएणं० पुच्छा।

गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा जाव अहेसत्तमाए वा होज्जा ७।

अहवा एगे रयण०, असंखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा। एवं दुयासंजोगो जाव सत्तगसंजोगो य जहा संखिज्जाणं भणिओ तहा असंखेज्जाण वि भाणियव्वो, नवरं असंखेज्जाओ अब्भहिओ भाणियव्वो, सेसं तं चेव जाव सत्तगसंजोगस्स पच्छिमो आलावगो—अहवा असंखेज्जा रयण० असंखेज्जा सक्कर० जाव असंखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा।

[२७ प्र] भगवन् ! असंख्यात नैरयिक, नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२७ उ.] गांगेय ! वे रत्नप्रभा में होते हैं, अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं, अथवा एक रत्नप्रभा में और असंख्यात शर्कराप्रभा में होते हैं।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ—टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ४४०

(ख) भगवती. विवेचनयुक्त (पं घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १६६०-१६६१

जिस प्रकार संख्यात नैरयिकों के द्विकसंयोगी यावत् सप्तसंयोगी भंग कहे, उसी प्रकार असंख्यात के भी कहना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि यहाँ 'असंख्यात' यह पद कहना चाहिए। (अर्थात्—बारहवाँ असंख्यात पद कहना चाहिए।) शेष सभी पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। यावत्—अन्तिम आलापक यह है—अथवा असंख्यात रत्नप्रभा में, असंख्यात शर्कराप्रभा में यावत् असंख्यात अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

विवेचन—असंख्यात पद के एकसंयोगी भंग—सात होते हैं। **द्विकसंयोगी से सप्तसंयोगी तक भंग**—असंख्यातपद के द्विकसंयोगी २५२, त्रिकसंयोगी ८०५, चतुष्कसंयोगी ११९०, पंचसंयोगी ९४५, षट्संयोगी ३९२ एवं सप्तसंयोगी ६७ भंग होते हैं, इस प्रकार असंख्यात नैरयिकों के नैरयिक-प्रवेशनक के कुल मिलाकर ३६५८ भंग होते हैं।[1]

उत्कृष्ट नैरयिक-प्रवेशनक-प्ररूपणा—

२८. उक्कोसा णं भंते ! नेरइया नेरतियपवेसणएणं० पुच्छा ?

गंगेया ! सव्वे वि ताव रयणप्पभाए होज्जा ७।

अहवा रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य होज्जा। अहवा रयणप्पभाए य वालुयप्पभाए य होज्जा, जाव अहवा रयणप्पभाए य अहेसत्तमाए य होज्जा।

अहवा रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य होज्जा। एवं जाव अहवा रयण०, सक्करप्पभाए य अहेसत्तमाए य होज्जा ५। अहवा रयण०, वालुय०, पंकप्पभाए य होज्जा; जाव अहवा रयण०, वालुय०, अहेसत्तमाए य होज्जा ४। अहवा रयण०, पंकप्पभाए य, धूमाए य होज्जा। एवं रयणप्पभं अमुयंतेसु जहा तिण्हं तियासंजोगो भणिओ तहा भाणियव्वं जाव अहवा रयण०, तमाए य, अहेसत्तमाए य होज्जा १५।

अहवा रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुय०, पंकप्पभाए य होज्जा। अहवा रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुय०, धूमप्पभाए य होज्जा; जाव अहवा रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, वालुय०, अहेसत्तमाए य होज्जा ४। अहवा रयण०, सक्कर०, पंक०, धूमप्पभाए य होज्जा। एवं रयणप्पभं अमुयंतेसु जहा चउण्हं चउक्कसंजोगो तहा भाणियव्वं जाव अहवा रयण०, धूम०, तमाए, अहेसत्तमाए होज्जा २०। अहवा रयण०, सक्कर०, वालुय०, पंक०, धूमप्पभाए य होज्जा १। अहवा रयणप्पभाए जाव पंक०, तमाए य होज्जा २। अहवा रयण० जाव पंक०, अहेसत्तमाए य होज्जा ३। अहवा रयण०, सक्कर०, वालुय०, धूम०, तमाए य होज्जा ४। एवं रयणप्पभं अमुयंतेसु जहा पंचण्हं पंचकसंजोगो तहा भाणियव्वं जाव अहवा रयण०, पंकप्पभा, जाव अहेसमाए होज्जा १५।

अहवा रयण०, सक्कर०, जाव धूमप्पभाए, तमाए य होज्जा १। अहवा रयण०, जाव धूम०, अहेसत्तमाए य होज्जा २। अहवा रयण०, सक्कर०, जाव पंक०, तमाए य, अहेसत्तमाए य होज्जा ३। अहवा रयण०, सक्कर०, वालुय०, धूमप्पभाए, तमाए, अहेसत्तमाए होज्जा ४। अहवा रयण०,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४४०

सक्कर०, पंक० जाव अहेसत्तमाए य होज्जा ५। अहवा रयण०, वालुय०, जाव अहेसत्तमाए होज्जा ६। अहवा रयणप्पभाए य, सक्कर०, जाव एअहेसत्तमाए होज्जा १।

[२८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव नैरयिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए उत्कृष्ट पद में क्या रत्नाप्रभा में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२८ उ.] गांगेय ! उत्कृष्टपद में सभी नैरयिक रत्नप्रभा में होते हैं।

(द्विकसंयोगी ६ भंग)—(१) अथवा रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा में होते हैं। (२) अथवा रत्नप्रभा और वालुकाप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् (३-६) रत्नप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

(त्रिकसंयोगी १५ भंग)—(१) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा में होते हैं। इस प्रकार यावत् (२-५) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (६) अथवा रत्न-प्रभा वालुकाप्रभा और पंकप्रभा में होते हैं। यावत् (७-९) अथवा रत्नप्रभा, वालुकाप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (१०) अथवा रत्नप्रभा, पंकप्रभा और धूमप्रभा में होते हैं। जिस प्रकार रत्नप्रभा को न छोड़ते हुए तीन नैरयिक जीवों के त्रिकसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। यावत् (१५) अथवा रत्नप्रभा, तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

(चतुःसंयोगी २० भंग)—(१) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा और पंकप्रभा में होते हैं, (२) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा और धूमप्रभा में होते हैं। यावत् (४) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (५) अथवा रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, पंकप्रभा और धूमप्रभा, में होते हैं। रत्नप्रभा को न छोड़ते हुए जिस प्रकार चार नैरयिक जीवों के चतुःसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए, यावत् (२०) अथवा रत्नप्रभा धूमप्रभा, तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

(पंचसंयोगी पन्द्रह भंग) (१) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा और धूमप्रभा में होते हैं। (२) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा और तमःप्रभा में होते हैं। (३) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (४) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा धूमप्रभा और तमःपृथ्वी में होते हैं। रत्नप्रभा को न छोड़ते हुए जिस प्रकार ५ नैरयिक जीवों के पंचसंयोगी भंग कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए, अथवा यावत् (१५) रत्नप्रभा, पंकप्रभा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

(षट्संयोगी ६ भंग—) (१) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा यावत् धूमप्रभा और तमःप्रभा में होते हैं। (२) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा यावत् धूमप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (३) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा यावत् पंकप्रभा, तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (४) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (५) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, पंकप्रभा, यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं। (६) अथवा रत्नप्रभा, वालुकाप्रभा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

(सप्तसंयोगी एक भंग—) (१) अथवा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, यावत् अधःसप्तमपृथ्वी में होते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट पद के सभी मिल कर चौसठ (६+१५+२०+१५+६+१=६४) भंग होते हैं।

विवेचन—उत्कृष्ट पद में नैरयिकप्रवेशनक भंग—उत्कृष्ट पद में सभी नैरयिक रत्नप्रभा में होते हैं। इसलिए रत्नप्रभा का प्रत्येक भंग के साथ संयोग होता है।

द्विकसंयोगी ६ भंग—१-२, १-३. १-४, १-५, १-६, १-७ ये ६ भंग होते हैं।

त्रिकसंयोगी १५ भंग—१-२-३, १-२-४, १-२-५, १-२-६, १-२-७, १-३-४, १-३-५, १-३-६, १-३-७, १-४-५, १-४-६, १-४-७, १-५-६, १-५-७, और १-६-७।

चतुष्कसंयोगी २० भंग—१-२-३-४, १-२-३-५, १-२-३-६, १-२-३-७, १-२-४-५, १-२-४-६, १-२-४-७, १-२-५-६, १-२-५-७, १-२-६-७, १-३-४-५, १-३-४-६, १-३-४-७, १-३-५-६, १-३-५-७, १-३-६-७, १-४-५-६, १-४-५-७, १-४-६-७ और १-५-६-७।

पंचमसंयोगी १५ भंग—१-२-३-४-५, १-२-३-४-६, १-२-३-४-७, १-२-३-५-६, १-२-३-५-७, १-२-३-६-७, १-२-४-५-६, १-२-४-५-७, १-२-४-६-७, १-२-५-६-७, १-३-४-५-६, १-३-४-५-७, १-३-४-६-७, १-३-५-६-७ और १-४-५-६-७।

षट्संयोगी ६ भंग—१-२-३-४-५-६, १-२-३-४-५-७, १-२-३-४-६-७, १-२-३-५-६-७, १-२-४-५-६-७ और १-३-४-५-६-७।

सप्तसंयोगी १ भंग—१-२-३-४-५-६-७।[1]

रत्नप्रभादि नैरयिक प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—

२९. एयस्स णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइयपवेसणगस्स सक्करप्पभापुढवि० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयपवेसणगस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गंगेया ! सव्वत्थोवे अहेसत्तमापुढविनेरइयपवेसणए, तमापुढविनेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे, एवं पडिलोमगं जाव रयणप्पभापुढविनेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे।

[२९ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकप्रवेशनक, शर्कराप्रभा पृथ्वी के नैरयिक-प्रवेशनक, यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिकप्रवेशनक हैं, इनमें से कौन प्रवेशनक, किस प्रवेशनक से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[२९ उ.] गांगेय ! सवसे अल्प अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक-प्रवेशनक हैं, उनसे तमःप्रभा-पृथ्वी नैरयिकप्रवेशनक असंख्यातगुण हैं। इस प्रकार उलटे क्रम से, यावत् रत्नप्रभा-पृथ्वी नैरयिक-प्रवेशनक असंख्यातगुण हैं।

विवेचन—अधःसप्तम पृथ्वी में जाने वाले जीव सवसे थोड़े हैं। उनकी अपेक्षा तमःप्रभा में ज़ाने वाले संख्यातगुण हैं। इस प्रकार विपरीत क्रम से एक-एक से[2] आगे के असंख्यातगुणे हैं।

कठिन शब्दों का भावार्थ—एयस्स णं—इनमें से। **पडिलोमगं**—प्रतिलोम—विपरीत क्रम से।[3]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४४१-४४२.

२. भगवती. विवेचन, (पं. घेवरचंदजी) भा. ४, पृ. १६६६.

३. भगवती. विवेचन भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. १६६६.

तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक : प्रकार और भंग—

३०. तिरिक्खजोणियपवेसणए णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गंगेया ! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए जाव पंचेंदियतिरिक्ख-जोणियपवेसणए ।

[३० प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक प्रवेशनक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३० उ.] गांगेय ! वह पाँच प्रकार का कहा गया है । यथा—एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक ।

३१. एगे भंते ! तिरिक्खजोणिए तिरिक्खजोणियपवेसणएणं पविसमाणे किं एगिंदिएसु होज्जा जाव पंचिंदिएसु होज्जा ?

गंगेया ! एगिंदिएसु वा होज्जा जाव पंचिंदिएसु वा होज्जा ।

[३१ प्र.] भगवन् ! एक तिर्यञ्चयोनिक जीव, तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ क्या एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होता है अथवा यावत् पंचेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होता है ?

[३१ उ.] गांगेय ! एक तिर्यञ्चयोनिक जीव, एकेन्द्रियों में होता है, अथवा यावत् पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होता है ।

३२. दो भंते ! तिरिक्खजोणिया० पुच्छा ।

गंगेया ! एगिंदिएसु वा होज्जा जाव पंचिंदिएसु वा होज्जा ५ ।

अहवा एगे एगिंदिएसु होज्जा एगे बेइंदिएसु होज्जा । एवं जहा नेरइयपवेसणए तहा तिरिक्खजोणियपवेसणए वि भाणियव्वे जाव असंखेज्जा ।

[३२ प्र.] भगवन् ! दो तिर्यञ्चयोनिक जीव, तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[३२ उ.] गांगेय ! एकेन्द्रियों में होते हैं, अथवा यावत् पंचेन्द्रियों में होते हैं । अथवा एक एकेन्द्रिय में और एक द्वीन्द्रिय में होता है । जिस प्रकार नैरयिक जीवों के विषय में कहा, उसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक के विषय में भी कहना चाहिए । यावत्—असंख्य तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक तक कहना चाहिए ।

विवेचन—तिर्यञ्चों के प्रवेशनक और उनके भंग—तिर्यञ्च एकेन्द्रिय भी होते हैं और पंचेन्द्रिय भी होते हैं । इसलिए उनका प्रवेशनक भी पाँच प्रकार का बताया गया है । इसी प्रकार एक तिर्यञ्चयोनिक जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक में तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ उत्पन्न होता है ।[1]

तीन से लेकर असंख्यात तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक-भंग—तीन से लेकर असंख्यात तिर्यञ्च-योनिक जीवों के प्रवेशनक नैरयिकों के तीन से लेकर असंख्यात तक के प्रवेशनक के समान जानने

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ४४२-४४३.

चाहिए। अन्तर इतना ही है, कि नैरयिक जीव सात नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं, जबकि तिर्यञ्च-जीव एकेन्द्रियादि पाँच स्थानों में उत्पन्न होते हैं। इसलिए भंगों की संख्या में भिन्नता है। यह बुद्धिमानों को स्वयं ऊहापोह करके जान लेना चाहिए। यद्यपि एकेन्द्रिय जीव (वनस्पति व निगोद की अपेक्षा से) अनन्त उत्पन्न होते हैं, किन्तु उपर्युक्त प्रवेशनक का लक्षण असंख्यात तक ही घटित हो सकता है। इसलिए असंख्यात तक ही प्रवेशनक कहे गये हैं।[1]

शंका-समाधान—मूलपाठ में 'एक जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है, यह बतलाया गया, किन्तु सिद्धान्तानुसार एक जीव एकेन्द्रियों में कदापि उत्पन्न नहीं होता, वहाँ (वनस्पतिकाय की अपेक्षा तो) प्रतिसमय अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं, ऐसी स्थिति में उपर्युक्त शास्त्रवचन के साथ कैसे संगति हो सकती है? इसका समाधान वृत्तिकार यों करते हैं—विजातीय देवादि भव से निकल कर जो वहाँ (एकेन्द्रिय भव) में उत्पन्न होता है, उस एक जीव की अपेक्षा से एकेन्द्रिय में एक जीव का प्रवेशनक सम्भव है। वास्तव में प्रवेशनक का अर्थ ही यह है कि विजातीय देवादिभव से निकल कर विजातीय भव में उत्पन्न होना। सजातीय जीव सजातीय में उत्पन्न हो, वह प्रवेशनक नहीं कहलाता, क्योंकि वह (सजातीय) तो एकेन्द्रिय जाति (सजातीय) में प्रविष्ट है ही। अर्थात्—एकेन्द्रिय जीव मर कर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो, वह प्रवेशनक की कोटि में नहीं आता। और जो अनन्त उत्पन्न होते हैं, वे तो एकेन्द्रिय में से ही हैं।[2]

एक और दो तिर्यञ्चयोनिक जीवों का प्रवेशनक—एक जीव अनुक्रम से एकेन्द्रियादि पाँच स्थानों में उत्पन्न हो तो उसके पाँच भंग होते हैं। दो जीव भी एक-एक स्थान में साथ उत्पन्न हों तो उनके भी पाँच भंग ही होते हैं। और द्विकसंयोगी १० भंग होते हैं।[3]

उत्कृष्ट तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक प्ररूपणा—

३३. उक्कोसा भंते! तिरिक्खजोणिया० पुच्छा।

गंगेया! सव्वे वि ताव एगेंदिएसु वा होज्जा। अहवा एगिंदिएसु वा बेइंदिएसु वा होज्जा। एवं जहा नेरतिया चारिया तहा तिरिक्खजोणिया वि चारेयव्वा। एगिंदिया अमुयंतेसु दुयासंजोगो तियासंजोगो चउक्कसंजोगो पंचसंजोगो उवउज्जिऊण भाणियव्वो जाव अहवा एगिंदिएसु वा बेइंदिय जाव पंचिंदिएसु वा होज्जा।

[३३ प्र.] भगवन्! उत्कृष्ट तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक के विषय में पृच्छा।

[३३ उ.] गांगेय! ये सभी एकेन्द्रियों में होते हैं। अथवा एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रियों में होते हैं। जिस प्रकार नैरयिक जीवों में संचार किया गया है, उसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक के विषय में भी संचार करना चाहिए। एकेन्द्रिय जीवों को न छोड़ते हुए द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी, चतुःसंयोगी और पंचसंयोगी भंग उपयोगपूर्वक कहने चाहिए; यावत् अथवा एकेन्द्रिय जीवों में द्वीन्द्रियों में, यावत् पंचेन्द्रियों में होते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५१.

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४५१.

३. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १६७०.

विवेचन—एकेन्द्रियों में उत्कृष्टपद-प्रवेशनक—एकेन्द्रिय जीव प्रतिसमय अत्यधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं, इसलिए एकेन्द्रियों में ये सभी होते हैं।[1]

द्विकसंयोगी से पंचसंयोगी तक भंग—प्रसंगवश यहाँ उत्कृष्टपद से द्विकसंयोगी चार प्रकार के, त्रिकसंयोगी छह प्रकार के, चतुःसंयोगी चार प्रकार के और पंचसंयोगी एक ही प्रकार के होते हैं।[2]

एकेन्द्रियादि तिर्यञ्चप्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—

३४. एयस्स णं भंते ! एगिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणगस्स जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणयस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गंगेया ! सव्वत्थोवे पंचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए, चउरिंदियतिरिक्खजोणियप० विसेसाहिए, तेइंदिय०, विसेसाहिए, बेइंदिय० विसेसाहिए, एगिंदियतिरिक्ख० विसेसाहिए।

[३४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक से लेकर यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक तक में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[३४ उ.] गांगेय ! सबसे थोड़े पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक हैं, उनसे चतुरिन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक विशेषाधिक हैं, उनसे त्रीन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक विशेषाधिक हैं, उनसे द्वीन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक विशेषाधिक हैं और उनसे एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक विशेषाधिक हैं।

विवेचन—तिर्यञ्च-प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—विपरीत क्रम से अर्थात् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के प्रवेशनक से एकेन्द्रिय तिर्यञ्च-प्रवेशनक तक उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं।[3]

मनुष्य-प्रवेशनक : प्रकार और भंग—

३५. मणुस्सपवेसणए णं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ?

गंगेया ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मुच्छिममणुस्सपवेसणए, गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणए य।

[३५ प्र.] भगवन् ! मनुष्यप्रवेशनक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३५ उ.] गांगेय ! मनुष्यप्रवेशनक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) सम्मूर्च्छिम मनुष्यप्रवेशनक और (२) गर्भजमनुष्य-प्रवेशनक।

३६. एगे भंते ! मणुस्से मणुस्सपवेसणए णं पविसमाणे किं सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा ?

गंगेया ! सम्मुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा, गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ४५१.

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४५१

३. वियाहपण्णत्तिसुत्तं. (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १ पृ. ४४३.

[३६ प्र.] भगवन् ! मनुष्यप्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ एक मनुष्य क्या सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में उत्पन्न होता है, अथवा गर्भज मनुष्यों में उत्पन्न होता है ?

[३६ उ.] हे गांगेय ! वह या तो सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में उत्पन्न होता है अथवा गर्भज मनुष्यों में उत्पन्न होता है ।

३७. दो भंते ! मणुस्सा० पुच्छा ।

गंगेया ! सम्मुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा, गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा । अहवा एगे सम्मुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा, एगे गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा । एवं एएणं कमेणं जहा नेरइयपवेसणए तहा मणुस्सपवेसणए वि भाणियव्वे जाव दस ।

[३७ प्र.] भगवन् ! दो मनुष्य, मनुष्य-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न ।

[३७ उ.] गांगेय ! दो मनुष्य या तो सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, अथवा गर्भज मनुष्यों में होते हैं । अथवा एक सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में और एक गर्भज मनुष्यों में होता है । इस क्रम से जिस प्रकार नैरयिक-प्रवेशनक कहा, उसी प्रकार मनुष्य-प्रवेशनक भी कहना चाहिए । यावत् दस मनुष्यों तक कहना चाहिए ।

३८. संखेज्जा भंते ! मणुस्सा० पुच्छा ।

गंगेया ! सम्मुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा । अहवा एगे सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । अहवा दो सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । एवं एक्केक्कं ओसारिंतेसु जाव अहवा संखेज्जा सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा ।

[३८ प्र.] भगवन् ! संख्यात मनुष्य, मनुष्यप्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[३८ उ.] गांगेय ! वे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं, अथवा गर्भज मनुष्यों में होते हैं । अथवा एक सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होता है और संख्यात गर्भज मनुष्यों में होते हैं । अथवा दो सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं और संख्यात गर्भज मनुष्यों में होते हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक बढ़ाते हुए यावत् संख्यात सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में और संख्यात गर्भज मनुष्यों में होते हैं ।

३९. असंखेज्जा भंते ! मणुस्सा० पुच्छा ।

गंगेया ! सव्वे वि ताव सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा । अहवा असंखेज्जा सम्मुच्छिममणुस्सेसु, एगे गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । अहवा असंखेज्जा सम्मुच्छिममणुस्सेसु, दो गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । एवं जाव असंखेज्जा सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा ।

[३९ प्र.] भगवन् ! असंख्यात मनुष्य, मनुष्यप्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए, इत्यादि प्रश्न ।

[३९ उ.] गांगेय ! वे सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं । अथवा असंख्यात सम्मूर्च्छिम

मनुष्यों में होते हैं और एक गर्भज मनुष्यों में होता है। अथवा असंख्यात सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं और दो गर्भज मनुष्यों से होते हैं। अथवा इस प्रकार यावत् असंख्यात सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं और संख्यात गर्भज मनुष्यों में होते हैं।

विवेचन—मनुष्य-प्रवेशनक के प्रकार और भंग—मनुष्य-प्रवेशनक के दो प्रकार हैं—सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-प्रवेशनक और गर्भज-मनुष्य-प्रवेशनक। इन दोनों की अपेक्षा एक से लेकर संख्यात तक भंग पूर्ववत् समझना चाहिए। संख्यातपद में द्विकसंयोगी भंग पूर्ववत् ११ ही होते हैं। असंख्यातपद में पहले बारह विकल्प बताए गए हैं, लेकिन यहाँ ११ ही विकल्प (भंग) होते हैं; क्योंकि यदि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में असंख्यातपन की तरह गर्भज मनुष्यों में भी असंख्यातपन होता, तभी बारह भंग बन सकते थे, किन्तु गर्भज मनुष्य असंख्यात नहीं होते। अतएव उनके प्रवेशनक में असंख्यातपन नहीं हो सकता। अतः असंख्यातपद के संयोग से भी ११ ही विकल्प होते हैं।[1]

उत्कृष्टरूप से मनुष्य-प्रवेशनक-प्ररूपणा—

४०. उक्कोसा भंते! मणुस्सा० पुच्छा।

गंगेया! सव्वे वि ताव सम्मुच्छिममणुस्सेसु होज्जा। अहवा सम्मुच्छिममणुस्सेसु य गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा।

[४० प्र.] भगवन्! मनुष्य उत्कृष्टरूप से किस प्रवेशनक में होते हैं? इत्यादि प्रश्न।

[४० उ.] गांगेय! वे सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में होते हैं। अथवा सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में और गर्भज मनुष्यों में होते हैं।

विवेचन—उत्कृष्टपद में प्रवेशनक-विचार—उत्कृष्टपद में सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-प्रवेशनक कहा गया है, क्योंकि सम्मूर्च्छिम मनुष्य ही असंख्यात हैं। इसलिए उनके प्रवेशनक भी असंख्यात हो सकते हैं।[2]

मनुष्य-प्रवेशनकों का अल्प-बहुत्व—

४१. एयस्स णं भंते! सम्मुच्छिममणुस्सपवेसणगस्स गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणगस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा?

गंगेया! सव्वत्थोवे गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणए, सम्मुच्छिममणुस्सपवेसणए असंखेज्जगुणे।

[४१ प्र.] भगवन्! सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-प्रवेशनक और गर्भज-मनुष्य-प्रवेशनक, इन (दोनों में) से कौन किस से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है?

[४१ उ.] गांगेय! सब से थोड़े गर्भज-मनुष्य-प्रवेशनक हैं, उनसे सम्मूर्च्छिम-मनुष्य-प्रवेशनक असंख्यातगुणे हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५३

विवेचन—अल्पबहुत्व—सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंख्यात होने से गर्भज-मनुष्य-प्रवेशनक से उन (सम्मूर्च्छिम-मनुष्यों) के प्रवेशनक असंख्यातगुणे अधिक हैं।[1]

देव-प्रवेशनक : प्रकार और भंग—

४२. देवपवेसणए णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गंगेया ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—भवणवासिदेवपवेसणए जाव वेमाणियदेवपवेसणए।

[४२ प्र.] भगवन् ! देव-प्रवेशनक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४२ उ.] गांगेय ! वह चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) भवनवासी-देव-प्रवेशक, (२) वाणव्यन्तर-देव-प्रवेशनक, (३) ज्योतिष्क-देव-प्रवेशनक और (४) वैमानिक-देव-प्रवेशनक।

४३. एगे भंते ! देवे देवपवेसणए णं पविसमाणे किं भवणवासीसु होज्जा वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु होज्जा ?

गंगेया ! भवणवासीसु वा होज्जा वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु वा होज्जा।

[४३ प्र.] भगवन् ! एक देव, देव-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ क्या भवनवासी देवों में होता है, वाणव्यन्तर देवों में होता है, ज्योतिष्क देवों में होता है अथवा वैमानिक देवों में होता है ?

[४३ उ.] गांगेय ! एक देव, देव-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करता हुआ, भवनवासी देवों में होता है, अथवा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क अथवा वैमानिक देवों में होता है।

४४. दो भंते ! देवा देवपवेसणए० पुच्छा।

गंगेया ! भवणवासीसु वा होज्जा, वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु वा होज्जा।

अहवा एगे भवणवासीसु, एगे वाणमंतरेसु होज्जा। एवं जहा तिरिक्खजोणियपवेसणए तहा देवपवेसणए वि भाणियव्वे जाव असंखिज्ज त्ति।

[४४ प्र.] भगवन् ! दो देव, देव-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए क्या भवनवासी देवों में, इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न।

[४४ उ.] गांगेय ! वे भवनवासी देवों में होते हैं, अथवा वाणव्यन्तर देवों में होते हैं, या ज्योतिष्क देवों में होते हैं, अथवा वैमानिक देवों में होते हैं। अथवा एक भवनवासी देवों में होता है, और एक वाणव्यन्तर देवों में होता है। जिस प्रकार तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक कहा, उसी प्रकार देव-प्रवेशनक भी कहना चाहिए, यावत् असंख्यात-देव-प्रवेशनक तक कहना चाहिए।

विवेचन—देव-प्रवेशनक-प्ररूपणा—देव-प्रवेशनक के चार प्रकार कहे गए हैं, जो आगमों में प्रसिद्ध हैं। एक देव या दो देव भवनपति देवों में, वाणव्यन्तर देवों में, ज्योतिष्क देवों में या वैमानिक देवों में से किन्हीं में उत्पन्न हो सकते हैं। द्विकसंयोगी भंगों की संख्या तिर्यञ्चयोनिक जीवों की तरह ही समझनी चाहिए। देवों की संख्या ४ ही होती है, यह विशेष है।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५३

तीन से लेकर असंख्यात तक के प्रवेशनक-भंग—देवों के प्रवेशनक-भंग ३ से असंख्यात तक तिर्यंचों के प्रवेशनक-भंग के समान समझने चाहिए।[1]

उत्कृष्टरूप से देव-प्रवेशनक-प्ररूपणा—

४५. उक्कोसा भंते ! ० पुच्छा।

गंगेया ! सव्वे वि ताव जोइसिएसु होज्जा।

अहवा जोइसिय-भवणवासीसु य होज्जा। अहवा जोइसिय-वाणमंतरेसु य होज्जा। अहवा जोइसिय-वेमाणिएसु य होज्जा।

अहवा जोइसिएसु य भवणवासीसु य वाणमंतरेसु य होज्जा। अहवा जोइसिएसु य भवणवासीसु य वेमाणिएसु य होज्जा। अहवा जोइसिएसु य वाणमंतरेसु य वेमाणिएसु य होज्जा।

अहवा जोइसिएसु य भवणवासीसु य वाणमंतरेसु य वेमाणिएसु य होज्जा।

[४५ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्टरूप से देव, देव-प्रवेशनक द्वारा प्रवेश करते हुए किन देवों में होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[४५ उ.] गांगेय ! वे सभी ज्योतिष्क देवों में होते हैं।

अथवा ज्योतिष्क और भवनवासी देवों में होते हैं, अथवा ज्योतिष्क और वाणव्यन्तर देवों में होते हैं, अथवा ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में होते हैं।

अथवा ज्योतिष्क, भवनवासी और वाणव्यन्तर देवों में होते हैं, अथवा ज्योतिष्क, भवनवासी और वैमानिक देवों में होते हैं, अथवा ज्योतिष्क, वाणव्यन्तर और वैमानिक देवों में होते हैं।

अथवा ज्योतिष्क, भवनवासी, वाणव्यन्तर और वैमानिक देवों में होते हैं।

विवेचन—उत्कृष्ट देव-प्रवेशनक-प्ररूपणा—ज्योतिष्क देवों में जाने वाले जीव बहुत होते हैं। इसलिए उत्कृष्टपद में कहा गया है कि ये सभी ज्योतिष्क देवों में होते हैं।

द्विकसंयोगी ३ भंग—ज्यो. वाण., ज्यो. वै., या ज्यो. भ. देवों में।

त्रिकसंयोगी ३ भंग—ज्यो. भ. वा., ज्यो. भ. वै., एवं ज्यो. वा. वै.।

चतुष्कसंयोगी एक भंग—ज्योतिष्क, भ., वा. वैमा.।[2]

भवनवासी आदि देवों के प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—

४६. एयस्स णं भंते ! भवणवासिदेवपवेसणगस्स वाणमंतरदेवपवेसणगस्स जोइसियदेवपवेसणगस्स वेमाणियदेवपवेसणगस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गंगेया ! सव्वत्थोवे वेमाणियदेवपवेसणए, भवणवासिदेवपवेसणए असंखेज्जगुणे, वाणमंतरदेवपवेसणए असंखेज्जगुणे, जोइसियदेवपवेसणए संखेज्जगुणे।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ४४५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४४५

[४६ प्र.] भगवन् ! भवनवासीदेव-प्रवेशनक, वाणव्यन्तरदेव-प्रवेशनक, ज्योतिष्कदेव-प्रवेशनक और वैमानिकदेव-प्रवेशनक, इन चारों प्रवेशनकों में से कौन प्रवेशनक किस प्रवेशनक से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[४६ उ.] गांगेय ! सबसे थोड़े वैमानिकदेव-प्रवेशनक हैं, उनसे भवनवासीदेव-प्रवेशनक असंख्यातगुणे हैं, उनसे वाणव्यन्तरदेव-प्रवेशनक असंख्यातगुणे हैं और उनसे ज्योतिष्कदेव-प्रवेशनक संख्यातगुणे हैं ।

विवेचन—चारों देव-प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—वैमानिकदेव सबसे कम होते हैं, और उनमें जाने वाले (प्रवेशनक) जीव भी सबसे थोड़े होते हैं, इसीलिए अल्पबहुत्व में पारस्परिक तुलना की दृष्टि से कहा गया है कि वैमानिकदेव-प्रवेशनक सबसे अल्प है ।[1]

नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—

४७. एयस्स णं भंते ! नेरइयपवेसणगस्स तिरिक्ख० मणुस्स० देवपवेसणगस्स य कयरे कयरे-हिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गंगेया ! सव्वत्थोवे मणुस्सपवेसणए, नेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे, देवपवेसणए असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणियपवेसणए असंखेज्जगुणे ।

[४७ प्र.] भगवन् ! इन नैरयिक-प्रवेशनक, तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक, मनुष्य-प्रवेशनक और देव-प्रवेशनक, इन चारों में से कौन किससे अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[४७ उ.] गांगेय ! सबसे अल्प मनुष्य-प्रवेशनक है, उससे नैरयिक-प्रवेशनक असंख्यातगुणा है, और उससे देव-प्रवेशनक असंख्यातगुणा है, और उससे तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक असंख्यातगुणा है।

विवेचन—चारों गतियों के जीवों के प्रवेशनकों का अल्पबहुत्व—सबसे अल्प मनुष्य-प्रवेशनक हैं, क्योंकि मनुष्य सिर्फ मनुष्यक्षेत्र में ही हैं, जो कि वहुत ही अल्प है । उससे नैरयिक-प्रवेशनक असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि नरक में जाने वाले जीव असंख्यातगुण हैं । इसी प्रकार देव-प्रवेशनक और तिर्यञ्चयोनिक-प्रवेशनक के विषय में समझना चाहिए ।[2]

चौबीस दण्डकों में सान्तर-निरन्तर उपपाद-उद्वर्तनप्ररूपणा—

४८. संतरं भंते ! नेरइया उववज्जंति ? निरंतरं नेरइया उववज्जंति ? संतरं असुरकुमारा उववज्जंति ? निरंतरं असुरकुमारा जाव संतरं वेमाणिया उववज्जंति ? निरंतरं वेमाणिया उवव-ज्जंति ? संतरं नेरइया उव्वट्टंति ? निरंतरं नेरतिया उव्वट्टंति ? जाव संतरं वाणमंतरा उव्वट्टंति ? निरंतरं वाणमंतरा उव्वट्टंति ? संतरं जोइसिया चयंति ? निरंतरं जोइसिया चयंति ? संतरं वेमाणिया चयंति ? निरंतरं वेमाणिया चयंति ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५३

गंगेया ! संतरं पि नेरतिया उववज्जंति, निरंतरं पि नेरतिया उववज्जंति जाव संतरं पि थणियकुमारा उववज्जंति, निरंतरं पि थणियकुमारा उववज्जंति । नो संतरं पुढविक्काइया उववज्जंति, निरंतरं पुढविक्काइया उववज्जंति; एवं जाव वणस्सइकाइया । सेसा जहा नेरइया जाव संतरं पि वेमाणिया उववज्जंति, निरंतरं पि वेमाणिया उववज्जंति । संतरं पि नेरइया उव्वट्टंति, निरंतरं पि नेरइया उव्वट्टंति; एवं जाव थणियकुमारा । नो संतरं पुढविक्काइया उव्वट्टंति, निरंतरं पुढविक्काइया उव्वट्टंति; एवं जाव वणस्सइकाइया । सेसा जहा नेरइया, नवरं जोइसिय-वेमाणिया चयंति अभिलावो, जाव संतरं पि वेमाणिया चयंति, निरंतरं पि वेमाणिया चयंति ।

[४८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सान्तर (अन्तरसहित) उत्पन्न होते हैं या निरन्तर (लगातार) उत्पन्न होते हैं ? असुरकुमार सान्तर उत्पन्न होते हैं अथवा निरन्तर ? यावत् वैमानिक देव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?

(इसी तरह) नैरयिक का उद्वर्त्तन सान्तर होता है अथवा निरन्तर ? यावत् वाणव्यन्तर देवों का उद्वर्त्तन सान्तर होता है या निरन्तर ? ज्योतिष्क देवों का सान्तर च्यवन होता है या निरन्तर ? वैमानिक देवों का सान्तर च्यवन होता है या निरन्तर ?

[४८ उ.] हे गांगेय ! नैरयिक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी, यावत् स्तनितकुमार सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं । पृथ्वीकायिक जीव सान्तर उत्पन्न नहीं होते, परन्तु निरन्तर ही उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीव सान्तर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु निरन्तर उत्पन्न होते हैं । शेष सभी जीव नैरयिक जीवों के समान सान्तर भी उत्पन्न होते हैं, निरन्तर भी, यावत् वैमानिक देव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी ।

नैरयिक जीव सान्तर भी उद्वर्तन करते हैं, निरन्तर भी । इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए । पृथ्वीकायिक जीव सान्तर नहीं उद्वर्तते, निरन्तर उद्वर्तित होते हैं । इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिकों तक कहना चाहिए । शेष सभी जीवों का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए । इतना विशेष है कि ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव च्यवते हैं, ऐसा पाठ (अभिलाप) कहना चाहिए यावत् वैमानिक देव सान्तर भी च्यवते हैं और निरन्तर भी ।

विवेचन—शंका-समाधान—यहाँ शंका उपस्थित होती है कि नैरयिक आदि की उत्पत्ति के सान्तर-निरन्तर आदि तथा उद्वर्त्तनादि का कथन प्रवेशनक-प्रकरण से पूर्व किया ही था, फिर यहाँ पुनः सान्तर-निरन्तर आदि का कथन क्यों किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ पुनः सान्तर आदि का निरूपण नारकादि सभी जीवों के भेदों का सामुदायिक रूप से सामूहिक उत्पाद एवं उद्वर्तन की दृष्टि से किया गया है ।[1]

प्रकारान्तर से चौवीस दण्डकों में उत्पाद-उद्वर्तना-प्ररूपणा—

४९. सओ भंते ! नेरतिया उववज्जंति ? असओ भंते ! नेरइया उववज्जंति ?

गंगेया ! सओ नेरइया उववज्जंति, नो असओ नेरइया उववज्जंति । एवं जाव वेमाणिया ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५५

[४९ प्र.] भगवन् ! सत् (विद्यमान) नैरयिक जीव उत्पन्न होते हैं या असत् (अविद्यमान) नैरयिक उत्पन्न होते हैं ?

[४९ उ.] गांगेय ! सत् नैरयिक उत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिक उत्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए।

५०. सओ भंते ! नेरतिया उव्वट्टंति, असओ नेरइया उव्वट्टंति ?

गंगेया ! सतो नेरइया उव्वट्टंति, नो असओ नेरइया उव्वट्टंति। एवं जाव वेमाणिया, नवरं जोइसिय-वेमाणिएसु 'चयंति' भाणियव्वं।

[५० प्र.] भगवन् ! सत् नैरयिक उद्वर्त्तते हैं या असत् नैरयिक उद्वर्त्तते हैं ?

[५० उ.] गांगेय ! सत् नैरयिक उद्वर्तते हैं, किन्तु असत् नैरयिक उद्वर्तित नहीं होते। इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के लिए 'च्यवते हैं', ऐसा कहना चाहिए।

५१. [१] सओ भंते ! नेरइया उववज्जंति, असओ नेरइया उववज्जंति ? सओ असुरकुमारा उववज्जंति जाव सतो वेमाणिया उववज्जंति, असतो वेमाणिया उववज्जंति ? सतो नेरतिया उव्वट्टंति, असतो नेरइया उव्वट्टंति ? सतो असुरकुमारा उव्वट्टंति जाव सतो वेमाणिया चयंति, असतो वेमाणिया चयंति ?

गंगेया ! सतो नेरइया उववज्जंति, नो असओ नेरइया उववज्जंति, सओ असुरकुमारा उववज्जंति, नो असतो असुरकुमारा उववज्जंति, जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति, नो असतो वेमाणिया उववज्जंति। सतो नेरतिया उव्वट्टंति, नो असतो नेरइया उव्वट्टंति; जाव सतो वेमाणिया चयंति, नो असतो वेमाणिया०।

[५१-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव, सत् नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं या असत् नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं ? असुरकुमार देव, सत् असुरकुमार देवों में उत्पन्न होते हैं या असत् असुरकुमार देवों में ? इसी प्रकार यावत् सत् वैमानिकों में उत्पन्न होते हैं या असत् वैमानिकों में ? तथा सत् नैरयिकों में से उद्वर्त्तते हैं या असत् नैरयिकों में से ? सत् असुरकुमारों में से उद्वर्त्तते हैं यावत् सत वैमानिकों में से च्यवते हैं या असत् वैमानिकों में से च्यवते हैं ?

[५१-१ उ.] गांगेय ! नैरयिक जीव सत् नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु असत् नैरयिकों में उत्पन्न नहीं होते। सत् असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं, असत् असुरकुमारों में नहीं। इसी प्रकार यावत् सत् वैमानिकों में उत्पन्न होते हैं, असत् वैमानिकों में नहीं। (इसी प्रकार) सत् नैरयिकों में से उद्वर्त्तते हैं, असत् नैरयिकों में से नहीं। यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवते हैं, असत् वैमानिकों में से नहीं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सतो नेरइया उववज्जंति, नो असतो नेरइया उववज्जंति; जाव सओ वेमाणिया चयंति, नो असओ वेमाणिया चयंति ?

से नूणं गंगेया ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए वुइए, अणाईए अणवयग्गे जहा पंचमे सए (स० ५ उ० ९ सु० १४ [२]) जाव जे लोक्कइ से लोए, से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ जाव सतो वेमाणिया चयंति, नो असतो वेमाणिया चयंति।

[५१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक सत् नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिकों में नहीं। इसी प्रकार यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवते हैं, असत् वैमानिकों में से नहीं ?

[५१-२ उ.] गांगेय ! निश्चित ही पुरुषादानीय अरह (अर्हन्) श्रीपार्श्वनाथ ने लोक को शाश्वत, अनादि और अनन्त कहा है इत्यादि, पंचम शतक के नौवें उद्देशक में कहे अनुसार जानना चाहिए, यावत्—जो अवलोकन किया जाए, उसे लोक कहते हैं। इस कारण हे गांगेय ! ऐसा कहा जाता है कि यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवते हैं, असत् वैमानिकों में से नहीं।

विवेचन—सत् ही उत्पन्न होने आदि का रहस्य—सत् अर्थात्—द्रव्यार्थतया विद्यमान नैरयिक आदि ही नैरयिक आदि में उत्पन्न होते हैं, सर्वथा असत् (अविद्यमान) द्रव्य तो कोई भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह तो गधे के सींग के समान असत् है। इन जीवों में सत्त्व (विद्यमानत्व या अस्तित्व) जीवद्रव्य की अपेक्षा से, अथवा नारक-पर्याय की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि भावी नारक-पर्याय की अपेक्षा से द्रव्यतः नारक ही नारकों में उत्पन्न होते हैं। अथवा यहाँ से मर कर नरक में जाते समय विग्रहगति में नरकायु का उदय हो जाने से वे जीव भावनारक हो कर ही नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं।[1]

सत् में ही उत्पन्न होने आदि का रहस्य—जो जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, पहले से उत्पन्न हुए सत् नैरयिकों में समुत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिकों में नहीं, क्योंकि लोक शाश्वत होने से नारक आदि जीवों का सदैव सद्भाव रहता है।[2]

गांगेय सम्मतसिद्धान्त के द्वारा स्वकथन की पुष्टि—भगवान् महावीर ने 'लोक शाश्वत है' ऐसा पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने भी फरमाया है, यह कह कर गांगेय-मान्य सिद्धान्त के द्वारा स्वकथन की पुष्टि की है।[3]

केवलज्ञानी आत्मप्रत्यक्ष से सब जानते हैं—

५२. [१] सयं भंते ! एतेवं जाणह उदाहु असयं ? असोच्चा एतेवं जाणह उदाहु सोच्चा 'सतो नेरइया उववज्जंति, नो असतो नेरइया उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया चयंति, नो असओ वेमाणिया चयंति ?

गंगेया ! सयं एतेवं जाणामि, नो असयं; असोच्चा एतेवं जाणामि, नो सोच्चा; 'सतो नेरइया उववज्जंति, नो असओ नेरइया उववज्जंति, जाव सतो वेमाणिया चयंति, नो असतो वेमाणिया चयंति।'

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५५

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४५५

३. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४५५

[५२-१ प्र.] भगवन् ! आप स्वयं इसे इस प्रकार जानते हैं, अथवा अस्वयं जानते हैं ? तथा विना सुने ही इसे इस प्रकार जानते हैं, अथवा सुनकर जानते हैं कि 'सत् नैरयिक उत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिक नहीं ? यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवन होता है, असत् वैमानिकों में से नहीं ?'

[५२-१ उ.] गांगेय ! यह सब इस रूप में मैं स्वयं जानता हूँ, अस्वयं नहीं। तथा विना सुने ही मैं इसे इस प्रकार जानता हूँ, सुनकर ऐसा नहीं जानता कि सत् नैरयिक उत्पन्न होते हैं, असत् नैरयिक नहीं, यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवते हैं, असत् वैमानिकों में से नहीं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव नो असतो वेमाणिया चयंति ?

गंगेया ! केवली णं पुरत्थिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, दाहिणेणं एवं जहा सद्दुद्देसए (स० ५ उ० ४ सु० ४ [२])[1] जाव निव्वुडे नाणे केवलिस्स, से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव नो असतो वेमाणिया चयंति।

[५२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है, कि मैं स्वयं जानता हूँ, इत्यादि, (पूर्वोक्तवत्) यावत् सत् वैमानिकों में से च्यवते हैं, असत् वैमानिकों में से नहीं ?

[५२-२ उ.] गांगेय ! केवलज्ञानी पूर्व (दिशा) में मित (मर्यादित) भी जानते हैं, अमित (अमर्यादित) भी जानते हैं। इसी प्रकार दक्षिण (दिशा) में भी जानते हैं। इस प्रकार शब्द-उद्देशक (भगवती. श. ५, उ. ४, सू. ४-२) में कहे अनुसार कहना चाहिए। यावत् केवली का ज्ञान निरावरण होता है, इसलिए हे गांगेय ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि मैं स्वयं जानता हूँ, इत्यादि, यावत् असत् वैमानिकों में से नहीं च्यवते।

विवेचन—केवलज्ञानी द्वारा समस्त स्व-प्रत्यक्ष—प्रस्तुत सूत्र ५२ में बताया गया है कि भगवान् की अतिशय ज्ञानसम्पदा की सम्भावना करते हुए गांगेय ने जो प्रश्न किया है, उसके उत्तर में भगवान् ने कहा—'मैं अनुमान आदि के द्वारा नहीं, किन्तु स्वयं—आत्मा द्वारा जानता हूँ, तथा दूसरे पुरुषों के वचनों को सुनकर अथवा आगमतः सुनकर नहीं जानता, अपितु विना सुने ही—आगमनिरपेक्ष होकर स्वयं, 'यह ऐसा है' इस प्रकार जानता हूँ, क्योंकि केवलज्ञानी का स्वभाव पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तुसमूह को प्रत्यक्ष (साक्षात्) करने का होता है। अतः भगवान् द्वारा केवलज्ञान के स्वरूप और सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया गया है।[2]

कठिन शब्दों का भावार्थ—सयं—स्वतः प्रत्यक्षज्ञान। **असयं**—अस्वयं, परतः ज्ञान। **अमियं**—अपरिमित।

नैरयिक आदि की स्वयं उत्पत्ति—

५३. [१] सयं भंते ! नेरइया नेरइएसु उववज्जंति ? असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति ?

गंगेया ! सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, नो असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति।

[५३-१ प्र.] हे भगवन् ! क्या नैरयिक, नैरयिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं या अस्वयं उत्पन्न होते हैं ?

---

१. देखिए—भगवती सूत्र श. ५, उ. ४, सू. ४-२ में

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५५

[५३-१ उ.] गांगेय ! नैरयिक, नैरयिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव उववज्जंति ?

गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मगुरुसंभारियत्ताए, असुभाणं कम्माणं उदएणं, असुभाणं कम्माणं विवागेणं, असुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, नो असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, से तेणट्ठेणं गंगेया ! जाव उववज्जंति।

[५३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं कि यावत् अस्वयं नहीं उत्पन्न होते ?

[५३-२ उ.] गांगेय ! कर्म के उदय से, कर्मों की गुरुता के कारण, कर्मो के भारीपन से, कर्मों के अत्यन्त गुरुत्व और भारीपन से, अशुभ कर्मो के उदय से, अशुभ कर्मो के विपाक से तथा अशुभ कर्मो के फलपरिपाक से, नैरयिक, नैरयिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं (परप्रेरित) उत्पन्न नहीं होते। इसी कारण से हे गांगेय ! यह कहा गया है कि नैरयिक नैरयिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते।

विवेचन—नैरयिकों आदि की स्वयं उत्पत्ति—रहस्य और कारण—प्रस्तुत पांच सूत्रों (५३ से ५७ तक) में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डकों के जीवों की स्वयं उत्पत्ति बताई गई है, अस्वयं यानी पर-प्रेरित नहीं। इस सैद्धान्तिक कथन का रहस्य यह है, कतिपय मतावलम्बी मानते हैं कि '**यह जीव अज्ञ है, अपने लिए सुख-दुःख उत्पन्न करने में असमर्थ है। ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।** जैनसिद्धान्त से विपरीत इस मत का यहाँ खण्डन हो जाता है, क्योंकि जीव कर्म करने में जैसे स्वतंत्र है, उसी प्रकार कर्मो का फल भोगने के लिए वह स्वयं स्वर्ग या नरक में जाता है, किन्तु ईश्वर के भेजने से नहीं जाता।'[1]

५४. [१] सयं भंते ! असुरकुमारा० पुच्छा।

गंगेया ! सयं असुरकुमारा जाव उववज्जंति, नो असयं असुरकुमारा जाव उववज्जंति।

[५४-१ प्र.] भंते ! असुरकुमार, असुरकुमारों में स्वयं उत्पन्न होते हैं या अस्वयं ? इत्यादि पृच्छा।

[५४-१ उ.] गांगेय ! असुरकुमार असुरकुमारों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते।

[२] से केणट्ठेणं तं चेव जाव उववज्जंति ?

गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मविगतीए कम्मविसोहीए कम्मविसुद्धीए, सुभाणं कम्माणं उदएणं, सुभाणं कम्माणं विवागेणं, सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए उववज्जंति, नो असयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए उववज्जंति। से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। एवं जाव थणियकुमारा।

---

१. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५५।

[५४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है कि यावत् अस्वयं उत्पन्न नहीं होते ?

[५४-२ उ.] हे गांगेय ! कर्म के उदय से, (अशुभ) कर्म के अभाव से, कर्म की विशोधि से, कर्मों की विशुद्धि से, शुभ कर्मों के उदय से, शुभ कर्मो के विपाक से, शुभ कर्मो के फलविपाक से असुरकुमार, असुरकुमारों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते । इसलिए हे गांगेय ! पूर्वोक्त रूप से कहा गया है । इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

५५. [१] सयं भंते ! पुढविक्काइया० पुच्छा ।

गंगेया ! सयं पुढविकाइया जाव उववज्जंति, नो असयं पुढविक्काइया जाव उववज्जंति ।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकायिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, या अस्वयं उत्पन्न होते हैं ?

[५५-१ उ.] गांगेय ! पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकायिकों में स्वयं यावत् उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव उववज्जंति ?

गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मगुरुसंभारित्ताए, सुभासुभाणं कम्माणं उदएणं, सुभासुभाणं कम्माणं विवागेणं, सुभासुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं पुढविकाइया जाव उववज्जंति, नो असयं पुढविकाइया जाव उववज्जंति । से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति ।

[५५-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि पृथ्वीकायिक स्वयं उत्पन्न होते हैं, इत्यादि ?

[५५-२ उ.] गांगेय ! कर्म के उदय से, कर्मों की गुरुता से, कर्म के भारीपन से, कर्म के अत्यन्त गुरुत्व और भारीपन से, शुभाशुभ कर्मो के उदय से, शुभाशुभ कर्मो के विपाक से, शुभाशुभ कर्मों के फल-विपाक से पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते । इसलिए हे गांगेय ! पूर्वोक्त रूप से कहा गया है ।

५६. एवं जाव मणुस्सा ।

[५६] इसी प्रकार यावत् मनुष्य तक जानना चाहिए ।

५७. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा । से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ— सयं वेमाणिया जाव उववज्जंति, नो असयं जाव उववज्जंति ।

[५७] जिस प्रकार असुरकुमारों के विषय में कहा, उसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में भी जानना चाहिए । इसी कारण से, हे गांगेय ! मैं ऐसा कहता हूँ कि यावत् वैमानिक, वैमानिकों में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अस्वयं उत्पन्न नहीं होते ।

जीवों की नारक, देव आदि रूप में स्वयं उत्पत्ति के कारण—(१) कर्मोदयवश, (२) कर्मो की गुरुता से, (३) कर्मों के भारीपन से, (४) कर्मों के गरुत्व और भारीपन की अतिप्रकर्षावस्था से.

(५) कर्मों के उदय से, (६) विपाक से (यानी कर्मों के फलभोग) से, अथवा यथाबद्ध रसानुभूति से, फलविपाक से-रस की प्रकर्षता से ।[1]

उपर्युक्त शब्दों में किञ्चित् अर्थभेद है अथवा ये शब्द एकार्थक हैं। अर्थ के प्रकर्ष को बतलाने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।[2]

भगवान् के सर्वज्ञत्व पर श्रद्धा और पंचमहाव्रत धर्म-स्वीकार—

५८. तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वण्णू सव्वदरिसी ।

[५८] तब से अर्थात् इन प्रश्नोत्तरों के समय से गांगेय अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में पहचाना।

५९. तए णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतियं चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं एवं जहा कालासवेसियपुत्तो (स० १ उ० ९ सु० २३-२४)[3] तहेव भाणियव्वं जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ गंगेयो समत्तो ॥९. ३२॥

[५९] इसके पश्चात् गांगेय अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन नमस्कार किया। उसके बाद इस प्रकार निवेदन किया—

भगवन् ! मैं आपके पास चातुर्यामरूप धर्म से (-धर्म के बदले) पंचमहाव्रतरूप धर्म को अंगीकार करना चाहता हूँ। इस प्रकार सारा वर्णन प्रथम शतक के नौवें उद्देशक में कथित कालास्य-वेषिकपुत्र अनगार के समान जानना चाहिए। यावत् गांगेय अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदुःखों से रहित बने।

हे भगवन् यह इसी प्रकार है ! हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है !

विवेचन—भगवान् के सर्वज्ञत्व पर श्रद्धा और पंचमहाव्रत धर्म का स्वीकार—प्रस्तुत दो सूत्रों (५८-५९) में यह प्रतिपादन किया गया है कि जब गांगेय अनगार को भगवान् के सर्वज्ञत्व एवं सर्व-दर्शित्व पर विश्वास हो गया, तब उन्होंने भगवान् से चातुर्यामधर्म के स्थान पर पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार किया और क्रमशः सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

॥ नवम शतकः बत्तीसवाँ उद्देशक समाप्त ॥ □□

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५५

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४५५

३. भगवतीसूत्र श. १, उ. ९, सू. २३-२४ में देखिये।

तेत्तीसइमो उद्देसो : तेतीसवाँ उद्देशक

कुंडग्गामे : कुण्डग्राम

ऋषभदत्त और देवानन्दा

संक्षिप्त परिचय—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं माहणकुंडग्गामे नयरे होत्था। वण्णओ। बहुसालए चेतिए। वण्णओ।

[१] उस काल और उस समय में ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर था। उसका वर्णन नगर-वर्णन के समान समझ लेना चाहिए। वहाँ बहुशाल नामक चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन भी (औपपातिकसूत्र से) करना चाहिए।

२. तत्थ णं माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्ते नामं माहणे परिवसति—अड्ढे दित्ते वित्ते जाव[1] अपरिभूए। रिउवेद-जजुवेद-सामवेद-अथव्वणवेद जहा खंदओ (स० २ उ० १ सु० १२) जाव अन्नेसु य बहुसु बंभण्णएसु नएसु सुपरिनिट्ठिए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्ण-पावे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[२] उस ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर में ऋषभदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। वह आढ्य (धनवान्), दीप्त (तेजस्वी), प्रसिद्ध, यावत् अपरिभूत था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद में निपुण था। (शतक २, उद्देशक १, सू. १२ में कथित) स्कन्दक तापस की तरह वह भी ब्राह्मणों के अन्य वहुत से नयों (शास्त्रों) में निष्णात था। वह श्रमणों का उपासक, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता, पुण्य-पाप के तत्त्व को उपलब्ध (हृदयंगम किया हुआ), यावत् आत्मा को भावित करता हुआ विहरण (जीवन-यापन) करता था।

३. तस्स णं उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदा नामं माहणी होत्था, सुकुमालपाणि-पाया जाव पियदंसणा सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा जाव विहरइ।

[३] उस ऋषभदत्त ब्राह्मण की देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी (धर्मपत्नी) थी। उसके हाथ-पैर सुकुमाल थे, यावत् उसका दर्शन भी प्रिय था। उसका रूप सुन्दर था। वह श्रमणोपासिका थी, जीव-अजीव आदि तत्त्वों की जानकार थी तथा पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध की हुई थी, यावत् विहरण करती थी।

विवेचन—ब्राह्मणकुण्ड—यह 'क्षत्रियकुण्ड' के पास ही कोई कस्बा था। ब्राह्मणों की वस्ती अधिक होने से इसका नाम ब्राह्मणकुण्ड पड़ गया।[2]

---

१. जाव पद से सूचित पाठ—'विच्छिन्नविउलभवण-सयणासण जाव वाहणाइन्ने' इत्यादि।

२. भगवतीसूत्र तृतीय खण्ड (गुजरात विद्यापीठ) पृ. १६२

ऋषभदत्त ब्राह्मणधर्मानुयायी था या श्रमणधर्मानुयायी ?—इस वर्णन से ज्ञात होता है कि ऋषभदत्त पहले ब्राह्मण-संस्कृति का अनुगामी था, इसी कारण उसे चारों वेदों का ज्ञाता तथा अन्य अनेक ब्राह्मणग्रन्थों का विद्वान् बताया है। किन्तु बाद में भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय मुनियों के सम्पर्क से वह श्रमणोपासक बना। श्रमणधर्म का तत्त्वज्ञ हुआ।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—**परिवसइ**=निवास करता था, रहता था। **वित्त**=प्रसिद्ध। **अपरिभूए**-अपरिभूत=किसी से नहीं दबने वाला, दबंग। **बंभण्णएसु**=ब्राह्मण-संस्कृति की नीति (धर्म) में। **सुपरिणिट्ठिए**=परिपक्व, मँजा हुआ।[2]

भगवान् की सेवा में वन्दना-पर्युपासनादि के लिए जाने का निश्चय—

४. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा जाव पज्जुवासति।

[४] उस काल और उस समय में (श्रमण भगवान् महावीर) स्वामी वहाँ पधारे। समवसरण लगा। परिषद् यावत् पर्युपासना करने लगी।

५. तए णं से उसभदत्ते माहणे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ जाव हियए जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता देवाणंदं माहणिं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं जाव सुहंसुहेणं विहरमाणे जाव बहुसालए चेइए अहापडिरूवं जाव विहरति। तं महाफलं खलु देवाणुप्पिए! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नाम-गोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासण-याए? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो जाव पज्जुवासामो। एयं णं इहभवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।

[५] तदनन्तर इस (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पदार्पण की) बात को सुनकर वह ऋषभदत्त ब्राह्मण अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुआ, यावत् हृदय में उल्लसित हुआ और जहाँ देवानन्दा ब्राह्मणी थी, वहाँ आया और उसके पास आकर इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये! धर्म की आदि करने वाले यावत् सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर आकाश में रहे हुए चक्र से युक्त यावत् सुखपूर्वक विहार करते हुए यहाँ पधारे हैं, यावत् बहुशालक नामक चैत्य (उद्यान) में योग्य अवग्रह ग्रहण करके यावत् विचरण करते हैं। हे देवानुप्रिये! उन तथारूप अरिहन्त भगवान् के नाम-गोत्र के श्रवण से भी महाफल प्राप्त होता है, तो उनके सम्मुख जाने, वन्दन-नमस्कार करने, प्रश्न पूछने और पर्युपासना करने आदि से होने वाले फल के विषय में तो कहना ही क्या! एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन के श्रवण से महान् फल होता है, तो फिर विपुल अर्थ को ग्रहण करने से महाफल हो, इसमें तो कहना ही क्या है! इसलिए हे देवानुप्रिये! हम चलें और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमन करें यावत् उनकी पर्युपासना करें। यह कार्य हमारे लिए इस भव में तथा परभव में

---

१. भगवतीसूत्र : अर्थागम (हिन्दी) द्वितीय खण्ड पृ. ८३९

२. भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. १६९०

हित के लिए, सुख के लिए, क्षमता (—संगतता) के लिए, निःश्रेयस के लिए और आनुगामिकता (—शुभ अनुबन्ध) के लिए होगा।

६. तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ जाव हियया करयल जाव कट्टु उसभदत्तस्स माहणस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ।

[६] तत्पश्चात् ऋषभदत्त ब्राह्मण से इस प्रकार का कथन सुन कर देवानन्दा ब्राह्मणी हृदय में अत्यन्त हर्षित यावत् उल्लसित हुई और उसने दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर अंजलि करके ऋषभदत्त ब्राह्मण के कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया।

विवेचन—भगवान् महावीर की सेवा में दर्शन-वन्दनादि के लिए जाने का निश्चय—प्रस्तुत सू. ४ से ६ तक में भगवान् महावीर का ब्राह्मणकुण्ड में पदार्पण, ऋषभदत्त द्वारा हर्षित होकर देवानन्दा को शुभ समाचार सुनाया जाना तथा भगवान् के नाम-गोत्र श्रवण, अभिगमन, वन्दन-नमन, पृच्छा, पर्युपासना, वचनश्रवण, ग्रहण आदि का माहात्म्य एवं फल बताकर दर्शन-वन्दनादि के लिए जाने का विचार प्रस्तुत करना, तथा इस कार्य को हितकर, सुखकर, श्रेयस्कर एवं परम्परानुगामी बताना; यह सब सुनकर देवानन्दा द्वारा हर्षित होकर सविनय समर्थन एवं दर्शन-वन्दनादि के लिए जाने का दोनों का निश्चय क्रमशः प्रतिपादित किया गया है।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे=यह (—श्रमण भगवान् महावीर के कुण्डग्राम में पदार्पण की) बात जान कर। **हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया**=अत्यन्त हृष्ट—प्रसन्न, सन्तुष्ट-चित्त एवं आनन्दित। **आगासगएणं चक्केणं**=आकाशगत चक्र(धर्मचक्र) से युक्त। **अहापडिरूवं**=अपने कल्प के अनुरूप। **खमाए**=क्षमता—संगतता के लिए। **आणुगामियत्ताए**=आनुगामिकता अर्थात्—परम्परा से चलने वाले शुभ अनुबन्ध के लिए।[2]

ब्राह्मणदम्पती की दर्शनवन्दनार्थ जाने की तैयारी—

७. तए णं से उसभदत्ते माहणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ कोडुंबियपुरिसे सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्त-जोइय-समखुर-वालिधाण-समलिहियसिंगएहिं जंबूणयामयकलावजुत्तपइविसिट्ठएहिं रययामयघंटसुत्तरज्जुयवरकंचणनत्थपग्गहोग्गहियएहिं नीलुप्पल-कयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणिरयणघंटियाजालपरिगयं सुजायजुगजोत्तरज्जुयजुगपसत्थ-सुविरचितनिम्मियं पवरलक्खणोववेयं धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाण-त्तियं पच्चप्पिणह।

[७] तत्पश्चात् उस ऋषभदत्त ब्राह्मण ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया और इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! शीघ्र चलने वाले, प्रशस्त, सदृशरूप वाले, समान खुर और पूंछ वाले, एक समान सींग वाले, स्वर्णनिर्मित कलापों (आभूषणों) से युक्त, उत्तम गति (चाल) वाले, चांदी की घंटियों से युक्त, स्वर्णमय नाथ (नासारज्जु) द्वारा बांधे हुए, नील कमल की कलंगी वाले दो उत्तम युवा

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) भा. १, पृ. ४५०

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५९ (ख) भगवती. खण्ड ३ (गु. विद्यापीठ), पृ. १६२

बैलों से युक्त, अनेक प्रकार की मणिमय घंटियों के समूह से व्याप्त, उत्तम काष्ठमय जुए (धूसर) और जोत की उत्तम दो डोरियों से युक्त, प्रवर (श्रेष्ठ) लक्षणों से युक्त धार्मिक श्रेष्ठ यान (रथ) शीघ्र तैयार करके यहाँ उपस्थित करो और इस आज्ञा को वापिस करो अर्थात् इस आज्ञा का पालन करके मुझे सूचना करो।

८. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयल० एवं वयासी—सामी ! 'तह' त्ताणाए विणएणं वयणं जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरण-जुत्त० जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेत्ता जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

[८] जब ऋषभदत्त ब्राह्मण ने उन कौटुम्बिक पुरुषों को इस प्रकार कहा, तब वे उसे सुन कर अत्यन्त हर्षित यावत् हृदय में आनन्दित हुए और मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—स्वामिन् ! आपकी यह आज्ञा हमें मान्य है—तथाऽस्तु (ऐसा ही होगा) । इस प्रकार कह कर विनयपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार किया और (ऋषभदत्त की आज्ञानुसार) शीघ्र ही द्रुतगामी दो बैलों से युक्त यावत् श्रेष्ठ धार्मिक रथ को तैयार करके उपस्थित किया; यावत् उनकी आज्ञा के पालन की सूचना दी।

९. तए णं से उसभदत्ते माहणे ण्हाए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ पडिनिक्खमति, साओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढे।

[९] तदनन्तर वह ऋषभदत्त ब्राह्मण स्नान यावत् अल्पभार (कम वजन के) और महामूल्य वाले आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत किये हुए अपने घर से बाहर निकला। घर से बाहर निकल कर जहाँ बाहरी उपस्थानशाला थी और जहाँ श्रेष्ठ धार्मिक रथ था, वहाँ आया। आकर उस रथ पर आरूढ़ हुआ।

१०. तए णं सा देवाणंदा माहणी[1] ण्हाया जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं जाव[2] अंतेउराओ निग्गच्छति; अंतेउराओ निग्गच्छित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता जाव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा।

---

१. वाचनान्तर में देवानन्दा-वर्णक—'अंतो अंतेउरंसि ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता वरपादपत्तने-उरमणिमेहलाहाररइयउचियकडगखुड्डागएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगणाणामणिरयणभूसणविराइयंगी चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया वरचंदणवंदिया वराभरण-भूसियंगी कालागुरुधूवधूविया सिरीसमाणवेसा।' अ. वृत्ति पत्रांक ४५९.

२. 'जाव' पद से निम्नलिखित पाठ समझना चाहिए—वामणियाहिं वडहियाहिं बब्बरियाहिं पओसियाहिं ईसिगणियाहिं वासगणियाहिं जोण्हि ('जोणि'प्रत्य०) याहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिं लउसियाहिं आरबीहिं दमिलाहिं सिंहलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं नाणादेसिविदेसपरिपिंडियाहिं सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं कुसलाहिं विणीयाहिं, युक्ता इति गम्यते।

[१०] तब देवानन्दा ब्राह्मणी ने भी (अन्तःपुर में) स्नान किया, यावत् अल्पभार वाले महामूल्य आभूषणों से शरीर को सुशोभित किया। फिर बहुत सी कुब्जा दासियों तथा चिलात देश की दासियों के साथ यावत् अन्तःपुर से निकली। अन्तःपुर से निकल कर जहाँ बाहर की उपस्थानशाला थी और जहाँ श्रेष्ठ धार्मिक रथ खड़ा था, वहाँ आई। उस श्रेष्ठ धार्मिक रथ पर आरूढ़ हुई।

विवेचन—भगवान् के दर्शन-वन्दनादि के लिए जाने की तैयारी—प्रस्तुत सू. ७ से १० तक चार सूत्रों में क्रमशः कौटुम्बिक पुरुषों को श्रेष्ठ धार्मिक रथ को तैयार करके शीघ्र उपस्थित करने की आज्ञा दी, उन्होंने आज्ञा शिरोधार्य की और शीघ्र धार्मिक रथ तैयार करके प्रस्तुत किया।

तदनन्तर ऋषभदत्त ब्राह्मण तथा देवानन्दा ब्राह्मणी पृथक्-पृथक् स्नानादि से निवृत्त होकर वेशभूषा से सुसज्जित हुए और धार्मिक रथ में बैठे।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—कोडुंबियपुरिसा=कौटुम्बिक पुरुष (सेवक या कर्मचारी)। **सद्दावेइ**=बुलाए। **खिप्पामेव**=शीघ्र ही। **लहुकरणजुत्ता**=शीघ्र गति करने वाले उपकरणों-साधनों से युक्त। **समखुर-वालिधाण**=समानखुर और पूंछ वाले। **समलिहियसिंगे**=समान चित्रित सींगोंवाले। **जंबूणयमयकलावजुत्त**=जाम्बुनद-स्वर्ण से बने हुए कलापों व कण्ठ के आभूषणों से युक्त। **परिविसिट्ठेहिं**=प्रतिविशिष्ट—प्रधानरूप से फुर्तीले। **रययामयघंट**=चांदी की घंटियों से युक्त। **सुत्तरज्जुयवरकंचणनत्थपग्गहोग्गहियएहिं**=सोने के डोरी (सूत्र) की नाथ (नासारज्जु) से बंधे हुए। **णीलुप्पलकयामेलएहिं**=नील कमल की कलंगी से युक्त। **पवरगोणजुवाणएहिं**=जवान श्रेष्ठ बैलों से। **सुजायजुगजोत्तरज्जुयजुगपसत्थ-सुविरचितनिम्मियं**=उत्तम काष्ठ के जुए और जोत की रस्सियों से सुनियोजित। **पवरलक्खणोववेयं**=उत्कृष्ट लक्षणों से युक्त। **जुत्तामेव**=जोत कर। **उवट्ठवेह**=उपस्थित करो। **एयमाणत्तियं**=इस आज्ञा को। **पच्चप्पिणह**=प्रत्यर्पण करो-वापिस लौटाओ। **तहत्ति**=तथास्तु-ऐसा ही होगा। **खुज्जाहिं**-कुब्जा दासियों के साथ। **चिलाइयाहिं**=चिलात (किरात) देश में उत्पन्न दासियों के साथ।[2]

११. तए णं से उसभदत्ते माहणे देवाणंदाए माहणीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढे समाणे णियगपरियालसंपरिवुडे माहणकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता छत्तादीए तित्थकरातिसए पासइ, २ धम्मियं जाणप्पवरं ठवेइ, ठवेत्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, २ समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए एवं जहा बिइयसए (स० २ उ० ५ सु० १४) जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ।

[११] इसके पश्चात् वह ऋषभदत्त ब्राह्मण देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ श्रेष्ठ धार्मिक रथ पर चढा हुआ अपने परिवार से परिवृत्त होकर ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर के मध्य में होता हुआ

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) भा. १, पृ. ४५२
२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४५९
(ख) भगवती. तृतीय खण्ड (गुजरात विद्यापीठ), पृ. १६३

निकला और वहुशालक नामक उद्यान में आया। वहाँ तीर्थंकर भगवान् के छत्र आदि अतिशयों को देखा। देखते ही उसने श्रेष्ठ धार्मिक रथ को ठहराया और उस श्रेष्ठ धर्म-रथ से नीचे उतरा।

रथ से उतर कर वह श्रमण भगवान् महावीर के पास पांच प्रकार के अभिगमपूर्वक गया। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—(१) सचित्त द्रव्यों का त्याग करना इत्यादि; द्वितीय शतक (के पंचम उद्देशक सू. १४) में कहे अनुसार यावत् तीन प्रकार की पर्युपासना से उपासना करने लगा।

१२. तए णं सा देवाणंदा माहणी धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता० बहुयाहिं खुज्जाहिं जाव[1] महत्तरगवंदपरिक्खित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविमोयणयाए २ विणयोणयाए गायलट्ठीए ३ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं ४ मणस्स एगत्तीभावकरणेणं ५। जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता उसभदत्तं माहणं पुरओ कट्टु ठिया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी णमंसमाणी अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ।

[१२] तदनन्तर वह देवानन्दा ब्राह्मणी भी धार्मिक उत्तम रथ से नीचे उतरी और अपनी वहुत-सी दासियों आदि यावत् महत्तरिका-वृन्द से परिवृत हो कर श्रमण भगवान् महावीर के सम्मुख पंचविध अभिगमपूर्वक जाने लगी। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—(१) सचित्त द्रव्यों का त्याग करना, (२) अचित्त द्रव्यों का त्याग न करना, अर्थात् वस्त्र आदि को व्यवस्थित ढंग से धारण करना, (३) विनय से शरीर को अवनत करना (नीचे झुकाना), (४) भगवान् के दृष्टिगोचर होते ही दोनों हाथ जोड़ना, (५) मन को एकाग्र करना। इन पांच अभिग्रहों द्वारा जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ वह आई और उसने भगवान् को तीन वार आदक्षिण (दाहिनी ओर से) प्रदक्षिणा की, फिर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार के वाद ऋषभदत्त ब्राह्मण को आगे करके अपने परिवार सहित शुश्रूपा करती हुई, नमन करती हुई, सम्मुख खड़ी रह कर विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर उपासना करने लगी।

विवेचन—पांच अभिगम क्या और क्यों?—त्यागी महापुरुषों के पास जाने की एक विशिष्ट मर्यादा को शास्त्रीय परिभापा में अभिगम कहते हैं। वे पाँच प्रकार के हैं परन्तु स्त्री और पुरुष के लिए तीसरे अभिगम में अन्तर है। श्रावक के लिए है—एक पट वाले दुपट्टे का उत्तरासंग करना, जवकि श्राविका के लिए है—विनय से शरीर को झुकाना। साधु-साध्वियों के पास जाने के लिए इन पांच अभिगमों का पालन करना आवश्यक है।[2]

देवानन्दा की मातृवत्सलता और गौतम का समाधान—

१३. तए णं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया पप्फुयलोयणा संवरियवलयबाहा कंचुयपरिक्खित्तिया धाराहयकलंबगं पिव समूससियरोमकूवा समणं भगवं महावीरं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी देहमाणी चिट्ठति।

---

१. 'जाव' पद से यह पाठ—**चेडियाचक्कवालवरिसधर-थेरकंचुइज्ज-महत्तरयवंदपरिक्खित्ता।**

२. भगवती भा ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७००

[१३] तदनन्तर उस देवानन्दा ब्राह्मणी के पाना चढ़ा (अर्थात्—उसके स्तनों में दूध आ गया)। उसके नेत्र हर्षाश्रुओं से भीग गए। हर्ष से प्रफुल्लित होती हुई उसकी वाहों को वलयों ने रोक लिया। (अर्थात्—उसकी भुजाओं के कड़े—वाजूवंद तंग हो गए)। हर्षातिरेक से उसकी कञ्चुकी (कांचली) विस्तीर्ण हो गई। मेघ की धारा से विकसित कदम्वपुष्प के समान उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया। फिर वह श्रमण भगवान् महावीर को अनिमेष दृष्टि से (टकटकी लगाकर) देखती रही।

१४. 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—किं णं भंते ! एसा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया तं चेव जाव रोमकूवा देवाणुप्पियं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी देहमाणी चिट्ठइ ? 'गोयमा !' दि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा, अहं णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए। तेणं एसा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समूससियरोमकूवा ममं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी देहमाणी[1] चिट्ठइ।

[१४] (यह देखकर) भगवान् गौतम ने, 'भगवन् !' यों कह कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन नमस्कार किया। उसके पश्चात् इस प्रकार [प्रश्न] पूछा—भन्ते ! इस देवानन्दा ब्राह्मणी के स्तनों से दूध कैसे निकल आया ? यावत् इसे रोमांच क्यों हो आया ? और यह आप देवानुप्रिय को अनिमेष दृष्टि से देखती हुई क्यों खड़ी है ?

[उ.] 'गौतम !' यों कह कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—हे गौतम ! देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है। मैं देवानन्दा का आत्मज (पुत्र) हूँ। इसलिए देवानन्दा को पूर्व-पुत्रस्नेहानुरागवश दूध आ गया, यावत् रोमाञ्च हुआ और यह मुझे अनिमेष दृष्टि से देख रही है।

विवेचन—देवानन्दा माता और पुत्रस्नेह—भगवान् महावीर को देखते ही देवानन्दा के स्तनों से दुग्धधारा फूट निकली, रोमांच हो गया। हर्ष से नेत्र प्रफुल्लित हो गए और वह भगवान् महावीर की ओर अपलक दृष्टि से देखने लगी। इस विषय की गौतमस्वामी की शंका का समाधान करते हुए भगवान् ने रहस्योद्घाटन किया—देवानन्दा मेरी माता है। प्रथम गर्भाधानकाल में मैं उसके गर्भ में रहा, इसलिए पुत्रस्नेह रूप अनुरागवश यह सब होना स्वाभाविक है।[2]

कठिन शब्दों का अर्थ—आगयपण्हया—आगतप्रश्रवा = स्तनों में दूध आ गया। **पप्फुयलोयणा-प्रस्फुटितलोचना** = हर्ष से नयन विकसित हो गए। **संवरियवलयबाहा** = हर्ष से फूलती हुई बांहों को वाजूबंदों ने रोका। **कंचुयपरिक्खित्ता** = कंचुकी विस्तृत हो गई। **धाराहयकलंबगंपिव** = मेघधारा से विकसित कदम्वपुष्प के समान। **समूससियरोमकूवा** = रोमकूप विकसित हो गए। **अम्मगा**—अम्मा = माता। **अत्तए** = आत्मज—पुत्र। **देहमाणी** = देखती हुई।[3]

---

१. 'देहमाणी' के वदले 'पेहमाणी' पाठ अन्तकृत् आदि शास्त्रों में अधिक प्रचलित है। अर्थ दोनों का समान है।

२. भगवती. भा. ४ (पं घेव०), पृ. १७००

३. भगवती. अ. वृत्ति., पत्र ४६०

ऋषभदत्त द्वारा प्रव्रज्याग्रहण एवं निर्वाणप्राप्ति—

१५. तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदाए य माहणीए तीसे य महतिमहालियाए इसिपरिसाए जाव[1] परिसा पडिगया।

[१५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी तथा उस अत्यन्त बड़ी ऋषिपरिषद् आदि को धर्मकथा कही; यावत् परिषद् वापस चली गई।

१६. तए णं से उसभदत्ते माहणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आया० जाव नमंसित्ता एवं वयासी—'एवमेयं भंते! तहमेयं भंते!' जहा खंदओ (स० २ उ० १ सु० ३४) जाव 'से जहेयं तुब्भे वदह' त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमित्ता सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुयइ, सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव नमंसित्ता एवं वयासी—आलित्ते[2] णं भंते! लोए, पलित्ते णं भंते! लोए, एवं जहा खंदओ (स० २ उ० १ सु० ३४) तहेव पव्वइओ जाव सामाइय-माइयाइं इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ जाव बहूहिं चउत्थ-छट्ठ-ऽट्ठम-दसम जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणइ, पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेति, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावो जाव तमट्ठं आराहेइ, २ जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।

[१६] इसके पश्चात् वह ऋषभदत्त ब्राह्मण, श्रमण भगवान् महावीर के पास धर्म-श्रवण कर और उसे हृदय में धारण करके हर्षित और सन्तुष्ट होकर खड़ा हुआ। खड़े होकर उसने श्रमण भगवान् महावीर की तीन वार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, यावत् वन्दन-नमन करके इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन्! आपने कहा, वैसा ही है, आपका कथन यथार्थ है भगवन्!' इत्यादि (दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक सू. ३४ में) स्कन्दक तापस-प्रकरण में कहे अनुसार; यावत्—'जो आप कहते हैं, वह उसी प्रकार है।' इस प्रकार कह कर वह (ऋषभदत्त ब्राह्मण) ईशान कोण (उत्तरपूर्व दिशा भाग) में गया। वहाँ जा कर उसने स्वयमेव आभूषण, माला और अलंकार उतार दिये। फिर स्वयमेव पंचमुष्टि केशलोच किया और श्रमण भगवान् महावीर के पास आया। भगवान् की तीन वार प्रदक्षिणा की, यावत् नमस्कार करके इस प्रकार कहा—भगवन्! (जरा और मरण से) यह लोक चारों ओर से प्रज्वलित हो रहा है, भगवन्! यह लोक चारों ओर से अत्यन्त जल रहा है, इत्यादि

---

१. 'जाव' पद से यहाँ—'मुणिपरिसाए, जइपरिसाए, अणेगसयाए अणेगसयविंदपरिवाराए,' इत्यादि पाठ समझना चाहिए।

२. पाठान्तर—'आलित्तपलित्ते णं भंते! लोए जराए मरणेण य, एवं एएणं कमेणं इमं जहा खंदओ'।

कह कर (द्वितीय शतक, प्रथम उद्देशक, सू. ३४ में) जिस प्रकार स्कन्दक तापस की प्रव्रज्या का प्रकरण है, तदनुसार (ऋषभदत्त ब्राह्मण ने) प्रव्रज्या ग्रहण की, यावत् सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, यावत् बहुत-से उपवास (चतुर्थभक्त), बेला (षष्ठभक्त), तेला (अष्टमभक्त), चौला (दशमभक्त) इत्यादि विचित्र तप:कर्मों से आत्मा को भावित करते हुए, बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय (श्रमण-दीक्षा) का पालन किया और (अन्त में) एक मास की संल्लेखना में आत्मा को संलिखित करके साठ भक्तों का अनशन से छेदन किया और ऐसा करके जिस उद्देश्य से नग्नभाव (निर्ग्रन्थत्व-संयम) स्वीकार किया, यावत् उस निर्वाण रूप अर्थ की आराधना कर ली, यावत् वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त एवं सर्वदु:खों से रहित हुए।

विवेचन—भगवान् का धर्मोपदेश—श्रवण एवं दीक्षाग्रहण—सू. १५-१६ में भगवान् की धर्मकथा सुनकर संसारविरक्त होकर ऋषभदत्त के द्वारा दीक्षाग्रहण, शास्त्राध्ययन, तपश्चरण, और अन्त में संल्लेखना—संथारापूर्वक, समाधिमरण की आराधनापूर्वक सिद्ध-बुद्ध-मुक्तदशा की प्राप्ति। यह जीवन का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—इसिपरिसाए—क्रान्तदर्शी साधक मुनियों की सभा; ज्ञानी होते हैं, वे ऋषि हैं।[2] **आलित्ते पलित्ते**—आदीप्त=चारों ओर से जल रहा है; प्रदीप्त=विशेष रूप से जल रहा है। **सामण्णपरियायं**=श्रमणत्व-दीक्षा को। **अत्ताणं झूसित्ता**=अपनी आत्मा पर आए हुए कर्मावरणों को भस्म करके आत्मा को शुद्ध करके अथवा संल्लेखना से आत्मा के साथ लगे हुए कषायों को कृश करके। **सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता**=साठ टंक के चतुर्विध आहाररूप भोजन के त्याग के रूप में अनशन (यावज्जीवन आहारत्याग) से छेदन (कर्मों को छिन्न-भिन्न करके या मोहनीयादि घाति-अघाति सर्व कर्मों का क्षय) करके। **नग्गभाव**=नग्नभाव का तात्पर्य निर्ग्रन्थभाव है। **विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं**—विविध प्रकार की तपश्चर्याओं से।[3]

देवानन्दा द्वारा साध्वी-दीक्षा और मुक्ति-प्राप्ति—

१७. तए णं सा देवाणंदा माहणी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा० समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं जाव नमंसित्ता एवं वयासी—एवमेयं भंते !, तहमेयं भंते, एवं जहा उसभदत्तो (सु० १६) तहेव जाव धम्ममाइक्खियं।

[१७] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीरस्वामी से धर्म सुन कर एवं हृदयंगम करके वह देवानन्दा ब्राह्मणी अत्यन्त हृष्ट एवं तुष्ट (आनन्दित एवं सन्तुष्ट) हुई और श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार करके इस प्रकार बोली—भगवन् ! आपने

---

१. भगवती. (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ४५३

२. पश्यन्तीति ऋषयः ज्ञानिनः। भग. अ. वृ., पत्र ४६०

३. (क) भगवती. अ वृत्ति, पत्र ४६०
(ख) भगवती, भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७०२-१७०३

जैसा कहा है, वैसा ही है, भगवन् ! आपका कथन यथार्थ है । इस प्रकार जैसे ऋषभदत्त ने (सू.१६ में) प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए निवेदन किया था, वैसे ही विरक्त देवानन्दा ने भी निवेदन किया; यावत्—'धर्म कहा'; यहाँ तक कहना चाहिए ।

१८. तए णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदं माहणिं सयमेव पव्वावेति, सयमेव मुंडावेति, सयमेव अज्जचंदणाए अज्जाए सीसिणित्ताए दलयइ ।

[१८] तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने देवानन्दा ब्राह्मणी को स्वयमेव प्रव्रजित कराया, स्वयमेव मुण्डित कराया और स्वयमेव आर्यचन्दना आर्या को शिष्यारूप में सौंप दिया ।

१९ तए णं सा अज्जचंदणा अज्जा देवाणंदं माहणिं सयमेव पव्वावेति, सयमेव मुंडावेति, सयमेव सेहावेति, एवं जहेव उसभदत्तो तहेव अज्जचंदणाए अज्जाए इमं एयारूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं संपडिवज्जइ—तमाणाए तहा गच्छइ जाव संजमेणं संजमति ।

[१९] तत्पश्चात् आर्य चन्दना आर्या ने देवानन्दा ब्राह्मणी को स्वयं प्रव्रजित किया, स्वयंमेव मुण्डित किया और स्वयमेव उसे (संयम की) शिक्षा दी । देवानन्दा (नवदीक्षित साध्वी) ने भी ऋषभदत्त के समान इस प्रकार के धार्मिक (श्रमणधर्मपालन सम्बन्धी) उपदेश को सम्यक् रूप से स्वीकार किया और वह उनकी (आर्या चन्दनबाला की) आज्ञानुसार चलने लगी, यावत् संयम (-पालन) में सम्यक् प्रवृत्ति करने लगी ।

२०. तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ । सेसं तं चेव जाव सव्वदुक्खप्पहीणा ।

[२०] तदनन्तर आर्या देवानन्दा ने आर्य चन्दना आर्या से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया । शेष सभी वर्णन पूर्ववत् है; यावत् वह देवानन्दा आर्या सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त और समस्त दुःखों से रहित हुई ।

विवेचन—देवानन्दा: प्रव्रजित और मुक्त—ऋषभदत्त ब्राह्मण की तरह देवानन्दा को भी संसार से विरक्ति हुई, उसने भी भगवान् के समक्ष अपनी दीक्षाग्रहण की इच्छा व्यक्त की । योग्य समझ कर भगवान् ने उसे दीक्षा दी । साध्वी चन्दनबाला को शिष्या के रूप में सौंपी । आर्या चन्दना ने उसे शिक्षित किया, शास्त्राध्ययन कराया । देवानन्दा ने भी विविध तप किए और अन्त में संल्लेखना—संथारापूर्वक-समाधिपूर्वक शरीर त्याग किया और मुक्ति प्राप्त की ।

इस पाठ से श्रमण-संस्कृति का संयम एवं तप द्वारा कर्मक्षय करके मुक्त होने का सिद्धान्त स्पष्ट अभिव्यक्त होता है । वैदिक-संस्कृति-निरूपित, संयम में पुरुषार्थ किये विना ही भगवान् द्वारा स्वर्ग—मोक्ष प्रदान कर देने का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । (सू. १८ में) भगवान् महावीर द्वारा देवानन्दा को प्रव्रजित-मुण्डित करने के उपरान्त पुनः (सू. १९ में) आर्या चन्दना द्वारा प्रव्रजित-मुण्डित करने का उल्लेख स्पष्ट करता है कि भ. महावीर ने स्वयं प्रव्रजित-मुण्डित नहीं करके आर्या चन्दना से प्रव्रजित-मुण्डित कराया और उसे शिष्या के रूप में सौंपा । आर्या चन्दना ने भगवदाज्ञा से उसे प्रव्रजित-मुण्डित किया ।

जमालि-चरित

जमालि और उसका भोग-वैभवमय जीवन—

२१. तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स नगरस्स पच्चत्थिमेणं, एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे नामं नगरे होत्था। वण्णओ।

[२१] उस ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर से पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर था। उसका यहाँ वर्णन समझ लेना चाहिए।

२२. तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे नयरे जमाली नामं खत्तियकुमारे परिवसति, अड्ढे दित्ते जाव अपरिभूए उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसतिबद्धेहिं नाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवनच्चिज्जमाणे उवनच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे पाउस-वासारत्त-सरद-हेमंत-वसंत-गिम्हपज्जंते छप्पि उऊ जहाविभवेणं माणेमाणे माणेमाणे कालं गालेमाणे इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणे विहरइ।

[२२] उस क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर में जमालि नाम का क्षत्रियकुमार रहता था। वह आढ्य (धनिक), दीप्त (तेजस्वी) यावत् अपरिभूत था। वह जिसमें मृदंग वाद्य की स्पष्ट ध्वनि हो रही थी, बत्तीस प्रकार के नाटकों के अभिनय और नृत्य हो रहे थे, अनेक प्रकार की सुन्दर तरुणियों द्वारा सम्प्रयुक्त नृत्य और गुणगान (गायन) वार-वार किये जा रहे थे, उसकी प्रशंसा से भवन गुंजाया जा रहा था, खुशियां मनाई जा रही थीं, ऐसे अपने उच्च श्रेष्ठ प्रासाद-भवन में प्रावृट् (पावस), वर्षा, शरद, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म, इन छह ऋतुओं में अपने वैभव के अनुसार आनन्द (उत्सव) मनाता हुआ, समय बिताता हुआ, मनुष्यसम्बन्धी पांच प्रकार के इष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, वाले कामभोगों का अनुभव करता हुआ रहता था।

विवेचन—जमालि और उसका भोगमय जीवन—प्रस्तुत दो सूत्रों में जमालि कौन था, किस नगर का था, उसके पास वैभव और भोगसुखों का अम्बार किस प्रकार का लगा हुआ था, यह वर्णन किया गया है। 'जमालि' भगवान् महावीर का जामाता था, ऐसा उल्लेख तथा जमालि के माता-पिता के नाम का उल्लेख मूल में या वृत्ति में कहीं भी नहीं किया गया है।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—पच्चत्थिमेणं=पश्चिम दिशा में, **उप्पिं पासायवरगए**=ऊपर के या उन्नत (उच्च) श्रेष्ठ प्रासाद में रहता हुआ। **फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं**=मृदंग के मस्तक (सिर) पर अत्यन्त शीघ्रता से पीटने से स्पष्ट आवाज कर रहे थे। **उवनच्चिज्जमाणे**=नृत्य किये जा रहे थे। **उवगिज्जमाणे**=गीत गाए जा रहे थे। **उवलालिज्जमाणे**=प्रशंसा से फुलाया (लड़ाया) जा

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १ पृ ४५५

रहा था। **माणेमाणे**=मनाया जाता हुआ। **कालं गालेमाणे**=समय विताता हुआ। **बत्तीसतिबद्धेहिं नाडएहिं**=वत्तीस प्रकार के अभिनयों अथवा नाटक के पात्रों से सम्वद्ध नाटक।[1]

भगवान् का पदार्पण सुन कर दर्शन-वन्दनादि के लिए गमन—

२३. तए णं खत्तियकुंडग्गामे नगरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर जाव[2] बहुजणसद्दे इ वा जहा उववाइए जाव[3] एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आइगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स नगरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहापडिरूवं जाव[4] विहरइ। तं महप्फलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं जहा उववाइए जाव[5] एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नगरे जेणेव बहुसालए चेइए एवं जहा उववाइए जाव[6] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति।

२३. उस दिन क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर में शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क और चत्वर यावत् महापथ पर बहुत-से लोगों का कोलाहल हो रहा था, इत्यादि सारा वर्णन जिस प्रकार औपपातिकसूत्र में है, उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए; यावत् बहुत-से लोग परस्पर एक-दूसरे से इस प्रकार कह रहे थे, यावत् बता रहे थे कि 'देवानुप्रियो! आदिकर (धर्म-तीर्थ की आदि करने वाले) यावत् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर, इस ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर के बाहर बहुशाल नामक उद्यान (चैत्य) में यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके यावत् विचरते हैं। अतः हे देवानुप्रियो! तथारूप अरिहन्त भगवान् के नाम, गोत्र के श्रवण-मात्र से महान् फल होता है; इत्यादि वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए, यावत् वह जनसमूह तीन प्रकार की पर्युपासना करता है।

२४. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स तं महया जणसद्दं वा जाव जणसन्निवायं वा सुणमाणस्स वा पासमाणस्स वा अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव[7] समुप्पज्जित्था—किं णं अज्ज खत्तिय-

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६२

२. 'जाव' पद सूचित पाठ—'चउम्मुहमहापह-पहेसु'—अ. वृ.

३. औपपातिक सूत्र गत पाठ संक्षेप में—"जणवूहे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले ति वा जणुम्मी इ वा जणुक्कलिया इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ एवं भासइ।"

४. 'जाव' शब्द निर्दिष्ट पाठ—"उग्गहं ओगिण्हति, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे।"

५. 'जाव' शब्द सूचक पाठ—"नामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए?, एगस्स वि आयरियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो, एयं णे पेच्चभवे हियाए सुहाए खमाए णिस्सेअसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता एवं भोगा राइन्ना खत्तिया भडा अप्पेगइया वंदणवत्तियं एवं पूअणवत्तियं सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं कोउहलवत्तियं, अप्पेगइया 'जीयमेयं' ति कट्टु।"

६. 'जाव' शब्द सूचित पाठ—"तेणामेव उवागच्छंति, तेणामेव उवागच्छित्ता छत्ताइए तित्थयराइसए पासंति, जाण वाहणाइं ठाइंति।"

७. 'जाव' शब्द से सूचित पाठ—"चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे।"

कुंडग्गामे नगरे इंदमहे इ वा, खंदमहे इ वा, मुगुंदमहे इ वा, नागमहे इ वा, जक्खमहे इ वा, भूयमहे इ वा, कूवमहे इ वा, तडागमहे इ वा, नइमहे इ वा, दहमहे इ वा, पव्वयमहे इ वा, रुक्खमहे इ वा, चेइयमहे इ वा, थूभमहे इ वा, जं णं एए बहवे उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरव्वा खत्तिया खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता सेणावई २ पसत्थारो २ लेच्छई २ माहणा २ इब्भा २ जहा उववाइए जाव[1] सत्थवाहप्पभिइओ ण्हाया कयबलिकम्मा जहा उववाइए जाव निग्गच्छंति ? एवं संपेहेइ, एवं संपेहित्ता कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेति, कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेत्ता एवं वयासि—किं णं देवाणुप्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे नगरे इंदमहे इ वा जाव निग्गच्छंति ?

[२४] तब बहुत-से मनुष्यों के शब्द और उनका परस्पर मिलन (सन्निपात) सुन और देख कर उस क्षत्रियकुमार जमालि के मन में विचार यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ—'क्या आज क्षत्रियकुण्ड-ग्राम नगर में इन्द्र का उत्सव है ?, अथवा स्कन्दोत्सव है ?, या मुकुन्द (वासुदेव) महोत्सव है ? नाग का उत्सव है, यक्ष का उत्सव है, अथवा भूतमहोत्सव है ? या किसी कूप का, सरोवर का, नदी का या द्रह का उत्सव है ?, अथवा किसी पर्वत का, वृक्ष का, चैत्य का अथवा स्तूप का उत्सव है ?, जिसके कारण ये बहुत-से उग्र (उग्रकुल के क्षत्रिय), भोग (भोगकुल या भोजकुल के क्षत्रिय), राजन्य, इक्ष्वाकु (कुलीन), ज्ञातृ (कुलीन), कौरव्य क्षत्रिय, क्षत्रियपुत्र, भट (योद्धा), भटपुत्र, सेनापति, सेना-पतिपुत्र, प्रशास्ता एवं प्रशास्तृपुत्र, लिच्छवी (लिच्छवीगण के क्षत्रिय), लिच्छवीपुत्र, ब्राह्मण (माहण), ब्राह्मणपुत्र एवं इभ्य (श्रेष्ठी) इत्यादि औपपातिक सूत्र में कहे अनुसार यावत् सार्थवाह-प्रमुख, स्नान आदि करके यावत् बाहर निकल रहे हैं ?

इस प्रकार विचार करके उसने कंचुकीपुरुष (सेवक) को बुलाया और उससे पूछा—"हे देवानुप्रियो ! क्या आज क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के बाहर इन्द्र आदि का कोई उत्सव है, जिसके कारण यावत् ये सब लोग बाहर जा रहे हैं ?'

२५. तए णं से कंचुइज्जपुरिसे जमालिणा खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० समणस्स भगवओ महावीरस्स आगमणगहियविणिच्छए करयल० जमालिं खत्तियकुमारं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी—'णो खलु देवाणुप्पिया ! अज्ज खत्तियकुंडग्गामे नयरे इंदमहे इ वा जाव[2] निग्गच्छंति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अज्ज समणे भगवं महावीरे आइगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी माहणकुंडग्गामस्स नगरस्स बहिया बहुसालए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं जाव विहरति, तए णं एए बहवे उग्गा भोगा जाव[3] अप्पेगइया वंदणवत्तियं जाव[3] निग्गच्छंति' ।

१. 'जाव' शब्द से सूचित पाठ—"माहणा भडा जोहा मल्लई लेच्छई अन्ने य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ ।"

२ 'जाव' शब्द से सूचित पाठ—"कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सिरसाकंठेमालाकडा ।"

३. 'जाव' शब्द से सूचित पाठ—"अप्पेगइया पूअणवत्तियं एवं सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं कोउहल्लवत्तियं असुयाइं सुणिस्सामो, सुयाइं निस्संकियाइं करिस्सामो, मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामो, अप्पेगइया हयगया एवं गय-रह-सिविया-संदमाणियागया, अप्पेगइया पायविहारचारिणो पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ता महता उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा खत्तियकुंडग्गामस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं ।"

[२५] तब जमालि क्षत्रियकुमार के इस प्रकार कहने पर वह कंचुकी पुरुष अत्यन्त हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर का (नगर में) आगमन जान कर एवं निश्चित करके हाथ जोड़ कर जय-विजय-ध्वनि से जमालि क्षत्रियकुमार को बधाई दी। तत्पश्चात् उसने इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! आज क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के बाहर इन्द्र आदि का उत्सव नहीं है, जिसके कारण यावत् लोग नगर से बाहर जा रहे हैं, किन्तु हे देवानुप्रिय ! आदिकर यावत् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर के बाहर बहुशाल नामक उद्यान में अवग्रह ग्रहण करके यावत् विचरते हैं; इसी कारण ये उग्रकुल, भोगकुल आदि के क्षत्रिय आदि तथा और भी अनेक जन वन्दन के लिए यावत् जा रहे हैं।'

२६. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

[२६] तदनन्तर कंचुकीपुरुष से यह बात सुन कर और हृदय में धारण करके जमालि क्षत्रियकुमार हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुला कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! तुम शीघ्र ही चार घण्टा वाले अश्वरथ को जोत कर यहाँ उपस्थित करो और मेरी इस आज्ञा का पालन करके निवेदन करो !'

२७. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिणा खत्तियकुमारेणं एवं वुत्ता समाणा जाव पच्चप्पिणंति।

[२७] तब उन कौटुम्बिक पुरुषों ने क्षत्रियकुमार जमालि के इस आदेश को सुन कर तदनुसार कार्य करके यावत् निवेदन किया।

२८. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे जहा[1] उववाइए परिसा-वण्णओ तहा भाणियव्वं जाव चंदणोक्खित्तगायसरीरे सव्वालंकारविभूसिए मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, मज्जणघराओ पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव चाउघंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता चाउघंटं आसरहं दुरुहेइ, चाउघंटं आसरहं दुरूहित्ता सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडकरपहकरवंदपरिक्खित्ते खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नगरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता तुरए निगिण्हेइ, तुरए निगिण्हित्ता रहं ठवेइ, रहं ठवित्ता रहाओ पच्चोरुहति, रहाओ पच्चोरुहित्ता पुप्फ-तंबोलाउहमादीयं वाहणाओ य विसज्जेइ, वाहणाओ विसज्जित्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, एगसाडियं उत्तरासंगं करेत्ता आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए अंजलिमउलियहत्थे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेत्ता जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासेइ।

---

१. औपपातिक सूत्र में परिषद् वर्णन—"अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमद्द-नगर-निगम-सेट्ठि-[सेणावइ-]सत्थवाह-दूय-संधिवाल सद्धिं संपरिवुडे।"

[२८] तदनन्तर वह जमालि क्षत्रियकुमार, जहाँ स्नानगृह था, वहाँ आया और वहाँ आकर उसने स्नान किया तथा अन्य सभी दैनिक क्रियाएँ कीं, यावत् शरीर पर चन्दन का लेपन किया; समस्त आभूषणों से विभूषित हुआ और स्नानगृह से निकला आदि सारा वर्णन तथा परिषद् का वर्णन, जिस प्रकार औपपातिक सूत्र में है, उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए।

फिर जहाँ वाहर की उपस्थानशाला थी और जहाँ सुसज्जित चतुर्घण्ट अश्वरथ था, वहाँ वह आया। उस अश्वरथ पर चढ़ा। कोरण्टपुष्प की माला से युक्त छत्र को मस्तक पर धारण किया हुआ तथा वड़े-वड़े सुभटों, दासों, पथदर्शकों आदि के समूह से परिवृत हुआ वह जमालि क्षत्रियकुमार क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के मध्य में से होकर निकला और व्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर के वाहर जहाँ वहुशाल नामक उद्यान था, वहाँ आया। वहाँ घोड़ों को रोक कर रथ को खड़ा किया, तव वह रथ से नीचे उतरा। फिर उसने पुष्प, ताम्वूल, आयुध (शस्त्र) आदि तथा उपानह (जूते) वहीं छोड़ दिये। एक पट वाले वस्त्र का उत्तरासंग (उत्तरीय धारण) किया। तदनन्तर आचमन किया हुआ और अशुद्धि दूर करके अत्यन्त शुद्ध हुआ जमालि मस्तक पर दोनों हाथ जोड़े हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचा। समीप जाकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, यावत् त्रिविध पर्युपासना की।

विवेचन—जमालि : भगवान् महावीर की सेवा में—प्रस्तुत ६ सूत्रों (सू. २३ से २८ तक) में क्षत्रियकुमार जमालि ने जनता के मुख से नगर के स्थान-स्थान पर चर्चा सुनी। उसके मन में जानने की उत्सुकता पैदा हुई। कंचुकी से पूछने पर पता चला कि भ. महावीर व्राह्मणकुण्डग्राम में पधारे हैं। जमालि ने सेवकों को वुला कर धर्मरथ तैयार करने का आदेश दिया। रथ पर आरूढ़ होकर वड़े ठाठवाठ से क्षत्रियकुण्डग्राम से व्राह्मणकुण्डग्राम के वाहर भ. महावीर के पास आया और वन्दना-पर्युपासना करने लगा।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—**सिंघाडग**=सिंघाड़े के आकार का मार्ग। **तिय**—तिराहा। **चउक्क**=चौक या चौराहा। **चच्चर**=चत्वर, चार से अधिक रास्ते जहाँ से निकलें, वह स्थान। **चाउघंट**—चार घण्टों वाला। **खंधमहे**—स्कन्ध-महोत्सव। **आगमण-गहियविणिच्छए**=आगमन की जानकारी का निश्चय करके। **चंदणोक्खित्तगायसरीरे**=शरीर पर चन्दन लेपन किया हुआ। **सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं**= कोरण्टपुष्प की माला लगे हुए छत्र को।[2]

जमालि द्वारा प्रवचन-श्रवण और श्रद्धा तथा प्रव्रज्या की अभिव्यक्ति—

२९. तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स तीसे य महतिमहालियाए इसि० जाव धम्मकहा जाव परिसा पडिगया।

[२९] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने उस क्षत्रियकुमार जमालि को तथा उस वहुत वड़ी ऋषिगण आदि की परिषद् को यावत् धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर यावत् परिषद् वापस लौट गई।

---

१. वियाहपण्णत्ति (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ४५६-४५८

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६२-४६३

३०. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता एवं वयासी—सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! जाव से जहेवं तुब्भे वदह, जं नवरं देवाणुप्पिया ! अम्मा-पियरो आपुच्छामि, तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं ।

[३०] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के पास से धर्म सुन कर और उसे हृदयंगम करके हर्षित और सन्तुष्ट क्षत्रियकुमार जमालि यावत् उठा और खड़े होकर उसने श्रमण भगवान् महावीर-स्वामी को तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की यावत् वन्दन-नमन किया और इस प्रकार कहा—"भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर प्रतीति (विश्वास) करता हूँ। भन्ते ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में मेरी रुचि है। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन के अनुसार चलने के लिए अभ्युद्यत हुआ हूँ। भन्ते ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन तथ्य है, सत्य (अवितथ) है; भगवन् ! यह असंदिग्ध है, यावत् जैसा कि आप कहते हैं। किन्तु हे देवानुप्रिय ! (प्रभो !) मैं अपने माता-पिता को (घर जाकर) पूछता हूँ और उनकी अनुज्ञा लेकर (गृहवास का परित्याग करके) आप देवानुप्रिय के समीप मुण्डित हो कर अगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।" (भगवान् ने कहा—) "देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो वैसा करो, ।"

विवेचन—जमालि द्वारा प्रवचन-श्रवण, श्रद्धा और प्रव्रज्यासंकल्प—प्रस्तुत दो सूत्रों (२९-३० सू.) में वर्णन है कि जमालि भगवदुपदेश सुन कर अत्यन्त प्रभावित हुआ, उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने विनयपूर्वक अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ अनगारधर्म में दीक्षित होने की अभिलाषा व्यक्ति की। भगवान् ने उसकी बात सुन कर इच्छानुसार कार्य करने का परामर्श दिया।[1]

अब्भुट्ठेमि आदि पदों का भावार्थ—अब्भुट्ठेमि=मैं अभ्युद्यत (तत्पर) हूँ। **अवितहं**=अवितथ=सत्य। **तहमेयं**=यह तथ्य-यथार्थ है। **असंदिद्धं**—संदेहरहित है।

'श्रद्धा' आदि पदों का भावार्थ—श्रद्धा—तर्करहित विश्वास, **प्रतीति**—तर्क और युक्तिपूर्वक विश्वास, **रुचि**—श्रद्धा के अनुसार चलने की इच्छा। **अभ्युत्थानेच्छा**=निर्ग्रन्थ-प्रवचनानुसार प्रवृत्ति के लिए उद्यत होने की इच्छा।[2]

माता-पिता से दीक्षा की अनुज्ञा का अनुरोध—

३१. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता तमेव चाउघंटं आसरहं दुरूहेइ, दुरूहित्ता समणस्स

---

१. वियाहप. (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ४५८-४५९

२. भगवती. भा. ४ (पं. घे.) पृ. १७१२, १७१५

भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरंट जाव धरिज्जमाणेणं महया भडचडगर० जाव परिक्खित्ते जेणेव खत्तियकुंडग्गामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता तुरए निगिण्हिइ, तुरए निगिण्हित्ता रहं ठवेइ, रहे ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, रहाओ पच्चोरुहित्ता जेणेव अब्भितरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव अम्मा-पियरो तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता अम्मा-पियरो जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु अम्म ! ताओ ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मे निसंते, से वि य मे धम्मे इच्छिए, पडिच्छिए, अभिरुइए ।

[३१] जब श्रमण भगवान् महावीर ने जमालि क्षत्रियकुमार से इस (पूर्वोक्त) प्रकार से कहा तो वह हर्षित और सन्तुष्ट हुआ । उसने श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार किया । फिर उस चार घंटा वाले अश्वरथ पर आरूढ हुआ और रथारूढ हो कर श्रमण भगवान् महावीर के पास से, बहुशाल नामक उद्यान से निकला, यावत् मस्तक पर कोरंटपुष्प की माला से युक्त छत्र धारण किए हुए महान् सुभटों इत्यादि के समूह से परिवृत होकर जहाँ क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर था, वहाँ आया । वहाँ से वह क्षत्रियकुण्डग्राम के बीचोंबीच होता हुआ, जहाँ अपना घर था और जहाँ बाहर की उपस्थानशाला थी, वहाँ आया । वहाँ पहुँचते ही उसने घोड़ों को रोका और रथ को खड़ा कराया । फिर वह रथ से नीचे उतरा और आन्तरिक (अन्दर की) उपस्थानशाला में, जहाँ कि उसके माता-पिता थे, वहाँ आया । आते ही (माता-पिता के चरणों में नमन करके) उसने जय-विजय शब्दों से वधाया, फिर इस प्रकार कहा 'हे माता-पिता ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुना है, वह धर्म मुझे इष्ट, अत्यन्त इष्ट और रुचिकर प्रतीत हुआ है ।'

३२. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो एवं वयासि—धन्ने सि णं तुमं जाया !, कयत्थे सि णं तुमं जाया, कयपुण्णे सि णं तुमं जाया !, कयलक्खणे सि णं तुमं जाया !, जं णं तुमे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मे निसंते, से वि य ते धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए ।

[३२] यह सुन कर क्षत्रियकुमार जमालि से उसके माता-पिता ने इस प्रकार कहा—हे पुत्र ! तू धन्य है ! बेटा ! तू कृतार्थ हुआ है । पुत्र ! तू कृतपुण्य (भाग्यशाली) है । पुत्र ! तू कृतलक्षण है कि तूने श्रमण भगवान् महावीरस्वामी से धर्म श्रवण किया है और वह धर्म तुझे इष्ट, विशेष प्रकार से अभीष्ट और रुचिकर लगा है ।

३३. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो दोच्चं पि एवं वयासी—एवं खलु मए अम्म ! ताओ ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते जाव अभिरुइए । तए णं अहं अम्म ! ताओ ! संसारभउव्विग्गे, भीए जम्मण-मरणेणं, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ।

[३३] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि ने दूसरी बार भी अपने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर से वास्तविक धर्म सुना, जो मुझे इष्ट, अभीष्ट

और रुचिकर लगा, इसलिए हे माता-पिता ! मैं संसार के भय से उद्विग्न हो गया हूँ, जन्म-मरण से भयभीत हुआ हूँ । अतः मैं चाहता हूँ कि आप दोनों की आज्ञा प्राप्त होने पर श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित होकर गृहवास त्याग करके अनगार धर्म में प्रव्रजित होऊँ ।

विवेचन—जमालि द्वारा संसारविरक्ति एवं दीक्षा की अनुमति का संकेत—भगवान् महावीर से धर्मोपदेश सुन कर जमालि सीधे माता-पिता के पास आया । उनके समक्ष भगवान् के धर्म-प्रवचन की प्रशंसा की और उसके प्रभाव से स्वयं को वैराग्य उत्पन्न हुआ है, इसलिए माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा देने का अनुरोध किया । यह सू. ३१ से ३३ तक वर्णन है ।[1]

संसारभउव्विग्गे आदि पदों का भावार्थ—**संसारभउव्विग्गे** = जन्म-मरण रूप संसार के भय से संवेग प्राप्त हुआ हूँ । **अब्भणुण्णाए समाणे**—आपके द्वारा अनुज्ञा प्रदान होने पर ।[2]

प्रव्रज्या का संकल्प सुनते ही माता शोकमग्न—

३४. तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माता तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुण्णं अमणामं असुयपुव्वं गिरं सोच्चा निसम्म सेयागयरोमकूवपगलंतविलीणगत्ता सोगभरपवेवियंगमंगी नित्तेया दीणविमणवयणा करयलमलिय व्व कमलमाला तक्खणओलुग्गदुब्बलसरीरलायन्नसुन्ननिच्छाया गयसिरीया पसिढिलभूसणपडंतखुण्णियसंचुण्णियधवलवलयपब्भट्ठउत्तरिज्जा मुच्छावसणट्ठचेतगुरुई सुकुमालविकिण्णकेसहत्था परसुणियत्त व्व चंपगलता निव्वत्तमहे व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोट्टिमतलंसि 'धस' त्ति सव्वंगेहिं सन्निवडिया ।

[३४] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि की माता उसके उस (पूर्वोक्त) अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, मन को अप्रिय और अश्रुतपूर्व (आघातकारक) वचन सुनकर और अवधारण करके (शोकमग्न हो गई ।) रोमकूप से बहते हुए पसीने से उसका शरीर भीग गया । शोक के भार से उसके अंग-अंग कांपने लगे । (चेहरे की कान्ति) निस्तेज हो गई । उसका मुख दीन और उन्मना हो गया । हथेलियों से मसली हुई कमलमाला की तरह उसका शरीर तत्काल मुर्झा गया एवं दुर्बल हो गया । वह लावण्यशून्य, कान्तिरहित और शोभाहीन हो गई । (उसके शरीर पर पहने हुए) आभूषण ढीले हो गए । उसके हाथों की धवल चूड़ियाँ (वलय) नीचे गिर कर चूर—चूर हो गई । उसका उत्तरीय वस्त्र (ओढना) अंग से हट गया । मूर्च्छावश उसकी चेतना नष्ट हो गई । शरीर भारी-भारी हो गया । उसकी सुकोमल केशराशि बिखर गई । वह कुल्हाड़ी से काटी हुई चम्पकलता की तरह एवं महोत्सव समाप्त होने के बाद इन्द्रध्वज (दण्ड) की तरह शोभाविहीन हो गई । उसके सन्धिबन्धन शिथिल हो गए और वह एकदम धस करती हुई (धड़ाम से) सारे ही अंगों सहित धरती के फर्श पर गिर पड़ी ।

विवेचन—दीक्षा की बात सुनकर शोकमग्न माता—जमालिकुमार (पुत्र) की प्रव्रज्या ग्रहण करने की बात सुनते ही मोह-ममत्ववश माता की जो अवस्था हुई और वह मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी, इसका वर्णन प्रस्तुत सूत्र में है ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४५९

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६७

कठिन शब्दों का अर्थ—अमणामं=मन के विपरीत, अनिच्छनीय। **असुयपुव्वं**=पहले कभी नहीं सुनी हुई। **सेयागय-रोमकूव-पगलंत-विलीणगत्ता**=रोमकूपों में से झरते हुए पसीने से शरीर तरवतर हो गया। **सोगभरपवेवियंगमंगी**=शोक के भार से अंग-अंग कांपने लगे। **नित्तेया**=निस्तेज (मुर्झाई हुई)। **दीणविमणवयणा**=उसका मुख दीन एवं विमन (उदास) हो गया। **करयलमलिय व्व कमलमाला**=हथेलियों से मर्दित की हुई कमलमाला के समान। **तक्खण-ओलुग्ग-दुब्बल-सरीर-लायन्न-सुन्न-निच्छाया**=उसी क्षण जिसका शरीर ग्लान एवं दुर्बल, लावण्य से शून्य एवं प्रभारहित हो गया। **गयसिरिया**=वह श्री (शोभा)-रहित हो गई। **पसिढिल-भूसण-पडंत-खुण्णिय-संचुण्णिय-धवलवलय-पब्भट्ठ--उत्तरिज्जा**=उसके आभूषण ढीले हुए, श्वेत वलय (कंगन) गिरकर चूर-चूर हो गए, शरीर से उत्तरीयवस्त्र (ओढना) सरक गया। **मुच्छावसणट्ठ-चेत-गुरुई**=मूर्च्छावश उसकी चेतना (संज्ञा) नष्ट होने से शरीर भारी हो गया। **सुकुमाल-विकिण्ण-केसहत्था**=उसकी कोमल केशराशि बिखर गई। **परसु-णियत्त व्व चंपगलता**—कुल्हाड़ी से काटी हुई चंपा की बेल की तरह। **निव्वत्तमहे व्व इंदलट्ठी**=जो महोत्सव पूर्ण हो गया हो उसके इन्द्रध्वज (दण्ड) के समान। **विमुक्कसंधिबंधणा**=शरीर के संधिबन्धन ढीले हो गए। **कोट्टिमतलंसि**=आंगन (कुट्टिम) के तल (फर्श) पर।[1]

माता-पिता के साथ विरक्त जमालि का संलाप—

३५. तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ससंभमोयत्तियाए तुरियं कंचणभिंगार-मुहविणिग्गयसीयलजलविमलधारापसिच्चमाणनिव्ववियगायलट्ठी उक्खेवगतालियंटवीयणगजणियवा-एणं सफुसिएणं अंतेउरपरिजणेणं आसासिया समाणी रोयमाणी कंदमाणी सोयमाणी विलवमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी—तुमं सि णं जाया! अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणे रयणब्भूए जीविऊसविये हिययनंदि-जणणे उंबरपुप्फं पिव दुल्लभे सवणयाए किमंग पुण पासणयाए? तं नो खलु जाया! अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विप्पओगं, तं अच्छाहि ताव जाया! जाव ताव अम्हे जीवामो; तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवये वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जम्मि निरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिसि।

[३५] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि की व्याकुलतापूर्वक इधर-उधर गिरती हुई माता के शरीर पर शीघ्र ही दासियों ने स्वर्णकलशों के मुख से निकली हुई शीतल एवं निर्मल जल-धारा का सिंचन करके शरीर को स्वस्थ किया। फिर (बांस के बने हुए) उत्क्षेपकों (पंखों) तथा ताड़ के पत्तों से बने पंखों से जलकणों (फुहारों) सहित हवा की। तदनन्तर (मूर्च्छा दूर होते ही) अन्तःपुर के परिजनों ने उसे आश्वस्त किया। (मूर्च्छा दूर होते ही) रोती हुई, क्रन्दन करती हुई, शोक करती हुई, एवं विलाप करती हुई माता क्षत्रियकुमार जमालि से इस प्रकार कहने लगी—पुत्र! तू हमारा इकलौता ही पुत्र है, (इसलिए) तू हमें इष्ट है, कान्त है, प्रिय है,

---

१. भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. १७१६-१७१

मनोज्ञ है, मनसुहाता, है, आधारभूत है विश्वासपात्र है, (इस कारण) तू सम्मत, अनुमत और बहुमत है। तू आभूषणों के पिटारे (करण्डक) के समान है, रत्नस्वरूप है, रत्नतुल्य है, जीवन या जीवितोत्सव के समान है, हृदय को आनन्द देने वाला है; उदुम्बर (गूलर) के फूल के समान तेरा नाम-श्रवण भी दुर्लभ है, तो तेरा दर्शन दुर्लभ हो, इसमें कहना ही क्या ! इसलिए हे पुत्र ! तेरा क्षण भर का वियोग भी हम नहीं चाहते। इसलिए जब तक हम जीवित रहें, तब तक तू घर में ही रह। उसके पश्चात् जब हम (दोनों) कालधर्म को प्राप्त (परलोकवासी) हो जाएँ, तेरी उम्र भी परिपक्व हो जाए, (और तब तक) कुलवंश की वृद्धि का कार्य हो जाए, तब (गृह-प्रयोजनों से) निरपेक्ष हो कर तू गृहवास का त्याग करके श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित होकर अनगारधर्म में प्रव्रजित होना।

विवेचन—माता की मूर्च्छा दूर होने पर जमालि के प्रति उद्‌गार—प्रस्तुत सूत्र में यह वर्णन है कि दासियों ने माता की मूर्च्छा विविध उपचारों से दूर की। परिजनों ने सान्त्वना दी, किन्तु फिर भी मोह-ममतावश जमालि को समझाने लगी कि हमारे जीवित रहने तक तुम दीक्षा मत लो।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—ससंभमोयत्तियाए—घबराहट के कारण छटपटाती हुई या गिरती हुई। **कंचणभिंगारमुहविणिग्गय-सीयलजल-विमलधारा-पसिच्चमाण-निव्वविय-गायलट्ठी**—सोने के कलश के मुख से निकलती हुई शीतल एवं विमल जलधारा से सिंचन करने से देह (गात्रयष्टि) स्वस्थ हुई। **उक्खेवग-तालियंट-वीयणगजणियवाएणं सफुसिएणं**—उत्क्षेपक (बांस से निर्मित पंखे) तथा ताड़ के पंखे से पानी के फुहारों से युक्त हवा करने से। **अंतेउरपरिजणेणं आसासिया समाणी** अन्तःपुर के परिजन से आश्वस्त की गई। **कंदमाणी**—चिल्लाती हुई। **वेसासिए**—विश्वासपात्र। **थेज्जे**—स्थिरता के योग्य। **सम्मए**—अनेक कार्यों में सम्मति देने योग्य। **अणुमए**—कार्य के अनुरूप या कार्य में विघात आने के बाद सलाह देने योग्य। **बहुमए**—बहुत से कार्यों में मान्य या बहुमान्य। **रयणं**=रत्नरूप या (मनो) रंजक है। **जीवियऊसविये**—जीवित-उत्सवरूप अथवा जीवन के उच्छ्‌वास (प्राण) रूप।[2] **अच्छाहि**—रहो या ठहरो। **परिणयवये**—परिपक्व अवस्था होने पर। **वड्ढियकुलवंसतन्तु-कज्जम्मि**—कुलवंशरूप तन्तु-पुत्रपौत्रादि से कुलवंश की वृद्धि का कार्य होने पर। **णिरवयक्खे**—गृहस्थकार्यों से निरपेक्ष होने पर।[3]

३६. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी—तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे मम एवं वदह 'तुमं सि णं जाया ! अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते तं चेव जाव पव्वइ-हिसि', एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सए भवे अणेगजाइ-जरा-मरण-रोग-सारीर-माणसपकाम-दुक्खवेयण-वसण-सतोवद्दवाभिभूए अधुवे अणितिए असासए संझब्भरागसरिसे जलबुब्बुदसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निभे सुविणगदंसणोवमे विज्जुलयाचंचले अणिच्चे सडण-पडण-विद्धंसणधम्मे पुव्विं वा पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वे भविस्सइ, से केस णं जाणइ अम्म ! ताओ ! के पुव्विं गमणयाए ? के

---

१. वियाहपण्णत्ति. (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ४६०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६८

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६८

पच्छा गमणयाए ? तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए।

[३६] तब क्षत्रियकुमार जमालि ने अपने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता ! अभी जो आपने कहा कि—हे पुत्र ! तुम हमारे इकलौते पुत्र हो, इष्ट, कान्त आदि हो, यावत् हमारे कालगत होने पर प्रव्रजित होना, इत्यादि; (उस विषय में मुझे यह कहना है कि) माताजी ! पिताजी ! यों तो यह मनुष्य-जीवन जन्म, जरा, मृत्यु, रोग तथा शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों की वेदना से और सैकड़ों व्यसनों (कष्टों) एवं उपद्रवों से ग्रस्त है। अध्रुव; (चंचल) है, अनियत है, अशाश्वत है, सन्ध्याकालीन बादलों के रंग-सदृश क्षणिक है, जल-बुद्बुद के समान है, कुश की नोक पर रहे हुए जलबिन्दु के समान है, स्वप्नदर्शन के तुल्य है, विद्युतलता की चमक के समान चंचल और अनित्य है। सड़ने, पड़ने, गलने और विध्वंस होने के स्वभाव वाला है। पहले या पीछे इसे अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। अतः हे माता-पिता ! यह कौन जानता है कि हममें से कौन पहले जाएगा (मरेगा) और कौन पीछे जाएगा ? इसलिए हे माता-पिता ! मैं चाहता हूँ कि आपकी अनुज्ञा मिल जाए तो मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास मुंडित होकर यावत् प्रव्रज्या अंगीकार कर लूं।

विवेचन—जमालि के वैराग्यसूचक उद्गार—प्रस्तुत में जमालि ने माता-पिता के समक्ष विविध उपमाओं द्वारा जीवन की क्षणभंगुरता एवं अनित्यता का सजीव चित्र खींचा है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अणेगजाईजरा-मरण-रोग-सारीर-माणस-पकाम-दुक्खवेयण-वसण-सतोवद्दवाभिभूए—अनेक जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शरीर एवं मन सम्बन्धी अत्यन्त दुखों की वेदना और सैकड़ों व्यसनों (कष्टों) एवं उपद्रवों से अभिभूत (ग्रस्त) है। **संझब्भरागसरिस**—संध्याकालीन मेघों के रंग जैसा है। **जलबुब्बुदसमाणे**=जल के बुलबुलों के समान। **सुविणगदंसणोवमे**—स्वप्न-दर्शन के तुल्य। **विज्जुलयाचंचले**—विद्युत्-लता की चमक के समान चंचल है। **सडण-पडण-विद्धंसणधम्मे**—सड़ने, पड़ने, और विध्वंस होने के धर्म-स्वभाव वाला है। **अवस्सविप्पजहियव्वे भविस्सइ**—अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा।[2]

३७. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो एवं वयासी—इमं च ते जाया ! सरीरगं पविसिट्ठरूवं लक्खण-वंजण-गुणोववेयं उत्तमबल-वीरिय-सत्तजुत्तं विण्णाणवियक्खणं ससोहग्गगुण-समुस्सियं अभिजायमहक्खमं विविहवाहिरोगरहियं निरुवहयउदत्तलट्ठपंचिंदियपडुं, पढमजोव्वणत्थं अणेगउत्तमगुणेहिं जुत्तं, तं अणुहोहि ताव जाव जाया ! नियगसरीररूवसोहग्गजोव्वणगुणे, तओ पच्छा अणुभूयनियगसरीररूवसोभग्गजोव्वणगुणे अम्हेहिं कालगएहिं समाणेहिं परिणयवये वड्ढियकुलवंसतंतु-कज्जम्मि निरवयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिसि।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४६१

२. भगवती. अ. वृत्ति., पत्र ४६८

[३७] यह बात सुन कर क्षत्रियकुमार जमालि से उसके माता-पिता ने इस प्रकार कहा—हे पुत्र ! तुम्हारा यह शरीर विशिष्ट रूप, लक्षणों, व्यंजनों (मस, तिल आदि चिह्नों) एवं गुणों से युक्त है, उत्तम बल, वीर्य और सत्त्व से सम्पन्न है, विज्ञान में विचक्षण है, सौभाग्य-गुण से उन्नत है, कुलीन (अभिजात) है, महान् समर्थ (क्षमतायुक्त) है, विविध व्याधियों और रोगों से रहित है, निरुपहत, उदात्त, मनोहर और पांचों इन्द्रियों की पटुता से युक्त है तथा प्रथम (उत्कृष्ट) यौवन अवस्था में है, इत्यादि अनेक उत्तम गुणों से युक्त है । इसलिए, हे पुत्र ! जब तक तेरे शरीर में रूप, सौभाग्य और यौवन आदि उत्तम गुण हैं, तब तक तू इनका अनुभव (उपभोग) कर । इन सब का अनुभव करने के पश्चात् हमारे कालधर्म प्राप्त होने पर जब तेरी उम्र परिपक्व हो जाए और (पुत्र-पौत्रादि से) कुलवंश की वृद्धि का कार्य हो जाए तब (गृहस्थ-जीवन से) निरपेक्ष हो कर श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित हो कर अगारवास छोड़ कर अनगारधर्म में प्रव्रजित होना ।

विवेचन—माता-पिता के द्वारा जमालि को गृहस्थाश्रम में रखने का पुनः उपाय—प्रस्तुत सूत्र में जमालि को यह समझाया गया है कि इतने उत्कृष्ट गुणों से युक्त शरीर और यौवन आदि का उपयोग करके बुढ़ापे में दीक्षित होना ।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—पविसिट्ठरूवं—विशिष्ट रूप । **अभिजाय-महक्खमं**-अभिजात (कुलीन) है और महती क्षमताओं से युक्त है । **निरुवहय-उदत्त-लट्ठ-पंचिंदियपडुं**—निरुपहत, उदात्त, सुन्दर (लष्ट) एवं पंचेन्द्रिय-पटु है । **पढमजोवणत्थं**—उत्कृष्ट यौवन में स्थित है । **अणुहोहि**=अनुभव कर (उपभोग कर) । **णियगसरीररूव-सोभग्ग-जोवणगुणे**=अपने शरीर के रूप, सौभाग्य, यौवन आदि गुणों का ।[2]

३८. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी—तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह 'इमं च णं ते जाया ! सरीरगं० तं चेव जाव पव्वइहिसि' एवं खलु अम्म ! ताओ ! माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहिसयसन्निकेतं अट्ठियकट्ठुट्ठियं छिरा-ण्हारु-जालओणद्ध-संपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठवियसव्वकालसंठप्पयं जराकुणिम-जज्जरघरं व सडण-पडण-विद्धंसणधम्मं पुव्विं वा पच्छा वा अवस्स-विप्पजहियव्वं भविस्सइ, से केस णं जाणति अम्म ! ताओ ! के पुव्विं० ? तं चेव जाव पव्वइत्तए ।

[३८] तब क्षत्रियकुमार जमालि ने अपने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता! आपने मुझे जो यह कहा कि पुत्र! तेरा यह शरीर उत्तम रूप आदि गुणों से युक्त है, इत्यादि, यावत् हमारे कालगत होने पर तू प्रव्रजित होना । (किन्तु) हे माता-पिता! यह मानव-शरीर दुःखों का घर (आयतन) है, अनेक प्रकार की सैकड़ों व्याधियों का निकेतन है, अस्थि-(हड्डी) रूप काष्ठ पर खड़ा हुआ है, नाड़ियों और स्नायुओं के जाल से वेष्टित है, मिट्टी के बर्तन के समान दुर्बल (नाजुक) है । अशुचि (गंदगी) से संक्लिष्ट (बुरी तरह दूषित) है, इसको टिकाये (संस्थापित) रखने के लिए सदैव इसकी संभाल (व्यवस्था) रखनी पड़ती है, यह सड़े हुए शव के समान और जीर्ण घर के

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ४६१
२. भगवती. अ. वृत्ति., पत्र ४६९

समान है, सड़ना, पड़ना और नष्ट होना, इसका स्वभाव है। इस शरीर को पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पडेगा; तब कौन जानता है कि पहले कौन जाएगा और पीछे कौन? इत्यादि सारा वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत्—इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर लूं।

विवेचन—जमालि द्वारा शरीर की अस्थिरता, दुःख एवं रोगादि की प्रचुरता का निरूपण— प्रस्तुत ३८ वें सूत्र में जमालि द्वारा शरीर की अनित्यता, दुःख, व्याधि, रोग इत्यादि से सदैव ग्रस्तता आदि का वर्णन करके पुनः दीक्षा की आज्ञा-प्रदान करने के लिए माता-पिता से निवेदन है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—दुक्खाययणं—दुःखायतन-दुःखों का स्थान। **विविहवाहि-सय-सन्निकेयं**—सैकड़ों विविध व्याधियों का निकेतन=घर। **अट्ठिय-कट्ठुट्ठियं**—अस्थिरूपी काष्ठ पर उत्थित =खड़ा किया हुआ है। **छिरा-ण्हारू-जाल-ओणद्ध-संपिणद्धं**—शिराओं-नाड़िओं के जाल से वेष्टित और अच्छी तरह ढँका हुआ। **मट्टियभंडं व दुब्बलं**—मिट्टी के वर्तन की तरह कमजोर (टूटने वाला) हैं। **असुइसंकिलिट्ठं**—अशुचि (गंदगी) से संक्लिष्ट (दूषित या व्याप्त) है। **अणिट्ठविय-सव्वकाल-संठप्पयं**—अनस्थापित (टिकाऊ न) होने से सदा टिकाए रखना पड़ता है। **जराकुणिम-जज्जरघरं**—जीर्ण शव और जीर्ण घर के समान।[2]

३९. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो एवं वयासी—इमाओ य ते जाया! विपुलकुलबालियाओ[3] कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचियाओ मद्दवगुणजुत्तनिउणविणओवयारपंडिय-वियक्खणाओ मंजुलमियमहुरभणियविहसियविप्पेक्खियगतिविलासचिट्ठियविसारदाओ अविकलकुल-सीलसालिणीओ विसुद्धकुलवंससंताणतंतुवद्धणपगब्भवयभाविणीओ मणाणुकूलहियइच्छियाओ अट्ठ तुज्झ गुणवल्लभाओ उत्तमाओ निच्चं भावाणुरत्तसव्वंगसुंदरीओ भारियाओ, तं भुंजाहि ताव जाया! एताहिं सद्धिं विउले माणुस्सए कामभोगे, तओ पच्छा भुत्तभोगी विसयविगयवोच्छिन्नकोउ-हल्ले अम्हेहिं कालगएहिं जाव पव्वइहिसि।

[३९] तब क्षत्रियकुमार जमालि के माता-पिता ने उससे इस प्रकार कहा—पुत्र! ये तेरी गुणवल्लभा, उत्तम, तुझमें नित्य भावानुरक्त, सर्वांगसुन्दरी आठ पत्नियाँ हैं, जो विशाल कुल में उत्पन्न बालिकाएँ (नवयौवनाएँ) हैं, कलाकुशल हैं, सदैव लालित (लाड़-प्यार में रही हुई) और सुखभोग के योग्य हैं। ये मार्दवगुण से युक्त, निपुण, विनय-व्यवहार (उपचार) में कुशल एवं विचक्षण हैं। ये मंजुल, परिमित और मधुर भाषिणी हैं। ये हास्य, विप्रेक्षित (कटाक्षपात), गति, विलास और चेष्टाओं में विशारद हैं। निर्दोष कुल और शील से सुशोभित हैं, विशुद्ध कुलरूप वंशतन्तु की वृद्धि करने में समर्थ एवं पूर्णयौवन वाली हैं। ये मनोनुकूल एवं हृदय को इष्ट हैं। अतः हे पुत्र! तू इनके साथ मनुष्यसम्बन्धी विपुल कामभोगों का उपभोग कर और बाद में जब तू भुक्तभोगी हो जाए

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४६१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४६९

३. अधिक पाठ—"सरित्तयाओ सरिव्वयाओ सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाओ सरिसएहिंतो कुलेहिंतो आणिए-ल्लियाओ।"

और विषय-विकारों में तेरी उत्सुकता समाप्त हो जाए, तब हमारे कालधर्म को प्राप्त हो जाने पर यावत् तू प्रव्रजित हो जाना।

विवेचन—माता-पिता द्वारा भुक्तभोगी होने के बाद दीक्षा लेने का अनुरोध—प्रस्तुत सूत्र में माता-पिता द्वारा जमालि को समझाया गया है कि तू अपनी इन आठ सर्वगुणसम्पन्ना सर्वांगसुन्दरी पत्नियों के साथ मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों का उपभोग करके भुक्तभोगी होने के पश्चात् दीक्षित होना।'[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—विपुलकुलवालियाओ—विशाल कुल की बालाएँ। **कलाकुसल-सव्वकाललालिय-सुहोचियाओ**—कलाओं में दक्ष, सदैव लाड़प्यार में पली एवं सुखशील। **मद्दवगुणजुत्त-निउण-विणओवयारपंडिय-वियक्खणाओ**—मृदुता के गुणों से युक्त, निपुण एवं विनय-व्यवहार में पण्डिता तथा विचक्षणा हैं। **मंजुल-मिय-महुर-भणिय-विहसिय-विप्पेक्खिय-गति-विलास-चिट्ठिय-विसारदाओ**—मंजुल, परिमित एवं मधुरभाषिणी हैं; हास्य, प्रेक्षण, गति (चाल), विलास एवं चेष्टाओं में विशारद हैं। **अविकलकुलसीलसालिणीओ**—निर्दोष कुल और शील से सुशोभित हैं। **विसुद्धकुलवंससंताणतंतुवद्धण-पगब्भ-वय-भाविणीओ**—विशुद्ध कुल की वंश-परम्परा रूपी तन्तु को बढ़ाने वाली एवं प्रगल्भ—पूर्ण यौवन वय वाली हैं। **मणाणुकूल-हियइच्छियाओ**=मनोनुकूल हैं और हृदय को अभीष्ट हैं। **भावाणुरत्तसव्वंगसुन्दरीओ**—ये तेरी भावनाओं में अनुरक्त हैं और सर्वांगसुन्दरी हैं। **विसयविगयवोच्छिन्नकोउहल्ले**—विषय-विकारों (विकृतों) सम्बन्धी उत्सुकता क्षीण हो जाने पर।[2]

४०. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी—तहा वि णं तं अम्म! ताओ! जं णं तुब्भे मम एवं वयह 'इमाओ ते जाया! विपुलकुल० जाव पव्वइहिसि' एवं खलु अम्म! ताओ! माणुस्सगा कामभोगा[3] उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणग-वंत-पित्त-पूय-सुक्क-सोणियसमुब्भवा अमणुण्णदुरूव-मुत्त-पूइयपुरीसपुण्णा मयगंधुस्सासअसुभनिस्सासा उव्वेयणगा बीभच्छा अप्पकालिया लहुसगा कलमलाहिवासदुक्खबहुजणसाहारणा परिकिलेस-किच्छदुक्खसज्झा अबुहजणसेविया सदा साहुगरहणिज्जा अणंतसंसारवद्धणा कडुयफलविवागा चुडलि व्व अमुच्चमाण दुक्खाणुबंधिणो सिद्धि-गमणविग्घा, से केस णं जाणति अम्म! ताओ! के पुव्विं गमणयाए? के पच्छा गमणयाए? तं इच्छामि णं अम्म! ताओ! जाव पव्वइत्तए।

[४०] माता-पिता के पूर्वोक्त कथन के उत्तर में जमालि क्षत्रियकुमार ने अपने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता! तथापि आपने जो यह कहा कि विशाल कुल में उत्पन्न तेरी ये आठ पत्नियाँ हैं, यावत् भुक्तभोग और वृद्ध होने पर तथा हमारे कालधर्म को प्राप्त होने पर दीक्षा लेना, किन्तु माताजी और पिताजी! यह निश्चित है कि ये मनुष्य-सम्बन्धी कामभोग [अशुचि (अपवित्र) और अशाश्वत हैं,] मल (उच्चार), मूत्र, श्लेष्म (कफ), सिंघाण (नाक का मैल—लींट), वमन, पित्त, मवाद (पूति), शुक्र और शोणित (रक्त या रज) से उत्पन्न होते हैं, ये अमनोज्ञ और दुरूप (असुन्दर)

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.), भा. १, पृ. ४६२

२. भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ४७०

३. अधिक पाठ—"असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा।"

मूत्र तथा दुर्गन्धयुक्त विष्ठा से परिपूर्ण हैं; मृत कलेवर के समान गन्ध वाले उच्छ्वास एवं अशुभ निःश्वास से युक्त होने से उद्वेग (ग्लानि) पैदा करने वाले हैं। ये वीभत्स हैं, अल्पकालस्थायी हैं, तुच्छस्वभाव के हैं, कलमल (शरीर में रहा हुआ एक प्रकार का अशुभ द्रव्य) के स्थानरूप होने से दुःखरूप हैं और वहु-जनसमुदाय के लिए भोग्यरूप से साधारण हैं, ये अत्यन्त मानसिक क्लेश से तथा गाढ शारीरिक कष्ट से साध्य हैं। ये अज्ञानी जनों द्वारा ही सेवित हैं, साधु पुरुषों द्वारा सदैव निन्दनीय (गर्हणीय) हैं, अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले हैं, परिणाम में कटु फल वाले हैं, जलते हुए घास के पूले के समान (एक वार लग जाने के वाद) कठिनता से छूटने वाले तथा दुःखानुवन्धी हैं, सिद्धि (मुक्ति) गमन में विघ्नरूप हैं। अतः हे माता-पिता ! यह भी कौन जानता है कि हममें से कौन पहले जाएगा, कौन पीछे ? इसलिए हे माता-पिता ! आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ।

विवेचन—कामभोगों से विरक्ति-सम्बन्धी उद्गार—जमालि ने प्रस्तुत सूत्र में काम भोगों की बीभत्सता, परिणाम में दुःखजनकता, संसारपरिवर्धकता वताई है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—पूइयपुरीसपुण्णा—मवाद अथवा दुर्गन्धित विष्ठा से भरपूर हैं। **मयगंधुस्सास-असुभनिस्सासा-उव्वेयणगा**—मृतक-सी गन्ध वाले उच्छ्वास और अशुभ निःश्वास से उद्वेगजनक हैं। **लहुसगा**—लघु-हलकी कोटि के हैं। **कलमलाहिवासदुक्खवहुजणसाहारणा**—शरीरस्थ अशुभ द्रव्य के रहने से दुःखद हैं और सर्वजनसाधरण हैं। **परिकिलेस-किच्छदुक्खसज्झा**—परिक्लेश-मानसिक क्लेश तथा गाढ़ शरीरिक दुःख से साध्य हैं। **चुडलि व्व अमुच्चमाण**—घास के प्रज्वलित पूले के समान वहुत कष्ट से छूटने वाले हैं। **दुक्खाणुबंधिणो**—परम्परा से दुःखदायक हैं।[2] **'कामभोग' शब्द का आशय**—यहाँ 'कामभोग' शव्द से उनके आधारभूत स्त्रीपुरुषों के शरीर का ग्रहण करना अभिप्रेत है।[3]

४१. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो एवं वयासी—इमे य ते जाया ! अज्जय-पज्जय-पिउपज्जयागए सुबहुहिरण्णे य सुवण्णे य कंसे य दूसे य विउलधणकणग० जाव[4] संतसारसाव-एज्जे अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दातुं, पकामं भोत्तुं, पकामं परिभाएउं, तं अणुहोहि ताव जाया ! विउले माणुस्सए इड्ढिसक्कारसमुदए, तओ पच्छा अणुहूयकल्लाणे वड्ढियकुलवं-सतंतु जाव पव्वइहिसि।

[४१] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि से उसके माता-पिता ने इस प्रकार कहा—"हे पुत्र ! तेरे पितामह, प्रपितामह और पिता के प्रपितामह से प्राप्त यह वहुत-सा हिरण्य, सुवर्ण, कांस्य, उत्तम वस्त्र (दूष्य), विपुल धन, कनक यावत् सारभूत द्रव्य विद्यमान है। यह द्रव्य इतना है कि सात पीढ़ी (कुलवंश) तक प्रचुर (मुक्त हस्त से) दान दिया जाय. पुष्कल भोगा जाय, और वहुत-सा वांटा जाय, तो भी पर्याप्त है (समाप्त नहीं हो सकता)। अतः हे पुत्र ! मनुष्य-सम्वन्धी इस विपुल ऋद्धि और

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठटिप्पण) भा. १, पृ. ४६२

२. भगवती. अं० वृत्ति, पत्र ४७०

३. वही, पत्र ४७०; 'इह कामभोगग्रहणेन तदाधारभूतानि स्त्रीपुरुषशरीराण्यभिप्रेतानि।'

४. 'जाव' पद सूचित पाठ—"रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमाइए।"

सत्कार (सत्कार्य) समुदाय का अनुभव कर। फिर इस कल्याण (सुखरूप पुण्यफल) का अनुभव करके और कुलवंशतन्तु की वृद्धि करने के पश्चात् यावत् तू प्रव्रजित हो जाना।

४२. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी तहा— वि णं तं अम्म! ताओ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह—'इमे य ते जाया! अज्जग-पज्जग० जाव पव्वइहिसि' एवं खलु अम्म! ताओ! हिरण्णे य सुवण्णे य जाव सावएज्जे अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए दाइयसाहिए अग्गिसामन्ने जाव दाइयसामन्ने अधुवे अणितिए असासए पुव्वि वा पच्छा वा अवस्स-विप्पजहियव्वे भविस्सइ, से केस णं जाणइ० तं चेव जाव पव्वइत्तए।

[४२] इस पर क्षत्रियकुमार जमालि ने अपने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता! आपने जो यह कहा कि तेरे पितामह, प्रपितामह आदि से प्राप्त द्रव्य के दान, भोग आदि के पश्चात् यावत् प्रव्रज्या ग्रहण करना आदि, किन्तु हे माता-पिता! यह हिरण्य, सुवर्ण यावत् सारभूत द्रव्य अग्नि-साधारण, चोर-साधारण, राज-साधारण, मृत्यु-साधारण, एवं दायाद-साधारण (अधीन) है, तथा अग्नि-सामान्य यावत् दायाद-सामान्य (अधीन) है। यह (धन) अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है। इसे पहले या पीछे एक दिन अवश्य छोड़ना पड़ेगा। अतः कौन जानता है कि कौन पहले जाएगा और कौन पीछे जाएगा? इत्यादि पूर्ववत् कथन जानना चाहिए; यावत् आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाए तो मेरी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा है।

विवेचन—माता-पिता द्वारा द्रव्य के दान भोगादि का प्रलोभन और जमालि द्वारा धन की पराधीनता और अनित्यता का कथन—प्रस्तुत ४१-४२वें सूत्र में माता-पिता द्वारा प्रचुर धन के उपयोग का प्रलोभन दिया गया है, जबकि जमालि ने धन के प्रति वैराग्यभाव प्रदर्शित किया है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—**अज्जय**=आर्य—पितामह, **पज्जय**—प्रार्य—प्रपितामह, **पिउपज्जय**—पिता के प्रपितामह। **दूसे**—दूष्य—बहुमूल्य वस्त्र। **संतसारसावएज्जे**—स्वायत्त विद्यमान सारभूत स्वापतेय—धन। **आसत्तमाओ कुलवंसाओ**—सात कुलवंशों (पीढ़ी) तक। **अलाहि**—पर्याप्त। **पकामं**—प्रचुर। **परिभाएउं**—विभाजित करने के लिए। **अग्गिसाहिए**—अग्नि द्वारा साधारण या साध्य—नष्ट हो जाने वाला। **दाइय**=बन्धु आदि भागीदार। **सामन्ने**—सामान्य—साधारण।[2]

४३. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्म-ताओ जाहे नो संचाएंति विसयाणुलोमाहिं बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सन्नवणाहि य विण्णवणाहि य आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा सन्नवित्तए वा विण्णवित्तए वा ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभयुव्वेवणकरीहिं पण्णवणाहिं पण्णवेमाणा एवं वयासी—एवं खलु जाया! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले जहा आवस्सए[3] जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, अहीव एगंतदिट्ठीए, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निरस्साए, गंगा वा महानदी पडिसोयगमणयाए, महासमुद्दे वा भुजाहिं दुत्तरे, तिक्खं कमियव्वं, गरुयं

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४६३

२. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ४७०

३. आवश्यकसूत्रगत पाठ—"सल्लगत्तणे....सिद्धिमग्गे....मुत्तिमग्गे....निज्जाणमग्गे....निव्वाणमग्गे....अवितहे ....अविसंधि....सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे....एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति।"

लंबेयव्वं, असिधारगं वतं चरियव्वं, नो खलु कप्पइ जाया ! समणाणं निग्गंथाणं आहाकम्मिए इ वा, उद्देसिए इ वा, मिस्सजाए इ वा, अज्झोयरए इ वा, पूइए इ वा, कीए इ वा, पामिच्चे इ वा, अच्छेज्जे इ वा, अणिसट्ठे इ वा, अभिहडे इ वा, कंतारभत्ते इ वा, दुब्भिक्खभत्ते इ वा, गिलाणभत्ते इ वा, वद्दलियाभत्ते इ वा, पाहुणगभत्ते इ वा, सेज्जायरपिंडे इ वा, रायपिंडे इ वा, मूलभोयणे इ वा, कंदभोयणे इ वा, फलभोयणे इ वा, बीयभोयणे इ वा, हरियभोयणे इ वा, भुत्तए वा पायए वा। तुमं सि च णं जाया ! सुहसमुयिते णो चेव णं दुहसमुयिते, नालं सीयं, नालं उण्हं, नालं खुहा, नालं पिवासा, नालं चोरा, नालं वाला, नालं दंसा, नालं मसगा, नालं वाइय-पित्तिय-सेंभिय-सन्निवाइए विविहे रोगायंके परीसहोवसग्गे उदिण्णे अहियासेत्तए। तं नो खलु जाया ! अम्हे इच्छामो तुज्झं खणमवि विप्पयोगं, तं अच्छाहि ताव जाया ! जाव ताव अम्हे जीवामो, तओ पच्छा अम्हेहिं जाव पव्वइहिसि।

[४३] जब क्षत्रियकुमार जमालि को उसके माता-पिता विषय के अनुकूल बहुत-सी उक्तियों, प्रज्ञप्तियों, संज्ञप्तियों और विज्ञप्तियों द्वारा कहने, बतलाने और समझाने-बुझाने में समर्थ नहीं हुए, तब विषय के प्रतिकूल तथा संयम के प्रति भय और उद्वेग उत्पन्न करने वाली उक्तियों से समझाते हुए इस प्रकार कहने लगे—हे पुत्र ! यह निर्ग्रन्थप्रवचन सत्य, अनुत्तर, (अद्वितीय, परिपूर्ण न्याययुक्त, संशुद्ध, शल्य को काटने वाला, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्याणमार्ग और निर्वाणमार्गरूप है। यह अवितथ (असत्यरहित, असंदिग्ध) आदि आवश्यक के अनुसार यावत् (सर्वदुःखों का अन्त करने वाला है। इसमें तत्पर जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं एवं समस्त दुःखों का अन्त करते हैं। परन्तु यह (निर्ग्रन्थधर्म) सर्प की तरह एकान्त (चारित्र पालन के प्रति निश्चय) दृष्टि वाला है, छुरे या खड्ग आदि तीक्ष्ण शस्त्र की तरह एकान्त (तीक्ष्ण) धार वाला है। यह लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है; बालु (रेत) के कौर (ग्रास) की तरह स्वादरहित (नीरस) है। गंगा आदि महानदी के प्रतिस्रोत (प्रवाह के सम्मुख) गमन के समान अथवा भुजाओं से महासमुद्र तैरने के समान पालन करने में अतीव कठिन है। (निर्ग्रन्थधर्म पालन करना) तीक्ष्ण (तलवार की तीखी) धार पर चलना है; महाशिला को उठाने के समान गुरुतर भार उठाना है। तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान व्रत का आचरण करना (दुष्कर) है।

हे पुत्र ! निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए ये बातें कल्पनीय नहीं हैं। यथा—(१) आधाकर्मिक, (२) औद्देशिक, (३) मिश्रजात, (४) अध्यवपूरक, (५) पूतिक (पूतिकर्म), (६) क्रीत, (७) प्रामित्य, (८) अछेद्य, (९) अनिसृष्ट, (१०) अभ्याहृत, (११) कान्तारभक्त, (१२) दुर्भिक्षभक्त, (१३) ग्लानभक्त, (१४) वर्दलिकाभक्त, (१५) प्राघूर्णकभक्त, (१६) शय्यांतरपिण्ड और (१७) राजपिण्ड, (इन दोषों से युक्त आहार साधु को लेना कल्पनीय नहीं है।) इसी प्रकार मूल, कन्द, फल, बीज और हरित—हरी वनस्पति का भोजन करना या पीना भी उसके लिए अकल्पनीय है। हे पुत्र ! तू सुख में पला, सुख भोगने योग्य है, दुःख सहन करने योग्य नहीं है। तू (अभी तक) शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा को तथा चोर, व्याल (सर्प आदि हिंस्र प्राणियों), डांस, मच्छरों के उपद्रव को एवं वात, पित्त, कफ एवं सन्निपात सम्बन्धी अनेक रोगों के आतंक को और उदय में आए हुए परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करने में समर्थ नहीं है। हे पुत्र ! हम तो क्षणभर भी तेरा वियोग सहन करना नहीं चाहते ! अतः पुत्र ! जब तक हम जीवित हैं, तब तक तू गृहस्थवास में रह। उसके बाद हमारे

कालगत हो जाने पर, यावत् प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना।

विवेचन—माता-पिता द्वारा निर्ग्रन्थधर्माचरण की दुष्करता का प्रतिपादन—क्षत्रियकुमार जमालि को जब उसके माता-पिता विविध युक्तियों आदि द्वारा समझा नहीं सके, तब निरुपाय होकर वे निर्ग्रन्थ-प्रवचन (धर्म) की भयंकरता, दुष्करता, दुश्चरणीयता आदि का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में यही वर्णन है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—नो संचाएंति—समर्थ नहीं हुए। **विसयाणुलोमाहिं**—शब्दादि विषयों के अनुकूल। **आघवणाहि**—सामान्य उक्तियों से, **पण्णवणाहि**—प्रज्ञप्तियों—विशेष उक्तियों से, **सन्नवणाहि**—संज्ञप्तियों—विशेष रूप से समझाने-बुझाने से, **विण्णवणाहि**—विज्ञप्तियों से—प्रेमपूर्वक अनुरोध करने मे। **संजमभयुव्वेवणकरीहिं**—संयम के प्रति भय और उद्वेग पैदा करने वाली। **अहीव एगंतदिट्ठीए**—जैसे सर्प की एक ही (आमिषग्रहण की) ओर दृष्टि रहती है, वैसे ही निर्ग्रन्थप्रवचन में एकमात्र चारित्रपालन के प्रति एकान्तदृष्टि होती है। **तिक्खं कमियव्वं**—खड्गादि तीक्ष्णधारा पर चलना। **गरुयं लंवेयव्वं**—महाशिलावत् गुरुतर (महाव्रत) भार उठाना। **असिधारगं वतं चरियव्वं** तलवार की धार पर चलने के समान व्रताचरण करना होता है।[2]

आधाकर्मिक आदि का भावार्थ—आधाकर्मिक—किसी खास साधु के निमित्त सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना। **औद्देशिक**—सामान्यतया याचकों और साधुओं के उद्देश्य से आहारादि तैयार करना। **मिश्रजात**—अपने और साधुओं के लिए एक साथ पकाया हुआ आहार। **अध्यवपूरक**—साधुओं का आगमन सुन कर अपने वनते हुए भोजन में और मिला देना। **पूतिकर्म**—शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना। **क्रीत**—साधु के लिए खरीदा हुआ आहार। **प्रामित्य**-साधु के लिए उधार लिया हुआ आहारादि। **आछेद्य**—किसी से जबरन छीन कर साधु को आहारादि देना। **अनिःसृष्ट**—किसी वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर सबकी इच्छा के विना देना। **अभ्याहृत**—साधु के सामने लाकर आहारादि देना। **कान्तारभक्त**—वन में रहे हुए भिखारी आदि के लिए तैयार किया हुआ आहारादि। **दुर्भिक्षभक्त**—दुष्काल पीड़ित लोगों को देने के लिए तैयार किया हुआ आहारादि। **ग्लानभक्त**—रोगियों के लिए तैयार किया हुआ आहारादि। **वार्दलिकाभक्त**—दुर्दिन या वर्षा के समय भिखारियों के लिए तैयार किया हुआ आहारादि। **प्राघूर्णकभक्त**—पाहुनों के लिए वनाया हुआ आहारादि। **शय्यातरपिण्ड**—साधुओं को मकान देने वाले के यहाँ का आहार लेना। **राजपिण्ड**—राजपिण्ड—राजा के लिए वने हुए आहारादि में से देना। **'सुहसमुयिते' आदि पदों के अर्थ—सुहसमुयिते**—सुख में संवर्द्धित—पला हुआ अथवा सुख के योग्य (समुचित)। **वाला**—व्याल (सर्प) आदि हिंस्र जन्तुओं को। **सेंभिय**—श्लेष्म सम्बन्धी। **सन्निवाइए**—सन्निपातजन्य। **अहियासेत्तए**—सहन करने में। **उदिण्णे**—उदय में आने पर।[3]

४४. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी—तहा वि णं तं अम्म ! ताओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वदह—एवं खलु जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवले तं चेव

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त [मू. पा. टि.] भा १, पृ. ४६३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४७१

३. भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ४७१

जाव पव्वइहिसि। एवं खलु अम्म ! ताओ ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोगपडिबद्धाणं परलोगपरम्मुहाणं विसयतिसियाणं दुरणुचरे, पागयजणस्स, धीरस्स निच्छियस्स ववसियस्स नो खलु एत्थं किंचि वि दुक्करं करणयाए, तं इच्छामि णं अम्म ! ताओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए।

[४४] तब क्षत्रियकुमार जमालि ने माता-पिता को उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा—हे माता-पिता ! आप मुझे यह जो कहते हैं कि यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, अद्वितीय है, यावत् तू समर्थ नहीं है इत्यादि यावत् बाद में प्रव्रजित होना; किन्तु हे माता-पिता ! यह निश्चित है कि क्लीबों (नामर्दों), कायरों, कापुरुषों तथा इस लोक में आसक्त और परलोक से पराङ्मुख एवं विषयभोगों की तृष्णा वाले पुरुषों के लिए तथा प्राकृतजन (साधारण व्यक्ति) के लिए इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन (धर्म) का आचरण करना दुष्कर है; परन्तु धीर (साहसिक), कृतनिश्चय एवं उपाय में प्रवृत्त पुरुष के लिए इसका आचरण करना कुछ भी दुष्कर नहीं है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप मुझे (प्रव्रज्याग्रहण की) आज्ञा दे दें तो मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले लूं।

विवेचन— जमालि के द्वारा उत्साहपूर्ण उत्तर—जमालि क्षत्रियकुमार ने माता-पिता के द्वारा निर्ग्रन्थधर्म-पालन की दुष्करता का उत्तर देते हुए कहा कि संयमपालन कायरों के लिए कठिन है, वीरों एवं दृढ़निश्चय पुरुषों के लिए नहीं। अतः आप मुझे दीक्षा की आज्ञा प्रदान करें।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—**कीवाणं**—क्लीब (मन्द संहनन वाले) लोगों के लिए। **कापुरिसाणं**—डरपोक मनुष्यों के लिए। **इहलोगपडिबद्धाणं**— इस लोक में आबद्ध—आसक्त। **पागयजणस्स**—प्राकृतजन—साधारण मनुष्य के लिए। **दुरणुचरे**—आचरण करना दुष्कर है। **धीरस्स**—धीर—साहसिक पुरुष के लिए। **निच्छियस्स**—यह अवश्य करना है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय वाले। **ववसियस्स**—व्यवसित—उपाय में प्रवृत्त के लिए। **करणयाए**—संयम का आचरण करना।[2]

जमालि को प्रव्रज्याग्रहण की अनुमति दी—

४५. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो जाहे नो संचाएंति विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहि य आघवणाहि य पण्णवणाहि य सन्नवणाहि य विण्णवणाहि य आघवेत्तए वा जाव विण्णवेत्तए वा ताहे अकामाइं चेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स निक्खमणं अणुमन्नित्था।

[४५] जब क्षत्रियकुमार जमालि के माता-पिता विषय के अनुकूल और विषय के प्रतिकूल बहुत-सी उक्तियों, प्रज्ञप्तियों, संज्ञप्तियों और विज्ञप्तियों द्वारा उसे समझा-बुझा न सके, तब अनिच्छा से उन्होंने क्षत्रियकुमार जमालि को दीक्षाभिनिष्क्रमण (दीक्षाग्रहण) की अनुमति दे दी।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण), भा. १, पृ. ४६४

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४७२

(ख) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७३१

विवेचन—निरुपाय माता-पिता द्वारा जमालि को दीक्षा की अनुमति—प्रस्तुत सूत्र ४५ में यह निरूपण किया गया है कि जमालि के माता-पिता जब अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियों, तर्कों, हेतुओं एवं प्रेमानुरोधों से समझा-बुझा चुके और उस पर कोई प्रभाव न पड़ा, तब निरुपाय होकर उन्होंने दीक्षाग्रहण करने की अनुमति दे दी।[1]

कठिन शब्दों के भावार्थ—अकामाइं—अनिच्छा से, अनमने भाव से। **निक्खमणं अणुमन्नित्था**—दीक्षा ग्रहण करने के लिए अनुमति दी।[2]

जमालि के प्रव्रज्याग्रहण का विस्तृत वर्णन—

४६. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! खत्तियकुंडग्गामं नगरं सब्भिंतरबाहिरियं आसियसम्मज्जिओवलित्तं जहा उववाइए[3] जाव पच्चप्पिणंति।

[४६] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उन्हें इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही क्षत्रियकुण्डग्राम [नगर के अन्दर और बाहर पानी का छिड़काव करो, झाड़/बुहार कर जमीन की सफाई करके उसे लिपाओ, इत्यादि औपपातिक सूत्र में अंकित वर्णन के अनुसार यावत् कार्य करके उन कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञा वापस सौंपी।

४७. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं निक्खमणाभिसेयं उवट्ठवेह।

[४७] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने दुबारा भी उन कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और फिर उनसे इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही जमालि क्षत्रियकुमार के महार्थ, महामूल्य, महार्ह (महान् पुरुषों के योग्य) और विपुल निष्क्रमणाभिषेक की तैयारी करो।

४८. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव जाव पच्चप्पिणंति।

[४८] इस पर कौटुम्बिक पुरुषों ने उनकी आज्ञानुसार कार्य करके आज्ञा वापस सौंपी।

विवेचन—कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा नगर की सफाई एवं निष्क्रमणाभिषेक की तैयारी—प्रस्तुत तीन सूत्रों (४६ से ४८ तक) में जमालि के पिता ने दीक्षा की आज्ञा देने के बाद नगर को पूर्ण साफ-सुथरा बनाने का और दीक्षाभिषेक की विधिवत् तैयारी का कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया, जिसका पालन उन्होंने किया।[4]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४६४

२. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ४७२

३. उववाईसूत्र के अनुसार पाठ इस प्रकार है—"सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्त-सित्तसुइयसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं...... मंचाइमंचकलिअं णाणाविहरागउच्छियज्झय-पडागाइपडागमंडियं,.... इत्यादि।" —औपपातिक सूत्र पत्र ६१, सू. २९

४. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४६५

कठिन शब्दों का भावार्थ—**सब्भितरबाहिरियं**—भीतर के सहित बाहर का। **आसिय**=पानी से सींचो (छिड़काव करो)। **सम्मज्जिय**—झाड़ू आदि से सफाई करो। **उवलित्तं**—लीपना। **महत्थं**—महाप्रयोजन वाला। **महग्घं**=महामूल्यवान्। **महरिहं**=महान् पुरुषों के योग्य या महापूज्य। **निक्खमणाभिसेयं**—निष्क्रमणाभिषेक सामग्री को। **उवट्ठवेह**—उपस्थित करो या तैयार करो।[1]

४९. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहं निसीयावेंति, निसीयावेत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं कलसाणं एवं जहा रायप्पसेणइज्जे[2] जाव अट्ठसएणं भोमिज्जाणं कलसाणं सव्विड्ढीए जाव[3] रवेणं महया महया निक्खमणाभिसेगेणं अभिसिंचइ, निक्खमणाभिसेगेण अभिसिंचित्ता करयल जाव जएणं विजएणं वद्धावेंति, जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी—भण जाया! किं देमो? किं पयच्छामो? किणा वा ते अट्ठो?

[४९] इसके पश्चात् जमालि क्षत्रियकुमार के माता-पिता ने उसे उत्तम सिंहासन पर पूर्व की ओर मुख करके बिठाया। फिर एक सौ आठ सोने के कलशों से इत्यादि जिस प्रकार राजप्रश्नीयसूत्र में कहा है, तदनुसार यावत् एक सौ आठ मिट्टी के कलशों से सर्वऋद्धि (ठाठबाठ) के साथ यावत् (वाद्यों के) महाशब्द के साथ निष्क्रमणाभिषेक किया।

निष्क्रमणाभिषेक पूर्ण होने के बाद (जमालिकुमार के माता-पिता ने) हाथ जोड़ -कर जय-विजय-शब्दों से उसे बधाया। फिर उन्होंने उससे कहा—'पुत्र! बताओ, हम तुम्हें क्या दें? तुम्हारे किस कार्य में क्या, (सहयोग) दें? तुम्हारा क्या प्रयोजन है?'

५०. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अम्मा-पियरो एवं वयासी—इच्छामि णं अम्म! ताओ! कुत्तियावणाओ रयहरणं च पडिग्गहं च आणिउं कासवगं च सद्दाविउं।

[५०] इस पर क्षत्रियकुमार जमालि ने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता! मैं कुत्रिकापण से रजोहरण और पात्र मंगवाना चाहता हूँ और नापित को बुलाना चाहता हूँ।

५१. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं गहाय सयसहस्सेणं सयसहस्सेणं कुत्तियावणाओ रयहरणं च पडिग्गहं च आणेह, सयसहस्सेणं च कासवगं सद्दावेह।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति., पत्र ४७६

२. राजप्रश्नीयसूत्रानुसार पाठ यह है—"अट्ठसएणं सुवण्णमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं रुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं सुवण्ण-रुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं सुवण्ण-मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं रुप्प-मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसएणं सुवण्ण-रुप्प-मणिमयाणं कलसाणं।"

—रायप्पसेणइज्ज (गुर्जर ग्रन्थ) पृ. २४१-२४२ कण्डिका १३५

३. 'जाव' शब्दसूचित पाठ—"सव्वजुईए....सव्वबलेणं....सव्वसमुदएणं....सव्वरवेणं....सव्वविभूईए....सव्वविभूसाए ....सव्वसंभमेणं....सव्वपुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सव्वतुडियसद्दसन्निनाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडिय-जमगसमगप्पवाइएणं....संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरय-मुइंग-दुंदुहिनिग्घोसनाइय।"—भगवती. अ. वृ.

[५१] तब क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—"देवानुप्रियो ! शीघ्र ही श्रीघर (भण्डार) से तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ (सोनैया) निकाल कर उनमें से एक-एक लाख सोनैया दे कर कुत्रिकापण से रजोहरण और पात्र ले आओ तथा (शेष) एक लाख सोनैया देकर नापित को बुलाओ।"

५२. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल जाव पडिसुणित्ता खिप्पामेव सिरिघराओ तिण्णि सयसहस्साइं तहेव जाव कासवगं सद्दावेंति।

[५२] क्षत्रियकुमार जमालि के पिता की उपर्युक्त आज्ञा सुन कर वे कौटुम्बिक पुरुष बहुत ही हर्षित एवं संतुष्ट हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर यावत् स्वामी के वचन स्वीकार किये और शीघ्र ही श्रीघर (भण्डार) से तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ निकाल कर कुत्रिकापण से रजोहरण और पात्र लाए तथा नापित को बुलाया।

विवेचन—निष्क्रमणाभिषेक तथा दीक्षा के उपकरणादि की मांग—प्रस्तुत सू. ४९ से ५२ तक में जमालि के माता-पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा उसका निष्क्रमणाभिषेक कराया और फिर जमालि की इच्छानुसार रजोहरण, पात्र मंगवाए और नापित को बुलाया।[1]

निष्क्रमणाभिषेक—दीक्षा के पूर्व प्रव्रजित होने वाले व्यक्ति का माता-पिता आदि द्वारा स्वर्ण आदि के कलशों से अभिषेक (मस्तक पर जलसिंचन करके स्नान) कराना निष्क्रमणाभिषेक है।

कठिन शब्दों का विशेषार्थ—**सिरिघराओ**—श्रीघर—भण्डार से। **कासवगं**=नापित को। **भोजिज्जाणं**=मिट्टी से बने हुए। **सव्विड्ढीए**—समस्त छत्र आदि राजचिह्नरूप ऋद्धिपूर्वक। **पयच्छामो**—विशेषरूप से क्या दें?

कुत्रिकापण—कुत्रिक, अर्थात् स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों पृथ्वियों में संभवित वस्तु मिलने वाली देवाधिष्ठित दुकान।[2]

५३. तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविते समाणे हट्ठे तुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे जाव सरीरे जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता करयल० जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पियरं जएणं विजएणं वद्धावेइ, जएणं विजएणं वद्धावित्ता एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! जं मए करणिज्जं।

[५३] फिर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता के आदेश से कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा नाई को बुलाए जाने पर वह बहुत ही प्रसन्न और तुष्ट हुआ। उसने स्नानादि किया, यावत् शरीर को अलंकृत किया, फिर जहाँ क्षत्रियकुमार जमालि के पिता थे, वहाँ आया और उन्हें जय-विजय शब्दों से वधाया, फिर इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रिय ! मुझे करने योग्य कार्य का आदेश दीजिये।"

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४६५-४६६

२. भगवती. अ० वृत्ति., पत्र ४७६.

५४. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवगं एवं वयासी—तुमं णं देवाणुप्पिया ! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पेहि।

[५४] इस पर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने उस नापित से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रिय ! क्षत्रियकुमार जमालि के निष्क्रमण के योग्य अग्रकेश (सिर के आगे-आगे के बाल) चार अंगुल छोड़ कर अत्यन्त यत्न पूर्वक काट दो।

५५. तए णं से कासवए जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल जाव एवं सामी ! तहत्ताणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थ-पादे पक्खालेइ, सुरभिणा गंधोदएणं हत्थ-पादे पक्खालित्ता सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तीए मुहं बंधइ, मुहं बंधित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पेइ।

[५५] क्षत्रियकुमार जमालि के पिता के द्वारा यह आदेश दिये जाने पर वह नापित अत्यन्त हर्षित एवं तुष्ट हुआ और हाथ जोड़ कर यावत् (इस प्रकार) बोला—"स्वामिन् ! आपकी जैसी आज्ञा है, वैसा ही होगा;" इस प्रकार उसने विनयपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार किया। फिर सुगन्धित गन्धोदक से हाथ-पैर धोए, आठ पट वाले शुद्ध वस्त्र से मुंह बांधा और अत्यन्त यत्नपूर्वक क्षत्रिय-कुमार जमालि के निष्क्रमणयोग्य अग्रकेशों को चार अंगुल छोड़ कर काटा।

विवेचन—नापित द्वारा जमालि का अग्रकेशकर्त्तन=प्रस्तुत तीन सूत्रों में जमालि के पिता द्वारा नाई को बुला कर जमालि के निष्क्रमणयोग्य अग्रकेश काटने का आदेश देने पर वह बहुत प्रसन्न हुआ और विनयपूर्वक आदेश शिरोधार्य करके नहा-धोकर शुद्ध वस्त्र मुंह पर बांध कर यत्नपूर्वक उसने जमालि कुमार के अग्रकेश काटे।[1]

कठिन शब्दों का विशेषार्थ—संदिसंतु—आदेश दीजिए, बताइए। **परेणं जत्तेणं**=अत्यन्त यत्नपूर्वक। **णिक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे**—दीक्षित होने वाले व्यक्ति के आगे के केश चार अंगुल छोड़ कर काटे जाते थे, ताकि गुरु अपने हाथ से उनका लुञ्चन कर सकें, इसे निष्क्रमणयोग्य केशकर्तन कहा जाता था। **कप्पेहि**—काटो। **अट्ठपडलाए पोत्तीए**—आठ पटल (परत या तह) वाली पोतिका (मुखवस्त्रिका) से।[2]

५६. तए णं सा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छइ, अग्गकेसे पडिच्छित्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेत्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं अच्चेति, अच्चित्ता सुद्धवत्थेणं बंधेइ, सुद्धवत्थेणं बंधित्ता रयणकरंडगंसि पक्खिवति, पक्खिवित्ता हार-वारिधार-सिंदुवार-छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं सुयवियोगदूसहाइं अंसूइं विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी एवं वयासी—एस णं अम्हं जमालिस्स खत्तियकुमारस्स बहूसु तिहीसु य पव्वणीसु य उस्सवेसु य जण्णेसु य छणेसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सति इति कट्टु ओसीसगमूले ठवेति।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ४६६.

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४७६ (ख) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचंदजी), पृ. ७३७

[५६] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि की माता ने शुक्लवर्ण के या हंस-चिह्न वाले वस्त्र की चादर (शाटक) में उन अग्रकेशों को ग्रहण किया। फिर उन्हें सुगन्धित गन्धोदक से धोया, फिर प्रधान एवं श्रेष्ठ गन्ध (इत्र) एवं माला द्वारा उनका अर्चन किया और शुद्ध वस्त्र में उन्हें बांध कर रत्नकरण्डक (रत्नों के पिटारे) में रखा। इसके बाद जमालिकुमार की माता हार, जलधारा, सिन्दुवार के पुष्पों एवं टूटी हुई मोतियों की माला के समान पुत्र के दुःसह (असह्य) वियोग के कारण आंसू बहाती हुई इस प्रकार कहने लगी—"ये (जमालिकुमार के अग्रकेश) हमारे लिए बहुत-सी तिथियों, पर्वों, उत्सवों और नागपूजादिरूप यज्ञों तथा (इन्द्र-) महोत्सवादिरूप क्षणों में क्षत्रियकुमार जमालि के अन्तिम दर्शनरूप होंगे"—ऐसा विचार कर उन्हें अपने तकिये के नीचे रख दिया।

विवेचन—माता ने जमालिकुमार के अग्रकेश सुरक्षित रखे—प्रस्तुत सूत्र में जमालिकुमार के उन अग्रकेशों को अर्चित करके रत्नपिटक में सुरक्षित रखने का वर्णन है। साथ ही यह बताया गया है कि उन्हें सुरक्षित रखने का कारण माता की ममता है कि भविष्य में जमालि के ये केश ही उसके दर्शन या स्मृति के प्रतीक होंगे।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—पडिच्छइ—ग्रहण किये। **हंसलक्खणेणं पडसाडएणं**—हंस के समान श्वेत अथवा हंसचिह्न वाले पट-शाटक—वस्त्र की चादर अथवा पल्ले में। **पक्खिवति**—रखे। **अग्गेहिं**—प्रधान (अग्र)। **वरेहिं**—श्रेष्ठ। **सिंदुवार**—सिन्दुवार (निर्गुण्डी) के सफेद फूल। **छिन्नमुत्तावलिप्पगासाइं**—टूटी हुई मुक्तावली (मोतियों की माला) के समान। **तिहीसु**—तिथियों—मदनत्रयोदशी आदि तिथियों में, **पव्वणीसु**—कार्तिक पूर्णिमा आदि पर्वों में। **उस्सवेसु**—प्रियजनों के संगमादि समारोहों में। **जण्णेसु**—नागपूजा आदि यज्ञों में। **छणेसु**—इन्द्रमहोत्सवादिरूप क्षणों—अवसरों पर। **अपच्छिमे दरिसणे**—अन्तिम दर्शन। **ओसीसगमूले**—तकिये के नीचे। **ठवेति**—रख देती है।[2]

५७. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मा-पियरो दुच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेंति, दुच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावित्ता जमालिं खत्तियकुमारं सेयापीतएहिं कलसेहिं ण्हाणेंति, से० २[3] पम्हसुकुमालाए सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेंति, सुरभीए गंधकासाइए गायाइं लूहेत्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपंति, गायाइं अणुलिंपित्ता नासानिस्सासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवातिरेगं धवलं कणगखचियंतकम्मं महरिहं हंसलक्खणं पडसाडगं परिहिंति, परिहित्ता हारं पिणद्धेंति, २ अद्धहारं पिणद्धेंति, अ० पिणद्धित्ता एवं जहा सूरियाभस्स[4] अलंकारो तहेव जाव चित्तं रयणसंकडुक्कडं मउडं पिणद्धेंति, किं बहुना ? गंथिम-वेढिम-पूरिम-संघातिमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेंति।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४६७
२. [क] भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४७७ (ख) भगवती भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. १३३७
३. पूरा पाठ—"सेयापीतएहिं कलसेहिं ण्हाणेत्ता।"
४. राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव के अलंकार का वर्णन—"एगावलिं पिणद्धेंति, एवं मुक्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं अंगयाइं केऊराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तयं दसमुद्दयाणंतय वच्छसुत्तं मुरविं कंठमुरविं पालंबं कुंडलाइं चूडामणिं।" —भगवती. अ. वृ. ४७७, पत्र; रायप्पसेणइज्जं (गुर्जर.) पृ. २५१-२५२ कण्डिका १३७

[५७] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि के माता-पिता ने दूसरी बार भी उत्तरदिशाभिमुख सिंहासन रखवाया और क्षत्रियकुमार जमालि को श्वेत और पीत (चांदी और सोने के) कलशों से स्नान करवाया। फिर रुएँदार सुकोमल गन्धकाषायित सुगन्धियुक्त वस्त्र (तौलिये या अंगोछे) से उसके अंग (गात्र) पोंछे। उसके बाद सरस गोशीर्षचन्दन का गात्रों पर लेपन किया। तदनन्तर नाक के निःश्वास की वायु से उड़ जाए, ऐसा बारीक, नेत्रों को आह्लादक (या आकर्षक) लगने वाला, सुन्दर वर्ण और कोमल स्पर्श से युक्त, घोड़े के मुख की लार से भी अधिक कोमल, श्वेत और सोने के तारों से जड़ा हुआ, महामूल्यवान् एवं हंस के चिह्न से युक्त पटशाटक (रेशमी वस्त्र) पहिनाया। फिर हार (अठारह लड़ी वाला हार) एवं अर्द्धहार (नवसरा हार) पहिनाया। जैसे राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के अलंकारों का वर्णन है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए, यावत् विचित्र रत्नों से जटित मुकुट पहनाया। अधिक क्या कहें ! ग्रन्थिम (गूंथी हुई), वेष्टिम (लपेटी हुई), पूरिम—पूरी हुई—भरी हुई और संघातिम (परस्पर संघात की हुई) रूप से तैयार की हुई चारों प्रकार की मालाओं से कल्पवृक्ष के समान उस जमालिकुमार को अलंकृत एवं विभूषित किया गया।

विवेचन—वस्त्राभूषणों से सुसज्जित : जमालिकुमार—प्रस्तुत ५७ वें सूत्र में वर्णन है-दीक्षाभिलाषी जमालिकुमार को उसके माता-पिता द्वारा स्नानादि करवा कर बहुमूल्य वस्त्रों और सोने चांदी आदि के आभूषणों से सुसज्जित किया गया।[1]

कठिन शब्दों का विशेषार्थ—उत्तरावक्कमणं—उत्तराभिमुख—उत्तरदिशा की ओर। **रयावेंति**—रचवाया या रखवाया। **सेयापीतएहि**—श्वेत (चांदी) और पीत (सोने) के। **पम्हलसुकुमालाए**—रोंएदार मुलायम वस्त्र (तौलिये) से। **गायाइं लूहेंति**—शरीर पोंछा। **अणुलिंपंति**—लेपन किया। **नासा-निस्सास-वायवोज्झं**—नासिका के श्वास से उड़ जाए ऐसा बारीक। **चक्खुहरं**—नेत्रों को आनन्द देने वाला, आकर्षक। **हयलालापेलवातिरेगं**—घोड़े के मुंह की लार से भी अधिक नरम। **कणगखचिंतंतकम्मं**—जिसके किनारों पर सोने के तार जड़े हुए थे। **पिणद्धेंति**=धारण कराया। **रयणसंकडुक्कडं**—रत्नों से जटित। **पूरिम**—पिरोई हुई। **संघातिम**—परस्पर जोड़े हुए। **मल्लेणं**=माला से।[2]

५८. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासि—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं जहा रायप्पसेणइज्जे[3] विमाणवण्णओ जाव मणिरयणघंटियाजालपरिखित्तं पुरिससहस्सवाहणीयं सीयं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) भा. १, पृ. ४६७

२. भगवती भा. ४ (पं. घेवरचन्द), पृ. १७४०

३. राजप्रश्नीय में वर्णित विमानवर्णन यह है—"ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-वालग-विहग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्तं,.....खंभुग्गयवइरवेइयापरिगताभिरामं.....विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव,.....अच्चीसहस्समालिणीयं,.....रूवगसहस्सकलियं, भिसमाणं.....भिब्भिसमाणं, चक्खुलोयणलेसं,.....सुहफासं सस्सिरीयरूवं घंटावलिचलियमहुरमणहरस्सरं, सुहं कंतं दरिसणिज्जं निउणोवियमिसिमिसंतमणिरयणघंटिया-जालपरिक्खित्तं.....।"
—रायप्पसेणइज्जसुत्तं (गुर्जर.) पृ. १५५ कं. १७

[५८] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही अनेक सैकड़ों खंभों से युक्त, लीलापूर्वक खड़ी हुई पुतलियों वाली, इत्यादि, राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित विमान के समान यावत्-मणि-रत्नों की घंटियों के समूह से चारों ओर से घिरी हुई, हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने योग्य शिविका (पालकी) (तैयार करके) उपस्थित करो और मेरी इस आज्ञा का पालन करके मुझे पुनः निवेदन करो ।

५९. तए णं ते कोडुंवियपुरिसा जाव पच्चप्पिणंति ।

[५९] इस आदेश को सुन कर कौटुम्बिक पुरुषों ने उसी प्रकार की शिविका तैयार करके यावत् (उन्हें) निवेदन किया ।

६०. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे केसालंकारेणं वत्थालंकारेणं मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं चउव्विहेणं अलंकारेण अलंकारिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, सीहासणाओ अब्भुट्ठेत्ता सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणे सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे सन्निसण्णे ।

[६०] तत्पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि केशालंकार, वस्त्रालंकार, माल्यालंकार और आभरणालंकार इन चार प्रकार के अलंकारों से अलंकृत होकर तथा प्रतिपूर्ण अलंकारों से सुसज्जित हो कर सिंहासन से उठा । वह दक्षिण की ओर से शिविका पर चढ़ा और श्रेष्ठ सिंहासन पर पूर्व की ओर मुंह करके आसीन हुआ ।

६१. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया ण्हाया कयवलिकम्मा जाव सरीरा हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, सीयं दुरूहित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणे पासे भद्दासणवरंसि सन्निसण्णा ।

[६१] फिर क्षत्रियकुमार जमालि की माता स्नानादि करके यावत् शरीर को अलंकृत करके हंस के चिह्न वाला पटशाटक लेकर दक्षिण की ओर से शिविका पर चढ़ी और जमालिकुमार की दाहिनी ओर श्रेष्ठ भद्रासन पर बैठी ।

६२. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मधाई ण्हाया जाव सरीरा रयहरणं च पडिग्गहं च गहाय सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी सीयं दुरूहइ, सीयं दुरूहित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स वामे पासे भद्दासणवरंसि सन्निसणा ।

[६२] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि की धायमाता ने स्नानादि किया, यावत् शरीर को अलंकृत करके रजोहरण और पात्र ले कर दाहिनी ओर से (अथवा शिविका की प्रदक्षिणा करती हुई) शिविका पर चढ़ी और क्षत्रियकुमार जमालि के बाईं ओर श्रेष्ठ भद्रासन पर बैठी ।

६३. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगय-गय जाव[1] रूवजोव्वणविलासकलिया सुंदरथण०[2] हिम-रयत-कुमुद-कुंदेंदुप्पगासं सकोरेंटमल्लदामं

---

१. 'जाव' पद-सूचित पाठ—"संगय-गय-हसिय-भणिय-चिट्ठिय-विलास-संलावुल्लावनिउणजुत्तो-वयारकुसला ।"
—अ. वृ.

२. "सुंदरथण इत्यनेन"—"सुंदरथण-जहण-वयण-कर-चरण-णयण-लायण्ण-रूव-जोव्वणगुणोववेय त्ति ।"
—अ. वृ.

धवलं आयवत्तं गहाय सलीलं धारेमाणी धारेमाणी चिट्ठति ।

[६३] फिर क्षत्रियकुमार जमालि के पृष्ठभाग में (पीछे) शृंगार के घर के समान, सुन्दर वेष वाली, सुन्दर गतिवाली, यावत् रूप और यौवन के विलास से युक्त तथा सुन्दर स्तन, जघन (जांघ), वदन (मुख), कर, चरण, लावण्य, रूप एवं यौवन के गुणों से युक्त एक उत्तम तरुणी हिम (बर्फ), रजत (चांदी), कुमुद, कुन्दपुष्प एवं चन्द्रमा के समान, कोरण्टक पुष्प की माला से युक्त, श्वेत छत्र (आतपत्र) हाथ में लेकर लीला-पूर्वक धारण करती हुई खड़ी हुई ।

६४. तए णं तस्स जमालिस्स उभयोपासिं दुवे वरतरुणीओ सिंगारागारचारु जाव कलियाओ नाणामणि-कणग-रयण-विमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंक-कुंदेंदु-दगरय-अमयमहियफेणपुंजसन्निकासाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ वीयमाणीओ चिट्ठंति ।

[६४] तदनन्तर जमालिकुमार के दोनों (दाहिनी तथा बांई) ओर शृंगार के घर के समान, सुन्दर वेष वाली यावत् रूप-यौवन के विलास से युक्त दो उत्तम तरुणियां हाथ में चामर लिए हुए लीलासहित ढुलाती हुई खड़ी हो गई । वे चामर अनेक प्रकार की मणियों, कनक, रत्नों तथा विशुद्ध एवं महामूल्यवान् तपनीय (लाल स्वर्ण) से निर्मित उज्ज्वल एवं विचित्र दण्ड वाले तथा चमचमाते हुए (देदीप्यमान) थे और शंख, अंकरत्न, कुन्द-(मोगरा के) पुष्प, चन्द्र, जलविन्दु, मथे हुए अमृत के फेन के पुंज के समान श्वेत थे ।

६५. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार जाव कलिया सेयं रयतामयं विमलसलिलपुण्णं मत्तगयमहामुहाकितिसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठइ ।

[६५] और फिर क्षत्रियकुमार जमालि के उत्तरपूर्व (ईशानकोण) में शृंगार के गृह के समान, उत्तम वेष वाली यावत् रूप, यौवन और विलास से युक्त एक श्रेष्ठ तरुणी पवित्र (शुद्ध) जल से परिपूर्ण, उन्मत्त हाथी के महामुख के आकार के समान श्वेत रजतनिर्मित कलश (भृंगार) (हाथ में) लेकर खड़ी हो गई ।

६६. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एगा वरतरुणी सिंगारागार जाव कलिया चित्तं कणगदंडं तालयंडं गहाय चिट्ठति ।

[६६] उसके बाद क्षत्रियकुमार जमालि के दक्षिणपूर्व (आग्नेय कोण) में शृंगार गृह के तुल्य यावत् रूप यौवन और विलास से युक्त एक श्रेष्ठ युवती विचित्र स्वर्णमय दण्ड वाले एक ताड़पत्र के पंखे को लेकर खड़ी हो गई ।

विवेचन—जमालिकुमार परिजनों आदि सहित शिविकारूढ हुआ—प्रस्तुत सात सूत्रों (६० से ६६ सू. तक) में जमालिकुमार तथा उसकी माता, धायमाता तथा अन्य तरुणियों के शिविका पर चढ़ कर यथास्थान स्थित हो जाने का वर्णन है ।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ४६८-४६९ ।

कठिन शब्दों का विशेषार्थ—सीयं अणुप्पदाहिणीकरेमाणी : दो अर्थ—(१) शिविका की प्रदक्षिणा करते हुए, (२) दक्षिण की ओर से शिविका पर चढ़ी। **पुरत्थाभिमुहे**—पूर्व की ओर मुख करके। **सण्णिसण्णे**—बैठा। **भद्दासणवरंसि**—उत्तम भद्रासन पर। **'केसालंकारेणं' इत्यादि का भावार्थ**—केश, वस्त्र, माला और आभूषणों को यथास्थान साजसज्जा से युक्त किया। **पडिग्गहं**—पात्र। **वामे पासे**—बाएं पार्श्व में। **पिट्ठओ**—पृष्ठभाग में—पीठ के पीछे। **सिंगारागार**—शृंगार का घर, अथवा शृंगारप्रधान आकृति। **विलासकलिया**—विलास—नेत्रजनितविकार से युक्त। **कणग**—पीला सोना। **तवणिज्ज**—लाल सोना। **महरिह**—महामूल्य। **सन्निकासाओ**—समान। **पगासं**—समान। **आयवत्तं**—छत्र। **सलीलं**—लीला सहित। **धारेमाणी**—धारण करती हुई। **वीय-माणीओ**=ढुलाती हुईं। **संगय-गय**=संगत—व्यवस्थित गति (चाल) इत्यादि। **विमलसलिलपुण्णं**—जल से पूर्ण। **मत्तगय-महामुहाकितिसमाणं**—उन्मत्त गज के मुख की स्वच्छ आकृति के समान। **भिंगारं**—कलश या झारी। **उत्तरपुरत्थिमेणं**—उत्तर-पूर्व दिशा में। **दाहिणपुरत्थिमेणं**—दक्षिणपूर्व दिशा (आग्नेयकोण) में। **चित्तं कणगदंडं**—विचित्र स्वर्णमय दण्ड (हत्थे) वाले। **तालयंटं**—ताड़पत्र के पंखे को।[1]

६७. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सरिसयं सरित्तयं सरिव्वयं सरिसलावण्ण-रूव-जोव्वणगुणोववेयं एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह।

[६७] इसके पश्चात् क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उन्हें इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही एक सरीखे, समान त्वचा वाले, समान वय वाले, समान लावण्य, रूप और यौवन-गुणों से युक्त, एक सरीखे आभूषण, वस्त्र और परिकर धारण किये हुए एक हजार श्रेष्ठ कौटुम्बिक तरुणों को बुलाओ।'

६८. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव सरिसयं सरित्तयं जाव सद्दावेंति।

[६८] तब वे कौटुम्बिक पुरुष स्वामी के आदेश को यावत् स्वीकार करके शीघ्र ही एक सरीखे, समान त्वचा वाले यावत् एक हजार श्रेष्ठ कौटुम्बिक तरुणों को बुला लाए।

६९. तए णं ते कोडुंबियपुरिस(? तरुणा) जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणो कोडुंबिय-पुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ० ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता एगाभरण-वसणगहियनिज्जोया जेणेव जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी—संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! जं अम्हेहिं करणिज्जं।

---

१. (क) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७४०-१७४२

(ख) भग. अ. वृ., पत्र ४७८

[६९] जमालि क्षत्रियकुमार के पिता के (आदेश से) कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाये हुए वे एक हजार तरुण सेवक हर्षित और सन्तुष्ट हो कर, स्नानादि से निवृत्त हो कर बलिकर्म, कौतुक, मंगल एवं प्रायश्चित्त करके एक सरीखे आभूषण और वस्त्र तथा वेष धारण करके जहाँ जमालि क्षत्रियकुमार के पिता थे, वहाँ आए और हाथ जोड कर यावत् उन्हें जय-विजय शब्दों से वधा कर इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! हमें जो कार्य करना है, उसका आदेश दीजिए ।

७०. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं एवं वदासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ण्हाया कयबलिकम्मा जाव गहियनिज्जोगा जमालिस्स खत्तियकमारस्स सीयं परिवहह ।

[७०] इस पर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने उन एक हजार तरुण सेवकों को इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! तुम स्नानादि करके यावत् एक सरीखे वेष में सुसज्ज होकर जमालिकुमार की शिविका को उठाओ ।

७१. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा (? तरुणा) जमालिस्स खत्तियकुमारस्स जाव पडिसुणेत्ता ण्हाया जाव गहियनिज्जोगा जमालिस्स खत्तियकुमारस्स सीयं परिवहंति ।

[७१] तब वे कौटुम्बिक तरुण क्षत्रियकुमार जमालि के पिता का आदेश शिरोधार्य करके स्नानादि करके यावत् एक सरीखी पोशाक धारण किये हुए (उन तरुण सेवकों ने) क्षत्रियकुमार जमालि की शिविका उठाई ।

विवेचन—कौटुम्बिक तरुणों को शिविका उठाने का आदेश—प्रस्तुत ५ सूत्रों (६७ से ७१ तक) में जमालिकुमार के पिता द्वारा एक हजार तरुण सेवकों को बुलाकर शिविका उठाने का आदेश देने और उनके द्वारा उसका पालन करने का वर्णन है ।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—एगाभरण-वसण-गहिय-निज्जोया—एक-से आभरणों और वस्त्रों का (निर्योग) परिकर धारण किये हुए। **अट्ठट्ठमंगलगा**—आठ-आठ मंगल (मंगलमय वस्तुएँ)। **गगणतलमणुलिहंती**—आकाशतल को स्पर्श करने वाली ।[2]

७२. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगलगा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तं०—सोत्थिय सिरिवच्छ जाव दप्पणा[3] । तदणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारं जहा उववाइए[4] जाव गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया । एवं जहा[5] उववाइए तहेव भाणियव्वं जाव आलोयं च करेमाणा 'जय जय' सद्दं च

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४६९-४७०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४७९

३. 'जाव' पद सूचित पाठ—"**नंदियावत्त-वद्धमाणग-भद्दासण-कलस-मच्छ**।" अ. वृ.

४. औपपातिक सूत्र में पाठ इस प्रकार है—"**दिव्वा य छत्तपडागा**······**सचामरादंसरइयआलोयदरिसणिज्जा वाउद्धुयविजयवेजयंती य ऊसिया गगणतलमणुलिहंती** ।"

—औपपातिकसूत्र, कुणिकनृपतिनिर्गमनवर्णन पृ. ६९ प्रथमपार्श्व सू. ३१ ।

५. औपपातिक सूत्र में वर्णित पाठ इस प्रकार है—"**तयाणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं, पलंबकोरंटमल्लदामोवसोहियं चंदमंडलनिभं समूसियं विमलमायवत्तं पवरं सीहासणं च मणिरयणपायपीढं सपाउयाजुगसमाउत्तं**······ **बहुकिंकरकम्मगरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं**······**पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं । तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गाहा**

पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तदणंतरं च णं बहवे उग्गा भोगा जहा[1] उववाइए जाव महापुरिसवग्गुरा परिक्खित्ता जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ य मग्गओ य पासओ य अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

[७२] हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने योग्य उस शिविका पर जब जमालि क्षत्रियकुमार आदि सब आरूढ हो गए, तब उस शिविका के आगे-आगे सर्वप्रथम ये आठ मंगल अनुक्रम से चले, यथा—(१) स्वस्तिक, (२) श्रीवत्स, (३) नन्द्यावर्त्त, (४) वर्धमानक, (५) भद्रासन, (६) कलश, (७) मत्स्य और (८) दर्पण। इन आठ मंगलों के अनन्तर पूर्ण कलश चला; इत्यादि, औपपातिकसूत्र के कहे अनुसार यावत् गगनतलचुम्बिनी वैजयन्ती (ध्वजा) भी आगे यथानुक्रम से रवाना हुई। इस प्रकार जैसे औपपातिक सूत्र में कहा है, तदनुसार यहाँ भी कहना चाहिए; यावत् आलोक करते हुए और जय-जयकार शब्द का उच्चारण करते हुए अनुक्रम से आगे चले। इसके पश्चात् बहुत से उग्रकुल के, भोगकुल के क्षत्रिय, इत्यादि औपपातिक सूत्र में कहे अनुसार यावत् महापुरुषों के वर्ग से परिवृत्त होकर क्षत्रियकुमार जमालि के आगे, पीछे और आसपास चलने लगे।

७३. तए णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया ण्हाए कतबलिकम्मे जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भड-चडगर जाव परिक्खित्ते जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छइ।

कुंतग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा चावग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलगग्गाहा पीढयग्गाहा वीणग्गाहा कूवयग्गाहा हडप्पग्गाहा पुरओ जहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तयाणंतरं च बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो.... पिच्छिणो ... हासकरा.... डमरकरा.... दवकरा.... चाटुकरा, कंदप्पिया कोक्कुइआ.... वायंता य गायंता य हासंता य भासिता य सासिता य.... सावेंता य रक्खंता य.... ।" —औपपातिक सूत्र ३१-३२, प. ६४, ७४।

एतच्च वाचनान्तरे प्रायः साक्षाद् दृश्यते एव। तथेदमपरं तत्रैवाधिकम्—तयाणंतरं च णं जच्चाणं वरमल्लिहाणाणं चंचुच्चियललियपुलयविक्कमविलासियगईणं हरिमेलामउलमल्लियच्छाणं थासगअमिलाणचमरगंडपरिमंडियकडीणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं ईसिदंताणं ईसिमत्ताणं ईसिउन्नयविसालधवलदंताणं कंचणकोसीपविट्ठदंतोवसोहियाणं अट्ठसयं गयकलहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं सच्छत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सखिंखिणीहेमजालपेरंतपरिक्खित्ताणं सनंदिघोसाणं हेमवयचित्ततिणिसकणगनिज्जुत्तदारुगाणं सुसंविद्धचक्कमंडलधुराणं कालायससुकयनेमिजंतकम्माणं आइन्नवरतुरगसुसंपउत्ताणं कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियाणं सरसतवत्तीसतोणपरिमंडियाणं सकंकडवडेंसगाणं सचावसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च असि-सत्ति-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-धणु-वाणसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं बहवे राईसर-तलवर-कोडुंबिय-माडंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहपभिइओ अप्पेगइया हयगया अप्पेगइया गयगया अप्पेगइया रहगया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

१. औपपातिक सूत्र में यह पाठ इस प्रकार है—"राइन्ना खत्तिया इक्खागा नाया कोरव्वा।"
—औपपातिक सू. २७ प. ५८-५९

[७३] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि के पिता ने स्नान आदि किया। यावत् वे विभूषित होकर उत्तम हाथी के कंधे पर चढ़े और कोरण्टक पुष्प की माला से युक्त छत्र धारण किये हुए, श्वेत चामरों से बिंजाते हुए, घोड़े, हाथी, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना से परिवृत होकर तथा महासुभटों के समुदाय से घिरे हुए यावत् क्षत्रियकुमार के पीछे-पीछे चल रहे थे।

७४. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पुरओ महं आसा आसव(वा)रा, उभओ पासिं णागा णागवरा, पिट्ठओ रहा रहसंगेल्ली।

[७४] साथ ही उस जमालि क्षत्रियकुमार के आगे बड़े-बड़े और श्रेष्ठ घुड़सवार तथा उसके दोनों बगल (पार्श्व) में उत्तम हाथी एवं पीछे रथ और रथसमूह चल रहे थे।

विवेचन—शिविका के आगे-पीछे एवं आसपास चलने वाले मंगलादि एवं जनवर्ग—प्रस्तुत सूत्रों में यह वर्णन है कि सहस्रपुरुषवाहिनी शिविका पर सबके आरूढ़ होने पर उसके आगे-आगे अष्ट मंगल, छत्र, पताका, चामर, विजयवैजयन्ती आदि तथा क्रमशः पीठ, सिंहासन तथा अनेक किंकर, कर्मकर, एवं यष्टि, भाला, चामर, पुस्तक, पीठ, फलक, वीणा, कुतप (कुप्पी) आदि लेकर चलने वाले एवं उनके पीछे दण्डी, मुण्डी, शिखण्डी, जटी, पिच्छी, हास्यादि करने वाले लोग गाते-बजाते, हंसते-हंसाते चले जा रहे थे। निष्कर्ष यह कि जमालिकुमार की शिविका के साथ-साथ अपार जनसमूह चल रहा था।

उसके पीछे जमालिकुमार के पिता चतुरंगिणी सेना एवं भटादिवर्ग के साथ चल रहे थे। उनके पीछे श्रेष्ठ घोड़े, घुड़सवार, उत्तम हाथी, रथ तथा रथसमुदाय चल रहे थे।[1]

७५. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे अब्भुग्गयभिंगारे पग्गहियतालियंटे ऊसवियसेतछत्ते पवीइतसेतचामरबालवीयणीए सव्विड्डीए जाव[2] णादितरवेणं खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[७५] इस प्रकार (दीक्षाभिलाषी) क्षत्रियकुमार जमालि सर्व ऋद्धि (ठाठबाठ) सहित यावत् बाजे-गाजे के साथ (वाद्यों के निनाद के साथ) चलने लगा। उसके आगे कलश और ताड़पत्र का पंखा लिये हुए पुरुष चल रहे थे। उसके सिर पर श्वेत छत्र धारण किया हुआ था। उसके दोनों ओर श्वेत चामर और छोटे पंखे बिंजाए जा रहे थे। [इनके पीछे बहुत-से लकड़ी, भाला, पुस्तक यावत् वीणा आदि लिये हुए लोग चल रहे थे। उनके पीछे एक सौ आठ हाथी आदि, फिर लाठी, खड्ग, भाला आदि, लिये हुए पदाति (पैदल चलने वाले)-पुरुष तथा उनके पीछे बहुत-से युवराज, धनाढ्य,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४७१-४७२

२ 'जाव' पद सूचित पाठ—"**तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा जाव पुत्थयग्गाहा जाव वीणग्गाहा। तयाणंतरं च णं अट्ठसयं गयाणं अट्ठसयं तुरगाणं अट्ठसयं रहाणं। तयाणंतरं च णं लउड-असि-कोंतहत्थाणं बहूणं पायत्ताणीणं पुरओ संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं बहवे राईसर-तलवर जाव सत्थवाहपभिइओ पुरओ संपट्ठिया जाव णादितरवेणं।**

—औपपातिक सू ३२, पत्र ७३

यावत् सार्थवाह प्रभृति तथा बहुत-से लोग यावत् गाते-बजाते, हंसते-खेलते चल रहे थे ।] (इस प्रकार) क्षत्रियकुमार जमालि क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के मध्य में से होकर जाता हुआ, ब्राह्मणकुण्डग्राम के बाहर जहाँ बहुशालक नामक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, उस ओर गमन करने लगा ।

विवेचन—जमालिकुमार का सर्वऋद्धि सहित भगवान् की ओर प्रस्थान—प्रस्तुत सू. ७५ में अत्यन्त ठाठबाठ, राजचिह्नों एवं सभी प्रकार के जनवर्ग के साथ भगवान् महावीर की सेवा में ब्राह्मणकुण्ड की ओर विरक्त जमालिकुमार के प्रस्थान का वर्णन है ।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अब्भुग्गयभिंगारे—आगे कलश सिर पर ऊँचा उठाए हुए । **पग्गहियतालियंटे**—ताड़पत्र के पंखे लिये हुए । **ऊसवियसेतछत्ते**—ऊँचा श्वेत छत्र धारण किया हुआ । **पवीइत-सेत-चामर-वालवीयणीए**—श्वेत चामर और छोटे पखे दोनों ओर विजाते हुए । **णादित-रवेणं**—वाद्यों के शब्द सहित । **पहारेत्थ गमणाए**—गमन करने लगा ।[2]

७६. तए णं तस्स जमालिस्स खत्तियकुमारस्स खत्तियकुंडग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छमाणस्स सिंघाडग-तिग-चउक्क जाव[3] पहेसु बहवे अत्थत्थिया जहा[4] उववाइए जाव अभिनंदंता य अभित्थुणंता य एवं वयासी—जय जय णंदा ! धम्मेणं, जय जय णंदा ! तवेणं, जय जय णंदा ! भद्दं ते, अभग्गेहिं णाण-दंसण-चरित्तमुत्तमेहिं अजियाइं जिणाहि इंदियाइं, जियं च पालेहि समणधम्मं, जियविग्घो वि य वसाहि तं देव ! सिद्धिमज्झे, णिहणाहि य राग-दोसमल्ले तवेणं धितिधणियबद्धकच्छे, मद्दाहि अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं, अप्पमत्तो हराहि आराहणपडागं च धीर ! तिलोक्करंगमज्झे, पावय वितिमिरमणुत्तरं केवलं च णाणं, गच्छ य मोक्खं परं पदं जिणवरोवदिट्ठेणं सिद्धिमग्गेणं अकुडिलेणं, हंता परीसहचमुं, अभिभविय गामकंटकोवसग्गा णं, धम्मे ते अविग्घमत्थु । त्ति कट्टु अभिनंदंति य अभिथुणंति य ।

[७६] जब क्षत्रियकुमार जमालि क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के मध्य में से होकर जा रहा था, तब शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क यावत् राजमार्गों पर बहुत-से अर्थार्थी (धनार्थी), कामार्थी इत्यादि लोग; औपपातिक सूत्र में कहे अनुसार इष्ट, कान्त, प्रिय आदि शब्दों से यावत् अभिनन्दन एवं स्तुति करते हुए इस प्रकार कहने लगे—"हे नन्द (आनन्ददाता) ! धर्म द्वारा तुम्हारी जय हो ! हे नन्द ! तप के

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ४७२

२. भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७४६

३. 'जाव' पद सूचित पाठ—'चच्चर-चउम्मुह-महापह ।'

४. औपपातिक सूत्र में वर्णित पाठ यावत् अभिनंदता, तक—"कामत्थिया भोगत्थिया लाभत्थिया इड्डिसिया किट्टिसिया कारोडिया कारवाहिया संखिया चक्किया नंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पूसमाणवा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं ओरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीयाहिं हिययगमणिज्जाहिं हिययपल्हायणिज्जाहिं मिय-महुर-गंभीरगाहियाहिं अट्ठसइयाहिं ताहिं अपुणरुत्ताहिं वग्गूहिं अणवरयं अभिनंदंता य ।" —औपपातिक सू. ३२, पत्र ७३

द्वारा तुम्हारी जय हो ! हे नन्द ! तुम्हारा भद्र (कल्याण) हो ! हे देव ! अखण्ड उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा (अब तक) अविजित इन्द्रियों को जीतो और विजित श्रमणधर्म का पालन करो। हे देव ! विघ्नों को जीत कर सिद्धि (मुक्ति) में जाकर वसो ! तप से धैर्य रूपी कच्छ को अत्यन्त दृढता-पूर्वक बांध कर राग-द्वेष रूपी मल्लों को पछाड़ो ! उत्तम शुक्लध्यान के द्वारा अष्टकर्मशत्रुओं का मर्दन करो ! हे धीर ! अप्रमत्त होकर त्रैलोक्य के रंगमंच (विश्वमण्डप) में आराधनारूपी पताका ग्रहण करो (अथवा फहरा दो) और अन्धकार रहित (विशुद्ध प्रकाशमय) अनुत्तर केवलज्ञान को प्राप्त करो ! तथा जिनवरोपदिष्ट सरल (अकुटिल) सिद्धिमार्ग पर चल कर परमपदरूप मोक्ष को प्राप्त करो ! परीषह-सेना को नष्ट करो तथा इन्द्रियग्राम के कण्टकरूप (प्रतिकूल) उपसर्गों पर विजय प्राप्त करो ! तुम्हारा धर्माचरण निर्विघ्न हो !" इस प्रकार से लोग अभिनन्दन एवं स्तुति करने लगे।

विवेचन—विविध जनों द्वारा जमालिकुमार को आशीर्वाद, अभिनन्दन एवं स्तुति—प्रस्तुत सू. ७६ में निरूपण है कि क्षत्रियकुण्ड से ब्राह्मणकुण्ड जाते हुए जमालिकुमार को मार्ग में बहुत-से धनार्थी, कामार्थी, भोगार्थी, कापालिक, भाण्ड, मागध, भाट आदि ने विविध प्रकार से अपने उद्देश्य में सफल होने का आशीर्वाद दिया, उसका अभिनन्दन एवं स्तवन किया।[1]

विशेषार्थ—अजियाइं जिणाहि—नहीं जीती हुई (इन्द्रियों) को जीतो। **अभग्गेहिं**—अखण्ड। **णिहणाहि**—नष्ट करो। **णंदा धम्मेण**-धर्म से बढ़ो। **णंदा**—जगत् को आनन्द देने वाले। **धितिधणियबद्धकच्छे**—धैर्यरूपी कच्छे को दृढ़ता से बांध कर। **मद्दाहि**—मर्दन करो। **हराहि : दो अर्थ**—(१) ग्रहण करो, (२) फहरा दो। **तिलोक्करंगमज्झे**—त्रिलोकरूपी रंगमंडप में। **पावय**—प्राप्त करो। **परिसहचमुं**—परीषहरूपी सेना को। **अभिभविय गामकंटकोवसग्गा**—इन्द्रिय-ग्रामों के कंटकरूप प्रतिकूल उपसर्गों को हरा कर। **अविग्घमत्थु**—निर्विघ्न हो।[2]

७७. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे नयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे एवं जहा उववाइए[3] कूणिओ जाव णिग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नगरे जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता छत्तादीए तित्थगरातिसए पासइ, पासित्ता पुरिससहस्स-वाहिणिं सीयं ठवेइ, ठवित्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहइ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ४७२-४७३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८१-४८२

३. औपपातिकसूत्रगत पाठ—वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, हिययमालासहस्सेहिं अभिनंदिज्जमाणे अभिनंदिज्जमाणे...., मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे .., कंति-रूव-सोहग्गजोव्वण-गुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे...., अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे दाइज्जमाणे, दाहिणहत्थेणं बहूणं नरनारिसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, भवणभित्तिसहस्साइं समइच्छमाणे सम-इच्छमाणे, तंती-तल-ताल-गीयवाइयरवेणं .. महुरेणं मणहरेणं 'जय जय' सद्दुग्घोसमीसएणं... मंजुमंजुणा घोसेणं.... अपडिबुज्झमाणे कंदरगिरिविवरकुहर-गिरिवर-पासादुद्धघणभवण-देवकुल-सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-आरा-मुज्जाण-काणण-सभ-प्पवप्पदेसभागे-देसभागे समइच्छमाणे कंदर-दरि-कुहर-विवर-गिरि-पायारऽट्टाल-चरिय-दार-गोउर-पासाय-दुवार-भवण-देवकुल-आरामुज्जाण-काणण-सभ-पएसे पडिसुयासयसहस्ससंकुले करेमाणे करेमाणे....., हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइअ-रहघणघणाइय-सद्दमीसएणं महया कलकलरवेण य जणस्स सुमहुरेणं पूरेंतो अंबरं,

[७७] तब औपपातिकसूत्र में वर्णित कूणिक के वर्णनानुसार क्षत्रियकुमार जमालि (दीक्षार्थी के रूप में) हजारों (व्यक्तियों) की नयनावलियों द्वारा देखा जाता हुआ यावत् (क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के बीचोंबीच होकर) निकला। फिर ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर के बाहर बहुशालक नामक उद्यान के निकट आया और ज्यों ही उसने तीर्थंकर भगवान् के छत्र आदि अतिशयों को देखा, त्यों ही हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली उस शिविका को ठहराया और स्वयं उस सहस्रपुरुषवाहिनी शिविका से नीचे उतरा।

७८. तए णं तं जमालिं खत्तियकुमारं अम्मा-पियरो पुरओ काउं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ; तेणेव उवागच्छित्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता एवं वदासी— एवं खलु भंते ! जमाली खत्तियकुमारे अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंग पुण पासणयाए ? से जहानामए उप्पले इ वा पउमे इ वा जाव[1] सहस्सपत्ते इ वा पंके जाए जले संवुड्ढे णोवलिप्पति पंकरएणं णोवलिप्पइ जलरएणं एवामेव जमाली वि खत्तियकुमारे कामेहिं जाए भोगेहिं संवुड्ढे णोवलिप्पइ कामरएणं णोवलिप्पइ भोगरएणं णोवलिप्पइ मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणेणं, एस णं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गे, भीए जम्मण-मरणेणं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं अम्हे सीसभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया सीसभिक्खं।

[७८] तदनन्तर क्षत्रियकुमार जमालि को आगे करके उसके माता-पिता, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उपस्थित हुए और श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, यावत् वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—भगवन् ! यह क्षत्रियकुमार जमालि, हमारा इकलौता, इष्ट, कान्त और प्रिय पुत्र है। यावत्—इसका नाम सुनना भी दुर्लभ है तो दर्शन दुर्लभ हो, इसमें कहना ही क्या ! जैसे कोई कमल (उत्पल), पद्म या यावत् सहस्रदलकमल कीचड़ में उत्पन्न होने और जल में संवर्द्धित (बड़ा) होने पर भी पंकरज से लिप्त नहीं होता, न जलकण (जलरज) से लिप्त होता है; इसी प्रकार क्षत्रियकुमार जमालि भी काम में उत्पन्न हुआ, भोगों में संवर्द्धित (बड़ा) हुआ; किन्तु काम में रंचमात्र भी लिप्त (आसक्त) नहीं हुआ और न ही भोग के अंशमात्र से लिप्त (आसक्त) हुआ और न यह मित्र, ज्ञाति, निज-सम्बन्धी, स्वजनसम्बन्धी और परिजनों में लिप्त हुआ है।

हे देवानुप्रिय ! यह संसार—(जन्म-मरणरूप) भय से उद्विग्न हो गया है, यह जन्म-मरण (के चक्र) के भय से भयभीत हो चुका है। अतः आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो कर, अगारवास

समंता सुयंधवरकुसुमचुण्ण-उव्विद्धवासरेणुमइलं णभं करेंते कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूवनिवहेण जीवलोयं इव वासयंते"", समंतओ खुभियचक्कवालं"", पउरजण-बाल-वुड्ढपमुइयतुरियपहावियविउलाउलबोलबहुलं नभं करेंते""खत्तियकुंडग्गामस्स नयरस्स मज्झंमज्झेणं।"

—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८०-४८२, औपपातिकसूत्र सू. ३१-३२, पत्र ६८-७५

1. 'जाव' पद सूचित पाठ—कुमुदे इ वा नलिणे इ वा सुभगे इ वा सोगंधिए इ वा इत्यादि।

—भगवती. अ. वृत्ति पत्र ४८३

छोड़ कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हो रहा है। इसलिए हम आप देवानुप्रिय को यह शिष्यभिक्षा देते हैं। आप देवानुप्रिय इस शिष्य रूप भिक्षा को स्वीकार करें।

विवेचन—दीक्षार्थी जमालिकुमार भगवान् के चरणों में समर्पित—प्रस्तुत दो (७७-७८) सूत्रों में वर्णन है कि शिविका द्वारा जमालिकुमार के भगवान् की सेवा में पहुँचने पर उसके माता-पिता ने भगवान् के चरणों में शिष्यभिक्षा के रूप में समर्पित किया।[1]

७९. तए णं समणे भगवं महावीरे तं जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी—अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं।

[७९] इस पर श्रमण भगवान् महावीर ने उस क्षत्रियकुमार जमालि से इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो, किन्तु (धर्मकार्य में) विलम्ब मत करो।"

८०. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुयइ।

[८०] भगवान् के ऐसा कहने पर क्षत्रियकुमार जमालि हर्षित और तुष्ट हुआ; तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर को तीन वार प्रदक्षिणा कर यावत् वन्दना-नमस्कार कर, उत्तर-पूर्वदिशा (ईशानकोण) में गया। वहाँ जा कर उसने स्वयं ही आभूषण, माला और अलंकार उतार दिये।

८१. तते णं से जमालिस्स खत्तियकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरण-मल्लालंकारं पडिच्छति, पडिच्छित्ता हार-वारि जाव[2] विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी जमालिं खत्तियकुमारं एवं वयासी—'घडियव्वं जाया !, जइयव्वं जाया !, परक्कमियव्वं जाया !, अस्सि च णं अट्ठे णो पमायेतव्वं' ति कट्टु जमालिस्स खत्तियकुमारस्स अम्मा-पियरो समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता, जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

[८१] तत्पश्चात् जमालि क्षत्रियकुमार की माता ने उन आभूषणों, माला एवं अलंकारों को हंस के चिह्न वाले एक पटशाटक (रेशमी वस्त्र) में ग्रहण कर लिया और फिर हार, जलधारा इत्यादि के समान यावत् आंसू गिराती हुई अपने पुत्र से इस प्रकार बोली—हे पुत्र ! संयम में चेष्टा करना, पुत्र ! संयम में यत्न करना; हे पुत्र ! संयम में पराक्रम करना। इस (संयम के) विषय में जरा भी प्रमाद न करना।

इस प्रकार कह कर क्षत्रियकुमार जमालि के माता-पिता श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में वापस चले गए।

विवेचन—भगवान् द्वारा दीक्षा की स्वीकृति, माता द्वारा जमालि को संयमप्रेरणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ७९ से ८१ तक) में भ. महावीर द्वारा जमालि की दीक्षा की स्वीकृति के संकेत,

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. १, पृ. ४७४

२. 'जाव' पद द्वारा सूचित पाठ—धारा-सिंदुवार-च्छिन्नमुत्तावलिपयासाइं अंसूणि। —अ. वृ.

जमालि द्वारा आभूषणादि के उतारे जाने तथा माता द्वारा संयम में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा का वर्णन किया गया है ।[1]

कठिन पदों के विशेषार्थ—नयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे—हजारों नेत्रों द्वारा देखा जाता हुआ । **संवुड्ढे**—संवर्धित हुआ, वड़ा हुआ । **पंक-रएणं**—कीचड़ के लेशमात्र से । **काम-रएणं**—कामरूप रज से या काम के अंशमात्र से अथवा कामानुराग से । **सीसभिक्खं**—शिष्यरूप भिक्षा । **ओमुयइ**—उतारता है । **घडियव्वं**—संयम पालन की चेष्टा करना । **जइयव्वं**—संयम में यत्न करना । **परक्कमियव्वं**—पराक्रम करना । **णो पमायेतव्वं**—प्रमाद न करना । **विणिम्मुयमाणी**—विमोचन करती हुई । **भोगेहिं**—गन्ध-रस-स्पर्शों में । **कामेहिं**—शव्दादि रूप कामों में ।[2]

८२. तए णं से जमाली खत्तियकुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, करित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता एवं[3] जहा उसभदत्तो (सु. १६) तहेव पव्वइओ, नवरं पंचहिं पुरिससएहिं सद्धि तहेव सव्वं जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जेत्ता वहूहिं चउत्थ-छट्ठ-ऽट्ठम जाव मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

[८२] इसके पश्चात् जमालिकुमार ने स्वयमेव पंचमुष्टिक लोच किया, फिर श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ और ऋषभदत्त ब्राह्मण (सू. १६ में वर्णित) की तरह भगवान् के पास प्रव्रज्या अंगीकार की । विशेषता यह है कि जमालि क्षत्रियकुमार ने ५०० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की, शेष सव वर्णन पूर्ववत् है, यावत् जमालि अनगार ने फिर सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और वहुत-से उपवास, वेला (छट्ठ), तेला (अट्ठम), यावत् अर्द्ध मास, मासखमण (मासिक) इत्यादि विचित्र तप:कर्मों से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करने लगा ।

जमालिकुमार की प्रव्रज्या, अध्ययन और तपस्या—जमालिकुमार ने स्वयं लोच किया, भगवान् से अपनी विरक्त दशा निवेदन करके पांच सौ पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की । प्रव्रज्या-ग्रहण के वाद जमालि अगनार ने ११ अंगशास्त्रों का अध्ययन तथा अनेक प्रकार का तपश्चरण किया, जिसका उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में है ।[4]

'पंचमुट्ठियं' आदि पदों का विशेषार्थ—पंचमुट्ठियं -पांचों अंगुलियों की मुट्ठी वांध कर लोच करना पंचमुष्टिक लोच कहलाता है । **अप्पाणं भावेमाणे**—आत्मभावों में रमण करता हुआ अथवा आत्मचिन्तन—आत्मभावना करता हुआ । **तवोकम्मेहिं**—तप:कर्मों से—तपश्चर्याओं से ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं [मू. पा. टिप्पण] भा. १, पृ. ४७४-४७५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८४

३. 'जहा उसभदत्तो' द्वारा सूचित पाठ—तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, २ वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—आलित्ते णं भंते ! लोए इत्यादि ।
—श. ९, उ. ३३, सू. १६

४. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. १, पृ. ४७५

भगवान् की बिना आज्ञा के जमालि का पृथक् विहार—

८३. तए णं से जमाली अणगारे अन्नया कयाई जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवय-विहारं विहरित्तए ।

[८३] तदनन्तर एक दिन जमालि अनगार श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—भगवन् ! आपकी आज्ञा प्राप्त होने पर मैं पांच सौ अनगारों के साथ इस जनपद से बाहर (अन्य जनपदों में) विहार करना चाहता हूँ ।

८४. तए णं से समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ ।

[८४] यह सुन कर श्रमण भगवान् महावीर ने जमालि अनगार की इस बात (मांग) को आदर (महत्त्व) नहीं दिया, न स्वीकार किया । वे मौन रहे ।

८५. तए णं से जमाली अणगारे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं जाव विहरित्तए ।

[८५] तब जमालि अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर से दूसरी बार और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा—भंते ! आपकी आज्ञा मिल जाए तो मैं पांच सौ अनगारों के साथ अन्य जनपदों में विहार करना चाहता हूँ ।

८६. तए णं समणे भगवं महावीरे जमालिस्स अणगारस्स दोच्चं पि तच्चं पि एयमट्ठं णो आढाइ जाव तुसिणीए संचिट्ठइ ।

[८६] जमालि अनगार के दूसरी बार और तीसरी बार भी वही बात कहने पर श्रमण भगवान् महावीर ने इस बात का आदर नहीं किया, यावत् वे मौन रहे ।

८७. तए णं से जमाली अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ बहुसालाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ ।

[८७] तब (ऐसी स्थिति में) जमालि अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर उनके पास से बहुशालक उद्यान से निकला और फिर वह पांच सौ अनगारों के साथ बाहर के (अन्य) जनपदों में विचरण करने लगा ।

विवेचन—गुरु-आज्ञा विना जमालि अनगार का विचरण—प्रस्तुत ५ सूत्रों (सू. ८३ से ८७ तक) के वर्णन से प्रतीत होता है कि जमालि अनगार द्वारा पांच-सौ अनगारों को लेकर सर्वत्र विचरण की महत्त्वाकांक्षा एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् द्वारा उसके स्वतन्त्र विचरण के पीछे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा एवं अधैर्य के प्रादुर्भाव होने की और भविष्य में देव-गुरु आदि के विरोधी बन जाने की

संभावना देख कर स्वतन्त्र विहार की अनुज्ञा नहीं दी गई। किन्तु इस बात की अवहेलना करके जमालि अनगार भगवान् महावीर से पृथक् विहार करने लगे।[1]

विशेषार्थ—बहिया जणवयविहारं—बाहर के जनपदों में विहार। णो आढाइ—आदर (महत्त्व) नहीं किया। णो परिजाणाइ—अच्छा नहीं जाना या स्वीकार नहीं किया। तुसिणीए संचिट्ठइ—मौन रहे। अंतियाओ—पास से। सद्धिं—साथ।[2]

जमालि अनगार का श्रावस्ती में और भगवान् का चंपा में विहरण—

८८. तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नाम णयरी होत्था। वण्णओ। कोट्ठए चेइए। वण्णओ।[3] जाव वणसंडस्स।

[८८] उस काल उस समय में श्रावस्ती नाम की नगरी थी। उसका वर्णन (जान लेना चाहिए) वहाँ कोष्ठक नामक उद्यान था, उसका भी वर्णन, यावत् वनखण्ड तक (जान लेना चाहिए)।

८९. तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नाम नयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ। जाव पुढविसिलावट्टओ।

[८९] उस काल और उस समय में चम्पा नाम की नगरी थी। उसका वर्णन (औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।) वहाँ पूर्णभद्र नामक चैत्य था। उसका वर्णन (समझ लेना चाहिए) यावत् उसमें पृथ्वीशिलापट्ट था।

९०. तए णं से जमाली अणगारे अन्नया कयाइ पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सावत्थी नयरी जेणेव कोट्ठए चेइए तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हति, अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

[९०] एक वार वह जमालि अनगार, पांच सौ अनगारों के साथ संपरिवृत होकर अनुक्रम से विचरण करता हुआ और ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ श्रावस्ती नगरी में जहाँ कोष्ठक उद्यान था, वहाँ आया और मुनियों के कल्प के अनुरूप अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करने लगा।

९१. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव चंपा नगरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ; तेणेव उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हति, अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

[९१] उधर श्रमण भगवान् महावीर भी एक बार अनुक्रम से विचरण करते हुए, यावत् सुखपूर्वक विहार करते हुए, जहाँ चम्पानगरी थी और पूर्णभद्र नामक चैत्य था, वहाँ पधारे; तथा

---

१. 'भाविदोषत्वेनोपेक्षणीयत्वादस्येति।' —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८६

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८६, (ख) भगवती. भा. ४ (पं० घेवरचन्दजी), पृ. १७५३

३. देखो "उववाइअसुत्तं" में नगरी और पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन। —उव. पत्र १-१ और ४-२

श्रमणों के अनुरूप अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण कर रहे थे।

विवेचन—श्रावस्ती में जमालि और चम्पा में भगवान् महावीर—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ८८ से ९१ तक) में जमालि का भगवान् महावीर से पृथक् विहार करके श्रावस्ती में पहुँचने का तथा भगवान् महावीर का चम्पा में पधारने का वर्णन है।[1]

विशेषार्थ—अहापडिरूवं—मुनियों के कल्प के अनुरूप। **उग्गहं**—अवग्रह—यथापर्याप्त आवास स्थान तथा पट्टे-चौकी आदि की याचना करके ग्रहण करना।[2]

जमालि अनगार के शरीर में रोगातंक की उत्पत्ति—

९२. तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स तेहिं अरसेहि य विरसेहि य अंतेहि य पंतेहि य लहेहि य तुच्छेहि य कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य सीतएहि य पाण-भोयणेहिं अन्नया कयाइ सरीरगंसि विउले रोगातंके पाउब्भूए-उज्जले तिउले पगाढे कक्कसे कडुए चंडे दुक्खे दुग्गे तिव्वे दुरहियासे, पित्तज्जरपरिगतसरीरे दाहवक्कंतिए यावि विहरइ।

[९२] उस समय जमालि अनगार को अरस, विरस, अन्त, प्रान्त, रूक्ष और तुच्छ तथा कालातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त एवं ठंडे पान (पेय पदार्थों) और भोजनों (भोज्य पदार्थों) (के सेवन) से एक वार शरीर में विपुल रोगातंक उत्पन्न हो गया। वह रोग उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, चण्ड, दुःख रूप, दुर्ग (कष्टसाध्य), तीव्र और दुःसह था। उसका शरीर पित्तज्वर से व्याप्त होने के कारण दाह से युक्त हो रहा था।

विवेचन—जमालि, महारोगपीड़ित—जमालि अनगार को रूक्ष, अन्त, प्रान्त, नीरस आदि प्रतिकूल आहार-पानी करने के कारण महारोग उत्पन्न हो गया, जिसके फलस्वरूप उसके सारे शरीर में जलन एवं दाहज्वर के कारण असह्य पीड़ा हो उठी।[3]

कठिन शब्दों का भावार्थ—अरसेहि—हींग आदि के वघार विना का, विना रसवाले-वेस्वाद। **विरसेहि**—पुराने होने से खराव रस वाले—विकृत रस वाले। **अन्तेहिं**—अरस होने से सव धान्यों से रद्दी (अन्तिम) धान्य—वाल, चने आदि। **पंतेहि**—वचा-खुचा वासी आहार। **लूहेहि**=रूक्ष। **तुच्छेहि**—थोड़े-से, या हल्की किस्म के। **कालाइक्कंतेहिः दो अर्थ**—जिसका काल व्यतीत हो चुका हो ऐसा आहार, अथवा भूख-प्यास का समय वीत जाने पर किया गया आहार। **पमाणाइक्कंतेहि**—भूख-प्यास की मात्रा के अनुपात में जो आहार न हो। **सीतएहि**—ठंडा आहार। **विउले**—विपुल—समस्त शरीर में व्याप्त। **पाउब्भूए**—उत्पन्न हुआ। **रोगातंके**—रोग—व्याधि और आतंक—पीड़ाकारी या उपद्रव। **उज्जले**—उत्कट ज्वलन—(दाह) कारक, या स्पष्ट। **पगाढे**—तीव्र या प्रवल। **कक्कसे**—कठोर या अनिष्टकारी। **चंडे**—रौद्र-भयंकर। **दुक्खे**—दुःखरूप। **दुग्गे**—कष्टसाध्य। **दुरहियासे**—

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा० १, पृ० ४७६

२ भगवती सूत्र, तृतीय खण्ड (पं० भगवानदास दोशी), पृ० १७९

३. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. १, पृ. ४७६

दुस्सह। पित्तज्जरपरिगयसरीरे—पित्तज्वर से व्याप्त शरीर वाला। दाहवक्कंतिए—दाह (जलन) उत्पन्न हुआ।[1]

रुग्ण जमालि को शय्यासंस्तारक के निमित्त से सिद्धान्त-विरुद्ध-स्फुरणा और प्ररूपणा—

९३. तए णं से जमाली अणगारे वेयणाए अभिभूए समाणे समणे णिग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! मम सेज्जासंथारगं संथरेह।

[९३] वेदना से पीड़ित जमालि अनगार ने तब (अपने साथी) श्रमण-निर्ग्रन्थों को बुला कर उनसे कहा—हे देवानुप्रियो ! मेरे सोने (शयन) के लिए तुम संस्तारक (बिछौना) बिछा दो।

९४. तए णं ते समणा णिग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जमालिस्स अणगारस्स सेज्जासंथारगं संथरेंति।

[९४] तब श्रमण-निर्ग्रन्थों ने जमालि अनगार की यह बात विनय-पूर्वक स्वीकार की और जमालि अनगार के लिए बिछौना बिछाने लगे।

९५. तए णं से जमाली अणगारे बलियतरं वेदणाए अभिभूए समाणे दोच्चं पि समणे निग्गंथे सद्दावेइ, सद्दावित्ता दोच्चं पि एवं वयासी—ममं णं देवाणुप्पिया ! सेज्जासंथारए किं कडे ? कज्जइ ? तए णं ते समणा निग्गंथा जमालिं अणगारं एवं वयासी—णो खलु देवाणुप्पियाणं सेज्जासंथारए कडे, कज्जति।

[९५] किन्तु जमालि अनगार प्रबलतर वेदना से पीडित थे, इसलिए उन्होंने दुबारा फिर श्रमण-निर्ग्रन्थों को बुलाया और उनसे इस प्रकार पूछा—देवानुप्रियो ! क्या मेरे सोने के लिए संस्तारक (बिछौना) बिछा दिया या बिछा रहे हो ? इसके उत्तर में श्रमण-निर्ग्रन्थों ने जमालि अनगार से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय के सोने के लिए बिछौना (अभी तक) बिछा नहीं, बिछाया जा रहा है।

९६. तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जं णं समणे भगवं महावीरे एवं आइक्खइ जाव एवं परूवेइ—'एवं खलु चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव निज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे' तं णं मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे, संथरिज्जमाणे असंथरिए, जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव निज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे। एवं संपेहेइ; एवं संपेहेत्ता समणे निग्गंथे सद्दावेइ; समणे निग्गंथे सद्दावेत्ता एवं वयासी—जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवं आइक्खइ जाव परूवेइ—एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे।

[९६] श्रमणों की यह बात सुनने पर जमालि अनगार के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय (निश्चयात्मक विचार) यावत् उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर जो इस प्रकार कहते हैं, यावत्

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८६

प्ररूपणा करते हैं कि चलमान चलित है, उदीर्यमाण उदीरित है, यावत् निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण है, यह कथन मिथ्या है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष दीख रहा है कि जब तक शय्या-संस्तारक बिछाया जा रहा है, तब तक वह बिछाया गया नहीं है, (अर्थात्—) बिछौना जब तक 'बिछाया जा रहा हो', तब तक वह 'बिछाया गया' नहीं है। इस कारण 'चलमान' 'चलित' नहीं, किन्तु 'अचलित' है, यावत् 'निर्जीर्यमाण' 'निर्जीर्ण' नहीं, किन्तु 'अनिर्जीर्ण' है। इस प्रकार विचार कर श्रमण-निर्ग्रन्थों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि 'चलमान' 'चलित' (कहलाता) है; (इत्यादि पूर्ववत् सब कथन करना) यावत् (वस्तुतः) निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण नहीं, किन्तु अनिर्जीर्ण है।

विवेचन—जमालि को शय्यासंस्तारक के निमित्त से सिद्धान्त-विरुद्ध स्फुरणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ९३ से ९६ तक) में निरूपण है कि प्रबलवेदनाग्रस्त जमालि अनगार के आदेश पर श्रमण बिछौना बिछाने लगे। अभी बिछाने का कार्य समाप्त नहीं हुआ था, तभी जमालि के पुनः पूछने पर उन्हें कहा कि बिछौना बिछा नहीं, बिछाया जा रहा है, इस पर से जमालि को सिद्धान्त-विरुद्ध एकान्त स्फुरणा हुई कि भगवान् महावीर का 'चलमान' को 'चलित' कहने का सिद्धान्त मिथ्या है; मेरा सिद्धान्त यथार्थ है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि जो बिछौना बिछाया जा रहा है, उसे 'बिछाया गया नहीं कहा जा सकता है।[1]

विशेषार्थ—बलियतरं वेयणाए अभिभूए—प्रबलतर वेदना से अभिभूत। **सेज्जासंथारगं**—शयन के लिए संस्तारक (बिछौना)। **कज्जमाणे अकडे**—जो क्रियमाण है, वह कृत नहीं। **संथरिज्जमाणे असंथरिए**—बिछाया जारहा है, वह बिछाया गया नहीं है।[2]

कुछ श्रमणों द्वारा जमालि के सिद्धान्त का स्वीकार, कुछ के द्वारा अस्वीकार—

९७. तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवं आइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा निग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति। अत्थेगइया समणा निग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति। तत्थ णं जे ते समणा निग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति ते णं जमालिं चेव अणगारं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति। तत्थ णं जे ते समणा निग्गंथा जमालिस्स अणगारस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति ते णं जमालिस्स अणगारस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा जेणेव चंपानयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करित्ता वंदंति, णमंसंति २ समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति।

[९७] जमालि अनगार द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर यावत् प्ररूपणा किये जाने पर कई श्रमण-निर्ग्रन्थों ने इस (उपर्युक्त) बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि की तथा कितने ही श्रमण-निर्ग्रन्थों ने इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि नहीं की। उनमें से जिन श्रमण-निर्ग्रन्थों ने जमालि अनगार

१. वियाहपण्णत्ति. भा. १, मू. पा. टि., पृ. ४७७
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८६-४८७

की इस (उपर्युक्त) बात पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि की, वे जमालि अनगार को आश्रय करके (निश्राय में) विचरण करने लगे और जिन श्रमण-निर्ग्रन्थों ने जमालि अनगार की इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की, वे जमालि अनगार के पास से, कोष्ठक उद्यान से निकल गए और अनुक्रम से विचरते हुए एवं ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, चम्पा नगरी के बाहर जहाँ पूर्णभद्र नामक चैत्य था और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास पहुँचे। उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, फिर वन्दना-नमस्कार करके वे भगवान् का आश्रय (निश्राय) स्वीकार कर विचरने लगे।

विवेचन—जमालि के सिद्धान्त का स्वीकार : अस्वीकार—प्रस्तुत सूत्र ९८ में बताया गया है कि जमालि की जिनवचन विरुद्ध प्ररूपणा पर जिन साधुओं ने श्रद्धा, प्रतीति और रुचि की, वे उसके पास रहे और जिन साधुओं ने जमालि-प्रतिपादित सिद्धान्त पर श्रद्धा न की, वे वहाँ में विहार करके भगवान् की सेवा में लौट गए।[1]

'चलमान चलित': भगवान् का सिद्धान्त है—इसका सयुक्तिक विवेचन भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में कर दिया गया है। जमालि अनगार ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध एकान्तदृष्टि से प्ररूपणा की, इसलिए यह सिद्धान्त अयथार्थ है। इसका विशेष विवेचन विशेषावश्यकभाष्य में है।[2]

विशेषार्थ—चलमाणे चलिए—'जो चल रहा हो, वह 'चला।' **उवसंपज्जित्ताणं**—आश्रय करके (निश्राय में)। **अत्थेगइया**—कोई-कोई—कितने ही।[3]

जमालि द्वारा सर्वज्ञता का मिथ्या दावा—

९८. तए णं से जमाली अणगारे अन्नया कयाइ ताओ रोगायंकाओ विप्पमुक्के हट्ठे जाए अरोए बलियसरीरे सावत्थीओ नयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा नयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—जहा णं देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा निग्गंथा छउमत्था भवेत्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंता, णो खलु अहं तहा छउमत्थे भवित्ता छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते, अहं णं उप्पन्नणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलिअवक्कमणेणं अवक्कंते।

[९८] तदनन्तर किसी समय जमालि अनगार उस (पूर्वोक्त) रोगातंक से मुक्त और हृष्ट (पुष्ट) हो गया, तथा नीरोग और बलवान् शरीर वाला हुआ; तब श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक उद्यान से निकला और अनुक्रम से विचरण करता हुआ एवं ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ, जहाँ चम्पा नगरी थी और जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, जिसमें कि श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, उनके

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा० १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ० ४७८
२. (क) भगवतीसूत्र प्रथमखण्ड, श० १, (युवाचार्य श्री मधुकरमुनि), पृ. १६-१७
   (ख) विशेषावश्यकभाष्य, निह्नववाद (ग) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८७-४८८
३. भगवती० भा० ४ (पं० घेवरचन्दजी), पृ० १७५७

पास आया। वह भगवान् महावीर से न तो अत्यन्त दूर और न अतिनिकट खड़ा रह कर भगवान् से इस प्रकार कहने लगा—जिस प्रकार आप देवानुप्रिय के बहुत-से शिष्य छद्मस्थ रह कर छद्मस्थ अवस्था में ही (गुरुकुल से) निकल कर विचरण करते हैं, उस प्रकार मैं छद्मस्थ रह कर छद्मस्थ अवस्था में निकल कर विचरण नहीं करता; मैं उत्पन्न हुए केवलज्ञान—केवलदर्शन को धारण करने वाला अर्हत्, जिन, केवली हो कर केवली-(अवस्था में निकल कर केवली-) विहार से विचरण कर रहा हूँ, अर्थात् मैं केवली हो गया हूँ।

विवेचन—केवलज्ञानी होने का झूठा दावा—प्रस्तुत सू. ९८ में यह निरूपण किया गया है कि जमालि अनगार स्वस्थ एवं सशक्त होने पर श्रावस्ती से भगवान् के पास चंपा पहुँचा और उनके समक्ष अपने आपको केवलज्ञान प्राप्त होने का दावा करने लगा।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ - हट्ठे—हृष्टपुष्ट। **बलियसरीरे**—शरीर से बलिष्ठ। **छउमत्थावक्कमणेणं अवक्कंते** - छद्मस्थ=असर्वज्ञ रूप से अपक्रमण (अर्थात् गुरुकुल से निकल) कर विचरण करते हैं। **केवलिअवक्कमणेणं अवक्कंते**—सर्वज्ञ (केवली) रूप से अपक्रमण करके विचर रहा हूँ।[2]

गौतम के दो प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ जमालि का भगवान् द्वारा सैद्धान्तिक समाधान—

९९. तए णं भगवं गोयमे जमालिं अणगारं एवं वयासि—णो खलु जमाली ! केवलिस्स णाणे वा दंसणे वा सेलंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जइ वा णिवारिज्जइ वा। जइ णं तुमं जमाली ! उप्पन्नणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलिअवक्कमणेणं अवक्कंते तो णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि, 'सासए लोए जमाली ! असासए लोए जमाली ! ? सासए जीवे जमाली ! असासए जीवे जमाली ! ?

[९९] इस पर भगवान् गौतम ने जमालि अनगार से इस प्रकार कहा—हे जमालि ! केवली का ज्ञान या दर्शन पर्वत (शैल), स्तम्भ अथवा स्तूप (आदि) से अवरुद्ध नहीं होता और न इनसे रोका जा सकता है। तो हे जमालि ! यदि तुम उत्पन्न केवलज्ञान-दर्शन के धारक, अर्हत्, जिन और केवली हो कर केवली रूप से अपक्रमण (गुरुकुल से निर्गमन) करके विचरण कर रहे हो तो इन दो प्रश्नों का उत्तर दो—(१) जमालि ! लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ? एवं (२) जमालि ! जीव शाश्वत है अथवा अशाश्वत है ?

१००. तए णं से जमाली अणगारे भगवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए जाव कलुससमावन्ने जाए यावि होत्था, णो संचाएति भगवओ गोयमस्स किंचि वि पमोक्खमाइक्खित्तए, तुसिणीए संचिट्ठइ।

१, वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. १ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ४७८

२. (क) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७५९

(ख) छउमत्थावक्कमणेणं ति-छद्मस्थानां सतामपक्रमणं—गुरुकुलान्निर्गमनं छद्मस्थापक्रमणं तेन।

—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८८

[१००] भगवान् गौतम द्वारा इस प्रकार (दो प्रश्नों के) जमालि अनगार से कहे जाने पर वह (जमालि) शंकित एवं कांक्षित हुआ, यावत् कलुषित परिणाम वाला हुआ। वह भगवान् गौतमस्वामी को (इन दो प्रश्नों का) किञ्चित् भी उत्तर देने में समर्थ न हुआ। (फलतः) वह मौन होकर चुपचाप खड़ा रहा।

१०१. 'जमाली' ति समणे भगवं महावीरे जमालिं अणगारं एवं वयासी—अत्थि णं जमाली! ममं बहवे अंतेवासी समणा निग्गंथा छउमत्था जे णं पभू एयं वागरणं वागरित्तए जहा णं अहं, नो चेव णं एयप्पगारं भासं भासित्तए जहा णं तुमं। सासए लोए जमाली! जं णं कयावि णासि ण, कयावि ण भवति ण, न कदावि ण भविस्सइ; भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ। सासए जीवे जमाली! जं णं न कयाइ णासि जाव णिच्चे। असासए जीवे जमाली! जं णं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ, तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ, मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।

[१०१] (तत्पश्चात्) श्रमण भगवान् महावीर ने जमालि अनगार को सम्बोधित करके यों कहा—जमालि! मेरे बहुत-से श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तेवासी (शिष्य) छद्मस्थ (असर्वज्ञ) हैं जो इन प्रश्नों का उत्तर देने में उसी प्रकार समर्थ हैं, जिस प्रकार मैं हूँ, फिर भी (जिस प्रकार तुम अपने आपको सर्वज्ञ अर्हत् जिन और केवली कहते हो;) इस प्रकार की भाषा वे नहीं बोलते। जमालि! लोक शाश्वत है, क्योंकि यह कभी नहीं था, ऐसा नहीं है; कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं और कभी न रहेगा, ऐसा भी नहीं है; किन्तु लोक था, है और रहेगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय अवस्थित और नित्य है। (इसी प्रकार) हे जमालि! (दूसरी अपेक्षा से) लोक अशाश्वत (भी) है, क्योंकि अवसर्पिणी काल होकर उत्सर्पिणी काल होता है, फिर उत्सर्पिणी काल (व्यतीत) होकर अवसर्पिणी काल होता है।

हे जमालि! जीव शाश्वत है; क्योंकि जीव कभी (किसी समय) नहीं था, ऐसा नहीं है; कभी नहीं है, ऐसा नहीं और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है; इत्यादि यावत् जीव नित्य है। (इसी प्रकार) हे जमालि! (किसी अपेक्षा से) जीव अशाश्वत (भी) है, क्योंकि वह नैरयिक होकर तिर्यञ्चयोनिक हो जाता है, तिर्यञ्चयोनिक होकर मनुष्य हो जाता है और (कदाचित्) मनुष्य हो कर देव हो जाता है।

विवेचन—गौतम द्वारा प्रस्तुत दो प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ—जमालि का भगवान् द्वारा समाधान—प्रस्तुत सूत्रों में यह प्रतिपादन किया गया है कि जमालि अनगार के सर्वज्ञता के दावे को असत्य सिद्ध करने हेतु गौतमस्वामी केवलज्ञान का स्वरूप बताकर दो प्रश्न प्रस्तुत करते हैं, जिसका उत्तर न देकर जमालि मौन हो जाता है। फिर भ. महावीर उसे सर्वज्ञता का झूठा दावा न करने के लिए समझाकर उसे लोक और जीव की शाश्वतता—अशाश्वतता समझाते हैं।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ४७९

भगवान् ने लोक को कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत बताया है, इसी प्रकार जीव को भी कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत सिद्ध किया है।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—**कलुससमावन्ने**—कालुष्य से युक्त। **सेलंसि**—शैल—पर्वत से। **थूभंसि**—स्तूप से। **आवरिज्जइ**—आवृत होता है। **णिवारिज्जइ**—रोका जाता है। **वागरणाइं वागरेहि**—व्याकरणों—प्रश्नों का व्याकरण=समाधान या उत्तर दो। **णो संचाएति**—समर्थ नहीं होता। **पमोक्खं**—उत्तर या समाधान। **एयप्पगारं**—इस प्रकार की। **अव्वए**—अव्यय। **अवट्ठिए**—अवस्थित।[2]

मिथ्यात्वग्रस्त जमालि की विराधकता का फल—

१०२. तए णं से जमाली अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहइ णो पत्तियइ णो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे दोच्चं पि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ आयाए अवक्कमइ, दोच्चं पि आयाए अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, अ० झूसेत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, छेदेत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमठितीएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने।

[१०२] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा जमालि अनगार को इस प्रकार कहे जाने पर, यावत् प्ररूपित करने पर भी उसने (जमालि ने) इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की और श्रमण भगवान् महावीर की इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं करता हुआ जमालि अनगार दूसरी बार भी स्वयं भगवान् के पास से चला गया।

इस प्रकार भगवान् से स्वयं पृथक् विचरण करके जमालि ने बहुत-से असद्भूत भावों को प्रकट करके तथा मिथ्यात्व के अभिनिवेशों (हठाग्रहों) से अपनी आत्मा को, पर को तथा उभय (दोनों) को भ्रान्त (गुमराह) करते हुए एवं मिथ्याज्ञानयुक्त करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन किया। अन्त में अर्द्धमास (१५ दिन) की संलेखना द्वारा अपने शरीर को कृश करके तथा अनशन द्वारा तीस भक्तों का छेदन (त्याग) करके, उस स्थान (पूर्वोक्त मिथ्यात्वगत पाप) की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना ही, काल के समय में काल (मृत्यु प्राप्त) करके लान्तक कल्प (देवलोक) में तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देवों में किल्विषिक देवरूप में उत्पन्न हुआ।

विवेचन—भगवद्वचनों पर अश्रद्धालु मिथ्यात्वग्रस्त जमालि की मति-गति - प्रस्तुत सू. १०२ में प्रतिपादन किया गया है कि भगवान् महावीर द्वारा सद्भावनावश समझाने एवं सत्-सिद्धान्त बताने पर भी जमालि मिथ्यात्वग्रस्त होने के कारण मिथ्या प्ररूपणा करने लगा, उसने जनता

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४७९

२. भगवतीसूत्रम् तृतीय खण्ड (पं भगवानदास दोशी), १८१

को अज्ञान के अन्धेरे में धकेला। फलतः अन्तिम समय में उक्त पाप का आलोचन-प्रतिक्रमण न करने से मर कर लान्तक कल्प में किल्विषी देव हुआ।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ - **आयाए**—अपने आप, स्वयमेव। **अवक्कमइ**—चला गया। **असब्भावुब्भावणाहिं** असद्भावों की उद्भावनाओं से—प्रकट करने से। **मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं**—मिथ्यात्व के अभिनिवेशों से (असत्य के दृढ़ हठाग्रह से) **वुग्गाहेमाणे**—भ्रान्त (गुमराह) करता हुआ या सिद्धान्तविरुद्ध हठाग्रह युक्त करता हुआ। **वुप्पाएमाणे**—विरुद्ध (मिथ्या) ज्ञानयुक्त या दुर्विदग्ध करता हुआ। **अणालोइय-पडिक्कंते**—आलोचना और प्रतिक्रमण नहीं करने से **अत्ताणं झूसेइ**—अपने शरीर को झोंक दिया। **तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता**—अनशन से तीस वार के भोजन का छेदन करते (भोजन से सम्बन्ध काटते हुए)।[2]

किल्विषिक देवों में उत्पत्ति का भगवत्समाधान—

१०३. तए णं से भगवं गोयमे जमालिं अणगारं कालगयं जाणित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से जमाली णामं अणगारे, से णं भंते ! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववन्ने ? 'गोयमा' दि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी कुसिस्से जमाली नामं अणगारे से णं तदा मम एवं आइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दहइ णो पत्तियइ णो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे दोच्चं पि ममं अंतियाओ आयाए अवक्कमइ, अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं तं चेव जाव देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने।

[१०३] तदनन्तर जमालि अनगार को कालधर्म प्राप्त हुआ जान कर भगवान् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—[प्र०] भगवन् ! यह निश्चित है कि जमालि अनगार आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी कुशिष्य था। भगवन् ! वह जमालि अनगार काल के समय काल करके कहाँ गया है, कहाँ उत्पन्न हुआ है ? [उ०] हे गौतम ! इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने भगवान् गौतमस्वामी से इस प्रकार कहा गौतम ! मेरा अन्तेवासी जमालि नामक अनगार वास्तव में कुशिष्य था। उस समय मेरे द्वारा (सत्सिद्धान्त) कहे जाने पर यावत् प्ररूपित किये जाने पर उसने मेरे कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की थी। उस (पूर्वोक्त) कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि न करता हुआ दूसरी वार भी वह अपने आप मेरे पास से चला गया और वहुत-से असद्भावों के प्रकट करने से, इत्यादि पूर्वोक्त कारणों से यावत् वह काल के समय काल करके किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४७९

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४८९

(ख) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७६२

विवेचन—जमालि की गति के विषय में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सू. १०३ में जमालि अनगार की मृत्यु के बाद गौतमस्वामी के द्वारा उसकी उत्पत्ति और गति के विषय में पूछे जाने पर भगवान् ने उसका समाधान किया है।

सिद्धान्त-निष्कर्ष—इस पाठ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कोई साधक चाहे जितनी ऊँची क्रिया करे, कठोर चारित्रपालन करे, किन्तु यदि उसकी दृष्टि एवं मति मिथ्यात्वग्रस्त हो गई है, अज्ञानतिमिर से व्याप्त है, मिथ्याभिनिवेशवश वह मिथ्यासिद्धान्त को पकड़े हुए है, सरलता और जिज्ञासापूर्वक समाधान पाने की रुचि उसमें नहीं है, तो वह देवलोक में जाने पर भी निम्नकोटि का देव बनता है और संसारपरिभ्रमण करता है।[1]

किल्विषिक देवों के भेद, स्थान एवं उत्पत्तिकारण—

१०४. कतिविहा णं भंते ! देवकिब्बिसिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा देवकिब्बिसिया पण्णत्ता, तं जहा—तिपलिओवमट्ठिईया, तिसागरोवमट्ठिईया, तेरससागरोवमट्ठिईया।

[१०४ प्र.] भगवन् ! किल्विषिक देव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१०४ उ.] गौतम ! किल्विषिक देव तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) तीन पल्योपम की स्थिति वाले, (२) तीन सागरोपम की स्थिति वाले और (३) तेरह सागरोपम की स्थिति वाले।

१०५. कहि णं भंते ! तिपलिओवमट्ठितीया देवकिब्बिसिया परिवसंति ?

गोयमा ! उप्पि जोइसियाणं, हिट्ठि सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिपलिओवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति।

[१०५ प्र.] भगवन् ! तीन पल्योपम की स्थिति वाले किल्विषिक देव कहाँ रहते हैं ?

[१०५ उ.] गौतम ! ज्योतिष्क देवों के ऊपर और सौधर्म-ईशान कल्पों (देवलोकों) के नीचे तीन पल्योपम की स्थिति वाले देव रहते हैं।

१०६. कहि णं भंते ! तिसागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति ?

गोयमा ! उप्पि सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं, हिट्ठि सणंकुमार-माहिंदेसु कप्पेसु, एत्थ णं तिसागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया परिवसंति।

[१०६ प्र.] भगवन् ! तीन सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देव कहाँ रहते हैं ?

[१०६ उ.] गौतम ! सौधर्म और ईशान कल्पों के ऊपर तथा सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक के नीचे तीन सागरोपम की स्थिति वाले देव रहते हैं।

१०७. कहि णं भंते ! तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया देवा परिवसंति ?

गोयमा ! उप्पि बंभलोगस्स कप्पस्स, हिट्ठि लंतए कप्पे, एत्थ णं तेरससागरोवमट्ठिईया देवकिब्बिसिया देवा परिवसंति।

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. १, पृ. ४८०

[१०७ प्र.] भगवन् ! तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देव कहाँ रहते हैं ?

[१०७ उ.] गौतम ! ब्रह्मलोक कल्प के ऊपर तथा लान्तक कल्प के नीचे तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देव रहते हैं।

१०८. देवकिब्बिसिया णं भंते ! केसु कम्मादाणेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति ?

गोयमा ! जे इमे जीवा आयरियपडिणीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणीया, संघपडिणीया, आयरिय-उवज्झायाणं अयसकरा अवण्णकरा अकित्तिकरा बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं च परं च उभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति; तं जहा—तिपलिओवमट्ठितीएसु वा तिसागरोवमट्ठितीएसु वा तेरससागरोवमट्ठितीएसु वा।

[१०८ प्र.] भगवन् ! किन कर्मों के आदान (ग्रहण या निमित्त) से किल्विषिक देव, किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न होते हैं ?

[१०८ उ.] गौतम ! जो जीव आचार्य के प्रत्यनीक (द्वेषी या विरोधी) होते हैं, उपाध्याय के प्रत्यनीक होते हैं, कुल, गण और संघ के प्रत्यनीक होते हैं तथा आचार्य और उपाध्याय का अयश (अपयश) करने वाले, अवर्णवाद बोलने वाले और अकीर्ति करने वाले हैं तथा बहुत से असत्य भावों (विचारों या पदार्थों) को प्रकट करने से, मिथ्यात्व के अभिनिवेशों (कदाग्रहों) से, अपनी आत्मा को, दूसरों को और स्व-पर दोनों को भ्रान्त और दुर्बोध करने वाले बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करके उस अकार्य (पाप)-स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना काल के समय काल करके निम्नोक्त तीन में (से) किन्हीं किल्विषिक देवों में किल्विषिक देव रूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—(१) तीन पल्योपम की स्थिति वालों में, (२) तीन सागरोपम की स्थिति वालों में अथवा (३) तेरह सागरोपम की स्थिति वालों में।

१०९. देवकिब्बिसिया णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ?

गोयमा ! जाव चत्तारि पंच नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति जाव अंतं करेंति। अत्थेगइया अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति।

[१०९ प्र.] भगवन् ! किल्विषिक देव उन देवलोकों से आयु का क्षय होने पर, भवक्षय होने पर और स्थिति का क्षय होने के बाद च्यवकर कहाँ जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[१०९ उ.] गौतम ! कुछ किल्विषिक देव, नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के चार-पांच भव करके और इतना संसार-परिभ्रमण करके तत्पश्चात् सिद्ध—बुद्ध-मुक्त होते हैं, यावत् सर्व-दुःखों का अन्त करते हैं और कितने ही किल्विषिक देव अनादि, अनन्त और दीर्घ मार्ग वाले चार गतिरूप संसार-कान्तार (संसार रूपी अटवी) में परिभ्रमण करते हैं।

विवेचन—किल्विषिक देव : प्रकार, निवास एवं उत्पत्तिकारण—प्रस्तुत ६ सूत्रों (सू. १०४ से १०९ तक) में किल्विषिक देवों के प्रकार, उनके निवासस्थान और उनके किल्विषिक रूप में उत्पन्न होने के कारण बताए गए हैं। अन्त में किल्विषिक देवों की अनन्तर गति का निरूपण किया गया है।[1]

कठिन शब्दों का अर्थ—**उप्पि**—ऊपर, **हिट्ठि**—नीचे। **पडिणीया**—प्रत्यनीक—शत्रु या विद्वेषी। **अवण्णकरा**—निन्दा करने वाले। **अणुपरियट्टित्ता**—परिभ्रमण करके। **दीहमद्धं**—दीर्घमार्ग रूप। **चाउरंतसंसारकंतारं**—चार गतियों वाले संसाररूप महारण्य को। **अणवदग्गं**—अनन्त। **कम्मादाणेसु**—कर्मों के आदान = कारण से। **उववत्तारो**—उत्पन्न होते हैं।[2]

किल्विषिक देव : स्वरूप और गतिविषयक समाधान—किल्विषिक देव उन्हें कहते हैं, जो पाप के कारण देवों में चाण्डालकोटि के देव होते हैं। वे देवसभा में चाण्डाल की तरह अपमानित होते हैं। देवसभा में जब कुछ बोलने के लिए मुंह खोलते हैं तो महर्द्धिक देव उन्हें अपमानित करके बिठा देते हैं, बोलने नहीं देते। कोई देव उनका आदर-सत्कार नहीं करता।

सू. १०९ में जो यह कहा गया है कि किल्विषिक देव, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव के ४-५ भव ग्रहण करके मोक्ष जाते हैं, यह सामान्य कथन है। वस्तुतः देव और नारक मर कर तुरन्त देव और नारक नहीं होते। वे वहाँ से मनुष्य या तिर्यञ्च में उत्पन्न होते हैं, इसके पश्चात् देवों या नारकों में उत्पन्न हो सकते हैं।[3]

किल्विषिक देवों में जमालि की उत्पत्ति का कारण—

११०. जमाली णं भंते ! अणगारे अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे तुच्छाहारे अरसजीवी विरसजीवी जाव तुच्छजीवी उवसंतजीवी पसंतजीवी विवित्तजीवी ?

हंता, गोयमा ! जमाली णं अणगारे अरसाहारे विरसाहारे जाव विवित्तजीवी।

[११० प्र.] भगवन् ! क्या जमालि अनगार अरसाहारी, विरसाहारी, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अरसजीवी, विरसजीवी यावत् तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी और विविक्तजीवी था ?

[११० उ.] हाँ, गौतम ! जमालि अनगार अरसाहारी, विरसाहारी यावत् विविक्तजीवी था।

१११. जति णं भंते ! जमाली अणगारे अरसाहारे विरसाहारे जाव विवित्तजीवी कम्हा णं भंते ! जमाली अणगारे कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमट्ठितीएसु देवकिब्बिसिएसु देवेसु देवकिब्बिसियत्ताए उववन्ने ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४८०-४८१

२. भगवती. (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १७६५-१७६६

३. वही, भा. ४, पृ. १७६८

गोयमा ! जमाली णं अणगारे आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरिय-उवज्झायाणं अयसकारए जाव वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय-पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा लंतए कप्पे जाव उववन्ने ।

[१११ प्र.] भगवन् ! यदि जमालि अनगार अरसाहारी, विरसाहारी यावत् विविक्तजीवी था, तो काल के समय काल करके वह लान्तककल्प में तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देवों में किल्विषिक देव के रूप में क्यों उत्पन्न हुआ ?

[१११ उ.] गौतम ! जमालि अनगार आचार्य का प्रत्यनीक (द्वेषी), उपाध्याय का प्रत्यनीक तथा आचार्य और उपाध्याय का अपयश करने वाला और उनका अवर्णवाद करने वाला था, यावत् वह मिथ्याभिनिवेश द्वारा अपने आपको, दूसरों को और उभय को भ्रान्ति में डालने वाला और दुर्विदग्ध (मिथ्याज्ञान के अहंकार वाला) बनाने वाला था, यावत् बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर, अर्द्ध मासिक संलेखना से शरीर को कृश करके तथा तीस भक्त का अनशन द्वारा छेदन (छोड़) कर उस अकृत्यस्थान (पाप) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही, उसने काल के समय काल किया, जिससे वह लान्तक देवलोक में तेरह सागरोपम की स्थिति वाले किल्विषिक देवों में किल्विषिक देवरूप में उत्पन्न हुआ ।

विवेचन—स्वादजयी अनगार किल्विषिक देव क्यों ? —प्रस्तुत दो सूत्रों (११०-१११) में श्री गौतमस्वामी द्वारा यह प्रश्न पूछे जाने पर कि जमालि जैसा स्वादजयी, प्रशान्तात्मा एवं तपस्वी अनगार लान्तककल्प में किल्विषिक देवों में क्यों उत्पन्न हुआ ? भगवान् ने उस आवृत रहस्य को स्पष्टरूप से खोल कर रख दिया है कि इतना त्यागी, तपस्वी होने पर भी देव-गुरु का द्वेषी, मिथ्या-प्ररूपक एवं मिथ्यात्वग्रस्त होने से किल्विषिकदेव हुआ ।[1]

कठिन शब्दों का विशेषार्थ— उवसंतजीवी— जिसके जीवन में कषाय उपशान्त हो या अन्तर्वृत्ति से शान्त । **पसंतजीवी**—बहिर्वृत्ति से प्रशान्त जीवन वाला । **विवित्तजीवी**—पवित्र और स्त्री-पशु-नपुंसकसंसर्गरहित एकान्त जीवन वाला ।[2]

जमाली का भविष्य—

११२. जमाली णं भंते ! देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! जाव पंच तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवभवग्गहणाइं संसारं अणुपरियट्टित्ता ततो पच्छा सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। जमाली समत्तो ।। ९. ३३ ।।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. १, पृ० ४८१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९०

[११२ प्र.] भगवन् ! वह जमालि देव उस देवलोक से आयु क्षय होने पर यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[११२ उ.] गौतम ! तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य और देव के पांच भव ग्रहण करके और इतना संसार-परिभ्रमण करके तत्पश्चात् वह सिद्ध होगा, बुद्ध होगा यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेगा ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—जमालि को परम्परा से सिद्धिगति-प्राप्ति— प्रस्तुत सू. ११२ में जमालि के भविष्य के विषय में पूछे जाने पर भगवान् ने भविष्य में तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के ५ भव ग्रहण करने के पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का कथन किया है ।[1]

शंका-समाधान—यहाँ शंका उपस्थित होती है कि भगवान् सर्वज्ञ थे और जमालि के भविष्य में प्रत्यनीक होने की घटना को जानते थे, फिर भी उसे क्यों प्रव्रजित किया ? इसका समाधान वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—अवश्यम्भावी भवितव्य को महापुरुष भी टाल नहीं सकते अथवा इसी प्रकार ही उन्होंने गुणविशेष देखा होगा । अर्हन्त भगवान् अमूढलक्षी होने से किसी भी क्रिया में निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होते ।[2]

॥ नवम शतक : तेतीसवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. ४८१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९०

चउत्तीसइमो उद्देसो : पुरिसे

चौंतीसवाँ उद्देशक : पुरुष

पुरुष और नोपुरुष का घातक

उपोद्घात—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वदासी—

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नगर था। वहाँ भगवान गौतम ने यावत् भगवान् से इस प्रकार पूछा—

पुरुष के द्वारा अश्वादिघात सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

२. [१] पुरिसे णं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसं हणति, नोपुरिसं हणति ?

गोयमा ! पुरिसं पि हणति, नोपुरिसे वि हणति।

[२-१ प्र.] भगवन् कोई पुरुष, पुरुष की घात करता हुआ क्या पुरुष की ही घात करता है अथवा नोपुरुष (पुरुष के सिवाय अन्य जीवों) की भी घात करता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! वह (पुरुष) पुरुष की भी घात करता है और नोपुरुष की भी घात करता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'पुरिसं पि हणइ, नोपुरिसे वि हणइ' ?

गोतमा ! तस्स णं एवं भवइ—'एवं खलु अहं एगं पुरिसं हणामि' से णं एगं पुरिसं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ 'पुरिसं पि हणइ नोपुरिसे वि हणति'।

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि वह पुरुष की भी घात करता है, नोपुरुष की भी घात करता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! (घात करने के लिए उद्यत) उस पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि मैं एक ही पुरुष को मारता हूँ; किन्तु वह एक पुरुष को मारता हुआ अन्य अनेक जीवों को भी मारता है। इसी दृष्टि से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वह घातक, पुरुष को भी मारता है और नोपुरुष को भी मारता है।

३. [३] पुरिसे णं भंते ! आसं हणमाणे किं आसं हणइ, नोआसे वि हणइ ?

गोयमा ! आसं पि हणइ, नोआसे वि हणइ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! अश्व को मारता हुआ कोई पुरुष क्या अश्व को ही मारता है या नो-अश्व (अश्व के सिवाय अन्य जीवों को भी) मारता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! वह (अश्वघात के लिए उद्यत पुरुष) अश्व को भी मारता है और नो-अश्व अश्व के अतिरिक्त दूसरे जीवों) को भी मारता है।

[२] से केणट्ठेणं ? अट्ठो तहेव ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

[३-२ उ.] गौतम ! इसका उत्तर पूर्ववत् समझना चाहिए ।

४. एवं हत्थि सीहं वग्घं जाव चिल्ललगं ।

[४] इसी प्रकार हाथी, सिंह, व्याघ्र (वाघ) यावत् चित्रल तक समझना चाहिए ।

५. [१] पुरिसे णं भंते ! अन्नयरं तसपाणं हणमाणे किं अन्नयरं तसपाणं हणइ, नोअन्नयरे तसे पाणे हणइ ?

गोयमा ! अन्नयरं पि तसपाणं हणइ, नोअन्नयरे वि तसे पाणे हणइ ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष किसी एक त्रस प्राणी को मारता हुआ क्या उसी त्रसप्राणी को मारता है, अथवा उसके सिवाय अन्य त्रसप्राणियों को भी मारता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! वह उस त्रसप्राणी को भी मारता है और उसके सिवाय अन्य त्रसप्राणियों को भी मारता है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'अन्नयरं पि तसपाणं [हणति] नोअन्नयरे वि तसे पाणे हणइ' ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणामि, से णं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव । एए सव्वे वि एक्कगमा ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि वह पुरुष उस त्रसजीव को भी मारता है और उसके सिवाय अन्य त्रसजीवों को भी मार देता है ।

[५-२ उ.] गौतम ! उस त्रसजीव को मारने वाले पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि मैं उसी त्रसजीव को मार रहा हूँ, किन्तु वह उस त्रसजीव को मारता हुआ, उसके सिवाय अन्य अनेक त्रसजीवों को भी मारता है । इसलिए, हे गौतम ! पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए । इन सभी का एक समान पाठ (आलापक) है ।

६. [१] पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमाणे किं इसिं हणइ, नोइसिं हणइ ?

गोयमा ! इसिं पि हणइ नोइसिं पि हणइ ।

[६-१ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष, ऋषि को मारता हुआ क्या ऋषि को ही मारता है, अथवा नोऋषि (ऋषि के सिवाय अन्य जीवों) को भी मारता है ?

[६-१ उ.] गौतम ! वह (ऋषि को मारने वाला पुरुष) ऋषि को भी मारता है, नोऋषि को भी मारता है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नोइसिं पि हणइ ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं एगं इसिं हणामि, से णं एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ से तेणट्ठेणं निक्खेवओ ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है कि ऋषि को मारने वाला पुरुष ऋषि को भी मारता है और नोऋषि को भी ?

[६-२ उ.] गौतम ! ऋषि को मारने वाले उस पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि मैं एक ऋषि को मारता हूँ; किन्तु वह एक ऋषि को मारता हुआ अनन्त जीवों को मारता है। इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त रूप से कहा गया है।

विवेचन—प्राणिघात के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त—(१) कोई व्यक्ति किसी पुरुष को मारता है तो कभी केवल उसी पुरुष का वध करता है, कभी उसके साथ अन्य एक जीव का और कभी अन्य जीवों का वध भी करता है, यों तीन भंग होते हैं, क्योंकि कभी उस पुरुष के आश्रित जूं, लीख, कृमि-कीड़े आदि या रक्त, मवाद आदि के आश्रित अनेक जीवों का वध कर डालता है। शरीर को सिकोड़ने-पसारने आदि में भी अनेक जीवों का वध संभव है।

(२) ऋषि का घात करता हुआ व्यक्ति अनन्त जीवों का घात करता है, यह एक ही भंग है। इसका कारण यह है कि ऋषि-अवस्था में वह सर्वविरत होने से अनन्त जीवों का रक्षक होता है, किन्तु मर जाने पर वह अविरत होकर अनन्त जीवों का घातक बन जाता है। अथवा जीवित रहता हुआ ऋषि अनेक प्राणियों को प्रतिबोध देता है, वे प्रतिबोधप्राप्त प्राणी क्रमशः मोक्ष पाते हैं। मुक्त जीव अनन्त संसारी प्राणियों के अघातक होते हैं। अतः उन अनन्त जीवों की रक्षा में जीवित ऋषि कारण है। इसलिए कहा गया है कि ऋषिघातक व्यक्ति अन्य अनन्त जीवों की घात करता है।[1]

घातक व्यक्ति को वैरस्पर्श की प्ररूपणा—

७. [१] पुरिसे णं भंते ! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसवेरेणं पुट्ठे, नोपुरिसवेरेणं पुट्ठे ?

गोयमा ! नियमा ताव पुरिसवेरेणं पुट्ठे १, अहवा पुरिसवेरेण य णोपुरिसवेरेण य पुट्ठे २, अहवा पुरिसवेरेण य नोपुरिसवेरेहि य पुट्ठे ३।

[७-१ प्र.] भगवन् ! पुरुष को मारता हुआ कोई भी व्यक्ति क्या पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है, अथवा नोपुरुष-वैर (पुरुष के सिवाय अन्य जीव के साथ वैर) से स्पृष्ट भी होता है ?

[७-१ उ.] गौतम ! वह व्यक्ति नियम से (निश्चित रूप से) पुरुषवैर से स्पृष्ट होता ही है। अथवा पुरुषवैर से और नोपुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, अथवा पुरुषवैर से और नोपुरुषवैरों (पुरुषों के अतिरिक्त अनेक जीवों के वैर) से स्पृष्ट होता है।

[२] एवं आसं, एवं जाव चिल्ललगं जाव अहवा चिल्ललगवेरेण य णोचिल्ललगवेरेहि य पुट्ठे।

[७-२] इसी प्रकार अश्व से लेकर यावत् चित्रल के विषय में भी जानना चाहिए; यावत् अथवा चित्रलवैर से और नोचित्रल-वैरों से स्पृष्ट होता है।

८. पुरिसे णं भंते ! इसिं हणमाणे किं इसिवेरेणं पुट्ठे, णोइसिवेरेणं पुट्ठे ?

गोयमा ! नियमा ताव इसिवेरेणं पुट्ठे १, अहवा इसिवेरेण य णोइसिवेरेण य पुट्ठे २, अहवा इसिवेरेण य नोइसिवेरेहि य पुट्ठे ३।

---
१. (क) भगवती. अ. वृत्ति ४९१ (ख) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी) पृ. १७७६

[८ प्र.] भगवन् ! ऋषि को मारता हुआ कोई पुरुष, क्या ऋषिवैर से स्पृष्ट होता है, या नोऋषिवैर से स्पृष्ट होता है ?

[८ उ.] गौतम ! वह (ऋषिघातक) नियम से ऋषिवैर और नोऋषि-वैरों से स्पृष्ट होता है।

विवेचन—घातक व्यक्ति के लिए वैरस्पर्शप्ररूपणा—(क) पुरुष को मारने वाले व्यक्ति के लिए वैरस्पर्श के तीन भंग होते हैं –(१) वह नियम से पुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, (२) पुरुष को मारते हुए किसी दूसरे प्राणी का वध करे तो एक पुरुषवैर से और एक नोपुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, (३) यदि एक पुरुष का वध करता हुआ, अन्य अनेक प्राणियों का वध करे तो वह पुरुषवैर से और अन्य अनेक नोपुरुषवैरों से स्पृष्ट होता है। हस्ती, अश्व आदि के सम्बन्ध में भी सर्वत्र ये ही तीन भंग होते हैं। (ख) सोपक्रम आयुवाले ऋषि का कोई वध करे तो वह प्रथम और तृतीय भंग का अधिकारी बनता है। यथा—वह ऋषिवैर से तो स्पृष्ट होता ही है, किन्तु जब सोपक्रम आयु वाले अचरम-शरीरी ऋषि का पुरुष का वध होता है तब उसकी अपेक्षा से यह तीसरा भंग कहा गया है।[1]

एकेन्द्रिय जीवों की परस्पर श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी प्ररूपणा—

९. पुढविकाइये णं भंते ! पुढविकायं चेव आणमति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा ?

हंता, गोयमा ! पुढविक्काइए पुढविक्काइयं चेव आणमति वा जाव नीससति वा।

[९ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिक जीव को आभ्यन्तर और बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है और छोड़ता है ?

[९ उ.] हाँ, गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिक जीव को आभ्यन्तर और बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है और छोड़ता है।

१०. पुढविक्काइए णं भंते ! आउक्काइयं आणमति वा जाव नीससति वा ?

हंता, गोयमा ! पुढविक्काइए आउक्काइयं आणमति वा जाव नीससति वा।

[१० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव को यावत् श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है ?

[१० उ.] हाँ, गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव को (आभ्यन्तर और बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में) ग्रहण करता और छोड़ता है।

११. एवं तेउक्काइयं वाउक्काइयं। एवं वणस्सइकाइयं।

[११] इसी प्रकार तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव को भी यावत् ग्रहण करता और छोड़ता है।

१२. आउक्काइए णं भंते ! पुढविक्काइयं आणमति वा पाणमति वा० ? एवं चेव।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्र ४९१

[१२ प्र.] भगवन् ! अप्कायिक जीव, पृथ्वीकायिक जीवों को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! पूर्वोक्तरूप से ही जानना चाहिए ।

१३. आउक्काइए णं भंते ! आउक्काइयं चेव आणमति वा० ? एवं चेव ।

[१३ प्र.] भगवन् ! अप्कायिक जीव, अप्कायिक जीव को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है ?

[१३ उ.] (हाँ, गौतम !) पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए ।

१४. एवं तेउ-वाउ-वणस्सइकाइयं ।

[१४] इसी प्रकार तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक के विषय में भी जानना चाहिए ।

१५. तेउक्काइए णं भंते ! पुढविक्काइयं आणमति वा ? एवं जाव वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणमति वा० ? तहेव ।

[१५ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक जीव पृथ्वीकायिकजीवों को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है ? इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीव वनस्पतिकायिक जीव को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है ?

[१५ उ.] (गौतम !) यह सब पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए ।

विवेचन—एकेन्द्रिय जीवों की श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (९ से १५ तक) में बताया गया है कि पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं। इसी प्रकार अप्कायिकादि चारों स्थावर जीव भी पृथ्वीकायिकादि पांचों स्थावर जीवों को श्वासोच्छ्वास रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हैं । इन पांचों के २५ आलापक (सूत्र) होते हैं । जैसे वनस्पति एक के ऊपर दूसरी स्थित हो कर उसके तेज को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिकादि भी अन्योन्य सम्बद्ध होने से उस रूप में श्वासोच्छ्वास (प्राणापान) आदि कर लेते हैं ।[1]

आणमति पाणमति : भावार्थ—आभ्यन्तर श्वास और उच्छ्वास लेता है ।[2]

ऊससति नीससति—बाह्य श्वास और उच्छ्वास ग्रहण करते-छोड़ते हैं ।[3]

पृथ्वीकायिकादि द्वारा पृथ्वीकायिकादि को श्वासोच्छ्वास करते समय क्रिया-प्ररूपणा—

१६. पुढविक्काइए णं भंते ! पुढविकाइयं चेव आणममाणे वा पाणममाणे वा ऊससमाणे वा नीससमाणे वा कइकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

---

१. (क) भगवती. भा. ४ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. १७८१ (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९२

२. वही, पत्र ४९२ ३. वही, पत्र ४९२

[१६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिक जीव को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हुए कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

१७. पुढविक्काइए णं भंते ! आउक्काइयं आणममाणे वा० ? एवं चेव ।

[१७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीवों को आभ्यन्तर एवं बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हुए कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[१७ उ.] हे गौतम ! पूर्वोक्त प्रकार से ही जानना चाहिए ।

१८. एवं जाव वणस्सइकाइयं ।

[१८] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक कहना चाहिए ।

१९. एवं आउक्काइएण वि सव्वे वि भाणियव्वा ।

[१९] इसी प्रकार अप्कायिक जीवों के साथ भी पृथ्वीकायिक आदि सभी का कथन करना चाहिए ।

२०. एवं तेउक्काइएण वि ।

[२०] इसी प्रकार तेजस्कायिक के साथ भी पृथ्वीकायिक आदि का कथन करना चाहिए ।

२१. एवं वाउक्काइएण वि ।

[२१] इसी प्रकार वायुकायिक जीवों के साथ भी पृथ्वीकायिक आदि का कथन करना चाहिए ।

२२. वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणममाणे वा० ? पुच्छा ।

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

[२२ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीवों को आभ्यन्तर और बाह्य श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते और छोड़ते हुए कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

विवेचन—श्वासोच्छ्वास में क्रियाप्ररूपणा—पृथ्वीकायिकादि जीव पृथ्वीकायिकादि जीवों को श्वासोच्छ्वासरूप में ग्रहण करते हुए, छोड़ते हुए, जब तक उनको पीड़ा उत्पन्न नहीं करते, तब तक कायिकी आदि तीन क्रियाएँ लगती हैं, जब पीड़ा उत्पन्न करते हैं तब पारितापनिकी-सहित चार क्रियाएँ लगती हैं और जब उन जीवों का वध करते हैं तब प्राणातिपातिकी सहित पांचों क्रियाएँ लगती हैं ।[1]

---

१. (क) पांच क्रियाएँ इस प्रकार हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी ।

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९२

वायुकाय को वृक्षमूलादि कंपाने-गिराने संबंधी क्रिया—

२३. वाउक्काइए णं भंते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

[२३ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीव, वृक्ष के मूल को कंपाते हुए और गिराते हुए कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

२४. एवं कंदं ।

[२४] इसी प्रकार कंद को कंपाने आदि के सम्वन्ध में जानना चाहिए ।

२५. एवं जाव वीयं पचालेमाणे वा० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चउत्तीसइमो उद्देसो समत्तो ।।९. ३४।।

।। नवमं सतं समत्तं ।।९।।

[२५ प्र.] इसी प्रकार यावत् वीज को कंपाते या गिराते हुए आदि की क्रिया से सम्वन्धित प्रश्न ।

[२५ उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले, कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरते हैं ।

विवेचन—वायुकायिकों द्वारा वृक्षादि कम्पन-पातन-सम्वन्धी क्रिया— वायुकायिक जीव वृक्ष के मूल को तभी कम्पित कर सकते हैं या गिरा सकते हैं, जव कि वृक्ष नदी के किनारे हो और उसका मूल पृथ्वी से ढँका हुआ न हो ।

शंका-समाधान— वृक्ष के मूल को गिराने मात्र से पारितापनिकी सहित तीन क्रियाएँ वायुकायिकजीवों को कैसे लग सकती हैं ? इसका समाधान वृत्तिकार यों करते हैं—'अचेतनमूल की अपेक्षा से तीन क्रियाएँ सम्भव हैं ।'[1]

। नवम शतक : चौतीसवाँ उद्देशक समाप्त ।।

।। नवम शतक समाप्त ।।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९२

दसमं सयं : दशम शतक

प्राथमिक

* भगवतीसूत्र के दसवें शतक में कुल चौतीस उद्देशक हैं, जिनमें मनुष्य जीवन से तथा दिव्य जीवन से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

* दिशाएँ, मानव के लिए ही नहीं; समस्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के लिए अत्यन्त मार्गदर्शक बनती हैं, विशेषत: जल, स्थल एवं नभ से यात्रा करने वाले मनुष्य को अगर दिशाओं का बोध न हो तो वह भटक जाएगा, पथभ्रान्त हो जाएगा। जिस श्रावक ने दिशापरिमाणव्रत अंगीकार किया हो, उसके लिए तो दिशा का ज्ञान अतीव ही आवश्यक है। प्राचीनकाल में समुद्रयात्री कुतुवनुमा (दिशादर्शक-यंत्र) रखते थे, जिसकी सुई सदैव उत्तर की ओर रहती है। योगी जन रात्रि में ध्रुव तारे को देखकर दिशा ज्ञात करते हैं। इसीलिए श्रीगौतमस्वामी ने भगवान् से प्रथम उद्देशक में दिशाओं के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया है कि वे कितनी हैं ? वे जीवरूप हैं या अजीवरूप ? उनके देवता कौन-कौन से हैं जिनके आधार पर उनके नाम पड़े हैं ? दिशाओं को भगवान् ने जीवरूप भी बताया है, अजीवरूप भी। विदिशाएँ जीवरूप नहीं, किन्तु जीवदेश, जीवप्रदेश रूप हैं तथा रूपी अजीवरूप भी हैं, अरूपी अजीवरूप भी हैं, इत्यादि वर्णन पढ़ने से यह स्पष्ट प्रेरणा मिलती है कि प्रत्येक साधक को दिशाओं में स्थित जीव या अजीव की किसी प्रकार से आशातना या असंयम नहीं करना चाहिए। अन्तिम दो सूत्रों में शरीर के प्रकार एवं उससे सम्बन्धित तथ्यों का अतिदेश किया है।

* द्वितीय उद्देशक में कषायभाव में स्थित संवृत अनगार को विविध रूप देखते हुए साम्परायिकी और अकषायभाव में स्थित को ऐर्यापथिकी क्रिया लगने का सयुक्तिक प्रतिपादन है। साथ ही योनियों और वेदनाओं के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का तथा मासिक भिक्षुप्रतिमा की वास्तविक आराधना का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके पश्चात् अकृत्यसेवी भिक्षु की आराधना-अनाराधना का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है। यह उद्देशक साधकों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण व प्रेरक है।

* तृतीय उद्देशक में देवों और देवियों की, एक दूसरे के मध्य में होकर गमन करने की सहज शक्ति और अपरा शक्ति [वैक्रियशक्ति] का निरूपण किया गया है। १८ वें सूत्र में दौड़ते हुए घोड़े की खू-खू ध्वनि का हेतु बताया गया है और अन्तिम १९ वें सूत्र में असत्यामृषाभाषा के १२ प्रकार बता कर उनमें से बैठे रहेंगे, सोयेंगे, खड़े होंगे आदि भाषा को प्रज्ञापनी बताकर भगवान् ने उसके मृषा होने का निषेध किया है।

* चतुर्थ उद्देशक के प्रारम्भ में गणधर गौतमस्वामी से श्यामहस्ती अनगार के त्रायस्त्रिंशक देवों के अस्तित्व हेतु तथा सदाकाल स्थायित्व के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं। अन्त में गौतम-

स्वामी के प्रश्न के उत्तर में स्वयं भगवान् बताते हैं कि द्रव्यार्थिक नय से त्रायस्त्रिंशक देव प्रवाह-रूप से नित्य हैं, किन्तु पर्यायार्थिक नय से व्यक्तिगत रूप से पुराने देवों का च्यवन हो जाता है, उनके स्थान पर नये त्रायस्त्रिंशक देव जन्म लेते हैं। त्रायस्त्रिंशक देव बनने के जो कारण बताए हैं, उनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं—[१] जो भवनपति देवों के इन्द्रों के त्रायस्त्रिंशक देव हुए, वे पूर्वजन्म में पहले तो उग्रविहारी शुद्धाचारी श्रमणोपासक थे, किन्तु बाद में शिथिलाचारी प्रमादी बन गए तथा अन्तिम समय में संल्लेखना-संथारा के समय आलोचना-प्रतिक्रमणादि नहीं किया, तथा [२] जो वैमानिक देवेन्द्रों के त्रायस्त्रिंशक देव हुए, वे पूर्वजन्म में पहले और पीछे उग्रविहारी शुद्धाचारी श्रमणोपासक रहे और अन्तिम समय में संलेखना-संथारा के दौरान उन्होंने आलोचना, प्रतिक्रमणादि करके आत्मशुद्धि कर ली। इस समग्र पाठ से यह स्पष्ट है कि वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंशक देव नहीं होते।

* पंचम उद्देशक में चमरेन्द्र आदि भवनवासी देवेन्द्रों तथा उनके लोकपालों का, पिशाच आदि व्यन्तरजातीय देवों के इन्द्रों की, चन्द्रमा सूर्य एवं ग्रहों की एवं शक्रेन्द्र तथा ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों की संख्या, प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार की संख्या एवं अपने-अपने नाम के अनुरूप राजधानी एवं सिंहासन पर बैठकर अपनी-अपनी सुधर्मा सभा में स्वदेवीवर्ग के साथ मैथुन निमित्तक भोग भोगने की असमर्थता का निरूपण किया है।

* छठे उद्देशक में शक्रेन्द्र की सौधर्मकल्प स्थित सुधर्मा सभा की लम्बाई-चौड़ाई, विमानों की संख्या तथा शक्रेन्द्र के उपपात, अभिषेक, अलंकार, अर्चनिका, स्थिति, यावत् आत्मरक्षक इत्यादि परिवार के समस्त वर्णन का अतिदेश किया गया है। अन्तिम सूत्र में शक्रेन्द्र की ऋद्धि, द्युति, यश, प्रभाव, स्थिति, लेश्या, विशुद्धि एवं सुख आदि का निरूपण भी अतिदेशपूर्वक किया गया है।

* सातवें से चौतीसवें उद्देशक तक में उत्तरदिशावर्ती २८ अन्तर्द्वीपों का निरूपण भी जीवा-जीवाभिगम सूत्र के अतिदेशपूर्वक किया गया है।[1]

* कुल मिलाकर पूरे शतक में मनुष्यों और देवों की आध्यात्मिक, भौतिक एवं दिव्य शक्तियों का निर्देश किया गया है। □□

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, विसयाणुक्कमो पृ. ३७-३८

दसमं सयं : दशम शतक

संग्रहणी-गाथार्थ

दशम शतक के चौतीस उद्देशकों की संग्रहगाथा—

१. दिस १ संवुडअणगारे २ आइड्ढी ३ सामहत्थि ४ देवि ५ सभा ६ ।
उत्तर अंतरदीवा ७-३४ दसमम्मि सयम्मि चोत्तीसा ।।१।।

[१] दसवें शतक के चौतीस उद्देशक इस प्रकार हैं—

(१) दिशा, (२) संवृत अनगार, (३) आत्मऋद्धि, (४) श्यामहस्ती, (५) देवी, (६) सभा और (७ से ३४ तक) उत्तरवर्ती अन्तर्द्वीप ।

विवेचन—दशम शतक के चौंतीस उद्देशक—प्रस्तुत सूत्र (१) में दसवें शतक के चौतीस उद्देशकों का नामोल्लेख किया गया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) प्रथम उद्देशक में दिशाओं के सम्बन्ध में निरूपण है। (२) द्वितीय उद्देशक में संवृत अनगार आदि के विषय में निरूपण है। (३) तृतीय उद्देशक में देवावासों को उल्लंघन करने में देवों की आत्मऋद्धि (स्वशक्ति) का निरूपण है। (४) चतुर्थ उद्देशक में श्रमण भगवान् महावीर के 'श्यामहस्ती' नामक शिष्य के प्रश्नों से सम्बन्धित कथन है। (५) पंचम उद्देशक में चमरेन्द्र आदि इन्द्रों की देवियों (अग्रमहिषियों) के सम्बन्ध में निरूपण है। (६) छठे उद्देशक में देवों की सुधर्मा सभा के विषय में प्रतिपादन है और ७ वें से ३४ वें उद्देशक में उत्तरदिशा के २८ अन्तर्द्वीपों के विषय में २८ उद्देशक हैं।

□□

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९२

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

'दिस' : दिशाओं का स्वरूप

उपोद्घात—

२. रायगिहे जाव एवं वदासी—

[२] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से) यावत् इस प्रकार पूछा—

दिशाओं का स्वरूप—

३. किमियं भंते ! पाईणा ति पवुच्चति ?

गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव ।

[३ प्र.] भगवन् ! यह पूर्व दिशा क्या कहलाती है ?
[३ उ.] गौतम ! यह जीवरूप भी है और अजीवरूप भी है ।

४. किमियं भंते ! पडीणा ति पवुच्चति ?

गोयमा ! एवं चेव ।

[४ प्र.] भगवन् ! यह पश्चिम दिशा क्या कहलाती है ?
[४ उ.] गौतम ! यह भी पूर्वदिशा के समान जानना चाहिए ।

५. एवं दाहिणा, एवं उदीणा, एवं उड्ढा, एवं अहा वि ।

[५] इसी प्रकार दक्षिण दिशा, उत्तर दिशा, ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशा के विषय में भी जानना चाहिए ।

विवेचन—दिशाएँ : जीव-अजीवरूप क्यों ? प्रस्तुत तीन सूत्रों (३-४-५) में पूर्वादि छहों दिशाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में गौतमस्वामी द्वारा पूछे जाने पर भगवान् ने उन्हें जीवरूप भी बताया है, अजीवरूप भी । पूर्व आदि सभी दिशाएँ जीवरूप इसलिए हैं कि उनमें एकेन्द्रिय आदि जीव रहे हुए हैं और अजीवरूप इसलिए हैं कि उनमें अजीव (धर्मास्तिकायादि) पदार्थ रहे हुए हैं ।[१] पूर्व दिशा का 'प्राची' और पश्चिम दिशा का 'प्रतीची' नाम भी प्रसिद्ध है ।

दूसरे दार्शनिकों—विशेषतः नैयायिक-वैशेषिकों ने दिशा को द्रव्यरूप माना है, कई दर्शन-परम्पराओं में दिशाओं को देवतारूप मान कर उनकी पूजा करने का विधान किया है । तथागत बुद्ध ने द्रव्यदिशाओं की अपेक्षा भावदिशाओं की पूजा का स्वरूप बताया है । किन्तु भगवान् महावीर ने पूर्वोक्त कारणों से इन्हें जीव-अजीवरूप बताया है ।[२]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९३

२. (क) **पृथिव्यपतेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।** —तर्कसंग्रह, सू. २
(ख) सिंगालसुत्त जातक

दिशाओं के दस भेद—

६. कति णं भंते ! दिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! दस दिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमा १ पुरत्थिमदाहिणा २ दाहिणा ३ दाहिणपच्चत्थिया ४ पच्चत्थिमा ५ पच्चत्थिमुत्तरा ६ उत्तरा ७ उत्तरपुरत्थिमा ८ उड्ढा ९ अहा १० ।

[६ प्र.] भगवन् ! दिशाएँ कितनी कही गई हैं ?

[६ उ.] गौतम ! दिशाएँ दस कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) पूर्व, (२) पूर्व-दक्षिण (आग्नेयकोण), (३) दक्षिण, (४) दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्यकोण), (५) पश्चिम, (६) पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण), (७) उत्तर, (८) उत्तरपूर्व (ईशानकोण), (९) ऊर्ध्वदिशा और (१०) अधोदिशा ।

विवेचन—दश दिशाओं के नाम—प्रस्तुत छठे सूत्र में दश दिशाओं के नामों का उल्लेख किया गया है । पूर्वसूत्रों में ६ दिशाएँ बताई गई थीं । इसमें चार विदिशाओं के ४ कोणों (पूर्वदक्षिण, दक्षिणपश्चिम, पश्चिमोत्तर, एवं उत्तरपूर्व) को जोड़ कर १० दिशाएँ बताई गई हैं ।[1]

दिशाओं का यन्त्र—
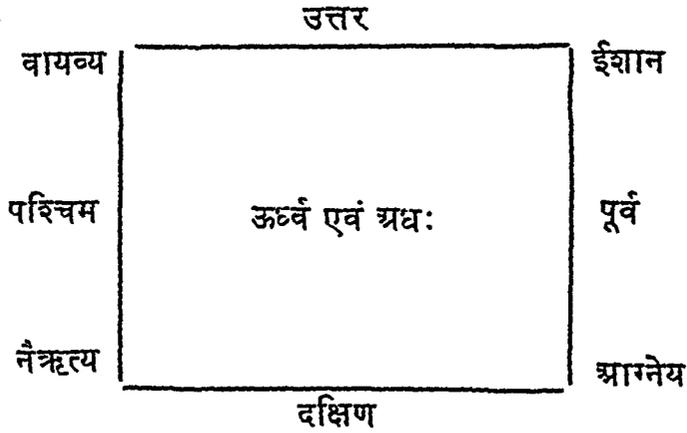
दश दिशाओं के नामान्तर—

७. एयासि णं भंते ! दसण्हं दिसाणं कति णामधेज्जा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

इंदऽग्गेयी १-२ जम्मा य ३ नेरती ४ वारुणी ५ य वायव्वा ६ ।
सोमा ७ ईसाणी या ८ विमला य ९ तमा य १० बोधव्वा ॥२॥

[७ प्र.] भगवन् ! इन दस दिशाओं के कितने नाम कहे गए हैं ?

[७ उ.] गौतम ! (इनके) दस नाम हैं । वे इस प्रकार हैं—

[गाथार्थ] - (१) ऐन्द्री (पूर्व), (२) आग्नेयी (अग्निकोण), (३) याम्या (दक्षिण), (४) नैऋती (नैऋत्यकोण), (५) वारुणी (पश्चिम), (६) वायव्या (वायव्यकोण), (७) सौम्या (उत्तर), (८) ऐशानी (ईशानकोण), (९) विमला (ऊर्ध्वदिशा) और (१०) तमा (अधोदिशा) । ये दस (दिशाओं के) नाम समझने चाहिए ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठटिप्पण) भा. २, पृ. ४८५

विवेचन—**दिशाओं के ये दस नामान्तर क्यों ?** प्रस्तुत ७ वें सूत्र में दिशाओं के दूसरे नामों का उल्लेख किया गया है। पूर्वदिशा (ऐन्द्री) इसलिए कहलाती है क्योंकि उसका स्वामी (देवता) इन्द्र है। इसी प्रकार अग्नि, यम, नैर्ऋति, वरुण, वायु, सोम और ईशान देवता स्वामी होने से इन दिशाओं को क्रमशः आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, सौम्या और ऐशानी कहते हैं। ऊर्ध्वदिशा प्रकाश-युक्त होने से उसे 'विमला' कहते हैं और अधोदिशा अन्धकारयुक्त होने से उसे 'तमा' कहते हैं।[1]

दश दिशाओं की जीव-अजीव सम्बन्धी वक्तव्यता—

८. इंदा णं भंते ! दिसा किं जीवा, जीवदेसा, जीवपदेसा, अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपदेसा ?

गोयमा ! जीवा वि, तं चेव जाव अजीवपएसा वि। जे जीवा ते नियमं एगिंदिया बेइंदिया जाव पंचिंदिया, अणिंदिया। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा जाव अणिंदियदेसा। जे जीवपएसा ते नियमं एगिंदियपएसा जाव अणिंदियपएसा। जे अजीवा, ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा— रूविअजीवा य, अरूविअजीवा य। जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खंधा १ खंधदेसा २ खंधपएसा ३ परमाणुपोग्गला ४।

जे अरूविअजीवा ते सत्तविहा पण्णत्ता, तं जहा—नो धम्मत्थिकाये, धम्मत्थिकायस्स देसे १ धम्मत्थिकायस्स पदेसा २; नो अधम्मत्थिकाये, अधम्मत्थिकायस्स देसे ३ अधम्मत्थिकायस्स पदेसा ४; नो आगासत्थिकाये, आगासत्थिकायस्स देसे ५ आगासत्थिकायस्स पदेसा ६ अद्धासमये ७।

[८ प्र.] भगवन् ! ऐन्द्री (पूर्व) दिशा जीवरूप है, जीव के देशरूप है, जीव के प्रदेशरूप है, अथवा अजीवरूप है, अजीव के देशरूप है या अजीव के प्रदेशरूप है ?

[८ उ.] गौतम ! वह (ऐन्द्री दिशा) जीवरूप भी है, इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत् वह अजीवप्रदेशरूप भी है।

उसमें जो जीव हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, यावत् पंचेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय (केवलज्ञानी) हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय जीव के देश हैं, यावत् अनिन्द्रिय जीव के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं, वे नियमतः एकेन्द्रिय जीव के प्रदेश हैं, यावत् अनिन्द्रिय जीव के प्रदेश हैं। उसमें जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के हैं। यथा-रूपी अजीव और अरूपी अजीव। रूपी अजीवों के चार भेद हैं। यथा (१) स्कन्ध, (२) स्कन्धदेश, (३) स्कन्धप्रदेश और (४) परमाणु-पुद्गल। जो अरूपी अजीव हैं, वे सात प्रकार के हैं। यथा—(१) (स्कन्धरूपसमग्र) धर्मास्तिकाय नहीं, किन्तु धर्मास्तिकाय का देश है, (२) धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं, (३) (स्कन्धरूप) अधर्मास्तिकाय नहीं, किन्तु अधर्मास्तिकाय का देश है, (४) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं, (५) (स्कन्धरूप) आकाशास्तिकाय नहीं, किन्तु आकाशास्तिकाय का देश है; (६) आकाशास्तिकाय के प्रदेश हैं और (७) अद्धासमय अर्थात् काल है।

---

१. इन्द्रो देवता यस्याः सैन्द्री। अग्निर्देवता यस्याः साऽग्नेयी। ·······ईशानदेवता ऐशानी विमलतया विमला। तमा रात्रिस्तदाकारत्वात्तमाऽन्धकारेत्यर्थः। —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९३

विवेचन—दिशा-विदिशाओं का आकार एवं व्यापकत्व—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, ये चारों महादिशाएँ गाड़ी (शकट) की उद्धि (ओढण) के आकार की हैं और आग्नेयी, नैर्ऋती, वायव्या और ऐशानी ये चार विदिशाएँ मुक्तावली (मोतियों की लड़ी) के आकार की हैं। ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा रुचकाकार हैं, अर्थात्—मेरुपर्वत के मध्यभाग में ८ रुचकप्रदेश हैं, जिनमें से चार ऊपर की ओर और चार नीचे की ओर गोस्तनाकार हैं। यहाँ से दस दिशाएँ निकली हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, ये चारों दिशाएँ मूल में दो-दो प्रदेशी निकली हैं और आगे दो-दो प्रदेश की वृद्धि होती हुई लोकान्त तक एवं अलोक में चली गई हैं। लोक में असंख्यात प्रदेश तक और अलोक में अनन्त प्रदेश तक वढ़ी हैं। इसलिए इनकी आकृति गाड़ी के ओढण के समान है। चारों विदिशाएँ एक-एक प्रदेश वाली निकली हैं और लोकान्त तक एकप्रदेशी ही चली गई हैं। ऊर्ध्व और अधोदिशा चार-चार प्रदेशी निकली हैं और लोकान्त तक एवं अलोक में भी चली गई हैं। पूर्वदिशा जीवादिरूप है किन्तु वहाँ समग्र धर्मास्तिकायादि नहीं, किन्तु धर्म, अधर्म एवं आकाश का एक देशरूप और असंख्यप्रदेशरूप हैं तथा अद्धा-समयरूप है। इस प्रकार अरूपी अजीवरूप सात प्रकार की पूर्वदिशा है।[1]

९. अग्गेयी णं भंते ! दिसा किं जीवा, जीवदेसा, जीवपदेसा० पुच्छा।

गोयमा ! णो जीवा, जीवदेसा वि, जीवपदेसा वि, अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवपदेसा वि। जे जीवदेसा ते नियमं एगिंदियदेसा। अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स देसे १, अहवा एगिंदियदेसा बेइंदियस्स देसा २, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियाण य देसा ३। अहवा एगिंदियदेसा य तेइंदियस्स देसे, एवं चेव तियभंगो भाणियव्वो। एवं जाव अणिंदियाणं तियभंगो। जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा। अहवा एगिंदियपदेसा य बेइंदियस्स पदेसा, अहवा एगिंदियपदेसा य बेइंदियाण य पएसा। एवं आदिल्लविरहिओ जाव अणिंदियाणं।

जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—रूविअजीवा य अरूविअजीवा य। जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खंधा जाव[2] परमाणुपोग्गला ४। जे अरूविअजीवा ते सत्तविधा पण्णत्ता, तं जहा—नो धम्मत्थिकाये, धम्मत्थिकायस्स देसे १ धम्मत्थिकायस्स पदेसा २; एवं अधम्मत्थिकायस्स वि ३-४; एवं आगासत्थिकायस्स वि जाव आगासत्थिकायस्स पदेसा ५-६; अद्धासमये ७।

[९ प्र.] भगवन् आग्नेयीदिशा क्या जीवरूप है, जीवदेशरूप है, अथवा जीवप्रदेशरूप है? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९ उ.] गौतम ! वह (आग्नेयीदिशा) जीवरूप नहीं, किन्तु जीव के देशरूप है, जीव के प्रदेशरूप भी है, तथा अजीवरूप है और अजीव के प्रदेशरूप भी है।

इसमें जीव के जो देश हैं वे नियमतः एकेन्द्रिय जीवों के देश हैं, अथवा एकेन्द्रियों के बहुत देश और द्वीन्द्रिय का एक देश है १, अथवा एकेन्द्रियों के बहुत देश एवं द्वीन्द्रियों के वहुत देश हैं २,

---

१. "सगडुद्धिसंठियाओ महादिसाओ हवंति चत्तारि। मुत्तावलीव चउरो दो चेव य होंति रुयगनिभे॥

—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९४

२. 'जाव' पद-सूचित पाठ—"खंधदेसा, खंधपएसा।"

अथवा एकेन्द्रियों के बहुत देश और बहुत द्वीन्द्रियों के बहुत देश हैं ३. (ये तीन भंग हैं, इसी प्रकार) एकेन्द्रियों के बहुत देश और एक त्रीन्द्रिय का एक देश है १, इसी प्रकार से पूर्ववत् त्रीन्द्रिय के साथ तीन भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार यावत् अनिन्द्रिय तक के भी क्रमशः तीन-तीन भंग कहने चाहिए। इसमें जीव के जो प्रदेश हैं, वे नियम से एकेन्द्रियों के प्रदेश हैं। अथवा एकेन्द्रियों के बहुत प्रदेश और एक द्वीन्द्रिय के बहुत प्रदेश हैं, अथवा एकेन्द्रियों के बहुत प्रदेश और बहुत द्वीन्द्रियों के बहुत प्रदेश हैं। इसी प्रकार सर्वत्र प्रथम भंग को छोड़ कर दो-दो भंग जानने चाहिए; यावत् अनिन्द्रिय तक इसी प्रकार कहना चाहिए। अजीवों के दो भेद हैं। यथा—रूपी अजीव और अरूपी अजीव। जो रूपी अजीव हैं, वे चार प्रकार के हैं। यथा—स्कन्ध से लेकर यावत् परमाणु पुद्गल तक। अरूपी अजीव सात प्रकार के हैं। यथा—धर्मास्तिकाय नहीं, किन्तु धर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय नहीं, किन्तु अधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, आकाशास्तिकाय नहीं, किन्तु आकाशास्तिकाय का देश, आकाशास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय (काल)। (विदिशाओं में जीव नहीं है, इसलिए सर्वत्र देश-प्रदेश-विषयक भंग होते हैं।)

आग्नेयी विदिशा का स्वरूप—आग्नेयी विदिशा जीवरूप नहीं है, क्योंकि सभी विदिशाओं की चौड़ाई एक-एक प्रदेशरूप है। वे एकप्रदेशी ही निकली हैं और अन्त तक एकप्रदेशी ही रही हैं और एक प्रदेश में समग्र जीव का समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि जीव की अवगाहना असंख्य-प्रदेशात्मक है।[1]

जीवदेश सम्बन्धी भंगजाल—एकेन्द्रिय सकललोकव्यापी होने से आग्नेयी दिशा में नियमतः एकेन्द्रिय देश तो होते ही हैं। अथवा एकेन्द्रिय सकललोकव्यापी होने से और द्वीन्द्रिय अल्प होने से कहीं एक की भी संभावना है। इसलिए कहा गया—एकेन्द्रियों के बहुत देश और एक द्वीन्द्रिय का देश, इस प्रकार द्विकसंयोगी प्रथम भंग हुआ। यों तीन भंग होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के साथ तीन-तीन भंग होते हैं।[2]

१०. जम्मा णं भंते ! दिसा किं जीवा० ?

जहा इंदा (सु. ८) तहेव निरवसेसं।

[१० प्र.] भगवन् ! याम्या (दक्षिण)-दिशा क्या जीवरूप है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१० उ.] (गौतम !) ऐन्द्रीदिशा के समान सभी कथन (सू. ८ में उक्त) जानना चाहिए।

११. नेरई जहा अग्गेयी (सु. ९)।

[११] नैर्ऋती विदिशा का (एतद्विषयक समग्र) कथन (सू. ९ में उक्त) आग्नेयी विदिशा के समान जानना चाहिए।

१२. वारुणी जहा इंदा (सु. ८)।

[१२] वारुणी (पश्चिम)-दिशा का (इस सम्बन्ध में कथन) (सू. ८ में उक्त) ऐन्द्रीदिशा के समान जानना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९४

२ वही, पत्र ४९४

१३. वायव्वा जहा अग्गेयी (सु. ९)।

[१३] वायव्या विदिशा का कथन आग्नेयी के समान है।

१४. सोमा जहा इंदा।

[१४] सौम्या (उत्तर)-दिशा का कथन ऐन्द्रीदिशा के समान जान लेना चाहिए।

१५. ईसाणी जहा अग्गेयी।

[१५] ऐशानी विदिशा का कथन आग्नेयी के समान जानना चाहिए।

१६. विमलाए जीवा जहा अग्गेईए, अजीवा जहा इंदाए।

[१६] विमला (ऊर्ध्व)-दिशा में जीवों का कथन आग्नेयी के समान है तथा अजीवों का कथन ऐन्द्रीदिशा के समान है।

१७. एवं तमाए वि, नवरं अरूवी छव्विहा। अद्धासमयो न भण्णति।

[१७] इसी प्रकार तमा (अधोदिशा) का कथन भी जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि तमादिशा में अरूपी-अजीव के ६ भेद ही हैं, वहाँ अद्धासमय नहीं है। अतः अद्धासमय का कथन नहीं किया गया।

शेष दिशा-विदिशाओं की जीव-अजीवप्ररूपणा—सू. १० से १७ तक आठ सूत्रों में निरूपित तथ्य का निष्कर्ष यह है कि शेष तीनों दिशाओं का जीव-अजीव सम्बन्धी कथन पूर्वदिशा के समान जानना चाहिए और शेष तीनों विदिशाओं का जीव-अजीव सम्बन्धी कथन आग्नेयीदिशा के समान जानना चाहिए। ऊर्ध्वदिशा में जीवों का कथन आग्नेयी के समान तथा अजीव-सम्बन्धी कथन ऐन्द्री के समान जानना चाहिए। तमा (अधो)-दिशा का भी जीव-अजीव-सम्बन्धी कथन ऊर्ध्वदिशावत् है किन्तु वहाँ गतिमान् सूर्य का प्रकाश न होने से अद्धासमय का व्यवहार सम्भव नहीं है। अतः वहाँ अद्धासमय (काल) नहीं है। यद्यपि ऊर्ध्वदिशा में भी गतिमान् सूर्य का प्रकाश न होने से अद्धासमय का व्यवहार संभव नहीं है, तथापि मेरुपर्वत के स्फटिक काण्ड में गतिमान् सूर्य के प्रकाश का संक्रमण होता है। इसलिए वहाँ समय का व्यवहार सम्भव है।[1]

शरीर के भेद-प्रभेद तथा सम्बन्धित निरूपण—

१८. कति णं भंते! सरीरा पण्णत्ता?

गोयमा! पंच सरीरा पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए जाव कम्मए।

[१८ प्र.] भगवन्! शरीर कितने प्रकार के कहे गए हैं?

[१८ उ.] गौतम! शरीर पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९४

१९. ओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? एवं ओगाहणसंठाणपदं निरवसेसं भाणियव्वं जाव अप्पाबहुगं ति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ दसमे सए पढमो उद्देसो समत्तो ॥१०-१ ॥

[१९ प्र.] भगवन् ! औदारिक शरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९ उ.] (गौतम !) यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के (२१वें) अवगाहन-संस्थान-पद में वर्णित समस्त वर्णन यावत् अल्पबहुत्व तक कहना चाहिए ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है !

विवेचन—शरीर : प्रकार तथा अवगाहनादि—प्रस्तुत दो सूत्रों (१८-१९) में शरीर सम्बन्धी प्ररूपणा प्रज्ञापनासूत्र के २१ वें अवगाहनसंस्थानपद का अतिदेश करके की गई है । वहाँ शरीर के औदारिक आदि ५ प्रकार, उनका संस्थान (आकार), प्रमाण, पुद्गलचय, शरीरों का पारस्परिक संयोग, द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ, तथा अल्पबहुत्व एवं शरीरों की अवगाहना आदि द्वारों के माध्यम से विस्तृत वर्णन किया गया है । वही समग्र वर्णन अल्पबहुत्व तक यहाँ करना चाहिए ।[1]

॥ दशम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

□□

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र : अवगाहन-संस्थानपद, २१, सू. १४७४—१५६६, पृ. ३२८-३४९ (महा. जै. विद्यालय)

(ख) संग्रहगाथा—कइ १ संठाण २ पमाणं ३, पोग्गलचिणणा ४ सरीरसंजोगो ५ ।
दव्व-पएसऽप्पबहुं ६ सरीरोगाहणाए य ॥१॥ —भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९५

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

संवुडअणगारे : संवृत अनगार

उपोद्घात—

१. रायगिहे जाव एवं वयासी।

[१] राजगृह में (श्रमण भगवान् महावीर से) यावत् गौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—

वीचिपथ और अवीचिपथ स्थित संवृत अनगार को लगने वाली क्रिया—

२. [१] संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स वीयी पंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स, मग्गतो रूवाइं अवयक्खमाणस्स, पासतो रूवाइं अवलोएमाणस्स, उड्ढं रूवाइं ओलोएमाणस्स, अहे रूवाइं आलोएमाणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! संवुडस्स णं अणगारस्स वीयी पंथे ठिच्चा जाव तस्स णं णो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! वीचिपथ (कषायभाव) में स्थित होकर सामने के रूपों को देखते हुए, पीछे रहे हुए रूपों को देखते हुए, पार्श्ववर्त्ती (दोनों बगल में) रहे हुए रूपों को देखते हुए, ऊपर के (ऊर्ध्वस्थित) रूपों का अवलोकन करते हुए एवं नीचे के (अधःस्थित) रूपों का निरीक्षण करते हुए संवृत अनगार को क्या ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है ?

[२-१ उ.] गौतम ! वीचिपथ (कषायभाव) में स्थित हो कर सामने के रूपों को देखते हुए यावत् नीचे के रूपों का अवलोकन करते हुए संवृत अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती, किन्तु साम्परायिकी क्रिया लगती है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—संवुड० जाव संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा एवं जहा सत्तमसए पढमोद्देसए (स. ७ उ. १ सु. १६. [२]) जाव से णं उस्सुत्तमेव रीयति, से तेणट्ठेणं जाव संपराइया किरिया कज्जति।

[२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि वीचिपथ में स्थित……यावत् संवृत अनगार को यावत् साम्परायिकी क्रिया लगती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती ?

[२-२ उ.] गौतम ! जिसके क्रोध, मान, माया एवं लोभ व्युच्छिन्न हो गए हों, उसी को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है; इत्यादि (संवृत अनगारसम्बन्धी) सब कथन सप्तम शतक के प्रथम उद्देशक में कहे अनुसार, यावत्—यह संवृत अनगार सूत्रविरुद्ध (उत्सूत्र) आचरण करता है; यहाँ तक जानना चाहिए। इसी कारण से हे गौतम ! कहा गया कि यावत् साम्परायिकी क्रिया लगती है।

३. [१] संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स अवीयी पंथे ठिच्चा पुरतो रूवाइं निज्झायमाणस्स जाव तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ० ? पुच्छा।

गोयमा ! संवुड० जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! अवीचिपथ (अकषायभाव) में स्थित संवृत अनगार को सामने के रूपों को निहारते हुए यावत् नीचे के रूपों का अवलोकन करते हुए क्या ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है ?; इत्यादि प्रश्न।

[३-१ उ.] गौतम! अकषाय भाव में स्थित संवृत अनगार को उपर्युक्त रूपों का अवलोकन करते हुए ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, (किन्तु) साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जहा सत्तमसए सत्तमुद्देसए (स. ७ उ. ७ सु. १ [२]) जाव से णं अहासुत्तमेव रीयति, से तेणट्ठेणं जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ।

[३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

[३-२ उ.] गौतम ! सप्तम शतक के सप्तम उद्देशक में वर्णित (—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्युच्छिन्न हो गए हों)—ऐसा जो संवृत अनगार यावत् सूत्रानुसार आचरण करता है; (उसको ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं।) इसी कारण मैं कहता हूँ, यावत् साम्परायिक क्रिया नहीं लगती।

ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया के अधिकारी—सप्तम शतक में प्रतिपादित जैनसिद्धान्त का अतिदेश करके यहाँ बताया गया है कि जो आगे-पीछे के, अगल-बगल के एवं ऊपर-नीचे के रूपों का अवलोकन करते हुए चलता है, किन्तु जिसका कषायभाव व्युच्छिन्न नहीं हुआ है, ऐसे सूत्र-विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले संवृत अनगार को साम्परायिकी क्रिया लगती है, किन्तु जिसका कषायभाव व्युच्छिन्न हो गया है यावत् जो सूत्रानुसार प्रवृत्ति करता है, उस संवृत अनगार को ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है।[१-२]

वीयीपंथे : चार रूप : चार अर्थ—(१) **वीचि(मतः)पथे**—वीचि का यहाँ अर्थ है—सम्प्रयोग, अतः भावार्थ हुआ—कषायों और जीव का सम्बन्ध। वीचिमान् का अर्थ कषायवान् के और पथे का अर्थ 'मार्ग में' है। (२) **विचिपथे**—विचिर् धातु पृथक्भाव अर्थ में है। अतः भावार्थ हुआ जो यथाख्यातसंयम से पृथक् होकर कषायोदय के मार्ग में है। (३) **विचितिपथे**—जो रागादि विकल्पों के विचिन्तन के पथ में है, और (४) **विकृतिपथे**—जिस स्थिति में सरागता होने से विरूपा कृति—क्रिया है, उस विकृति के मार्ग में।

अवीयीपंथे—चाररूप : चार अर्थ—(१) **अवीचिपथे**—अकषाय सम्बन्ध वाले मार्ग में, (२) **अविचिपथे**=यथाख्यातसंयम से अपृथक् मार्ग में, (२) **अविचितिपथे**—रागादि विकल्पों के

१-२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९५ का सारांश

अविचिन्तन पथ में और (४) अविकृतिपथे—अविकृतिरूप पथ में यानी वीतराग होने से जिस पथ में क्रिया अविकृत हो।[1]

'पुरओ' आदि शब्दों का भावार्थ—पुरओ—आगे के। **निज्झायमाणस्स**—निहारते या चिन्तन करते हुए। **मग्गओ**—पीछे के। **अवयक्खमाणस्स**—अवकांक्षा—अपेक्षा करते हुए, या प्रेक्षण करते हुए। **अवलोएमाणस्स**—अवलोकन करते हुए। **संपराइया**—साम्परायिकी—कषायसम्बन्धी। **उस्सुत्तमेव रीयति**—उत्सूत्र—सूत्रविरुद्ध ही चलता है। **अहासुत्तं**—यथासूत्र—सूत्रानुसार। **ईरियावहिया किरिया**—ऐर्यापथिकी क्रिया, जो केवल योगप्रत्यया कर्मबन्धक्रिया हो।[2]

योनियों के भेद-प्रभेद प्रकार एवं स्वरूप—

४. कतिविधा णं भंते ! जोणी पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा जोणी पण्णत्ता, तं जहा—सीया उसिणा सीतोसिणा। एवं जोणीपयं निरवसेसं भाणियव्वं।

[४ प्र.] भगवन् ! योनि कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] गौतम ! योनि तीन प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—शीत, उष्ण, शीतोष्ण। यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र का नौवाँ) योनिपद सम्पूर्ण कहना चाहिए।

विवेचन—योनिसम्बन्धी निरूपण—प्रस्तुत चौथे सूत्र में योनि के प्रकार, भेदोपभेद, संख्या, वर्णादि का विवरण जानने के लिए प्रज्ञापनासूत्रगत योनिपद का अतिदेश किया गया है।[3]

योनि का निर्वचनार्थ—योनिशब्द 'यु मिश्रणे' धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ हुआ—जिसमें तैजस-कार्मणशरीर वाले जीव औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्‌गलस्कन्ध-समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, उसे योनि कहते हैं।[4]

योनि के सामान्यतया तीन प्रकार—प्रस्तुत मूल पाठ में योनि तीन प्रकार की बताई गई है—शीत, उष्ण, शीतोष्ण। शीतस्पर्श के परिणाम वाली शीतयोनि, उष्णस्पर्श के परिणाम वाली उष्णयोनि और उभय-स्पर्श के परिणाम वाली शीतोष्णयोनि कहलाती है। प्रज्ञापना के योनिपद के अनुसार नारकों की शीत और उष्ण दो प्रकार की योनियाँ हैं, देवों और गर्भज जीवों की शीतोष्ण योनियाँ हैं। तेजस्काय की उष्णयोनि होती है तथा शेष जीवों के तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं।

---

१. वही, अ. वृत्ति, पत्र ४९६

२. वही, पत्र ४९६

३. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ४८८-४८९
   (ख) प्रज्ञापनासूत्र (म. जै. विद्यालय) ९ वाँ योनिपद, सू. ७३८-७३, पृ. १९०-९२

४. 'युवन्ति-तैजस-कार्मणशरीरवन्त औदारिकादिशरीरयोग्यस्कन्धसमुदायेन मिश्रीभवन्ति जीवा यस्यां सा योनिः।'
—भगवती. अ. वृ., पत्र ४९६

प्रकारान्तर से योनि के तीन भेद—इस प्रकार हैं—सचित्त (जीव-प्रदेशों से सम्बन्धित) अचित्त (सर्वथा जीवरहित) और मिश्र। नारकों और देवों की योनियाँ अचित्त होती हैं। गर्भज जीवों की सचित्ताचित्त (अंशतः जीवप्रदेश-सहित और अंशतः जीवप्रदेश-रहित) योनि होती है और शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनि होती है।

अन्य प्रकार से योनि के तीन भेद—ये हैं—संवृत (जो उत्पत्तिस्थान ढँका हुआ—गुप्त हो, वह), विवृत (जो उत्पत्तिस्थान खुला हुआ हो, वह), एवं संवृत-विवृत (जो कुछ ढँका हुआ और कुछ खुला हुआ हो, वह) योनि। नारकों, देवों और एकेन्द्रिय जीवों के संवृतयोनि, गर्भज जीवों के संवृत-विवृतयोनि और शेष जीवों के विवृतयोनि होती है।

उत्कृष्टता-निकृष्टता की दृष्टि से योनि के तीन प्रकार—कूर्मोन्नता (कछुए की पीठ की तरह उन्नत), **शंखावर्ता**—(शंख के समान आवर्त वाली) और **वंशीपत्रा**—(बांस के दो पत्तों के समान सम्पुट मिले हुए हों)। चक्रवर्ती की पटरानी श्रीदेवी की शंखावर्त्ता योनि। तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों की माता के कूर्मोन्नता योनि तथा शेष समस्त संसारी जीवों की माता के वंशीपत्रा योनि होती है।[1]

चौरासी लाख जीवयोनियाँ—वास्तव में योनि कहते हैं—जीवों के उत्पत्तिस्थान को। वह योनि प्रत्येक जीवनिकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार की है। यथा—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय की प्रत्येक की ७-७ लाख योनियाँ हैं, प्रत्येक वनस्पतिकाय की १० लाख, साधारण वनस्पतिकाय की १४ लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की प्रत्येक की ४-४ लाख और मनुष्य की १४ लाख योनियाँ हैं। ये सब मिला कर ८४ लाख योनियाँ होती हैं। यद्यपि व्यक्तिभेद की अपेक्षा से अनन्त जीव होने से जीवयोनियों की संख्या अनन्त होती है, किन्तु यहाँ समान वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाली योनियों को जातिरूप से सामान्यतया एक योनि मानी गई है। इस दृष्टि से योनियों की कुल ८४ लाख जातियाँ (किस्में) हैं।[2]

विविध वेदना : प्रकार एवं स्वरूप—

५. कतिविधा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा वेदणा पण्णत्ता, तं जहा—सीता उसिणा सीतोसिणा। एवं वेदणापदं भाणितव्वं जाव—

नेरइया णं भंते ! किं दुक्खं वेदणं वेदेंति, सुहं वेदणं वेदेंति, अदुक्खमसुहं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! दुक्खं पि वेदणं वेदेंति, सुहं पि वेदणं वेदेंति, अदुक्खमसुहं पि वेदणं वेदेंति।

[५ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

---

१. (क) प्रज्ञापना. ९ वाँ योनिपद

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९६-४९७

२. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १७९५

"समवण्णाई समेया बहवो वि हु जोणिभेयलक्खा उ।

सामण्णा घेप्पंति हु एक्कजोणीए गहणेणं ॥"

[५ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही गई है। यथा—शीता, उष्णा और शीतोष्णा। इस प्रकार यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का सम्पूर्ण पैंतीसवाँ वेदनापद कहना चाहिए; यावत्—[प्र.] 'भगवन्! क्या नैरयिक जीव दुःखरूप वेदना वेदते हैं, या सुखरूप वेदना वेदते हैं, अथवा अदुःख-असुखरूप वेदना वेदते हैं ? [उ.] हे गौतम ! नैरयिक जीव दुःखरूप वेदना भी वेदते हैं, सुखरूप वेदना भी वेदते हैं और अदुःख-असुखरूप वेदना भी वेदते हैं।

विवेचन—वेदनापद के अनुसार वेदना-निरूपण—प्रस्तुत ५ वें सूत्र में प्रज्ञापनासूत्रगत वेदनापद का अतिदेश करके वेदना सम्बन्धी समग्र निरूपण का संकेत किया गया है।[1]

वेदना : स्वरूप और प्रकार—जो वेदी (अनुभव की) जाए उसे वेदना कहते हैं। प्रस्तुत में वेदना के तीन प्रकार बताए गए हैं—शीतवेदना, उष्णवेदना और शीतोष्णवेदना। नरक में शीत और उष्ण दोनों प्रकार की वेदना पाई जाती है। शेष असुरकुमारादि से वैमानिक तक २३ दण्डकों में तीनों प्रकार की वेदना पाई जाती हैं। दूसरे प्रकार से वेदना ४ प्रकार की है—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से जो वेदना होती है वह द्रव्यवेदना, नरकादि क्षेत्र से सम्बन्धित वेदना क्षेत्रवेदना, पंचमारक एवं षष्ठारक सम्बन्धी वेदना कालवेदना, शोक-क्रोधादिसम्बन्धजनित वेदना भाववेदना है। समस्त संसारी जीवों के ये चारों प्रकार की वेदनाएँ होती हैं।[2]

प्रकारान्तर से त्रिविधवेदना—शारीरिक, मानसिक और शारीरिक-मानसिक वेदना। १६ दण्डकवर्ती समनस्क जीव तीनों प्रकार की वेदना वेदते हैं। जबकि पांच स्थावर एवं तीन विकलेन्द्रिय इन ८ दण्डकों के असंज्ञी जीव शारीरिक वेदना वेदते हैं।

वेदना के पुनः तीन भेद हैं—सातावेदना, असातावेदना और साता-असाता वेदना। चौवीस दण्डकों में इन तीनों प्रकार की वेदना पाई जाती हैं। वेदना के पुनः तीन भेद हैं—दुःखा, सुखा और अदुःखसुखा वेदना। तीनों प्रकार की वेदना चौवीस ही दण्डकों में पाई जाती हैं। साता-असाता तथा सुखा-दुःखा वेदना में अन्तर यह है कि साता-असाता क्रमशः उदयप्राप्त वेदनीयकर्म-पुद्गलों की अनुभवरूप वेदनाएँ हैं, जबकि सुखा-दुःखा दूसरे के द्वारा उदीर्यमाण वेदनीय के अनुभवरूप वेदनाएँ हैं।

वेदना के दो भेद—अन्य प्रकार से भी हैं। यथा—आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी। स्वयं कष्ट को स्वीकार करके वेदी जाने वाली आभ्युपगमिकी वेदना है, यथा-केशलोच आदि तथा औपक्रमिकी वेदना वह है, जो स्वयं उदीर्ण (उदय में आई हुई, ज्वरादि) वेदना होती है, अथवा जिसमें उदीरणा करके उदय में लाई वेदना का अनुभव किया जाता है। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्य में दोनों प्रकार की वेदनाएँ होती हैं, शेष बाईस दण्डकों में एकमात्र औपक्रमिकी वेदना होती है।

वेदना के दो भेद : प्रकारान्तर से—निदा और अनिदा। विवेकसहित जो वेदी जाए वह निदावेदना है और विवेकपूर्वक न वेदी जाए वह अनिदावेदना है। नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय एवं मनुष्य ये १४ दण्डकों के जीव दोनों प्रकार की वेदनाएँ वेदते हैं। इनमें जो संज्ञीभूत

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ४८९
   (ख) प्रज्ञापनासूत्र (म. जै. विद्यालय) ३५ वाँ वेदनापद, सू. २०५४-८४, पृ. ४२४-२७।
२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९७
   (ख) प्रज्ञापना. ३५ वाँ वेदनापद

हैं, वे निदा और जो असंज्ञीभूत हैं वे अनिदा वेदना वेदते हैं—यथा-असंज्ञीभूत पांच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय। ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—मायी मिथ्यादृष्टि और अमायी सम्यग्दृष्टि। मायी मिथ्यादृष्टि अनिदावेदना वेदते हैं और अमायी सम्यग्दृष्टि निदा वेदना वेदते हैं।[1]

वेदनासम्बन्धी विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनागत वेदनापद में है।

मासिक भिक्षुप्रतिमा की वास्तविक आराधना—

६. मासियं णं भंते ! भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठे काये चियत्ते देहे, एवं मासिया भिक्खुपडिमा निरवसेसा भाणियव्वा जहा दसाहिं जाव आराहिया भवति।

[६ प्र.] भगवन् ! मासिक भिक्षुप्रतिमा जिस अनगार ने अंगीकार की है तथा जिसने शरीर (के प्रति ममत्व) का त्याग कर दिया है और (शरीरसंस्कार आदि के रूप में) काया का सदा के लिए व्युत्सर्ग कर दिया है, इत्यादि दशाश्रुतस्कन्ध में बताए अनुसार मासिक भिक्षु-प्रतिमा सम्बन्धी समग्र वर्णन (बारहवीं भिक्षुप्रतिमा तक) करना चाहिए, यावत् (तभी) आराधित होती है, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—भिक्षुप्रतिमा की वास्तविक आराधना—यहाँ छठे सूत्र में मासिक भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार किये हुए भिक्षु की भिक्षुप्रतिमाऽऽराधना के विषय में दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा का हवाला देकर यह बताया है कि ऐसा भिक्षु स्नानादि शरीरसंस्कार के त्याग के रूप में काया का व्युत्सर्ग कर देता है तथा शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर देता है, ऐसी स्थिति में जो कोई परिषह या देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग उत्पन्न होते हैं, उन्हें सम्यक् प्रकार से सहता है, स्थान से विचलित न होकर क्षमाभाव धारण कर लेता है, दीनता न लाकर तितिक्षा करता है, समभाव से मन-वचन-काया से सहता है, तो उसकी भिक्षुप्रतिमा आराधित होती है।[2]

भिक्षुप्रतिमा : स्वरूप और प्रकार—साधु की एक प्रकार की प्रतिज्ञा (अभिग्रह) विशेष को भिक्षुप्रतिमा कहते हैं। यह बारह प्रकार की है। पहली से लेकर सातवीं प्रतिमा तक क्रमशः एक मास से लेकर सात मास की हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमा प्रत्येक सात-अहोरात्र की होती हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्र की और बारहवीं भिक्षुप्रतिमा केवल एक रात्रि की होती है। इसका विस्तृत वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा में है।[3]

भावार्थ—वोसट्ठ काए—स्नानादि शरीरसंस्कार त्याग कर काम का व्युत्सर्ग कर दिया।

चइत्ते देहे=(१) कोई भी व्यक्ति मारे-पीटे या शरीर पर प्रहार करे तो भी निवारण न करे, इस प्रकार से शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर दिया हो, अथवा **चियत्ते**—देह को धर्मसाधन के रूप में प्रधानता से मान कर।[4]

---

१. (क) वही ३५ वाँ वेदनापद
 (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९७

२. (क) दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं साधुप्रतिमादशा पत्र, ४४-४६। (मणिविजयग्रन्थमाला-प्रकाशन)
 (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९८

३. (क) वही, पत्र ४९८ (ख) भगवती. विवेचन भा. ४ (पं. घेवरचंदजी), पृ. १७९९

४. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९८

अकृत्यसेवी भिक्षु : कब अनाराधक, कब आराधक ?

७. [१] भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा।

[७-१] कोई भिक्षु किसी अकृत्य (पाप) का सेवन करके, यदि उस अकृत्यस्थान की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर (मर) जाता है तो उसके आराधना नहीं होती।

[२] से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

[७-२] यदि वह भिक्षु उस सेवित अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

८. [१] भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति पच्छा वि णं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोएस्सामि जाव पडिवज्जिस्सामि, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते जाव नत्थि तस्स आराहणा।

[८-१] कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया, किन्तु बाद में उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो कि मैं अपने अन्तिम समय में इस अकृत्यस्थान की आलोचना करूंगा यावत् तपरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करूंगा; परन्तु वह उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाए, तो उसके आराधना नहीं होती।

[२] से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा।

[८-२] यदि वह (अकृत्यस्थानसेवी भिक्षु) आलोचन और प्रतिक्रमण करके काल करे, तो उसके आराधना होती है।

९. [१] भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति—'जइ ताव समणोवासगा वि कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति किमंग पुण अहं अणपन्नियदेवत्तणं पि नो लभिस्सामि ?' त्ति कट्टु से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा।

[९-१] कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया हो और उसके बाद उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो कि श्रमणोपासक भी काल के अवसर पर काल करके किन्हीं देवलोकों में देवरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तो क्या मैं अणपन्निक देवत्व भी प्राप्त नहीं कर सकूंगा ?, यह सोच कर यदि वह उस अकृत्य स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है, तो उसके आराधना नहीं होती।

[२] से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ दसमे सए बीओ उद्देसओ समत्तो ॥१०-२॥

[९-२] यदि वह (अकृत्यसेवी साधु) उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! हे भगवन् ! यह उसी प्रकार है ।

विवेचन—आराधक-विराधक भिक्षु—प्रस्तुत तीन सूत्रों (७-८-९) में आराधक और विराधक भिक्षु की ६ कोटियाँ बताई गई हैं—

(१) अकृत्यस्थान का सेवन करके आलोचना-प्रतिक्रमण किये विना ही काल करने वाला : अनाराधक (विराधक) ।

(२) अकृत्यस्थान का सेवन करके आलोचना-प्रतिक्रमण कर काल करने वाला : आराधक ।

(३) अकृत्यस्थानसेवी, अन्तिम समय में आलोचनादि करके प्रायश्चित्त स्वीकार करने की भावना करने वाला वाला, किन्तु आलोचना-प्रतिक्रमण किये विना ही काल करने वाला : अनाराधक ।

(४) अकृत्यस्थानसेवी, अन्तिम समय में आलोचनादि करने का भाव और आलोचना प्रतिक्रमण करके काल करने वाला : आराधक ।

(५) अकृत्यस्थानसेवी, श्रमणोपासकवत् देवगति प्राप्त कर लूंगा, इस भावना से आलोचनादि किये विना ही काल करने वाला : अनाराधक ।

(६) अकृत्यस्थानसेवी, श्रमणोपासकवत् देवगति प्राप्ति की भावना, किन्तु आलोचनादि करके काल करने वाला : आराधक ।[1]

।। दशम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. २, पृ. ४८९-४९०

तइओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

आइड्ढी : आत्मऋद्धि

देव की उल्लंघनशक्ति

उपोद्घात—

१. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[१] राजगृह नगर में (श्री गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर से) यावत् इस प्रकार पूछा—

देवों की देवावासों की उल्लंघनशक्ति : अपनी और दूसरी—

२. आइड्ढीए णं भंते ! देवे जाव चत्तारि पंच देवावासंतराइं वीतिक्कंते तेण परं परिड्ढीए ?

हंता, गोयमा ! आइड्ढीए णं०, तं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! देव क्या आत्मऋद्धि (अपनी शक्ति) द्वारा यावत् चार-पांच देवावासान्तरों का उल्लंघन करता है और इसके पश्चात् दूसरी शक्ति द्वारा उल्लंघन करता है ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! देव आत्मशक्ति से यावत् चार-पांच देवावासों का उल्लंघन करता है और उसके उपरान्त दूसरी (वैक्रिय) शक्ति (पर-ऋद्धि) द्वारा उल्लंघन करता है।

३. एवं असुरकुमारे वि। नवरं असुरकुमारावासंतराइं, सेसं तं चेव।

[३] इसी प्रकार असुरकुमारों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि वे असुरकुमारों के आवासों का उल्लंघन करते हैं। शेष पूर्ववत् जानना चाहिए।

४. एवं एएणं कमेणं जाव थणियकुमारे।

[४] इसी प्रकार इसी अनुक्रम से यावत् स्तनितकुमारपर्यन्त जानना चाहिए।

५. एवं वाणमंतरे जोतिसिए वेमाणिए जाव तेण परं परिड्ढीए।

[५] इसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव-पर्यन्त जानना चाहिए। यावत् वे आत्मशक्ति से चार-पांच अन्य देवावासों का उल्लंघन करते हैं; इसके उपरान्त परऋद्धि (स्वाभाविक शक्ति से अतिरिक्त दूसरी वैक्रियशक्ति) से उल्लंघन करते हैं।

विवेचन—आत्मऋद्धि और परऋद्धि से देवों की उल्लंघनशक्ति—प्रस्तुत ४ सूत्रों (२ से ५ तक) में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने यह बताया है कि सामान्य देव, यहाँ तक कि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव आत्मऋद्धि (स्वकीय स्वाभाविकशक्ति) से अपनी-अपनी जाति के चार-पांच अन्य देवावासों का उल्लंघन कर सकते हैं, इसके उपरान्त वे पर-ऋद्धि यानि स्वाभाविक शक्ति के अतिरिक्त दूसरी (वैक्रिय) शक्ति से उल्लंघन करते हैं।[1]

---

१. वियाहपण्णत्ति. (मू. पा. टि.), भा. २, पृ. ४९०

कठिन शब्दों का भावार्थ—आइड्ढीए—स्वकीय शक्ति से अथवा जिसमें आत्मा की (अपनी) ही ऋद्धि है, वह आत्मऋद्धिक होकर। **परिड्ढीए**—पर (दूसरी-वैक्रिय) शक्ति से। **वीइक्कंते**—उल्लंघन करता है। **देवावासंतराइं**—देवावास विशेषों को।[1]

देवों का मध्य में से होकर गमनसामर्थ्य—

६. अप्पिड्ढीए णं भंते! देवे महिड्ढीयस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवइज्जा?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[६ प्र.] भगवन्! क्या अल्पऋद्धिक (अल्पशक्तियुक्त) देव, महर्द्धिक (महाशक्ति वाले) देव के बीच में हो कर जा सकता है?

[६ उ.] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। (वह, महर्द्धिक देव के बीचोंबीच हो कर नहीं जा सकता।)

७. [१] समिड्ढीए णं भंते! देवे समिड्ढीयस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा?

णो इणट्ठे समट्ठे। पमत्तं पुण वीतीवएज्जा।

[७-१ प्र.] भगवन्! समर्द्धिक (समान शक्ति वाला) देव समर्द्धिक देव के बीच में से हो कर जा सकता है?

[७-१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है; परन्तु यदि वह (दूसरा समर्द्धिक देव) प्रमत्त (असावधान) हो तो (बीचोंबीच हो कर) जा सकता है।

[२] से णं भंते! किं विमोहित्ता पभू, अविमोहित्ता पभू?

गोयमा! विमोहेत्ता पभू, नो अविमोहेत्ता पभू।

[७-२ प्र.] भगवन्! क्या वह देव, उस (सामने वाले समर्द्धिक देव) को विमोहित करके जा सकता है या विमोहित किये विना जा सकता है?

[७-२ उ.] गौतम! वह देव, सामने वाले समर्द्धिक देव को विमोहित करके जा सकता है, विमोहित किये विना नहीं जा सकता।

[३] से भंते! किं पुव्विं विमोहेत्ता पच्छा वीतीवएज्जा? पुव्विं वीतीवएत्ता पच्छा विमोहेज्जा?

गोयमा! पुव्विं विमोहेत्ता पच्छा वीतीवएज्जा, णो पुव्विं वीतीवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा।

[७-३ प्र.] भगवन्! क्या वह देव, उस देव को पहले विमोहित करके वाद में जाता है, या पहले जा कर वाद में विमोहित करता है?

[७-३ उ.] गौतम! वह देव, पहले उसे विमोहित करता है और वाद में जाता है, परन्तु पहले जा कर वाद में विमोहित नहीं करता।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९९

८. [१] महिड्ढीए णं भंते ! देवे अप्पिड्ढीयस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा ?

हंता, वीतीवएज्जा ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या महर्द्धिक देव, अल्पऋद्धिक देव के बीचोंबीच हो कर जा सकता है ?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम! जा सकता है ।

[२] से भंते ! किं विमोहित्ता पभू, अविमोहित्ता पभू ?

गोयमा ! विमोहित्ता वि पभू, अविमोहित्ता वि पभू ।

[८-२ प्र.] भगवन् ! वह महर्द्धिक देव, उस अल्पऋद्धिक देव को विमोहित करके जाता है, अथवा विमोहित किये बिना जाता है ?

[८-२ उ.] गौतम! वह विमोहित करके भी जा सकता है और विमोहित किये विना भी जा सकता है ।

[३] से भंते ! किं पुव्वि विमोहेत्ता पच्छा वीतीवइज्जा ? पुव्वि वीतीवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा ?

गोयमा ! पुव्वि वा विमोहित्ता पच्छा वीतीवएज्जा, पुव्वि वा वीतीवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा ।

[८-३ प्र.] भगवन्! वह महर्द्धिक देव, उसे पहले विमोहित करके बाद में जाता है, अथवा पहले जा कर बाद में विमोहित करता है?

[८-३ उ.] गौतम! वह महर्द्धिक देव, पहले उसे विमोहित करके बाद में भी जा सकता है और पहले जा कर बाद में भी विमोहित कर सकता है ।

९. [१] अप्पिड्ढीए णं भंते ! असुरकुमारे महिड्ढीयस्स असुरकुमारस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! अल्प-ऋद्धिक असुरकुमार देव, महर्द्धिक असुरकुमार देव के बीचोंबीच हो कर जा सकता है ?

[९-१ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं ।

[२] एवं असुरकुमारेण वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जहा ओहिएणं देवेणं भणिता ।

[९-२] इसी प्रकार सामान्य देव के आलापकों की तरह असुरकुमार के भी तीन आलापक कहने चाहिए ।

[३] एवं जाव थणियकुमारेणं ।

[९-३] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक तीन-तीन आलापक कहना चाहिए ।

१०. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिएणं एवं चेव (सु. ९)।

[१०] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में भी इसी प्रकार (सू. ९ के अनुसार) कहना चाहिए।

विवेचन—अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और समर्द्धिक देवों का एक दूसरे के मध्य में हो कर गमनसामर्थ्य—प्रस्तुत पांच सूत्रों (६ से १० तक) में मध्य में हो कर गमनसामर्थ्य के विषय में मुख्यतया ४ आलापक प्रस्तुत किये गए हैं—(१) अल्पऋद्धिक देव महर्द्धिक देव के साथ, (२) समर्द्धिक समर्द्धिक के साथ (३) महर्द्धिक देव का अल्पर्द्धिक देव के साथ और (४) अल्पर्द्धिक चारों जाति के देवों का स्व-स्व जातीय महर्द्धिक देवों के साथ। इन सूत्रों का निष्कर्ष यह है कि अल्पर्द्धिक देव महर्द्धिक देव के वीचोंवीच हो कर नहीं जा सकते। महर्द्धिक देव अल्पर्द्धिक देव के बीचोंबीच हो कर उसे पहले या पीछे विमोहित करके या विमोहित किये विना भी जा सकते हैं। समर्द्धिक समर्द्धिक देव के वीचोंवीच हो कर पहले उसे विमोहित करके जा सकता है, वशर्ते कि जिसके वीचोंवीच होकर जाना है, वह असावधान हो।[1]

विमोहित करने का तात्पर्य—विमोहित का यहाँ प्रसंगवश अर्थ है—विस्मित करना, अर्थात् महिका (धूंअर) आदि के द्वारा अन्धकार करके मोह उत्पन्न कर देना। उस अन्धकार को देख कर सामने वाला देव विस्मय में पड़ जाता है कि यह क्या है? ठीक उसी समय उसके न देखते हुए ही वीच में से निकल जाना, विमोहित करके निकल जाना कहलाता है।[2]

देव-देवियों का एक दूसरे के मध्य में से होकर गमनसामर्थ्य—

११. अप्पिड्ढीए णं भंते! देवे महिड्ढीयाए देवीए मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[११ प्र.] भगवन्! क्या अल्प-ऋद्धिक देव, महर्द्धिक देवी के मध्य में हो कर जा सकता है?

[११ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।

१२. समिड्ढीए णं भंते! देवे समिड्ढीयाए देवीए मज्झंमज्झेणं०? एवं तहेव देवेण य देवीए य दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाए।

[१२ प्र.] भगवन्! क्या समर्द्धिक देव, समर्द्धिक देवी के बीचोंबीच हो कर जा सकता है?

[१२ उ.] गौतम! पूर्वोक्त प्रकार से (सू. ७ के अनुसार) देव के साथ देवी का भी दण्डक यावत् वैमानिक-पर्यन्त कहना चाहिए।

१३. अप्पिड्ढिया णं भंते! देवी महिड्ढीयस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं०? एवं एसो वि तइओ दंडओ भाणियव्वो जाव महिड्ढिया वेमाणिणी अप्पिड्ढियस्स वेमाणियस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा?

हंता, वीतीवएज्जा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९९

२. वही, पत्र ४९९

[१३ प्र.] भगवन् ! अल्प-ऋद्धिक देवी, महर्द्धिक देव के मध्य में से हो कर जा सकती है ?

[१३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं ।

इस प्रकार यहाँ भी यह तीसरा दण्डक कहना चाहिए यावत्—(प्र.) भगवन् ! महर्द्धिक वैमानिक देवी, अल्प-ऋद्धिक वैमानिक देव के बीच में से होकर जा सकती है ? [उ.] हां, गौतम ! जा सकती है ।

१४. अप्पिड्ढीया णं भंते ! देवी महिड्ढियाए देवीए मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४ प्र.] भगवन् ! अल्प-ऋद्धिक देवी महर्द्धिक देवी के मध्य मेंहोकर जा सकती है ?

[१४ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं ।

१५. एवं समिड्ढिया देवी समिड्ढियाए देवीए तहेव ।

[१५] इसी प्रकार सम-ऋद्धिक देवी का सम-ऋद्धिक देवी के साथ (सू. ७ के अनुसार) पूर्ववत् आलापक कहना चाहिए ।

१६. महिड्ढिया देवी अप्पिड्ढियाए देवीए तहेव ।

[१६] महर्द्धिक देवी का अल्प-ऋद्धिक देवी के साथ (सू. ८ के अनुसार) आलापक कहना चाहिए ।

१७. एवं एक्केक्के तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जाव महिड्ढीया णं भंते ! वेमाणिणी अप्पिड्ढीयाए वेमाणिणीए मज्झंमज्झेणं वीतीवएज्जा ? हंता, वीतीवएज्जा । सा भंते ! किं विमोहित्ता पभू ? तहेव जाव पुव्विं वा वीइवइत्ता पच्छा विमोहेज्जा । एए चत्तारि दंडगा ।

[१७] इसी प्रकार एक-एक के तीन-तीन आलापक कहने चाहिए; यावत्—(प्र.) भगवन् ! वैमानिक महर्द्धिक देवी, अल्प-ऋद्धिक वैमानिक देवी के मध्य में होकर जा सकती है ? [उ.] हाँ गौतम ! जा सकती है; यावत्—(प्र.) क्या वह महर्द्धिक देवी, उसे विमोहित करके जा सकती है या विमोहित किए बिना भी जा सकती है ? तथा पहले विमोहित करके बाद में जाती है, अथवा पहले जा कर बाद में विमोहित करती है ? (उ.) हे गौतम ! पूर्वोक्त रूप से जानना चाहिए, यावत्—पहले जाती है और पीछे भी विमोहित करती है; तक कहना चाहिए । इस प्रकार के चार दण्डक कहने चाहिए ।

विवेचन—महर्द्धिक-समर्द्धिक-अल्पर्द्धिक देव-देवियों का एक दूसरे के मध्य में से गमन-सामर्थ्य—प्रस्तुत ७ सूत्रों (११ से १७ तक) में पूर्ववत् गमनसामर्थ्य के विषय में ७ आलापक प्रस्तुत किये गए हैं । यथा—(१) अल्पर्द्धिक देव का महर्द्धिक देवी के साथ, (२) समर्द्धिक देव का समर्द्धिक देवी के साथ, (सभी जातियों के देवों का स्व-स्वजातीय देवियों के साथ), (३) अल्प-ऋद्धिक देवी का महर्द्धिक देव के साथ, (४) महर्द्धिक चतुर्निकायगत देवी अल्प-ऋद्धिक चारों जाति के देवों के साथ, (५) अल्प-ऋद्धिक देवी महर्द्धिक देवी के साथ, (६) सम-ऋद्धिक देवी समर्द्धिक देवी के साथ, और (७) महर्द्धिक देवी का अल्प-ऋद्धिक देवी के साथ । (यावत् भवनपति से वैमानिक तक महर्द्धिक देवियों

का अल्पर्द्धिक देवियों के साथ) । इन सबका निष्कर्ष यह है कि जैसे पहले अल्प-ऋद्धिक, महर्द्धिक और समर्द्धिक देवों के विषय में कहा है, वैसे ही देव-देवियों के तथा देवियों-देवियों के विषय में भी कहना चाहिए। शेष सभी पूर्ववत् समझना चाहिए।[1]

दौड़ते हुए अश्व के 'खु-खु' शब्द का कारण—

१८. आसस्स णं भंते ! धावमाणस्स किं 'खु खु' त्ति करेइ ?

गोयमा ! आसस्स णं धावमाणस्स हिययस्स य जगयस्स य अंतरा एत्थ णं कक्कडए नामं वाए समुट्ठइ, जे णं आसस्स धावमाणस्स 'खु खु' त्ति करेति ।

[१८ प्र.] भगवन् ! दौड़ता हुआ घोड़ा 'खु-खु' शब्द क्यों करता है ?

[१८ उ.] गौतम ! जब घोड़ा दौड़ता है तो उसके हृदय और यकृत् के बीच में कर्कट नामक वायु उत्पन्न होती है, इससे दौड़ता हुआ घोड़ा 'खु-खु' शब्द करता है।

विवेचन—घोड़े की खु-खु आवाज : क्यों और कहाँ से ?—प्रस्तुत सूत्र १८ में दौड़ते हुए घोड़े की 'खु-खु' आवाज का कारण हृदय और यकृत के बीच में कर्कटवायु का उत्पन्न होना बताया है।[2]

कठिन शब्दों का भावार्थ—आसस्स—अश्व के। **धावमाणस्स**—दौड़ते हुए। **जगयस्स**—यकृत=(लीवर—पेट के दाहिनी ओर का अवयव विशेष, प्लीहा) के। **हिययस्स**—हृदय के। **कक्कडए**—कर्कट। **समुट्ठइ**—उत्पन्न होता है।[3]

प्रज्ञापनी भाषा : मृषा नहीं—

१९. अह भंते ! आसइस्सामो सइस्सामो चिट्ठिस्सामो निसिइस्सामो तुयट्टिस्सामो,

आमंतणि १ आणमणी २ जायणि ३ तह पुच्छणी ४ य पण्णवणी ५ ।
पच्चक्खाणी भासा ६ भासा इच्छाणुलोमा य ७ ॥१॥
अणभिग्गहिया भासा ८ भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा ९ ।
संसयकरणी भासा १० वोयड ११ मव्वोयडा १२ चेव ॥२॥

पण्णवणी णं एसा भासा, न एसा भासा मोसा ?

हंता, गोयमा ! आसइस्सामो० तं चेव जाव न एसा भासा मोसा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ दसमे सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥१०. ३॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९९
   (ख) भगवती (विवेचन) पृ. १८६, भा. ४
२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ४९३
३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९९

[१९ प्र.] भगवन् ! १. आमंत्रणी, २. आज्ञापनी, ३. याचनी, ४. पृच्छनी, ५. प्रज्ञापनी, ६. प्रत्याख्यानी, ७. इच्छानुलोमा, ८. अनभिगृहीता, ९. अभिगृहीता, १०. संशयकरणी, ११. व्याकृता और १२. अव्याकृता, इन बारह प्रकार की भाषाओं में 'हम आश्रय करेंगे, शयन करेंगे, खड़े रहेंगे, बैठेंगे, और लेटेंगे' इत्यादि भाषण करना क्या प्रज्ञापनी भाषा कहलाती है और ऐसी भाषा मृषा (असत्य) नहीं कहलाती है ?

[१९ उ.] हाँ, गौतम ! यह (पूर्वोक्त) आश्रय करेंगे, इत्यादि भाषा प्रज्ञापनी भाषा है, यह भाषा मृषा (असत्य) नहीं है।

'हे, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है !' ऐसा कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—'आश्रय करेंगे' इत्यादि भाषा की सत्यासत्यता का निर्णय—प्रस्तुत सू. १९ में लौकिक व्यवहार की प्रवृत्ति का कारण होने से आमंत्रणी आदि १२ प्रकार की असत्यामृषा (व्यवहार) भाषाओं में से 'आश्रय करेंगे' इत्यादि भाषा प्रज्ञापनी होने से मृषा नहीं है, ऐसा निर्णय दिया गया है।[1]

बारह प्रकार की भाषाओं का लक्षण—मूलतः चार प्रकार की भाषाएँ शास्त्र में बताई गई हैं। यथा—सत्या, मृषा (असत्या), सत्यामृषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा। प्रज्ञापनासूत्र के ग्यारहवें भाषापद में असत्यामृषाभाषा के १२ भेद बताए हैं, जिनका नामोल्लेख मूलपाठ में है। उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) **आमंत्रणी**—किसी को आमंत्रण-सम्बोधन करना। जैसे—हे भगवन् !

(२) **आज्ञापनी**—दूसरे को किसी कार्य में प्रेरित करने वाली। यथा—बैठो, उठो आदि।

(३) **याचनी**—याचना करने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा। जैसे—मुझे सिद्धि प्रदान करें।

(४) **पृच्छनी**—अज्ञात या संदिग्ध पदार्थो को जानने के लिए पृच्छा व्यक्त करने वाली। जैसे—'इसका अर्थ क्या है ?'

(५) **प्रज्ञापनी**—उपदेश या निवेदन करने के लिए प्रयुक्त की गई भाषा। जैसे—मृषा-वाद अविश्वास का हेतु है। अथवा ऐसे बैठेंगे, लेटेंगे इत्यादि।

(६) **प्रत्याख्यानी**—निषेधात्मक भाषा। जैसे—चोरी मत करो। अथवा मैं चोरी नहीं करूंगा।

(७) **इच्छानुलोमा**—दूसरे की इच्छा का अनुसरण करना अथवा अपनी इच्छा प्रकट करना।

(८) **अनभिगृहीता**—प्रतिनियत (निश्चित) अर्थ का ज्ञान न होने पर उसके लिए बोलना।

(९) **अभिगृहीता**—प्रतिनियत अर्थ का बोध कराने वाली भाषा।

(१०) **संशयकरणी**—अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग करना।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ४९३

(११) व्याकृता—स्पष्ट अर्थवाली भाषा।

(१२) अव्याकृता—अस्पष्ट उच्चारण वाली या गंभीर अर्थ वाली भाषा।

'हम आश्रय करेंगे', इत्यादि भाषा यद्यपि भविष्यत्कालीन है, तथापि वर्तमान सामीप्य होने से प्रज्ञापनी भाषा है, जो असत्य नहीं है।[१] □□

॥ दशम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ४९९-५००

चउत्थो उद्देसओ : चतुर्थ उद्देशक

सामहत्थी : श्यामहस्ती

उपोद्घात—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। दूतिपलासए चेतिए। सामी समोसढे जाव परिसा पडिगया।

[१] उस काल और उस समय में वाणिज्यग्राम नामक नगर था। उसका यहाँ वर्णन समझ लेना चाहिए। वहाँ द्युतिपलाश नामक उद्यान था। (एक बार) वहाँ श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण हुआ। यावत् परिषद् आई और वापस लौट गई।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे जाव उड्ढंजाणू जाव विहरइ।

[२] उस काल और उस समय में, (वहाँ श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति (गौतम) नामक अनगार थे। वे ऊर्ध्वजानु यावत् विचरण करते थे।

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी सामहत्थी नामं अणगारे पगतिभद्दए जहा रोहे जाव उड्ढंजाणू जाव विहरति।

[३] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के एक अन्तेवासी (शिष्य) थे—श्यामहस्ती नामक अनगार। वे प्रकृतिभद्र, प्रकृतिविनीत, यावत् रोह अनगार के समान उर्ध्वजानु, यावत् विचरण करते थे।

४. तए णं से सामहत्थी अणगारे जायसड्ढे जाव उट्ठाए उट्ठेति, उ० २ जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति, ते० उ० २ भगवं गोयमं तिक्खुत्तो जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[४] एक दिन उन श्यामहस्ती नामक अनगार को श्रद्धा, संशय, विस्मय आदि उत्पन्न हुए। यावत् वे अपने स्थान से उठे और उठ कर जहाँ भगवान् गौतमस्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। भगवान् गौतमस्वामी के पास आकर वन्दना-नमस्कार कर यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार पूछने लगे—

विवेचन—श्यामहस्ती अनगार : परिचय एवं प्रश्न का उत्थान—प्रस्तुत ४ सूत्रों में बताया गया है कि उस समय श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम नगर में द्युतिपलाश नामक उद्यान में विराजमान थे। उनके पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतमस्वामी भी उन्हीं की सेवा में थे। वहीं भगवान् महावीर की सेवा में उनके एक शिष्य श्यामहस्ती थे, जो प्रकृति से भद्र, नम्र एवं विनीत थे। एक

दिन श्यामहस्ती अनगार के मन में कुछ प्रश्न उठे। उनके मन में श्री गौतमस्वामी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति जागी। उद्भूत प्रश्नों का समाधान पाने के लिए उनके कदम बढ़े और जहाँ गौतमस्वामी थे, वहाँ आकर उन्होंने वन्दना—नमस्कारपूर्वक सविनय कुछ प्रश्न पूछे। श्यामहस्ती अनगार के प्रश्न होने से इस उद्देशक का नाम भी श्यामहस्ती है।[1]

कठिन शब्दार्थ—पगतिभद्दए—प्रकृति से भद्र। जायसड्ढे—श्रद्धा उत्पन्न हुई।[2]

चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देव : अस्तित्व, कारण एवं सदैव स्थायित्व—

५. [१] अत्थि णं भंते! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगा देवा?

हंता, अत्थि।

[५-१ प्र.] भगवन्! क्या असुरकुमारों के राजा, असुरकुमारों के इन्द्र चमर के त्रायस्त्रिंशक देव हैं?

[५-१ उ.] हाँ, (श्यामहस्ती! चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देव) हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा?

एवं खलु सामहत्थी! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कायंदी नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं कायंदीए नयरीए तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा परिवसंति अड्ढा जाव अपरिभूया अभिगयजीवाऽजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा जाव विहरंति। तए णं ते तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासया पुव्विं उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी भवित्ता तओ पच्छा पासत्था पासत्थविहारी ओसन्ना ओसन्नविहारी कुसीला कुसीलविहारी अहाछंदा अहाछंदविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पा० २ अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेंति, झू० २ तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छे० २ तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगदेवत्ताए उववन्ना।

[५-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि असुरकुमारों के राजा असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिंशक देव हैं?

[५-२ उ.] हे श्यामहस्ती! (असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिंशक देव होने का) कारण इस प्रकार है—उस काल उस समय में इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भारतवर्ष में काकन्दी नाम की नगरी थी। उसका वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिए। उस काकन्दी नगरी में (एक दूसरे के) सहायक तेतीस गृहपति श्रमणोपासक (श्रावक) रहते थे। वे धनाढ्य यावत् अपरिभूत थे। वे जीव-अजीव के ज्ञाता एवं पुण्य-पाप को हृदयंगम किये हुए विचरण (जीवन-यापन) करते थे। एक समय था, जब वे परस्पर सहायक गृहपति श्रमणोपासक पहले उग्र (उत्कृष्ट-आचारी), उग्र-विहारी, संविग्न, संविग्नविहारी थे, परन्तु तत्पश्चात् वे पार्श्वस्थ, पार्श्वस्थविहारी, अवसन्न, अवसन्नविहारी, कुशील, कुशीलविहारी, यथाच्छन्द और यथाच्छन्दविहारी हो गए। बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय का पालन कर, अर्धमासिक

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.), भा. २, पृ. ४९३-४९४
२. भगवती. अ. वृ, पत्र ५०२

संलेखना द्वारा शरीर को (अपने आप को) कृश करके तथा तीस भक्तों का अनशन द्वारा छेदन (छोड़) करके, उस (प्रमाद-) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये विना ही काल के अवसर पर काल कर वे (तीसों ही) असुरकुमारराज असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिशक देव के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

[३] जप्पभिति च णं भंते ! ते कायंदगा तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसदेवत्ताए उववन्ना तप्पभिति च णं भंते ! एवं वुच्चति 'चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा' ?।

[५-३ प्र.] (श्यामहस्ती गौतमस्वामी से—) भगवन् ! जब से वे काकन्दीनिवासी परस्पर सहायक तेतीस गृहपति श्रमणोपासक असुरराज असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिश-देवरूप में उत्पन्न हुए हैं, क्या तभी से ऐसा कहा जाता है कि असुरराज असुरेन्द्र चमर के (ये) तेतीस देव त्रायस्त्रिशक देव हैं ? (क्या इससे पहले उसके त्रायस्त्रिशक देव नहीं थे ?)

६. तए णं भगवं गोयमे सामहत्थिणा अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे संकिते कंखिए वितिगिंछिए उट्ठाए उट्ठेइ, उ० २ सामहत्थिणा अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, ते० उ० २ समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वं० २ एवं वदासी—

[६] तब श्यामहस्ती अनगार के द्वारा इस प्रकार से पूछे जाने पर भगवान् गौतमस्वामी शंकित, कांक्षित एवं विचिकित्सित (अतिसंदेहग्रस्त) हो गए। वे वहाँ से उठे और श्यामहस्ती अनगार के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीरस्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीरस्वामी को वन्दना-नमस्कार किया और इस प्रकार पूछा—

७. [१] अत्थि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा ?

हंता, हत्थि।

[७-१ प्र.] (गौतमस्वामी ने भगवान् से—) भगवन् ! क्या असुरराज असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिशक देव हैं ?

[७-१ उ.] हाँ, गौतम हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, एवं तं चेव सव्वं (सु. ५-२) भाणियव्वं, जाव तावत्तीसगदेवत्ताए उववण्णा।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि चमर के त्रायस्त्रिशक देव हैं ? इत्यादि पूर्ववत् (५-२ के अनुसार) प्रश्न।

[७-२ उ.] उत्तर में पूर्वकथित त्रायस्त्रिशक देवों का समस्त वृत्तान्त कहना चाहिए यावत् वे ही (काकन्दीनिवासी परस्पर सहायक तेतीस गृहस्थ श्रमणोपासक मर कर) चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिश देव के रूप में उत्पन्न हुए।

[३] भंते ! तप्पभितिं च णं एवं वुच्चइ चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा ?

णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तावत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते, जं न कदायि नासी, न कदायि न भवति, जाव निच्चे अव्वोच्छित्तिनयट्ठताए। अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति।

[७-३ प्र.] भगवन् ! जब से वे (काकन्दीनिवासी परस्पर सहायक तेतीस गृहस्थ श्रमणोपासक असुरराज असुरेन्द्र चमर के) त्रायस्त्रिंशक देवरूप में उत्पन्न हुए हैं, क्या तभी से ऐसा कहा जाता है कि असुरराज असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ? (क्या इस से पूर्व उसके त्रायस्त्रिंशक देव नहीं थे ?)

[७-३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं; (अर्थात्—ऐसा सम्भव नहीं है) असुरराज असुरेन्द्र चमर के त्रायस्त्रिंशक देवों के नाम शाश्वत कहे गए हैं। इसलिए किसी समय नहीं थे, या नहीं हैं। ऐसा नहीं, और कभी नहीं रहेंगे, ऐसा भी नहीं। यावत् अव्युच्छित्ति (द्रव्यार्थिक) नय की अपेक्षा से वे नित्य हैं, (किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से) पहले वाले च्यवते हैं, और दूसरे उत्पन्न होते हैं। (उनका प्रवाहरूप से कभी विच्छेद नहीं होता।)

विवेचन—असुरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता-अनित्यता का निर्णय—प्रस्तुत तीन सूत्रों (५-६-७) में बताया गया है कि श्यामहस्ती अनगार द्वारा असुरराज चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों के अस्तित्व तथा त्रायस्त्रिंशक होने के कारणों के सम्बन्ध में गौतमस्वामी से पूछा। गौतमस्वामी ने उनका पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया। किन्तु जब श्यामहस्ती ने यह पूछा कि क्या इससे पूर्व असुरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देव नहीं थे ? इस पर विनम्र गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर के चरणों में जा कर अपनी इस शंका को प्रस्तुत करके समाधान प्राप्त किया कि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि ये त्रायस्त्रिंशक देव शाश्वत एवं नित्य हैं, किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पूर्व के त्रायस्त्रिंशक देव आयु समाप्त होने पर च्यवन कर जाते हैं, उनके स्थान पर नये त्रायस्त्रिंशक देव उत्पन्न होते हैं। परन्तु त्रायस्त्रिंशक देवों का प्रवाहरूप से कभी विच्छेद नहीं होता।[1]

'उग्गा' आदि शब्दों का भावार्थ— उग्गा—भाव से उदात्त या उदारचरित। **उग्गविहारी**—उदार आचार वाले। **संविग्गा**—मोक्षप्राप्ति के इच्छुक अथवा संसार से भयभीत। **संविग्गविहारी**—मोक्ष के अनुकूल आचरण करने वाले। **पासत्था**—पाशस्थ—शरीरादि मोहपाश में बंधे हुए, या पार्श्वस्थ—ज्ञानादि से बहिर्भूत। **पासत्थविहारी**—मोहपाशग्रस्त होकर व्यवहार करने वाले अथवा ज्ञानादि से बहिर्भूत प्रवृत्ति करने वाले। **ओसन्ना**—उत्तर आचार का पालन करने में आलसी। **ओसन्नविहारी**—जीवनपर्यन्त शिथिलाचारी। **कुसीला**—ज्ञानादि आचार की विराधना करने वाले। **कुसीलविहारी**—जीवनपर्यन्त ज्ञानादि आचार के विराधक। **अहाछंदा**—अपनी इच्छानुसार सूत्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले। **अहाछंदविहारी**—जीवनपर्यन्त स्वच्छन्दाचारी।[2]

त्रायस्त्रिंश देवों का लक्षण—जो देव मंत्री और पुरोहित का कार्य करते हैं, वे त्रायस्त्रिंशक

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ—टिप्पण), भा. २, पृ. ४९४-४९५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५०२

कहलाते हैं, ये तेतीस की संख्या में होते हैं।[1] **सहाया : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **सहायाः**—परस्पर सहायक। (२) **सभाजाः**—परस्पर प्रीतिभाजन।[2]

बलीन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता का प्रतिपादन—

८. [१] अत्थि णं भंते! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा?

हंता, हत्थि।

[८-१ प्र.] भगवन्! वैरोचनराज वैरोचनेन्द्र बलि के त्रायस्त्रिंशक देव हैं?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम! हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—बलिस्स वइरोयणिंदस्स जाव तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा?

एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे बिब्भेले णामं सन्निवेसे होत्था। वण्णओ। तत्थ णं वेभेले सन्निवेसे जहा चमरस्स जाव उववन्ना। जप्पभिंति च णं भंते! ते बिब्भेलगा तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सेसं तं चेव (सु. ७ [२]) जाव निच्चे अव्वोच्छित्तिनयट्ठयाए। अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति।

[८-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि वैरोचनराज वैरोचनेन्द्र बलि के तेतीस त्रायस्त्रिंशक देव हैं?

[८-२ उ.] गौतम! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में बिभेल नामक एक सन्निवेश था। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार करना चाहिए। उस बिभेल सन्निवेश में परस्पर सहायक तेतीस गृहस्थ श्रमणोपासक थे; इत्यादि जैसा वर्णन चमरेन्द्र के त्रायस्त्रिंशकों के लिए (५-२ में) किया गया है, वैसा ही यहाँ जानना चाहिए, यावत्—वे त्रायस्त्रिंशक देव के रूप में उत्पन्न हुए।

[प्र.] भगवन्! जब से वे बिभेलसन्निवेशनिवासी परस्पर सहायक तेतीस गृहपति श्रमणोपासक बलि के त्रायस्त्रिंशक देव के रूप में उत्पन्न हुए, क्या तभी से ऐसा कहा जाता है कि वैरोचनराज वैरोचनेन्द्र बलि के त्रायस्त्रिंशक देव हैं? इत्यादि प्रश्न।

[उ.] (इसके उत्तर में) शेष सभी वर्णन (सू. ७-२ के अनुसार) पूर्ववत् जानना चाहिए; यावत्—वे अव्युच्छित्ति (द्रव्यार्थिक)-नय की अपेक्षा नित्य हैं। (किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से) पुराने (त्रायस्त्रिंशक देव) च्यवते रहते हैं, (उनके स्थान पर) दूसरे (नये) उत्पन्न होते रहते हैं,—यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—बलीन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता-अनित्यता का निर्णय—प्रस्तुत ८ वें सूत्र में वैरोचनराज वैरोचनेन्द्र बलि के त्रायस्त्रिंशक देवों के अस्तित्व, उत्पत्ति एवं द्रव्यार्थिकनय की

---

१. 'त्रायस्त्रिंशा—मंत्रिविकल्पाः।'—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५०२

२. (क) सहायाः—परस्परेण सहायकारिणः।—वही, पत्र ५०२

(ख) सभाजाः—परस्परं प्रीतिभाजः।—वियाहप. मू. पा. टि., भा., २ पृ. ४९४

दृष्टि से नित्यता और पर्यायार्थिक-दृष्टि से व्यक्तिगत रूप से अनित्यता किन्तु प्रवाहरूप से अविच्छिन्नता का प्रतिपादन पूर्वसूत्रों के अतिदेश द्वारा किया गया है ।[1]

धरणेन्द्र से महाघोषेन्द्र-पर्यन्त के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता का निरूपण—

९. [१] अत्थि णं भंते ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा ?

हंता, अत्थि ।

[९-१ प्र.] भगवन् ! क्या नागकुमारराज नागकुमारेन्द्र धरण के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ?

[९-१ उ.] हाँ, गौतम ! हैं ।

[२] से केणट्ठेणं जाव तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा ?

गोयमा ! धरणस्स नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो तावत्तीसगाणं देवाणं सासए नामधेज्जे पण्णत्ते, जं न कदायि नासी, जाव अन्ने चयंति, अन्ने उववज्जंति ।

[९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ?

[९-२ उ.] गौतम ! नागकुमारराज नागकुमारेन्द्र धरण के त्रायस्त्रिंशक देवों के नाम शाश्वत कहे गये हैं । वे किसी समय नहीं थे, ऐसा नहीं है; 'नहीं रहेंगे'—ऐसा भी नहीं; यावत् पुराने च्यवते हैं और (उनके स्थान पर) नये उत्पन्न होते हैं । (इसलिए प्रवाहरूप से वे अनादिकाल से हैं) ।

१०. एवं भूयाणंदस्स वि । एवं जाव महाघोसस्स ।

[१०] इसी प्रकार भूतानन्द इन्द्र, यावत् महाघोष इन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों के विषय में जानना चाहिए ।

विवेचन—धरणेन्द्र से महाघोषेन्द्र तक के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता—सूत्र ९ एवं १० में प्रतिपादित है ।

शक्रेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के त्रायस्त्रिंशक : कौन और कैसे ?

११. [१] अत्थि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो० पुच्छा ।

हंता, अत्थि ।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या देवराज देवेन्द्र शक्र के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[११-१ उ.] हाँ, गौतम ! हैं ।

[२] से केणट्ठेणं जाव तावत्तीसगा देवा, तावत्तीसगा देवा ?

एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वालाए नामं सन्निवेसे होत्था । वण्णओ । तत्थ णं वालाए सन्निवेसे तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा जहा चमरस्स जाव विहरंति । तए णं ते तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा पुव्विं पि पच्छा वि उग्गा

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण), भा. २, पृ. ४९५

उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेंति, झू० २ सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छे० २ आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा जाव उववन्ना। जप्पभिंतिं च णं भंते ! ते वालागा तावत्तीसं सहाया गाहावती समणोवासगा सेसं जहा चमरस्स जाव अन्ने उववज्जंति।

[११-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि देवेन्द्र देवराज शक्र के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ?

[११-२ उ.] गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में बालाक (अथवा पलाशक) सन्निवेश था। उसका वर्णन करना चाहिए। उस बालाक सन्निवेश में परस्पर सहायक (अथवा प्रीतिभाजन) तेतीस गृहपति श्रमणोपासक रहते थे, इत्यादि सब वर्णन चरमेन्द्र के त्रायस्त्रिंशकों (सू. ५—१-२) के अनुसार करना चाहिए; यावत् विचरण करते थे। वे तेतीस परस्पर सहायक गृहस्थ श्रमणोपासक पहले भी और पीछे भी उग्र, उग्रविहारी एवं संविग्न तथा संविग्नविहारी होकर बहुत वर्षों तक श्रमणोपासकपर्याय का पालन कर, मासिक संलेखना से शरीर को कृश करके, साठ भक्त का अनशन द्वारा छेदन करके, अन्त में आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल के अवसर पर समाधिपूर्वक काल करके यावत् शक्र के त्रायस्त्रिंशक देव के रूप में उत्पन्न हुए। 'भगवन् ! जब से वे बालाक निवासी परस्परसहायक गृहपति श्रमणोपासक शक्र के त्रायस्त्रिंशकों के रूप में उत्पन्न हुए, क्या तभी से शक्र के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ? इत्यादि प्रश्न एवं उसके उत्तर में शेष समग्र वर्णन, यावत् पुराने च्यवते हैं और नये उत्पन्न होते हैं; यहाँ तक चरमेन्द्र के समान कहना चाहिए।

१२. अत्थि णं भंते ! ईसाणस्स०। एवं जहा सक्कस्स, नवरं चंपाए नगरीए जाव उववन्ना। जप्पिभिंतिं च णं भंते ! चंपिच्चा तावत्तीसं सहाया० सेसं तं चेव जाव अन्ने उववज्जंति।

[१२ प्र. उ.] भगवन् ! क्या देवराज देवेन्द्र ईशान के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ? इत्यादि प्रश्न का उत्तर शक्रेन्द्र के समान जानना चाहिए। इतना विशेष है कि ये तेतीस श्रमणोपासक चम्पानगरी के निवासी थे, यावत् ईशानेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देव के रूप में उत्पन्न हुए। (इसके पश्चात्) जब से ये चम्पानगरी निवासी तेतीस परस्पर सहायक श्रमणोपासक त्रायस्त्रिंशक बने, इत्यादि (प्रश्न और उसके उत्तर में) शेष समग्र वर्णन पूर्ववत् करना चाहिए, यावत् पुराने च्यवते हैं और नये (अन्य) उत्पन्न होते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

१३. [१] अत्थि णं भंते ! सणंकुमारस्स देविंदस्स देवरण्णो० पुच्छा। हंता, अत्थि।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या देवराज देवेन्द्र सनत्कुमार के त्रायस्त्रिंशक देव हैं ?

[१३-१ उ.] हाँ गौतम हैं।

[२] से केणट्ठेणं० ? जहा धरणस्स तहेव।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं ? इत्यादि समग्र प्रश्न तथा उसके उत्तर में जैसे धरणेन्द्र के विषय में कहा है, उसी प्रकार कहना चाहिए।

१४. एवं जाव पाणतस्स । एवं अच्चुतस्स जाव अन्ने उववज्जंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

।। दसमस्स चउत्थो ।।१०.४।।

[१४] इसी प्रकार यावत् प्राणत (देवेन्द्र) तक के त्रायस्त्रिंशक देवों के विषय में जान लेना चाहिए और इसी प्रकार अच्युतेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक देवों के सम्बन्ध में जानना चाहिए, यावत् पुराने च्यवते हैं और (उनके स्थान पर) नये (त्रायस्त्रिंश देव) उत्पन्न होते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं ।

विवेचन—शक्रेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता—प्रस्तुत ४ सूत्रों (११ से १४ तक) में पूर्वोक्त सूत्रों का अतिदेश करके शक्रेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक १२ प्रकार के कल्पों के वैमानिक देवेन्द्रों के त्रायस्त्रिंशक देवों की नित्यता का प्रतिपादन किया है । प्रायः सभी का वर्णन एक-सा है । केवल त्रायस्त्रिंशकों के पूर्वजन्म में उग्र, उग्रविहारी, संविग्न एवं संविग्नविहारी श्रमणोपासक थे और अन्तिम समय में इन्होंने संलेखना एवं अनशनपूर्वक एवं आलोचना—प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धिपूर्वक समाधिमरण (पण्डितमरण) प्राप्त किया था ।[१]

त्रायस्त्रिंशक देव : किन देवनिकायों में ?—देवों के ४ निकाय हैं—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । इनमें से वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंशक नहीं होते, किन्तु भवनपति एवं वैमानिक देवों में होते हैं । इसीलिए यहाँ भवनपति और वैमानिक देवों के त्रायस्त्रिंशक देवों का वर्णन है ।[२]

।। दशम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

---

८. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ४९६-४९७

९. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८१९

पंचमो उद्देसओ : पंचम उद्देशक

देवी : अग्रमहिषीवर्णन

उपोद्घात—

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए चेइए जाव परिसा पडिगया।

[१] उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। वहाँ गुणशीलक नामक उद्यान था। (वहाँ श्रमण भगवान् महावीरस्वामी का समवसरण हुआ।) यावत् परिषद् (धर्मोपदेश सुन कर) लौट गई।

२, तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अंतेवासी थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना जहा अट्ठमे सए सत्तमुद्देसए (स. ८ उ. ७. सु. ३) जाव विहरंति।

[२] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के बहुत-से अन्तेवासी (शिष्य) स्थविर भगवान् जातिसम्पन्न ··· इत्यादि विशेषणों से युक्त थे, आठवें शतक के सप्तम उद्देशक के अनुसार अनेक विशिष्ट गुणसम्पन्न, यावत् विचरण करते थे।

३. तए णं ते थेरा भगवंतो जायसड्ढा जायसंसया जहा गोयमसामी जाव पज्जुवासमाणा एवं वदासी—

[३] एक बार उन स्थविरों (के मन) में (जिज्ञासायुक्त) श्रद्धा और शंका उत्पन्न हुई। अत: वे गौतमस्वामी की तरह, यावत् (भगवान् की) पर्युपासना करते हुए इस प्रकार पूछने लगे—

विवेचन—स्थविरों द्वारा पृच्छा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में इस उद्देशक की उत्थानिका प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि एक बार जब भगवान् महावीर राजगृहस्थित गुणशीलक उद्यान में विराजमान थे, तब उनके शिष्यस्थविरों के मन में कुछ जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुईं। उनका समाधान पाने के लिए उन्होंने अपनी प्रश्नावली क्रमश: भगवान् महावीर के समक्ष सविनय प्रस्तुत की।[1]

४. चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ?

अज्जो! पंच अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—काली रायी रयणी विज्जू मेहा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए अट्ठट्ठ देवीसहस्सा परिवारो पन्नत्तो। पभू णं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं अट्ठऽट्ठ देवीसहस्साइं परियारं विउव्वित्तए। एवामेव सपुव्वावरेणं चत्तालीसं देवीसहस्सा, से त्तं तुडिए।

[४ प्र.] भगवन्! असुरेन्द्र असुरराज चमर की कितनी अग्रमहिषियाँ (पटरानियाँ—मुख्यदेवियाँ) कही गई हैं?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ४९७

[४ उ.] आर्यो ! (चमरेन्द्र की) पांच अग्रमहिषियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार—(१) काली, (२) राजी, (३) रजनी, (४) विद्युत् और (५) मेघा। इनमें से एक-एक अग्रमहिषी का आठ-आठ हजार देवियों का परिवार कहा गया है।

एक-एक देवी (अग्रमहिषी), दूसरी आठ-आठ हजार देवियों के परिवार की विकुर्वणा कर सकती है। इस प्रकार पूर्वापर सब मिला कर (पांच अग्रमहिषियों का परिवार) चालीस हजार देवियाँ हैं। यह एक त्रुटिक (वर्ग) हुआ।

विवेचन—चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों का परिवार—प्रस्तुत चौथे सूत्र में चमरेन्द्र की ५ अग्रमहिषियों तथा उनके प्रत्येक के ८-८ हजार देवियों का परिवार तथा कुल ४० हजार देवियाँ बताई गई हैं। इन सबका एक वर्ग (त्रुटिक) कहलाता है।

कठिन शब्दार्थ—अग्गमहिसी अग्रमहिषी (पटरानी या प्रमुख देवी) **अट्ठट्ठदेवीसहस्साइं**—आठ-आठ हजार देवियाँ।[1]

अपनी सुधर्मा सभा में चमरेन्द्र की मैथुननिमित्तक भोग की असमर्थता—

५. [१] पभू णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि तुडिएणं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[५-१. प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमारराज असुरेन्द्र चमर अपनी चमरचंचा राजधानी की सुधर्मासभा में चमर नामक सिंहासन पर बैठ कर (पूर्वोक्त) त्रुटिक (स्वदेवियों के परिवार) के साथ भोग्य दिव्य भोगों को भोगने में समर्थ है ?

[५-१. उ.] (हे आर्यो !) यह अर्थ समर्थ नहीं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नो पभू चमरे असुरिंदे चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरित्तए ? "अज्जो ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो अन्नेसिं च बहूणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ नमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति, तेसिं पणिहाए नो पभू; से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ—नो पभू चमरे असुरिंदे जाव राया चमरचंचाए जाव विहरित्तए।"

[५-२. प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर चमरचंचा राजधानी की सुधर्मासभा में यावत् भोग्य दिव्य भोगों को भोगने में समर्थ नहीं है ?

[५-२. उ.] आर्यो ! असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर की चमरचंचा नामक राजधानी की सुधर्मासभा में माणवक चैत्यस्तम्भ में, वज्रमय (हीरों के) गोल डिब्बों में जिन भगवान् की बहुत-सी अस्थियाँ रखी हुई हैं, जो कि असुरेन्द्र असुरकुमारराज के लिए तथा अन्य बहुत-से असुरकुमार देवों

---

१. भगवती. विवेचन, (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४, पृ. १८२१

और देवियों के लिए अर्चनीय, वन्दनीय, नमस्करणीय, पूजनीय, सत्कारयोग्य एवं सम्मानयोग्य हैं। वे कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप एवं पर्युपासनीय हैं। इसलिए उन (जिन भगवान् की अस्थियों) के प्रणिधान (सान्निध्य) में वह (असुरेन्द्र, अपनी राजधानी की सुधर्मासभा में) यावत् भोग भोगने में समर्थ नहीं है। इसीलिए हे आर्यो! ऐसा कहा गया है कि असुरेन्द्र यावत् चमर, चमरचंचा राजधानी में यावत् दिव्य भोग भोगने में समर्थ नहीं है।

[३] पभू णं अज्जो! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं तावत्तीसाए जाव अन्नेहि य बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाऽहय जाव[1] भुंजमाणे विहरित्तए, केवलं परियारिद्धीए; नो चेव णं मेहुणवत्तियं।

[५-३. उ.] परन्तु हे आर्यो! वह असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर, अपनी चमरचंचा राजधानी की सुधर्मासभा में चमर नामक सिंहासन पर बैठ कर चौसठ हजार सामानिक देवों, त्रायस्त्रिंशक देवों और दूसरे बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों से परिवृत होकर महानिनाद के साथ होने वाले नाटच, गीत, वादित्र आदि के शब्दों से होने वाले (राग-रंग रूप) दिव्य भोग्य भोगों का केवल परिवार की ऋद्धि से उपभोग करने में समर्थ है, किन्तु मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं।

विवेचन—चमरेन्द्र सुधर्मा सभा में मैथुननिमित्तक भोग भोगने में असमर्थ—प्रस्तुत पाँचवें सूत्र में सुधर्मासभा में मैथुन-निमित्तक भोग भोगने की चमरेन्द्र की असमर्थता का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है।[2]

कठिन शब्दों का भावार्थ—वइरामएसु—वज्रमय (हीरों के बने हुए), **गोलवट्टसमुग्गएसु**—वृत्ताकार गोल डिब्बों में। **जिणसकहाओ**—जिन भगवान् की अस्थियाँ। **अच्चणिज्जा**—अर्चनीय। **पज्जुवासणिज्जाओ**—उपासना करने योग्य। पणिहाए—प्रणिधान—सान्निध्य में। **मेहुणवत्तियं**—मैथुन के निमित्त। **परियारिद्धीए**—परिवार की ऋद्धि से अर्थात्—अपने देवी परिवार की स्त्री शब्द-श्रवण-रूपदर्शनादि परिचारणा रूप आदि से।[3]

चमरेन्द्र के सोमादि लोकपालों का देवी-परिवार—

६. चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ? अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कणगा कणगलया चित्तगुत्ता वसुंधरा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देविसहस्सं परिवारो पन्नत्तो। पभू णं ताओ एगमेगा देवी अन्नं एगमेगं देविसहस्सं परिवारं विउव्वित्तए। एवामेव चत्तारि देविसहस्सा, से त्तं तुडिए।

---

१. 'जाव' पद सूचित पाठ—"नट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं ति"। अ.वृ. व्याख्या. पत्र ५०६

२. विहायपण्णत्तिसुत्तं (मूल पाठ टिप्पण) भा. २, पृ. ४९८

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५०५-५०६

[६ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर के लोकपाल सोम महाराज की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[६ उ.] आर्यो ! उनके चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—कनका, कनकलता, चित्रगुप्ता और वसुन्धरा। इनमें से प्रत्येक देवी का एक-एक हजार देवियों का परिवार है। इनमें से प्रत्येक देवी, एक-एक हजार देवियों के परिवार की विकुर्वणा कर सकती है। इस प्रकार पूर्वापर सब मिल कर चार हजार देवियाँ होती हैं। यह एक त्रुटिक (देवी-वर्ग) कहलाता है।

७. पभू णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमे महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि तुडिएणं० ? अवसेसं जहा चमरस्स, नवरं परियारो जहा सूरियाभस्स,[1] सेसं तं चेव जाव णो चेव णं मेहुणवत्तियं।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर का लोकपाल सोम महाराजा, अपनी सोमा नामक राजधानी की सुधर्मासभा में, सोम नामक सिंहासन पर बैठ कर अपने उस त्रुटिक (देवियों के परिवारवर्ग) के साथ भोग्य दिव्य-भोग भोगने में समर्थ है ?

[७ उ.] (हे आर्यो !) जिस प्रकार असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर के सम्बन्ध में कहा गया, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए, परन्तु इसका परिवार, राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णित सूर्याभदेव के परिवार के समान जानना चाहिए। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए; यावत् वह सोमा राजधानी की सुधर्मा सभा में मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं है।

८. चमरस्स णं भंते ! जाव रण्णो जमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ० ? एवं चेव, नवरं जमाए रायहाणीए सेसं जहा सोमस्स।

[८ प्र.] भगवन् ! चमरेन्द्र के यावत् लोकपाल यम महाराजा की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[८ उ.] (आर्यो !) जिस प्रकार सोम महाराजा के सम्बन्ध में कहा है, उसी प्रकार यम महाराजा के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए; किन्तु इतना विशेष है कि यम लोकपाल की राजधानी यमा है। शेष सब वर्णन सोम महाराजा के समान जानना चाहिए।

९. एवं वरुणस्स वि, नवरं वरुणाए रायहाणीए।

[९] इसी प्रकार (लोकपाल) वरुण महाराजा का भी कथन करना चाहिए। विशेष यही है कि वरुण महाराजा की राजधानी का नाम वरुणा है। (शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।)

१०. एवं वेसमणस्स वि, नवरं वेसमणाए रायहाणीए। सेसं तं चेव जाव णो चेव णं मेहुणवत्तियं।

[१०] इसी प्रकार (लोकपाल) वैश्रमण महाराजा के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वैश्रमण की राजधानी वैश्रमणा है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत्—'वे वहाँ मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं हैं।

---

१. यहाँ राजप्रश्नीयसूत्रगत सूर्याभदेव का वर्णन जान लेना चाहिए

विवेचन—चमरेन्द्र के चार लोकपालों का देवीपरिवार तथा सुधर्मासभा में भोग-असमर्थता—प्रस्तुत ५ सूत्रों (६ से १० तक) में चमरेन्द्र के चारों लोकपालों (सोम, यम, वरुण, वैश्रमण) की अग्रमहिषियों तथा तत्सम्बन्धी देवीवर्ग की संख्या का निरूपण किया गया है। साथ ही अपनी-अपनी राजधानी की सुधर्मा सभा में बैठ कर अपने देवीवर्ग के साथ सबकी, मैथुननिमित्तक भोग की असमर्थता बताई गई है। सबकी राजधानी और सिंहासन का नाम अपने-अपने नाम के अनुरूप है।[1]

बलीन्द्र एवं उसके लोकपालों का देवीपरिवार—

११. बलिस्स णं भंते! वइरोयणिंदस्स० पुच्छा। अज्जो! पंच अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—सुंभा निसुंभा रंभा निरंभा मयणा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए अट्ठट्ठ० सेसं जहा चमरस्स, नवरं बलिचंचाए रायहाणीए परियारो जहा मोउद्देसए (स. ३ उ. १ सु. ११-१२),[2] सेसं तं चेव, जाव मेहुणवत्तियं।

[११ प्र.] भगवन्! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बली की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[११ उ.] आर्यो! (बलीन्द्र की) पाँच अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—शुम्भा, निशुम्भा, रम्भा, निरम्भा और मदना। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) के आठ-आठ हजार देवियों का परिवार है; इत्यादि शेष समग्र वर्णन चमरेन्द्र के देवीवर्ग के समान जानना चाहिए। विशेष इतना है कि बलीन्द्र की राजधानी बलिचंचा है। इनके परिवार का वर्णन तृतीय शतक के प्रथम मोक उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए; यावत्—वह (सुधर्मा सभा में) मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं है।

१२. बलिस्स णं भंते! वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सोमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ? अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—मीणगा सुभद्दा विजया असणी। तत्थ णं एगमेगाए देवीए० सेसं जहा चमरसोमस्स, एवं जाव वेसमणस्स।

[१२ प्र.] भगवन्! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि के लोकपाल सोम महाराजा की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[१२ उ.] आर्यो! (सोम महाराजा की) चार अग्रमहिषियाँ हैं? वे इस प्रकार—(१) मेनका, (२) सुभद्रा, (३) विजया और (४) अशनी। इनकी एक-एक देवी का परिवार आदि समग्र चमरेन्द्र के लोकपाल सोम के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् वैरोचनेन्द्र बलि के लोकपाल वैश्रमण तक सारा वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

विवेचन—वैरोचनेन्द्र एवं उनके चार लोकपालों की अग्रमहिषियों आदि का वर्णन—प्रस्तुत दो (११-१२) सूत्रों में वैरोचनेन्द्र बली एवं पूर्वोक्त नाम के चार लोकपालों की अग्रमहिषियों तथा

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ४९८-४९९

२. यहाँ भगवतीसूत्र के शतक ३ उ. १ के 'मोका' उद्देशक में उल्लिखित वर्णन समझ लेना चाहिए

उनके देवी-परिवार का वर्णन है, साथ ही उनको अपनी-अपनी राजधानी की सुधर्मा सभा में अपने देवी वर्ग के साथ उनकी मैथुननिमित्तक असमर्थता का भी अतिदेश किया गया है।[1]

धरणेन्द्र और उसके लोकपालों का देवी-परिवार—

१३. धरणस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ ? अज्जो ! छ अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—अला[2] मक्का सतेरा सोयामणी इंदा घणविज्जुया। तत्थ णं एगमेगाए देवीए छ च्छ देविसहस्सा परियारो पन्नत्तो। पभू णं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं छ च्छ देविसहस्साइं परियारं विउव्वित्तए। एवामेव सपुव्वावरेणं छत्तीसं देविसहस्सा, से त्तं तुडिए।

[१३ प्र.] भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण की कितनी अग्रमहिषियाँ कही गई हैं ?

[१३ उ.] आर्यो ! (धरणेन्द्र की) छह अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—(१) अला (इला), (२) मक्का (शुक्रा), (३) सतारा, (४) सौदामिनी (५) इन्द्रा और (६) घनविद्युत्। उनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के छह-छह हजार देवियों का परिवार कहा गया है। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी), अन्य छह-छह हजार देवियों के परिवार की विकुर्वणा कर सकती है। इस प्रकार पूर्वापर सब मिला कर छत्तीस हजार देवियों का यह त्रुटिक (वर्ग) कहा गया है।

१४. पभू णं भंते ! धरणे ? सेसं तं चेव, नवरं धरणाए रायहाणीए धरणंसि सीहासणंसि सओ परियारो,[3] सेसं तं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! क्या धरणेन्द्र (सुधर्मासभा में देवीपरिवार के साथ) यावत् भोग भोगने में समर्थ है ? इत्यादि प्रश्न।

[१४ उ.] पूर्ववत् समग्र कथन जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि (धरणेन्द्र की) राजधानी धरणा में धरण नामक सिंहासन पर (बैठ कर) स्वपरिवार ……शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए।

१५. धरणस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स कालवालस्स लोगपालस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ ? अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ; तं जहा—असोगा विमला सुप्पभा सुदंसणा। तत्थ णं एगमेगाए० अवसेसं जहा चमरलोगपालाणं। एवं सेसाणं तिण्ह वि लोगपालाणं।

[१५ प्र.] भगवन् ! नागकुमारेन्द्र धरण के लोकपाल कालवाल नामक महाराजा की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ४९९

२. पाठान्तर—दूसरी प्रति में 'अला' के स्थान में 'इला', तथा 'मक्का' के स्थान में 'सुक्का' पाठ मिलता है।

३. धरणेन्द्र का स्वपरिवार—इस प्रकार है—"छहिं सामाणियसाहस्सीहिं, तायत्तीसाए तायत्तीसाए, चउहिं लोगपालेहिं, छहिं अग्गमहिसीहिं सत्तहिं अणिएहिं, सत्तहिं अणियाहिवईहिं चउवीसाए आयरक्खसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं नागकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवडेत्ति।"

—जीवाभिगमसूत्र, भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ५०६

[१५ उ.] आर्यो ! (धरणेन्द्र के लोकपाल कालवाल की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—अशोका, विमला, सुप्रभा और सुदर्शना। इनमें से एक-एक देवी का परिवार आदि वर्णन चमरेन्द्र के लोकपाल के समान समझना चाहिए। इसी प्रकार (धरणेन्द्र के) शेष तीन लोकपालों के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—धरणेन्द्र तथा उसके चार लोकपालों का देवीपरिवार तथा सुधर्मासभा में भोग-असमर्थता की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१३-१४-१५) में धरणेन्द्र तथा उसके लोकपालों की अग्रमहिषियों सहित देवीवर्ग की संख्या तथा सुधर्मा सभा में उनकी भोग-असमर्थता का प्रतिपादन किया गया है।[1]

भूतानन्दादि भवनवासी इन्द्रों तथा उनके लोकपालों का देवीपरिवार—

१६. भूयाणंदस्स णं भंते ! ० पुच्छा। अज्जो ! छ अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रूया रूयंसा सुरूया रुयगावती रूयकंता रूयप्पभा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए० अवसेसं जहा धरणस्स।

[१६ प्र.] भगवन् ! भूतानन्द (भवनपतीन्द्र) की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[१६ उ.] आर्यो ! भूतानन्द की छह अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—रूपा, रूपांशा, सुरूपा, रूपकावती, रूपकान्ता और रूपप्रभा। इनमें से प्रत्येक देवी—अग्रमहिषी के परिवार आदि का तथा शेष समस्त वर्णन धरणेन्द्र के समान जानना चाहिए।

१७. भूयाणंदस्स णं भंते ! नागवित्तस्स० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—सुणंदा सुभद्दा सुजाया सुमणा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए० अवसेसं जहा चमर-लोगपालाणं। एवं सेसाणं तिण्ह वि लोगपालाणं।

[१७ प्र.] भगवन् ! भूतानन्द के लोकपाल नागवित्त के कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ? इत्यादि पृच्छा।

[१७ उ.] आर्यो ! (नागवित्त की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार—सुनन्दा, सुभद्रा, सुजाता और सुमना। इसमें प्रत्येक देवी के परिवार आदि का शेष वर्णन चमरेन्द्र के लोकपाल के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार शेष तीन लोकपालों का वर्णन भी (चमरेन्द्र के शेष तीन लोकपालों के समान) जानना चाहिए।

१८. जे दाहिणिल्ला इंदा तेसिं जहा धरणस्स। लोगपालाणं पि तेसिं जहा धरणलोग-पालाणं। उत्तरिल्लाणं इंदाणं जहा भूयाणंदस्स। लोगपालाण वि तेसिं जहा भूयाणंदस्स लोगपालाणं। नवरं इंदाणं सव्वेसिं रायहाणीओ, सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, परियारो जहा मोउद्देसए (स. ३ उ. १ सु. १४)।[2] लोगपालाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसनामगाणि, परियारो जहा चमरलोगपालाणं।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टिप्पण) भा. २, पृ. ५००

२. देखिये—भगवतीसूत्र शतक ३, मोका नामक प्रथम उद्देशक, सू. १४

[१८] जो दक्षिणदिशावर्ती इन्द्र हैं, उनका कथन धरणेन्द्र के समान तथा उनके लोकपालों का कथन धरणेन्द्र के लोकपालों के समान जानना चाहिए। उत्तरदिशावर्ती इन्द्रों का कथन भूतानन्द के समान तथा उनके लोकपालों का कथन भी भूतानन्द के लोकपालों के समान जानना चाहिए। विशेष इतना है कि सब इन्द्रों की राजधानियों और उनके सिंहासनों का नाम इन्द्र के नाम के समान जानना चाहिए। उनके परिवार का वर्णन भगवती सूत्र के तीसरे शतक के प्रथम मोक उद्देशक में कहे अनुसार जानना चाहिए। सभी लोकपालों की राजधानियों और उनके सिंहासनों का नाम लोकपालों के नाम के सदृश जानना चाहिए तथा उनके परिवार का वर्णन चमरेन्द्र के लोकपालों के परिवार के वर्णन के समान जानना चाहिए।

विवेचन—भूतानन्द, दक्षिण-उत्तरवर्ती इन्द्र एवं उनके लोकपालों के देवी-परिवार का वर्णन—प्रस्तुत तीन सूत्रों (१६-१७-१८) में अतिदेशपूर्वक किया गया है। प्रायः सारा वर्णन समान है, केवल राजधानियों, सिंहासनों तथा व्यक्तियों के नामों में अन्तर है। राजधानियों और सिंहासनों के नाम प्रत्येक इन्द्र के अपने-अपने नाम के अनुसार हैं। सुधर्मासभा में प्रत्येक इन्द्र की अपने देवी-परिवार के साथ मैथुननिमित्तक असमर्थता भी साथ-साथ ध्वनित कर दी है।[1]

व्यन्तरजातीय देवेन्द्रों के देवी-परिवार आदि का निरूपण—

१९. [१] कालस्स णं भंते ! पिसायिंदस्स पिसायरण्णो कति अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ ? अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कमला कमलप्पभा उप्पला सुदंसणा। तत्थ णं एगमेगाएदेवीए एगमेगं देविसहस्सं, सेसं जहा चमरलोगपालाणं। परियारो तहेव, नवरं कालाए रायहाणीए कालंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[१९-१ उ.] आर्यो ! (कालेन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—कमला, कमलप्रभा, उत्पला और सुदर्शना। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) के एक-एक- हज़ार देवियों का परिवार है। शेष समग्र वर्णन चमरेन्द्र के लोकपालों के समान जानना चाहिए एवं परिवार का कथन भी उसी के परिवार के सदृश करना चाहिए। विशेष इतना है कि इसके 'काला' नाम की राजधानी और काल नामक सिंहासन है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

[२] एवं महाकालस्स वि।

[१९-२] इसी प्रकार पिशाचेन्द्र महाकाल का एतद्विषयक वर्णन भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

२०. [१] सुरूवस्स णं भंते ! भूइंदस्स भूयरन्नो० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रूववती बहुरूवा सुरूवा सुभगा। तत्थ णं एगमेगाए० सेसं जहा कालस्स।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! भूतेन्द्र भूतराज सुरूप की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, (मू. पा. टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ५००-५०१

[२०-१ उ.] आर्यो ! (सुरूपेन्द्र भूतराज की) चार अग्रमहिपियाँ हैं। यथा—रूपवती, वहुरूपा, सुरूपा और सुभगा। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) के परिवार आदि का वर्णन कालेन्द्र के समान जानना चाहिए।

[२] एवं पडिरूवगस्स वि।

[२०-२] इसी प्रकार प्रतिरूपेन्द्र के (देवी-परिवार आदि के) विपय में भी जानना चाहिए।

२१. [१] पुण्णभद्दस्स णं भंते ! जक्खिदस्स० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पुण्णा बहुपुत्तिया उत्तमा तारया। तत्थ णं एगमेगाए० सेसं जहा कालस्स०।

[२१-१ प्र.] भगवन् यक्षेन्द्र यक्षराज पूर्णभद्र की कितनी अग्रमहिपियाँ हैं ?

[२१-१ उ.] आर्यो ! (पूर्णभद्रेन्द्र की) चार अग्रमहिपियाँ हैं। यथा—पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा और तारका। इनमें प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) के परिवार आदि का वर्णन कालेन्द्र के समान जानना चाहिए।

[२] एवं माणिभद्दस्स वि।

[२१-२] इसी प्रकार माणिभद्र (यक्षेन्द्र) के विपय में भी जान लेना चाहिए।

२२. [१] भीमस्स णं भंते ! रक्खसिंदस्स० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पउमा पउमावती कणगा रयणप्पभा। तत्थ णं एगमेगा० सेसं जहा कालस्स।

[२२-१ प्र.] भगवन् ! राक्षसेन्द्र राक्षसराज भीम के कितनी अग्रमहिषियाँ कही गई हैं ?

[२२-१ उ.] आर्यो ! (भीमेन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार—पद्मा, पद्मावती, कनका और रत्नप्रभा। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) के परिवार आदि का वर्णन कालेन्द्र के समान जानना चाहिए।

[२] एवं महाभीमस्स वि।

[२२-२] इसी प्रकार महाभीम (राक्षसेन्द्र) के विषय में भी जान लेना चाहिए।

२३. [१] किन्नरस्स णं भंते !० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—वडेंसा केतुमती रतिसेणा रतिप्पिया। तत्थ णं० सेसं तं चेव।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! किन्नरेन्द्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[२३-१ उ.] आर्यो ! (किन्नरेन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अवतंसा, २. केतुमती, ३. रतिसेना और ४. रतिप्रिया। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार के विषय में पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए।

[२] एवं किंपुरिसस्स वि।

[२३-२] इसी प्रकार किम्पुरुषेन्द्र के विषय में कहना चाहिए।

२४. [१] सप्पुरिसस्स णं० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवती। तत्थ णं एगमेगा०, सेसं तं चेव।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! सत्पुरुषेन्द्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[२४-१ उ.] आर्यो ! (सत्पुरुषेन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—१. रोहिणी, २, नवमिका, ३. ह्री और ४. पुष्पवती। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार का वर्णन पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए।

[२] एवं महापुरिसस्स वि।

[२४-२] इसी प्रकार महापुरुषेन्द्र के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

२५. [१] अतिकायस्स णं भंते !० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—भुयगा भुयगवती महाकच्छा फुडा। तत्थ णं०, सेसं तं चेव।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! अतिकायेन्द्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[२५-१ उ.] आर्यो ! (अतिकायेन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—१. भुजगा, २. भुजगवती, ३. महाकच्छा और ४. स्फुटा। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार का वर्णन पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए।

[२] एवं महाकायस्स वि।

[२५-२] इसी प्रकार महाकायेन्द्र के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

२६. [१] गीतरतिस्स णं भंते !० पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—सुघोसा विमला सुस्सरा सरस्सती। तत्थ णं०, सेसं तं चेव।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! गीतरतीन्द्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं ?

[२६-१ उ.] आर्यो ! (गीतरतीन्द्र की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार—१. सुघोषा, २. विमला, ३. सुस्वरा और ४. सरस्वती। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

[२] एवं गीयजसस्स वि। सव्वेसिं एतेसिं जहा कालस्स, नवरं सरिसनामियाओ रायहाणीओ सीहासणाणि य। सेसं तं चेव।

[२६-२] इसी प्रकार गीतयश-इन्द्र के विषय में भी जान लेना चाहिए।

इन सभी इन्द्रों का शेष सम्पूर्ण वर्णन कालेन्द्र के समान जानना चाहिए। राजधानियों और सिंहासनों का नाम इन्द्रों के नाम के समान है। शेष सभी वर्णन पूर्ववत् (एक सरीखा) है।

विवेचन—व्यन्तरदेवों की विविध जाति के इन्द्रों का देवीपरिवार आदि वर्णन—प्रस्तुत ८ सूत्रों (सू. १९ से २६ तक) में आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के इन्द्रों की अग्रमहिषियों तथा उनकी देवियों की संख्या एवं अपनी-अपनी सुधर्मा सभा में उनकी अपने देवीपरिवार के साथ मैथुननिमित्तक भोग भोगने की असमर्थता का अतिदेश किया गया है।[1]

व्यन्तरजातीय देवों के ८ प्रकार—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किम्पुरुष, (७) महोरग, एवं (८) गन्धर्व।[2]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ५०१-५०२

२ (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ४,

(ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. १२ : व्यन्तराः किन्नर- किम्पुरुष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः।

इन आठों के प्रत्येक समूह के दो-दो इन्द्रों के नाम—(१) पिशाच के दो इन्द्र—काल और महाकाल, (२) यक्ष के दो इन्द्र—पूर्णभद्र और माणिभद्र, (३) भूत के दो इन्द्र—सुरूप और प्रतिरूप; (४) राक्षस के दो इन्द्र—भीम और महाभीम, (५) किन्नर के दो इन्द्र—किन्नर और किम्पुरुष, (६) किम्पुरुष के दो इन्द्र—सत्पुरुष और महापुरुष, (७) महोरग के दो इन्द्र—अतिकाय और महाकाय तथा (८) गान्धर्व के दो इन्द्र—गीतरति और गीतयश।[1]

इनके प्रत्येक के चार-चार अग्रमहिषियाँ हैं और प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार की संख्या एक-एक हजार है। अर्थात्—प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार देवी-वर्ग है। इन इन्द्रों की प्रत्येक की राजधानी और सिंहासन का नाम अपने-अपने नाम के अनुरूप होता है। ये सभी इन्द्र अपनी-अपनी सुधर्मासभा में अपने देवीपरिवार के साथ मैथुननिमित्तक भोग नहीं भोग सकते।[2]

चन्द्र-सूर्य-ग्रहों के देवीपरिवार आदि का निरूपण—

२७. चंदस्स णं भंते! जोतिसिदस्स जोतिसरण्णो० पुच्छा। अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—चंदप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा। एवं जहा जीवाभिगमे[3] जोतिसियउद्देसए तहेव।

[२७ प्र.] भगवन्! ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[२७ उ.] आर्यो! ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) चन्द्रप्रभा, (२) ज्योत्स्नाभा, (३) अर्चिमाली एवं (४) प्रभंकरा। शेष समस्त वर्णन जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देशक में कहे अनुसार जानना चाहिए।

२८. सूरस्स वि सूरप्पभा आयवाभा अच्चिमाली पभंकरा। सेसं तं चेव जाव नो चेव णं मेहुणवत्तियं।

[२८] इसी प्रकार सूर्य के विषय में भी जानना चाहिए। सूर्येन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ ये हैं—सूर्यप्रभा, आतपाभा, अर्चिमाली और प्रभंकरा। शेष सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए; यावत् वे अपनी राजधानी की सुधर्मासभा में सिंहासन पर बैठ कर अपने देवीपरिवार के साथ मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं हैं।

२९. इंगालस्स णं भंते! महग्गहस्स कति अग्ग० पुच्छा। अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—विजया वेजयंती जयंती अपराजिया। तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, सेसं जहा चंदस्स। नवरं इंगालवडेंसए विमाणे इंगालगंसि सीहासणंसि। सेसं तं चेव।

[२९ प्र.] भगवन्! अंगार (मंगल) नामक महाग्रह की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[२९ उ.] आर्यो! (अंगार-महाग्रह की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार—(१) विजया, (२) वैजयन्ती, (३) जयन्ती और (४) अपराजिता। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार का वर्णन चन्द्रमा के देवी-परिवार के समान जानना चाहिए। परन्तु इतना विशेष है कि इसके विमान

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ५०१-५०२

२. वही, पृ. ५०२

३. देखिये—जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उ. २, सू. २०२-४, पत्र ३७५-८५ (आगमोदय.)।

का नाम अंगारावतंसक और सिंहासन का नाम अंगारक है, (जिस पर बैठ कर यह देवी-परिवार के साथ मैथुननिमित्तक भोग नहीं भोग सकता) इत्यादि शेष समग्रवर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

३०. एवं वियालगस्स वि। एवं अट्ठासीतीए वि महागहाणं भाणियव्वं जाव भावकेउस्स। नवरं वडेंसगा सीहासणाणि य सरिसनामगाणि। सेसं तं चेव।

[३०] इसी प्रकार व्यालक नामक ग्रह के विषय में भी जानना चाहिए। इसी प्रकार ८८ महाग्रहों के विषय में यावत्—भावकेतु ग्रह तक जानना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि अवतंसकों और सिंहासनों का नाम इन्द्र के नाम के अनुरूप है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

विवेचन—चन्द्र, सूर्य और ग्रहों की देवियों की संख्या—प्रस्तुत ४ सूत्रों (२७ से ३० तक) में चन्द्र, सूर्य, अंगारक, व्यालक आदि ८८ महाग्रहों की अग्रमहिषियों तथा देवी-परिवार आदि का अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है।[1]

शक्रेन्द्र और उसके लोकपालों का देवी-परिवार—

३१. सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो० पुच्छा। अज्जो! अट्ठ अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पउमा सिवा सुयो अंजू अमला अच्छरा नवमिया रोहिणी। तत्थ णं एगमेगाए देवीए सोलस सोलस देविसहस्सा परियारो पन्नत्तो। पभू णं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं सोलस सोलस देविसहस्सा परियारं विउव्वित्तए। एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठावीसुत्तरं देविसयसहस्सं, से तं तुडिए।

[३१ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[३१ उ.] आर्यो! (शक्रेन्द्र की) आठ अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—(१) पद्मा, (२) शिवा, (३) श्रेया, (४) अंजू, (५) अमला, (६) अप्सरा, (७) नवमिका और (८) रोहिणी। इनमें से प्रत्येक देवी (अग्रमहिषी) का सोलह-सोलह हजार देवियों का परिवार कहा गया है। इनमें से प्रत्येक देवी सोलह-सोलह हजार देवियों के परिवार की विकुर्वणा कर सकती है। इस प्रकार पूर्वापर सब मिला कर एक लाख अट्ठाईस हजार देवियों का परिवार होता है। यह एक त्रुटिक (देवियों का वर्ग) कहलाता है।

३२. पभू णं भंते! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि तुडिएणं सद्धिं० सेसं जहा चमरस्स (सु. ६-७)। नवरं परियारो जहा मोउद्देसए (स. ३ उ. १ सु. १५)।

[३२ प्र.] भगवन्! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, सौधर्मकल्प (देवलोक) में, सौधर्मावतंसक विमान में, सुधर्मासभा में, शक्र नामक सिंहासन पर बैठ कर अपने (उक्त) त्रुटिक के साथ भोग भोगने में समर्थ है?

[३२ उ.] आर्यो! इसका समग्र वर्णन चमरेन्द्र के समान (सू. ६-७ के अनुसार) जानना चाहिए। विशेष इतना ही है कि इसके परिवार का कथन भगवतीसूत्र के तीसरे शतक के 'मोका' नामक प्रथम उद्देशक (सू. १५) के अनुसार जान लेना चाहिए।

३३. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ० पुच्छा। अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—रोहिणी मदणा चित्ता सोमा। तत्थ णं

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणायुक्त), भा. २, पृ. ५०२-५०३

एगमेगा०, सेसं जहा चमरलोगपालाणं (सु. ८-१३)। नवरं सयंपभे विमाणे सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव। एवं जाव[1] वेसमणस्स, नवरं विमाणाइं जहा ततियसए (स. ३ उ. ७ सु. ३)।

[३३ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम महाराजा की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[३३ उ.] आर्यो! (लोकपाल सोम महाराजा की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। वे इस प्रकार—(१) रोहिणी, (२) मदना, (३) चित्रा और (४) सोमा। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी के देवी-परिवार का वर्णन चमरेन्द्र के लोकपालों के समान (सू. ८-१३ के अनुसार) जानना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि स्वयम्प्रभ नामक विमान में सुधर्मासभा में, सोम नामक सिंहासन पर बैठ कर यावत् मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिए। यावत् वैश्रमण लोकपाल तक का कथन करना चाहिए। विशेष यह है कि इनके विमान आदि का वर्णन (भगवती.) तृतीयशतक के सातवें उद्देशक (सू. ३) में कहे अनुसार जानना चाहिए।

विवेचन—शक्रेन्द्र तथा उसके लोकपालों की देवियों आदि का वर्णन—प्रस्तुत तीन सूत्रों में शक्रेन्द्र की अग्रमहिषियों तथा उनके अधीनस्थ कुलदेवियों के परिवार का एवं सुधर्मासभा में उनके साथ मैथुननिमित्तक भोग भोगने की असमर्थता का प्रतिपादन किया गया है।[2]

ईशानेन्द्र तथा उसके लोकपालों का देवी-परिवार—

३४. ईसाणस्स णं भंते!० पुच्छा। अज्जो! अट्ठ अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हा कण्हराई रामा रामरक्खिया वसू वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा। तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं जहा सक्कस्स।

[३४ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान की कितनी अग्रमहिषियाँ हैं?

[३४ उ.] आर्यो! ईशानेन्द्र की आठ अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—(१) कृष्णा, (२) कृष्णराजि, (३) रामा, (४) रामरक्षिता, (५) वसु, (६) वसुगुप्ता, (७) वसुमित्रा, (८) वसुन्धरा। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी की देवियों के परिवार आदि का शेष समस्त वर्णन शक्रेन्द्र के समान जानना चाहिए।

३५. ईसाणस्स णं भंते! देविंदस्स सोमस्स महारण्णो कति० पुच्छा। अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पुढवी राती रयणी विज्जू। तत्थ णं०, सेसं जहा सक्कस्स लोगपालाणं। एवं जाव वरुणस्स, नवरं विमाणा जहा चउत्थसए (स. ४ उ. १ सु. ३)। सेसं तं चेव जाव नो चेव णं मेहुणवत्तियं।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरइ।

॥ दसमे सए पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

---

१. 'जाव' पद से यहाँ 'यम, वरुण' समझना चाहिए

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५०३

[३५ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र ईशान के लोकपाल सोम महाराजा की कितनी अग्रमहिषियाँ कही गई हैं ?

[३५ उ.] आर्यो ! (सोम लोकपाल की) चार अग्रमहिषियाँ हैं। यथा—पृथ्वी, रात्रि, रजनी और विद्युत्। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी की देवियों के परिवार आदि शेष समग्र वर्णन शक्रेन्द्र के लोकपालों के समान है। इसी प्रकार यावत् वरुण लोकपाल तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि इनके विमानों का वर्णन चौथे शतक के प्रथम उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्, यावत्—वह मैथुननिमित्तक भोग भोगने में समर्थ नहीं है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर आर्य स्थविर यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—ईशानेन्द्र एवं उसके लोकपालों का देवी-परिवार—प्रस्तुत दो सूत्रों (३४-३५) में ईशानेन्द्र (द्वितीय देवलोक के इन्द्र) तथा उसके लोकपालों की अग्रमहिषियों आदि का वर्णन पूर्वसूत्र का अतिदेश करके किया गया है। चूंकि वैमानिक देवों में केवल पहले और दूसरे देवलोक तक ही देवियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए यहाँ प्रथम और द्वितीय देवलोक के इन्द्रों और उनके लोकपालों की अग्रमहिषियों का वर्णन किया गया है।[१] □□

।। दशम शतकः पंचम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ४, पृ. १८३१

छट्ठो उद्देसओ : छठा उद्देशक

सभा : सभा (शक्रेन्द्र की सुधर्मा सभा)

१. कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए एवं जहा रायप्पसेणइज्जे जाव पंच वडेंसगा पन्नत्ता, तं जहा—असोगवडेंसए जाव[1] मज्झे सोहम्मवडेंसए। से णं सोहम्मवडेंसए महाविमाणे अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं।

एवं जह सूरियाभे तहेव माणं तहेव उववातो।
सक्कस्स य अभिसेओ तहेव जह सूरियाभस्स ।।१।।

अलंकार अच्चणिया तहेव जाव आयरक्ख त्ति, दो सागरोवमाइं ठिती।

[१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र की सुधर्मासभा कहाँ है ?

[१ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहुसम रमणीय भूभाग से अनेक कोटाकोटि योजन दूर ऊँचाई में सौधर्म नामक देवलोक में सुधर्मा सभा है; इस प्रकार सारा वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार जानना, यावत् पांच अवतंसक विमान कहे गए हैं; यथा—अशोकावतंसक यावत् मध्य में सौधर्मावतंसक विमान है। वह सौधर्मावतंसक महाविमान लम्बाई और चौड़ाई में साढ़े बारह लाख योजन है।

[गाथार्थ—] (राजप्रश्नीय सूत्रगत) सूर्याभविमान के समान विमान-प्रमाण तथा उपपात, अभिषेक, अलंकार तथा अर्चनिका, यावत् आत्मरक्षक इत्यादि सारा वर्णन सूर्याभदेव के समान जानना चाहिए। उसकी स्थिति (आयु) दो सागरोपम की है।

२. सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए जाव[2] केमहासोक्खे ?

गोयमा ! महिड्ढीए जाव महासोक्खे, से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणवाससयसहस्साणं जाव विहरति, एमहिड्ढीए जाव[3] एमहासोक्खे सक्के देविंदे देवराया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। दसमे सए छट्ठो उद्देसओ समत्तो ।।१०.६।।

---

१. जाव पद सूचित पाठ—"सत्तवण्णवडसए चंपयवडेंसए चूयवडेंसए।" अ. वृ.

२. जाव पद सूचित पाठ—"केमहज्जुइए केमहाणुभागे केमहायसे केमहाबले त्ति।" अ. वृ.

३. जाव पद सूचित पाठ—"चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं जाव देवाणं देवीण य आहेवच्चं जाव करेमाणे पालेमाणे त्ति।" —अ. वृ.

[२ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र कितनी महती ऋद्धि वाला यावत् कितने महान् सुख वाला है ?

[२ उ.] गौतम ! वह महा-ऋद्धिशाली यावत् महासुख-सम्पन्न है। वह वहाँ बत्तीस लाख विमानों का स्वामी है; यावत् विचरता है। देवेन्द्र देवराज शक्र इस प्रकार की महाऋद्धि-सम्पन्न और महासुखी है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !'; इस प्रकार कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—सूर्याभ के अतिदेशपूर्वक शक्रेन्द्र तथा उसकी सुधर्मासभा आदि का वर्णन—राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव का विस्तृत वर्णन है। यहाँ शकेन्द्र के उपपात आदि के वर्णन के लिए उसी का अतिदेश किया गया है। अतः इसका समग्र वर्णन सूर्याभदेववत् समझना चाहिए। यहाँ पिछले सूत्र में सूर्याभदेववत् शक्र की ऋद्धि, सुख, द्युति आदि का वर्णन किया गया है।[१]

॥ दशम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

□□

---

१. (क) राजप्रश्नीयसूत्र (गुर्जरग्रन्थ.) पृ. १५२-५४

(ख) वियाहप. (मू. पा. टि.), भा. २, पृ. ५०४

सत्तमाइ-चोत्तीसइम पज्जंता उद्देसा

सातवें से चौतीसवें तक के उद्देशक

उत्तर-अंतरदीवा : उत्तरवर्ती (अट्ठाईस) अन्तर्द्वीप

१. कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं एगोरुयमणुस्साणं एगोरुयदीवे नामं दीवे पन्नत्ते ? एवं जहा जीवाभिगमे तहेव निरवसेसं जाव सुद्धदंतदीवो त्ति । एए अट्ठावीसं उद्देसगा भाणियव्वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति ।

॥ दसमे सए सत्तमाइ-चोत्तीसइम पज्जंता उद्देसा समत्ता ॥१०. ७-३४॥

॥ दसमं सयं समत्तं ॥

[१ प्र.] भगवन् ! उत्तरदिशा में रहने वाले एकोरुक मनुष्यों का एकोरुकद्वीप नामक द्वीप कहाँ है ?

[१ उ.] गौतम ! एकोरुकद्वीप से लेकर यावत् शुद्धदन्तद्वीप तक का समस्त वर्णन जीवाभिगमसूत्र में कहे अनुसार जानना चाहिए । (प्रत्येक द्वीप के सम्वन्ध में एक-एक उद्देशक है ।) इस प्रकार अट्ठाईस द्वीपों के ये अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यह इसी प्रकार है !', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं ।

विवेचन—उत्तरदिशावर्ती अट्ठाईस अन्तर्द्वीप—प्रस्तुत सूत्र में उत्तरदिग्वर्ती अट्ठाईस अन्तर्द्वीपों का निरूपण जीवाभिगमसूत्र के अतिदेशपूर्वक किया गया है ।

इससे पूर्व नौवें शतक के तीसरे से तीसवें उद्देशक तक में दक्षिणदिशा के अन्तर्द्वीपों का वर्णन किया जा चुका है । प्रस्तुत दशम शतक के ७ वें से ३४ वें उद्देशक तक में उत्तरदिशा के अन्तर्द्वीपों का निरूपण किया गया है, जो दक्षिणदिग्वर्ती अन्तर्द्वीपों के ही समान है । २८ नाम भी समान हैं ।[१]

॥ दशम शतक : सातवें से चौतीसवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ दशम शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भा. २, पृ. ५०५

(ख) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक १, पत्र १४४-५६ (आगमोदय.) में विस्तृत वर्णन देखिये

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलों के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत्**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१६. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आपाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२६-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जंवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी वाफना, बेंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखवचंदजी सुराणा, वोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु वड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी वरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी वेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी वोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५ श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरवाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, वम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी वाफणा, वेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी वाफणा, औरंगावाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाविया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दरावाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दरावाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, वगड़ीनगर
१२७ श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, विलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी वोहरा एण्ड कं., वेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़

□□